महर्षिव्यासप्रणीतः

स्कन्दमहापुराणान्तर्गतः

काशीखण्डः

(व्याख्याद्वयोपेतः)

(तृतीयो भागः)

सम्पादकः

आचार्यश्रीकरुणापतित्रिपाठी

कुलपतेः डॉ. मण्डनमिश्रस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा

पुरस्कृतः
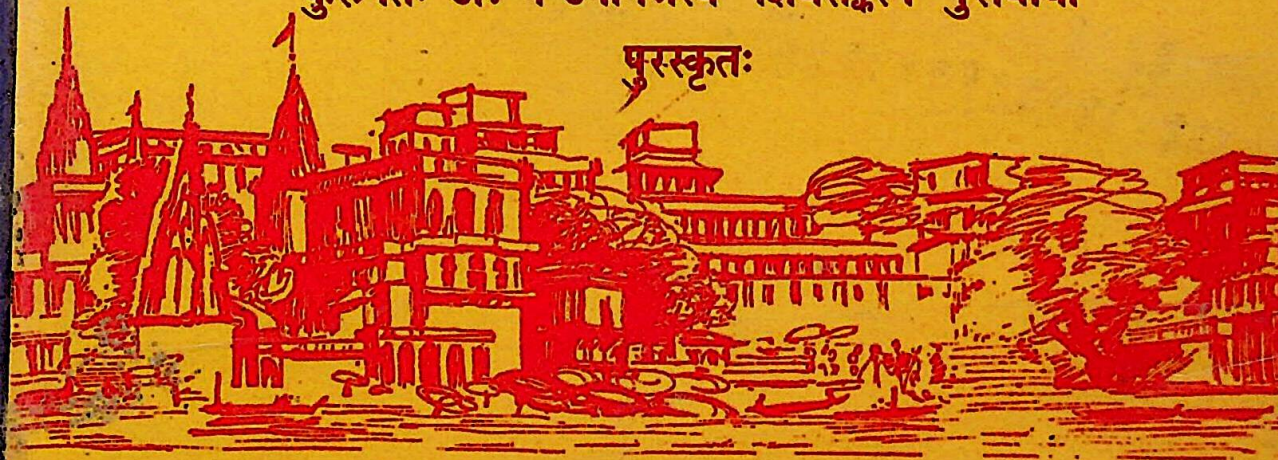
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

वाराणसी

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 13]

KĀŚĪKHAṆḌA

[PART THREE]

OF

MAHARṢI VYĀSA

With Two Commentaries

'RĀMĀNANDĪ'

BY

ĀCĀRYA ŚRĪ RĀMĀNANDA

&

HINDĪ 'NĀRĀYAṆĪ'

BY

ŚRĪ NĀRĀYAṆAPATI TRIPĀṬHĪ

FOREWORD BY

DR. MANDAN MISHRA

Vice-Chancellor

EDITED BY

ĀCĀRYA ŚRĪ KARUṆĀPATI TRIPĀṬHĪ
Ex-Vice-Chancellor,
Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi
&
Ex-President,
Uttar Pradesh Sanskrit Academy, Lucknow

VARANASI
1996

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

❑

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.

❑

Available at—
Sales Department
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.

❑

First Edition, 1000 Copies
Price—Rs. 300.00

❑

Printed by—
Ratna Printing Works
B 21/42A, Kamachha,
Varanasi–221 010.

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१३]

महर्षिव्यासप्रणीतः

श्रीस्कन्दमहापुराणान्तर्गतः

काशीखण्डः

[तृतीयो भागः]

आचार्यश्रीरामानन्दप्रणीतया

"रामानन्दी"व्याख्यया

अथ च

पण्डितश्रीनारायणपतित्रिपाठिप्रणीतया

"नारायणी"हिन्दी-व्याख्यया

समलङ्कृतः

कुलपतेः डॉ. मण्डनमिश्रस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा

पुरस्कृतः

सम्पादकः-

आचार्यश्रीकरुणापतित्रिपाठी

कुलपतिचरः,

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

अध्यक्षचरश्च,

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादम्याः

वाराणस्याम्

२०५२ तमे वैक्रमाब्दे १९१७ तमे शकाब्दे १९९६ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धानप्रकशनपर्यवेक्षकः –
निदेशकः, अनुसन्धानसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणसी ।

❑

प्रकाशकः –
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

❑

प्राप्तिस्थानम् –
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

❑

प्रथमं संस्करणम्, १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्–३००-०० रूप्यकाणि

❑

मुद्रकः–
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी–२२१ ०१०

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

वन्दनाकुसुमाञ्जलिः

सानन्दमानन्दवने वसन्तमानन्दकन्दं हतपापवृन्दम् ।
वाराणसीनाथमनाथनाथं श्रीविश्वनाथं शरणं प्रपद्ये ॥ १ ॥

गणनाथं नमस्कृत्यागस्त्यं चर्षिपुङ्गवम् ।
अन्नपूर्णां शङ्करं च भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥

वन्दे मत्स्योदरीपार्श्वे ह्योङ्कारेश्वरेश्वरम् ।
स्थितं स्मरणमात्रेण मोक्षसिद्धिप्रदायकम् ॥

केशवस्योपदेशेन दिवोदासेन वन्दितम् ।
दिवोदासेश्वरं वन्दे महत्पुण्यप्रदायकम् ॥

श्रीबिन्दुमाधवं वन्दे पञ्चगङ्गासमायुतम् ।
ययोः स्नानं दर्शनं च कार्त्तिके पुण्यदायकम् ॥

पिशाचमोचनं वन्दे कपर्दीश्वरसंयुतम् ।
स्नानदर्शनाभ्यां च पिशाचत्वाद् विमुच्यते ॥

केदारेश्वरमीशानं गौरीकुण्डसमीपगम् ।
सदा वन्दे देवदेवं यातनानां विमोचकम् ॥

शिवसङ्कल्प

भारतीय वैदिकी मनीषा मानती है कि काशी लोकोत्तर है । पञ्चक्रोशात्मक यह काशी भूभाग नहीं है; अपितु भूभाग से पृथक् यह ब्रह्मद्रव है । नारायण की आराधना से प्रसन्न होकर परम शिव जब द्रवीभूत हो गये थे, वह ब्रह्मद्रव यह **काशीखण्ड** है । **'काशी'** शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि–'काशते शोभते सदा इति काशी' । यह भू पर स्थित होकर भी भू से पृथक् है–

भूमिष्ठाऽपि न याऽत्र भूस्त्रिदिवतोऽप्युच्चैरधःस्थापि या
या बद्धा भुवि मुक्तिदा स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तवः ।
या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतटिनीतीरे सुरैः सेव्यते
सा काशी त्रिपुरारिराजनगरी पायादपायाज्जगत् ॥

(का. ख. १/२)

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सर्वशास्त्रेषु पार्वति ।
काशी ब्रह्मेति विख्यातं तद् ब्रह्म प्राप्यतेऽत्र हि ॥

(काशी केदार-माहात्म्य)

इसीलिए प्रलयकाल में जब सब कुछ जलमग्न हो जाता है, तब भी यह छत्राकार प्रकाशमान रहती है । ब्रह्मरूप होने से भू से पृथक् होने के कारण इस काशी में शरीर छोड़ने वालों पर ब्रह्मा का तथा यम का कठोर वश नहीं चलता । जो यहाँ शरीर-त्याग करता है, उसे अपने कर्मफल के अनुसार पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता । भू-भाग से पृथक् होने के कारण ही पृथ्वीपति महाराज हरिश्चन्द्र सकल पृथ्वी दान देने के बाद पृथ्वी से बाहर अपने को विक्रय करने हेतु काशी पधारे थे । ब्रह्मद्रवरूप काशी होने से काशी के प्रत्येक कंकड़ को भी 'शिव' माना जाता है । काशी के साथ 'गंगा' के जुड़ जाने के कारण इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है । यह 'गंगा' भी ब्रह्मद्रव है । वामनावतार में जब भगवान् वामन का पैर स्वर्ग तक पहुँच गया, तब पैर में स्वेदबिन्दु आ गये, जिन्हें ब्रह्मा ने कमण्डलु में रख लिया था, जो बाद में महाराज की प्रार्थना पर पृथ्वी पर अवतरित होकर **"ब्रह्मद्रवेति विख्याता"** कही गयी । काशी में गंगा उत्तराभिमुख है । हिमालय से निकलकर जो नदी उत्तराभिमुख होती है, उसे **'मुदिता'** कहते हैं । यतः पिता हिमालय की तरफ होने से पितृमुखगामिनी होने से मुदित रहती है, अतः यहाँ की गंगा प्रसन्नवदना है । शिवजटा से निकलकर, हिमालय से अवतरित होकर जब काशी में पुनः परब्रह्म शिवद्रव से गांग ब्रह्मद्रव मिलता है, तब पितृमुख और पति शिव का सान्निध्य पाकर आह्लादित होती है । इसीलिए परम शिव ब्रह्म को काशी बड़ी प्रिय लगती है । शिव काशी को नहीं छोड़ना चाहते हैं और गंगा काशी को नहीं छोड़ती । द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में प्रधान ज्योतिर्लिङ्ग **'विश्वनाथ'** काशी में हैं ।

यहाँ गंगा की प्राकृतिक सुषमा भी अद्वितीय है, जो अर्धचन्द्राकार बनकर पञ्चक्रोशात्मक परम शिव के मस्तक का अर्धचन्द्राकार अलंकार बन जाती है। ब्रह्मद्रव तथा ज्योतिर्लिङ्ग के सान्निध्य से सातों पुरियों—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

में 'काशी' मध्य में स्थित तीर्थराज प्रयाग की महिषी मानी जाती है। इसमें एक अलौकिक ज्ञानदात्री शक्ति है। इसके दिव्य आलोक से आलोकित होकर सभी तीर्थङ्करों ने अपनी दिव्य ज्ञानप्रभा को यहाँ से अखिल भूभाग पर बिखेरना प्रारम्भ किया। वेदों और पुराणों में तो ऐसी कथाएँ भरपूर मिलती ही हैं; परन्तु आज के इस ऐतिहासिक युग में भी भगवान् बुद्ध का धर्मचक्र-प्रवर्तन, प्रभु पार्श्वनाथ का सदुपदेश, भगवान् शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद, महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य का पुष्टिवाद, श्री चैतन्य महाप्रभु का भक्तिरस, श्री रामानन्दाचार्य का वैराग्यदीप एवं श्री कबीरदास, श्री रैदास, गुरु तेग बहादुर साहब जी आदि का मत-विस्तार तथा श्रीमती ऐनी बेसेन्ट का थियोसोफिकल विचार आदि यहीं से होते हुए विश्वभर में प्रसारित हुए।

इस काशी के सम्बन्ध में यों तो वेद तथा प्रायः सभी पुराणों में चर्चा आयी है, पर विशेष रूप से ब्रह्मवैवर्तमहापुराण के काशीरहस्य तथा स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में बड़े विस्तार के साथ काशी का सर्वाङ्गीण वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें हजारों शिवलिङ्गों, शिवायतनों, कुण्डों, तीर्थों एवं मण्डपों का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अध्ययन से काशी के प्रत्येक स्थल के विषय में अच्छी जानकारी मिल जाती है। उस काशीखण्ड की संस्कृतटीका **श्री रामानन्द त्रिपाठी** ने की है तथा **श्री नारायणपति त्रिपाठी** ने हिन्दी-टीका की है। इन दोनों से विभूषित **'काशीखण्ड'** के पूर्वार्द्ध का प्रकाशन दो खण्डों में इस विश्वविद्यालय से हो चुका है। पूर्वार्द्ध की तरह उत्तरार्द्ध भी दो खण्डों में प्रकाशित होगा, जिसका यह प्रथम खण्ड तृतीय भाग के रूप में प्रस्तुत है।

इस खण्ड का भी सम्पादन वाराणसी के स्वनामधन्य विद्या, तपस्या, नम्रता, सज्जनता और सरलता की प्रतिमूर्ति श्रद्धेय **पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी** ने किया है। यह सौभाग्य का विषय है कि उन्हीं के पूज्यपाद पिता पण्डितप्रवर श्रद्धेय **श्री नारायणपति त्रिपाठी** ने प्रथम बार इसका हिन्दी-अनुवाद कर १९६५ ई. में प्रकाशित किया था। उसी आचार्य परम्परा के वर्तमान प्रतिनिधि उनके स्वनामधन्य सुपुत्र ने इसका सम्पादन कर काशी की महिमा का शास्त्रीय और पौराणिक पक्ष उपस्थापित करने में जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, उसके लिए भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अनुयायी उनके शाश्वत रूप से कृतज्ञ रहेंगे। एक प्रकार से यह काशी के आध्यात्मिक गौरव के पुनः प्रतिष्ठापन का प्रयास है। पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी स्वयं गौरवमयी परम्परा के और आदर्श त्रिपाठी-

परिवार की विश्वविख्यात प्रतिष्ठा की साक्षात् मूर्त्ति हैं । उनका यह प्रयास युग-युगों तक उल्लेखनीय रहेगा ।

इस त्रिपाठी-परिवार का इस विश्वविद्यालय के साथ भावनात्मक और ऐतिहासिक सम्बन्ध है । विश्वविद्यालय की स्थापना में उनके प्रातःस्मरणीय ज्येष्ठ सहोदर श्रद्धेय **पण्डित श्री कमलापति त्रिपाठी** जी का मौलिक योगदान रहा है । जब वे उत्तर-प्रदेश के शिक्षामन्त्री थे, उसी समय भारतीय मनीषा और प्रज्ञा के महान् धनी, त्याग और काशी-माहात्म्य के साक्षात् स्वरूप, विद्वान् नेताओं की पंक्ति में अग्रणी **डॉ. सम्पूर्णानन्द** जी ने विश्व में इस प्रथम संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की । इसके संचालन और विकास में प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय तथा अनेक विषयों के मर्मज्ञ मनीषी पण्डित **श्री करुणापति त्रिपाठी** ने इस विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्र विभाग के अध्यक्ष और कुलपति आदि पदों पर रहकर प्रसादपूर्ण प्रशासन के माध्यम से जो मानदण्ड स्थापित किये, वे हम सब के लिए आदर्श हैं । उत्तर-प्रदेश संस्कृत अकादमी के १० वर्ष से भी अधिक समय तक अध्यक्ष रहकर उन्होंने सारे भारत के उत्कृष्टतम विद्वानों को एक लाख रूपये के **'विश्व-संस्कृत-भारती'** सम्मान, वैदिकों तथा लेखकों को विभिन्न प्रकार के सम्मान और पुरस्कार प्रदान कर जो प्रोत्साहन प्रदान किया, वह समग्र अकादमियों का आज भी मार्गदर्शन कर रहा है और उनकी कीर्तिपताका को फैला रहा है ।

परम्पराओं के पालक, उच्चकोटि के विचारक, उत्तम शिक्षक, श्रेष्ठ लेखक, कुशल प्रशासक और प्रभावपूर्ण वक्ता तथा सूक्ष्म शरीर की तरह आकृति में भी सौम्य और सुन्दर व्यक्तित्व के धनी पण्डित **श्री करुणापति त्रिपाठी** एक आदर्श तपोनिष्ठ ब्राह्मण के रूप में न केवल काशी में विराजमान हैं; अपितु अपनी इस वृद्ध आयु में भी सतत साहित्य-साधना में संलग्न हैं । यह हम सब के लिए एक आदर्श है ।

प्रस्तुत प्रकाशन उनकी इस साधना का तीसरा पुष्प है । हमारा विश्वास है कि उनके द्वारा सम्पादित इसका चतुर्थ खण्ड भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा और हम इस महान् उपक्रम की पूर्णता से इस विश्वविद्यालय को गौरवान्वित कर सकेंगे । इन्हीं शब्दों के साथ मैं इस प्रकाशन के लिए श्रद्धेय पण्डित श्री त्रिपाठी जी के चरणों में अपने विनय एवं अभिनन्दन की अञ्जलि अर्पित करता हूँ तथा इस विश्वविद्यालय के प्रकाशनाधिकारी **डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** एवं रत्ना प्रिन्टिंग वर्क्स के संचालक **श्री विपुलशङ्कर पण्ड्या** को अपना धन्यवाद प्रदान करता हूँ ।

वाराणसी
महाशिवरात्रि,
वि. सं. २०५२
(१७.२.१९९६ खैस्ताब्द)

मण्डन मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

सम्पादकीयं निवेदनम्

अतीवहर्षस्यायमवसरो यदसौ स्कन्दपुराणान्तर्गत-काशीखण्डस्य तृतीयो भागः श्रीहरिश्चन्द्रमणित्रिपाठिनः प्रकाशनाधिकारिणोऽनवरतप्रयासेन प्रकाश्यतां नीयतें। भागस्यास्य बहूनि वैशिष्ट्यानि। मूर्धन्या च विशिष्टता यदस्य भागस्य अध्याये त्रिसप्ततितमे वाराणसीस्थानां विशिष्टानां शिवलिङ्गानां चतुर्दशत्रयी निर्दिष्टा वर्त्तते, येषां तत्तन्मासे प्रतिपदात आरभ्य चतुर्दशीपर्यन्तं यात्रा दर्शनं चातीवफलदं मोक्षदायकं च। अन्यानि चापि वैशिष्ट्यानि यथा–दिवोदासस्यात्र प्रथम उल्लेखो वर्त्तते (३९ अ. ३६ श्लोके)–

'उवाच वचनं राजन् रिपुञ्जय महामते।
इलां पालय भूपाल ससमुद्राद्रिकाननाम्'॥

वस्तुतस्त्रयश्चत्वारिंशाध्यायतस्तस्याख्यानस्य प्रामुख्यमस्ति यदाख्यानं भागस्यास्याष्टपञ्चाशेऽध्याये तदा विरामं गतो यदा महादेवो विश्वेश्वरो मन्दराचलात् काशीं समागतवान्। ज्ञानवाप्या माहात्म्यं तत्सम्बन्धि चाख्यानमत्रैव भागे वर्त्तते। चतुर्णामाश्रमाणां वर्णानां चेह सदाचारनिरूपणम्। नार्याः सौभाग्यादिसूचकानि सामुद्रिकलक्षणान्यत्र वर्णितानि। शिवप्रेषितानां चतुःषष्टियोगिनीनाम्, गणानां बहूनाम्, सूर्यस्य, पद्मनाभस्य, गणेशस्य, विष्णोश्च प्रयासाः शिवविषयककाशीप्रत्यागमनपरकाः। पिशाचमोचनकथा, पञ्चगङ्गातीर्थस्य, बिन्दुमाधवस्य च प्राकट्यकथा, विश्वेश्वरस्य काशीप्रवेशस्तत्सम्बन्धिसमाख्यानञ्च। एवमेव कपिलधारातीर्थाख्यानं तन्माहात्म्यं च। ज्येष्ठेश्वर-व्याघ्रेश्वर-रत्नेश्वराद्याख्यानानि माहात्म्यं च।

गजासुरवधस्य विस्मयजनकमाख्यानं यस्य त्वचं धारयति महेशः, तदप्यत्रास्ति। विभिन्नदेशवास्यष्टोत्तरषष्टिसंख्यकानामायतनीयानां देवानाममुष्मिन्भागेऽस्ति वाराणसीसमागमः। मत्स्योदरी–पिलपिलातीर्थयोर्महिमाप्यत्र। दुर्गासुराख्यानं विचित्रस्तस्य वधः। शक्तिनामकथनपूर्वकम्, तथा च नवकोटिवेतालपरिवारसहितदेवीस्थानानां मुख्यानां वर्णनम्। ओङ्कारेश्वरेश्वरस्य च विशिष्टस्य शिवलिङ्गस्य त्रिलोचनाख्यानस्य चोपक्रमोऽत्रैव।

इत्थमेव च सामञ्जस्यवादिपुराणरीतिमनुसरतां वैष्णवतीर्थानामादिकेशवादीनामनेकानेकेषां माधव-केशवप्रभृतिमन्दिराणां च वर्णनम्। अन्यानि चास्य भागस्य वैशिष्ट्यानि यानि मूलकाशीखण्डस्यामुष्मिन्भागेऽध्येतव्यानि।

एतस्मिन्भागे संस्कृतटीकाकर्त्तुर्महापण्डितस्य चतुरस्रस्य श्रीरामानन्दस्य विषये कृतेऽपि प्रयासे ऐतिहासिकी सामग्री नोपलब्धा, तथापि आन्तरिकप्रमाणेन ग्रन्थावलोकनेन यत्किञ्चित्तथ्यमुपलब्धं तन्निबन्धितम् ।

इत्थमेव हिन्दीभाषानुवादकस्य त्रिपाठिनारायणपतेः संक्षिप्तवंशपरिचयसहितं तत्सम्बन्धिजीवनचरितमपि संक्षेपेणैव वर्णितं मया ।

प्रतिदिनं मे वर्ष्मणः क्षमता शिथिलतां गच्छति; किन्तु शिवप्रसादेन कानिचन विवरणानि, विश्वसिमि लिखिष्यामि । पूर्वतस्तेषामुल्लेखो न करोमि । पुनश्च विश्वसिमि श्रीगणेश-गङ्गा-गौरी-दुर्गा-बिन्दुमाधव-रत्नेश्वर-वटुकभैरवादयो द्वादशादित्यसहिता यदि सम्पादकं समर्थं विधास्यन्ति, नूनं चतुर्थे भागे केचन नवीनाः पक्षाः समागमिष्यन्ति ।

आभारनिवेदनम्

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य वाराणसेयस्य अखिलभारतख्यातिमन्तः श्रीमन्तो कुलपतयः **प्रो. वेङ्कटाचलमहोदयाः** सर्वतः प्रथमं मदीयाभारभाजिनो येषां सत्कृपया ग्रन्थस्य भागोऽसौ प्रकाश्यते । **डॉ. श्रीहरिश्चन्द्रमणित्रिपाठिनो** मच्छिष्यकल्पा मुद्रण-प्रकाशन-कलामर्मज्ञाः प्रकाशनाधिकारिणो मदीयाशीर्वादानां समुचिताधिकारिणः, येषामनवरतप्रयासेन भागस्यास्य मुद्रण-प्रकाशन-व्यवस्थाः सकला निष्पादिताः । स्वीकरोमि यदेतेषां साहाय्येनैव परिणते वयसि चापि सम्पादकस्य कार्यनिर्वाहमहं यथाकथञ्चित् सम्पादितवान् । रत्ना-प्रिंटिंग-वर्क्स-मुद्रणालयस्य स्वत्वाधिकारिणः **श्रीविपुलशङ्करपण्ड्या अपि** भूयो भूयो धन्यवादभागिनो यैर्मनोयोगपूर्वकं भागस्यास्य मुद्रणं विहितम् । सर्वे च प्रकाशनविभागकर्मचारिणोऽस्मिन् मुद्रणे सहायकत्वेन धन्यवादार्हाः । सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य वाराणसीस्थस्य साक्षात्परम्परया वा ये सहायकास्तेऽपि ममाभारभाजः । अस्मिन् भागे या त्रुटिः स्खलनं वा तस्य कृते विनतमस्तकः सम्पादकः क्षमां याचमानः प्रार्थयते पण्डितान् यत्ते त्रुटीः सूचयन्तु येन सत्यवसरे तासामपाकरणं भवेत् । इति शुभम् ।

वाराणस्याम्, निवेदकः
अचलैकादश्याम्, **करुणापतित्रिपाठी**
२०५१ तमे वैक्रमाब्दे

टीकाकारों का परिचय

(१) काशीखण्ड के संस्कृत टीकाकार श्रीरामानन्द।
(२) हिन्दी अनुवादक पं. श्रीनारायणपति त्रिपाठी और उनका वंश।

(१) श्रीरामानन्द

प्रस्तुत संस्करण में रामानन्द नामक महापण्डित की काशीखण्ड की टीका मुद्रित हो रही है। यह टीका भाष्यात्मक है। इसके सन्दर्भ में संक्षेप में बताया जायगा। यहाँ स्वल्प शब्दों में उपलब्ध परिचय मात्र दिया जा रहा है। टीका में इनका नाम 'रामानन्द' मात्र अवतरणिका में है, यथा–

"व्यासोक्ते स्कन्दसंज्ञेऽयं पुराणे काशिकाह्वयः।
खण्डो यस्तस्य टीकेयं रामानन्देन रच्यते"।

पर मेरा अनुमान है कि इनका पूरा नाम 'रामानन्दवन' था। ऐसा लगता है कि इनकी उपाधि 'वन' उसी प्रकार थी, जिस प्रकार दशनामी संन्यासियों में 'सरस्वती, पुरी, गिरि' आदि होती है ; क्योंकि इनके गुरु (सम्भवतः दीक्षागुरु) का नाम था 'श्रीरामेन्द्रवन' और परमगुरु का नाम श्रीदेवेन्द्रवन था। यथा–

(क) **अद्वैताब्जविकासैककतरणिं हार्दान्धकारच्छिदं**
शान्त्यादेर्निलयं दयैकशरणं वैराग्यवन्मूर्त्तिकम्।
हृत्कान्तारमहाटवीसुविलसत्कामेभपञ्चाननं
श्रीरामेन्द्रवनाभिधं गुरुमहो भक्त्या नमामस्तराम्॥ ४॥

(ख) **यत्पादाम्बरुहध्यानाद् हार्दं मे गलितं तमः।**
परमं तं गुरुं भक्त्या श्रीदेवेन्द्रवनं नुमः[1]॥ ५॥

(काशीखण्ड-भाग १, पृ. ४)

---

1. (क) हम 'श्रीरामेन्द्रवन' नामक उस गुरुवर को प्रणाम करते हैं, जो गुरु अद्वैत-सिद्धान्त और अद्वैतवादरूपी कमल के विकासक तरणि (सूर्य) हैं; जो हृदय में भरे हुए अज्ञानान्धकार का नाश करने वाले हैं, जो शान्ति के आगार हैं, जो शिष्यों को दयारूपी शरण देने वाले और जो हृदयरूपी सघन-गहनरूपी अटवी में निवास करने वाले कामरूपी हाथी के लिए सिंहसदृश हैं, उन गुरु रामेन्द्रवन को प्रणाम करता हूँ।
(ख) जिस गुरु के चरणकमल के ध्यान मात्र से मेरे हृदय का अन्धकार दूर हो गया, उस परमगुरु 'देवेन्द्रवन' को भी प्रणमन है।

इस कथन से यह भी ज्ञात होता है कि इनका यह नाम सम्भवतः दीक्षानन्तर का है। हो सकता है कि यही इनका पूर्वाश्रम नाम भी हो। यह भी सूचित होता है कि श्रीरामेन्द्रवन अद्वैत-वेदान्त में दीक्षा-प्राप्त शाङ्कराद्वैत के अनुयायी थे। काशीखण्ड के टीकाकार रामानन्द चतुरस्र और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महापण्डित थे। इनकी टीका भाष्यात्मक है। टीका पढ़ने से ज्ञात होता है कि इनका ज्ञान बड़ा व्यापक, गम्भीर और सर्वशास्त्रनैपुण्ययुक्त था। पुराणकथाओं और पौराणिक इतिवृत्तों से इनका पर्याप्त परिचय था। ऐसे शतशः उद्धरण दिये जा सकते हैं, पर संक्षेप-कामना से मैं एक उदाहरण देता हूँ—

'कदाचिदीश्वरं द्रष्टुं कैलासं गतेन भार्गवेण रामेण गणेशप्रतिरुद्धेनाभ्यन्तरं गन्तुमलभमानेन तज्जनितकोपानलो गणेशस्य हस्तात् परशुं बलात्कारेण गृहीत्वा गणेशस्य शिरोऽच्छेदि। ततो ज्ञाताशेषवृन्तान्तेनेश्वरेण रामायाभ्यधायि 'त्वमद्यारभ्यानेन परशुना परशुरामो भविष्यसीति' गजेन्द्रस्य शिरश्छित्वा गणेशस्य मौलौ योजितमिति च पौराणिकाः।[1] (काशीखण्ड, प्रथम-भाग, पृ. ५)

[गणेश-शिरश्छेदन की कथा अनेक पुराणों में भिन्न-भिन्न रूप से उपलब्ध है। अनावश्यक विस्तारभय से उनका कथन नहीं किया जा रहा है।]

---

1. (क) किसी समय ईशान को देखने गए भृगुनन्दन 'राम' को (द्वार पर ही) गणेश ने रोक दिया। अतः वे जा न पाए। उसी कारण क्रोधानलवश गणेश के हाथ से परशु बलपूर्वक लेकर गणेश का भार्गव ने शिर काट दिया। यह समस्त वृत्त जानकर शिवशंकर ने 'राम भार्गव' से कहा—'आज से तुम इस परशु के कारण परशुराम हो गये'। तदनन्तर 'गजेन्द्र का मस्तक काट कर गणेश की मौलि में जोड़ दिया'। यह पौराणिकों में प्रसिद्ध है।

(ख) इसी प्रसंग में पृष्ठ ४ की अन्तिम पंक्ति में और पृष्ठ ५ की आठ पंक्तियों में पद्मपुराण और भविष्यपुराण की कथाओं का रामानन्दी टीका में संकेत है। (सम्पादक)

(ग) एवं हि पाद्मे श्रूयते चक्रेश्वरमाहात्म्यप्रसङ्गे—'विघ्नाधिराजे जाते तदवलोकनाय ब्रह्मादयो मिलिता अभूवन्, शनैश्चरस्तु नागतोऽभूत्। ततोऽम्बिकायां रुष्टायामागते च तस्मिन् गणेशस्य मौलिरपतत्। ततो महादेवेन हस्तिवृन्देन्द्रशिरश्छित्वा योजितमिति"। (तदेव, पृ. ४-५)

(घ) 'कदाचिद्गात्रोद्वर्तनं कृत्वा तज्जनितमलेन 'गणेशप्रतिकृतिं विधाय जीवञ्च तस्यां सञ्चार्य यावन्मया स्नायते, तावदत्र कोऽप्यागन्तुं न देयः' इति गौरी तं व्याजहार। ततश्च तस्मिन् द्वारि स्थिते कुतश्चिदागतो महेशस्तेन प्रतिरुद्धोऽन्तःपुरं प्रवेष्टुमलभमानः क्रुद्धः सन् बहुयुद्धं कृत्वा पश्चात्तस्य मौलिमुज्जहार। पश्चाच्छोकरोषाभ्यामाविष्टायां पार्वत्यां करिगणेन्द्रशिरश्छित्वा योजितमिति च भविष्ये"। (तदेव, पृ. ५)

(ङ) 'गजीभूय क्रीडतोर्भगवतोर्ज्जाततत्वाद्वा गजानन' इति पुराणान्तरम्। (आगे इसी पृष्ठ में गजासुर की कथा और कान पकड़ कर शिर धुनने की कथा है।)

इसी श्लोक की टीका में उपर्युक्त उद्धरण के ऊपर ही श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यों और दाक्षिणात्यों में परिचित लोकाचार भी वर्णित है–

"...........इदानीमपि गणेशस्याग्रे श्रीसार्वभौमभट्टाचार्या दाक्षिणात्याश्च स्वकर्णौ धृत्वा शिरोधूननं शिरःकुट्टनं च कुर्वन्तीति" ।

यह मेरा अनुमान मात्र है । इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है । 'रामानन्द' नाम के अनेक विद्वान् हो गए हैं । उनमें एक मेरे पूर्वपुरुष 'रामानन्द' थे । उनका परिचय संक्षेप में पर पर्याप्त विस्तार के साथ आचार्य श्रीबलदेव उपाध्याय ने अपने प्रमाणिक ग्रन्थ **"काशी की पाण्डित्य-परम्परा"** (प्रथम संस्करण, १९८३ ई, पृ. ७० से ७४) में दिया है । पर वे काशीखण्ड के टीकाकार से भिन्न थे । उनके पिता का नाम था मधुकर त्रिपाठी । उन्होंने अनेक स्तोत्रों के अन्त में इसका उल्लेख किया है । यथा–'विन्ध्यवासिनी-कल्पद्रुमस्तोत्र (स्तुतिमणिमाला, भाग-२, प्रकाशक–उ. प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ, पृ. १२०-१२२)–'इति श्रीमत्सरयूपारीण-पण्डितधुरीण-महाकुलीनत्रिपाठिमधुकरशर्मात्मजत्रिपाठिरामानन्द-विरचितं (संवत् १७४२) विन्ध्यवासिनीस्तोत्रं समाप्तम्' । किसी भी प्रमाण से ऐसा नहीं लगता कि वे 'काशीखण्ड' के टीकाकार थे । यद्यपि मेरे स्व. पूज्य पिता जी ने इसी संस्करण की भूमिका (पृ. ५) में लिखा है–

"इस "काशीखण्ड" पर यतीन्द्र रामानन्द स्वामी की संस्कृत-टीका प्राचीन और प्रसिद्ध है एवं वह टीका बहुत उत्तम बनी है । इस भाषानुवाद में जहाँ-तहाँ उसी टीका से कथा व श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं । टीका के प्रत्येक अध्यायों (अध्याय) के आदि में एक श्लोक लिखकर अध्यायभर की सार-सूचना दी गई है । उसी प्रथा के अनुसार इस अनुवाद में प्रत्येक अध्यायों के अन्त में कुछ एक पद्यों के आधारभर का आभास झलकाया गया है और कहीं-कहीं बीच में भी उपयुक्त श्लोकों का पद्यानुवाद, पाठकों के थोड़ा-सा मनफेर कर लेने के लिये लिख दिया गया है" । (वही, ५-६)

पर इसमें भी 'रामानन्द' के विषय में समय और अन्य किसी विषय पर उल्लेख नहीं है ।

'काशीखण्ड' के टीकाकार (रामानन्द) से संबद्ध अन्य कोई विवरण मुझे नहीं मिला । यहाँ इतना ही कह सकता हूँ–जैसा कि हिन्दी-टीकाकार पं. नारायणपति त्रिपाठी ने स्वीकार किया है कि इनकी संस्कृत-टीका से उन्हें पूरी-पूरी सहायता मिली । श्री त्रिपाठी के पास 'रामानन्दी, टीकायुक्त 'काशीखण्ड' की पाण्डुलिपि मैंने देखी थी । उसे मेरे अग्रज स्व. पं. कमलापति त्रिपाठी ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत

विश्वविद्यालय, वाराणसी को (संभवतः) अनेक पाण्डुलिपि-ग्रन्थों के साथ समर्पित कर दिया था।

इतना ही अन्त में निवेदन है कि स्थान-स्थान पर वैदुष्यपूर्ण और भाष्यात्मक 'काशीखण्ड' की टीका अत्यन्त महनीय है। भाष्यात्मकता का उदाहरण अनेकत्र– आरम्भ में, गंगासहस्रनाम के प्रथम पद्य की व्याख्या आदि में देखा जा सकता है।

सश्रद्ध एवं प्रणतिपुरस्सर, 'रामानन्द' के चरणों में नमन के साथ इस संक्षिप्त प्रकरण को समाप्त करता हूँ।

(२) श्री नारायणपति त्रिपाठी

हमारा ब्राह्मण-परिवार काशी में प्रायः मुगल सम्राट् अकबर के काल से रह रहा है। गोरखपुर जनपद में (उस समय जिला गोरखपुर ही था, देवरिया उसके अन्तर्गत एक तहसील मात्र था) पिण्डी (पीड़ी), शाण्डिल्यगोत्रीय ब्राह्मणों में समादृत था। हमारा परिवार 'पंक्तिपावन' था। (वह गाँव आज 'देवरिया' जनपद में है।)

पारिवारिक कुलश्रुति के अनुसार, हमारे पूर्वज देवरिया से बलिया में रुकते हुए वाराणसी आए। वे यहाँ आकर (काशी आकर) सबसे पहले 'रामघाट' गंगा-तट पर बस गए। वहाँ हमारे वंश का निजी गृह था। वह कुछ वर्षों पूर्व तक था[1]। वहाँ से पुनः हमारे पूर्वज 'ललिताघाट' (मानमंदिरघाट के पास) काशी में रहने लगे[2]। पर वहाँ घनी बस्ती थी।

वहाँ से हटकर हमारा परिवार घीहट्टा (जो अब औरंगाबाद, वाराणसी में है) आ गए[3]। वहीं अब तक हमारा परिवार रहता है। हम लोगों के बचपन में हमारे भवन से पश्चिम प्रायः खेत थे और खेती होती थी।

पण्डित नारायणपति त्रिपाठी के पूर्वज पण्डितों की ग्रन्थ रचनाओं का विशेष पता नहीं चलता। केवल इतना ही ज्ञात है कि पं. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा रचित, 'ग्रहलाघव' पर एक 'तिलक' पं. नारायणपति जी के पास सुरक्षित था। सबसे पहले पंडित मधुकर त्रिपाठी के आत्मज, महापण्डित, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, पण्डितधुरीण पं. रामानन्द त्रिपाठी द्वारा रचित विशाल साहित्य पं. नारायणपति के पास था।

---

1. वह भवन कुछ वर्षों पूर्व "श्रीवल्लभराम शालिग्राम चिकित्सालय", रामघाट, वाराणसी के आयुर्वेद-विभाग को स्वल्प मूल्य में विक्रीत कर दिया गया।
2. वह भवन भी अभी कुछ वर्षों पूर्व तक हमारा था। उसमें सैकड़ों वर्षों से किरायेदार ही रहते थे। वह सतमंजिला था। वह भी हाल में बेच दिया गया।
3. इसका कारण यह रहा कि वहाँ धीरे-धीरे बड़ी घनी बस्ती हो गई थी। स्वच्छ और खुला वातावरण नहीं रह गया था।

उनका अधिकांश उल्लेख पं. नारायणपति ने 'विराड्विवरणम्' (प्रकाशक, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८२ ई.) में किया है। पं. रामानन्द हिन्दी के भी कवि थे। उनकी कुछ कविताएँ भी उपर्युक्त पुस्तिका में मुद्रित हैं। 'विराड्विवरणम्' की अन्त की पंक्तियों से पता चलता है कि उक्त रचना मुगल सम्राट् 'शाहजहाँ' के बड़े पुत्र 'दाराशिकोह' के अनुरोध से लिखी गई थी–

"इति श्रीनित्यातिशयषडैश्वर्यसम्पन्नश्रीसाहबिलन्द–इकबालमुहम्मददाराशिकोह-सर्वप्राणिपुञ्जप्रकर्षप्रोद्भूत-सत्सन्तानाखण्डमण्डलधरणिधरनियुक्तश्रीमद्-रामानन्दसूरिणा विरचितं विराड्विवरणं सम्पूर्णम्। संवत् १७१३ वैशाखे मासि, शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां शनौ॥ शुभम्"।

यह भी पता चलता है कि रामानन्द 'शाहजहाँ' से भी परिचित थे, उनकी तथाकथित मृत्यु से दुःखी थे[1], साथ ही दाराशाह की मृत्यु से भी पण्डितधुरीण रामानन्द अत्यन्त दुःखी थे। उनके उद्गार हैं–

"नो सैन्यं चतुरङ्गमीश्वरकृपानाशे प्रभूतं धनं
नो वा पौरुषमात्मनो न च नृपान्मन्ये समर्थान्यतः।
'दाराशाह'-महीपतिर्दशहयैर्वीरार्गला ग्रामतो
यातस्तां मधुरां कथञ्चिदकरोद्विश्रान्तिमेकक्षणम्"॥

"येनेदं धरणी समुद्रवलया प्रत्यर्थिभूपालयाऽ–
प्येकीकृत्य वशीकृता हि नितरां दिल्लीनृपेण स्वयम्।
रङ्गान्त-(औरङ्गजेब-) क्षितिपेन सोऽपि बत ! हा कारागृहं प्रापित-
स्तस्माद्दैवशणाम्बुजाक्षरमयीं मन्ये समर्थां लिपिम्"।
"येनेयं श्रीदकाशीसकलकविजनोद्दामदानप्रकाशै-
राकीर्णा धर्मवर्णामृतसलिलैः संस्कृता स्वर्णदी च।
आकूपारं क्षितीशो नतविनयमतिर्यश्च कर्त्तेश्वरस्तद्-
दाराशाहेन्द्रमौलेर्विपदि कथमहो जीवनीयं हि विश्वम्"॥

---

1. (क) विस्तृत परिचय के लिए देखें 'काशी की पाण्डित्य-परम्परा' (लेखक-आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक–विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, सन्. १९८३ ई.)।
(ख) 'रामानन्द' के वाङ्मय के लिए देखें–'विराड्विवरणम्' की भूमिका–'कविकुल-कथा'। इसमें 'रामानन्द' के कुछ स्तोत्र और कुछ सानुवाद हिन्दी पद्यानुवाद छपे हैं। 'विन्ध्यवासिनी-कल्पद्रुमस्तोत्रम्' की कुञ्जिका में है–
॥ इति श्रीमत्सरयूपारीणपण्डितधुरीणमधुकरशर्मात्मजत्रिपाठिरामानन्दविरचितं विन्ध्यवासिनीकल्पद्रुमस्तोत्रं समाप्तम्॥
इसी स्तोत्र में बताया गया है कि यह स्तोत्र सं. १७४२ में विन्ध्यवासिनी पर्वत पर लिखा गया था।

"धर्मस्तुर्ययुगे न तेन जयति त्वेकाङ्घ्रितां श्रावितो
यावत्तावदपुण्यपण्यनिरतं निर्जित्य दानैः कलिम् ।
सः पुण्यामृतवाहिनीं सुकृतवान् विश्वम्भरां श्रीददद्—
दाराशाहविपत्सु हा ! कथमहो ! प्राणा न गच्छन्त्यमी" ॥

(विराड्विवरणम्, कविकुलकथा पृ. ९)

[सूच्य—इस विस्तृत उद्धरण देने का कारण है, 'रामानन्द' के साथ सम्राट् 'दाराशिकोह' या 'दाराशाह' का घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करना । यह सूचना अत्यन्त ऐतिहासिक महत्त्व की है ।]

मुगलसम्राट्, क्रूर 'औरंगजेब' के देव-मंदिरों के तुड़वाने एवं गोवध आदि से भी 'रामानन्द' अत्यन्त दुःखी थे । यह तथ्य उनके लघु-प्रहसन 'हास्यसागर' से अनुमेय है—

"हन्यन्ते निर्निमित्तं सकलसुरभवो निर्दयैर्म्लेच्छजातै—
र्दीर्यन्तेऽमी सदेवाः सकलसुमनसामालयाश्चातिदीर्घाः ।
पीड्यन्ते साधुलोकाः कठिनतरकरग्राहिभिः कामचारैः
प्रत्यूहैस्तैः क्रतूनां समयमिव जगत्यामराणां कुमारैः" ॥

(हास्यसागर,. पृ. २२)

इसी प्रहसन में 'रामानन्द बाबा' की एक गर्वोक्ति है—

'एतेषां पण्डितानां पटुतरव्यञ्जिकापञ्चिकास्ताम्
वाचालास्तावदेते दधतु जडधियो मूकतां वावदूकाः ।
गङ्गाकल्लोलकल्पाः सपदि सुकृतिनां सज्जनानां समाजे
'रामानन्द—' द्विजानां यदवधि सरसा वाग्विलासाः, स्फुरन्ति ॥

(वही, पृ. २२)[1]

---

1. 'रामानन्द' जी योगाभ्यासी और 'दक्षिण-काली' के उपासक थे । कविता उनकी जिह्वाग्र-नर्तकी थी—

मातर्दक्षिणकालिके तव पदद्वन्द्वारविन्दे रतिं
कृत्वैतत्सरहस्यमद्भुतमिदं स्तोत्रं पठेत् सादरम् ।
तस्य त्वत्करुणाकटाक्षकलया खेलन्ति वक्त्राम्बुजे,
कल्लोला इव गद्यपद्यविभवैर्वैदग्ध्यमुग्धा गिरः" ॥ (हास्यसागर, परिशिष्ट—१, पृ. ६)

उन्होंने जीवन के अन्तिम दिनों में संन्यास लेकर, लक्ष्मीकुंड के तट पर 'कालीमठ' की स्थापना की थी । तब उनका नाम 'ज्ञानानन्द' था । उस मठ की पर्याप्त अचल संपत्ति थी । उन पर अब बलशालियों ने अधिकार कर लिया है । उस मठ-मन्दिर में प्रस्तर पर उत्कीर्ण अनेक तांत्रिक चक्र भी मैंने देखे थे । यह 'सब' नारायणपति त्रिपाठी जी भी सुनाया करते थे ।

तदनन्तर किसी समय हमारे परिवार के लोग गङ्गातट पर बाबा विश्वनाथ के समीप (ललिताघाट, मानमंदिरघाट और लाहौरी टोला के समीप) एक निजी गृह में आ गए थे। वह भवन अभी हाल में विक्रय कर दिया गया। वह सतमंजिला गृह था। उसमें अनेक किरायेदार सौ-सौ, डेढ़-डेढ़ सौ वर्ष पुराने थे।

इसके पश्चात् 'वंशावली' के पंडितों का नाममात्र ज्ञात होता है। उनकी किसी रचना का प्रायः पता नहीं चलता, कम से कम मैं (करुणापति त्रिपाठी) नहीं जानता। मेरे पिता जी बहुत कुछ जानते थे, वह सब सुनकर भी मैं आज बताने-लिखने में अस्पष्टता के कारण असमर्थ हूँ।

कब से हम लोग औरंगाबाद (घीहट्टा) में आए–इसका ठीक-ठीक पता नहीं है। पं. नारायणपति त्रिपाठी के पितामह, पंडित अयोध्याप्रसाद त्रिपाठी संस्कृत और फारसी के बड़े ज्ञाता थे। इसी कारण बिहार के 'पटना' जिले में, ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत वे जिला-जज (सदर-ए-आला) नियुक्त किए गए थे। (वहाँ हम लोगों की जमीन्दारी थी और खेती भी होती थीं। 'सीलिंग' में वह सबा चली गई।) वे नित्य पार्थिवपूजन करते थे और योगी भी थे। जीवन के अन्तिम दिन, बिना कुछ बताए संम्बन्धियों और कुटुम्बियों तथा इष्ट-मित्रों से मिल-जुलकर वे गंगा-स्नानार्थ-मणिकर्णिका गए। स्नानानन्तर संध्या, तर्पण के पश्चात् पार्थिवपूजन करते हुए उन्होंने प्राणायाम करके शरीर त्याग दिया। हमारे पितामह पं. रमापति त्रिपाठी भी पार्थिवपूजक एवं संस्कृत-विद्वान् थे। वे घर पर विद्यार्थियों को पढ़ाते एवं भोजन तथा आवास देते थे। घर के बाहरी भागों में विद्यार्थी रहा करते थे।

पण्डित रमापति त्रिपाठी के बडे भाई पण्डित चन्द्रशेखरपंति त्रिपाठी संस्कृत के चतुरस्र विद्वान् एवं व्याकरण एवं अद्वैतवेदान्त के तलस्पर्शी मनीषी थे। प्रातः घर पर ही आठ बजे से रात आठ-नौ बजे तक पढ़ने वाले छात्रों, पण्डितों और संन्यासियों की भीड़–विविध शास्त्राध्ययन के हेतु–लगी रहती थी। तत्कालीन महापण्डित, महावैयाकरण, तत्कालीन राजकीय संस्कृत कालेज, वाराणसी के चतुरस्र सुधी "श्रीबालशास्त्री" भी अद्वैतवेदान्त की ग्रन्थियों के उन्मोचनार्थ, कभी-कभी पधारते थे। विद्वत्समादर की पण्डित-सभा में पण्डित चन्द्रशेखरपति की अग्रपूजा होती थे। उन्हें पुत्र नहीं था। पुत्री मात्र थी।

पं. रमापति त्रिपाठी के चार पुत्र थे–(१) पं. लक्ष्मीपति त्रिपाठी (निरपत्य), (२) पं. विद्यापति त्रिपाठी (उन्हें केवल एक कन्या थी), (३) पण्डित नारायणपति त्रिपाठी और (४) पं. उमापति त्रिपाठी (निरपत्य)। केवल पण्डित

नारायणपति त्रिपाठी (काशीखण्ड के अनुवादक) को पाँच पुत्र हुए–(१) काशीपति त्रिपाठी, (२) कमलापति त्रिपाठी (भारतविख्यात कांग्रेसी नेता), (३) कैलासपति त्रिपाठी (वाराणसी के प्रख्यात वकील) (४) कोशलपति त्रिपाठी (लब्धप्रतिष्ठ काशी के चिकित्सक) और (५) करुणापति त्रिपाठी (प्रस्तुत काशीखण्ड के सम्पादक)। वंशावली इसी 'परिचय' के अन्त में दी जा रही है।

पण्डित नारायणपति त्रिपाठी का व्यक्तित्व

पण्डित नारायणपति त्रिपाठी की गणना काशी के पण्डितों में तो थी ही, काशी के रईसों और जमीन्दारों में भी वे सुपरिचित थे। अनेक पण्डितों से उनका परिचय था। उनमें कुछ के नाम हैं–(१) षट्शास्त्री महामहोपाध्याय, भारत-विख्यात पण्डित शिवकुमार शास्त्री, उनके श्वसुर ही थे। वहाँ 'मछरहट्टा' में उनके भवन में प्रायः सन्ध्या-समय उनका आना-जाना था। पूर्वोक्त बालशास्त्री के शिष्य, स्वामी मनीषानन्द (पूर्वाश्रम-नाम–हरिनाथ शास्त्री–जो चतुरस्र पण्डित थे) भी वहाँ प्रायः जाते रहते थे। काशी के ही महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी (भारत-विख्यात गणितज्ञ) एवं महामहोपाध्याय पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा, अवधेश, भारत-प्रसिद्ध ज्योतिषी उनके घनिष्ठ थे। 'शिवराजविजय' (संस्कृत उपन्यास) के लेखक् एवं 'दशावधानी' महापण्डित अम्बिकादत्त व्यास उनके मित्रों में थे। पण्डित हृषीकेश उपाध्याय–हृषीकेशपञ्चाङ्ग-प्रवर्तक–उनके परम सखा थे। पं. विजयानन्द त्रिपाठी मानसमर्मज्ञ और वेदान्ती से उनकी पटती थी।

घनिष्ठों में दुर्गा जी के राजा पंडा प्रसिद्ध सितार-कलाकार एवं कवि उनके परम मित्र थे। दुर्गा-मंदिर में प्रति मंगलवार उनसे भेंट होती थी। वहीं ब्रजभाषा के वाराणसेय मूर्धन्य कवि श्रीजगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्रति मंगलवार को सायं आते थे, जहाँ सितारवादन और ब्रजभाषा की कविता का पाठ होता था। अनेक अन्य संस्कृत विद्वानों से उनका संपर्क था। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति, आदि अनेकानेक 'ऐयारी' के उपन्यास-लेखक देवकीनंदन खत्री उनके घनिष्ठ सुहृद् थे। किशोरीलाल गोस्वामी से भी अच्छी जान-पहचान थी।

पं. नारायणपति त्रिपाठी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। त्रिकाल 'सन्ध्या' करते थे। वे हम भाइयों को सुनाया करते थे–

'उत्तमा तारकोपेता मध्यमा गततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधोच्यते॥
उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा गतसूर्यका।
अधमा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधोच्यते'॥

वे प्रातःसन्ध्या 'तारकोपेता' करते थे। मध्याह्नसंध्या, पुनः स्नानादि के अनन्तर 'सन्ध्या' 'गायत्रीजप' करते थे। तत्पश्चात् 'तर्पण' करने के बाद पार्थिवार्चन और दुग्धमिश्रित जल से 'महिम्नःस्तोत्र'–पाठसहित पार्थिव-शिवाभिषेक करते थे। एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा तथा अन्य पर्वों पर गङ्गास्नान, पर्वव्रत, प्रयाग-कुम्भ के समय त्रिवेणीस्नान एवं मेषसंक्रान्ति कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार–स्नान नियमपूर्वक करते थे। प्रति सोमवार को विश्वनाथ-अन्नपूर्णादि दर्शन तथा कार्तिक में पाँच दिन पञ्चगंगा-स्नान एवं समीपस्थ देवदर्शन उनका नियम था। श्रावण सोमवार को केदारघाट-स्नान एवं व्रतपूर्वक केदारेश्वरादि का दर्शन भी उनका नियम था। पण्डित नारायणपति त्रिपाठी की धर्मनिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा का इतना ही यह संक्षिप्त विवरण है।

केवल एक बात और बताना आवश्यक है। हमारे दो मंदिर हैं–

१. 'श्रीलक्ष्मीगोपाल' का मंदिर भवन के हाते में है। हाते के बाहर २. "शिवालय" है। इनमें प्रायः प्रमुख सभी देवता स्थापित हैं। पं. नारायणपति जब काशी में रहते थे, तब इनकी नित्य पूजा करते थे।

रईसी बाना

हमारे यहाँ, मेरे बचपन तक पहरा-चौकी थी। प्रवेश-द्वार पर बंदूकधारी चार प्रहरी रहा करते थे। चार-चार घंटे पर उनकी 'ड्यूटी', दिन और रात में बदलती रहती थी। वहीं घड़ी और घंटा था। घंटा बजाने का कार्य यथासमय प्रहरी करते थे। "लैंडो" और 'फिटिन' आदि गाड़ियाँ थीं। इनमें दो घोड़े जोते जाते थे। घुड़-सवारी के लिए एक अतिरिक्त घोड़ा रहता था। यह सब केवल दिङ्निर्देश है।

पं. नारायणपति त्रिपाठी की शिक्षा, कृतित्व एवं वंशावली

पं. नारायणपति को संस्कृत पढ़ाया गया। उनकी औपचारिक शिक्षा 'जयनारायण स्कूल' वाराणसी की संस्कृत पाठशाला में शास्त्री प्रथम खण्ड तक ही हुई थी। तदनन्तर पिता के निधन हो जाने पर उन्हें घर के कार्य में लगा दिया गया। पर वे विद्याव्यसनी और विद्याप्रेमी थे। उनका स्वाध्याय एवं अध्यापन निरन्तर चलता रहा। घर पर वे 'बृहत्त्रयी' और 'लघुत्रयी' छात्रों को पढ़ाया करते थे। संस्कृत के ही नहीं, हिन्दी के भी वे प्रेमी थे। 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी' के वे सामान्य सदस्य थे। 'तुलसी' के 'रामचरितमानस' और 'बिहारी सतसई' के सैकड़ों दोहे उन्हें कंठस्थ थे। 'मनुस्मृति' के उन्हें सैकड़ों श्लोक याद थे। वे 'संस्कृत' के आशुकवि और हिन्दी के भी कवि थे। संस्कृत की पांडुलिपि और मुद्रित ग्रन्थों का उनका अच्छा पुस्तकालय था।

पण्डित नारायणपति त्रिपाठी का कृतित्व

(१) **रससर्वस्वम्**—इसमें रसविषयक सभी प्रकरण, लक्षणों और उदाहरणों के साथ संस्कृत में संगृहीत करके सं. १९५२, आषाढ कृष्ण दशमी मंगल को लिखकर समाप्त किए गए (अप्रकाशित)।

(२) **काशीखण्ड**—भाषाटीका सहित (श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से) पुस्तकाकार—संवत् १९५२ में प्रकाशित। पुनः 'रामानन्दी' संस्कृत-टीका के साथ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से चार भागों में प्रकाशित हो रहा है। उसी का यह तृतीय भाग है।

(३) **वाराणसीमाहात्म्यम्**—कूर्मपुराण के पाँच अध्यायों का भाषानुवाद, जो उपर्युक्त प्रेस से मुद्रित और प्रकाशित है।

(४) **शिवमहिम्नःस्तोत्र**—पंचमुखी टीका और करुणापतिलिखित संस्कृत भूमिका के साथ—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित।

(५) **श्रीविश्वनाथशतकंम्**—'सुप्रभातम्' में प्रकाशित।

(६) **श्रीगङ्गाशतकम्**—'स्तुतिमणिमाला' भाग २ में उत्तर-प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ द्वारा प्रकाशित।

(७) **नीतिदृष्टान्तमाला**—अप्रकाशित।

(८) **श्रीकाशीशतकम्**—इनके तीन शतकों में प्रायः पाँच सौ श्लोक हैं। 'काशी' से पण्डित केदारनाथ 'सारस्वत' द्वारा प्रवर्तित एवं संचालित 'सुप्रभातम्' में प्रकाशित।

(९) **श्रीशृङ्गारतिलकम्**—महाकवि कालिदासकृत खण्डकाव्य पण्डित नारायणपति त्रिपाठीकृत भाषापद्यतिलक सहित 'लहरी प्रेस' से प्रकाशित।

(१०) **स्तोत्रपञ्चरत्नम्**—जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य-रचित ५ स्तोत्रों—(क) अपराध-क्षमापन, (ख) द्वादशपञ्जरिका, (ग) चर्पटपञ्जरिका, (घ) पञ्च-रत्नमाला और (ङ) पञ्चाक्षरस्तोत्रम्—के भाषापद्यानुवाद सहित 'लहरी प्रेस' से सं. १९६५ में प्रकाशित।

(११) **वसन्तलता**—बँगला सामाजिक उपन्यास का हिन्दी अनुवाद—लहरी प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित।

(१२) **भूकम्पकाव्यम्**–इसमें माघकृष्ण अमावास्या, संवत् १९९१ वि. दिनाङ्क १५।१।३४ के भारत के प्रचण्ड भूकम्प का संस्कृत श्लोकों में विवरण है। वह काशी के पाक्षिक पत्र उपर्युक्त 'सुप्रभातम्' में क्रमशः प्रकाशित है।

(१३) **विराड्विवरणम्**–नारायणी पद्यात्मक टीका के साथ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से सन् १९८२ में प्रकाशित।

(१४) रामानन्दकृत **'रसिकजीवनम्'** (संस्कृत में नायिकाभेद ग्रन्थ) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से संपादित होकर सन् १९७८ में प्रकाशित । (इस ग्रंथ का भी पद्यानुवाद पण्डित नारायणपति जी ने किया था, जो प्रकाशित न हो सका।)

(१५) एतद्भिन्न बाबा रामानन्द त्रिपाठी जी तथा पितृव्यचरण पण्डित चन्द्रशेखर त्रिपाठी जी के निर्मित बहुतेरे स्तोत्रों पर–१. रसिकजीवनम्, २. शशाङ्कशतकम्, ३. धन्यशतकम्, ४. कटाक्षशतकम्, इत्यादि पर जो भाषानुवाद बनाए गये हैं, वे अब तक छपकर प्रकाशित नहीं हो सके हैं............. ।
(विराड्विवरणम्–सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशित पृ. ३३ से।)

(१६) **देवीचतुर्दशशती**–संस्कृत में मौलिक रचना, जो प्रकाशक के यहाँ से लुप्त हो गई।

(१७) **'भारतमातृमाला'**–राष्ट्ररत्न बाबू शिवप्रसाद गुप्त के भारतमाता मंदिर–जो 'काशी विद्यापीठ' के समीप है–के उद्घाटन के अवसर पर रचित संस्कृत-पद्यात्मक, श्री त्रिपाठी रचित यह लघुकृति–प्रकाशित की गई थी।

जहाँ तक प्रमाण और स्मृति ने काम दिया है, वहाँ तक मैं उपर्युक्त सूचनाएँ दे पा रहा हूँ। और भी कृतियाँ थीं, जिनका मुझे ज्ञान नहीं है।

पण्डित नारायणपति त्रिपाठी की वंशावली
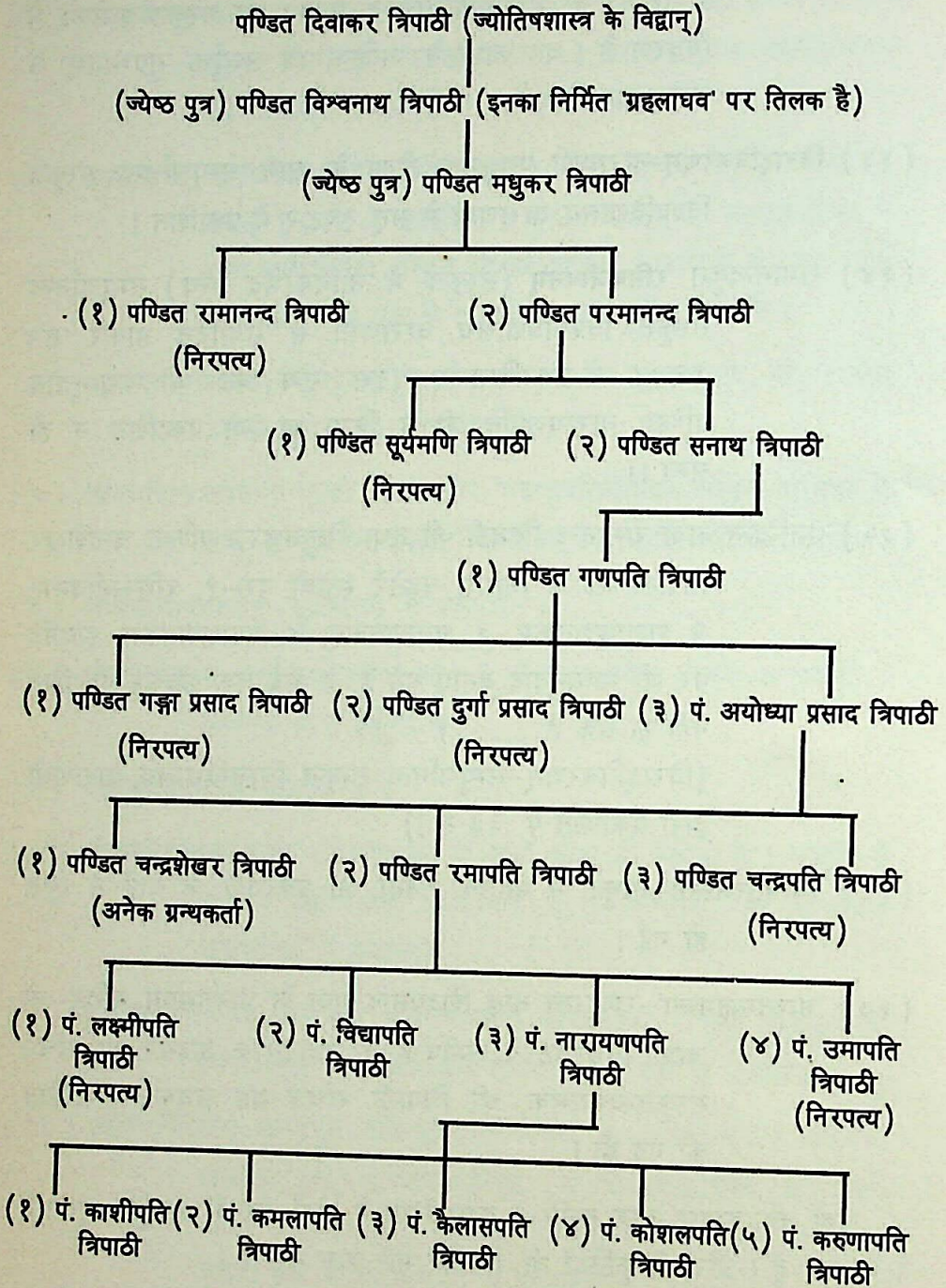
(सूच्य–इस वंशावली में जिन्हें केवल कन्या या कन्याएँ थीं, उनका विस्तार छोड़ दिया गया है।)

●

कथा-सारांश

[५१]

अरुणादित्य, वृद्धादित्य, केशवादित्य, विमलादित्य, गंगादित्य और यमादित्य की कथाएँ

पूर्वार्द्ध के पूर्व अध्यायों में द्वादश आदित्यों में छः की कथाएँ कही जा चुकी हैं। शेष छः आदित्यों (काशीस्थ प्रमुख सूर्यदेवों) की कथा संक्षिप्त रूप से इक्यावनवाँ अध्याय वर्णित करता है।

अगस्त्य मुनि की पृच्छा का समाधान करते हुए स्कन्द ने बताया कि—कश्यप महर्षि की दो पत्नियों—(१) कद्रू और (२) विनता—में कद्रू के गर्भ से सौ सर्पपुत्र हुए और विनता को तीन—(१) उलूक, (२) अरुण और (३) गरुड़ नामक—पुत्र उत्पन्न हुए। पक्षिराज के पद पर उलूक बैठा, पर उसे "निर्गुण" कहकर उसकी निन्दा करते हुए—

"क्रूराक्षोऽयं दिवान्धोऽयं सदा वक्रनखस्त्वसौ।
अतीवोद्वेगजनकं सर्वेषामस्य भाषणम्"॥ (का. ख. ५१।१६)

(अर्थात् इसके नेत्र क्रूर हैं, यह दिवान्ध है, इसके नख टेढ़े हैं और इसकी वाणी सभी को उद्वेगजनक लगती है)—उलूक को गद्दी से उतार दिया गया। द्वितीय बार गर्भवती विनता ने पुत्रमुखदर्शन की लालसा में गर्भपाक के पूर्व ही अपना अंडा फोड़ दिया। उसमें से 'अरुण' उत्पन्न हुए। पर गर्भ की परिपक्वता से पूर्व उत्पन्न किए जाने से उस महातेजस्वी 'अरुण' के शरीर के 'उरू' (जंघा) के ऊपर के अंग तो पूर्णतः सिद्ध हो गए, पर नीचे का भाग बना ही नहीं। (इसी से सूर्यसारथि अरुण को 'अनूरु' कहते हैं)।

('कद्रू' और 'विनता' की कथा कुछ विस्तार के साथ पूर्वार्द्ध में लिखित है। अतः उस प्रसंग को पाठक वहीं देखें)।

अर्द्धनिष्पन्न गर्भ से निकलते ही 'अनूरु' पुत्र क्रोध से लाल हो उठा (इसी कारण अरुण हुआ) और गर्भ फोड़ने में त्वराशील माता को शाप दे दिया कि वह अपनी 'सौत' (सपत्नी) 'कद्रू' की दासी बनेगी। शाप-मुक्ति की विनता द्वारा प्रार्थना किए जाने पर अनूरु ने कहा कि तीसरा अंडा समय पूर्ण होने पर ही फोड़ना। उससे उत्पन्न पुत्र ही तुम्हें दास्यभाव से मुक्ति दिलाएगा। इतना कहकर अनूरु आनन्दकानन चला गया। वहाँ आदित्य की मूर्त्ति-स्थापना और घोर तपस्या से

आदित्य को प्रसन्न कर ढेरों वरदान प्राप्त किया। उन्होंने (सूर्य ने) यह भी वर दिया कि जिस मूर्त्ति की स्थापना कर अरुण ने तपस्या और उपासना की, वह **'अरुणादित्य'** नाम से काशी में विख्यात रहेगी और उसके दर्शन-पूजन का बड़ा माहात्म्य होगा। (यह 'अरुणादित्य' की मूर्त्ति त्रिलोचन मंदिर में है)।

(८) वृद्धादित्य :

वाराणसी में 'वृद्धहारीत' नामक ब्राह्मण 'विशालाक्षी' देवी की दक्षिण ओर सूर्य की प्रतिमा स्थापित कर पूजन और तपस्या करने लगा। सूर्य के प्रसन्न होकर वर-याचना करने की बात कहने पर यौवन का वर, पुनः तपश्चरण हेतु, माँगा, यतः–

"तपो हि परमो धर्मस्तपो हि परमं धनम्।
तपो हि परमः कामो निर्वाणस्तप एव हि" ॥ (का. ख. ५१।३३)

इस संसार में तपस्या ही परम धर्म है, वही परम धन भी है। वही परम काम है और वही निर्वाण भी है; क्योंकि जरा (बुढ़ौती) धिक्करणीय है–

"धिग्जरां प्राणिनामत्र यया सर्वो विरज्यति।
जरातुरेन्द्रियग्रामे स्त्रियोऽपि न यतः स्वसात्" ॥ (वही, ५१।३६)

वृद्ध के लिए जीने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है। भगवान् सूर्य ने तप से प्रसन्न होकर वृद्ध हारीत को सौन्दर्यपुञ्ज तारुण्य का वर दे दिया। साथ ही अन्य वरदान भी दिये। 'वृद्धहारीत' द्वारा स्थापित मूर्त्ति **'वृद्धादित्य'** नाम से विख्यात हुई। यहाँ काशीखण्ड में उनकी पूजा और दर्शन का फल भी बताया गया है। ('वृद्धादित्य' की मूर्ति मीरघाटस्थ हनुमान् मंदिर में है)

(९) केशवादित्य :

आकाश में विचरण करते हुए मनोहारि भगवान् सूर्य ने विष्णु को शिव की पूजा करते हुए देखा। सर्वपूज्य विष्णु के भी पूज्य कौन हैं ? इस जिज्ञासा पर आदिकेशव ने बताया कि वाराणसी पुरी में एकमात्र शिव ही सर्वपूजनीय हैं–

"देवदेवो महादेवो नीलकण्ठ उमापतिः।
एक एव हि पूज्योऽत्र सर्वकारणकारणम्" ॥ (वही, ५१।५४)

राजा 'श्वेतकेतु', 'भृंगी' और 'शिलाद' मृत्युंजय त्रिलोचन की पूजा से परम-पूज्य हो गये थे। चन्द्रशेखर सबके पूज्य हैं। उनके पूजन से सैकड़ों जन्म के अर्जित पाप छूट जाते हैं।

श्रीकेशव ने कहा कि शिवलिंगार्चन से ही मेरे समस्त वैभव मुझे प्राप्त हैं। इस प्रकार 'विष्णु' ने शिवलिंग-पूजन की अवर्णनीय महिमा बतायी। यह उपदेश भी सहस्ररश्मि को दिया कि महातेजोऽभिवर्धिनी लक्ष्मी की प्राप्ति हेतु 'आदिकेशव' को गुरु मानकर शिवलिङ्ग का पूजन करें। उसी समय से 'स्फटिक-मणिमय शिवलिंग' का पूजन तथा 'वरणासंगम' के उत्तर में स्थित **केशवादित्य** पूंजा का अपार माहात्म्य है। यदि माघशुक्ल सप्तमी को रविवार पड़ जाय, तो उस पादोदकतीर्थ में प्रातः मौनी होकर स्नान करने से मानव सात जन्म पूर्वकृत पाप मुक्त हो जाता है। स्नान करते समय निम्नोक्त मन्त्र का पाठ करें–

"यद्यज्जन्मकृतं पापं मया सप्तसु जन्मसु।
तन्मे रोगं च शोकं च माकरी (मकरमासस्य) हन्तु सप्तमी" ॥ (का. ख. ५१।७८)

('केशवादित्य' वरणासंगम पर हैं)

(१०) विमलादित्य :

पूर्वकाल में विमल नामक एक क्षत्रिय, पर्वतीय उच्चदेशवासी पूर्वजन्मार्जित कर्मफल से कुष्ठरोगग्रस्त हो गया। वह गृह, गृहिणी, परिवार, धन आदि त्यागरकर काशी आया और सूर्य का उपासक हो गया। वह नित्य ही कर्णिकार, अड़हुल, दुपहरिया, पलास, रक्ताशोक, रक्तकमल आदि लाल फूलों से और लाल गुलाब एवं चम्पा की मालाओं से सूर्य की उपासना-पूजा (पंचोपचार) करता था। विधिवत् रक्त-चन्दन से सूर्यार्घ्य देता था और आदित्य के स्तोत्रों का पाठ किया करता था। 'रश्मिमाली' की कृपा से उनका कुष्ठरोग दूर हो गया। सूर्य ने और भी वर देते हुए कहा कि जो **'विमलादित्य'** सूर्य के उपासक और पूजक हों, उनके कुल में रोग, दारिद्र्य आदि न हों। यह भी वर दिया कि इस तुम्हारी उपास्य-मूर्ति में सर्वदा जगच्चक्षु वर्तमान रहेंगे और इनका नाम भी **'विमलादित्य'** रहेगा। (विमलादित्य का मंदिर जंगमबाड़ी मुहल्ले में है।)

(११) गङ्गादित्य :

काशी में ही 'विश्वनाथ' से दक्षिण ओर एक और प्रसिद्ध आदित्य हैं। उनका नाम **'गङ्गादित्य'** है। 'काशीखण्ड' के ५१वें अध्याय में 'गङ्गादित्य' का प्रसंग वर्णित है। उसका संक्षिप्त वृत्तान्त निम्नाङ्कित है–

जब राजा भगीरथ के 'रथखात' का अनुसरण करती हुई गंगा वाराणसी पहुँचीं, तब 'गंगा' की स्तुति करने हेतु भगवान् भास्कर वहीं पहुँचे और आज तक वर्तमान रहकर गंगा-स्तुति करते रहते हैं। उनके दर्शनमात्र से दुर्गति और रोग नष्ट हो जाते हैं। (गङ्गादित्य का मन्दिर ललिताघाट पर है।)

(१२) यमादित्य :

यमघाट पर 'यमेश्वर' की पश्चिम ओर पूर्वकाल में यमराज ने तपस्या की थी। उन्होंने ही 'यमेश्वर' शिवलिङ्ग की और 'यमादित्य' नाम सूर्य की भी मूर्तियाँ स्थापित की थीं। मंगल को चतुर्दशी तिथि पड़ने पर यमघाट में स्नान और 'यमेश्वर' एवं 'यमादित्य' के दर्शन से अशेष पापों से मुक्ति तथा यमयातना से छुटकारा मिलता है। मंगलवार को भरणी नक्षत्र तथा चतुर्दशी तिथि में यमघाट पर गंगास्नान और दर्शन से पितृ-ऋण से भी मुक्ति मिलती है। ('यमेश्वर' की पश्चिम ओर (आत्मा) 'वीरेश्वर' के पूर्व में यह मूर्त्ति है।)

वाराणसी में 'गुह्यादित्य' आदि अन्य सूर्यमन्दिर और अनेक मूर्त्तियाँ भी हैं। पर ये द्वादशादित्य प्रमुख हैं।

[५२]

दशाश्वमेध का आख्यान

काशी का समाचार जानने और वाराणसी जाने के परमोत्सुक मंदराचलवासी भगवान् 'भव' बड़े चिन्तित हो उठे; क्योंकि काशी से दिवोदास को हटाने के लिये उन्होंने योगिनियों को भेजा। वे ६४ योगिनियाँ वाराणसी के सौन्दर्य और माहात्म्य पर मुग्ध होकर वहीं बस गयीं। आदित्य को भेजा—वे भी वहीं रह गए। सुन्दर कन्दरावाले मन्दराचल में भी श्रीशंकर का मन रम नहीं रहा था। वे काशी के लिए उद्विग्न हो रहे थे।

बहुत विचार के बाद 'परम चतुर' चतुरानन को हिमांशुशेखर ने बड़े आग्रह से भेजते हुए सोचा कि ब्रह्मा तो समस्त विधियों के विधाता हैं। वे अवश्य ही 'दिवोदास' को धर्मभ्रष्ट कर उद्वेजित कर देंगे। वह काशी को छोड़कर भाग जायेगा। श्वेतहंसवाहन विधि-विधाता वाराणसी पहुँचे और वहाँ सब कुछ देखकर मुग्ध हो अपने को कृतकृत्य समझने लगे। उन्होंने पाया कि परम शोभाधाम आनन्दवन वास्तव में अखिल आनन्द की भूमि है। यहाँ आकर मानव के रोम-रोम, अंग-प्रत्यंग आनन्द से भर उठते हैं। इसी प्रकार मन ही मन सोचते-विचारते उन्होंने अनुभव किया कि हिरण्यगर्भ की शिवभक्ति आज सफल हो गई है। सृष्टिरचनाक्रम में बहुत कुछ सर्जन करने पर भी शिवरचित इस शिवपुरी के तुल्य मैं कुछ भी न बना सका। शिवानुग्रह से आज आनन्दपुरी के आनन्दभोग का परम लाभ हुआ।

तदनन्तर आनंदकानन में विचरण करते हुए 'दिवोदास' के राज्य में प्रजा-समृद्धि और राजा की राज्यव्यवस्था, उनका धर्मपालन आदि निश्छिद्र था। वहाँ

कोई भी त्रुटि स्वयंभू को नहीं मिली । अन्त में शिवाज्ञापालन में अपने को असमर्थ पाकर वे बूढ़े एवं निर्धन ब्राह्मण का रूप धारण कर दिवोदास की राजसभा में गए । अपने को उनकी निर्धन प्रजा बताए । राजा की प्रशंसा में उन्होंने कहा–

"परं द्वित्रा पवित्रा ये राजर्षेस्तव सद्गुणाः ।
तेष्वेषु राजसु मम प्रायशो न दृशंगताः ॥
प्रजानिजकुटुम्बस्त्वं त्वं तु भूदेवदैवतः ।
महातपःसहायस्त्वं यथा नान्ये तथा नृपाः" ॥

(का. ख. ५२।३९-४०)

इसी प्रकार बहुत-सी राज-प्रशंसा करने के अनन्तर अपने आने और राजदर्शन का प्रयोजन बताया । उस वृद्ध ब्राह्मण ने 'यज्ञ' करने की अपनी लालसा बताई । यह भी कहा कि यतः वह वृद्ध साधन-धन-हीन है, अतः उसे राजकोष से सहायता मिले । राजा ने बड़े उत्साह से प्रस्ताव स्वीकार करते हुए समस्त अपेक्षित साधन और द्रव्य की व्यवस्था कर दी । ब्रह्मारूपी वृद्ध ब्राह्मण ने बड़े समायोजन के साथ ठाट-बाट से गंगा के तट पर दश अश्वमेध यज्ञ किया । भगीरथ के गंगा को ले आने से जो तीर्थ पवित्र हुआ, उसका पहले नाम 'रुद्रसरोवर' था । यज्ञ के कारण उसका नाम दशाश्वमेध हुआ–

'पुरा रुद्रसरो नाम तत्तीर्थं कलशोद्भव ! ।
दशाश्वमेधिकं पश्चाज्जातं विधिपरिग्रहात् ॥
स्वर्धुन्यथ ततः प्राप्ता भगीरथसमागमात् ।
अतीव पुण्यवज्जातमतस्तत्तीर्थमुत्तमम्' ॥

(वही, ५२।६९-७०)

ज्येष्ठमास में दशाश्वमेधघाट पर गंगास्नान की बड़ी महिमा काशीखण्ड के इस अध्याय में वर्णित है–विशेषतः शुक्लपक्ष में । शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से गंगादशहरा (ज्ये. शु. १०) तक का स्नान अत्यन्त पापहारी, शुभप्रद है । ज्येष्ठशुक्ल दशमी के स्नान की महिमा अवर्णनीय है ।

वहीं पर ब्रह्मा ने 'दशाश्वमेधेश्वर' शिवलिङ्ग को भी स्थापित किया । उनके दर्शन-पूजन से भी अपार पुण्यप्राप्ति और काशीवास का फल मिलता है ।

(यह शिवलिङ्ग आजकल गंगा के पश्चिम 'शीतलादेवी' की मढ़ी में वर्तमान है ।) नारायणी टीकाकार ने लिखा है–

"न काशिकायां पुरि कश्चिदस्ति दशाश्वमेधेन समान एकः ।
ससट्टको घट्टक एष पुण्यः स्नानादिकर्मस्वपि यः प्रशस्तः" ॥

[५३]

काशी की महिमा और शंकर द्वारा गणों का प्रेषण

ब्रह्मा भी जब वाराणसी में ही रहकर रम गए, तब आदिदेव ईशान बड़े दुःखी हुए। उन्होंने सोचा कि योगिनियाँ गईं, सूर्य गए और विधाता भी भेजे गए। आनन्दकानन में न जाने क्या आनन्द रस है कि जो वहाँ जाता है, उसी आनन्द-रसपान में मस्त होकर वहीं का हो जाता है। यही सब सोचते-विचारते श्रीशम्भु ने क्रमशः अपने गणों को भेजना प्रारम्भ किया। उन्होंने सोचा—ये अवश्य कार्य सिद्ध करेंगे। सबसे पहले उन्होंने शंकुकर्ण और महाकाल को भेजा। दोनों की भी वही दशा हुई। आनन्दपुरी की शोभा और वातावरण देखकर और दिवोदास के राज्य को समग्र त्रुटियों से रहित पाकर वे वहीं रम गए। उन्होंने 'शंकुकर्णेश्वर' और 'महोदरेश्वर' शिवलिङ्गों की स्थापना की। उनके दर्शन-पूजन का फल अपरंपार है।

तदनन्तर 'चन्द्रचूड़' ने 'घंटाकर्ण' और 'महोदर' को आनन्दनगरी भेजा। वे भी भुवनमोहिनी आनन्दपुरी और निश्छिद्र दिवोदास के राज्य को देखकर वहीं रह गए एवं 'घण्टाकर्णेश्वर' (कर्णघंटा मुहाल में) 'शिवलिङ्ग' और उनके अभिषेकार्थ 'कर्णघंटा' नामक कुंड भी खोदवाया। वहीं पर 'महोदर' भी 'महोदरेश्वर' शिवलिङ्ग की स्थापना कर आज तक उनका पूजन करते हैं।

उनके भी न लौटने पर भगवान् शंकर ने उद्यम करते रहने और कभी-न-कभी वहाँ पहुँचने की आशा की। अतः तदर्थ उद्योग करते रहने के निश्चयानुसार क्रमशः पुनः पाँच गणों को भेजा, उनके नाम हैं—(१) सोमनंदी, (२) नन्दिषेण, (३) काल, (४) पिंगल और (५) कुक्कुट।

उन्होंने अपने-अपने नाम वाले पाँच शिवलिङ्गो की स्थापना की, जिनके नाम हैं—(१) सोमनन्दीश्वर, उसके उत्तर में (२) नन्दिषेणेश्वर, (३) कालेश्वर, (४) पिङ्गलेश्वर और (५) कुक्कुटेश्वर।

इन पाँच शिवलिङ्गो की फलस्तुति काशीखण्ड में वर्णित है। वे पाँचों गण दिवोदास का संभ्रम करने में असमर्थ होकर शिवप्रीत्यर्थ (मेरी प्रसन्नता के लिए) शिवलिङ्ग की स्थापना कर उन्हीं की अराधना करने लगे। यहाँ इसके आगे काशीखण्डकार द्वारा शिवलिङ्गाराधन-वरिवस्यादि सहित फलस्तुति गाई गई है।

देवाधिदेव महादेव ने पुनः—(१) कुंडोदर, (२) मयूर, (३) बाण और (४) गोकर्ण—इन चार प्रमथगणों को भेजा। वे भी उसी प्रकार वहीं बस गए और लोलार्ककुण्ड के समीप (१) कुण्डोदरेश्वर शिवलिङ्ग की, उसके पश्चिम 'असी' नदी के तीर पर (२) मयूरेश्वर, उसके पश्चिम (३) बाणेश्वर और अन्तर्गृही यात्रा के

पश्चिम द्वार पर (४) गोकर्णेश्वर के विशाल शिवलिङ्गो की स्थापना की। इनकी भी आराधना की बड़ी महिमा बताई गई है। कहा गया है–

"मरणं मङ्गलं यत्र विभूतिर्यत्र भूषणम्।
कौपीनं यत्र कौशेयं काशी कुत्रोपमीयते" ॥ (का. ख. ५३।८७)

["मरिबो मंगल है जहाँ भस्महि भूषन जत्र।
काशी की उपमा कहाँ जँह कौपीनहि वस्त्र"] ॥

शिव ने स्वयं श्रीमुख से काशी की बड़ी महिमा गाई है। पुनः शशाङ्कशेखर ने अन्य अनेक गणों को भेजते हुए कहा–"धर्म का आश्रय लेकर राजा 'दिवोदास' जिस शिवपुरी का शासन कर रहा है, वहाँ (१) तारक, (२) तिलपर्ण, (३) स्थूलकर्ण, (४) दृमिचंड, (५) प्रभामय, (६) सुकेश, (७) विन्दति, (८) छाग, (९) कपर्दी, (१०) पिंगलाक्ष, (११) वीरभद्र, (१२) किरात, (१३) चतुर्मुख, (१४) पंचाक्ष, (१५) भारभूत, (१६) त्र्यक्ष, (१७) क्षेमक, (१८) लांगली, (१९) विराध, (२०) सुमुख और (२१) आषाढ़, तुम सब काशी जाकर ऐसा उपाय करो कि राजा दिवोदास संभ्रमित होकर धर्मविचलित हो जाय"। पर गणलोग वैसा करने में अपने को असमर्थ पाकर धिक्कारते हुए वहीं स्व-स्वनाम के शिवलिङ्गों की स्थापना कर अर्चना-आराधना में लीन होकर बस गए। शिव के पास वापस नहीं गए। वे लिङ्ग हैं–(१) तारकेश्वर, (२) तिल-पर्णेश्वर, (३) स्थूलकर्णेश्वर, (४) दृमिचण्डेश्वर, (५) प्रभामयेश्वर आदि।

'भीमचण्डी' (पंचक्रोशी यात्रा का एक पड़ाव) और 'भीमचण्डी' देवी के मंदिर के पास ही 'विन्दतीश्वर' शिवलिङ्ग और 'पित्रीश्वर' शिवलिंग के समीप 'छागलेश्वर' शिवलिंग के दर्शन से मनुष्य पशुतुल्य प्राकृत पाप में नहीं पड़ता।

[५४]

पिशाचमोचन का आख्यान एवं कपर्दीश्वर शिवलिंग का माहात्म्य

स्कन्द ने अगस्त्य को 'पिशाचमोचन' तीर्थ की महिमा बताते हुए कहा–शिव का 'कपर्दी' नामक एक प्रिय गण है। उसने 'पित्रीश्वर' के उत्तर भाग में एक शिवलिङ्ग की स्थापना की। उसी का नाम आगे चलकर 'कपर्दीश्वर' हुआ। उसके सम्मुख 'विमलोदक' नामक कुंड का खनन किया। इस कुण्ड के जलस्पर्श से मनुष्य की पाप आदि मलिनता छूट जाती है। इसी से संबद्ध त्रेतायुग का एक लघु उपाख्यान है। 'काशीखण्ड' में वह उपाख्यान निम्नाङ्कित रूप से वर्णित है। इस उपाख्यान के श्रवणमात्र से भी समग्र पातक नष्ट हो जाते हैं–

'वाल्मीकि' नामक एक 'शिवयोगी' काशी में तपस्या करते हुए नित्य 'विमलोदक' कुंड में स्नान और 'कपर्दीश्वर' की आराधना करने लगा। 'विमलोदक' कुंड में नहाकर वे 'आधार' (भस्माधार) के भस्म का सर्वाङ्ग लेपन कर लिया करते थे। एक दिन 'भस्मस्नान' करने के बाद एक अस्थिचर्मावशिष्ट 'भयानक' रस की साक्षात् मूर्त्ति पिशाच को देखा। (का. ख., अ. ५४ में श्लो. १२-२० तक उसका वर्णन है।) उसने ही उक्त 'शिवयोगी' को अपनी अत्यन्त क्षुत्पिपासातुरता और समग्र खाद्य एवं जल-स्पर्श की असमर्थता बताते हुए यह कहा कि वह नदी के तटस्थ 'प्रतिष्ठान' नामक तीर्थ का दानपरिग्रही था और उस दान में से क़िसी को कुछ न देने से मुझे यह 'पिशाच-योनि' प्राप्त हुई, जिसमें पड़कर पिशाच सर्वदा भूखा-प्यासा रहता है—

'पर्वण्यदत्तदाना ये कृततीर्थपरिग्रहाः।
त इमां योनिमृच्छन्ति महादुःखनिबन्धिनीम्' ॥ (का. ख. ५४।३१)

इसी प्रकार समय बींतता गया। उसी मरुभूमिवासी पिशाच ने एक दिन एक ब्राह्मण बालक को देखा, जो शौचादि करके भी बिना शुचि हुए था, सन्ध्याकर्मादि से रहित था। उसके अशुचि देह में बुभुत्सु वह पिशाच प्रविष्ट हो गया और कारणविशेष से उसके वाराणसी-प्रवेश करते काशी की महिमा के प्रताप से वह पिशाच, उसके शरीर से बाहर हो गया; क्योंकि पुरी में तादृश पिशाच और बड़े-बड़े पातक आनन्दवन-प्रवेश से वंचित ही रह जाते हैं। यथा—

'प्रवेशो नास्ति चास्माकं प्रेतानां तपसांनिधे।
महतां पातकानां च वाराणस्यां शिवाज्ञया' ॥ (वही, ५४।३६)

वह ब्राह्मण-बालक दो-एक दिन में बाहर निकलेगा—यही प्रतीक्षा करते हुए मेरा बहुत समय बीत गया। हम पिशाच आदि लोग, क्षुत्पिपासाकुल होकर यहाँ से प्रयाग तक दौड़ लगाते हैं। पर व्यर्थ भूखे ही रह जाते हैं। जंगलों में फल-मूल देखकर उस ओर दौड़ते हैं। पर पिशाचों के समीप पहुँचते ही वे सब खाद्य लुप्त हो जाते हैं। आज अकस्मात् संन्यासी को देखकर उसकी ओर दौड़ा, तब तक उसके मुख से 'शिवनाम' की पापहारिणी वाणी निकल पड़ी और मेरा पूर्वसंचित पाप, उससे यतः दब गया, अतः मैं इस शिवपुरी में प्रविष्ट हो गया—

'शिवनामस्मरणतो मदीयमपि पातकम्।
मन्दीभूतं ततस्तेन प्रवेशं लब्धवानहम्॥
सीमस्थैः प्रमथैर्नाहं सद्यो दृग्गोचरीकृतः।
शिवनाम श्रुतौ येषां तान्न पश्येद्यमोऽपि यत्' ॥ (वही, ५४।४८-४९)

['सीमास्थ प्रमथगणों ने एक बार भी मेरी ओर नहीं देखा; क्योंकि कान से शिवनाम सुन लेने पर यम भी उस पर दृष्टि नहीं डाल सकते।'] इस प्रकार उसी संन्यासी के साथ मैं भी क्रमशः अन्तर्गृही सीमा के पास पहुँच गया। संन्यासी भीतर चला गया, मैं यहीं रह गया। अब आपके दर्शन हुए। मुझे पिशच योनि से छुटकारा दिलाइए। अतः शिवयोगी ने परोपकार की महिमा सोंचकर पिशाच को आद्य योनि से मुक्त करने का विचार किया।

'स्वोदरम्भरयः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः।
स एव धन्यः संसारे यः परार्थोद्यतः सदा' ॥ (का. ख. ५४।५३)

शिवयोगी ने पिशाच से कहा—'तुम शरणागत का मैं उद्धार करूँगा। तू इस 'विमलोदक' (पिशाचमोचनकुंड) में स्नान और 'कपर्दीश्वर' के दर्शन से इस पिशाचत्व से मुक्ति पा जायेगा। यही इस कुंड और इस शिवलिंग की महिमा है'। और यह कहकर वहाँ के आधार (भस्माधार) से विभूति देते हुए कहा—'इसे ललाट पर लगा ले। इस 'पाशुपतास्त्रतुल्य' भस्म के प्रभाव से यम भी तुम्हारी ओर नहीं देखेगा। जो कोई शिवमन्त्र से पवित्रीकृत भस्म को भक्तिपूर्वक भाल, वक्षःस्थल और बाहुमूल में लगा लेता है, वह सर्वतः सुरक्षित हो जाता है। यह रक्षा, विभूति (ऐश्वर्य) भासमानकारी, पांसुत्वनाशक है, पापनाशक भी—

'सर्वेभ्यो दुष्टसत्त्वेभ्यो यतो रक्षेदहर्निशम्।
रक्षत्येषा ततः प्रोक्ता विभूतिर्भूतिकृद्यतः॥
भासनाद्भर्त्सनाद् भस्म पांसुः पांसुत्वनाशनः।
पापानां क्षारणात्क्षारो बुधैरेवं निरूप्यते' ॥ (वही, ५४।६६-६७)

उस शिवयोगी द्वारा प्रदत्त भस्म को भाल पर लगाते ही पापमुक्त होकर कुण्ड में स्नान कर और 'कपर्दीश्वर' के दर्शन के प्रभाव से वह पिशाच दिव्यविमान पर चढ़कर पावन मार्ग की ओर चल पड़ा। शिवयोगी को प्रणाम करते हुए यह भी कहा कि उसके (शिवयोगी के) आशीर्वाद से उसे पिशाचयोनि से यतः मुक्ति मिली, अतः उस तीर्थ का नाम **'पिशाचमोचन'** होगा।

इसके अनन्तर काशीखण्डकार ने 'विमलोदक' के स्थान और 'कपर्दीश्वर' के माहात्म्य का वर्णन किया है। मार्गशीर्ष-शुक्ल चतुर्दशी को वहाँ स्नान और दर्शन के बल से पिशाच-योनि नहीं मिलती। काशी में मार्गशीर्ष-शुक्ल चतुर्दशी को वहाँ 'लोटाभंटा' का बड़ा भारी मेला लगता है। भक्तगण वहाँ स्नान-दर्शन करने लाखों की संख्या में जाते हैं। [लिङ्गपुराण में भी इस तीर्थ की बड़ी महिमा गाई गई है।]

[५५]

गणों द्वारा स्थापित कतिपय शिवलिङ्गों का वर्णन, वाराणसी-महिमा और गणेश-प्रेषण

काशी में आए कतिपय गण अपने-अपने नामों के शिवलिङ्गों की स्थापना कर उनका पूजन करते रहे। उनके नाम और स्थान अधोलिखित हैं। दर्शनादि की फलस्तुति काशीखण्ड के इस अध्याय में देखें—

(१) पिंगलाक्ष—पिङ्गलाक्षेश्वर—कपर्दीश्वर से उत्तर।
(२) वीरभद्रेश्वर—अविमुक्तेश्वर के पीछे।
(३) किरातेश्वर—केदारेश्वर के दक्षिण।
(४) चतुर्मुखेश्वर—वृद्धकालेश्वर के समीप।
(५) निकुम्भेश्वर—कुबेरेश्वर के पास।
(६) पञ्चाक्षेश्वर—महादेव लिंग की दक्षिण ओर।
(७) अन्तर्गृह के उत्तर भारभूतेश्वर।
(८) त्र्यक्षेश्वर का बड़ा लिंग त्रिलोचन महादेव के पास।
(९) क्षेमक (गणप्रधान) 'क्षेमक' नाम से स्वयं खड़े हैं।
(१०) लाङ्गलीश्वर—विश्वेश्वर के उत्तर।
(११) विराधेश्वर—दण्डपणि से नैर्ऋत्य कोण पर।
(१२) सुमुखेश्वर—पिलपिलातीर्थ के पश्चिमाभिमुख।
(१३) आषाढ़ेश्वर—भारभूतेश्वर से उत्तर।

शिव और काशी की महिमापरक निम्नोक्त पद्य स्वयं श्रीमुख से कहा है—

"योगिन्यस्तिग्मगुर्वेधाः शङ्कुकर्णमुखा गणाः।
व्यावृत्य नागताः काश्याः सिन्धुगा इव सिन्धवः॥
येषां हि संस्थितिः काश्यां लिङ्गार्चनरतात्मनाम्।
त एव मम लिङ्गानि जङ्गमानि न संशयः॥
वाराणसीति काशीति रुद्रावास इति स्फुटम्।
मुखाद्विनिर्गतं येषां तेषां न प्रभवेद्यमः॥
वरं विघ्नसहस्राणि सोढव्यानि पदे पदे।
काश्यां नान्यत्र निर्विघ्नं वाञ्छेद्राज्यमपि क्वचित्॥
विश्वनाथो ह्यहं नाथः काशिका मुक्तिकाशिका।
सुधातरङ्गा स्वर्गङ्गा त्रय्येषा किन्न यच्छति॥

पञ्चक्रोश्या परिमिता तनुरेषा पुरी मम।
अविच्छिन्नप्रमाणर्धिर्भक्तनिर्वाणकारणम् ॥
निर्वाणलक्ष्मीं ये पुण्याः परिवाञ्छन्ति लीलया।
निरन्तरसुखप्राप्त्यै काशी त्याज्या न तैर्नृभिः" ॥
(का. ख. ५५।३२,३४,३७,४१,४३,४४,४८)

(परमानन्दं प्रकाशयति=काशयतीति काशिका, काशी वा)

शिव ने श्रीमुख से कहा कि यद्यपि मैं ममता-रहित हूँ, तथापि मेरे प्रिय वे लोग हैं, जो 'काशी'-'काशी' जपते रहते हैं–

"ममतारहितस्यापि मम सर्वात्मनो ध्रुवम्।
त एव मामका लोके ये काशीनामजापकाः" ॥ (वही, ५५।५३)

शंकर ने यह भी कहा कि योगिनियाँ, ब्रह्मा और रुद्रगण इसी कारण काशी के ही हो गए; क्योंकि वे वाराणसी के प्रति उनका (सदाशिव का) प्रेम जानते हैं। इसी क्रम में काशीमाहात्म्यपरक अन्य अनेक बातें कहने के अनन्तर बहुत विचार करके अपने पुत्र गुणरत्नाकर हेरम्ब को भेजा। यह भी निर्देश दिया कि 'हम लोगों के विघ्न को दूर हटाकर 'दिवोदास' के मार्ग को विघ्नमग बनाकर उसे उद्वेजित करें'। ५८वें अध्याय में विष्णु भगवान् ने राजा दिवोदास के उच्चाटित करने की और विश्वकर्मा द्वारा नगरी को नई बना देने पर शिवागमन की कथा है।

[५६]

दिवोदास के राज्य में गणपति का मायाजाल और दिवोदास का उद्वेजन

मूषक-वाहन होते हुए भी गणाध्यक्ष मन्दराचल से चलकर तत्काल वाराणसी आए और ब्राह्मण की मूर्त्ति बनाकर उन्होंने पुण्यपुरी में प्रवेश किया। श्रीगणेश पुरवासियों को रात में प्रायः दुःस्वप्न दिखलाते और दिन में उनके घर जाकर उनका (स्वप्नों का) वर्णन करते और उनके अशुभ फलों का भी। इसी क्रम में पुराणकार ने दुःस्वप्नविचार प्रस्तुत किया है। यथा एक उदाहरण–

"रात्रौ सूर्यग्रहो दृष्टो महाऽनिष्टकरो ध्रुवम्।
ऐन्द्रं धनुर्द्वयं रात्रौ यदलोकि न तच्छुभम्" ॥ (वही, ५६।९)

इसके पश्चात् पुरीवासियों का मन "उच्चाटन"मय हो गया। तदतिरिक्त ग्रहचार के दुःखपरिणामी फलों को गणाध्यक्ष सुनाने लगे। राज्य में होने वाले अपशकुनों का भी विस्तार से कुफलवर्णन किया। उदाहरणार्थ–बिना ऋतु के ही

शरद्-ऋतु में आम और साखू में कलिकाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे भी 'अकाल' पड़ने की सूचना दे रही हैं—

"रसाल-शालमुकुलं वीक्ष्यते यच्छरद्यदः ।
महाकालभयं मन्येऽप्यकालेऽपि पुरौकसाम्" ॥ (का. ख. ५६।२९)

फिर घरों में पत्नियों के मध्य प्रवेश कर ज्योतिषी और सगुन कहने वाला बनकर वहाँ भी उद्वेजित ही नहीं करने लगे, वरन् पति-पत्नी के बीच फूट डालने लगे। उन्होंने धीरे-धीरे रनिवास में भी घुसपैठ कर ली। अन्त में रानी लीलावती ने राजा से आग्रह कर उस सर्वगुणसम्पन्न, ब्राह्मणरूपधारी ज्योतिषी को बुलवाया। राजा ने अभ्युत्थान द्वारा ब्राह्मण के सद्गुणों का वर्णन करते हुए उनका अभिवन्दन और परस्पर कुशलप्रश्न किए—

"परस्परकुशलिनौ कुशलौ च कथागमे ।
प्रश्नोत्तराभ्यां सन्तुष्टौ द्विजवर्यक्षमाभृतौ" ॥ (वही, ५६।५०.)

राजा ने यथाविधि अभिवन्दन करने के बाद अपनी प्रजापालन-विधि का वर्णन करते हुए भोग और शासन से मन की विरक्ति-उन्मुखता का निवेदन किया और कहा कि—"मेरा भविष्य-फल बताइए। यह भी बताएँ कि मैं क्या करूँ, जिससे मुझे मनस्तोष मिले"। ब्राह्मणवेषधारी गणेश ने कहा—"आज से अठारह दिन बाद एक औदीच्य ब्राह्मण आपके यहाँ आकर जो उपदेश दे, उसका अनुसरण करें। इसी में आपका कल्याण है"। इस भाँति अपनी माया का जाल फैलाकर गणेश जी ने अन्त में 'दिवोदास' की प्रजा को, नागरिकों को, अन्तःपुरिकाओं को पहले तो अपने वश में किया और अन्त में रानी, राजा को भी उद्वेजित कर दिया।

तदनन्तर गणेश अपने को सफल और कृतकृत्य मानकर अपनी अनेक मूर्त्तियाँ मुख्यतः छप्पन-विनायक के रूप में बनाकर काशी में ही बस गए। औदीच्य ब्राह्मण ने अठारहवें दिन आकर उपदेश दिया। यह सब कथासार ५८वें अध्याय में वर्णित है। सत्तावन में 'ढुण्ढिराजस्तोत्र' और छप्पन विनायकों की कथा आगे संक्षेप में बताई जा रही है।

[५७]

[विशेष निवेदन—**'काशीयात्रा'** के पृष्ठ २८-३१ में छप्पन विनायकों की यात्रा कही गई है। प्रत्येक आवरण के आठ-आठ विनायक हैं। प्रत्येक चान्द्रमास की कृष्णपक्ष की चतुर्थी को ५६ विनायकों की यात्रा महाफलप्रद है। मंगलवार पड़ जाय, तो वह त्यौहार हो ज़ाता है। यतः हर माह ५६ विनायकों की यात्रा संभव

नहीं है, अतः क्रमशः सप्तावरणों की यात्रा कृष्णपक्ष की चौथ को करनी चाहिए और उस दिन ब्राह्मणों को 'लड्डू' (मोदक) खिलाना चाहिए।

पूर्व अध्याय में श्रीगणाधिपति ने मायाजाल फैलाकर राजा रिपुञ्जय 'दिवोदास' के शासन में अव्यवस्था का बीजारोपण कर दिया। पर वे भी नाना मूर्त्तिरूपों में स्थायीरूप से वाराणसी में ही बस गये। अन्त में देवाधिदेव महादेव ने विष्णु को स्वकार्य-साधन-निमित्त भेजा। उसका कथासारांश ५८वें अध्याय में लिखा जाएगा। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में 'ढुण्ढिराज गणेश' की कीर्ति का माहात्म्य 'ढुण्ढिराजस्तोत्र' का संकेत और छप्पन विनायकों की कथा दी जा रही है।]

भगवान् मायापति लक्ष्मीनाथ ने किस प्रकार प्रयास किया—यह सब यहाँ बताया गया है। श्रीशंकर साथ में स्कन्द, नैगमेयों से युक्त, महाशाख और विशाख के साथ नन्दी, भृंगी आदि गण आगे चल रहे थे और समस्त देवगण, दिक्पाल, विद्याधरादि देवयोनियों के लोग शंकर का अभिनन्दन कर रहे थे। सब तीर्थ वहाँ आकर शिव का अभिषेक कर रहे थे और चारण आदि स्तुतिगान कर रहे थे। अर्थात् बड़े धूमधाम के साथ नवीभूत काशीपुरी और नवीनीभूत 'विश्वनाथ' मन्दिर में विश्वनाथ विश्वेश्वर का प्रवेश हुआ। प्रवेश करते ही अपने पुत्र गणेश का आलिंगन करते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। (यह गणेश (ढुण्ढिराज) स्तोत्र काशीखण्ड के इस अध्याय में श्लोक १६ से ५१ तक और ५२ से ५७ तक फलश्रुति और माहात्म्य है।)

इसी प्रसङ्ग में विधान भी वर्णित है। एकत्र कहा गया है—माघशुक्ल चतुर्थी को वार्षिकी यात्रा, व्रत और श्वेत तिल के लड्डू (तिलवा) का भोजन करना चाहिए—

'माघशुक्लचतुर्थ्यां तु नक्तव्रतपरायणाः।
ये त्वां ढुण्ढेऽर्चयिष्यन्ति तेऽर्च्यास्स्युरसुरद्रुहाम्॥
विधाय वार्षिकीं यात्रां चतुर्थ्यां प्राप्य तापसीम्।
शुक्लां शुक्लतिलैर्बद्ध्वा प्राश्नीयाल्लड्डुकान्व्रती'॥

(का. ख. ५७।४६-४७)

तत्पश्चात् इस अध्याय में पञ्चक्रोशी काशी के अन्तर्गत स्थित ५६ विनायकों, गणेशों का वर्णन है। प्रायः उनका स्थान-निर्देश भी है। [इनके नाम और स्थान के लिए देखें **'काशीयात्रा'** पृ. २८ से ३१ तक।] यह भी जान लेना आवश्यक है कि काशी में 'बड़े गणेश' भी हैं। उनके नाम का मुहल्ला ही है। नखास के पास इनका मंदिर है। भाद्रकृष्ण चतुर्थी और माघकृष्ण चतुर्थी को वहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। वह गणेश-मूर्त्ति भी विशाल है। उन्हें विशेष रूप से बेसन का लड्डू

चढ़ाया जाता है। मुखतुण्ड में डाल देने पर गणेश के पेट में चला जाता है। उन लड्डुओं को पूजक-पंडा पेट की खिड़की खोलकर निकाल लेते हैं—ऐसा बताया जाता है। ये सब सात आवरणों के छप्पन विनायक और भी विशिष्ट गणपति-मूर्त्तियाँ हैं।

महाराष्ट्रियों और पूर्व-महाराष्ट्र में (मुम्बई में विशेष रूप से) लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने गणेशजन्मोत्सव का विस्तार के साथ शुभारम्भ किया। यह भाद्रशुक्ल चतुर्थी से दस दिनों तक कहीं-कहीं १५ दिनों तक होता है। महाराष्ट्र और महाराष्ट्रियों में कृष्ण-चतुर्थी को नहीं, शुक्ल-चतुर्थी को यह तिथिवार (त्यौहार) मनाया जाता है। वैसे पूर्वी-पश्चिमी उत्तर भारत में प्रत्येक मास की कृष्ण-चतुर्थी को बहुत से लोग व्रत रखते हैं और मराठी एवं महाराष्ट्र-मण्डल आदि में प्रत्येक मास की शुक्ल-चतुर्थी को बहुत लोग व्रत रखते हैं। 'करवा-चौथ' (कार्तिक-कृष्ण-चतुर्थी) भी गणेशपूजन का ही त्यौहार है। इसे स्त्रियाँ ही चिर-सौभाग्य के लिए रखती हैं। यहाँ गणेशपूजन के संदर्भ में कथ्य तो बहुत है, पर अप्रसंगभय से और विस्तार न हो, अतः इतना ही कहकर इस अध्याय को समाप्त कर रहा हूँ।

[५८]

श्रीविष्णु की काशी-यात्रा और दिवोदास की मुक्ति

श्रीविष्णु ने काशी जाकर गंगा-वरणा-संगम पर आदि-केशव के रूप में पादोदक तीर्थ के समीप अपनी मूर्त्ति स्थापित की। वहाँ से लेकर गंगातट पर और उसके समीप अनेक केशव या माधवयुक्त या तीर्थसंपृक्त तीर्थों—जैसे (१) क्षीर समुद्र, शंखतीर्थ, गदातीर्थ, पद्मतीर्थ, महालक्ष्मीतीर्थ, गरुड़तीर्थ, नारदतीर्थ, प्रह्लादतीर्थ तथा (२) प्रह्लादकेशव, आदित्यकेशव, भृगुकेशव, वामनकेशव एवं (३) शंखमाधव, शेषमाधव आदि—का ६२वें पद्य तक वर्णन और माहात्म्य है। (विशेष एवं विस्तृत विवरण के लिए काशीखण्ड के अट्ठावनवें अध्याय के २६वें पद्य से ६२ वें पद्य तक पाठकगण देखें। यहाँ दिङ्मात्र निर्देश है।)

अगस्त्य की जिज्ञासा के उत्तर में षडानन ने कहा—'काशी की उत्तर दिशा में 'धर्मक्षेत्र' (धमेख) नामक एक रमणीय स्थान पर लक्ष्मी-गरुड़ सहित श्रीविष्णु जा पहुँचे। उन्होंने अत्यंत सुन्दर और त्रैलोक्य-मोहक बौद्धरूप धारण किया। लक्ष्मी भी अत्यन्त सुन्दरी परिव्राजिका बनीं। गरुड़ भी हाथ में पुस्तक लेकर महाविद्वान् बौद्धशिष्य बन गए। (संभवतः) पुण्यकीर्ति शिष्य का नाम विनयकीर्ति हो गया।

विनयकीर्ति के पूछने पर पुण्यकीर्ति ने बौद्ध-सिद्धान्तों का आलम्बन लेकर सनातन तत्त्वों के बारे में कहा–"यह संसार अनादिसिद्ध है। यह किसी के द्वारा निर्मित नहीं है। अतः इसका कोई कर्ता भी नहीं है। यह स्वयं उत्पन्न और स्वयं विलीन होता रहता है। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त देहबंधनबद्ध हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि अस्मत्तुल्य देहधारियों के नाम हैं। ब्रह्मा से लेकर मशकपर्यन्त सभी देहधारी कालानुसार विनाशी हैं। इसमें सभी मानव-पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि के आहार, निद्रा, भय और मैथुन एक समान हैं–

"विचार्यमाणे देहेऽस्मिन्न किञ्चिदधिकं क्वचित्।
आहारो मैथुनं निद्रा भयं सर्वत्र यत्समम्"॥

(का. ख. ५८।८७)

चूँकि सभी प्राणी एक समान हैं, इतना ही नहीं, उनके आहार-निद्रा-भय आदि भी समान हैं, अतः पुराणकार ने गुरु की बात का स्पष्टीकरण किया है। तदनन्तर हिंसा को परम और नरकफलदायक कर्म (अधर्म) बताया है और अहिंसा को परमधर्म–

"अहिंसा परमो धर्म इहोक्तः पूर्वसूरिभिः।
तस्मान्न हिंसा कर्त्तव्या नरैर्नरकभीरुभिः॥
न हिंसासदृशं पापं त्रैलोक्ये सचराचरे।
हिंसको नरकं गच्छेत्स्वर्गं गच्छेदहिंसकः"॥

(वही, ५८।९७-९८)

यद्यपि इस संसार में बहुत से दान हैं, पर अभीति दान सबसे बढ़कर है–

सन्ति दानान्यनेकानि किन्तु तैर्तुच्छफलप्रदैः।
अभीतिदानसदृशं परमेकमपीह न॥
इह चत्वारि दानानि प्रोक्तानि परमर्षिभिः।
विचार्य नानाशास्त्राणि शर्मणेऽत्र परत्र च॥
भीतेभ्यश्चाभयं देयं व्याधितेभ्यस्तथौषधम्।
देया विद्यार्थिनां विद्या देयमन्नं क्षुधातुरे"॥

(वही, ५८।९९-१०१)

अभीति-दान सबसे बढ़कर है। यहाँ भूलोक में चार दानों को नानाशास्त्र विचार कर परमर्षियों ने प्रशस्ततम बताया है–(१) भयत्रस्तों को अभयदान, (२) रोगी, रोगातुर को औषधिदान, (३) विद्यार्थी को विद्यादान और (४) क्षुधातुर को भोजन-दान। (मनुष्य, पक्षी-आदि के लिये यथायोग्य) आगे

कहा है—मणि, मन्त्र और औषधियों के अचिन्त्य प्रभाव को समझकर उनकी साधना करनी चाहिए। प्रचुर अर्थ उपार्जन करने पर द्वादश आयतनों की पूजा करनी चाहए। (द्वादश आयतन हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि।) प्राणियों का स्वर्ग-नरक इसी लोक में है। यदि सुख भोग करते हुए देह छूट जाय, तो यही परम मोक्ष है, अन्य नहीं। समस्त वासनाओं के सहित सकल क्लेशों का उच्छेद हो जाने पर विज्ञानधारा का उपरम हो जाता है—तत्त्वज्ञ उसी को मोक्ष कहते हैं।

पुण्यकीर्ति ने पुनः कहा—वेदवादी के अनुसार—'अहिंसा परमो धर्मः' यही प्रामाणिक श्रुति है। "अग्नीषोमीय पशुओं का वध करे" आदि भ्रमोत्पादिनी हैं, क्योंकि अहिंसा ही परमधर्म है। वृक्षों को काटकर, पशुओं को मारकर, रुधिर-कर्दम बनाकर, सघृत तिल को आग में डालकर भला स्वर्ग जाया जा सकता है?

"वृक्षाँश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
दग्ध्वा वह्नौ तिलाज्यादि चित्रं! स्वर्गोऽभिलष्यते" ॥

(का. ख. ५८।११०)

इसी भाँति पुण्यकीर्ति के द्वारा काशीपुरीवासियों को समझा-बुझा दिया गया (यहाँ 'बौद्ध' धर्म के साथ-साथ नास्तिकों के धर्म भी वर्णित हैं।)

परमचतुरा विज्ञानकौमुदी भी पुरनारियों में यही सब कहते हुए बौद्ध-धर्म का वर्णन करने लगी। उसने यह भी समझाया कि वेदोक्त आनन्द ही सत्य-ब्रह्म है और अनेक जन्मादि की कल्पना व्यर्थ है। शरीर के सुस्वस्थ और सशक्त रहते बुढ़ौती आने के पूर्व सभी सुखों की साधना कर लेनी चाहिए। शरीर के जराग्रस्त अथवा रोगी हो जाने पर सुख-भोग की शक्ति कहाँ।" पर दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि याचकों का अभिलाष पूर्ण करना चाहिए, अन्यथा मनुष्य होना व्यर्थ है—

"याचमानमनोवृत्तिप्रीणने यस्य नो जनिः।
तेन भूर्भारवत्येषा समुद्रागद्रुमैर्न हि" ॥ (वही, ५८।११७)

तुलना कीजिए—

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥

(नैषधमहाकाव्ये—५।८८)

क्योंकि यह देह अन्त में काक, कुक्कुर और कृमियों का ही भोजन होता है। इसी प्रकार लोगों में जातिभेद (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि या तदाधारित ऊँच-नीच की कल्पना भी मिथ्या है–

"मुधा जातिविकल्पोऽयं लोकेषु परिकल्यते।
मनुष्ये सति सामान्ये कोऽधमः कोऽथ चोत्तमः"॥ (का. ख. ५८।१२०)

विज्ञानकौमुदी ने स्त्रियों से आगे कहा–'प्राचीन कथाएँ भी अनेक उदाहरण सामने रखती हैं। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के ही 'दक्ष' और 'मरीचि' नामक दो पुत्रों में 'मरीचि' के पुत्र 'कश्यप' ने 'दक्ष की तेरह सुन्दरी पुत्रियों से विवाह रचा। आजकल के 'अल्पबुद्धि' जन ऐसी स्थिति में यह 'अगम्या', यह 'गम्या' व्यर्थ विचार करते हैं[1]। इसी प्रकार वर्णावर्ण का विचार भी व्यर्थ है"। इसी प्रकार की उलटी-सीधी बहुत-सी बातें विज्ञानकौमुदी ने पुरी की नागरिकाओं की बुद्धि में भर दी।

दूसरी ओर नागरिक भी आकर्षण और वशीकरण विद्या को सीख-सीखकर परस्त्रियों के प्रति व्यापार-रत होने लगे। सभी नगरवासी उन दोनों के उपदेशों से मुग्ध हो उठे। परिव्राजिका ने अनेक अपसिद्धियों का जाल फैलाकर सर्वत्र नगर में कदाचार-अनाचार का जाल बिछा दिया। सभी पुरवासी स्व-स्व-धर्मपराङ्मुख हो गए। इन सबसे खिन्नचित्त राजा 'दिवोदास' अठारहवें दिन अर्थात् औदीच्य ब्राह्मण के आने के दिन को अत्यन्त उत्सुक होकर गिनने लगा।

ठीक अठारहवें दिन मध्याह्नवेला में उत्तम 'ब्राह्मण' (जो धर्म क्षेत्र से आगत, पुण्यकीर्तिनामक बौद्धाचार्य थे) आ पहुँचे। राजा ने बारंबार प्रणाम-करते हुए, आशीर्वाद पाते हुए, मधुपर्क विधि से पूजन, अतिथि-सत्कार किया और भोजनादि कराया। फिर 'दिवोदास' ने अपनी, अपने शासन की बातें कहते हुए अपने एकमात्र अपराध को बताया। वह यह था कि तपोबल के कारण देवताओं को तृणवत् समझा। पर वह भी प्रजापालनार्थ प्रजा की सुख-समृद्धि और सुस्वार्थ ही किया था। अन्त में अपनी स्थिति बताते हुए दिवोदास ने सूचित किया कि अब समग्र भोग और भोग्य पदार्थ उसे (दिवोदास को) चर्वित-चर्वण से लगने लगे थे। अन्त में कहा–"मैं अब आपकी शरण में आया हूँ। आप ऐसा उपाय बताएँ कि पुनः 'गर्भवास' का दुःख न भोगना पड़े"। इसी सन्दर्भ में अनेक देवविरोधियों के नाश की चर्चा और शिवभक्त त्रिपुरासुर के भस्मीभवन का संदर्भ किया। बलि-पातालप्रेषण, वृत्रासुर आदि के विनाश-प्रसंग का उल्लेख दिया। फलितार्थ

---

1. यहाँ यह स्मरणीय है के ये सब उदाहरणादि बौद्धों के नाम पर उद्धृत हैं, पर इसमें अनेक तथ्यबोध, तथाकथित चर्चाओं, लोकायतिकों और नास्तिक-मतवादों के भी घुल-मिल गए हैं; क्योंकि बौद्ध धर्म दुःखवादी है, भोगवादी नहीं।

यह कि देवताओं के साथ विरोध से दुष्फल यद्यपि मिलता है, तथापि दुष्कर्म-विहीन 'दिवोदास' को भय नहीं है। अन्त में सर्वोपायवेत्ता विष्णु (ब्राह्मण) से कर्म-निर्मूलन-समर्थ उपदेश देने की प्रार्थना की–

"यज्ञैर्देवत्वमापन्ना गीर्वाणा वासवादयः।
यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च तेभ्योऽप्याधिक्यमस्ति मे॥
इदानीं दिश मे तात! कर्मनिर्मूलनक्षमम्।
उपायं त्वमुपायज्ञ! येन निर्वृतिमाप्नुयाम्" ॥

(का. ख. ५८।१६८, १७०)

श्रीविष्णु ने राजा दिवोदास के गुणों, सत्कर्मों आदि की प्रशंसा करते हुए उसकी तपःसाधना का बखान किया। यह भी कहा कि वे (चक्रपाणि) उसकी (राजा की) शक्ति और वैराग्य को जानते हैं। यह भी वे जानते हैं कि उन जैसा राजा, भूतल पर 'न भूतो न भविष्यति'। देव-विरोधी होकर भी राजा अपकार से विमुख ही रहा। 'पीताम्बर भगवान्' की दृष्टि में राजा ने एक ही अनुचित आचरण किया कि 'विश्वेश्वर' को भी काशी से हटा दिया। यह बहुत बड़ा अपराध था। इसकी शान्ति का उपाय बताते हुए मानव के देह में जितने रोएँ हैं, उतनी संख्या के भी पाप हों, तो एक ही 'शिवलिङ्ग' की (काशी में) प्रतिष्ठा करने से सब दूर हो जाते हैं–

"संख्याऽस्ति यावती देहे देहिनो रोमसंभवा।
तावन्त्योऽप्यपराधा वै यान्ति लिङ्गप्रतिष्ठया" ॥ (वही, ५८।१८०)

अतः ब्राह्मणरूपी विष्णु ने 'शिवलिङ्ग'-प्रतिष्ठा राजा दिवोदास द्वारा पक्की कर दी। अत्यन्त प्रभावी शब्दों में 'शिवलिङ्ग' की प्रतिष्ठा का माहात्म्यगान किया। यह भी कहा–'अपने अखिल प्रयासों से 'शिवलिङ्ग' की प्रतिष्ठा से आप कृतकृत्य हो जायेंगे'–

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुरु लिङ्गं प्रतिष्ठितम्।
तया लिङ्गप्रतिष्ठित्या कृतकृत्यो भविष्यसि" ॥ (वही, ५८।१८३)

और भी बहुत कुछ कहा। अन्त में कहा–"संसार में शुभ चाहने वाले मनुष्यों को प्रातःकाल आपका नाम जपना चाहिए। हम लोग (विष्णु आदि देवगण) दिवोदास के सान्निध्य से धन्य हैं। भगवान् 'विश्वेश्वर' भी राजा का दिन-रात ध्यान करते रहते हैं। यह भी बताया कि राजा 'दिवोदास' को इसी शरीर से परमपद प्राप्त होगा। शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा कर लेने पर सातवें दिन शिव का विमान आकर (वाराणसी के सेवन के पुण्य-प्रताप से) आपको ले जाएगा"।

अन्त में दिवोदास भी परम संतुष्ट हुए और ब्राह्मण भी आदर-सत्कार पाकर लौट गया।

विष्णु ने बहुत विचार किया "यहाँ पर परमपावन कौन स्थान है, जहाँ बैठकर अपने समस्त भक्तों को परम धाम तक पहुँचा सकूँगा" ? और तदनुकूल स्थान देखकर 'पंचनद' ह्रद (पंचगंगा तीर्थ) में ठहर गए और शिव को बुलाने के लिए गरुड़ को मन्दराचल भेज दिया। उधर राजा रिपुञ्जय दिवोदास ने युवराज कुमार समरंजय का स्वयं गोमती के तट पर राजगृह जाकर राज्याभिषेक किया और पुनः काशी लौट आया।

काशी में उसने बड़े धूमधाम और विधि-विधान से 'दिवोदासेश्वर' शिवलिङ्ग की स्थापना की। और सातवें दिन रुद्रगण और रुद्रभक्त विमान पर (जिस पर रुद्र- कुमारियाँ चमर डुला रही थीं) 'दिवोदास' को सर्वाङ्गतः रुद्ररूप बनाकर स्वर्गलोक ले गए।

'दिवोदासेश्वर' का प्रातः नामस्मरण और दिवोदासोपाख्यान-श्रवण का बड़ा माहात्म्य 'काशीखण्ड' के ५८वें अध्यायान्त में बताया गया है।

(पाठकगण से निवेदन है कि इस अध्याय का कथासार संक्षेप करते-करते जो विस्तृत हो गया, वह सकारण है–(१) राजा 'रिपुञ्जय दिवोदास' ने सकलैहिक सुख-पराङ्मुख होकर अपार धनराशि व्यय करके गंगातट पर 'दिवोदासेश्वर' शिवलिङ्ग की स्थापना की। (२) अपने ज्येष्ठ पुत्र कुमार 'समरंजय' का राजगृह में काशी से बाहर राज्याभिषेक किया। (३) यह सम्पूर्ण उपाख्यान 'दिवोदासोपाख्यान' काशीखण्ड के ४३वें अध्याय से ५८वें अध्याय तक फैला है। (४) इस उपाख्यान में वाराणसी के निकटस्थ 'मृगदाव' धर्मक्षेत्र (धमेख) की चर्चा है। (५) काशिराज रिपुञ्जय का वर्णन महाभारत महापुराण से लेकर अनेक पुराणों, जातकों, इतिहास-ग्रन्थों, सुश्रुत, वैद्यक ग्रन्थों आदि में भरा पड़ा है। विशेष विवरण के लिए देखें–काशीखंड के प्रथम भाग के संस्कृत उपोद्घात का पृष्ठ ५ से पृष्ठ १६ तक।)

[५९]

पञ्चनदतीर्थ (पञ्चगंगा) का प्रादुर्भाव और कार्तिक मास में वहाँ स्नान का माहात्म्य

अगस्त्य ने स्कन्द से पूछा–"विष्णु जो लीला हेतु ब्रह्माण्डों का सर्जन, पालन और विलोपन करते हैं, जो सगुण, अगुण और दोनों से परे हैं, उनके परमपावनी काशी में पञ्चनदतीर्थ पर ही निवास बनाने का क्या कारण था" ?

स्कन्द ने इसी क्रम में 'धूतपापा' और 'पंचनद' तीर्थ की उत्पत्ति और महिमा बतायी है।

'यथा पञ्चनदस्तीर्थः काश्यां प्रथितिमागतम् ।
यन्नामग्रहणेनैव पापं याति सहस्रधा' ॥ (का. ख. ५९।१३) ॥

'प्रत्यब्दं निर्मलानि स्युस्तीर्थराजसमागमात् ।
प्रयागश्चार्च्य तीर्थेन्द्रः सर्वतीर्थार्पितं मलम्' ॥ (वही, ५९।१६)

[बड़े-बड़े पापियों के एकत्रीकृत पाप पंचनद तीर्थ में (कार्तिक में) एक बार गोता लगाने से यहीं छूट जाते हैं।]

पूर्वकाल में भृगुवंशी "वेदशिरा" नामक एक मुनि थे। पर सुन्दरी 'शुचि' नामं की प्रधान अप्सरा को देखकर वे स्खलित हो गए। अप्सरा की प्रार्थना पर मुनि ने अप्सरा को शाप न देकर आज्ञा दी कि वह (अप्सरा) मुनि के 'स्खलित' को धारण करे। इसी प्रसंग में मुनि ने यह भी कहा कि 'शुचि' में 'कामभाव' नहीं था। अतः वह शुचि है। ऐसे स्खलन की अपेक्षा क्रोध अत्यन्त निन्दनीय और पापकर्मप्रेरक होता है। इस वीर्य को निगरण–धारण करने पर अत्यन्त रूपशाली कन्यारत्न हुई। कन्या को जन्म देकर और कन्या को मुनि के आश्रम छोड़कर शुचि अप्सरालोक चली गई। आश्रम की मृगी के दूध से उस मृगनयनी कन्या का पोषण हुआ। उसका (कन्या का) नाम था–'धूतपापा'।

उसके आठ वर्ष होने पर 'धूतपापा' के अत्यंत बुद्धिमती होने के कारण उपयुक्त वर के लिए मुनि ने कन्या से पूछा। 'धूतपापा' ने किसी वर का नाम न बताकर, सर्वलोकप्रिय, सर्वप्रणम्य, सर्वरक्षक आदि गुणसम्पन्न वर को देने की इच्छा प्रकट की। ध्यान लगाकर तथोक्त गुणसम्पन्न वर को साक्षात् करते हुए उसे (याचित प्रकार के वर को) तपोपलभ्य बताया। अतः 'धूतपापा' ने काशी में आकर घोर तपस्या की। यहाँ पुराणकार ने घोर तपस्या की प्रकृति का विशद वर्णन किया है। तपःप्रभाव से परमपावन धूतपापा को वरदानी पितामह का दर्शन प्राप्त हुआ। उन्होंने उसे ढेर सारा वरदान किया। 'धूतपापा' की वर की याचना पर विधाता ने धूतपापा को समस्त पवित्र पदार्थों से भी पवित्र कर दिया–

'धूतपापे ! पवित्राणि यानि सन्त्यत्र सर्वतः ।
तेभ्यः पवित्रमतुलं त्वमेधि वरतो मम ॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च सन्ति तीर्थानि कन्यके ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च पावनान्युत्तरोत्तरम् ॥
तानि सर्वाणि तीर्थानि त्वत्तनौ प्रतिलोम वै ।
वसन्तु मम वाक्येन भव सर्वातिपावनी' ॥ (वही, ५९।८३-८५)

धूतपापा के रोम-रोम में सब तीर्थ निवास करेंगे और धूतपापा सर्वपावनी हो जायगी। इसके पश्चात् वह पितृगृह लौट आयी। मुनि की पर्णशाला में क्रीड़ा करती हुई परमलावण्यवती धूतपापा को देखकर भगवान् धर्म ने बारम्बार गान्धर्वविधि से अपनी कामेच्छा तृप्त करने का आग्रह किया। पर धूतपापा ने बारम्बार कहा कि जाकर वह ब्राह्मण पिता से अपनी बात कहे। पर कामातुर धर्म ने कुछ नहीं सुना, अपनी ही बात रटता रहा। अन्त में उस जड़मति को तपोबल-शालिनी धूतपापा जड़ (जल) का आधार नद होने का शाप दिया और धर्म ने उसे पाषाण होने का। अविमुक्त क्षेत्र में वही नद 'धर्मनद' नाम से विख्यात हुआ और दयालु वेदशिरा मुनि ने अपने तपो बल से धूतपापा को 'चन्द्रकान्त' शिला बना दिया। यह भी कहा कि तुम्हारे द्वारा वर्णित गुणों से सम्पन्न वही धर्म तुम्हारे अनुरूप भर्ता है। चन्द्रकान्तशिला से बह निकलने वाली धूतपापा नदी 'धर्मनद' से संगत होकर गंगा के भगीरथ द्वारा लाए जाने के पूर्व से सर्वपापविनाशक हुई।

जब गंगा नहीं थीं, तब धर्मनदतीर्थ के तट पर गभस्तिमान् गभस्तीश्वर सूर्य ने उग्र तप किया था। उनके श्रमजन्य स्वेद से 'किरणा' नदी बह निकली और 'धूतपापा' नदी में मिल गई। राजा भगीरथ के द्वारा भागीरथी के अविमुक्त क्षेत्र में ले आने पर गंगा के साथ अन्तःसलिला सरस्वती और यमुना आकर 'किरणा', 'धूतपापा' से मिलकर 'पंचनद' तीर्थ बनीं। वहाँ कार्तिक मास में स्नान का पुण्य है। इसके नाम हैं–

"कृते धर्मनदं नाम त्रेतायां धूतपापकम्।
द्वापरे बिन्दुतीर्थं च कलौ पञ्चनदं स्मृतम्" ॥ (का. ख. ५९।१३६)

इनका नामग्रहण मात्र भी मानव को पावन कर देता है। यथा–

"किरणा धूतपापा च पुण्यतोया सरस्वती।
गङ्गा च यमुना चैव पञ्चनद्यः पुनन्तु माम्" ॥

उसी परमपावन पञ्चनद तीर्थ पर 'मा-धव' 'माधव, 'बिन्दुमाधव' नाम से प्रसिद्ध हैं।

[सूच्य–पुराने बिन्दुमाधव के मन्दिर के स्थान पर बादशाह औरंगजेब ने मस्जिद बना दी है। उसी के समीप नूतन 'बिन्दुमाधव' मन्दिर है।]

अन्त में अग्निबिन्दु ने पूछा–"भगवन्! काशी में आपकी कैसी-कैसी मूर्तियाँ वर्त्तमान हैं और कौन-कौन से रूप होने वाले हैं? इसका भी वर्णन करें"। इसी का उत्तर प्रमुख रूप से ६०वाँ अध्याय है।

[६०]

श्रीबिन्दुमाधव की कथा

अपने मायाजाल से राजा 'दिवोदास' का उच्चाटन करने के पश्चात् 'पादोदक' तीर्थ पर आदिकेशव रूप से 'श्रीपीताम्बर' प्रतिष्ठित हो गए। वहाँ से चलकर काशी में विचरण करते काशी की महिमा का चिन्तन करते हुए 'पञ्चनद' तीर्थ पर पहुँचे और उसे देखकर 'केशव' काशी की महिमा, विशिष्टता से परमाह्लादित हुए। वहीं उन्होंने एक दुर्बल देह ऋषि को देखा। वह ऋषि भी 'इन्दिरानाथ' के समीप पहुँचकर उनके रूप और महिमा को देखकर परम प्रसन्न हुआ तथा स्तुति करने लगा। श्लोक २३ से इस अध्याय के ४३वें श्लोक तक जो स्तुति है, वह अत्यन्त भव्य है। स्तुति करते हुए अन्तिम श्लोक (४३ वें) में ऋषि ने कहा-"आप ही स्तोता, स्तुति और स्तवनीय सब कुछ हैं। अतः आप मेरी भवतृष्णा को दूर करें"। श्रीविष्णु ने स्तुति से प्रसन्न होकर ऋषि से वर-याचना की बात कही।

ऋषि ने वर-याचना करते हुए पहला वर माँगा-"मुमुक्षुजन-हितार्थ 'पंचनद' पर आप स्थायी निवास करें" और दूसरे वर द्वारा याचना की-श्रीविष्णु के चरण-कमल में अविचल भक्ति। 'श्रीविष्णु' लोकोपकारार्थ दोनों वर को 'तथास्तु' कहते हुए यह भी कहा कि यद्यपि वे (माधव) स्वयं ही वहीं (पंचनद पर) रहना चाहते थे, पर ऋषि की याचना पर तो अब अवश्य ही वहीं (पंचनदतीर्थ पर) 'बिन्दु-माधव' के रूप में रहूँगा। श्रीमाधव ने 'काशीवास' का भी बड़ा माहात्म्य बताते हुए कहा-

"स एव विद्वाञ्जगति स एव वै जितेन्द्रियः।
स एव पुण्यवान् धन्यो लब्ध्वा काशीं न यस्त्यजेत्॥
तावत्स्थास्याम्यहं चात्र यावत् काशी मुने त्विह।
प्रलयेऽपि न नाशोऽस्याः शिवशूलाग्रसुस्थितेः"॥

(का. ख. ६०।६०-६१)

इसी प्रसंग में 'पंचगंगा' और 'बिन्दुमाधव' का माहात्म्य है। आगे चलकर 'माधव' ने कहा-हे मुनिश्रेष्ठ अग्निबिन्दो! सर्वपातकविनाशक यह तीर्थ तुम्हारे ही नाम से 'बिन्दुमाधव' (बिन्दुतीर्थ) कहलाएगा-

"बिन्दुतीर्थमिदं नाम तव नाम्ना भविष्यति"।

आगे कहा-

"अपि पापसहस्राणि कृत्वा मोहेन मानवः।
ऊर्जे धर्मनदस्नातो निष्पापो जायते क्षणात्"॥ (वही, ६०।७४)

इसके अनन्तर इस अध्याय में 'कृच्छ्र', 'चान्द्रायण' एवं कार्तिक मास के व्रत-विधान और उनके पुण्य तथा कार्तिक-व्रती की कार्तिक मास में दिनचर्या विधि-विधान से कही है। 'दीपदान' और 'अखण्ड-दीपदान' का भी वर्णन है। बिन्दुतीर्थ में स्नान का माहात्म्य विस्तार से वर्णित किया गया है। तदनन्तर 'शिव-विष्णु' भक्ति के समन्वयवाद का वर्णन है। इसी अध्याय के अन्त में काशीस्थ विष्णु-मूर्त्तियों और तीर्थों के बारे में जो प्रश्न किया, उसी का उत्तर ६१वें अध्याय में वर्णित है।

[६१]

भगवान् माधव ने बताया—"मेरी प्रथम मूर्त्ति, पादोदकतीर्थ पर 'आदिकेशव' के रूप में है। वहीं 'सङ्गमेश्वर' 'महालिङ्ग' भी है। तदनन्तर श्वेत महाद्वीप के पास 'ज्ञानकेशव' हैं। गरुड़तीर्थ पर 'तार्क्ष्यकेशव', नारदतीर्थ पर 'नारदकेशव' की मूर्तियाँ हैं। 'प्रह्लादतीर्थ' पर 'प्रह्लादकेशव' हैं। इसी प्रकार 'आदित्यकेशव', 'भृगुकेशव', 'वामनकेशव', 'नरनारायण' आदि अनेक मूर्त्तियाँ हैं। 'माधव-केशव' की मूर्तियों और मंदिरों के विषय में यहाँ बताया है। 'ज्ञानमाधव', 'श्वेत माधव', 'प्रयागमाधव' भी हैं।

'तीर्थराज प्रयाग' में जो फल मुण्डन-स्नानादि कर्म के फल वर्णित हैं, वे सब यहाँ अगणित हो जाते हैं। सब तीर्थ माघमास में प्रयाग चले जाते हैं, पर 'अविमुक्त' के तीर्थ यहीं रहते हैं। हे मुने! कार्तिक में सब तीर्थ पंचगंगा घाट पर प्रातःकाल 'मेरे' (माधव के) समीप आते हैं और 'माघमास' में दशाश्वमेधपार्श्वस्थ 'प्रयाग घाट' के 'प्रयागमाधव' के पास। इनके दर्शनादि का बड़ा विशद वर्णन यहाँ हैं। सभी तीर्थ मध्याह्न वेला में मणिकर्णिका घाट आ जाते हैं। कशी में यद्यपि सभी तीर्थ एक से बढ़कर एक हैं—पर 'मणिकर्णिका' सर्वश्रेष्ठ है। यह परम रहस्य की बात है—

> **"एतदेव रहस्यं ते वाराणस्या उदीर्यते।**
> **उत्क्षिप्ताङ्गुलिं तथ्यं श्रेष्ठैका मर्णिकर्णिका" ॥**
> **"गर्जन्ति सर्वतीर्थानि स्वस्वधिष्ण्यगतान्यहो।**
> **केवलं बलमासाद्य सुमहन्मणिकर्णिकम्"** ॥ (का. ख. ६१।४९-५०)

इसी क्रम में 'मर्णिकर्णिका' की अपार महिमा गाई गई है। वहाँ विधिवत् स्नान, यज्ञ, दान, तर्पण, श्राद्ध आदि सभी बड़ें महत्त्व के हैं। 'मर्णिकर्णिका' की सीमा बताते हुए कहा गया है—"दक्षिण में 'गंगाकेशव', उत्तर में 'हरिश्चन्द्रमण्डप',

पूर्व में आधी गंगा तक और पश्चिम में 'स्वर्गद्वार' तक 'मणिकर्णिका' की सीमा है' । 'वहीं हरिश्चन्द्रतीर्थ के आगे 'हरिश्चन्द्र विनायक' और 'मणिकर्णिकाकुण्ड' की उत्तर दिशा में 'सीमाविनायक' हैं । उनके पूजनादि का भी बड़ा माहात्म्य है । पुनः 'पर्वतेश्वर' के समीप 'पर्वततीर्थ' है । वह 'महासुमेरु' का निवास स्थान होने से महापापविध्वंसक है । पास में ही योनिचक्र-निवारिणी 'चक्रपुष्करिणी' तीर्थ है । उसकी भी कथा का वर्णन है और उसका भी अपार महत्त्व बताया गया है । 'मणिकर्णिका' ही 'मोक्षलक्ष्मी' हैं। श्लोक ८८ से 'मोक्षलक्ष्मी' के ध्येय रूप का ९३वें श्लोक तक वर्णन है ।

इसके अनन्तर 'मोक्षलक्ष्मी' के ध्येय दिव्य रूप, ध्यान, पूजन और बीज-मन्त्र हैं । बीजमन्त्र इस रूप में बताया गया है–'पहले प्रणव, तत्पश्चात् क्रमशः सरस्वतीबीज, भुवनेश्वरीबीज, महालक्ष्मीबीज, कामबीज, बिन्दुसहित मकार और अन्त में प्रणव-संपुटित 'मणिकर्णिके नमः' मन्त्र का स्वरूप है । यही भक्त-कल्पद्रुम मन्त्र है। 'मणिकर्णिका' ही 'मोक्षलक्ष्मी' का भवन है। यह मन्त्र १५ अक्षरों का है ।

"वाग्भवमायालक्ष्मीमदनप्रणवान् वदेत् पूर्वम् ।
भान्त्यं बिन्दूपेतं मणिपदं ततः कर्णिके सहृत् प्रणवपुटः" ॥ (का. ख. ६१।७५)

दूसरा मन्त्र चौदह अक्षरों वाला है । इसमें प्रथम प्रणव, तब बिन्दुयुक्त मकार, तदनन्तर 'मणिकर्णिके प्रणवात्मिके नमः' है । इन मन्त्रों के प्रभाव-फल आदि इस अध्याय में वर्णित हैं । वहीं पास में स्थित 'मणिकर्णिकेश्वर' के दर्शन का भी बड़ा फल है । 'पशुपतीश्वर' भी पास ही हैं और 'रुद्रावासेश्वर' भी ।

उसके दक्षिण भाग में 'विश्वतीर्थ' (विश्वगौरी देवी), 'मोक्षेश्वर' (अविमुक्तेश्वर के पीछे) हैं । पास में 'अविमुक्तेश्वर' तीर्थ भी है । समीप ही 'तारकतीर्थ' है । वहीं भगवान् विश्वेश्वर, काशी में मृत जन्तुओं को 'अमृतात्मक तारक ब्रह्म' का उपदेश करते हैं, जो मोक्षप्रद है । 'तारकेश्वर' लिंग का दर्शन भी जन्म-मरण से मुक्ति देता है । 'स्कन्दतीर्थ' 'स्वामिकार्त्तिकेश्वरतीर्थ', 'ढुण्ढितीर्थ–ढुंण्ढिराज गणेश भी हैं । पास ही 'भवानीतीर्थ' है । वहाँ 'शुक्रेश्वर' से पश्चिम 'भवानी' 'अन्नपूर्णा' हैं । उनकी पूजा होती है । चैत्रशुक्ल अष्टमी को (आश्विनशुक्लाष्टमी को भी) दर्शन-पूजन और 'मंदिर' की (अन्नपूर्णा मंदिर की) १०८ बार परिक्रमा का अनन्त पुण्य है । यही कहा भी है–

'काश्यां सदैव वस्तव्यं स्नातव्योत्तरवाहिनी ।
भवानीशंकरौ सेव्यौ प्राप्तये भक्तिमुक्तिके' ॥ (वही, ६१।१३६)

आगे भी कहा है–

"मातर्भवानि तव पादरजो भवानि
मातर्भवानि तव दासतरो भवानि।
मातर्भवानि न भवानि यथा भवेऽस्मिँ-
स्त्वद्भाग् भवान्यनुदिनं न पुनर्भवानि" ॥ (का. ख. ६१।१३७)

'भवानीतीर्थ' के समीप 'ईशानतीर्थ' है, 'ईशानेश्वर' भी हैं। वे दर्शनमात्र से शुभ फल देते हैं। समीप ही 'ज्ञानतीर्थ' और 'ज्ञानवापी' से उत्तर 'नन्दीश्वर' के दर्शन का बड़ा माहात्म्य है। 'नन्दितीर्थ' के दक्षिण 'विष्णुतीर्थ' है। इसमें स्नान और 'विश्वेश्वर' के दर्शन की अवर्णनीय महिमा है। उसी के दक्षिण 'पितामहतीर्थ' और 'पितामहेश्वर' लिंग हैं। पृथिवी के नाभिस्थानीय होने से वह तीर्थ 'नाभितीर्थ' है। त्रैलोक्यभर में ब्रह्मनाल ही प्रधान प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ के स्नान-तर्पणादि का बड़ा माहात्म्य है। उसके दक्षिण 'भागीरथीतीर्थ' है। उसी के सान्निध्य में 'स्वर्गद्वार' आदि हैं। वहीं एक अतिपवित्र 'खुरकर्त्तरीतीर्थ' और 'खुरकर्त्तरीश्वर' लिंग भी है। तदुत्तर 'मार्कण्डेयेश्वर' लिंग है।

वहीं स्त्रियों को सौभाग्यदायक-सौभाग्यवर्धक 'अरुन्धतीतीर्थ' भी है। 'मार्कण्डेयेश्वर' के पूर्व 'वशिष्ठेश्वर' भी परम पूज्य हैं। 'वशिष्ठतीर्थ' भी है। उसके उत्तर में 'नर्मदातीर्थ' और 'नर्मदेश्वर' भी हैं। 'त्रिसंध्येश्वर', 'त्रिसंध्यतीर्थ', 'योगिनी-तीर्थ', 'योगिनीपीठ', 'अगस्त्यतीर्थ', 'अगस्त्येश्वर' हैं। 'अगस्त्यतीर्थ' के दक्षिण 'गंगाकेशव' तीर्थ है और 'गङ्गाकेशव' की मूर्त्ति भी है। यह सब 'मर्णिकर्णिका' का महापरिणय और उसका माहात्म्य है। वह सीमा–'सीमा-विनायक' से लेकर दक्षिण की ओर वर्त्तमान है।

इसी प्रकार केशव की अनेक मूर्त्तियाँ हैं–'वैरोचनेश्वर' से पूर्व 'वैकुंठमाधव', 'वीरेश्वर' से पश्चिम 'वीरमाधव', 'कालभैरव' के पास 'कालमाधव', 'पुलस्त्येश्वर' से दक्षिण 'निर्वाण'-नृसिंह, 'ओंकारेश्वर' से पूर्व 'महाबलनृसिंह', 'चंडभैरव' से पूर्व 'प्रचण्डनरसिंह', 'देहलीविनायक' से पूर्व 'गिरिनृसिंह', 'पितामहेश्वर' के पीछे 'महाभयहरनृसिंह', 'कमलेश्वर' के पश्चिम 'अत्युग्रनरसिंह', 'ज्वालामुखी' के समीप 'ज्वाला-नृसिंह', 'कंकालभैरव' के पास 'कोलाहल-नृसिंह', 'नीलकण्ठ महादेव' के पीछे 'विटंकनरसिंह' आदि अनेक नृसिंहरूप मूर्त्तियाँ हैं।

'अनन्तेश्वर' के समीप 'अनन्त-वामन', 'दधि-वामन', "त्रिलोचन' से उत्तर 'त्रिविक्रम', 'बलिभद्रेश्वर' से पूर्व बलिवामन', 'ताम्रवराह', प्रयागेश्वर के सन्निकट 'धरणिवराह', 'वराहेश्वर' के पास कोकावराह' रूप से विद्यमान हूँ। काशी में पाँच सौ मूर्त्तियाँ 'नारायणरूपी', सौ 'जलशायीरूपी', तीस 'कच्छपरूपी', बीस 'मत्स्यरूपी',

एक सौ आठ 'गोपालरूपी' सहस्रशः 'बौद्धरूपी', तीस 'परशुराम' की और सौ 'रामरूप' की हैं। 'विश्वेश्वर' ने स्वयं प्रसन्न होकर एक मूर्त्ति 'मुक्तिमण्डप' में विष्णुरूप से बैठा दी है।

'अग्निबिन्दु' की जिज्ञासा पर 'केशवमूर्त्ति', 'मधुसूदनमूर्त्ति', 'संकर्षणमूर्त्ति', 'वामन-मूर्त्ति', 'प्रद्युम्न', 'दामोदरमूर्त्ति', 'श्रीविष्णुमूर्त्ति' 'अनिरुद्धमूर्त्ति' तथा 'पुरुषोत्तम' 'अधोक्षज,' 'गोविन्द', त्रिविक्रम', 'हृषीकेश', 'नृसिंह', 'अच्युत', 'वासुदेव' 'नारायण', 'पद्मनाभ, 'उपेन्द्र' आदि मूर्त्तियों के ध्यान-रूप और उसके फल का विस्तार से वर्णन किया गया है।

उसी समय 'गरुड़' दीख पड़े और उन्होंने 'त्रिलोचन भगवान्' शूलपाणि के 'मन्दराल' से काशी में आने का समाचार कह सुनाया और श्रीविष्णु ने 'अग्नि-बिन्दु' को सुदर्शन-चक्र छूने का निर्देश किया। 'सुदर्शन-चक्र' के स्पर्श मात्र से मुनि ज्योतिस्वरूप होकर 'माधव' में लीन हो गए। इसके पश्चात् 'बिन्दुमुनि'—रचित 'बिन्दुमाधव' स्तुति के पाठ का फल है, साथ ही इस उपाख्यान के पठन-श्रवण का भी फल है। काशीखण्ड तृतीय भाग का यह २५१ पद्यों का विशाल ६१वाँ अध्याय और उपाख्यान-वर्णन विष्णुसार है और श्रवणमात्र से भी महाफलदायक है।

[६२]

महादेव विश्वनाथ का काशीप्रवेश और कपिलधारातीर्थोपाख्यान

'दिवोदास' द्वारा काशी में 'दिवोदासेश्वर' की स्थापना और देवलोक में प्रयाण के पश्चात् गरुड़ को नारायण ने शिव को बुलाने के लिए भेजा था। उन्होंने (गरुड़ ने) आकर बताया कि भवानी-भव काशी आ रहे हैं। इस पर गरुड़ पुरस्कृत किए गए। परमेष्ठी को सबसे आगे कर, योगिनियों, प्रमथगणों, सूर्य और गणनाथ के साथ भगवान् विष्णु वाराणसी पुरी से कुछ दूर बाहर आकर (कपिलधारा पर) वृषभ-ध्वज के स्वागतार्थ प्रतीक्षारत थे। उनके आने पर परमोल्लास के साथ सभी ने स्वागत किया। उन लोगों ने यह भी बताया कि 'दिवोदास' के धर्माचार और तदनुरूप प्रजापालन को निश्छिद्र पाकर वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर वहीं रह गये और सबने क्षमा-याचना की। शंकर ने सबके कर्मों की प्रशंसा के साथ ही सबको क्षमा करते हुए, विशेषरूप से ब्रह्मा के 'दशाश्वमेध' यज्ञ और 'दशाश्वमेधेश्वर' के स्थापन की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की। शिव ने सबको निर्दोष और पुंण्यकर्मा कहते हुए आश्वस्त भी किया। 'गणेश' और 'विष्णु' के फलदायक प्रयासज्ञ शिव उन दोनों के विषय में मौन रहे। सबने शिव की स्तुति भी की। विधुशेखर ने बड़े आदर के साथ विष्णु को बाईं ओर बैठाया।

भगवान् शंकर ने मीठे वचनों से सब को सन्तुष्ट किया; क्योंकि सभी ने शिव से क्षमा माँग ली थी और आशुतोष सबको क्षमा कर चुके थे।

उसी समय गोलोक से (१) सुनन्दा, (२) सुमना, (३) सुरति, (४) सुंशीला और (५) कपिला नाम की पाँच गाएँ आ पहुँचीं। 'महादेव' की स्नेहिल दृष्टि पड़ते ही उनके 'थन' से दूध की अजस्र धारा बह निकली। उनसे इतना दूध बहा कि उसी से वहाँ बड़ा भारी (अगाध) पोखरा बन गया और क्षीरनिधिवत् महातीर्थ बन गया। भगवान् भव ने उसको 'कपिलाह्रद' का नाम दिया। शिव के आदेश से समस्त देवों ने उसमें स्नान किया—

"कपिलाह्रद इत्याख्या चक्रे तस्य महेश्वरः।
ततो देवाज्ञया सर्वे स्नातास्तत्र दिवौकसः" ॥ (का. ख. ६२।४७)

उस 'कपिलाह्रद' (कपिलधारा) तीर्थ का समस्त पितृ-कार्यों में बड़ा माहात्म्य है। विशेषरूप से 'सोमवती अमावस्या' को तपर्ण-श्राद्धादि का महाफल होता है। इस तीर्थ के अनेक नाम हैं। पहले यह ह्रद 'मधुश्रवा' था, पुनः क्रमशः 'कृतकृत्या', 'क्षीरनिधि', 'वृषभध्वजतीर्थ', 'पैतामहतीर्थ', 'गदाधरतीर्थ', 'पितृतीर्थ", 'कपिलधारा', 'सुधाखनि' और 'शिवगया' हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यहाँ 'पितृकार्य' की तो बड़ी महिमा है ही, 'वृषोत्सर्ग' यज्ञादि भी अपार पुण्य-फलप्रद हैं। शिव ने यह भी कहा कि यद्यपि यह नगरी 'वाराणसी' की सीमा से बाहर है, तथापि इसे 'वाराणसी' के बीच समझना चाहिए। 'शिव' के वचन से पितरों के सन्तोषार्थ यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, (गणेश जी) और परिषदों के साथ सदा शिव का निवास रहेगा।

'नन्दिकेश्वर' ने उस रथ का वर्णन किया, जिस पर आरूढ़ होकर (यहाँ पाठक श्लोक ८७-९५ तक और श्लोक ९८-१०८ तक मूल 'काशीखण्ड' और अनुवाद पढ़ें) भगवान् शूलपाणि ने काशी में भवानी के साथ प्रवेश किया। [सूच्य—काशी-खण्ड की रचना वेला में वाराणसी तीर्थकूपों, तीर्थकुण्डों, विनायक-विष्णु-शिव-देवियों आदि की मूर्त्तियों से भरी पड़ी थी।]

[६३]

'जैगीषव्येश्वर' और 'ज्येष्ठेश्वर' की कथा

जब से 'शिवशंकर' 'काशी' छोड़कर मंदराचल चले गए थे, तब से 'जैगीषव्य' महामुनि काशी के प्रसिद्ध तीर्थ गंभीर 'गुहा' में अन्न-जल त्याग कर तपोलीन थे। मुनि की प्रतिज्ञा थी कि भवानीनाथ के पुनः काशी में दर्शन होने पर ही वे अन्न-जल ग्रहण करेंगे। अतः अपने परमभक्त मुनि की गुहा के समीप जाकर

'शंकर' रुके। वहीं स्वतः प्रकट 'ज्येष्ठेश्वर' लिङ्ग, 'ज्येष्ठा-वापी' और 'ज्येष्ठागौरी' का स्थान है। उनके दर्शन-स्नान-पूजन का माहात्म्य अवर्णनीय है। 'ज्येष्ठावापी' का स्नान हतभागिनी नारी को सौभाग्यशालिनी करता है।

सर्वप्रथम अमृतसदृश सञ्जीवनी-कारक, स्वलीलाकमल देकर शिव ने 'नन्दी' को गुहा में जाकर उस 'कमल' से मुनि का शरीर स्पर्श कराने का आदेश दिया, जिस मुनि का शरीर 'अस्थिचर्मावशेष' शुष्ककाष्ठवत् हो गया था। तत्पश्चात् लीला-कमल के स्पर्श से मुनि की हरित-भरित काया को उठाकर 'शिव' के पास लाने को कहा। ध्यान-धारणा-लीन मुनि बाह्यज्ञान से शून्य थे। 'शिव' के पास जाने पर सामने 'भवानीसहित भव' को देखकर 'जैगीषव्य' दण्डवत् भूमि में लोटते हुए भक्तिभावपूर्वक शिव की स्तुति करने लगे। [यह स्तुति इस अध्याय के ३२वें श्लोक से ६६वें श्लोक तक है और बड़ी भव्य है।]

इस पर प्रसन्न होकर शिव ने 'जैगीषव्य' को अनेक वर दिया। अन्त में 'मुनि' द्वारा स्थापित 'जैगीषव्येश्वर' लिङ्ग के प्रति कहा कि उनके तीन वर्ष तक निरन्तर पूजन-सेवन से और 'जैगीषव्य की गुहा' में योगाभ्यास से छः मास में योग और अभीष्ट की प्राप्ति होगी—

'जैगीषव्येश्वरं नाम लिङ्गं काश्यां सुदुर्लभम्।
त्रीणि वर्षाणि संसेव्य लभेद् योगं न संशयः॥
जैगीषव्यगुहां प्राप्य योगाभ्यसनतत्परः।
षड्मासेन लभेत्सिद्धिं वाञ्छितां मदनुग्रहात्' ॥ (का. ख. ६३।८०-८१)

आगे उक्त शिवलिङ्ग की फलश्रुति आदि से यह अध्याय समाप्त होता है।

[६४]

काशी के माहात्म्य और रहस्य का वर्णन होने से यह अध्याय 'काशी' का हृदयस्थानीय प्राण है

इस अध्याय में एक बड़ी ही आश्चर्यकारी घटना का वर्णन काशीखण्डकार ने किया है। जब 'शिव' मंदराचल चले गए थे, तब क्षेत्र के संन्यासधारी ब्राह्मणों ने अप्रतिग्रही होकर भूमिकन्दादि-मात्र-भोजी होकर भूमि-कन्द के लिए दण्ड से खोद-खोद कर 'देवखात' नामक एक पुष्करिणी बना दी—

'खातं खातं च दण्डाग्रैर्भूमिकन्दादिवृत्तयः।
चक्रुः पुष्करिणीं रम्यां दण्डखाताभिधां मुने' ॥ (वही, ६४।४)

इस 'पुष्करिणी' की चारों ओर संन्यासियों ने बड़े-बड़े शिवलिङ्ग स्थापित कर, नित्य भस्मांगलिप्त, रुद्राक्षधारी होकर शिवलिङ्ग की पूजा करते थे। वे तपोलीन पाँच सहस्र ब्राह्मण देवाधिदेव के पुनरागमन को सुनकर 'देवखात' (=दंडखात) से वहाँ आकर एकत्र हुए। वहीं 'मंदाकिनीतीर्थ' से दश सहस्र, 'हंसतीर्थ' से दश सहस्र तीन सौ एवं 'दुर्वासातीर्थ', 'मत्स्योदरीतीर्थ' आदि अनेकानेक तीर्थों से सहस्रशः, अर्थात् 'असिसंगम' से 'वरणासंगम' तक गंगातटवासी ब्राह्मण, आर्द्र अक्षत, हरित दूब, चंदन, पुष्प, माला लिए वहाँ आकर मंगलसूक्तों का पाठ करने लगे। उन सबको देखकर भगवान् शंकर के कुशल-प्रश्न पूछने पर उन लोगों ने बताया कि शंकर के तत्क्षेत्र-निवासी का सब कुशल ही कुशल है। अकुशल केवल वाराणसी-क्षेत्र से पराङ्मुख का ही है। निम्नांकित पद्य पठनीय, मननीय हैं–

सदैवाकुशलं तेषां ये त्वत्क्षेत्रपराङ्मुखाः।
चतुर्दशापि वै लोकास्तेषां नित्यं पराङ्मुखाः॥
येषां हृदि सदैवास्ते काशी त्वाशीविषांगदः।
संसाराशीविषविषं न तेषां प्रभवेत् क्वचित्॥
गर्भरक्षामणिर्मन्त्रः काशीवर्णद्वयात्मकः।
यस्य कण्ठे सदा तिष्ठेत्तस्याकुशलता कुतः॥

(का. ख. ६४।२८-३०)

इस प्रसंग में निम्नलिखित श्लोक महत्त्वपूर्ण है–

"क्षेममूर्त्तिरियं काशी क्षेममूर्त्तिर्भवान् भव।
क्षेममूर्त्तिस्त्रिपथगा नान्यत्क्षेमत्रयं क्वचित्" ॥ (वही, ६४।३९)

अर्थात् काशी, भव (शंकर=विश्वनाथ) और गंगा–तीनों क्षेममूर्त्तियाँ केवल यहीं हैं, और कहीं भी ये तीनों क्षेममूर्त्तियाँ एक साथ प्राप्त नहीं हैं। शंकर ने यह भी कहा कि जो वाराणसी के भक्त हैं, वे शंकरभक्त भी हैं और मोक्षलक्ष्मी के कटाक्षपात से निश्चय ही जीवन्मुक्त हैं। आनन्दवनवासी चन्द्रचूड़ के हृदयवासी हैं। यह भी कहा कि जो शिवक्षेत्रवासी हैं, शिवभक्त हैं और शिवचिह्नधारी हैं, उन्हीं को शिव तारकोपदेश करते हैं।

इस क्रम में त्रिशूली पंचवक्त्र ने काशीवासियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। बहुत से अन्य वरदान किए। यह भी कहा कि कालानुसार नक्षत्रों एवं तारागणों का पतन होता है, पर अविमुक्त क्षेत्र में मृत का कभी पतन नहीं होता। इसी संदर्भ

में स्वयं श्रीमुख से यह भी बताया कि– इस आनन्दवन में जलते हुए दावानल के समान मैं रहता हूँ। जीवों के कर्म-बीजों को ऐसा जला देता हूँ कि वे पुनः उग न सकें–

"आनन्दकानने ह्यत्र ज्वलद्दावानलोऽस्म्यहम्।
कर्मबीजानि जन्तूनां ज्वालये न प्ररोहये" ॥ (का. ख. ६४।५२)

अतः यह पूरा का पूरा समग्र अध्याय विशेषतः काशी और गंगा एवं शिव की महिमा तथा रहस्य सें ओत-प्रोत है। इसका उद्घोष स्वयं भवानीनाथ विश्वनाथ ने श्रीमुख से किया। यह भी कहा कि इस क्षेत्र में कुछ दिन रहकर पुनः कोई कहीं नहीं जाना चाहता–

"प्राप्त्वा वाराणसीं पुण्यां सिद्धिक्षेत्रमनुत्तमाम्।
परिनिष्क्रान्तुमन्यत्र कस्य जन्तोर्मतिर्भवेत्" ॥ (वही, ६४।१०९)

भगवान् नीलकण्ठ इस क्षेत्र की भूरि-भूरि' महिमा बताकर उन ब्राह्मणों के सामने ही अन्तर्धान हो गए। इस रूप में 'काशीखण्ड' का यह ६४वाँ अध्याय काशीरहस्य और काशीमाहात्म्य की दृष्टि से हृत्स्थानीय है। इसका बार-बार पाठ करने से काशी में काशी-भक्तिमन्तों की आस्था दृढ़तर-दृढ़तम होती है।

[६५]

'कन्दुकेश्वर' एवं 'व्याघ्रेश्वर' की कथा तथा अनेक शिवलिङ्गों का वर्णन

'ज्येष्ठेश्वर' के चारों ओर पाँच सहस्र शिवलिङ्ग हैं। उनमें प्रमुखरूप से 'पराशरेश्वर' नामक एक महालिंग है। 'माण्डव्येश्वर', 'शंकरेश्वर', जाबालीश्वर', 'आदित्यमूर्ति', भीषणा 'भैरवी' भी हैं। पास ही 'कर्मबन्धविमोक्षक' लिङ्ग, 'भरद्वाजेश्वर', 'माद्रीश्वर', 'अरुणेश्वर', 'वाजसनेयलिङ्ग', 'कण्वेश्वर', 'कात्यायनेश्वर', 'वामदेवेश्वर', 'तथ्येश्वर', 'हारीतेश्वर' आदि तथा 'जातूकर्णेश्वर', 'जम्बुकेश्वर', 'जारुधीश्वर', जलेश्वर', 'जालेश्वर' और 'जालकेश्वर' आदि भी हैं। उन सबके दर्शन-स्पर्शनादि का पापनाशक महाप्रभाव है।

वहीं **'कन्दुकेश्वरलिङ्ग'** भी कन्दुक से प्रकट हुआ। कथा इस प्रकार है–ज्येष्ठ स्थान में 'महेश्वर' विहार कर रहे थे और भगवती भवानी गेंदा (कन्दुक) खेल रही थीं। क्रीड़नकाल की भवानी-सुषमा का पुराणकार ने यहाँ भव्य वर्णन किया है। उस सुषमा को देखकर अनाचारी आकाशचारी दो दैत्य 'विदल और उत्पल' दुराचार की भावना से आकश से भूमि पर उतर कर भवानी के पास चले गए। भव ने नेत्रसंकेत से भवानी को सचेत कर दैत्यों के दुराशय को

समझा दिया। नेत्रचेष्टा से समझकर माता अम्बिका ने उसी क्रीड़ा-कन्दुक के प्रहार से उन्हें मार गिराया। तदनन्तर वही क्रीड़ा-कन्दुक 'कन्दुकेश्वर' शिवलिङ्ग में परिणत हो गया। यह शिवलिंग भी 'ज्येष्ठेश्वर' के पास में ही है। पार्वती देवी प्रतिदिन स्वयं उस शिवलिंग की पूजा करती हैं और पूजक भक्तों को सिद्धि बाँटती रहती हैं।

'ज्येष्ठेश्वर' के पार्श्व में एक और भी घटना घटित हुई। उसके फलस्वरूप 'व्याघ्रेश्वर' नामक शिवलिङ्ग स्थापित है। उस लिङ्ग का स्थान 'गुहा' के पास है।

यह उन दिनों की बात है, जब ब्राह्मण लोग 'दंडखात' तीर्थ पर निष्काम होकर तपोरत थे। उस समय 'प्रह्लाद' का मामा 'दुन्दुभिनिर्ह्राद' नामक दैत्य देवगण विजय का उपाय सोचने लगा। उसने विचार किया कि पृथ्वी को ब्राह्मणरहित करने से यज्ञ-यागादि समाप्त हो जायेंगे। यज्ञाहुतिभोजी देवगण, जिन्हें यज्ञाहुति से ही बल मिलता है, वे भोजन के अभाव में, निर्बल हो जायेंगें। तब उनको जीतना अतिसरल हो जाएगा।

इसी सोच-विचार के क्रम में निर्णय किया कि 'ज्येष्ठेश्वर' के पार्श्वस्थ (चारों ओर के) ब्राह्मणों का सर्वप्रथम भक्षण करना चाहिए। अतः वह 'ज्येष्ठेश्वर' के पास के जंगल में व्याघ्र रूप से रहता था और जो ब्राह्मण कुशा, समिधा आदि के लिए जंगल में जाता, उसे यह दैत्य खा जाता था। एक बार एक शिवभक्त, जो मन्त्ररूप अंगन्यास से कवचित होकर शिवरात्रि के दिन शिव के दर्शन में दृढ़चित्त था, उस ध्याननिष्ठ भक्त को व्यांघ्र ने खाना चाहा; परन्तु उस पर आक्रमण न कर सका; क्योंकि वह ब्राह्मण मंत्रन्यास से कवचित था। ज्यों ही उस भक्त को धर दबोचने हेतु वह लपका, त्यों ही भगवान् शंकर उसी पूजित शिवलिङ्ग से प्रकट हो गए। उन पर ज्यों ही दैत्य झपटा, भगवान् शूलपाणि ने उसे काँख में दबाकर पीस डाला।

वह दैत्य घोर चीत्कार करने लगा। ज्येष्ठेश्वर के समीप रहने वाले रात्रि में कंपित-हृदय हो वहीं एकत्र हो गए। उनकी प्रार्थना पर उसे 'व्याघ्रेश्वर' नाम मिला और शिव उस स्थान के रक्षक बने। शिव ने अनेक वरदान किए और यह भी वर दिया कि 'व्याघ्रेश्वर' के पूजन से मार्ग में चोर-व्याघ्र आदि का भय नहीं रहेगा। तभी से 'ज्येष्ठेश्वर' के उत्तर वह लिंग 'व्याघ्रेश्वर' नाम से विख्यात है।

नारायणी-टीकाकार ने ६५वें अध्याय के अन्त में लिखा—

"एक बाघ पाषान के टूटे फूटे रूप।
है गुफा के पास में बघवा वीर अनूप" ॥

[६६]

'अप्सरेश्वर', 'कुक्कुटेश्वर', 'पितामहेश्वर', 'शैलेश्वरादि' शिवलिङ्गों की कथा

स्कन्द ने बताया–'हे वातापिनाशक' (अगस्त्य) ! 'ज्येष्ठेश्वर' की दक्षिण ओर 'सौभाग्योदक' नामक 'अप्सराकूप' और 'अप्सरेश्वर' शिवलिंग हैं। वहीं दुःस्वप्न-कुफलविनाशक 'कुक्कुटेश्वर' लिंग भी है, पास ही ज्येष्ठावापी के तट पर, 'पितामहेश्वर', 'गदाधरेश्वर', 'वासुकीश्वर' लिङ्ग भी हैं। नागपंचमी (आ. शु. पंचमी) को समीपस्थ 'वासुकिकुंड' में (नागकुंड में) स्नान और वहाँ की यात्रा से नागगण सकुटुम्ब उस पर प्रसन्न रहते हैं। 'तक्षकेश्वर' लिंग भी पास ही है। पास ही क्षेमकर्ता, भयहर्ता 'कपाली'-भैरव भी हैं। समीप ही 'महामुण्डा' चण्डिका भी हैं।

उसके पार्श्व में 'चतुःसागर' नाम की वापी भी है और चार शिवलिङ्ग भी हैं। निकट में ही 'वृषभेश्वर' महालिङ्ग, 'गन्धर्वेश्वर' (गन्धर्वकुण्ड भी) हैं। समीप में 'कर्कोटकवापी' और 'कर्कोटकेश्वर' लिंग, 'धुन्धुमारीश्वर' लिंग, 'पुरुषेश्वर' (पुरूरवा+ईश्वर), 'सुप्रतीकेश्वर और उसी नाम का ('सुप्रतीक' नामक) एक बड़ा सरोवर भी है। वहीं पर द्वाररक्षिका 'विजयभैरवी' महागौरी हैं। वरणा के रमणीय तट पर विघ्नविध्वंसक 'हुण्डन' और 'मुण्डन' क्षेत्ररक्षक भी हैं। वहीं (वरणा के तट पर) एक घटना हुई थी, जिसके फलस्वरूप 'शैलेश्वर' शिवलिङ्ग और उनका मन्दिर बना। वह उपाख्यान निम्नांकित है–

'गौरी और शंकर' के विवाह के बहुत दिनों बाद 'उमा' की माता ने पुत्री के कुशल-क्षेम जानने की कामना के वशीभूत होकर पति से प्रार्थना की। वे अगणित मणि-माणिक्य रत्नादि और अलंकार-वस्त्रादि लेकर वरणा के तट पर पहुँचे। वहाँ भूलोक-स्वर्गलोक से भी बढ़कर अनन्त वैभवमण्डित मंदिर (और पुरी) देखकर गिरीश (हिमालय) चकित हो गये। वे सोच रहे थे कि ऐसी सम्पत्तिशाली तो कुबेरपुरी और वैकुण्ठलोक भी नहीं है–

"मणिमाणिक्यरत्नानामुच्छलच्चारुरोचिषाम्।
ज्योतिर्ज्वालैर्जटिलितं यथेदमवलोक्यते ॥
द्यावाभूम्योरन्तरालं तथेति समवैम्यहम्।
ईदृक्संपत्तिसम्भारः कुबेरस्यापि नो गृहे ॥
अपि वैकुण्ठभुवने नेतरस्येह का कथा" ॥ (का. ख. ६६।५९-६१)

इतने में नगर के एक कार्पटिक (भिखारी) को देखा, उसे आदर से बुलाकर आसन पर बैठाया और पूछा कि जो कुछ उसके नगर का अपूर्व वृत्तान्त हो,

उसे वह बताए। उसने बताया कि राजा 'दिवोदास' के स्वर्गगामी होने पर पाँच-छः दिन बाद ही शंकर उमा के सहित यहाँ काशी में पधारे हैं। कार्पटिक ने शिव और उमा की महिमा बताने के बाद सूचित किया कि विश्वकर्मा द्वारा विरच्यमान शिवमंदिर समस्त अनन्त मणि-माणिक्य-रत्नादिजटित है। 'कल्पवृक्ष', 'कामधेनु' और 'चिन्तामणि' समस्त सम्भार प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रतिदिन दधि, मधु, क्षीर, घृत और इक्षु (चीनी) के साथ चन्दन और कर्पूर आदि से नित्य यहाँ पूजन होता है।

यह सब 'शिवनगरी', शिवमन्दिर और शिवलिङ्ग की महिमा सुनकर गिरिराज उसके सामने अपने मणिमाणिक्यादि के उपहार को तुच्छ जानकर लज्जित हुए और शिव की महिमा का बड़े भक्तिभाव से गान करते हुए हिमवान् ने सोचा कि उनका उपहार विभूतिनाथ के वैभव की तुलना में तुच्छ और भव को अदेय है। अतः हिमावान् ने अपने बलशाली पर्वतवासी अनुचरों को आदेश दिया कि सूर्योदय के पूर्व रात्रि भर में ही एक भव्य शिवालय बना दें। मन्दिर बन गया। उसी में 'चन्द्रकान्तमणि' के 'शैलेश्वर' शिवलिङ्ग की स्थापना हुई; क्योंकि वाराणसी में शिवालय बनवाकर उसमें शिवलिङ्ग की स्थापना का अवर्णनीय फल होता है। वहीं, अपना अनन्यतासूचक प्रशस्ति-लेख लिखवाकर पंचगंगा-स्नान और 'काल-भैरव' का दर्शन कर और सब रत्न वहीं ढेर के रूप में रखकर हिमवान् अपने घर चले गए। शिवगणों ने नव्य-भव्य मन्दिर के निर्माण का समाचार शिव को कह सुनाया। यह भी बताया कि सन्ध्या तक वहाँ कुछ भी नहीं था। अब वहाँ पर वरणा के तट पर विशाल शिवालय है।

वहाँ स्वयं पहुँच शंकर ने 'शैलेश्वर' लिङ्ग को और साथ ही मंदिर को देखा। प्रशस्ति-लेख भी पढ़ा। स्वयं श्रीमुख से 'शैलेश्वर' के दर्शन का माहात्म्य बताया। उमा ने भी कहा कि 'शैलेश्वर' के भक्त मुझे पुत्रवत् प्रिय होंगे। इस उपाख्यान के श्रवण का भी बड़ा फल है। शिव ने यह भी बताया कि उक्त मंदिर और 'शैलेश्वर' लिङ्ग के निर्माता भवानी के पिता गिरिराज ही हैं। इन तीन-चार पूर्वाध्यायों में शिवालय, शिवमूर्त्तियाँ, विष्णुमूर्त्तियाँ वर्णित हैं। उनमें अधिकांश का आज पता नहीं है। 'काशीखण्ड'-लेखक के काल में वे सब प्रायः थीं।

[६७]

'रत्नेश्वर'-शिवलिङ्गोपाख्यान

'शैलेश्वर' को देखकर भवानी और भव वहाँ पहुँचे, जहाँ 'रत्नेश्वर' लिङ्ग स्वतः प्रकट हो गया था, उसके संबंध में उमा ने पूछा कि 'यह रत्नमय और सप्तम.

पाताल तक पहुँचा हुआ शिवलिङ्ग कैसे स्वतः प्रकट हुआ ? 'इसकी प्रभा से समग्र दिङ्मण्डल उद्भासित हो रहा है। इसका नाम क्या है ? कैसा स्वरूप है ? प्रभाव क्या है ? इसके दर्शन मात्र से मेरा चित्त इसी में रम गया है"।

शिव ने बताया कि अपार धन और रत्नराशि लेकर गिरिराज उन्हें (उमा को) देने आए थे। कार्पटिक से काशी का वैभववृत्तान्त सुनकर उसके समक्ष अपने उपहार को नगण्य मानकर यहीं रखकर अपने स्थान को चले गए। वही रत्नपुञ्ज 'रत्नेश्वर' के रूप में परिणत, शिव का ही रूप और सब लिङ्गों में प्रधान है। पितृ-संचित सुवर्णराशि से 'रत्नेश्वर' का भव्य मंदिर बनवाने को कहा–

"सर्वेषामिह लिङ्गानां रत्नभूतमिदं परम्।
अतो रत्नेश्वरं नाम परं निर्वाणरत्नदम्"॥ (का. ख. ६७।१८)

उमा ने 'सोम-नन्दी' आदि अगणित गणों द्वारा 'रत्नेश्वर' का मंदिर बनवा दिया। तदनुसार 'रत्नेश्वर' का भव्य स्वर्ण-मन्दिर बन गया। उमा के पूछने पर भगवान् भव ने (२७ से ३२वें श्लोकों तक) 'रत्नेश्वर' की महिमा बताई। इसी प्रसंग में 'गंगाधर' ने एक उपाख्यान सुनाया। यह लिंग अविमुक्त क्षेत्र में गुप्तरूप से रखा है–

"यथा रत्नं गृहे गुप्तं न कैश्चिज्ज्ञायते परैः।
अविमुक्ते तथा गुप्तं रत्नभूतं गृहे मम॥
यानि ब्रह्माण्डमात्रेऽत्र सन्ति लिङ्गानि पार्वति!।
तैरर्चितानि सर्वाणि रत्नेशो यैः समर्चितः"॥ (वही, ६७।२७-२८)

शशिशेखर ने इस अनादिसिद्ध लिङ्ग के माहात्म्य से संबद्ध जो उपाख्यान सुनाया, उसका सारांश आगे दिया जा रहा है। कलावती नाम की एक नर्तकी, जो नृत्य, गीत, वाद्य में बड़ी प्रवीण थी, शिवरात्रि को रात्रि भर नाचती, बजाती और गाती हुई 'रत्नेश्वर' की आराधना करती रही। 'शिव' के प्रसाद से दूसरे जन्म में वही गन्धर्वराज 'वसुभूति' की 'रत्नावली' नामक लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी कन्या हुई। कालान्तर में बड़ी होने पर उसने एक प्रतिज्ञा की थी–"मैं तब तक मौन रहा करूँगी, जब तक अविमुक्तक्षेत्र में 'रत्नेश्वर' का दर्शन-पूजन न कर लिया करूँगी"। उसकी तीन–(१) शशिलेखा, (२) अनंगलेखा और (३) चित्रलेखा–अंतरंग सखियाँ थीं। उनके साथ 'रत्नावली' नित्य वाराणसी आकर अविमुक्तक्षेत्र में 'रत्नेश्वर' का दर्शनादि करके नृत्य-गीतादि से आराधना करती थी और तीनों सखियाँ नियमतः मन्दिर की प्रदक्षिणा किया करती थीं।

एक बार नित्य की भाँति पूजा करती हुई रत्नावली के समक्ष प्रसन्न होकर 'रत्नेश्वर' लिंग से भगवान् शंकर प्रकट हुए। चौंसठ कलाओं में निपुण उस कन्या को वरदान देते हुए उन्होंने कहा—"आज की रात के स्वप्न में जो तेरे समान नामवाला व्यक्ति तेरे साथ केलि-विहार करेगा, वही तेरा भर्त्ता होगा"। उस लिंगरूपी अब्धि से निःसृत वचनसुधापान से अत्यन्त आनन्दसिन्धु में रत्नावली मग्न हो गई और व्रीड़ा से भर उठी। तीनों सखियों के पूछने पर लजाते-लजाते 'रत्नावली' से वरदान का वृत्तान्त सुनते ही वे सब जान गईं। सखियों ने भी हँसी-हँसी में सख्यभाव से उक्त स्वप्नागत कौमारहर को बाहु में आबद्ध कर लेने की राय दी।

'रत्नावली' की उस तरुण के विरह में वियोगदशा देखकर सखियों ने उस अज्ञात प्रियतम को जानने की दृष्टि से तीनों लोकों के रूपवान् तरुणों के चित्र गन्धर्व-पराक्रम से अंकित किए और संगृहीत उन्हीं चित्रों में 'रत्नावली' ने पातालवासी उस रात्रिसंभोक्ता को पहचाना। इसके पूर्व 'रत्नावली' वियोगव्यथा से मूर्च्छित हो गई थी। उसका अंतिम सफल उपचार तीनों सखियों ने 'रत्नेश्वर' के स्नान-जल से किया। तदनन्तर त्रैलोक्य के सुन्दर तरुणों का चित्र बनाया। उनमें ही 'रत्नावली' ने नागकुमार और नागराज शंखचूड़ के पुत्र 'रत्नचूड़' को देखकर झट से स्वप्न के कौमारहर युवक को पहचान लिया। उसके मुख पर लाज के लक्षण प्रकट हुए। तीनों सखियों के परामर्श से वह गन्धर्वकन्या 'रत्नेश्वर' के दर्शनार्थ आकाशमार्ग से चल पड़ी।

दैववश पातालवासी, अत्यन्त भयंकर रूपवाले 'सुबाहु दानव' ने उन्हें देख लिया। दानव ने चारों को दबोचकर और विलाप करती हुई उन्हें लेकर अपने घर चल पड़ा। 'रत्नेश्वर' से वे रक्षा की प्रार्थना करने लगीं। दानव उन्हें लेकर पाताल जा पहुँचा। इतने में ही नागराज शंखचूड़ के परम रमणीय पुत्र—'रत्नचूड़' ने उनका विलाप सुना। उनके पास पहुँच 'रत्नचूड़' दुष्ट एवं परम-बलशाली 'दंष्ट्राकराल सुबाहु' और सखियों सहित गंधर्वकन्या को देखा। दानव को उसने यमलोक भेजा और उन चारों गन्धर्वबालाओं को मुक्त कराया।

तदनन्तर नागकुमार ने कन्याओं से उन सबका परिचय पूछा। उन सबने अकारण मित्र 'रत्नचूड़' को सब वृत्तान्त आद्यन्त बता दिया। पर चित्रदृष्ट नागकुमार को न पहचान कर भी गन्धर्वकन्या का नाम तथा उसकी भक्ति और 'रत्नेश्वर' के नित्य पूजन का वृत्तान्त बताया। शंकर भगवान् के वरदान का भी आख्यान किया। कहा कि 'रत्नावली' के समनाम वाला ही उसका भर्त्ता होगा। तत्पश्चात् सखियों ने उस बलवान् दानव से रक्षा करने वाले उस तरुण का नाम

पूछा। यह भी कहा कि भयंकर दानव-दर्शन ने मानो हमें अन्धा कर दिया है। नागकुमार उन्हें सुखोदक क्रीड़ावापी में स्नान के लिए ले गया। उस कुंड में डुबकी लगाते ही वे सब जब सिर उठाती हैं, तब अपने को 'कालभैरव' के समीपस्थ (मानो इन्द्रजालसम कौतुकवश) 'रत्नेश्वर' के पास पाती हैं। वहाँ उन्होंने उत्तर-वाहिनी गंगा, शंखचूड़वापी, 'शंखचूड़ेश्वर', वागीश्वरी का मंदिर, मन्दाकिनी वापी (मैदागिन कुण्ड) आदि देखा।

वहीं 'सर्वसिद्धिविनायक, 'सिद्धेश्वर', 'मध्यमेश्वर' आदि को भी देखा। यह भी पाया कि वहीं 'मध्यमेश्वर', 'ऐरावतेश्वर', 'वृद्धकालेश्वर' आदि काशी के प्रसिद्ध लिङ्गों के मन्दिर हैं। घबराई हुई गन्धर्वबालाएँ जब आपस में आश्चर्यपूर्ण बातें कर रही थीं, तभी 'गन्धर्वराज वसुभूति' वहाँ आ पहुँचे। वहीं नारद ने उन्हें पूरी कथा कह सुनायी। उन्होंने प्रफुल्लमुख 'रत्नावली' के मुख से भी 'रत्नेश्वर' द्वारा वरदान की कथा सुनी, पर स्वप्न में कौमारहर पति-प्राप्ति की बात लज्जावश नहीं बताया। तदनन्तर 'शशिलेखा' ने सब कुछ स्पष्ट बता दिया। 'गन्धर्वराज' ने भी 'रत्नेश्वर', की महिमा का बखान किया और रत्नचूड़ की 'शिवभक्ति' तथा 'रत्नेश्वर' लिङ्ग की पूजा का वर्णन किया। अन्त में 'रत्नेश्वर'- पूजन के पश्चात् ज्यों ही 'रत्नचूड़' मन्दिर से बाहर निकला, सखियों ने उसे पहचान कर कहा कि 'यही वह पूर्ववर्णित युवक है'। परिणामतः सखियों के अत्याग्रह पर 'रत्नावली' के साथ ही चारों गन्धर्वबालाओं का भी विवाह नागराजपुत्र 'रत्नचूड़' के साथ हो गया। इसी प्रसंग में 'रत्नेश्वर' शिवलिंग का अतुलनीय माहात्म्य भी वर्णित है। यह भी बताया गया है–स्वयं साक्षात् शंकर द्वारा–कि 'हिमवान्' की भक्ति से अनादिलिंग गुप्त 'रत्नेश्वर' लिंग प्रकट हुआ।

शंकर द्वारा पार्वती को पूर्वजन्म में 'रत्नेश्वर' के निकट 'दाक्षायणीश्वर', 'अम्बिकागौरी' और 'अम्बिकेश्वर' का परिचय देकर अध्याय समाप्त हुआ।

[६८]

'गजासुर' के वध और 'कृत्तिवासेश्वर' के प्रादुर्भाव का आख्यान

'महेश्वर' जब 'रत्नेश्वर' का पूर्वोक्त वृत्तान्त कह रहे थे तभी 'प्रमथगणों' का चीत्कार–'बचाओ', 'बचाओ' सुनाई पड़ा। यह भी पता चला कि 'महिषासुर का पुत्र 'गजासुर' प्रमथों को मथ रहा है। वह बड़ा बली था और उसके शरीर की लंम्बाई-चौड़ाई नौ सहस्र योजन तक फैली हुई है। यह सब शक्ति उसे ब्रह्मा के वरदान से मिली थी। वह नर-नारी से अवध्य था। सब सुनकर त्रिशूली शूलपाणि ने उसे अपने त्रिशूल से वेधकर मार डाला और त्रिशूल में बिद्ध कर उसे उठा

लिया। असुर यह कहते हुए कि मैं आपको जानता हूँ भगवान्, चन्द्रशेखर की स्तुति की (श्लो. १४ से १७ तक)। अन्त में अपनी तथाविध मृत्यु को परम श्रेयस्कर माना।

आशुतोष शिव ने उसकी ओर देखकर सुबुद्धि दैत्य को वर माँगने के लिए कहा। उसने वर माँगा—"मेरी कृत्ति (चर्म-खाल) आपकी कृपा से सदा परम पवित्र रहे और सुगंध का आश्रय हो। आप ऐसी कृत्ति को सदा पहना करें और यह आपका विभूषण हो। यह भी वर दें कि आज से आपका नाम 'कृत्तिवासा' पड़े। शिव ने 'तथास्तु' कहते हुए यह भी वर दिया कि 'यतः गजासुर ने अविमुक्तक्षेत्र में युद्ध करते हुए अपना देहत्याग किया, अतः असुर का शरीर उक्त क्षेत्र में अत्यन्त पुण्यदायी 'कृत्तिवासेश्वर' लिंग कहा जायगा'। इसके पश्चात् 'कृत्तिवासेश्वर' शिवलिंग के दर्शन पूजन की महिमा और फलश्रुति है। इसके अनन्तर प्रमथाधिप उस 'कृत्ति' को स्वशरीर में लपेटकर "कृत्तिवासा" नाम से विख्यात हुए। वहीं छाता के समान 'गजासुर' को भूमि गाड़ में दिया। वहीं एक कुंड हो गया। वहीं पूजा के अन्नादि की ढ़ेरी भी थी।

उस अन्नपुञ्ज पर उसे खाने के लिये टूटते-गिरते सबल कौवों द्वारा जो निर्बल काक उक्त कुण्ड में गिरे, 'राजहंस' हो गए। और इसी कारण वह 'हंसतीर्थ' नाम से विख्यात हुआ। हंसतीर्थ की चारों ओर बड़े-बड़े मुनियों द्वारा स्थापित लिंग हैं। कुछ अन्य देव हैं। उनमें प्रमुख हैं—"कात्यायनेश्वर, च्यवनेश्वर, लोमशेश्वर, मालतीश्वर, अन्तकेश्वर"। वहीं 'असितांगभैरव', 'शुष्कोदरी देवी', 'अग्निजिह्व वेताल', 'वेतालकुण्ड', 'एक प्रमुखगण' (उन्हें दो भुजाएँ, चार पैर और पाँच शीश हैं) हैं। वहीं उत्तर भाग में चार सींघ, तीन पाद, दो शीर्ष वाले, त्रिधावरुद्ध वृषाकार 'रुद्र' हैं। तुलना कीजिए—

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥

(ऋ. सं. ४।५८।३)

"तदुत्तरे मुने ! रुद्रश्चतुःशृङ्गोऽस्ति भीषणः।
त्रिपादस्तु द्विशीर्षा च हस्ताः स्युः सप्त एव हि॥
रोरूयते वृषाकारस्त्रिधा बद्धः स कुम्भज"॥

(का. ख. ६८।७७-७८)

समीप ही 'मणिप्रदीप' नाग और 'मणिकुण्ड' भी है।

सूच्य—इस अध्याय में, पूर्व के अध्यायों में और आगे के अध्याय में जिन-जिन शिवलिंगों, कुण्डों, तीर्थों, देवादि मन्दिरों का वर्णन है, वे यद्यपि 'काशी-

खण्डकार' के समय थे; पर आज उनमें बहुत से लुप्त हो गये हैं। 'वाराणसी' के विषय में कहा जाता है कि तिल-तिल पर शिवलिंग है, पग-पग पर तीर्थ हैं और यह नगरी कुण्डों, तीर्थकूपों, धर्मवापी- तड़ागों की पुरी है।

[६९]

अँड़सठ क्षेत्रों का समागम और लिङ्गों का विवरण

काशीखण्ड का उनहत्तरवाँ अध्याय अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महनीय है।

(१) इस अध्याय में भारत के उन अँड़सठ शिवलिङ्गों-तीर्थों-क्षेत्रादि का परिचय मिलता है, जो विशेष रूप से शिवोपासना किं वा अन्य कारणों से काशी-खण्डरचना-काल में अत्यन्त महत्त्वशाली थे।

(२) इसमें यह भी बताया गया है कि पौराणिक मान्यता के अनुसार तत्कालीन उक्त तीर्थ—अपने-अपने क्षेत्र में तो तब अंशरूप से रह गए, जब काशिकानाथ विश्वनाथ काशी आए थे। पर अधिक अंशों और कलाओं के साथ वाराणसी में आकर स्थिर हो गए।

(३) यहाँ अधिकांश ज्योतिर्लिंगों का समागम है। वे नेपाल के पशुपति क्षेत्र से लेकर रामेश्वर धाम तक तथा कुरुक्षेत्रादि क्षेत्र से केवल शिवलिंग ही नहीं आए, वरन् तीर्थ, क्षेत्र, धाम, कुण्ड-सरोवरादि भी आकर यहाँ बस गए हैं।

(४) इन कूप-वापी आदि सब में स्नान, देवदर्शन, पूजन-अर्चन आदि से—यहाँ कहा गया है कि मूल स्थानों, तीर्थों की अपेक्षा अनेकगुणाधिक फल प्राप्त होते हैं।

(५) इस कथन का सारभूत आशय यह संकेत करता है कि काशीवासी के लिए सभी क्षेत्र-तीर्थ-देवादि यहीं उपलब्ध हैं। उसे कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। यहीं सब सुलभ है।

(६) यह पूरा का पूरा अध्याय महत्त्वमय है। इस अध्याय में सात कोटों की चर्चा भी है। नारायणी-टीका के अध्यायान्त में बताया है कि उनका कहीं अता-पता नहीं रह गया है। मत्स्योदरी वापी (मछोदरी) के पास टूटे-फूटे टीले मात्र अवशिष्ट हैं। कहीं-कहीं और स्फुट टीले भी बिखरे हुए हैं। यहाँ यह भी बताया गया है कि गंगा की बाढ़ का उलटा जल बह कर 'मछोदरी' में आने पर उसका माहात्म्य बहुत बढ़ जाता था। आज यह स्थिति नहीं है।

(७) सब लिङ्गों में आनन्दवनवासी काशीनाथ विश्वनाथ महादेव सर्वप्रमुख हैं। इनके दर्शन मात्र से त्रैलोक्य भर के शिवलिङ्गों के दर्शन का फल अनायास

मिल जाता है। अतः सब शिवलिङ्गों का वर्णन यहाँ विस्तार-भय से छोड़ दिया गया है। अनेक लुप्त भी हैं श्रद्धालु पाठक स्वयं पूरा अध्याय पढ़कर उनका परिचय प्राप्त करें। उनमें से प्रमुख कुछ ही के नाम मात्र का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

महादेव ने गजासुर की खाल जहाँ पहनी थी, उसे '**रुद्रावास**' कहते हैं। कुरुक्षेत्र के **स्थाणुलिंग**, नैमिषारण्य के **महालिंग**, यहाँ ब्रह्मावर्त्तकूप के साथ, गोकर्ण के महालिंग, उज्जयिनी के **महाकालेश्वर**, पुष्कर के **अयोगन्धेश्वर** (सब तीर्थों सहित), सत्ययुग में देवगणों की स्तुति से प्रकट **महादेव**, **पितामहेश्वर**, तीर्थराज प्रयाग के **शूलटंकेश्वर**, रुद्रकोटि के **महायोगीश्वर**, एकाम्बर क्षेत्र के **कृत्तिवासेश्वर** (कृत्तिवासेश्वर शिवलिङ्ग में ही प्रविष्ट), **नीलकण्ठेश्वर**, श्रीशैल आयतन के **त्रिपुरान्तकेश्वर**, जालेश्वर के **त्रिशूली**, रामेश्वर के **जटीदेवेश्वर**, त्रिसन्ध्य तीर्थ के **त्र्यंम्बकेश्वर** महादेव भी आए हैं। हरिश्चन्द्र क्षेत्र के **हरेश्वर** लिंग भी यहाँ आए हैं।

मध्यमेश्वर तीर्थ के **शर्वेश्वर** लिंग भी यहाँ हैं। पास में चतुर्वेदेश्वर भी हैं। दानेश्वर तीर्थ के महालिंग भी यहाँ आकर प्रकट हुए हैं। हर्षिततीर्थ के **हर्षितेश्वर** भी यहाँ आए हैं। वृषभध्वज तीर्थ के **वृषेश्वर** भी यहाँ आकर स्थित हैं। केदारतीर्थ के **ईशानेश्वर** भी यहाँ आकर विराजमान हैं। कनखल तीर्थ के **उग्रेश्वर** भी आकर यहीं रह रहे हैं। वस्त्रापथ महाक्षेत्र के भगवान् **भव** भी यहीं आ गए हैं। भद्रकर्णह्रद के भगवान् शिव **भद्रकर्णह्रद** के साथ यहाँ आकर विराजमान हैं।

नेपालक्षेत्र के पशुपतिनाथ भी यहाँ पधारे हैं। करवीरकतीर्थ के **कपालीश्वर** भी यहाँ सुशोभित हैं। गंगासागर तीर्थ के अमरेश्वर भी यहाँ है। इसी प्रकार सप्तगोदावरी तीर्थ के **भीमेश्वर**, **स्वयंभु**, नकुलेश्वर तीर्थ के **धरणिवाराह**, हेमकूट के विरूपाक्षेश्वर, गंगाद्वार के (हरिद्वार के) **हिमस्थेश्वर** भी यहाँ हैं। इसी संदर्भ में अनेक कोटों और मत्स्योदरी की तत्कालीन स्थिति और महिमा (श्लो. १३० से १४५ तक) है। उसे पाठक अवश्य पढ़ें; क्योंकि उसका काशी के इतिहास में भौगोलिक और ऐतिहासक महत्त्व है।

गन्धमादन पर्वत के 'भूर्भुवः'संज्ञक लिंग, पातालगंगा सहित हाटकेश्वर लिंग (ऐतिहासिक महत्त्व का, पर आज अज्ञात), तारालोक के तारकेश्वर, किरातेश्वर, लंकापुरी के मरुकेश्वर (और पौलस्त्य राघव मंदिर भी) यहाँ हैं। जललिंग स्थान के जलप्रिय लिंग भी गंगा के जल में हैं। उनका कभी-कभी किसी-किसी को ही दुर्लभ दर्शन हो पाता है। अमरकंटक तीर्थ से आकर पिलपिलातीर्थ के पास **ओङ्कारेश्वर** भी स्थित हैं। काशी में गंगा के आगमन (अवतरण) के पूर्व से ही यह आनन्दवन तारकक्षेत्र था।

अपने-अपने क्षेत्र में ये तीर्थादि अंशमात्र रह गए हैं, काशी में पूर्णभाव से आ गए हैं–

"एतान्यायतनानीश आनिनाय महान्ति च।
शेषयित्वांशमात्रं च तस्मिन् क्षेत्रे निजे निजे" ॥(का. ख. ६९।१७०)

आगे भी–

"श्रुत्वाऽष्टषष्टिमेतां वै महायतनसंश्रयाम्।
न जातु प्रविशेन्मर्त्यो जनन्या जाठरीं दरीम्" ॥(वही, ६९।१८२)

अर्थात्–इन अँड़सठ लिंगों के विवरण वाले इस कथा के श्रवण मात्र से मर्त्य कभी भी माता की उदरदरी में प्रवेश नहीं करता, उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

[७०]

देवियों के स्थानों का विवरण

यह काशीखण्ड का सत्तरवाँ अध्याय कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें तत्कालीन प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण काशी की देवियों का और उनके स्थानों का वर्णन है। यहाँ बताया गया है कि किस शिवलिंग, विनायकादिदेव या कूपों-ह्रदों या अन्य के पास किस-किस दिशा में देवियों के स्थान हैं ? वाराणसी की अनेक अतिप्रसिद्ध देवियों के नाम, जैसे– 'स्कन्दमाता', 'सिद्धेश्वरी', 'वागीश्वरी', 'कामाक्षा', 'संकटादेवी', यहाँ तक कि 'अन्नपूर्णा भवानी' आदि के नाम यहाँ नहीं हैं। 'नारायणी' टीकाकार द्वारा अध्यायान्त में रचित अनेक हिन्दी पद्य विशेषरूप से श्रद्धालु पाठकों के लिये पठनीय और मननीय हैं।

इस अध्याय की अतिविशिष्ट देवियों के नाममात्र यहाँ नीचे दिये जा रहे हैं। (विशेष विवरण के लिए मूल और काशीखण्ड का हिन्दी-अनुवाद पढ़ें)

(१) **विशालाक्षी**–कजरी (कज्जली) त्यौहार (भा. कृ. ३) के दिन विशेष पूजनादि का विधान है। उत्तम पति, सत्सन्तान और वन्ध्यात्वनिवारण आदि के लिए पूजा करनी चाहिए (अ. ७०, श्लोक ४ से १७ तक देखें)–

"विशालाक्षीमहापीठे दत्तं जप्तं हुतं स्तुतम्।
मोक्षस्तस्य परीपाको नात्र कार्या विचारणा" ॥ (वही, ७०।३३)

(२) **ललितादेवा**–ललिताघाट पर हैं। आषाढ़ कृष्ण द्वितीया को विशेषतः पूजनादि करणीय हैं।

(३) **विश्वभुजा गौरी**। (४) **वाराही देवी**–बड़ी जागता (जागृत) हैं। इनका दर्शन बड़े सौभाग्य और प्रयत्न से लभ्य है।

(५) (आपत्तिनाशिनी) **शिवदूती**। (६) **ऐन्द्रीदेवी** (शक्तिदायिनी)। (७) **कौमारी**। (८) **माहेश्वरी**। (९) (**चक्रहस्ता**) **नारसिंही, ब्राह्मी**। (११) **नारायणी**। (सूच्य–५ संख्यक से लेकर ११ संख्यक तक की देवियों का वर्णन **'दुर्गासप्तशती'** के ११वें अध्याय में देखें।)

(१२) **विरूपाक्षी गौरी**। (१३) **शैलेश्वरी**। (१४) **चित्रघंटा** (तृतीय दुर्गा–तृतीयं चित्रघंटेति)। (१५) **चित्रग्रीवा**। (१६) **भद्रकाली**। (१७) **हरसिद्धि** (इनका मूल स्थान 'गुजरात' प्रान्त में अतिप्रसिद्ध है)। (१८) (निगडभञ्जिनी) **वन्दीदेवी**। इनका बड़ा माहात्म्य है। काशी के प्रयागघाट पर स्थित हैं। (श्लो. ४७ से ५२ तक देखें)।

"संसारभयविच्छित्तिमपि यच्छति सार्चिता।
गणना शृङ्खलादीनां का च तस्याः समर्चनात्" ॥ (का. ख. ७०।५०)

(१९) **अमृतेश्वरीदेवी**। (२०) **सिद्धिलक्ष्मी**। (२१) **कुब्जादेवी** (नलकूबरेश्वर एवं कुब्जेश्वर भी)। (२२) **त्रैलोक्यसुन्दरी**। (२३) **दीप्तादेवी**। (२४) (जगद्धात्री) **महालक्ष्मी**–आश्विनकृष्ण अष्टमी को विशेष माहात्म्य है। साथ ही लक्ष्मीकुण्ड में स्नान, तर्पण आदि का विशिष्ट महत्त्व है। भाद्रशुक्ल अष्टमी से आश्विन कृष्णाष्टमी तक सहस्रों काशीवासी १६ दिनों का सोरहिया, महालक्ष्मीव्रत, दर्शन और नित्य महालक्ष्मीव्रत-कथा का श्रवण, लक्ष्मीपूजन आदि करते हैं। वहाँ बड़ा मेला लगता है। वह सिद्धिपीठ है–

"महालक्ष्म्यष्टमीं प्राप्य तत्र यात्रां कृतां नृणाम्।
सम्पूजितेह विधिना पद्मा सद्म न मुञ्चति" ॥ (वही, ७०।६७)

(२५) (कुठारधारिणी) **हयकण्ठीदेवी**। (२६) (पाशहस्ता) **कौर्मीदेवी**। (२७) **शिखिचण्डी**। (२८) (भीमेश्वर के समीप) **भीमचण्डी देवी** (वहीं भीमकुंड भी है)। (२९) **छागवक्त्रेश्वरी** (आ. शु. अष्टमी को छागवक्त्रेश्वरी के पूजन का विशिष्ट माहात्म्य है)। (३०) **तालजङ्घेश्वरी**। (३१) (उद्दालकतीर्थ पर उद्दालकेश्वर के समीप) **यमदंष्ट्रादेवी**। (३२) **चर्ममुण्डा**। (३३) **महारुण्डा**। (३४) **चामुण्डा**। (इन तीनों देवियों का ७० वें अध्याय के श्लो. ८० से ९१ तक काशीखंड में बड़ा महात्म्य वर्णित है। ये देवियाँ उपद्रवध्वंसिनी और मुक्तिदात्री हैं। (३५) (स्वप्नावस्था में स्वप्नों का शुभाशुभ फल बताने वाली) **स्वप्नेश्वरी देवी** (स्वप्नेश्वर लिंग भी)। (३६) (समीप ही क्षेत्र के दक्षिण भाग की रक्षिणी) **दुर्गदेवी** (सम्भवतः कूष्माण्डा) विशेष विवरण के लिए काशीखण्ड का ७१वाँ अध्याय देखें।

[७१]

दुर्गासुर और देवी के युद्ध का वर्णन

दुर्गादेवी का नाम दुर्गा क्यों पड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर यह अध्याय है। 'रुरु' दैत्य के पुत्र 'दुर्ग' नामक महाबली दैत्य ने पुरुषों से (चाहे वह किसी योनि का हो) अजेयता का वर पाकर बलोन्मत्त हो गया। स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक को जीतकर त्रिभुवन का शासक बन बैठा। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि का अधिकार छीनकर अपने हाथो में ले लिया। उसने यज्ञादि तक रोक दिए। उसके भय से ब्राह्मणों ने वेदाध्ययन त्याग दिया। उसके भट स्त्रियों का सतीत्व लूटने लगे। चारों ओर सब प्रकार के पापाचार का बोलबाला हो गया। धरती भी बिना जोते-बोए प्रचुर शस्योत्पादन करने लगी। वृक्ष भी असमय फलवान् होने लगे। देवों, ऋषियों की पत्नीजनों को दुर्ग ने वन्दिनी बना लिया। स्वर्गवासी वनवासी हो गए। वह सर्वश्रेष्ठ बन बैठा। कारण यह कि–

"न कौल्यं न सद्वृत्तं महत्त्वाय प्रकल्पते।
एकमेव पदं श्रेयः पदभ्रष्टो हि लाघवम्॥
विपद्यपि हि ते धन्या न ये दैन्यप्रणोदिताः।
धनैर्मलिनचित्तानामालभन्तेऽङ्गणं क्वचित्"॥ (का. ख. ७१।१५-१६)

और भी–

"यस्त्वापदं समासाद्य दैन्यग्रस्तो विपद्यते।
तस्य लोकद्वयं नष्टं तस्माद्दैन्यं विवर्जयेत्॥
आपद्यपि हि ये धीरा इहलोके परत्र च।
न तान्पुनः स्पृशेदापत्तद्धैर्येणावधीरिता"॥ (वही, ७१।२१-२२)

सारांश इतना ही है कि कुलीनता या सदाचारिता से बड़ाई नहीं मिलती। पदस्थता हीं बड़ाई देती है; परन्तु विपत्ति पड़ने पर दीनता ग्राह्य नहीं, त्याज्य है। विपत्ति में धैर्य ही प्रशस्त है।

देवगण भी राज्यादि सम्पत्तियों से हीन होकर महेश्वर की शरण में गए। देवदुर्दशा देख महादेव ने भवानी को असुरवध के लिए प्रेरित किया। रुद्राणी ने त्रैलोक्यमोहिनी कालरात्रि को दुर्गासुर के आह्वानार्थ भेजा। कालरात्रि ने दुर्गासुर के पास जाकर कहा–"तुम त्रैलोक्य का राज्य देवराज प्रभृति को समर्पित करके पाताल चले जाओ! यदि तुम्हें कुछ अहंकार हो तो शिवानी के पास युद्धार्थ पहुँचो"।

क्रोध से प्रज्वलित होकर उसने अतुललावण्यशालिनी काली को–जो कि अनन्त पुण्य के फलस्वरूप स्वतः आगत है–बन्दी बनाकर अपने अन्तःपुर ले जाने की आज्ञा अनुचर कंचुकियों को दे डाली। फलतः कंचुकीगण उसे (कालरात्रि को) बलपूर्वक रनिवास ले जाने लगे। काली ने कहा कि यदि दुर्गासुर स्वामिनी (रुद्राणी) को जीतकर अन्तःपुर में ले जाय तो हमारे जैसी सहस्रों रूपवती रमणी दूतियाँ अनायास ही उसे भोगार्थ शुद्धान्त में सुलभ होंगी; क्योंकि शिवानी परम रूप की खान हैं, अबला, मुग्धा और रक्षकहीन हैं। वे सर्वरूपमयी हैं। एक बार उन्हें देखकर दुर्गासुर स्वयं उनके रूप-वैभव पर मोहित हो जायगा और उनको जीतकर उनके साथ सहस्रों रूपवती दासियाँ स्वतः प्राप्त कर लेगा। पर क्रोध और काम से मोहित दुर्ग ने काली को ही परमलावण्यमयी मानकर उसे ही बलात् पकड़कर रनिवास भेजना चाहा। पहले कंचुकियों को काली ने हुंकार मात्र से भस्म कर दिया। बाद में क्रमशः दुर्धर, दुर्मुख आदि सौ करोड़ दैत्य-सैनिकों को कालरात्रि ने उच्छ्वास मात्र से दूर उधरा (उड़ा) दिया। तदनन्तर कालरात्रि वहाँ से विन्ध्याचलवासिनी (नारायणी-टीकाकार के अनुसार चुनार के दुर्गाखोह में रहने वाली दुर्गा– वह भी विन्ध्यपर्वत ही है) शिवानी के पास जाकर सब वृत्तान्त कह सुनाया। पीछे-पीछे दुर्ग भी कोटि-कोटि भीषण महाबली दैत्य-भटों के साथ वहाँ जा पहुँचा। (यहाँ श्लो. ६१ से ६५ तक) रुद्राणी के लोकोत्तर सौन्दर्य का बड़ा ही काव्यात्मक वर्णन है।)

उस परमसुन्दरी को देखते ही वह दैत्य काममोहित हो गया। उसने अपने बड़े-बड़े 'जम्भ', 'महाजम्भ' आदि सेनापतियों को रूपमती युवती देवी को पकड़ लाने की आज्ञा दे दी, जिससे कि दैत्य अपनी कामवासना परितृप्त कर सकें। उस दैत्य के चाटुकार भटों ने अपने स्वामी की विभुता की डींग हाँकते हुए कहा कि जब चन्द्र, सूर्य, वरुण, अग्नि, यमादि दुर्गासुर की सेवारत हैं, तब इस अनाथ रमणी को आपके पास पकड़कर ला देना क्या कठिन है ? इतना कहकर भवानी देवी को ललकारते हुए करोड़ों-करोड़ों भटों ने उन्हें घेर लिया। देवी ने भी अपने शरीर से 'त्रैलोक्यविजया तारा क्षमा त्रैलोक्यसुन्दरी' आदि (एतदर्थ ७२ वें अध्याय के श्लोक २ से १३ तक देखें) नवकोटि (नौ करोड़) शक्तियाँ उत्पन्न कर दीं।

फलतः पहले दुर्गासुर के सैनिकों के साथ तदनन्तर स्वयं दुर्गासुर के साथ देवी का बड़ा ही भयंकर युद्ध हुआ। सब ओर से हारकर अन्त में दैत्येन्द्र ने भयंकर गदा से देवी के भुजमूल पर प्रहार किया। पर देवी के बाहुस्पर्शमात्र से वह गदा टुकड़े-टुकड़े हो गयी। देवी ने दैत्य को वामचरण से दबाकर भूमि पर गिरा दिया

और उसकी छाती जा दबायी[1] । दुर्गासुर गिर कर भी उठ खड़ा हुआ और वहाँ से अदृश्य हो गया ।

[७२]

दुर्गासुरविजय, शक्तिपञ्जरस्तोत्र और 'दुर्गा' नाम का कारण

स्कन्द ने बताया कि त्रैलोक्यविजया, तारा, क्षमा, त्रैलोक्यसुन्दरी' एवं 'सुरेश्वरी' और 'ज्वालामुखी' आदि नवकोटि देवी की शक्तियाँ दानवसेना का विनाश करने लगीं । उसी समय दानवेन्द्र दुर्ग घनघटा के मध्य से पहले 'करका-वृष्टि' करने लगा । उसे देवी ने 'शोषणास्त्र' से नष्ट किया । तत्पश्चात् प्रस्तर-वृष्टि का भी देवी ने नाश किया । फिर 'मायाशक्ति' से दानव हाथी बना, उसका भी सूँड़ देवी ने काट डाला । फिर भयंकर महिषासुर बना । उसे भी भवानी ने 'त्रिशूल' से वेध डाला ।

तदनन्तर दानव ने सहस्रायुधधारी सहस्रबाहु बनकर कालान्तक के समान महाभयंकर युद्ध किया । इतना ही नहीं, वह महादेवी को पकड़कर आकाश में उठा ले गया । अन्त में उसके (दानव के) हृदय को वेध कर देवी ने उसे मार डाला । उसकी रुधिरधारा से खून की नदी बह निकली । अन्त में देवों ने वहाँ पहुँच देवी की स्तुति आरम्भ कर दी ।

उक्त स्तुति इस अध्याय के ३७वें से ६५वें श्लोक तक यह स्तोत्र (कवच) है । इसे 'देवीपञ्जरस्तोत्र' एवं 'शक्तिवज्रपञ्जर स्तोत्र' भी कहते हैं । ६६वें पद्य से ८०वें पद्य तक इस स्तोत्र के पाठ का माहात्म्य और फलश्रुति है । अन्त में यह कहा गया है कि इसी कारण भवानी या रुद्राणी का 'दुर्गा' नाम पड़ा । इस प्रकार यह 'वज्रपञ्जरस्तोत्र' ३७वें पद्य से ८०वें पद्य तक है ।

स्वयं देवी ने कहा है–

यः स्तोष्यति तु मां भक्त्या नरः स्तुत्याऽनया शुचिः ।
तस्याहं नाशयिष्यामि विपदं च पदे पदे ॥
एतत्स्तोत्रस्य कवचं परिधास्यति यो नरः ।
तस्य क्वचिद्भयं नास्ति वज्रपञ्जरगस्य हि ॥ (का. ख. ७२।६९-७०)

इसके अनन्तर यह बताया गया है कि काशी में कैसे और कब-कब दुर्गादेवी का दर्शन-पूजनादि करना चाहिए । अष्टमी, चतुर्दशी, प्रत्येक मंगलवार और

---

1. (क) 'दुर्गासप्तशती' में भी इसी प्रकार के युद्ध का वर्णन 'द्वितीय चरित' में और विशेषतः 'तृतीय चरित' में देखा जा सकता है ।
(ख) पुराणों में सैकड़ों ऐसे युद्धों का वर्णन हैं, जहाँ इन्द्र और दैत्यों या देव-दानवों के युद्ध वर्णित हैं । 'इन्द्र-वृत्रासुर' के युद्ध का वर्णन नाना पुराणों में देखें ।

नवरात्र में (प्रतिदिन) वह करणीय है। यह भी कहा गया है कि जो मानव (नवरात्र भर) दुर्गाकुण्ड में स्नान कर सर्वार्तिहारिणी दुर्गादेवी का सविधि दर्शन-पूजन करते हैं, उनके पूर्व नवजन्मकृत पाप नष्ट हो जाते हैं।

इनके अतिरिक्त काशी में और भी दिशाओं की रक्षिका अधिष्ठात्री नव शक्तियाँ हैं–

(१) "शतनेत्रा, (२) सहस्रास्या, (३) अयुतभुजा, (४) अश्वारूढ़ा, (५) गजास्या, (६) त्वरिता, (७) शववाहिनी, (८) विश्वागौरी और (९) सौभाग्य-गौरी"।

इसी प्रकार आठ दिशाओं के रक्षक आठ भैरव भी हैं–(१) रुरु, (२) चण्ड, (३) असितांग, (४) कपाली, (५) क्रोधन, (६) उन्मत्त, (७) संहार और (८) भीषणभैरव हैं। ये शस्त्रास्त्रधारी करोड़ों अनुचरों से वेष्टित हैं और विद्युज्जिह्व आदि चौंसठ वेतालों आदि से क्षेत्र की रक्षा करते रहते हैं। ये वेताल भी पूजित और प्रसादीकृत होने पर क्षेत्र-रक्षक हैं। एक करोड़ भूत भी इस काशी निवार्णलक्ष्मी पुरी के रक्षक हैं, पालक हैं।

[७३]

ओङ्कारेश्वर-माहात्म्य

[ओङ्कारेश्वर और समीपस्थ अनेक तीर्थों-शिवलिङ्गों का माहात्म्य ७३वें और ७४वें अध्याय में वर्णित है।]

विरजतीर्थ–सर्वसिद्धिप्रद विरजपीठ, त्रिलोचन महादेव के समीप, सर्वतीर्थमय पिलपिलातीर्थ के नाम से गंगा के जल में स्थित और प्रसिद्ध है। इस पिलपिला-तीर्थ का स्मरण रखना आवश्यक है; क्योंकि इसकी चर्चा, तृतीय भाग और चतुर्थ भाग काशीखण्ड में है। तीनों लोकों में जितने देवता, ऋषि, नाग, नदी, पर्वत, अरण्य आदि हैं, वे यहाँ विराजमान हैं। इसी कारण यह तीर्थ और त्रिलोचन लिङ्ग दोनों ही 'त्रिविष्टप' नाम से विख्यात हैं। शिव और पार्वती को भी यह बड़ा ही प्यारा है–

"इदं तव प्रियं क्षेत्रं कर्मबीजमहौषधम्।
नैःश्रेयस्याः श्रियो गेहं ममापि प्रीतिदं महत्॥
यत्क्षेत्ररजसोऽप्यग्रे त्रिलोक्यपि तृणायते।
तस्याखिलस्य महिमा विष्वक्केनावगम्यते"॥ (का. ख. ७३।९-१०)

यहाँ स्वयंभू अथवा स्थापित सभी लिंग चाहे वे दृश्य हों या अदृश्य–टूटे-फूटे भी हों–मोक्षकारक, सर्वफलप्रद और मुक्तिदायक हैं। यहाँ ९० करोड़ लिंग,

गंगाजल में डूबकर अदृश्य हो गए हैं, अनेक शिवलिंग गुप्त भी हैं। अनेक के नाम भी अज्ञात हैं। नाममात्र श्रवण से पुण्यवर्धक १४ विशिष्ट लिंग हैं– (१) ओङ्कारेश्वर, (२) त्रिलोचन, (३) महादेव, (४) कृत्तिवासेश्वर, (५) रत्नेश्वर, (६) चन्द्रेश्वर, (७) केदारेश्वर, (८) धर्मेश्वर, (९) वीरेश्वर (आत्मवीरेश्वर), (१०) कामेश्वर, (११) विश्वकर्मेश्वर, (१२) मणिकर्णेश्वर, (१३) अविमुक्तेश्वर और (१४) विश्वेश्वर महालिङ्ग।

प्रत्येक मास की प्रतिपदा से आरम्भ कर चतुर्दशी तक इन मुख्यतम लिंगों की प्रयत्नपूर्वक यात्रा से और पूजनादि सहित दर्शन से मोक्ष सुलभ है–

"नामश्रवणतोऽपीह यल्लिङ्गानां शुभानने।
वृजिनानि क्षयं यान्ति वर्धन्ते पुण्यराशयः॥
ओङ्कारः प्रथमं लिङ्गं द्वितीयं च त्रिलोचनम्।
तृतीयं च महादेवः कृत्तिवासश्चतुर्थकम्॥
रत्नेशः पञ्चमं लिङ्गं षष्ठं चन्द्रेश्वराभिधम्।
केदारः सप्तमं लिङ्गं धर्मेशश्चाष्टमं प्रिये॥
वीरेश्वरं च नवमं कामेशं दशमं विदुः।
विश्वकर्मेश्वरं लिङ्गं शुभमेकादशं परम्॥
द्वादशं मणिकर्णीशमविमुक्तं त्रयोदशम्।
चतुर्दशं महालिङ्गं मम विश्वेश्वराभिधम्॥
प्रिये! चतुर्दशैतानि श्रियो हेतूनि सुन्दरि।
एतेषां समवायोऽयं मुक्तिक्षेत्रमिहेरितम्॥
देवताः समधिष्ठात्र्यः क्षेत्रस्यास्य परा इमाः।
आराधिताः प्रयच्छन्ति नृभ्यो नैःश्रेयसीं श्रियम्" ॥

(का. ख. ७३।३१-३७)

प्रत्येक मास की प्रतिपदा तिथि से आरम्भ कर चतुर्दशी तक इन मुख्यतम शिवलिंगो की यात्रा पूजनादि करणीय हैं। काशी में अनेकानेक लिंग वर्तमान होकर भी कलि के प्रभाव से लुप्त हो गए हैं। चौदह और शिवलिंग काशी में मुख्य माने गए हैं। वे मुक्ति के निदान हैं। अविमुक्तक्षेत्र के ये चतुर्दश शिवलिङ्गं शिव सान्निध्यकारक हैं। वे हैं–(१)अमृतेश्वर, (२) तारकेश्वर, (३) ज्ञानेश्वर, (४) करुणेश्वर, (५) मोक्षद्वारेश्वर, (६) स्वर्गद्वारेश्वर, (७) ब्रह्मेश्वर, (८) लाङ्गलीश्वर, (९) वृद्धकालेश्वर, (१०) वृषेश्वर, (११) चण्डीश्वर, (१२) नन्दिकेश्वर, (१३) महेश्वर और (१४) ज्योतिरूपेश्वर।

इनकी भी यात्रा पूर्ववत् प्रतिपदा से चतुर्दशी पर्यन्त विहित है।

इसी प्रकार माहात्म्यपूर्ण, प्रमुख एक तीसरी चतुर्दशलिङ्गी भी है। ये चौदहों महायतन हैं और चैत्रकृष्ण प्रतिपदा से चैत्रकृष्ण चतुर्दशी तक इनकी यात्रा, दर्शन, पूजन करणीय हैं। ये हैं-(१) शैलेश्वर, (२) संगमेश्वर, (३) स्वर्लीनेश्वर, (४) मध्यमेश्वर, (५) हिरण्यगर्भेश्वर, (६) ईशानेश्वर, (७) गोप्रेक्षेश्वर, (८) वृषभध्वजेश्वर, (९) उपशान्तशिव, (१०) ज्येष्ठेश्वर, (११) निवासेश्वर, (१२) शुक्रेश्वर, (१३) व्याघ्रेश्वर और (१४) जम्बुकेश्वर। ये चौदह लिंग महायतन हैं। इनकी सेवा-पूजादि भी मोक्षद है। चैत्र मास की कृष्ण प्रतिपदा से चतुर्दशी पर्यन्त इनकी यात्रा-पूजा करणीय और मोक्षदायिनी है।

अमरकण्टकक्षेत्र से ओङ्कारेश्वर का वाराणसी में आगमन

शिव ने यह कथा पार्वती को सुनाते हुए कहा कि पुरा युग में ब्रह्मा ने उग्रसमाधिपूर्ण सहस्रवर्षव्यापी तपस्या की। ब्रह्मा के निष्काम हृदय में समाधिजनित उग्रज्योति ही पाताल फोड़कर प्रकट हुई, जिसे हिरण्यगर्भ ने देखा और जो आदिवर्ण "ॐ" के रूप में थी। उसमें सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों से क्रमशः ऋग्यजुःसामवेदत्रयी थी। इसी में सगुण-निर्गुण, अकथनीय, नादमंदिररूप परमानन्द, सर्वनादकारण, शब्दब्रह्मस्वरूप बिन्दु भी था। उसी में 'अकार', 'उकार', 'मकार' समाविष्ट थे[1]।

आगे बताया गया है कि वही वेदत्रय का तत्त्व है, वही साक्षात् परमात्मा है, तुरीय के भी ऊपर है, सर्वात्मक है। उसी नाद-बिन्दुस्वरूप को ब्रह्मा ने नेत्रपथ पर चढ़ा लिया।

---

1. "अकारं सत्त्वसम्पन्नं तत् क्षेत्रं सृष्टिपालकम्।
नारायणात्मकं साक्षात्तमःपारे प्रतिष्ठितम्॥
उकारमथ तस्याग्रे रजोरूपं यजुर्जनिम्।
विधातारं समस्तस्य स्वाकारमिव बिम्बितम्॥
नीरवध्वान्तसङ्केतसदनाभं विशेषतः।
मकारं स ददर्शाथ तमोरूपं विशेषतः॥
साम्नो योनिं लये हेतुं साक्षाद्रुद्रस्वरूपिणम्।
अथ तत्पुरतो ध्याताऽध्यगात् स्वनयनातिथिम्॥
विश्वरूपमयाकारं सगुणं वापि निर्गुणम्।
अनाख्यनादसदनं परमानन्दविग्रहम्॥
शब्दब्रह्मेति यत्ख्यातं सर्ववाङ्मयकारणम्।
अथोपरिष्टान्नादस्य बिन्दुरूपात्मकं परम्॥ (का. ख. ७३।८२-८७)

तुलना कीजिए-
"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः"॥ (वा. प. १।१)

ब्रह्मा ने रूपहीन होने पर भी उसके रूपधारी प्रणव का साक्षात् दर्शन किया। वह सर्वापेक्षया अधिक होने से प्रणव कहा जाता है। परमपदप्रापक एवं मोक्षप्रद, तारकस्वरूप प्रणव को उन्होंने देखा। जो त्रिगुण से बँधा हुआ तेजोमय वृषभ है, जो सदा शब्दतत्त्व प्रवर्त्तित करता रहता है, जिसके चार शृंग, सात हस्त, दो मस्तक और तीन चरण हैं उस वृषभपुरुष को ब्रह्मा ने देखा। तुलना कीजिए—

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश' ॥

(ऋ. सं. ४।५८।३)

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त जिसमें अन्तर्लीन हैं, वही अन्वेषणीय है। पाँचों अर्थ (अस्ति, भाति, प्रियम्, रूपम्, नाम चेत्यर्थपञ्चकम्) जिसमें भासमान रहते हैं। पाँचों ब्रह्म जिसमें समाये रहते हैं एवं (१) अकार, (२) उकार, (३) मकार, (४) नाद और (५) बिन्दु एवं चारों वेद तथा पञ्चम पुराण-इतिहास जिसके अन्तर्गत हैं, उस प्रणवरूप ओङ्कारात्मक पञ्चाक्षरात्मक लिङ्ग का ब्रह्मा ने दर्शन किया और स्तुति करने लगे।

(यह स्तुति इस अध्याय के १०१वें पद्य से १४०वें पद्य तक **ओङ्कारेश्वर** महादेव का अद्भुत स्तोत्र है)।

भूतभावन भगवान् शंकर के कहने पर सृष्टिकर्ता ने वर-याचना की कि इस लिंग का नाम **'ओङ्कारेश्वर'** हो और भगवान् शंकर का सान्निध्य इसे मिले। इसके अनन्तर दर्शन-पूजन-यात्रा का माहात्म्य और फलश्रुति है। यह लिंग शिव-पंचायतन कहा जायेगा। 'मत्स्योदरी' तीर्थ में स्नान कर 'ओङ्कारेश्वर' के दर्शन-पूजन का बड़ा माहात्म्य है। यहीं पर 'नादेश्वर' लिंग भी अत्यन्त माहात्म्यशाली है, मोक्षप्रद है। इसमें कपिलदेव की भी झलक है। वर्षा की बाढ़ में गंगा यहाँ आकर समीप पहुँच जाती हैं, यहाँ का स्नान ब्रह्महत्यानाशक है। इसी भाँति शिव ने ब्रह्मा को अनेक वरदान दिए और फलश्रुति भी सुनायी। **'ओङ्कारेश्वर'** के इस 'ब्रह्मस्तव-पाठ' का अपार माहात्म्य है।

[७४]

इतिहास के सहित पुनः ओङ्कारेश्वर का माहात्म्य एवं दमन नामक ब्राह्मण का आख्यान

पाद्मकल्प में भरद्वाज के पुत्र का नाम दमन था। यज्ञोपवीत-संस्कारानन्तर सर्वशास्त्रों को स्वल्पकाल में पढ़ने के पश्चात् क्षणभंगुर जीवन और संसार से वह

विरक्त हो गया। निर्विण्ण होकर अनेकानेक आश्रमों, पर्वतों, समुद्रों, वनों, नदीतटों और तीर्थादि में भ्रमण करते हुए, नर्मदातट पर, अमरकण्टक और 'ओङ्कारेश्वर' के स्थान पर जा पहुँचा। वहाँ उसके चित्त को बड़ी शान्ति मिली।

वहाँ उसने भस्मभूषित, पाशुपतव्रतधारी तपोधनों को लिङ्गपूजनरत पाया। यह भी देखा कि वे गुरु 'गर्गाचार्य' का उपदेश सुन रहे हैं। परस्पर वार्तालाप-प्रसंग में गर्गाचार्य को ज्ञात हुआ कि तरुणावस्था में ही वह ब्राह्मणपुत्र क्यों संसार से विरक्त हो गया है। उसने यह भी बताया कि कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे वह घूमता हुआ, दिव्य औषधियों और रसायनों का सेवन करने पर भी, गिरिकन्दराओं आदि में उग्र तपस्या करने पर भी कहीं भी सिद्धि का अंकुर नहीं देख पाया।

इस पर गर्गाचार्य ने अविमुक्तक्षेत्र वाराणसी जाने का उपदेश दिया—

'कर्मभूरुहदावाग्नौ संसाराब्ध्यौर्वरोचिषि।
निर्वाणलक्ष्मीक्षीराब्धौ सुखसङ्केतसद्मनि॥
दीर्घनिद्राप्रसुप्तानां परमोद्बोधदायिनी।
यातायातसमापन्नप्राणिमार्गमहीरुही॥
अनेकजन्मजनितमहापातकवज्रिणी।
नामोच्चारकृतां पुंसां महाश्रेयोविधायिनी॥
विश्वेशितुः परे धाम्नि सीम्नि स्वर्गापवर्गयोः।
स्वर्धुनीलोलकल्लोलनित्यक्षालितभूतले॥
एवंविधे महाक्षेत्रे सर्वदुःखौघहारिणी।
प्रत्यक्षं मम यद्वृत्तं तद्वदामि महामते॥ (का. ख. ७४।३१-३५)

रागरूप बीज से उत्पन्न संसार-महावृक्ष वाराणसी में महानिद्रारूपी कुल्हाड़ी से काट दिए जाने पर पुनः नहीं पनपता। यहाँ कृमि, कीट, पतंग भी मरने पर जो गति पाते हैं, वह ब्रह्माण्ड में अन्यत्र दुर्लभ है (अ. ७४, श्लो. ४३)। अविमुक्तक्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ फलदायक क्षेत्र है—पूर्व में मणिकर्णिकेश्वर, दक्षिण में ब्रह्मेश्वर, पश्चिम में गोकर्णेश्वर तथा उत्तर में भारभूतेश्वर—इस सीमा के मध्य काशी का सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र है। 'अट्टहास' नामक प्रमथ काशी के पूर्वद्वार का रक्षक है, 'धात्रीश' दक्षिण द्वार का, गोकर्ण पश्चिम द्वार का एवं घंटाकर्ण उत्तर द्वार का रक्षक है। ऐसे चारों कोणों के रक्षक भी हैं। अनन्तानन्त प्रमथगण अविमुक्तक्षेत्र के रक्षक हैं। असि, वरुणा आदि के पार भी गणलोग रक्षक हैं।

ऐसे सुरक्षित पुण्यतम महाक्षेत्र में 'ओङ्कारेश्वर' लिङ्ग है। उसकी आराधना से कपिलादि अनेक शैव सिद्ध हो चुके हैं। वहाँ एक विचित्र घटना घट चुकी है। कथा है कि वहाँ एक भेकी (मेढ़ुकी) लिंग पर चढ़े अक्षतों को खा-खाकर सतत

चक्कर लगाती (प्रदक्षिणा करती) रही। शिवनिर्माल्य-भक्षण अत्यन्त निषिद्ध पाप है। उसी के भक्षण से मृत्यु के बाद उसकी दुर्गति हुई। क्योंकि–

'वरं विषमपि प्राश्यं शिवस्वं नैव भक्षयेत्।
विषमेकाकिनं हन्ति शिवस्वं पुत्रपौत्रकम्' ॥
(का. ख. ७४।६४)

अतः उस भेकी को एक पक्षी ने चोंच से पकड़कर क्षेत्र के बाहर ले जाकर फेंका और वह मर गई। लिंग की प्रदक्षिणा और स्पर्श के पुण्य से वहीं पर पुष्पवटु के गृह में पुण्यवती सर्वगुणसम्पन्ना सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या होकर भी मुख के द्वारा शिवस्वभक्षणजन्य पापवश गृध्रमुखी हुई। पर वह समस्त गान्धर्ववेदविज्ञा थी। गान द्वारा सदैव 'ओङ्कारेश्वर' के पूजन-रत रहने के पुण्य-प्रभाव से तपस्विनी आचरणवाली वह कन्या तीव्रपिपासावश कभी-कभी ओङ्कारेश्वर की उपासना करती थी। (यहाँ मूल और हिन्दी अनुवाद, श्लो. ८३ से ८८ तक देखें)।

उस निष्प्रपंच, निर्विकार, निरंजन ओङ्कारेश्वर लिङ्ग के चारों ओर झाड़ू-बुहारी करती, चित्रकारी करती, रात्रिजागरण करती, अनन्य भाव से उपासना और ध्यान में वह लीन थी। फलतः ध्यानमग्न वह 'ओङ्कारेश्वर' से निकली हुई आकाशीय ज्योति में ही लीन हो गई। आज तक क्षेत्रनिवासी वैशाखशुक्ल चतुर्दशी को 'ओङ्कारेश्वर' की यात्रा करते हैं। क्योंकि–

'ब्रह्माण्डोदरमध्ये तु यानि तीर्थानि सुव्रते।
वाराणस्यां गमिष्यन्ति वैशाखस्य चतुर्दशीम्' ॥ (वही, ७४।१००)

पाताल जाने का मार्ग 'श्रीमुखी' नामक गुफा भी वहीं है। नादोत्पत्ति-स्थान 'नादेश्वरलिंग' भी वहीं है। उसी के पास गंगा-वरणा के जल से परिपूर्ण जो मत्स्योदरी तीर्थ है, उसमें नहाने से मानव कृतकृत्य हो जाता है। यथा च–

'अविमुक्तं परं क्षेत्रं ब्रह्माण्डादपि सर्वतः।
ततोऽपि पर ओङ्कार उक्तो मत्स्योदरीतटे' ॥ (वही, ७४।१०७)

तदनन्तर योगीश्वर गर्गाचार्य ने सभी महापाशुपतधारी योगीजनों के साथ 'अविमुक्त-क्षेत्र' की महिमा वर्णन करते हुए काशी आकर ओंकारेश्वर' का दर्शन किया; क्योंकि शिवतनय, वक्ता स्कन्द ने अविमुक्तक्षेत्र, और 'ओङ्कारेश्वर' की फलश्रुति सुनाई थी।

आज 'ओङ्कारेश्वर-धाम' हुक्कालेसन महाल के नाम से जाना जाता है, जो काशी के 'अलईपुर' महाल के समीप है।

[७५]

त्रिलोचन-माहात्म्य

त्रिलोचन महादेव-क्षेत्र काशी में **'विरजापीठ'** के नाम से विख्यात है। वहाँ पर जो लिंग है, उसे **'त्रिविष्टप'** कहते हैं। 'विरजापीठ' नाम का कारण यह है कि उक्त पीठ के दर्शनमात्र से मनुष्य रजोगुण से हीन हो जाता है। 'त्रिलोचन' से दक्षिण की ओर उस लिंग को स्नान कराने के लिए तीन पातकहारिणी नदियाँ– (१) सरस्वती, (२) यमुना और (३) नर्मदा , स्रोतरूप धारण किए हुए हैं। अपने-अपने नामानुकूल तीन लिङ्गों को–(१) दक्षिण में **सरस्वतीश्वर,** (२) पश्चिम में **यमुनेश्वर** और पूर्व में **नर्मदेश्वर**–कुम्भों से त्रिकाल स्नान कराती रहती हैं। उसी के समीप पिलपिलातीर्थ है। वहाँ स्नान कर 'त्रिलोचन' के दर्शन से नर जन्म-मरणादि समस्त सांसारिक भयों से मुक्त हो जाता है। त्रिविष्टप के स्मरण से मानव स्वर्गाधिपति और दर्शन से ब्रह्मपद का अधिकारी हो जाता है। त्रिलोचन का नाम-श्रवण भी सप्तजन्मार्जित पाप-मोचक है। श्रवण-दर्शनादि के अपार फल हैं।

पिलपिलातीर्थ में स्नान और 'त्रिविष्टप' के दर्शन का बड़ा माहात्म्य है। अन्यत्र-कृत पाप काशी-दर्शन से नष्ट हो जाते हैं। पर काशी में कृत पाप मानव को पिशाच बना देते हैं। यदि प्रमादवश काशी में कोई पातक हो जाय, तो वह 'त्रिविष्टप'-लिंग-दर्शन से छूट जाता है; क्योंकि समस्त भूमण्डल में आनन्दकानन-क्षेत्र सर्वश्रेष्ठ है। उसमें तीर्थस्थान बहुत से हैं, पर उनमें 'ओङ्कारेश्वर' प्रधान हैं और उनसे भी श्रेष्ठतर हैं त्रिलोचन। यथा च–

"तत्रापि सर्वतीर्थानि ततोऽप्योङ्कारभूमिका।
ओङ्कारादपि सल्लिङ्गान् मोक्षवर्त्मप्रकाशकात्॥
अतिश्रेष्ठतरं लिङ्गं श्रेयोरूपं त्रिलोचनम्॥ (का. ख. ७५।२३-२४)

त्रिलोचन-पूजकों को मोक्षलक्ष्मी अनायास ही प्राप्य हैं। 'त्रिलोचन महादेव' की एक बार पूजा भी शताधिक पूर्वजन्मार्जित पापनाशक है। यथा–

"ब्रह्महाऽपि सुरापो वा स्तेयी वा गुरुतल्पगः।
तत्संयोग्यपि वर्षपर्यन्तं महापापी प्रकीर्तितः॥
परदाररतश्चापि परहिंसारतोऽपि वा।
परापवादशीलोऽपि तथा विस्रम्भघातकः॥
कृतघ्नोऽपि भ्रूणहापि वृषलीपतिरेव वा।
मातापितृगुरुत्यागी वह्निदो गरदोऽपि वा॥

गोघ्नः स्त्रीघ्नोऽपि शूद्रघ्नः कन्यादूषयिताऽपि च ।
क्रूरो वा पिशुनो वापि निजधर्मपराङ्मुखः ॥
निन्दको नास्तिको वापि कूटसाक्ष्यप्रवादकः ।
अभक्ष्यभक्षको वापि तथाऽविक्रेयविक्रयी ॥
इत्यादिपापशीलोऽपि भुक्त्यैकं शिवलिङ्गकम् ।
पापान्निष्कृतिमाप्नोति नत्वा लिङ्गं त्रिलोचनम्" ॥ (कां. ख. ७५।३३-३८)

शिवनिन्दक तब तक नरकदुःखभोगी होते हैं, जब तक चन्द्र-दिवाकर हैं । काशीवास का अपार पुण्य है–

"पुरश्चरणकामोऽसि भीतोऽसि पापतः ।
मन्यते यदि नः सत्यं वाक्यं शास्त्रप्रमाणतः ॥
ततः सर्वं परित्यज्य कृत्वा मनसि निश्चितम् ।
आनन्दकाननं याहि यत्र विश्वेश्वरः स्वयम्" ॥ (वही, ७५।४४-४५)

इसी प्रसंग में पाशुपतव्रत एवं पाशुपतव्रतधारियों की महिमा विस्तार से गाई गई है । शिवनिन्दक और शिवनिन्दा की निन्दा की गई है । काशी, आनन्दकानन और त्रिलोचन की षोडशोपचार पूजा का विस्तृत फल-स्तवन है । अन्त में कहा गया है–जप, प्रदक्षिणा, नमस्कार–परिचारक-पुजारियों को प्रचुर दक्षिणा देकर स्वयं कहे और ब्राह्मणों से कहलाए–"मैं निष्पाप हो गया"–तब सब सफल है । 'त्रिलोचन' के दर्शन का दिन-रात पुण्यकाल है । पार्वती को बताया गया है–"पूर्वकाल में यह लिंग, योगावस्था में ही भुवस्तल से सातों पातालों को भेदकर प्रकट हुआ था । उसी में स्थित भगवान् ने (तुमको) गौरी को त्रिनेत्र दिया था, जिससे त्रिलोचन का दर्शन सुलभ हुआ" । तभी से ज्ञानदृष्टिदाता भगवान् को 'त्रिलोचन' कहते हैं । (तदनन्तर दर्शन-पूजन की फलश्रुति है)। अष्टमी और चतुर्दशी को दर्शन का माहात्म्य है । वहीं समीपस्थ शान्तनवलिंग दर्शन की भी महिमा कही गई है । 'अश्वत्थामेश्वर' लिंग भी पास में ही है । 'द्रोणेश्वर' भी वहीं है । वहीं 'वाल्मीकेश्वर' आदि लिंग भी हैं । 'त्रिविष्टप'-माहात्म्यवर्णन अगले अध्याय में भी है ।

[सूच्य–यह पहले 'अन्नबाजार' था और 'त्रिलोचन' वाट–'तिरलोचन की पसेरी' भी प्रसिद्ध थी । उसी नाम से आज भी मुहल्ला है ।]

विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठाङ्काः

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीमन्महर्षिव्यासविरचिते

स्कन्दमहापुराणे

काशीखण्डः

(उत्तरार्द्धः)

॥ अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

अगस्तिरुवाच–

पार्वतीहृदयानन्द सर्वज्ञाङ्गभव प्रभो ।
किञ्चित्प्रष्टुमनाः स्वामिंस्तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १ ।
दक्षप्रजापतेः पुत्री कश्यपस्य परिग्रहः ।
गरुत्मतः प्रसूः साध्वी कुतो दास्यमवाप सा ॥ २ ।

रामं नमामि परमात्मसुखप्रकाशं विश्वस्य यज्जननपालनभङ्गमेकम् ।
स्वेच्छावतारमतसीकुसुमावभासं श्रीजानकीसमुपलालितपादपद्मम् ॥ १
यत्कृपातरणिं प्राप्य निस्तीर्णोऽहं भवार्णवम् ।
सदयं तं गुरुं वन्दे श्रीरामेन्द्रवनाऽभिधम् ॥ २ ।
गुणरत्नोदधिः सर्वदोषकारणघस्मरः ।
जयतात्सच्चिदानन्दः सदाशिवकृतीश्वरः ॥ ३ ॥
अरुणवृद्धकेशवादित्या विमलगङ्गायमादित्याश्च ।
वर्ण्यन्तेऽत्र षडनुक्रमादेकपञ्चाशत्तमेऽध्याये ॥

अतीतेऽध्याये कद्र्वाः काद्रवेयानां च श्रुतं विनताया दास्यमघटमानं मन्वानः पृच्छति– पार्वतीत्यादिना ॥ १-२ ।

(अरुणादित्य, वृद्धादित्य, केशवादित्य, विमलादित्य, गंगादित्य और यमादित्य की कथायें)

अगस्त्य मुनि बोले–

हे पार्वतीहृदयानन्दवर्धन ! सर्वज्ञनन्दन ! स्वामिन् ! प्रभो ! यदि आप कृपा करके कहें, तो मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ ॥ १ ।

सच्चरित्रा विनता दक्ष प्रजापति की पुत्री, महर्षि कश्यप की सहधर्मिणी एवं गरुड़ की माता होने पर भी क्यों दासी हुई थी ? ॥ २ ।

स्कन्द उवाच–

हंजिकात्वं यथा प्राप्ता विनता सा तपस्विनी ।
तदप्यहं समाख्यामि निशामय महामते ॥ ३ ।

कद्रूरजीजनत्पुत्रान् शतं कश्यपतः पुरा ।
उलूकमरुणं तार्क्ष्यमसूत विनता त्रयम् ॥ ४ ।

कौशिको राज्यमाप्याऽपि श्रेष्ठत्वात्पक्षिणां मुने ।
निर्गुणत्वाच्च तैः सर्वैः स राज्यादवरोपितः ॥ ५ ।

क्रूराक्षोऽयं दिवान्धोऽयं सदा वक्रनखस्त्वसौ ।
अतीवोद्वेगजनकं सर्वेषामस्य भाषणम् ॥ ६ ।

पुत्रशापाद्दासीत्वं प्राप्तवतीति वक्तुं तदुक्तमनूद्य तदाख्यानं प्रतिजानीते । **हंजिकात्वमिति । हंजिकात्वं दासीत्वम् ।** यदाहाऽमरः–"हंडे हंजे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रतीति" । हन्त दास्यमिति क्वचित् । दासिक्यं त्विति चान्यत्र ॥ ३ ।

उलूकः पेचकः ॥ ४ ।

कौशिकोऽपि स एव तैः, पक्षिभिः सकौशिक इत्यन्वयः । स्वराज्यादिति वा पाठः । अवरोपितो निराकृतः ॥ ५ ।

निराकरणे हेतुमाह–क्रूराक्षोऽयमित्यक्षरद्वयन्यूनेन सार्धेन ॥ ६ ।

स्कन्द ने कहा–

हे महामते ! अगस्त्य ! वह तपस्विनी विनता जिस कारण से दासी हुई थी, उस कथा को भी मैं कहता हूँ, श्रवण करो ॥ ३ ।

पूर्वकाल में कश्यप ऋषि से कद्रू के एकशत पुत्र और विनता के उलूक, अरुण और गरुड़–ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४ ।

हे मुनिवर ! उलूक को विनता के पुत्रों में ज्येष्ठ होने से पक्षियों का राज्य-पदं पाने पर भी सब पक्षियों ने मिलकर उसे निर्गुण कह राज्यासन से उतार दिया ॥ ५ ।

यह तो क्रूर-नेत्र दिन में अन्धा और टेढ़े नसों (नासिका) वाला है और फिर इसकी बोली सदैव सब लोगों को बड़ी ही उद्वेगजनक (डरावनी) होती है ॥ ६ ।

इत्थं तस्य गुणग्रामान् विकथ्य बहुशः खगाः ।
नाद्याऽपि वृण्वते राज्ये कमपि स्वैरचारिणः ॥ ७ ।
कौशिकेऽथ तथा वृत्ते पुत्रवीक्षणलालसा ।
अण्डं प्रस्फोटयामास मध्यमं विनता तदा ॥ ८ ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रस्फोट्यं घटसम्भव ।
तदभेदि तयौत्सुक्यादण्डमष्टमके शते ॥ ९ ।
तावत्सर्वाणि गात्राणि तस्याऽतिमहसः शिशोः ।
ऊर्वोरुपरि सिद्धानि तदण्डान्तर्निवासिनः ॥ १० ।
अण्डान्निर्गतमात्रेण क्रोधारुणमुखश्रिया ।
अर्धनिष्पन्नदेहेन शिशुनाऽशापिता प्रसूः ॥ ११ ।
जनयित्रि त्वया दृष्ट्वा काद्रवेयान् स्वलीलया ।
खेलतो मातुरुत्सङ्गे यदण्डं व्याधि तद्द्विधा ॥ १२ ।

विकथ्य कथयित्वा । विकर्ण्येति पाठे आलोच्येत्यर्थः । व्यकत्थन्निति पाठे व्यकत्थयन्निन्दितवन्त इत्यर्थः । अत एवाऽद्याऽपि स्वैरचारिणस्ते खगा अन्यं वा निर्गुणं कमपि राजत्वे न वृण्वत इति पूर्वेणैवाऽन्वयः ॥ ७ ।

यद्यस्मात् । व्याधि अव्याधि । अडभाव आर्षः । अभेदीत्यर्थः । वाधितं द्विधेति क्वचित्पाठः । स्फोटितं त्विति चान्यत्र ॥ १२ ।

इस भाँति उसकी बड़ी निन्दा करते हुए पक्षिगण स्वेच्छाचारी होकर आज तक किसी को अपना राजा नहीं बनाते ॥ ७ ।

विनता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र उलूक की वैसी दुर्दशा देखकर पुत्र के देखने ही की लालसा से बिचले अंडे को भी तोड़ (फोड़) डाला ॥ ८ ।

हें कुंभज ! उस अंडे को पूरे सहस्र वर्ष पर फोड़ना चाहिये था; परन्तु उसने मारे उत्कंठा के आठ सौ ही वर्ष में उसे फोड़ दिया ॥ ९ ।

(अठवाँसा हो जाने से) उस अंडे के भीतर रहने वाले परम तेजस्वी बच्चे के घुटनों के (जंघा के) ऊपर का समस्त शरीर सिद्ध हो गया था (गर्भ में बन गया था), (पर पैर नहीं बन पाया था) ॥ १० ।

अंडे से निकलते ही अर्द्धनिष्पन्न शरीर उस बच्चे ने क्रोध से रक्तमुख होकर माता को शाप दिया ॥ ११ ।

'हे जननि ! तुमने अपनी सौत की गोद में उसके लड़कों को स्वेच्छानुसार खेलते हुए देखकर (डाह से) जो इस अंडे को दो टुकड़े कर डाला ॥ १२ ।

तदनिष्पन्नसर्वाङ्गः शपामि त्वां विहङ्गमे ।
तेषामेवैधि दासी त्वं सपत्न्यङ्गभुवामिह ॥ १३ ।
वेपमानाऽथ तच्छापादिदं प्रोवाच पक्षिणी ।
अनूरो ब्रूहि मे शापाऽवसानं मातुरङ्गज ॥ १४ ।

अनूरुरुवाच–

अण्डं तृतीयं मा भिन्धि ह्यनिष्पन्नं ममेव हि ।
अस्मिन्नण्डे भविष्यो यः स ते दास्यं हरिष्यति ॥ १५ ।
इत्युक्त्वा सोऽरुणोऽगच्छदुड्डीयाऽऽनन्दकाननम् ।
यत्र विश्वेश्वरो दद्यादपि पङ्गोः शुभां गतिम् ॥ १६ ।
एतत्ते पृच्छतः ख्यातं विनतादास्यकारणम् ।
मुने प्रसङ्गतो वच्मि अरुणादित्यसम्भवम् ॥ १७ ।

तत्तस्मात् । एधि भव । एहीति पाठे आ समन्ताद् गच्छेत्यर्थः । सपत्न्यङ्गभुवां कद्रूदरजातानाम् । सपत्नी च तदङ्गभुवश्च तेषामिति वा । सपत्न्यङ्गभुवा सहेति सपत्न्याः कद्रवा यदङ्गं शरीरं तद्भुवा पुत्रेण सहेति व्याख्येयम् ॥ १३ ।

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतानेव षडादित्यानाह–इत्युक्त्वेति । पङ्गोः श्रोणस्य । यदाहाऽमरः–'श्रोणः पङ्गाविति' ॥ १६ ।

इससे मेरा सर्वांग पूर्ण नहीं होने पाया । अतएव हे पक्षिणि ! मैं तुमको शाप देता हूँ कि तुम उसी सौत और उसके पुत्रों की दासी होगी' ॥ १३ ।

पुत्र के शापभय से काँपती हुई विनता ने यह कहा कि, 'बेटा ! अनूरो ! (विना जंघावाले पुत्र !) मुझ माता का शापावसान भी तो कह दो'॥ १४ ।

अरुण ने कहा–

'हे मातः ! तुम इस तीसरे अंडे को भी मेरे जैसा कच्चा ही मत फोड़ डालना; क्योंकि इसी अंडे से जो उत्पन्न होगा, वही तुम्हारे दासीभाव को दूर करेगा' ॥ १५ ।

यह कहकर अरुण नामक वे पुत्र (तुरन्त आकाश में) उड़कर आनन्दवन में चले गये, जहाँ पर भगवान् विश्वेश्वर पंगुल को भी अच्छी गति दे देते हैं ॥ १६ ।

हे मुने ! यह तो मैंने तुम्हारे पूछने से विनता के दासी होने का कारण कह सुनाया, अब मैं प्रसंग आ जाने से अरुणादित्य का भी उपाख्यान कहता हूँ ॥ १७ ।

अनूरुत्वादनूरुर्योऽरुणः क्रोधाऽरुणो यतः ।
वाराणस्यां तपस्तप्त्वा तेनाऽराधि दिवाकरः ॥ १८ ।
सोऽपि प्रसन्नो दत्वाऽथ वरांस्तस्मा अनूरवे ।
आदित्यस्तस्य नाम्नाऽभूदरुणादित्य इत्यपि ॥ १९ ।

अर्क उवाच–

तिष्ठानूरो मम रथे सदैव विनतात्मज ।
जगतां च हितार्थाय ध्वान्तं विध्वंसयन् पुरः ॥ २० ।
अत्र त्वत्स्थापितां मूर्तिं ये भजिष्यन्ति मानवाः ।
वाराणस्यां महादेवोत्तरे तेषां कुतो भयम् ॥ २१ ।
येऽर्चयिष्यन्ति सततमरुणादित्यसंज्ञकम् ।
मामत्र तेषां नो दुःखं न दारिद्र्यं न पातकम् ॥ २२ ।
व्याधिभिर्नाऽभिभूयन्ते नोपसर्गैश्च कैश्चन ।
शोकाग्निना न दह्यन्ते ह्यरुणादित्यसेवनात् ॥ २३ ।

अनूरुररुण इति नामद्वयं निर्वक्ति । अनूरुत्वादिति । यः अनूरुत्वाज्जान्वोरुपरिभागरहितत्वादनूरुः । यतो यस्मात् क्रोधेन अरुण ईषल्लोहितवर्ण इति कृत्वाऽरुणश्च कथ्यते । तेन वाराणस्यां तपस्तप्त्वा सूर्य आराधित इत्यर्थः ॥ १८ ।

(अरुणादित्योपाख्यान)

जंघा न रहने से वे अनूरु रह गए । अतः क्रोध से रक्तवर्ण होने से उन्हें अरुण कहते हैं । वे ही काशी में जाकर तपस्या के द्वारा सूर्यनारायण की आराधना करने लगे ॥ १८ ।

भगवान् सूर्य भी प्रसन्न हो, उस भक्त अनूरु को वर देकर उसी के नाम से अरुणादित्य कहलाने लगे ॥ १९ ।

सूर्य ने कहा–

'हे विनतानन्दन ! अनूरो ! तुम सदैव मेरे रथ पर बैठे रहो और त्रैलोक्य के हितार्थ (मेरे उदय के पूर्व से ही) अन्धकार का विध्वंस करते रहो ॥ २० ।

इस काशीपुरी में जो मनुष्य तुम्हारे द्वारा स्थापित (मेरी) मूर्ति की, जो महादेव के उत्तर ओर है, सेवा करेंगे, पुनः उनको भय कहाँ है ? ॥ २१ ।

जो लोग नित्य यहाँ पर 'अरुणादित्य' के नाम से मेरा पूजन करेंगे, उनको दुःख, दारिद्र्य, और पातक कभी नहीं होंगे ॥ २२ ।

अरुणादित्य[1] के सेवन से न तो किसी भाँति की व्याधियाँ होती हैं, न कोई बाधा पहुँचा सकते हैं और न कदापि शोकाग्नि ही उसका दहन कर सकता है ॥ २३ ॥

---

1. 'त्रिलोचन मन्दिर' में 'अरुणादित्य की मूर्ति' है । (सम्पादक)

अथ स्यन्दनमारोप्य नीतवानरुणं रविः ।
अद्याऽपि स रथे सौरे प्रातरेव समुद्यति ॥ २४ ।
यः कुर्यात्प्रातरुत्थाय नमस्कारं दिने दिने ।
अरुणाय ससूर्याय तस्य दुःखभयं कुतः ॥ २५ ।
अरुणादित्यमाहात्म्यं यः श्रोष्यति नरोत्तमः ।
न तस्य दुष्कृतं किञ्चिद् भविष्यति कदाचन ॥ २६ ।

स्कन्द उवाच–

वृद्धादित्यस्य माहात्म्यं शृणु ते कथयाम्यहम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण नरो नो दुष्कृतं भजेत् ॥ २७ ।
पुराऽत्र वृद्धहारीतो वाराणस्यां महातपाः ।
महातपःसमृद्ध्यर्थं समाराधितवान् रविम् ॥ २८ ।
मूर्तिं संस्थाप्य शुभदां भास्वतः शुभलक्षणाम् ।
दक्षिणेन विशालाक्ष्या दृढभक्तिसमन्वितः ॥ २९ ।

अरुणाय ससूर्याय सूर्यसहिताय । अरुणोदयसूर्यायेति क्वचित्पाठः ॥ २५ ।

वृद्धश्चासौ नाम्ना गोत्रतो वा हारीतश्च वृद्धहारीतः ॥ २८ ।

भास्वतः सूर्यस्य । दक्षिणेन विशालाक्ष्याः विशालाक्ष्या दक्षिणे इत्यर्थः ॥ २९ ।

इसके पीछे सूर्य अरुण को अपने रथ पर चढ़ाकर ले गये । तब से आज तक सूर्य के रथ पर प्रभातकाल में अरुण उदय होते हैं ॥ २४ ।

जो कोई प्रतिदिन प्रातःकाल में सोकर उठते ही सूर्य को एवं अरुण को प्रणाम करता है, उसे दुःखों का भय कहाँ है ? ॥ २५ ।

'अरुणादित्य' के इस माहात्म्य को जो कोई सुनेगा, उसे कभी किसी प्रकार की दुष्कृति का भागी नहीं होना पड़ेगा ॥ २६ ।

स्कन्द फिर कहने लगे–

(अगस्त्य मुने ! अब) वृद्धादित्य की महिमा को मैं कहता हूँ । उसे आप श्रवण करें । उसके सुनने से ही मनुष्य निष्पाप हो जाता है ॥ २७ ।

पूर्वकाल में इसी वाराणसी धाम में 'वृद्धहारीत' नामक एक बड़े तपस्वी थे । (वे बड़े बूढ़े हो गये थे ।) दृढ़ भक्तिपूर्वक उग्र तपस्या की समृद्धि के लिये विशालाक्षी देवी के दक्षिण ओर शुभप्रदा और शुभलक्षणों से युक्त एक मूर्ति स्थापन कर वे सूर्यदेव की आराधना करने लगे ॥ २८-२९ ।

तुष्टस्तस्मै वरं प्रादाद् ब्रध्नो वृद्धतपस्विने ।
अलं विलम्ब्य याचस्व कस्ते देयो वरो मया ॥ ३० ।
सोऽथ प्रसन्नाद् द्युमणेरवृणीत वरं मुनिः ।
यदि प्रसन्नो भगवान् युवत्वं देहि मे पुनः ॥ ३१ ।
तपःकरणसामर्थ्यं स्थविरस्य न मे यतः ।
पुनस्तारुण्यमाप्तोऽहं चरिष्याम्युत्तमं तपः ॥ ३२ ।
तप एव परो धर्मस्तप एव परं वसु ।
तप एव परः कामो निर्वाणं तप एव हि ॥ ३३ ।
ऋते न तपसः क्वापि लभ्या ऐश्वर्यसम्पदः ।
पदं ध्रुवादिभिः प्रापि केवलं तपसो बलात् ॥ ३४ ।
ततस्तपश्चरिष्यामि लोकद्वयमहत्त्वदम् ।
प्राप्य त्वद्वरदानेन यौवनं सर्वसम्मतम् ॥ ३५ ।

ब्रध्नः सूर्यः ॥ ३० ॥
द्युमणेः सूर्यात् । युवत्वं तारुण्यम् ॥ ३१ ।
वसु धनम् । निर्वाणं मोक्षः ॥ ३३ ।
ऋते विना ॥ ३४ ।

(वृद्धादित्योपाख्यान)

उग्र तपस्या से सन्तुष्ट होकर सूर्य ने उस वृद्ध तपस्वी से कहा–'अब विलम्ब मत करो, जो चाहो मुझसे वर माँग लो। मैं देने को सन्नद्ध हूँ' ॥ ३० ।

तब उस मुनि ने परम प्रसन्न सूर्य से यह वरदान माँगा कि 'हे भगवन् ! यदि आप प्रसन्न हैं, तो मुझे फिर जवानी दीजिये' ॥ ३१ ।

क्योंकि मैं अब वृद्ध हो गया हूँ। इससे तपस्या करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। यदि चेत् मैं फिर तरुण हो जाऊँ, तो अत्युत्तम तपस्या कर सकूँगा ॥ ३२ ।

तप ही परम धर्म है, तप ही परम धन है, तप ही परम काम है और तप ही मोक्ष भी है ॥ ३३ ।

तपस्या को छोड़कर दूसरे किसी प्रकार से ऐश्वर्य की समृद्धियाँ कहीं भी नहीं मिल सकती हैं; क्योंकि ध्रुव इत्यादि महात्मा जनों ने भी केवल तपस्या के ही बल से उत्तम पद को प्राप्त किया है ॥ ३४ ।

सुतराम् मैं भी आपके अनुग्रह-रूप वरदान से सर्वसम्मत यौवन पाकर उभय-लोक में बड़ाई देनेवाली तपस्या का ही अनुष्ठान करूँगा ॥ ३५ ।

धिग् जरां प्राणिनामत्र यया सर्वो विरज्यति ।
जरातुरेन्द्रियग्रामे स्त्रियोऽपि न यतः स्वसात् ॥ ३६ ।
वरं मरणमेवाऽस्तु मा जरास्त्वतिशोच्यकृत् ।
क्षणं दुःखं च मरणं जरादुःखं क्षणे क्षणे ॥ ३७ ।
काङ्क्षन्ति दीर्घतपसे चिरमायुर्जितेन्द्रियाः ।
धनं दानाय पुत्राय कलत्रं मुक्तये धियम् ॥ ३८ ।
वृद्धस्य वार्धकं ब्रध्नस्तत्क्षणादपहृत्य वै ।
ददौ च चारुताहेतुं तारुण्यं पुण्यसाधनम् ॥ ३९ ।
एवं स वृद्धहारीतो वाराणस्यां महामुनिः ।
सम्प्राप्य यौवनं ब्रध्नात्तप उग्रं चचार ह ॥ ४० ।
वृद्धेनाऽऽराधितो यस्माद्धारीतेन तपस्विना ।
आदित्यो वार्धकहरो वृद्धादित्यस्ततः स्मृतः ॥ ४१ ।

जरया आतुर इन्द्रियग्रामो यस्य तस्मिन् । जरातुरेन्द्रियग्रामानिति क्वचित् । स्वसात् आत्मसात् स्वाधीना इत्यर्थः ॥ ३६ ।

धियं ज्ञानम् ॥ ३८ ।

इस संसार में जिससे सभी लोग विरक्त हो जाते हैं, प्राणियों की इस जरा को धिक्कार है ! क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ जराग्रस्त हो जाती हैं, फिर स्त्रियाँ भी उसके वश में नहीं रहती हैं ॥ ३६ ।

उसका मर जाना ही अच्छा है; परन्तु परम शोचनीय यह जरा न हो; क्योंकि मरने में तो क्षणमात्र का दुःख है; परन्तु यह जरा का दुःख क्षण-क्षण में सताता रहता है ॥ ३७ ।

जितेन्द्रिय लोग, बहुत काल तक तपस्या करने के ही लिये दीर्घ आयु, दान करने के लिए धन, पुत्रोत्पादन के हेतु पत्नी और मुक्तिसाधन के निमित्त उत्तम बुद्धि के उपार्जन करने की अभिलाषा करते रहते हैं ॥ ३८ ।

भगवान् सूर्य ने तुरन्त उस बूढ़े ऋषि की बुढ़ौती को दूर कर, अतिसुन्दरता का हेतु और पुण्यों का साधन तारुण्य दे दिया ॥ ३९ ।

इस रूप से महामुनि 'वृद्धहारीत' ने वाराणसी पुरी में सूर्य नारायण के प्रसाद से यौवन पाकर घोर तपस्या की थी ॥ ४० ।

तपस्वी 'वृद्धहारीत' की आराधना करने से (उस मूर्ति का) वृद्धादित्य नाम पड़ा और वे बुढ़ापा को दूर करने वाले कहे जाते हैं ॥ ४१ ।

वृद्धादित्यं समाराध्य वाराणस्यां घटोद्भव ।
जरादुर्गतिरोगघ्नं बहवः सिद्धिमागताः ॥ ४२ ।
वृद्धादित्यं नमस्कृत्य वाराणस्यां रवौ नरः ।
लभेदभीप्सितां सिद्धिं न क्वचिद्दुर्गतिं लभेत् ॥ ४३ ।

स्कन्द उवाच–

अतः परं शृणु मुने केशवादित्यमुत्तमम् ।
यथा तु केशवं प्राप्य सविता ज्ञानमाप्तवान् ॥ ४४ ।
व्योम्नि संचरमाणेन सप्ताश्वेनादिकेशवः ।
एकदाऽदर्शि भावेन पूजयन् लिङ्गमैश्वरम् ॥ ४५ ।
कौतुकादिव उत्तीर्य हरे रविरुपाविशत् ।
निःशब्दो निश्चलः स्वस्थो महाश्चर्यसमन्वितः ॥ ४६ ।
प्रतीक्षमाणोऽवसरं किञ्चित्प्रष्टुमना हरिम् ।
हरिं विसर्जिताऽर्चञ्च प्रणनाम कृताञ्जलिः ॥ ४७ ।

उपाविशदुप समीपे विवेश । किमर्थमाविशदित्याकाङ्क्षायामाह–**निःशब्द** इति । स्वस्थो निरुद्विग्नः ॥ ४६ ।

अवसरमवकाशम् ॥ ४७ ।

हे घटयोने ! काशीपुरी में बहुत से लोगों ने इस जरा, दुर्गति और रोगों के विनाशक 'वृद्धादित्य' की उपासना करके (बड़ी) सिद्धि को प्राप्त किया है ॥ ४२ ।

वाराणसी क्षेत्र में जो कोई रविवार को वृद्धादित्य[1] की वन्दना करता है, उसे कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती । वह जन अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ४३ ।

(केशवादित्योपाख्यान)

स्कन्द बोले–

हे मुने ! अब 'केशवादित्य' की उत्तम महिमा सुनिये । जैसे सूर्य ने केशव को पाकर उनसे ज्ञान प्राप्त किया था (उसे भी कहता हूँ) ॥ ४४ ।

आकाश में भ्रमण करते हुए सूर्य ने एक बार आदिकेशव को भक्तिभाव से शिवलिंग की पूजा करते हुए देखा ॥ ४५ ।

यह देख, सूर्य मानो कौतुक से (भूतल पर, काशी में) उतर कर भगवान् केशव के पास चुपचाप जाकर निश्चलरूप से स्वस्थचित्त हो बड़े आश्चर्य में आकर खड़े रहे और केशव से कुछ पूछने की इच्छा से अवसर की प्रतीक्षा

---

1. 'वृद्धादित्य' का मन्दिर मीरघाट पर हनुमान् जी के मंदिर के पास एक घेरे में है। (सम्पादक)

स्वागतं ते हरिः प्राह बहुमानपुरःसरम् ।
स्वाभ्याश आसयामास भास्वन्तं नतकन्धरम् ॥ ४८ ।
अथाऽवसरमालोक्य लोकचक्षुरधोक्षजम् ।
नत्वा विज्ञापयामास कृतानुज्ञोऽसुरारिणा ॥ ४९ ।

रविरुवाच–

अन्तरात्माऽसि जगतां विश्वम्भर जगत्पते ।
तवाऽपि पूज्यः कोऽप्यस्ति जगत्पूज्याऽत्र माधव ॥ ५० ।
त्वत्तश्चाविर्भवेदेतत्त्वयि सर्वं प्रलीयते ।
त्वमेव पाता सर्वस्य जगतो जगतां निधे ॥ ५१ ।
इत्याश्चर्यं समालोक्य प्राप्तोऽस्म्यत्र तवाऽन्तिकम् ।
किमिदं पूज्यते नाथ भवता भवतापहृत् ॥ ५२ ।
इति श्रुत्वा हृषीकेशः सहस्रांशोरुदीरितम् ।
उच्चैर्मा शंस सप्ताश्वं वारयन् करसंज्ञया ॥ ५३ ।

स्वाभ्याशे स्वसमीपे । आसयामास उपवेशयामास ॥ ४८ ।

भवतापहृत् संसारदुःखनाशकः ॥ ५२ ।

करसंज्ञया हस्तचालनेन । उच्चैर्यथा स्यात्तथा मा शंसेति सप्ताश्वं वारयन् श्रीविष्णुरुवाचेत्यन्वयः ॥ ५३ ।

करने लगे । अनन्तर जब विष्णु लिंगपूजन कर चुके (तब अवकाश पाकर) सूर्य ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ४६-४७ ।

विष्णु ने भी बड़े ही आदर-सत्कार के साथ उनका आगत-स्वागत करके प्रणतकन्धर सूर्य को अपने समीप में बैठाया ॥ ४८ ।

अनन्तर अवसर देखकर सूर्य विष्णु को प्रणाम कर उनसे आज्ञा लेकर निवेदन करने लगे ॥ ४९ ।

सूर्य बोले–

हे जगत्पते ! विश्वभर ! आप तो समस्त जगत् के अन्तरात्मा हैं, अतएव हे माधव ! आप ही जगत् मात्र के पूजनीय हैं; परन्तु यहाँ पर क्या कोई आपका भी पूज्य है ? ॥ ५० ।

हे जगदाधार ! यह समस्त संसार आप ही से उत्पन्न होता है और आप ही इसकी रक्षा करते हैं और फिर यह सब कुछ आप ही में लीन भी हो जाता है (तो फिर आप किसे पूजते हैं ?) ॥ ५१ ।

हे नाथ ! यही आश्चर्य देखकर मैं आपके पास आया हूँ कि आप स्वयं भवतापभंजक होकर भी यह किसकी पूजा कर रहे हैं ? ॥ ५२ ।

सूर्य का यह वचन सुनकर विष्णु ने हाथ के संकेत से उनको उच्च स्वर से बोलने का निषेध कर दिया ॥ ५३ ।

श्रीविष्णुरुवाच–

देवदेवो महादेवो नीलकण्ठ उमापतिः ।
एक एव हि पूज्योऽत्र सर्वकारणकारणम् ॥ ५४ ।
अत्र त्रिलोचनादन्यं समर्चयति योऽल्पधीः ।
सलोचनोऽपि विज्ञेयो लोचनाभ्यां विवर्जितः ॥ ५५ ।
एको मृत्युञ्जयः पूज्यो जन्ममृत्युजराहरः ।
मृत्युञ्जयं किलाऽभ्यर्च्य श्वेतो मृत्युञ्जयोऽभवत् ॥ ५६ ।
कालकालं समाराध्य भृङ्गीकालं जिगाय वै ।
शैलादिमपि तत्याज मृत्युर्मृत्युञ्जयाऽर्चकम् ॥ ५७ ।
विजिग्ये त्रिपुरं यस्तु हेलयैकेषु मोक्षणात् ।
तं समभ्यर्च्य भूतेशं को न पूज्यतमो भवेत् ॥ ५८ ।

महादेव इति । महत्त्वं त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वम् । देवत्वं स्वप्रकाशत्वम् । सर्वेषां प्रकृत्यादीनां कारणानामपि कारणं सर्वकारणकारणम् । सर्वेषां सर्वकारणमिति क्वचित् ॥ ५४ ।

विजिग्ये जितवान् । जिगायेति क्वचित् ॥ ५८ ।

श्रीविष्णु कहने लगे–

इस काशीधाम में समस्त कारणों के भी कारण, देवाधिदेव, नीलकंठ, भगवान्, उमापति महादेव ही एकमात्र पूजनीय हैं ॥ ५४ ।

यहाँ पर जो मन्दबुद्धि जन भगवान् त्रिलोचन को छोड़ दूसरे किसी देवता का पूजन करता है, उसे दोनों लोचन रहते भी लोचन से हीन ही समझना चाहिए ॥ ५५ ।

एकमात्र जन्म, मृत्यु और जरा का हरण करने वाले मृत्युंजय ही सब के पूज्यतम हैं; क्योंकि राजा श्वेतकेतु ने मृत्युंजय के ही पूजन-बल से मृत्यु को भी पराजित कर दिया था ॥ ५६ ।

भृंगी ने भी तो काल के भी काल महाकाल ही की आराधना के बल से काल को जीता था और मृत्यु ने शिलाद के पुत्र को भी मृत्युंजय का अभ्यर्चक होने ही से छोड़ दिया था ॥ ५७ ।

जिसके अनायास एक बाण फेंक देने ही से त्रिपुर का पराजय हो गया, उस भूतनाथ शिव की पूजा करने से कौन परम पूज्य नहीं हो जाता है ? ॥ ५८ ।

त्रिजगज्जयिनो हेतोस्त्र्यक्षस्याऽऽराधनं परम् ।
को नाराधयति ब्रध्नसारस्य स्मरविद्विषः ॥ ५९ ।
यस्याऽक्षिपक्ष्मसंकोचाज्जगत्संकोचमेत्यदः ।
विकस्वरं विकासाच्च कस्य पूज्यतमो न सः ॥ ६० ।
शम्भोर्लिङ्गं समभ्यर्च्य पुरुषार्थचतुष्टयम् ।
प्राप्नोत्यत्र पुमान् सद्यो नात्र कार्या विचारणा ॥ ६१ ।
समर्च्य शाम्भवं लिङ्गमपि जन्मशतार्जितम् ।
पापपुञ्जं जहात्येव पुमानत्र क्षणाद्ध्रुवम् ॥ ६२ ।
किं किं न संभवेदत्र शिवलिङ्गसमर्चनात् ।
पुत्राः कलत्रक्षेत्राणि स्वर्गो मोक्षोऽप्यसंशयम् ॥ ६३ ।
त्रैलोक्यैश्वर्यसम्पत्तिर्मया प्राप्ता सहस्रगो ।
शिवलिङ्गार्चनादेकात्सत्यं सत्यं पुनः पुनः ॥ ६४ ।

त्रिजगदिति । त्रिजगज्जयशीलस्य हेतोः कारणस्य त्र्यक्षस्याराधनं परं परमपुरुषार्थप्राप्तिसाधनमित्यर्थः । अतः सारस्य विश्वेशस्य । स्मरस्येति क्वचित्पाठः संचिन्त्यः । स्मरविद्विषः कामशत्रोः को नाऽऽराधयति आराधनं न करोति; अपि तु सर्व एव करोतीत्यर्थः । कर्मणि वा षष्ठ्यौ । हेतुरिति प्रथमान्तपाठे त्रिजगज्जयिनो मम अन्यस्य वा यस्य कस्यचित्त्रिलोचनस्य श्रेष्ठमाराधनमेव जयहेतुरित्यर्थः । तथा च वक्ष्यति–त्रैलोक्यैश्वर्यसम्पत्तिर्मया प्राप्ता सहस्रगो । शिवलिङ्गार्चनादेकादिति । शेषं पूर्ववत् ॥ ५९ ।

एकात् मुख्यात् केवलाद्वा ॥ ६४ ।

त्रैलोक्य-विजयशील, कारणभूत, भगवान् महादेव की आराधना ही परमपुरुषार्थ का साधन है । हे सूर्य ! जिनके नेत्र की पलक गिर पड़ने से ही (निमेष मात्र से) संसार का लय हो जाता है और फिर आँख खोलते ही जगत् खिल उठता है, वे कामनाशन विश्वनाथ किसके परमपूज्य नहीं हैं और कौन उनका पूजन नहीं करता ? ॥ ५९-६० ।

यहां पर महादेव के लिंग का पूजन करके मनुष्य चारों ही पुरुषार्थों को तुरन्त प्राप्त करता है । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ६१ ।

शिवलिंग के पूजन करने से मनुष्य सैकड़ों जन्म की संचित पापराशि को छोड़ ही देता है, यह बात ध्रुव है ॥ ६२ ।

यहाँ पर शिवलिंग के समर्चन से क्या-क्या फल नहीं मिलता ? निःसन्देह पुत्र, कलत्र, क्षेत्र, स्वर्ग और मोक्ष सब कुछ प्राप्त हो जाता है ॥ ६३ ।

हे सहस्ररश्मे ! मैंने केवल शिवलिंगार्चन से ही त्रैलोक्य भर की समस्त ऐश्वर्य-सम्पत्ति प्राप्त की है, यह बात बारंबार सत्य है ॥ ६४ ।

अयमेव परो योगस्त्विदमेव परं तपः ।
इदमेव परं ज्ञानं स्थाणुलिङ्गं यदर्च्यते ॥ ६५ ।
यैर्लिङ्गं सकृदप्यत्र पूजितं पार्वतीपतेः ।
कुतो दुःखभयं तेषां संसारे दुःखभाजने ॥ ६६ ।
सर्वं परित्यज्य रवे यो लिङ्गं शरणं गतः ।
न तं पापानि बाधन्ते महान्त्यपि दिवाकर ॥ ६७ ।
लिङ्गार्चने भवेद् बुद्धिस्तेषामेवाऽत्र भास्कर ।
येषां पुनर्भवच्छेदं चिकीर्षति महेश्वरः ॥ ६८ ।
न लिङ्गाराधनात्पुण्यं त्रिषु लोकेषु चापरम् ।
सर्वतीर्थाभिषेकः स्याल्लिङ्गस्नानाम्बुसेवनात् ॥ ६९ ।
तस्माल्लिङ्गं त्वमप्यर्क समर्चय महेशितुः ।
संप्राप्तुं परमां लक्ष्मीं महातेजोभिजृम्भणीम् ॥ ७० ।
इति श्रुत्वा हरेर्वाक्यं तदारभ्य सहस्रगुः ।
विधाय स्फाटिकं लिङ्गं मुनेऽद्याऽपि समर्चयेत् ॥ ७१ ।

महेशितुः महेश्वरस्य ॥ ७० ।
उत्तरेण उत्तरस्याम् ॥ ७२ ।

इस स्थान पर एक शिवलिंग का पूजन ही परम योगाभ्यास, उग्र तपस्या और सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ ६५ ।

जिन लोगों ने यहाँ पर एक बार भी पार्वतीनाथ के लिंग का पूजन कर लिया, उनको इस दुःखभाजन संसार में फिर दुःख का कौन डर है ? ॥ ६६ ।

हे दिवाकर ! जो कोई सब कुछ त्यागकर केवल शिवलिंग ही के शरण में चला जाता है, हे रवे ! उसे बड़े से बड़े पाप भी दुःखित नहीं करते ॥ ६७ ।

हे भास्कर ! महेश्वर जिनको पुनर्जन्म के दुःख से मुक्त करना चाहते हैं, उन्हीं की बुद्धि यहाँ पर शिव के लिंगार्चन में दृढ़ हो जाती है ॥ ६८ ।

शिव के लिंगाराधन से बढ़कर त्रैलोक्य में दूसरा कुछ भी पुण्यकर्म नहीं है; क्योंकि एक शिवलिंग के स्नान-जल के ही सेवन कर लेने से समस्त तीर्थों के स्नान का फल मिल जाता है ॥ ६९ ।

अतएव हे सूर्य ! तुम भी सर्वोत्कृष्ट महातेजोऽभिवर्धिनी लक्ष्मी पाने के लिये शिवलिंग का समर्चन करो ॥ ७० ।

हे मुने ! विष्णु के इस वचन को सुनकर सूर्यदेव तभी से स्फटिकमणि का शिवलिंग बनाकर अद्यावधि पूजन करते हैं ॥ ७१ ।

गुरुत्वेन तदाकल्य विवस्वानादिकेशवम् ।
तत्रोपतिष्ठतेऽद्याऽपि उत्तरेणादिकेशवात् ॥ ७२ ।
अतः स केशवादित्यः काश्यां भक्ततमोनुदः ।
समर्चितः सदा देयान्मनसो वाञ्छितं फलम् ॥ ७३ ।
केशवादित्यमाराध्य वाराणस्यां नरोत्तमः ।
परमं ज्ञानमाप्नोति येन निर्वाणभाग् भवेत् ॥ ७४ ।
तत्र पादोदके तीर्थे कृतसर्वोदकक्रियः ।
विलोक्य केशवादित्यं मुच्यते जन्मपातकैः ॥ ७५ ।
अगस्ते रथसप्तम्यां रविवारो यदाप्यते ।
तदा पादोदके तीर्थे आदिकेशवसन्निधौ ॥ ७६ ।
स्नात्वोषसि नरो मौनी केशवादित्यपूजनात् ।
सप्तजन्मार्जितात्पापान्मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥ ७७ ।

पादोदके गङ्गावरुणयोः संभेदे ॥ ७५ ।

रथसप्तमी अचलासप्तमी ॥ ७६ ।

और आदिकेशव को गुरु मानकर भगवान् सूर्य आज तक 'आदिकेशव'[1] के उत्तरभाग में वहीं पर खड़े रहते हैं ॥ ७२ ।

और उनका नाम 'केशवादित्य है' और वे काशी में भक्तों के तम को दूर करते हैं और पूजित होने पर सदैव मनोवांछित फल देते हैं ॥ ७३ ।

उत्तम नर वाराणसी पुरी में 'केशवादित्य' के आराधन से उस परम (तत्त्व) ज्ञान को पा जाता है, जिसके द्वारा अन्त में निर्वाण पद का भागी होता है ॥ ७४ ।

वहाँ पर पादोदकतीर्थ में समस्त स्नानादि जल-कर्मों को कर केशवादित्य के दर्शन करने से ही जीव समस्त जन्म के पापों से छुटकारा पा जाता है ॥ ७५ ।

हे अगस्त्य ! माघ-शुक्ल सप्तमी को जब रविवार पड़ जाय, तब उस पादोदकतीर्थ में आदिकेशव के समीप ही प्रातःकाल मौनी होकर स्नान के अनन्तर केशवादित्य के पूजन करने से मनुष्य उसी घड़ी (तत्काल) सात जन्म के संचित पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ७६-७७ ।

---

1. वरना संगम पर 'आदिकेशव'-मंदिर में । (संपादक)

'यद्यज्जन्मकृतं पापं मया सप्तसु जन्मसु ।
तन्मे रोगं च शोकं च माकरी हन्तु सप्तमी ॥ ७८ ।
एतज्जन्मकृतं पापं यच्च जन्मान्तरार्जितम् ।
मनोवाक्कायजं यच्च ज्ञाताऽज्ञाते च ये पुनः ॥ ७९ ।
इति सप्तविधं पापं स्नानान्मे सप्तसप्तिके ।
सप्तव्याधिसमायुक्तं हर माकरि सप्तमि ॥ ८० ।
एतन्मन्त्रत्रयं जप्त्वा स्नात्वा पादोदके नरः ।
केशवादित्यमालोक्य क्षणान्निष्कलुषो भवेत् ॥ ८१ ।
केशवादित्यमाहात्म्यं शृण्वन् श्रद्धासमन्वितः ।
नरो न लिप्यते पापैः शिवभक्तिं च विन्दति ॥ ८२ ।

स्कन्द उवाच–

अतः परं शृणु मुने विमलादित्यमुत्तमम् ।
हरिकेशवने रम्ये वाराणस्यां व्यवस्थितम् ॥ ८३ ।

तत्र स्नानस्य पूर्वाङ्गं मन्त्रत्रयमाह । यद्यदित्यादि । जन्मसु कृतं जन्मकृतं जन्मारभ्य यत्पापं कृतमित्यर्थः । माकरी मकरसम्बन्धिनी माघीत्यर्थः॥ ७८ ।

मनोवाक्कायजादीनि पापानि भविष्यज्जन्मविषयाण्यपीति ज्ञातव्यानि ॥ ७९ ।

सप्तसप्तयोऽश्वाः यस्याः सा सप्तसप्तिका सौरीशक्तिरित्यर्थः, तस्याः सम्बोधनं हे सप्तसप्तिके ॥ ८० ।

मैंने सात जन्म में जो-जो पाप किये हों, उन्हें और मेरे शोक और रोग को यह मकर-संक्रान्ति की सप्तमी नष्ट कर देवे" ॥ ७८ ।

"इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में, मन से, वचन से, शरीर से, ज्ञान से और अज्ञान से जो (पाप) किये गये हों 'इन सातों प्रकार के पापों को सातों व्याधियों के सहित, हे सप्तसप्तिके ! माकरि ! सप्तमि ! तुम हरण कर लो" ॥ ७९-८० ।

जो मनुष्य इन तीनों श्लोकरूप मंत्रों को पढ़ता हुआ पादोदकतीर्थ में स्नान करके आदिकेशव का दर्शन करता है, वह क्षणमात्र में निष्पाप हो जाता है ॥ ८१ ।

श्रद्धायुक्त होकर जो कोई केशवादित्य का माहात्म्य सुनता है, वह पाप में कभी नहीं पड़ता और शिव की भक्ति को पाता है ॥ ८२ ।

(विमलादित्योपाख्यान)

स्कन्द ने फिर कहा–

हे मुनिवर ! अब 'विमलादित्य' के उत्तम इतिहास का श्रवण करो, जो कि काशी के हरिकेश वन में विराजमान हैं ॥ ८३ ।

उच्चदेशेऽभवत्पूर्वं विमलो नाम बाहुजः ।
स प्राक्तनात्कर्मयोगाद्विमले पथ्यपि स्थितः ॥ ८४ ।
कुष्ठरोगमवाप्योच्चैस्त्यक्त्वा दारान् गृहं वसु ।
वाराणसीं समासाद्य ब्रध्नमाराधयत्सुधीः ॥ ८५ ।
करवीरैर्जपाभिश्च गन्धकैः किंशुकैः शुभैः ।
रक्तोत्पलैरशोकैश्च स समानर्च भास्करम् ॥ ८६ ।
विचित्ररचनैर्माल्यैः पाटलाचम्पकोद्भवैः ।
कुङ्कुमागुरुकर्पूरमिश्रितैः शोणचन्दनैः ॥ ८७ ।
देवमोहनधूपैश्च बह्वामोदतताम्बरैः ।
कर्पूरवर्तिदीपैश्च नैवेद्यैर्घृतपायसैः ॥ ८८ ।
अर्घदानैश्च विधिवत् सौरैः स्तोत्र जपैरपि ।
एवं समाराधयतस्तस्याऽर्को वरदोऽभवत् ॥ ८९ ।

उच्चदेशे पर्वतदेशे तन्नाम्नीति वा । बाहुजः क्षत्रियः । बाहू राजन्यः कृत इति श्रुतेः ॥ ८४ ।

गन्धकैः गन्धयुक्तैरिति सर्वेषां विशेषणम् । बन्धूकैरिति वा पाठः ॥ ८६ ।

शोणचन्दनैः रक्तचन्दनैः ॥ ८७ ।

बह्वामोदतताम्बरैः बहुलगन्धानेकवस्त्रैः । बहुना आमोदेन ततं व्याप्तमम्बर-माकाशं यैस्तैदेर्वमोहनधूपैरिति वा । बहुभिर्देवतापरैरिति क्वचित्पाठः । तदा देवतैकोद्देशेन सम्पादितैरित्यर्थः । घृतपायसैर्घृतालोडितपरमान्नैः । घृतसाधितैरिति क्वचित्पाठः ॥ ८८ ।

पूर्वकाल में पर्वतीय उच्चदेश में विमलनामक एक क्षत्रिय था । वह विमलमार्ग ही से चलता था; परन्तु पूर्वजन्म के कर्मफल से वह कुष्ठरोगी हो गया था । फिर वह बुद्धिमान् अपनी स्त्री, घर और धन इत्यादि सब को छोड़ काशी में आकर सूर्य की आराधना करने लगा ॥ ८४-८५ ।

नित्य ही कनइल (कनेर), अड़हुल, दुपहरिया, परास, रक्ताशोक और रक्त-कमल के उत्तम पुष्पों से एवं पाटला (गुलाब) और चंपक की विचित्र गुँथी हुई मालाओं से, केशर, अगर, कपूर के सहित रक्त चन्दन से और बड़े सुगन्धपूर्ण देवमोहन धूप से तथा क़पूर की बत्तीवाले दीपों से एवं घृत और पायस के नैवेद्यों से विधिवत् अर्घ्यदान और सूर्य के स्तोत्र-पाठों से आराधना करते हुए उस विमल वर्मा के ऊपर प्रसन्न होकर सूर्यदेव वरदान देने आये ॥ ८६-८९ ।

उवाच च वरं ब्रूहि विमलामलचेष्टित ।
कुष्ठश्च ते प्रयात्वेष प्रार्थयाऽन्यं वरं पुनः ॥ ९० ।
आकर्ण्य विमलश्चेत्थमालापं रश्मिमालिनः ।
प्रणतो दण्डवद्भूमौ संप्रहृष्टतनूरुहः ॥ ९१ ।
शनैर्विज्ञापयाञ्चक्रे एकचक्ररथं रविम् ।
जगच्चक्षुरमेयात्मन् महाध्वान्तविधूनन ॥ ९२ ।
यदि प्रसन्नो भगवन् यदि देयो वरो मम ।
तदा त्वद्भक्तिनिष्ठा ये कुष्ठं माऽस्तु तदन्वये ॥ ९३ ।
अन्येऽपि रोगा मा सन्तु माऽस्तु तेषां दरिद्रता ।
माऽस्तु कश्चन सन्तापस्त्वद्भक्तानां सहस्रगो ॥ ९४ ।

श्रीसूर्य उवाच–

तथाऽस्त्विति महाप्राज्ञ शृण्वन्यं वरमुत्तमम् ।
त्वयेयं पूजिता मूर्ति रवे काश्यां महामते ॥ ९५ ।
अस्याः सान्निध्यमत्राऽहं न त्यक्ष्यामि कदाचन ।
प्रथिता तव नाम्ना च प्रतिमैषा भविष्यति ॥ ९६ ।

वे कहने लगे, "हे विमलचेष्टित ! 'विमल' वर माँगो, तुम्हारा कुष्ठ तो छूट ही जायेगा, पर तुम और भी दूसरे वर की याचंना करो" ॥ ९० ।

भगवान् रश्मिमाली के इस आलाप को सुनकर प्रसन्नता से रोमांचित शरीर होकर विमल ने भूमि पर संमुख होकर दण्डवत् प्रणाम किया ॥ ९१ ।

तदनन्तर बहुत धीरे में एक चक्र के रथवाले सूर्य से निवेदन किया– हे अपरिमेयात्मन् ! घोर अन्धकार के विनाशक ! भगवन् ! जगच्चक्षु ! यदि आप प्रसन्न होकर मुझे वरदान करते हैं, तो हे नाथ ! जो लोग आपके भक्त हों, उनके कुल में कभी कुष्ठ न हो । हे सहस्रकिरण ! और जो आपके सेवक हों, उन्हें न तो दूसरे ही रोग हों, न कभी दरिद्रता हो और न किसी भाँति का संताप ही होने पावे ॥ ९२-९४ ।

श्रीसूर्य ने कहा–

"तथाऽस्तु"–हे परमविज्ञ ! विमल ! (वर्मन्) एक और भी उत्तम वरदान सुन लो, काशी में तुमने इस मूर्ति का पूजन किया है ॥ ९५ ।

अतएव हे महामते ! मैं इस मूर्ति से कभी न हटूँगा (वरन् सर्वदा इसमें बना रहूँगा) और यह प्रतिमा तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगी ॥ ९६ ।

विमलादित्य इत्याख्या भक्तानां वरदा सदा ।
सर्वव्याधिनिहन्त्री च सर्वपापक्षयङ्करी ॥ ९७ ।
इति दत्वा वरान् सूर्यः तत्रैवान्तरधीयत ।
विमलो निर्मलतनुः सोऽपि स्वभवनं ययौ ॥ ९८ ।
इत्थं स विमलादित्यो वाराणस्यां शुभप्रदः ।
तस्य दर्शनमात्रेण कुष्ठरोगः प्रणश्यति[1] ॥ ९९ ।
यश्चैतां विमलादित्यकथां वै शृणुयान्नरः ।
प्राप्नोति निर्मलां शुद्धिं त्यज्यते च मनोमलैः ॥ १०० ।

स्कन्द उवाच–

गङ्गादित्योऽस्ति तत्राऽन्यो विश्वेशाद्दक्षिणेन वै ।
तस्य दर्शनमात्रेण नरः शुद्धिमियादिह ॥ १०१ ।
यदा गङ्गा समायाता भगीरथपुरस्कृता ।
तदा गङ्गां परिष्टोतुं रविस्तत्रैव संस्थितः ॥ १०२ ।

अर्थात् इसका नाम 'विमलादित्य' पड़ेगा और यह मूर्ति सर्वदा भक्तजनों को वर देगी, उनके समस्त व्याधियों का विनाश करेगी एवं समग्र पापों का भी क्षय कर डालेगी ॥ ९७ ।

यह कहकर सूर्यनारायण वहाँ पर ही अन्तर्धान हो गये, वह विमल भी विमल (नीरोग) शरीर होकर अपने घर पर चला गया ॥ ९८ ।

इस प्रकार से वाराणसी में 'विमलादित्य'[2] परमशुभप्रद हैं, उनके केवल दर्शन ही से कुष्ठरोग प्रनष्ट हो जाता है ॥ ९९ ।

जो मनुष्य विमलादित्य की इस कथा का श्रवण करता है, वह निर्मल शुद्धि को पाता है और मानसिक समस्त मलों से छूट जाता है ॥ १०० ।

(गङ्गादित्योपाख्यान)

स्कन्द बोले–

उसी काशी में विश्वनाथ से दक्षिण की ओर एक दूसरे सूर्य हैं । उनका नाम गंगादित्य है, उनके दर्शनमात्र से मनुष्य परम विशुद्ध हो जाता है ॥ १०१ ।

जब राजर्षि भगीरथ के रथखात में बनाये गये मार्ग में–नहर में-गंगा बहती चली आती थीं, तब गंगा की स्तुति करने के लिये सूर्यदेव वहाँ पर जा विराजे ॥ १०२ ।

---

1. प्रशाम्यतीति क्वचित्पाठः ।
2. गोदौलिया चौमुहानी के समीप जंगमबाड़ी में विमलादित्य का स्थान है । (संपादक)

अद्याप्यहर्निशं गङ्गां सम्मुखीकृत्य भास्करः ।
परिष्टौति प्रसन्नात्मा गंगाभक्तवरप्रदः ॥ १०३ ।
गङ्गादित्यं समाराध्य वाराणस्यां नरोत्तमः ।
न जातु दुर्गतिं क्वापि लभते न च रोगभाक् ॥ १०४ ।

स्कन्द उवाच—

अन्यच्छृणु महाभाग यमादित्यस्य संभवम् ।
यच्छ्रुत्वाऽपि नरो जातु यमलोकं न पश्यति ॥ १०५ ।
यमेशात्पश्चिमे भागे वीरेशात्पूर्वतो मुने ।
यमादित्यं नरो दृष्ट्वा यमलोकं न पश्यति ॥ १०६ ।
यमतीर्थे नरः स्नात्वा भूतायां भौमवासरे ।
यमेश्वरं विलोक्याशु सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ॥ १०७ ।

और तब से आज तक भगवान् भास्कर गंगा को सन्मुख कर प्रसन्न मन से गंगा के भक्तों को वर प्रदान करते हुए, रात्रि-दिन उसी गंगा की स्तुति करते रहते हैं ॥ १०३ ।

जो उत्तम नर काशी में 'गंगादित्य'[1] की आराधना करता है, उसे न तो कभी कोई दुर्गति ही भोगनी पड़ती है और न वह रोगभागी ही होता है ॥ १०४ ।

(यमादित्योपाख्यान)

कार्तिकेय ने फिर कहा—

हे महाभाग ! अब यमादित्य के प्रादुर्भाव का उपाख्यान भी श्रवण कर लो, जिसके सुनने से मनुष्य को कभी यमलोक नहीं देखना पड़ता ॥ १०५ ।

हे मुनिवर ! जिस यमादित्य के दर्शन करने सें फिर कभी यमलोक नहीं देखना पड़ता, वह (यमघाट पर) 'यमेश्वर' की पश्चिम ओर, (आत्मा)वीरेश्वर के पूर्वभाग में विराजमान हैं ॥ १०६ ।

जब मंगलवार को चतुर्दशी तिथि पड़ जावे, तब जो मनुष्य 'यमतीर्थ' में स्नान करके यमेश्वर का दर्शन करता है, वह शीघ्र ही अशेष पापों से निर्मुक्त हो जाता है ॥ १०७ ।

---

1. ललिताघाट पर इनका स्थान है। (संपादक)

यमतीर्थे यमः पूर्वं तप्त्वा सुविमलं तपः ।
यमेशं च यमादित्यं प्रत्यष्ठाद् भक्तसिद्धिदम् ॥ १०८ ।
यमेन स्थापितो यस्मादादित्यस्तत्र कुम्भज ।
अतः स हि यमादित्यो यामीं हरति यातनाम् ॥ १०९ ।
यमेशं च यमादित्यं यमेन स्थापितं नमन् ।
यमतीर्थे कृतस्नानो यमलोकं न पश्यति॥ ११० ।
यमतीर्थे चतुर्दश्यां भरण्यां भौमवासरे ।
तर्पणं पिण्डदानं च कृत्वा पित्रनृणी भवेत् ॥ १११ ।
अभिलष्यन्ति सततं पितरो नरकौकसः ।
भौमे भरण्यां भूतायां यदि योगोऽयमुत्तमम् ॥ ११२ ।
काश्यां कश्चिद्यमे तीर्थे कृत्वा स्नानं महामतिः ।
अपि यस्तर्पणं कुर्यात् सतिलं नो विमुक्तये ॥ ११३ ।

प्रत्यष्ठात् स्थापितवान् ॥ १०८ ।

अभिलष्यन्ति आकाङ्क्षन्ति । किं तदाह । भौम इति । मङ्गलवासरे भरण्यां भरणीनक्षत्रयुक्तायां चतुर्दश्याम् । भरण्यां भूतायामिति व्यधिकरणे वा सप्तम्यौ । काश्यां यमतीर्थे स्नात्वा नोऽस्माकं मुक्तये यः कश्चिदपि सतिलं तर्पणमपि किं कुर्यात्करिष्यति—इत्यग्रिमेणाऽन्वयः । ननु तर्पणमात्रेण कथं नरकान्मुक्तिः स्यात्तत्राह । यदि योगोऽयमिति । यदीति निश्चये । योगः त्रयाणां मेलनम् ॥ ११२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ।

यमतीर्थ पर पूर्वकाल में यमराज ने बड़ी ही उज्ज्वल तपस्या करके यमेश्वरनामक शिवलिंग और यमादित्य नामक सूर्य-मूर्ति की—जो कि भक्तों को सिद्धिप्रद हैं—प्रतिष्ठा की थी ॥ १०८ ।

यमराज की स्थापना करने से ही सूर्यदेव का नाम 'यमादित्य' विख्यात हुआ है और हे कुंभज ! वे यमादित्य यमराज की यातना भोगने से बचा देते हैं ॥ १०९ ।

यमतीर्थ में स्नान कर यमराज के द्वारा स्थापित यमेश्वर और यमादित्य को प्रणाम करने से ही यमलोक का दर्शन नहीं होने पाता ॥ ११० ।

जो कोई यमतीर्थ में मंगलवार और भरणी नक्षत्रयुक्त चतुर्दशी तिथि के दिन तर्पण और पिण्डदान करता है, वह पितरों के ऋण से छूट जाता है ॥ १११ ।

नरकंवासी पितृगण सर्वदा यही अभिलाषा किया करते हैं कि, जब भौमवार भरणी नक्षत्र को चतुर्दशी तिथि मिल जाने से यह उत्तम योग आ जावे, तब (मेरे वंश का) कोई महाबुद्धिमान् काशीक्षेत्र कें यमतीर्थ में स्नान कर हम सबकी मुक्ति के लिये यदि तिल का तर्पण भी कर देता, तो हमलोग तृप्त हो जाते ॥ ११२-११३ ।

किं गयागमनैः पुंसां किं श्राद्धैर्भूरिदक्षिणैः ।
यदि काश्यां यमे तीर्थे योगेऽस्मिन् श्राद्धमाप्यते ॥ ११४ ।
श्राद्धं कृत्वा यमे तीर्थे पूजयित्वा यमेश्वरम् ।
यमादित्यं नमस्कृत्य पितॄणामनृणो भवेत् ॥ ११५ ।

स्कन्द उवाच–

इति ते द्वादशादित्याः कथिताः पापनाशनाः ।
यत्सम्भवं समाकर्ण्य नरो न निरयी भवेत् ॥ ११६ ।
अन्येऽपि सन्ति घटज रविभक्तैरनेकशः ।
काश्यां संस्थापिताः सूर्या गुह्यकार्कादयः किल ॥ ११७ ।
श्रुत्वाऽध्यायानिमान् पुण्यान् द्वादशादित्यसूचकान् ।
श्रावयित्वाऽपि नो मर्त्यो दुर्गतिं याति कुत्रचित् ॥ ११८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे अरुणवृद्धकेशवविमलगङ्गायमादित्यवर्णनं नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ।

गया जाने से अथवा लम्बी दक्षिणा का श्राद्ध करने से कौन प्रयोजन है ? यदि काशी के यमतीर्थ पर उक्त योग में श्राद्ध मिल जाय ॥ ११४ ।

यमतीर्थ में श्राद्ध, यमेश्वर का पूजन और यमादित्य के नमस्कार करने ही से मनुष्य पितरों के ऋण से छूट जाता है ॥ ११५ ।

स्कन्द ने कहा–

हे अगस्त्य ! यह तो मैंने तुमसे पापनाशक द्वादश आदित्यों का वर्णन किया, इनके प्रादुर्भाव की कथा सुनने से मनुष्य नरकभागी नहीं होता ॥ ११६ ।

हे घटयोने ! सूर्यभक्तों के स्थापित और भी अनेक गुह्यकादित्य प्रभृति सूर्य (मूर्तियाँ) काशी में विराजमान हैं ॥ ११७ ।

इन द्वादशादित्य की कथावाले अध्यायों के सुनने और सुनाने से मनुष्य कहीं भी दुर्गति में, नहीं पड़ता है ॥ ११८ ।

सुनै द्वादशादित्य के, जो इतिहास पुनीत ।
कटे रोग सब दुख मिटै, घटे न वित सुख मीत ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायाम्
अरुणादित्य-वृद्धादित्य-विमलादित्य-गंगादित्य-यमादित्यकथावर्णनं
नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ।

॥ अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

गभस्तिमालिनि गते काशीं त्रैलोक्यमोहिनीम् ।
पुनश्चिन्तामवापोच्चैर्मन्दरस्थो मुने हरः ॥ १ ।
नाद्याप्यायान्ति योगिन्यो नाद्याप्यायाति तिग्मगुः ।
प्रवृत्तिरपि मे काश्याश्चित्रमत्यन्तदुर्लभा ॥ २ ।
किमत्र चित्रं यत्काशी मदीयमपि मानसम् ।
निश्चलं चञ्चलयति गणना केतरे सुरे ॥ ३ ।
अधाक्षिषमहं कामं त्रिजगज्जित्त्वरं दृशा ।
अहो काश्यभिलाषोऽत्र मामेव दुनुयात्तराम् ॥ ४ ।

द्विपञ्चाशत्तमे यानं विधेर्मन्दरगोत्रतः ।
काश्यां दशाश्वमेधस्य माहात्म्यं चोपवर्ण्यते ॥ १ ।

तिग्मास्तीक्ष्णा गावो रश्मयो यस्य स तिग्मगुः ॥ २ ।

योगिन्यः तिग्मगुश्चानन्दवनं प्राप्य काशीवृत्तान्तं निवेदयितुं नायात्येतन्न चित्रमित्याह । **किमत्रेति** ॥ ३ ।

अपिशब्दार्थं विवृण्वन् पूर्वोक्तमेव स्फुटयति **अधाक्षिषमिति** । अधाक्षिषं दग्धवानस्मि । त्रिजगज्जित्त्वरं त्रिजगज्जयशीलम् । दृशा नेत्रेण । काश्यभिलाषाख्यः काम इति शेषः । दुनुयात्तरामतिशयेन तापयति । दहतेतरामिति क्वचित् ॥ ४ ।

(दशाश्वमेध का वर्णन)

स्कन्द बोले–

हे मुने ! सूर्यदेव के त्रैलोक्यमोहिनी काशीपुरी में चले जाने पर मंदराचलवासी भगवान् महादेव फिर बड़ी चिन्ता करने लगे ॥ १ ।

(यह क्या हुआ जो) न तो आज तक योगिनियाँ लौटीं, न सूर्य ही लौटकर आये ! बड़ा ही आश्चर्य है ! मुझे तो काशी के समाचार का मिलना ही अत्यन्त दुर्लभ जान पड़ता है ॥ २ ।

यह कौन-सी विचित्र बात है, जब कि काशी मेरे भी दृढ़ चित्त को चंचल कर रही है, तो अन्य देवताओं की कौन गिनती है ? ॥ ३ ।

अहो ! त्रैलोक्यविजयी कामदेव को मैंने ही अपने नेत्र की ज्वाला से भस्म कर दिया था; परन्तु आज काशी की अभिलाषा मुझी को जलाये देती है ॥ ४ ।

काशीप्रवृत्तिमन्वेष्टुं कं वा प्रहिणुयामितः ।
ज्ञातुं क एव निपुणो यतः स चतुराननः ॥ ५ ।
इत्याहूय विधातारं बहुमानपुरःसरम् ।
तत्रोपवेश्य श्रीकण्ठः प्रोवाच चतुराननम् ॥ ६ ।
योगिन्यः प्रेषिताः पूर्वं प्रेषितोऽथ सहस्रगुः ।
नाऽद्यापि ते निवर्तन्ते काश्याः कमलसम्भव ॥ ७ ।
सा समुत्सुकयेत्काशी लोकेश मम मानसम् ।
प्राकृतस्य जनस्येव चञ्चलाक्षीव काचन ॥ ८ ।
मन्दरेऽत्र रतिर्मे न भृशं सुन्दरकन्दरे ।
अनच्छतुच्छपानीये नक्रस्येवाऽल्पपल्वले ॥ ९ ।

काशीति । काश्या वृत्तान्तमन्वेष्टुं कं जनं वा वितर्के प्रहिणुयां प्रस्थापयामि । यद्वा वा निश्चये । कं ब्रह्माणमेव प्रहिणुयामिति । तत्र हेतुर्ज्ञातुमिति । ज्ञातुं काशीप्रवृत्तिमित्यनुषज्जते । ब्रह्मैव दक्षः तत्र हेतुर्यतः स चतुरानन इति ॥ ५ ।

तत्र पार्श्वे । उपोपवेश्येति वा पाठः ॥ ६ ।

कलशसम्भवेति अगस्त्यं प्रति गुहस्य सम्बोधनम् । कमलसम्भवेति पाठे ब्रह्मणः सम्बोधनम् ॥ ७ ।

अरतौ दृष्टान्तः । अनच्छेति । अल्पपल्वले अल्पे सरसि ॥ ९ ।

काशी का समाचार लेने को अब यहाँ से किसे भेजूँ, (ब्रह्मा ही को भेजूँ) ? इसके समझने में तो ब्रह्मा ही बड़े चतुर हैं; क्योंकि उनका नाम ही 'चतुरानन'[1] है ॥ ५ ।

यही स्थिर कर, महादेव ने ब्रह्मा को बड़े आदर के साथ बुलाकर और अपने पास में बैठाकर, उनसे कहा—'हे कमलसंभव ! मैंने पहले तो योगिनियों को भेजा, फिर सूर्य को भी भेजा; परन्तु आज तक वे सब काशी से नहीं लौटे ॥ ६-७ ।

हे लोकनाथ ! वह काशी तो मेरे चित्त को ऐसा उत्कंठित कर रही है, जैसे किसी चंचलाक्षी कामिनी के लिये कोई सामान्य जन उत्सुक हो जाता है ॥ ८ ।

जैसे छोटे से गड़हे में निर्मल और अगाध जल न रहने से नाक (जलजन्तु) की प्रसन्नता नहीं होती, वैसे ही इस अत्यन्त सुन्दर कन्दरा वाले मन्दराचल पर (अब) मेरा मन तनिक भी नहीं लगता ॥ ९ ।

---

1. पौराणिक या लौकिक व्युत्पत्ति के अनुसार चतुर + आनन = अर्थात् अनेक प्रकार की वाक्-कला में परम प्रवीण (सम्पादक) ।

नाऽबाधिष्ट तथा मां स तापो हालाहलोद्भवः ।
काशीविरहजन्माऽत्र यथा मामतिबाधते ॥ १० ।
शीतरश्मिः शिरस्थोऽपि वर्षन् पीयूषसीकरैः ।
काशीविश्लेषजं तापं नाहो गमयितुं प्रभुः ॥ ११ ।
विधे विधेहि मे कार्यमार्यधुर्य महामते ।
याहि काशीमितस्तूर्णं यतस्व च ममेहिते ॥ १२ ।
ब्रह्मंस्त्वमेव तद्वेत्सि काशीत्यजनकारणम् ।
मन्दोऽपि न त्यजेत्काशीं किमु यो वेत्ति किञ्चन ॥ १३ ।
अद्यैव किं न गच्छेयं काशीं ब्रह्मन् स्वमायया ।
दिवोदासं स्वधर्मस्थं न तूल्लङ्घितुमुत्क्रये ॥ १४ ।

नाऽबाधिष्ट न बाधितवान् ॥ १० ।

ईहते चेष्टिते कार्ये इति यावत् ॥ १२ ।

तद्वेत्सीति । त्वद्वाक्यगौरवं मन्दरवरप्रदानं च तच्छब्दार्थः । मन्दो मूर्खः ॥ १३ ।

तर्हीश्वरस्य तव गमनप्रतिबन्धकाभावात् स्वयमेव किमिति न गम्यते तत्राहाद्यैवेति । स्वमायया स्वशक्त्या पार्वत्या सहेत्यर्थः ॥ १४ ।

पहले भी जब मैंने हलाहल विष का पान किया था, तब भी मुझे ऐसा संताप नहीं हुआ जैसा कि, आज काशी का विरह मुझको सता रहा है ॥ १० ।

अधिक क्या कहें, यह मेरे शिर में विराजमान शीतरश्मि चन्द्रमा अमृत के कणों की वर्षा करके इस काशी के विरह से उत्पन्न सन्ताप को दूर हटाने में समर्थ नहीं हैं ॥ ११ ।

हे महामते ! सर्वश्रेष्ठ ! विधे ! तुम मेरे इस कार्य को सिद्ध कर दो, तुम अभी यहाँ से काशी को चले जाओ और मेरे हित-साधन का श्रम उठाओ ॥ १२ ।

हे ब्रह्मन् ! मेरे काशी त्यागने का कारण तुम भलीभाँति जानते हो । अरे, कोई मूर्ख भी काशी को नहीं छोड़ता, फिर जो कुछ भी समझता होगा उसकी कौन बात है ? ॥ १३ ।

हे विधातः ! मैं तो आज ही अपनी माया से काशी में चला जाता, पर क्या करूँ, अपने धर्म पर आरूढ़ राजा दिवोदास का उल्लंघन नहीं किया चाहता ॥ १४ ।

विधे सर्वविधेयानि त्वमेव विदधासि यत् ।
इति चेति च वक्तव्यं त्वय्यपार्थमतोऽखिलम् ॥ १५ ।
अरिष्टं गच्छ पन्थास्ते शुभोदर्को भवत्वलम् ।
आदायाज्ञां विधिर्मूर्ध्नि ययौ वाराणसीं मुदा ॥ १६ ।
सितहंसरथस्तूर्णं प्राप्य वाराणसीं पुरीम् ।
कृतकृत्यमिवात्मानममन्यत तदात्मभूः ॥ १७ ।
हंसयानफलं मेऽद्य जातं काशीसमागमे ।
काशीप्राप्तौ यतः प्रोक्ता अन्तरायाः पदे पदे ॥ १८ ।
दृशिधातुरभूदद्य मद्दृशौ प्राप्य सान्वयः ।
स्पष्टं दृष्टिपथं प्राप्ता यदेषाऽऽनन्दवाटिका ॥ १९ ।

विधे इति । हे विधे ! हे विधातः ! यतः सर्वकार्याणि त्वमेव विदधासि करोष्यतोऽखिलमिति चेति चैवं त्वया कर्तव्यमिति यद्वक्तव्यं तत्त्वय्यपार्थमपगतार्थं व्यर्थमित्यर्थः । त्वयापार्थमिति पाठः सुगमः । कर्तव्यं त्वयीति पाठे अपार्थमव्यर्थमिति काक्वा व्याख्येयमिति ॥ १५ ।

रिष्टं शुभाभावः, अरिष्टं तदभावः, शुभं यथा स्यात्तथा गच्छ । **"रिष्टं क्षेमे शुभाभावे पुंसि खड्गे च फेनिल"** इति मेदिनीकारः । **शुभोदर्कः शुभोत्तरफलः** ॥ १६ ।

सिताः शुभ्राः हंसा यस्मिन्, स रथो यस्य सः ॥ १७ ।

दृशिरिति । दृशिर् प्रेक्षणे इति दृशिधातुः । दृश्यतेऽनयेति दृक् चक्षुः । मद्दृशौ मच्चक्षुषी । सान्वयः सार्थकः । यद्यस्मात् ॥ १९ ।

हे विधे ! तुम्हीं तो समस्त विधियों के विधाता हो, अतएव तुमको क्या कहना है, इसका उपदेश देना तो सर्वथा व्यर्थ ही है । "बहुत बुझाइ तुमहिं का कहहूँ । परम चतुर मैं जानत अहहूँ । काज हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई" (तु. रा.) ॥ १५ ।

तुम निर्विघ्न यात्रा करो, तुम्हारा पथ अत्यन्त शुभफलदायक हो'–इस प्रकार से महादेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर ब्रह्मदेव बड़े हर्ष से वाराणसी को चले ॥ १६ ।

अनंतर श्वेतहंसवाहनारूढ़ ब्रह्मा अत्यन्त शीघ्र ही काशीपुरी में पहुँच जाने से अपने को कृतकृत्य समझने लगे ॥ १७ ।

(और मन ही मन यह कहने लगे कि) आज काशी के समागम-विषय में मेरा हंसवाहन होना सफल हो गया; क्योंकि काशी की प्राप्ति में पग-पग पर विघ्न आ पड़ते हैं, यह शास्त्र में कहा गया है ॥ १८ ।

आज मेरी आँखों से दृशि धातु सार्थक हो गया; क्योंकि यह आनन्दवाटिका काशी मेरे दृष्टिपथ पर स्पष्टरूप से आ गई ॥ १९ ।

स्वयं सिञ्चति यामद्भिः स्वाभिः स्वर्गतरङ्गिणी ।
यत्रानन्दमया वृक्षा यत्रानन्दमया जनाः ॥ २० ।
निर्विशन्ति सदा काश्यां फलान्यानन्दवन्त्यपि ।
सदैवानन्दभूः काशी सदैवानन्ददः शिवः ॥ २१ ॥
आनन्दरूपा जायन्ते तेन काश्यां हि जन्तवः ।
चरणौ चरितुं वित्तस्तावेव कृतिनामिह ॥ २२ ।
चरणौ विचरेतां यौ विश्वभर्तृपुरी भुवि ।
तावेव श्रवणौ श्रोतुं संविदाते बहुश्रुतौ ॥ २३ ।
इह श्रुतिमतां पुंसां याभ्यां काशी श्रुता सकृत् ।
तदेव मनुते सर्वं मनस्त्विह मनस्विनाम् ॥ २४ ।
येनानुमन्यते चैषा काशी सर्वप्रमाणभूः ।
बुद्धिर्बुध्यति सा सर्वमिह बुद्धिमतां सताम् ॥ २५ ।

आनन्दवाटिकां विशिनष्टि स्वयमिति । स्वाभिः स्वकीयाभिः । ताभिरिति पाठे प्रसिद्धाभिरित्यर्थः ॥ २० ।

वृक्षाणामानन्दमयत्वं कैमुत्यन्यायेन दर्शयति । निर्विशन्तीति । अन्यत्र स्थितान्यपि फलानि काश्यां निर्विशन्ति सन्ति आनन्दवन्ति भवन्तीति । काशीस्थितानां वृक्षाणामानन्दमयत्वं किं वक्तव्यमिति भावः । यत्रानन्दमया जना इत्यत्र कारणमाह । सदैवेति ॥ २१ ।

वित्तो जानीतः ॥ २२ ।

संविदाते विजानीतः ॥ २३ ।

मनुते ध्यायति ॥ २४ ।

बुध्यति निश्चिनोति ॥ २५ ।

अहा हा ! जिस नगरी में पुण्यजला स्वयं स्वर्गतरंगिणी गंगा बह रही हैं और जहाँ के मनुष्यों को कौन कहे, वृक्षगण भी सर्वदा आनन्द के रूप ही दिखाई पड़ते हैं, जिस काशी में अन्यत्र के उत्पन्न जन को भी फलादिक आनंद के दाता महादेव विराजमान रहते हैं, उसी से काशी में सभी जन्तु आनन्द के रूप ही हो जाते हैं, जिन पुण्यप्राणियों के चरण विश्वनाथ के नगर की भूमि पर विचरण करें, वे ही चरण इस भूलोक में विचरण करना जानते हैं। सुनने वालों के कान एक बार भी काशी का नाम सुन लेते हैं, वे ही बहुश्रुत कान सुनने का फल समझते हैं। इस संसार में मनस्वी लोगों का वही मनन कर सकता है, जो इसी काशी को समस्त प्रमाणों की भूमि मानता है। इस लोक में बुद्धिमान् सज्जनों की ही वह बुद्धि सब कुछ निश्चय कर सकती है, जो महादेव के धाम इस काशी को अपना विषय बना डाले हैं ॥ २०-२५ ।

यथैतद्धूर्जटेर्धाम ध्रुवं स्वविषयीकृतम् ।
वरं तृणानि धान्यानि तानि वात्या हतान्यपि ।
काश्यां यान्यापतन्तीह न जनाः काश्यदर्शनाः ॥ २६ ।
अद्य मे सफलं चायुः परार्धद्वयसंमितम् ।
यस्मिन् सति मयाऽप्रापि दुष्प्रापा काशिकापुरी ॥ २७ ।
अहो मे धर्मसम्पत्तिरहो मे भाग्यगौरवम् ।
यदद्राक्षिषमद्याहं काशीं सुचिरचिन्तिताम् ॥ २८ ।
अद्य मे स्वतोवृक्षो मनोरथफलैरलम् ।
शिवभक्त्यम्बुना सिक्तः फलितोऽतिबृहत्तरैः ॥ २९ ।
मया व्यधायि बहुधा सृष्टिः सृष्टिं वितन्वता ।
परमन्यादृशी काशी स्वयं विश्वेशनिर्मितिः ॥ ३० ।
इति हृष्टमना वेधा दृष्ट्वा वाराणसीं पुरीम् ।
वृद्धब्राह्मणरूपेण राजानं च ददर्श ह ॥ ३१ ।

वात्या हतानि वातचक्रेणान्दोलितानि । काशीं न पश्यन्ति, काश्या न दर्शनं येषामिति वा काश्यदर्शनाः ॥ २६ ।

बृहत्तरैः फलैरित्यन्वयः ॥ २९ ।

व्यधायि अकारि । विश्वेशस्य निर्मितिर्निर्माणं यस्याः सा विश्वेश-निर्मितिः ॥ ३० ।

आँधी बवंडर से उधिराये हुए (उड़ती हुई) घास इत्यादि भी जो कि काशी में जा पड़ते हैं, वे अच्छे हैं; परन्तु जगत् में काशी के न देखने वाले लोग भले नहीं हैं ॥ २६ ।

आज मेरी यह दो परार्द्ध (द्वितीय प्रहरार्द्ध परिमाण) की आयुष्य सफल हो गई, जिसके बने रहने से मैंने इस दुर्लभ काशीपुरी को पाया है ॥ २७ ।

अहा हा ! कैसी मेरी धर्मसंपत्ति है और कैसा मेरे भाग्य का गौरव है कि मैं बहुत दिनों से जिसकी चिन्ता में पड़ा था, आज उसी काशी को देख सका ॥ २८ ।

आज शिवभक्तिरूप जलधारा का सींचा हुआ मेरा तपोवृक्ष अत्यन्त बड़े मनोरथरूपी फलों से बहुत लदरा गया है ॥ २९ ।

यद्यपि सृष्टि करते हुए मैंने बहुत भाँति की सृष्टि बना डाली; परन्तु स्वयं विश्वनाथ की रची हुई यह काशी तो कुछ और ही चाल की (प्रकार की) है । ("विधिहि भयो आचरज विशेषी । कतहुँ न आपनि रचना देखी") ॥ ३० ।

वाराणसी पुरी को देख प्रसन्नचित्त होकर ब्रह्मा ने वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके राजा को भी देखा ॥ ३१ ।

जलार्द्राक्षतपाणिश्च स्वस्त्युक्त्व पृथिवीभुजे ।
कृतप्रणामो राज्ञाऽथ भेजे तद्दत्तमासनम् ॥ ३२ ।
कृतमानो नृपतिना सोऽभ्युत्थानासनादिभिः ।
विप्रो व्यजिज्ञपद् भूपं पृष्टागमनकारणम् ॥ ३३ ।

ब्राह्मण उवाच—

भूपाल बहुकालीनोऽस्म्यहमत्र चिरन्तनः ।
त्वं तु मां नैव जानासि जाने त्वां हि रिपुञ्जयम् ॥ ३४ ।
परःशता मया दृष्टा राजानो भूरिदक्षिणाः ।
विजितानेकसंग्रामा यायजूका जितेन्द्रियाः ॥ ३५ ।
विनिष्कृतारिषड्वर्गाः सुशीलाः सत्त्वशालिनः ।
श्रुतस्य पारदृश्वानो राजनीतिविचक्षणाः ॥ ३६ ।
दयादाक्षिण्यनिपुणाः सत्यव्रतपरायणाः ।
क्षमया क्ष्मया तुल्या गाम्भीर्यजितसागराः ॥ ३७ ।

शतेभ्यः परे परःशता असंख्याता राजानो मया दृष्टाः, परं केवलं तेष्वेषु राजसु मध्ये तव सद्गुणा द्वित्राः पवित्रा ये ते प्रायशो मम दृशं न गता इति पञ्च-मेनाऽन्वयः । यायजूका इज्याशीलाः ॥ ३५ ।

विनिष्कृतारिषड्वर्गा निर्जितशत्रुभूतषडिन्द्रियवर्गाः । श्रुतस्य पारदृश्वानः अध्ययनस्य पारगामिनः । राजनीतिविचक्षणाः सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयेषु निपुणाः ॥ ३६ ।

और हाथ में जल और आर्द्र अक्षत लेकर उनको स्वस्तिपूर्वक आशीर्वाद दिया। फिर राजा को प्रणाम करके (अपने हाथ से) दिए हुए आसन पर वे बैठ गये ॥ ३२ ।

राजा दिवोदास ने जब आसन और उठ खड़े होने इत्यादि से उनका आदर-सत्कार करके आगमन का प्रयोजन पूछा, तब वृद्ध ब्राह्मण ने कहा ॥ ३३ ।

ब्राह्मण बोला—

राजन् ! मैं यहाँ पर बहुत दिन का पुराना (बूढ़ा) हूँ और तुम तो मुझे नहीं जानते हो, पर मैं तुमको भलीभाँति जानता हूँ ॥ ३४ ।

मैंने ऐसे सैकड़ों ही राजाओं को देखा, जो बड़ी दक्षिणा देने वाले, अनेक युद्धों के विजेता, बड़े यज्ञशील, जितेन्द्रिय, कामादि छहों शत्रुओं के विजयी, परम सुशील, बड़े सात्त्विक, शास्त्र के पारंगत, राजनीति के मर्मज्ञ, दया और दाक्षिण्य में निपुण, सत्यव्रत में तत्पर, क्षमा में पृथिवी के समान, गंभीरता में समुद्र से भी अथाह हैं ॥ ३५-३७ ।

जितरोषरयाः शूराः सौम्यसौन्दर्यभूमयः ।
इत्यादिगुणसम्पन्नाः सुसञ्चितयशोधनाः ॥ ३८ ।
परं द्वित्राः पवित्रा ये राजर्षे तव सद्गुणाः ।
तेष्वेषु राजसु मम प्रायशो न दृशं गताः ॥ ३९ ।
प्रजा निजकुटुम्बस्त्वं त्वं तु भूदेवदैवतः ।
महातपः सहायस्त्वं यथा नान्ये तथा नृपाः ॥ ४० ।
धन्यो मान्योऽसि च सतां पूजनीयोऽसि सद्गुणैः ।
देवा अपि दिवोदास त्वत्त्रासान्नविमार्गगाः ॥ ४१ ।
किं नः स्तुत्या तव नृप द्विजानामस्पृहावताम् ।
किं कुर्मस्त्वद्गुणग्रामाः स्तावकान्नः प्रकुर्वते ॥ ४२ ।
गोष्ठी तिष्ठत्वियं तावत्प्रस्तुतं स्तौमि साम्प्रतम् ।
यष्टुकामोऽस्म्यहं राजंस्त्वां सहायमतो वृणे ॥ ४३ ।

रयो वेगः ॥ ३८ ।
दृशं नेत्रं ज्ञानं वा ॥ ३९ ।
सद्गुणत्वमेवाह । प्रजेति ॥ ४१ ।
अस्पृहावतां स्पृहारहितानाम् । निरीहस्य तृणं नृपा इति न्यायादित्यर्थः । स्तावकान् स्तुतिं कुर्वाणान् ॥ ४२ ।
गोष्ठी वार्ता । स्तौमि कथयामि ॥ ४३ ।

जो रोष के वेग को रोकने वाले, शूर, परम सौम्य (सीधे), अतिसुन्दर और यशरूप धन के संचय करने वाले एवं बड़े ही गुणसंपन्न हो गये हैं, उन्हें भी देखा है ॥ ३८ ।

परन्तु हे राजर्षे ! जो दो तीन उत्तम गुण तुम्हारे में हैं, वे सब के सब प्रायः और दूसरे किसी राजा में मुझे नहीं दिखाई पड़े ॥ ३९ ।

जैसा कि तुम प्रजाओं को अपना कुटुम्ब ही समझते हो और ब्राह्मणों को ही देवता मानते हो, अथवा केवल तपस्या ही की सहायता लेते हो, ऐसा तो कोई भी राजा नहीं हुआ है ॥ ४० ।

इसलिये हे दिवोदास ! आप अपने अच्छे गुणों से सज्जनों द्वारा मान्य व पूज्य हैं । आपके प्रताप से त्रस्त होकर देवता भी आपके प्रतिकूल नहीं होते ॥ ४१ ॥

हे नृप ! हम लोग तो निःस्पृह ब्राह्मण हैं, कोई स्वार्थ रखकर तुम्हारी बड़ाई नहीं करते, पर क्या करें ? तुम्हारे गुणों के वश में पड़कर तुम्हारे अधीन हो रहे हैं ॥ ४२ ।

अच्छा तो इन बातों का क्या प्रयोजन है, अब मैं अपने आने का कारण बतलाता हूँ । हे महाराज ! मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, अतएव तुम मेरे सहायक बनो ॥ ४३ ।

त्वया राजन्वती चैषाऽवनिः सर्वर्धिभाजनम् ।
अहं चास्तिधनो राजन्न्यायोपात्तमहाधनः ॥ ४४ ॥
इयं च राजधानी ते कर्मभूमावनुत्तमा ।
यस्यां कृतानां कार्याणां संवर्तेऽपि न संक्षयः ॥ ४५ ॥
सञ्चितं यद्धनं पुंभिर्नयसन्मार्गगामिभिः ।
तत्काश्यां विनियुज्येत क्लेशायेतरथा भवेत् ॥ ४६ ॥
महिमानं परं काश्याः कोऽपि वेद न भूपते ।
ऋते त्रिनयनाच्छम्भोः सर्वज्ञानप्रदायिनः ॥ ४७ ॥
मन्ये धन्यतरोऽसि त्वं बहुजन्मशतार्जितैः ।
सुकृतैः पासि यत्काशीं विश्वभर्तुः परां तनुम् ॥ ४८ ॥
काशी त्रिजगतीसारस्त्रिवेदीसार एव वै ।
त्रिवर्गोत्तरसारश्च निर्णीतेति महर्षिभिः ॥ ४९ ॥

अहं चास्तिधन इति । अस्तिशब्दः सुबन्तप्रतिरूपकः । अस्ति धनं यस्य सोऽस्तिधनः । अस्तिधनीति क्वचित् ॥ ४४ ।

हे राजन् ! यह भूमंडल तुम्हारे ही द्वारा सराजक और समस्त संपत्तियों का पात्र बना है। मैं क्षुद्र प्रजा होने पर भी तुम्हारे राज्य में न्यायानुसार धन उपार्जित करके सुखपूर्वक काल-यापन कर रहा हूँ ॥ ४४ ।

तुम्हारी राजधानी यह काशीपुरी समस्त कर्मभूमि में सर्वोत्तम है; क्योंकि इसमें जो कुछ कर्म अनुष्ठित होते हैं, प्रलयकाल में भी उनका क्षय नहीं होता ॥ ४५ ।

जिन लोगों ने न्यायपूर्वक सच्चे मार्ग से धन बटोरा हो (एकत्र किया हो), वे उस धन को काशी में ही लगायें, अन्यथा उसके द्वारा क्लेश ही भोगना पड़ता है ॥ ४६ ।

हे भूपाल ! इस काशी की यथार्थ महिमा को सब किसी के ज्ञानदाता, त्रिनयन महादेव को छोड़कर और कोई भी नहीं जानता ॥ ४७ ।

मेरी समझ में तुम परमधन्य हो, जो अनेक जन्म के संचित पुण्य के प्रभाव से विश्वनाथ की दूसरी मूर्ति इस काशीपुरी कां पालन करते हो ॥ ४८ ।

यह काशी तो त्रैलोक्य भर में सारभूमि है, यही तीनों वेदों की निचोड़ भी है। इसी में त्रिवर्ग के अनंतर मोक्ष भी मिलता है—ऐसा ही बड़े-बड़े ऋषियों ने निर्णय किया है ॥ ४९ ।

विश्वेशानुग्रहेणैव त्वयैषा पाल्यते पुरी ।
एकस्याप्यवनात्काश्यां त्रैलोक्यमवितं भवेत् ॥ ५० ।
अन्यच्च ते हितं वच्मि यदि ते रोचतेऽनघ ।
प्रीणनीयः सदैवैको विश्वेशः सर्वकर्मभिः ॥ ५१ ।
अन्यदेवधिया राजन् विश्वेशं पश्य मा क्वचित् ।
ब्रह्मविष्ण्विन्द्रचन्द्रार्काः क्रीडेयं तस्य धूर्जटेः ॥ ५२ ।
विप्रैरुदर्कमिच्छद्‌भिः शिक्षणीया यतो नृपाः ।
अतस्तव हितं ख्यातं किं वा मे चिन्तयाऽनया ॥ ५३ ।
इति जोषं स्थितं विप्रं प्रत्युवाच नृपोत्तमः ।
सर्वं मया हृदि धृतं यत्त्वयोक्तं द्विजोत्तम ॥ ५४ ।

जोषं तूष्णीम् ॥ ५४ ।

हे राजन् ! विश्वनाथ के बहुत बड़े अनुग्रह ही से तुम इस नगरी का प्रतिपालन करते हो; क्योंकि इस काशी में एक प्राणी के भी रक्षण करने से त्रैलोक्य की रक्षा हो जाती है ॥ ५० ।

हे अनघ ! मैं और भी एक बात जो तुम्हारा हित करनेवाली है, उसे कहता हूँ, यदि वह तुमको अच्छी लगे, तो उसे अवश्यमेव करो । वह यही है कि समस्त कर्मों के द्वारा सर्वदैव भगवान् विश्वेश्वर को प्रसन्न रखो ॥ ५१ ।

हे राजन् ! इन विश्वेश्वर को दूसरे साधारण देवताओं की बुद्धि से कभी मत देखना; क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, चन्द्र और सूर्य इत्यादि देवताओं को तो उन्होंने खेलवाड़ करने को बनाया है ॥ ५२ ।

शुभाकांक्षी ब्राह्मण को उचित है कि राजा लोगों को उचित शिक्षा दे, अतएव मैंने यह हितकर विषय तुमसे कहा है, नहीं तो मेरे ऐसे सामान्य मनुष्य को इस चिन्ता से कौन प्रयोजन है ? ॥ ५३ ।

ऐसा कहकर उस ब्राह्मण के चुप हो जाने पर राजा दिवोदास ने उत्तर दिया– हे द्विजोत्तम ! आपने जो कुछ कहा, मैंने उन सबको अपने हृदय में बैठा लिया ॥ ५४ ।

राजोवाच्—

अहं यियक्षमाणस्य तव साहाय्यकर्मणि ।
दासोऽस्मि यज्ञसंभारान्नय मे कोशतोऽखिलान् ॥ ५५ ।
यदस्ति मेऽखिलं तत्र सप्ताङ्गेऽपि भवान् प्रभुः ।
यजस्वैकमना ब्रह्मन् सिद्धं मन्यस्व वाञ्छितम् ॥ ५६ ।
राज्यं करोमि यद् ब्रह्मन् स्वार्थं तन्न मनागपि ।
पुत्रैः कलत्रैर्देहेन परोपकृतये यते ॥ ५७ ।
राज्ञां क्रतुक्रियाभ्योऽपि तीर्थेभ्योऽपि समन्ततः ।
प्रजापालनमेवैको धर्मः प्रोक्तो मनीषिभिः ॥ ५८ ।
प्रजासन्तापजो वह्निर्वज्राग्नेरपि दारुणः ।
द्वित्रान्दहति वज्राग्निः पूर्वो राज्यं कुलं तनुम् ॥ ५९ ।

यियक्षमाणस्य यज्ञं करिष्यतः ॥ ५५ ।

सप्ताङ्गे स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलरूपे ॥ ५६ ।

पूर्वः प्रजासन्तापजः ॥ ५९ ।

फिर राजा ने कहा—

मैं तो आपका सेवक हूँ, अतएव यदि आप यज्ञ करना चाहते हैं, तो उसकी सहायता के लिये जो जो यज्ञ की सामग्री चाहें, वह सब मेरे कोशागार से ले जाइये ॥ ५५ ॥

हे ब्रह्मन् ! मेरे इस सप्तांग राज्य में जो कुछ वस्तु है, आप उस सब के स्वामी हैं, अतएव आप स्वस्थचित्त होकर यज्ञ करें और उसके समस्त प्रयोजनीय वस्तुओं को उपस्थित ही समझें ॥ ५६ ।

हे विप्रवर ! यह राज्य जो मैं कर रहा हूँ, स्वार्थ के लिये कुछ भी नहीं करता, मैं तो पुत्र, स्त्री और अपने शरीर से भी पराये के उपकार ही करने की चेष्टा करता रहता हूँ ॥ ५७ ।

पंडित लोगों ने बताया है कि राजाओं का यज्ञानुष्ठान और तीर्थसेवन से भी बढ़कर प्रजापालन ही सर्वमुख्य धर्म है ॥ ५८ ।

क्योंकि प्रजा के संताप की अग्नि वज्र की अग्नि से भी बढ़कर भयंकर है । देखिये—वज्र की अग्नि तो केवल दो-तीन ही जनों को दग्ध कर सकती है; परन्तु प्रजा का संतापानल तो राज्यकुल और शरीर को भी भस्म ही कर डालता है ॥ ५९ ।

यदावभृथसिस्नासुर्भवेयं द्विजसत्तम ।
तदा विप्रपदाम्भोभिरभिषेकं करोम्यहम् ॥ ६० ।
हवनं ब्राह्मणमुखे यत्करोमि द्विजोत्तम ।
मन्ये क्रतुक्रियाभ्योऽपि तद्विशिष्टं महामते ॥ ६१ ।
अभिलाषेषु सर्वेषु जागर्त्येको हृदीह मे ।
अद्यापि मार्गणः कोऽपि द्रष्टव्यः स्वतनोरपि ॥ ६२ ।
अहो अहोभिर्बहुभिः फलितो मे मनोरथः ।
यत्त्वं मेऽद्य गृहे प्राप्तः किञ्चित्प्रार्थयितुं द्विज ॥ ६३ ।
एकाग्रमानसो विप्र यज्ञान् विपुलदक्षिणान् ।
बहून्यजकृतं विद्धि साहाय्यं सर्ववस्तुषु ॥ ६४ ।
इति राज्ञो महाबुद्धेर्धर्मशीलस्य भाषितम् ।
श्रुत्वा तुष्टमनाः स्रष्टा क्रतुसम्भारमाहरत् ॥ ६५ ।
साहाय्यं प्राप्य राजर्षेर्दिवोदासस्य पद्मभूः ।
इयाज दशभिः काश्यामश्वमेधैर्महामखैः ॥ ६६ ।

एकोऽभिलाषः । तं दर्शयति । मार्गण इति । मार्गणो याचकः । स्वतनोः स्वशरीरस्य ॥ ६२ ।

यज्ञान् विपुलदक्षिणान् यज कुरु । अयमेव वा पाठः ॥ ६४ ।

हे द्विजसत्तम ! जब कभी मैं (यज्ञ के) अवभृथस्नान की इच्छा करता हूँ, तो ब्राह्मणों के चरणोदक ही से नहा डालता हूँ ॥ ६० ।

हे महामते ! द्विजोत्तम ! मैं जो कुछ ब्राह्मणों के मुख में हवन कर सकता हूँ, उसे यज्ञ की क्रियाओं से भी बहुत अच्छा समझता हूँ ॥ ६१ ।

मेरे हृदय में समस्त अभिलाषों के बीच एक यही इच्छा जागरूक बनी है कि, आज भी कोई मेरे शरीर का माँगने वाला दिख जाये ॥ ६२ ।

हे द्विजवर ! आज मेरा वह मनोरथ बहुत दिनों पर सफल हुआ, जो आप कुछ माँगने के लिये मेरे घर पर पधारे ॥ ६३ ।

हे विप्र ! आप अनन्यचित्त होकर बड़ी दक्षिणावाले बहुत से यज्ञों को आरम्भ कीजिये और सभी वस्तुओं में मेरी सहायता समझिये ॥ ६४ ।

इस प्रकार से उस महाबुद्धिमान् धर्मशील राजा दिवोदास की बात को सुनकर परम संतुष्टचित्त हो ब्रह्मा यज्ञ की समग्र सामग्रियों को लेने लगे ॥ ६५ ।

इस भाँति परम राजर्षि दिवोदास की सहायता पाकर ब्रह्मा ने काशी में अश्वमेधनामक दश बड़े-बड़े यज्ञों को संपन्न किया ॥ ६६ ।

अद्यापि होमधूमौघैर्यद्व्याप्तं गगनान्तरम् ।
तदाप्रभृति न व्योमनीलिमानं जहात्यदः ॥ ६७ ।
तीर्थं दशाश्वमेधाख्यं प्रथितं जगतीतले ।
तदाप्रभृति तत्रासीद्वाराणस्यां शुभप्रदम् ॥ ६८ ।
पुरा रुद्रसरो नाम तत्तीर्थं कलशोद्भव ।
दशाश्वमेधिकं पश्चाज्जातं विधिपरिग्रहात् ॥ ६९ ।
स्वर्धुन्यथ ततः प्राप्ता भगीरथसमागमात् ।
अतीवपुण्यवज्जातमतस्तत्तीर्थमुत्तमम् ॥ ७० ।
विधिर्दशाश्वमेधेशं लिङ्गं संस्थाप्य तत्र वै ।
स्थितवान्न गतोऽद्यापि क्वापि काशीं विहाय तु ॥ ७१ ।
राज्ञो धर्मरतेस्तस्य च्छिद्रं नाऽवाप किञ्चन ।
अतः पुरारेः पुरतो व्रजित्वा किं वदेद्विधिः ॥ ७२ ।

अद्येति । यद्यदाप्रभृति यं कालमारभ्य होमधूमौघैर्गगनान्तरं व्याप्तं तदाप्रभृति अद्यापि नीलिमानं तमालश्यामंलत्वमदो नभो न जहातीत्यन्वयः ॥ ६७ ।

तत्र यज्ञवाटे । तस्येति पाठे तस्य ब्रह्मणः सम्बन्धितत्तीर्थमिति पूर्वेणैवाऽन्वयः ॥ ६८ ।

उस यज्ञ में होम की धूमराशि ने उठकर जो आकाशमंडल को नीलवर्ण कर दिया, तब से लेकर आज तक आकाश की वह नीलिमा नहीं छूटी ॥ ६७ ।

वाराणसी पुरी में जहाँ पर ब्रह्मा ने अश्वमेध यज्ञ किया था, वह स्थान तभी से (आज तक) शुभप्रद दशाश्वमेध नामक तीर्थ भूतल में प्रसिद्ध हुआ (है) ॥ ६८ ।

हे अगस्त्य मुने ! पहले तो उस तीर्थ का नाम रुद्रसरोवर था, फिर ब्रह्मा के यज्ञ करने से दशाश्वमेध हो गया ॥ ६९ ।

इसके अनन्तर राजा भगीरथ के ले आने से जब गंगा वहाँ पर आ गयीं, तब से वह उत्तम तीर्थ परम पवित्र हो गया ॥ ७० ।

(इधर) ब्रह्मा भी दशाश्वमेधेश्वर नामक एक शिवलिंग की स्थापना कर वहाँ पर ही रहने लगे और आज तक काशी को छोड़कर फिर कहीं नहीं गये ॥ ७१ ।

उस धर्मशील राजा दिवोदास का कोई छिद्र न पाकर ब्रह्मा महादेव के सम्मुख जाकर क्या कहते ? ॥ ७२ ।

क्षेत्रप्रभावं विज्ञाय ध्यायन् विश्वेश्वरं शिवम् ।
ब्रह्मेश्वरं च संस्थाप्य विधिस्तत्रैव संस्थितः ॥ ७३ ।
परातनुरियं काशी विश्वेशस्येति निश्चितम् ।
अस्याः संसेवनाच्छम्भुर्न कुप्यति पुरो मयि ॥ ७४ ।
कः प्राप्य काशीं दुर्मेधाः पुनस्त्यक्तुमिहेहते ।
अनेकजन्मजनितकर्मनिर्मूलनक्षमाम् ॥ ७५ ।
विश्वसन्तापसंहर्तुः स्थाने विश्वपतेस्तनुः ।
सन्ताप्यतेतरां काश्या विश्लेषजमहाग्निना ॥ ७६ ।
प्राप्य काशीं त्यजेद्यस्तु समस्ताघौघनाशिनीम् ।
नृपशुः स परिज्ञेयो महासौख्यपराङ्मुखः ॥ ७७ ।
निर्वाणलक्ष्मीं यः काङ्क्षे त्यक्त्वा संसारदुर्गतिम् ।
तेन काशी न संत्याज्या यद्यप्तैशादनुग्रहात् ॥ ७८ ।

प्रभावमाह । परातनुरिति । अस्याः पुरः पुर्या इत्यन्वयः ॥ ७४ ।

कः प्राप्येति । मूर्खोऽपि काशीं प्राप्य पुनस्त्यक्तुं क ईहते कश्चेष्टते न कोऽपीत्येतत् । स्थाने युक्तमित्यन्वयः ॥ ७५ ।

तत्र हेतुमाह । विश्वसन्तापेति ॥ ७६ ।

ईशस्यायमैशस्तस्मात् । त्यक्त्वा संत्यज्य । भुञ्जन्निति क्वचित् । ७८ ॥

(यह विचार कर) और उस क्षेत्र की महिमा को समझ, भगवान् विश्वेश्वर का ध्यान करते हुए ब्रह्मा ने वहीं पर एक ब्रह्मेश्वर नामक लिंग को भी प्रतिष्ठित कर, अपना निवास स्थिर कर लिया ॥ ७३ ।

(और यह भी स्थिर कर लिया कि) यह काशी तो विश्वेश्वर की दूसरी मूर्ति ही है, अतएव इसके सेवन करने से विश्वनाथ कभी कोप नहीं कर सकते ॥ ७४ ।

अनेक जन्म के संचित कर्मसूत्र को काटनेवाली काशी को पाकर फिर कौन दुर्बुद्धि उसे छोड़ना चाहता है ! ॥ ७५ ।

विश्वमात्र के संतापहारी भगवान् विश्वनाथ का भी शरीर, जो काशी के विरहानल से अत्यन्त संतप्त हो रहा है, सो तो ठीक ही है ॥ ७६ ।

समस्त पापों की नाश करने वाली, काशी को पाकर जो कोई उसे त्याग देता है, वह अपने परमहित वस्तु से विमुख होने के कारण नर-पशु समझा जाता है ॥ ७७।

जो कोई संसार की दुर्गति को छोड़ मोक्षलक्ष्मी की इच्छा करे, वह यदि परमेश्वर की दया से काशी को पा जाये तो फिर उसे कभी न त्यागना चाहिए ॥ ७८ ।

यः काशीं संपरित्यज्य गच्छेदन्यत्र दुर्मतिः ।
तस्य हस्ततलाद् गच्छेच्चतुर्वर्गफलोदयः ॥ ७९ ।
निबर्हणीमघौघस्य सुपुण्यपरिबृंहिणीम् ।
कः प्राप्य काशीं दुर्मेधास्त्यजेन्मोक्षसुखप्रदाम् ॥ ८० ।
सत्यलोके क्व तत्सौख्यं क्व सौख्यं वैष्णवे पदे ।
यत्सौख्यं लभ्यते काश्यां निमेषार्धनिषेवणात् ॥ ८१ ।
वाराणसीगुणगणान्निर्णीय द्रुहिणस्त्विति ।
व्यावृत्य मन्दरगिरिं न पुनः प्रत्यगान्मुने ॥ ८२ ।

स्कन्द उवाच—

मित्रावरुणयोः पुत्र महिमानं ब्रवीमि ते ।
काश्यां दशाश्वमेधस्य सर्वतीर्थशिरोमणेः ॥ ८३ ।
दशाश्वमेधिकं प्राप्य सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम् ।
यत्किञ्चित्क्रियते कर्म तदक्षयमिहेरितम् ॥ ८४ ।
स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम् ।
सन्ध्योपास्तितर्पणं च श्राद्धं पितृसमर्चनम् ॥ ८५ ।

निर्णीय निश्चित्य । निर्गायन्निति क्वचित् ॥ ८२ ।
पितृसमर्चनमिति श्राद्धविशेषणम् ॥ ८५ ।

जो मूर्ख काशी को छोड़कर कहीं अन्यत्र चला जाता है, उसकी हथेली पर से चतुर्वर्ग का फलोदय भी गिर जाता है ॥ ७९ ।

क्या ऐसा भी कोई दुर्बुद्धि होगा, जो पापपुंजनाशिनी, सुन्दरपुण्यवर्धिनी और मोक्षसुखदायिनी काशी का परित्याग कर देगा ॥ ८० ।

काशी में अर्धनिमेष मात्र ही सेवन करने से जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख सत्यलोक अथवा वैकुंठधाम में भी कहाँ मिलता है ?॥ ८१ ।

हे मुनिवर ! इस रीति से ब्रह्मा काशी की गुणावली को विचार, फिर मंदराचल पर लौटकर नहीं गये ॥ ८२ ।

स्कन्द बोले—

हे मैत्रावरुणे ! अब मैं काशी में सब तीर्थों के शिरोमणि दशाश्वमेध तीर्थ की महिमा तुमसे कहता हूँ ॥ ८३ ।

इस परमोत्तम दशाश्वमेध तीर्थ पर स्नान, दान, जप होम, वेदाध्ययन, देवपूजन, सन्ध्योपासन, तर्पण और श्राद्ध इत्यादि पितृकर्म अथवा जो कुछ सत्कर्म किये जाते हैं, वे सब अक्षय कहे गये हैं ॥ ८४-८५ ।

दशाश्वमेधिके तीर्थे सकृत्स्नात्वा नरोत्तमः ।
दृष्ट्वा दशाश्वमेधेशं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८६ ।
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे प्राप्य प्रतिपदं तिथिम् ।
दशाश्वमेधिके स्नात्वा मुच्यते जन्मपातकैः ॥ ८७ ॥
ज्येष्ठे शुक्लद्वितीयायां स्नात्वा रुद्रसरोवरे ।
जन्मद्वयकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ ८८ ।
एवं सर्वासु तिथिषु क्रमस्नायी नरोत्तमः ।
आशुक्लपक्षदशमि प्रतिजन्माघमुत्सृजेत् ॥ ८९ ।
तिथिं दशहरां प्राप्य दशजन्माघहारिणीम् ।
दशाश्वमेधिके स्नातो यामीं पश्येन्न यातनाम् ॥ ९० ।
लिङ्गं दशाश्वमेधेशं दृष्ट्वा दशहरातिथौ ।
दशजन्मार्जितैः पापैस्त्यज्यते नाऽत्र संशयः ॥ ९१ ।
स्नातं दशहरायां यः पूजयेल्लिङ्गमुत्तमम् ।
भक्त्या दशाश्वमेधेशं न तं गर्भदशा स्पृशेत् ॥ ९२ ।

एवमिति । क्रमस्नायी तिथिवृद्ध्या स्नायीति प्रतिजन्माघं दशम्यां दशजन्माघमिति क्रमेणेत्यर्थः ॥ ८९ ।

यामीं यमसम्बन्धिनीम् ॥ ९० ।

जो उत्तम पुरुष एक बार भी दशाश्वमेध तीर्थ में स्नान करके दशाश्वमेधेश्वर का दर्शन कर लेता है, वह फिर समस्त पापों से छूट जाता है ॥ ८६ ।

ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को इस दशाश्वमेधतीर्थ में स्नान करने से जन्म भर के संचित पाप दूर हो जाते हैं ॥ ८७ ।

और उसी जेठ सुदी द्वितीया को इस रुद्रसरोवर तीर्थ में स्नान करने से दो जन्म के संचित पापों से तुरन्त छुट्टी मिल जाती है ॥ ८८ ॥

यों ही दशमी तक प्रत्येक तिथियों में क्रम से स्नान करने वाला सज्जन (तिथि-संख्याक) प्रतिजन्म के अघों से मुक्त हो जाता है ॥ ८९ ।

दश जन्मों के पापों का नाश करने वाली दशहरा तिथि पर इस दशाश्वमेध तीर्थ में नहाने वाले को यमयातना नहीं देखनी पड़ती ॥ ९० ।

उसी दशहरा के दिन दशाश्वमेधेश्वर लिंग के दर्शन करने से भी दश जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ९१ ।

जो कोई दशहरा को दशाश्वमेध पर नहाकर दशाश्वमेधेश्वर लिंग का भक्ति से पूजन करता है, उसे गर्भदशा का दुःख नहीं झेलना पड़ता ॥ ९२ ।

ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे पक्षं रुद्रसरे नरः ।
कुर्वन् वै वार्षिकीं यात्रां न विघ्नैरभिभूयते ॥ ९३ ।
दशाश्वमेधावभृथैर्यत्फलं सम्यगाप्यते ।
दशाश्वमेधे तन्नूनं स्नात्वा दशहरातिथौ ॥ ९४ ।
स्वर्धुन्याः पश्चिमे तीरे नत्वा दशहरेश्वरम् ।
न दुर्दशामवाप्नोति पुमान् पुण्यतमः क्वचित् ॥ ९५ ।
यत्काश्यां दक्षिणद्वारमन्तर्गेहस्य कीर्त्यते ।
तत्र ब्रह्मेश्वरं दृष्ट्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ९६ ।
इति ब्राह्मणवेषेण वाराणस्यां महाधिया ।
द्रुहिणेन स्थितं तावद्यावद्विश्वेश्वरागमः ॥ ९७ ।
दिवोदासोऽपि राजेन्द्रो वृद्धब्राह्मणरूपिणे ।
ब्रह्मणे कृतयज्ञाय ब्रह्मशालामकल्पयत् ॥ ९८ ।

पक्षं पक्षमात्रम् । स्नात्वेति शेषः । स्नात्वेति क्वचित् पाठः ॥ ९३ ।

ब्रह्मेश्वरं ब्रह्मणा स्वनाम्ना स्थापितं लिङ्गम् ॥ ९६ ।

ब्रह्मशालां वेदमण्डपम् ॥ ९८ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ।

जो मनुष्य ज्येष्ठ मास के समस्त शुक्लपक्ष भर इस रुद्रसरोवर में वार्षिकी यात्रा करता है, उसे विघ्न कभी नहीं सता सकते ॥ ९३ ।

दश अश्वमेध यज्ञों के अन्त में अवभृथ स्नान करने से जो फल होता है, दशहरा के दिन इस दशाश्वमेध में एक बार भी स्नान करने से निश्चय ही वह फल मिल जाता है ॥ ९४ ।

परम पुण्य(तम) पुरुष, गंगा के पश्चिम तट पर जो (शीतला देवी की मढ़ी में) दशहरेश्वर विराजमान हैं, उनको प्रणाम करने से भी कभी दुर्दशा में (मनुष्य) नहीं पड़ सकता है ॥ ९५ ।

काशी में जिस स्थान को अन्तर्गृही यात्रा का दक्षिण द्वार कहा जाता है, वहीं पर ब्रह्मेश्वर के दर्शन करने से ब्रह्मलोक में आदर मिलता है ॥ ९६ ।

ब्रह्मा इसी रीति पर बड़ी बुद्धिमानी के साथ काशीपुरी में बूढ़े ब्राह्मण का वेष धरकर जब तक भगवान् विश्वनाथ नहीं आये तब तक टिके रहे ॥ ९७ ।

महाराज दिवोदास ने भी उस वृद्धब्राह्मणरूपी ब्रह्मा के यज्ञ समाप्त करने पर उनके लिये एक ब्रह्मशाला बनवा दी ॥ ९८ ।

ब्रह्मेश्वरसमीपे तु ब्रह्मशाला मनोहरा ।
ब्रह्मा तत्राऽवसद्व्योम ब्रह्मघोषैर्निनादयन् ॥ ९९ ।
इति ते कथितो ब्रह्मन् महिमाऽतिमहत्तरः ।
दशाश्वमेधतीर्थस्य सर्वाघौघविनाशनः ॥ १०० ।
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं श्रावयित्वा तथैव च ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति श्रद्धया मानवोत्तमः ॥ १०१ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दशाश्वमेधवर्णनं नाम
द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

ब्रह्मेश्वर के पास ही उस मनोहर ब्रह्मशाला में ब्रह्मदेव गगनस्पर्शी वेदध्वनि करते हुए निवास करने लगे ॥ ९९ ।

हे मुने ! सर्वपापविनाशक महामहिम दशाश्वमेध तीर्थ का माहात्म्य मैंने तुमसे कह दिया ॥ १०० ।

इस पवित्र अध्याय को जो उत्तम जन श्रद्धापूर्वक सुनेगा अथवा सुनायेगा, वह ब्रह्मलोक पाएगा ॥ १०१ ।

न काशिकायां पुरि कश्चिदस्ति दशाश्वमेधेन समान एकः ।
ससट्टको घट्टक एष पुण्यः स्नानादिकर्मस्वपि यः प्रशस्तः ॥ १ ।
कहुँ नहिं दशाश्वमेध सम, काशी में कोउ घाट ।
अति प्रशस्त पुर मध्य में, सोहत उत्तम बाट ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां दशाश्वमेधवर्णनं
नाम द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ।

●

॥ अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

अगस्तिरुवाच–

अपूर्वेयं कथा ख्याता ब्रह्मणो ब्रह्मवित्तम ।
किं चकार पुनः शम्भुस्तत्र ब्रह्मण्यपि स्थिते ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

शृण्वगस्त्य महाभाग काश्यां ब्रह्मण्यपि स्थिते ।
गिरिशश्चिन्तयामास भृशमुद्विग्नमानसः ॥ २ ।
पुरी सा यादृशी काशी वशीकरणभूमिका ।
न तादृशी दृशीहासीत्क्वचिन्मे प्रायशो ध्रुवम् ॥ ३ ।
यो यो याति पुरीं तां तु स स तत्रैव तिष्ठति ।
अभूवन्ननु योगिन्योऽयोगिन्यः काशिसङ्गताः ॥ ४ ।

त्रिपञ्चाशत्तमेऽध्याये काश्यां प्रेषणमुच्यते ।
शङ्कुकर्णमुखानां च काश्याश्च महिमा तथा ॥ १ ।

दृशि दृग्विषये ॥ ३ ।

अयोगिन्यो योगरहिताः त्यक्तयोगादरा इत्यर्थः । यद्वा अयोगिन्य उपायरहिताः । अकाराप्रश्लेषे कैश्याख्येन मुख्ययोगेन युक्ता इत्यर्थः । भोगिन्य इति क्वचित्पाठः ॥ ४ ।

(काशी की महिमा और गणों का प्रेषण)

अगस्त्य बोले–

हे ब्रह्मज्ञवर ! आपसे इस अपूर्व ब्रह्मा की कथा को सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ, जबकि ब्रह्मा भी काशी में ही रह गये, तो महादेव ने क्या किया ? ॥ १ ।

स्कन्द ने कहा–

हे महाभाग ! अगस्त्य ! सुनो, ब्रह्मा के भी काशी में ही रह जाने पर महादेव बहुत ही उद्विग्नचित्त होकर सोचने लगे कि काशीपुरी लोगों की जैसी चित्तमोहिनी है, वैसी तो कोई भी दूसरी भूमि इस भूमंडल पर प्रायः मेरे देखने में नहीं आई, यह बात ध्रुव है ॥ २-३ ।

जो जो उस पुरी में जाता है, वह वहाँ पर ही रह जाता है । प्रथम तो योगिनियाँ गईं, वे सब आज तक लौटी ही नहीं ॥ ४ ।

अकिञ्चित्करतां प्राप्तः स सहस्रकरोऽप्यरम् ।
विधिर्विधानदक्षोऽपि न मे स स विधोऽभवत् ॥ ५ ।
चिन्तयन्निति देवेशो गणानाहूय भूरिशः ।
प्रेषयामास भो यात क्षिप्रं वाराणसीं पुरीम् ॥ ६ ।
किं कुर्वन्ति तु योगिन्यः किं करोति स भानुमान् ॥
गत्वा वित्त त्वरायुक्ता विधिश्च विदधाति किम् ॥ ७ ।
नामग्राहं ततोऽप्रैषीद् बहुमानपुरःसरम् ।
शङ्कुकर्ण महाकाल घण्टाकर्ण महोदर ॥ ८ ।
सोमनन्दिन्नन्दिषेण काल पिङ्गल कुक्कुट ।
कुण्डोदर मयूराक्ष बाण गोकर्ण तारक ॥ ९ ।
तिलपर्ण स्थूलकर्ण दृमिचण्ड प्रभामय ।
सुकेश विन्दते[1] छाग कपर्दिन् पिङ्गलाक्षक ॥ १० ।

अकिञ्चित्करतां किञ्चिदपि कर्तुमक्षमताम् । अपि निष्करतामिति पाठे स रविः सहस्रकरोऽप्यनन्तरश्मिरपि निष्करता तेजोरहितामपि किं प्राप्त इत्यर्थः । अरमत्यर्थम् । सविधः सविधानो मत्कार्यविधानक्षमो नाऽभवदित्यर्थः ॥ ५ ।

वित्त जानीत ॥ ७ ।

एवं प्रथमतः सामान्येनोक्त्वा पश्चान्नामग्रहणपूर्वकमाहेत्याह । **नामग्राह**मित्यादिना ॥ ८ ।

दृमिचण्डेत्येकं नाम । [2]दमिचण्डेति क्वचित्पाठः ॥ १० ।

फिर सहस्रकर होने पर भी सूर्य वहाँ जाकर कुछ नहीं कर सके, विविध विधानों में दक्ष होकर भी ब्रह्मा मेरे किसी कार्य का विधान नहीं कर सके ॥ ५ ।

इन्हीं सब बातों को सोच-विचार कर, महादेव ने अपने बहुत से गणों को बुलाकर कहा कि "तुम लोग अभी काशीपुरी में जाओ ॥ ६ ।

और वहाँ पर जाकर इस बात का अनुसन्धान करो (पता लगाओ) कि (मेरे भेजे) योगिनीगण, सूर्य और ब्रह्मा क्या कर रहे हैं" ॥ ७ ।

इसके अनन्तर फिर भगवान् शम्भु बड़े आदर के साथ नाम ले-लेकर कहने लगे—हे शंकुकर्ण ! हे महाकाल ! हे घंटाकर्ण ! हे महोदर ! हे सोम ! हे नन्दिन् ! हे नन्दिषेण ! हे काल ! हे पिंगल ! हे कुक्कुट ! हे कुंडो(भो)दर ! हे मयूरनेत्र !

---

1. विन्दतिर्गणविशेषः ।
2. पुस्तकान्तरे तृमिचण्डेति दृश्यते ।

वीरभद्र किराताख्य चतुर्मुख निकुम्भक ।
पञ्चाक्ष भारभूताख्य त्र्यक्ष क्षेमक लाङ्गलिन् ॥ ११ ।
विराध सुमुखाषाढे भवन्तो मम सूनवः ।
यथेमौ स्कन्दहेरम्बौ नैगमेयो यथात्वयम् ॥ १२ ।
यथा शाखविशाखौ च यथेमौ नन्दिभृङ्गिणौ ।
भवत्सु विद्यमानेषु महाविक्रमशालिषु ॥ १३ ।
काशीप्रवृत्तिं नो जाने दिवोदासनृपस्य च ।
योगिन्यर्कविधीनां च तद्द्वौ यातं भवत्स्वमू ॥ १४ ।
शङ्कुकर्णमहाकालौ कालस्यापि प्रकम्पनौ ।
ज्ञातुं वाराणसीवार्तामायातं च त्वरान्वितौ ॥ १५ ।
कृतप्रतिज्ञौ तौ तूर्णं प्राप्य वाराणसीं पुरीम् ।
शङ्कुकर्णमहाकालौ विस्मृत्य शाम्भवीं गिरम् ॥ १६ ।

स्वकार्यं कर्तुं तान् प्रोत्साहयति । भवन्त इति ॥ १२ ।

तत् तस्मात् । भवत्सु मध्ये द्वौ अमू शङ्कुकर्णमहाकालौ यातं गच्छतामित्यन्वयः । यद्वा भवत्सु ममाऽन्तरङ्गेषु विद्यमानेषु मम समीपे तिष्ठत्सु काशीप्रवृत्तिं राज्ञश्च प्रवृत्तिं न जानामीत्ययुक्तमिति शेषः । तत् तस्माद् हेशङ्कुकर्णमहाकालौ युवां द्वावेव यातम् । तंद्वै इति क्वचित्पाठः ॥ १४ ।

आयातम् आगच्छतम् ॥ १५ ।

विस्मृत्येति । भगवद्वाक्यं विस्मृत्य तत्रैव तस्थतुरिति शेषः । विस्मृताविति पाठे विस्मृतवन्तावित्यर्थः ॥ १६ ।

हे बाण ! हे गोकर्ण ! हे तारक ! हे तिलपर्ण ! हे स्थूलकर्ण ! हे द्रुमिचंड ! हे प्रभामय ! हे सुकेश ! हे विंदते ! हे छाग ! हे कपर्दिन् ! हे पिंगलाक्ष ! हे वीरभद्र ! हे किरात ! हे चतुर्मुख ! हे निकुंभ ! हे पंचाक्ष ! हे भारभूत ! हे त्र्यक्ष ! हे क्षेमक ! हे लांगलिन् ! हे विराध ! हे सुमुख ! हे आषाढ़ ! तुम लोग हमारे वैसे ही पुत्र हो, जैसे स्वामिकार्तिक और गणेश हैं । हम जैसा नैगमेय, शाख, विशाख और नन्दीभृंग को चाहते हैं, वैसे ही तुम लोगों से भी प्रीति करते हैं । तुम लोगों के ऐसे बड़े पराक्रमी रहते भी मुझे काशी के राजा दिवोदास का तथा योगिनियों का, सूर्य का और ब्रह्मा का भी कुछ समाचार नहीं मिलता है (यह बड़े खेद की बात है) । अतः तुम लोगों में से काल के लिये भी डरावने ये दोनों शंकुकर्ण और महाकाल काशी का समाचार जानने के लिये शीघ्रता से चले जाँय ॥ ८-१५ ।

अनंतर वे दोनों प्रतिज्ञा करके वाराणसी पुरी चले गये और वहाँ पहुँचते ही शंकुकर्ण और महाकाल दोनों ही गण जैसे इन्द्रजाल की माया को देखकर

यथेन्द्रजालिकीं दृष्ट्वा मायामिह विचक्षणः ।
क्षणेन मोहमायाति काशीं वीक्ष्य तथैव तौ ॥ १७ ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमहो भाग्यविपर्ययः ।
निर्वाणराशिं यत्काशीं प्राप्य यान्त्यन्यतोऽबुधाः ॥ १८ ।
तत्त्यजे यैरियं काशी महाशीर्वादभूमिका ।
तेषां करतलान्मुक्तिः प्राप्ताऽपि परितो गता ॥ १९ ।
यत्र सर्वावभृथतः स्नानमात्रं विशिष्यते ।
अप्यूष्णीकृतपानीयैस्तां काशीं कः परित्यजेत् ॥ २० ।
यत्रैकपुष्पदानेन शिवलिङ्गस्य मूर्धनि ।
दशसौवर्णिकं पुण्यं कस्तां काशीं परित्यजेत् ॥ २१ ।
यत्र दण्डप्रणामेन अप्येकेन शिवाग्रतः ।
तुच्छमैन्द्रपदं प्राहुस्तां काशीं को विमुञ्चति ॥ २२ ।
यत्रैकद्विजमात्रं तु भोजयित्वा यथेच्छया ।
वाजपेयाधिकं पुण्यं तां काशीं को विमुञ्चति ॥ २३ ।

विस्मरणे दृष्टान्तमाह । **यथेति** । दृष्टान्तगतमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति । **काशीमिति** । मोहं प्राप्ताविति शेषः । यद्वा काशीं वीक्ष्य शाम्भवीं गिरं विस्मृत्य तथैव तौ मोहमायातावित्यन्वयः ॥ १७ ।

अहो मोहस्येत्यादीनां तावित्थं परिनिश्चित्य तत्रैव संस्थितिं प्राप्ताविति नवमश्लोकगतेनान्वयः ॥ १८ ॥

दशसौवर्णिकं दशसुवर्णदानजन्यम् ॥ २१ ।

बुद्धिमान् जन भी क्षणमात्र मोहित हो जाता है, वैसे ही काशी को देखते ही महादेव की आज्ञा को भूल गये ॥ १६-१७ ।

अहा हा ! कैसी मोह की महिमा है ! और कैसा भाग्य का विपर्यय है ! जो कि मूर्ख लोग मुक्तिराशि काशी में पहुँचकर फिर भी अन्यत्र चले जाते हैं ॥ १८ ।

जो लोग इस महा-आशीर्वादिक भूमि काशी को त्याग देते हैं, वे अपनी हथेली पर मुक्ति को रखकर फिर उसे फेंक देते हैं ॥ १९ ।

जिस काशी में उष्ण जल से भी स्नान करने से अवभृथस्नान से अधिक फल मिलता है, भला उसे कौन छोड़ सकता है ? ॥ २० ।

जहाँ पर शिवलिंग के ऊपर एक भी पुष्प चढ़ा देने से दश सुवर्ण-पुष्प चढ़ा देने का पुण्य हो जाता है, उस काशी को कौन ऐसा है, जो छोड़ देवे ! ॥ २१ ।

जहाँ महादेव के आगे एक भी दंडवत् प्रणाम करने से इन्द्र का भी पद तुच्छ कहा जाता है, उस काशी को कौन त्यागना चाहता है ? ॥ २२ ।

जिस भूमि में एक ब्राह्मण को भी यथेष्ट भोजन करा देने से वाजपेय यज्ञ का पुण्य होता है, उस काशी को कौन छोड़ता है ? ॥ २३ ।

एकां गां यत्र दत्वा वै विधिवद् ब्राह्मणाय वै ।
लभेदयुतगोपुण्यं कस्तां काशीं त्यजेत्सुधीः ॥ २४ ॥
एकं लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य यत्र संस्थापितं भवेत् ।
अपि त्रैलोक्यमखिलं तां काशीं कः समुज्झति ॥ २५ ॥
परिनिश्चित्य तावित्थं लिङ्गे संस्थाप्य पुण्यदे ।
तत्रैव संस्थितिं प्राप्तौ काशीं नाद्याऽपि मुञ्चतः ॥ २६ ॥
शङ्कुकर्णेश्वरं लिङ्गं शङ्कुकर्णगणार्चितम् ॥
दृष्ट्वा न जायते जन्तुर्जातु मातुर्महोदरे ॥ २७ ॥
विश्वेशाद्वायुदिग्भागे शङ्कुकर्णेश्वरं नरः ।
सम्पूज्य न विशेदत्र घोरे संसारसागरे ॥ २८ ॥
महाकालेश्वरं लिङ्गं महाकालगणार्चितम् ।
अर्चयित्वा च नत्वा च स्तुत्वा कालभयं कुतः ॥ २९ ॥

विश्वेशाद्वायुदिग्भागे इति । विश्वानि तदीशांश्चात्तीति विश्वेशाद् यमो वायोर्दिग् यस्मात् स वायुदिक् वरुणः, तयोर्भागे मध्ये नैर्ऋत्यां दिशीत्यर्थः । अथवा विश्वेशाद् विश्वानाथाद्या वायोर्दिक्, तस्या भागे समानसूत्रप्रदेश इत्यर्थः । अथवा विश्वेशात् सकाशाद् वै प्रसिद्धे उदिग्भागे । उशब्दस्याव्ययत्वम् । नैर्ऋतिदिग्भाग इत्यर्थः । यथाश्रुतव्याख्याने पूर्वापरविरोधापत्तेः ॥ २८ ।

जिस स्थान पर विधिपूर्वक ब्राह्मण को एक भी गोदान करने से दश सहस्र गोदान का पुण्यलाभ होता है, उस काशी का कौन बुद्धिमान् त्याग करेगा ? ॥ २४ ।

जहाँ पर एक भी शिवलिंग की स्थापना करने से अखिल ब्रह्मांड की प्रतिष्ठा करने का फल होता है, भला उस काशी को कौन छोड़ सकता है ? ॥ २५ ।

वे दोनों ही इस प्रकार का विचार कर पुण्यप्रद दो शिवलिंग स्थापित करके वहाँ ही रहने लगे और आज तक काशी को (कभी) नहीं छोड़ा है ॥ २६ ।

शंकुकर्ण नामक गण के पूजित शंकुकर्णेश्वर नामक लिंग के दर्शन करने से कोई जन्तु कभी माता के जठर में नहीं पड़ता ॥ २७ ।

भगवान् विश्वनाथ के वायुकोण पर शंकुकर्णेश्वर के पूजन करने से मनुष्य इस घोर संसारसागर में नहीं पड़ता ॥ २८ ।

यों ही महाकाल नामक गण से पूजित महाकालेश्वर लिंग के पूजन, प्रणाम और स्तुति करने से फिर काल का भय कहाँ है ? ॥ २९ ।

स्कन्द उवाच–

शङ्कुकर्णे महाकाले चिरन्तनविलम्बिते ।
ज्ञात्वा सर्वज्ञनाथोऽथ प्राहैषीदपरौ गणौ ॥ ३० ।
घण्टाकर्ण त्वमागच्छ महोदर महामते ।
काशीं यातं युवां तूर्णं ज्ञातुं तत्रत्यचेष्टितम् ॥ ३१ ।
इत्यगस्ते गणौ तौ तु गत्वा काशीं महापुरीम् ।
व्यावृत्याद्यापि नो यातौ क्वापि तत्रैव संस्थितौ ॥ ३२ ।
घण्टाकर्णेश्वरं लिङ्गं घण्टाकर्णगणोत्तमः ।
काश्यां संस्थाप्य विधिवत् स्वयं तत्रैव निर्वृतः ॥ ३३ ।
कुण्डं तत्रैव संस्थाप्य लिङ्गस्नपनकर्मणे ।
नाद्यापि संत्यजेत्काशीं ध्यायन् लिङ्गं तथैव हि ॥ ३४ ।
महोदरोऽपि तत्प्राच्यां शिवध्यानपरायणः ।
महोदरेश्वरं लिङ्गं ध्यायेदद्याऽपि कुम्भज ॥ ३५ ।

ज्ञात्वेति । अस्मत्कार्यमनिष्पाद्य क्षेत्रमाहात्म्यं ज्ञात्वा तत्रैव तौ तस्थतुरिति ज्ञात्वेत्यर्थः । तज्ज्ञाने कारणमाह । सर्वज्ञनाथ इति । प्राहैषीत् प्रेषयामास ॥ ३० ।

निर्वृतः सुखितः संस्थित इत्यर्थः ॥ ३३ ।

स्कन्द ने कहा–

इसके अनन्तर शंकुकर्ण और महाकाल के बहुत विलम्ब करने पर सर्वज्ञनाथ महादेव ने (उसका कारण) जानकर फिर दूसरे दो गणों को भेजा ॥ ३० ।

उनसे कहा कि–'हे महामते ! घंटाकर्ण और महोदर ! तुम दोनों लोग झटपट काशी जाओ और वहाँ का वृत्तान्त समझ-बूझकर चले आओ ॥ ३१ ।

हे अगस्त्य ! वे दोनों भी काशी नगरी में जाकर वहीं पर कहीं रह गये और आज तक फिर नहीं लौटे ॥ ३२ ।

गणों में श्रेष्ठ घंटाकर्ण काशी में घंटाकर्णेश्वर नामक एक शिवलिंग स्थापित कर उसके स्नान कराने के लिये (कर्णघंटा नामक) एक कुंड खुदवाकर उसी स्थान पर शिवलिंग का ध्यान करता हुआ आज तक काशी को (कदापि) नहीं त्यागता है ॥ ३३-३४ ।

और महोदर ने भी उसी के पूर्व ओर महोदरेश्वर लिंग की स्थापना कर आज पर्यन्त वैसे ही शिव के ध्यान में मग्न रहकर फिर काशी को नहीं छोड़ा ॥ ३५ ।

महोदरेश्वरं दृष्ट्वा वाराणस्यां द्विजोत्तम ।
कदाचिदपि वै मातुः प्रविशेन्नौदरीं दरीम् ॥ ३६ ।
घण्टाकर्णह्रदे स्नात्वा दृष्ट्वा व्यासेश्वरं विभुम् ।
यत्र कुत्र विपन्नोऽपि वाराणस्यां मृतो भवेत् ॥ ३७ ।
घण्टाकर्णे महातीर्थे श्राद्धं कृत्वा विधानतः ।
अपि दुर्गतिमापन्नानुद्धरेत्सप्तपूर्वजान् ॥ ३८ ।
निमज्याद्याऽपि तत्कुण्डे क्षणं योऽवहितो भवेत् ।
विश्वेश्वरमहापूजाघण्टारावान् शृणोति सः ॥ ३९ ।
वदन्ति पितरः काश्यां घण्टाकर्णेऽमले जले ।
दाता तिलोदकस्यापि वंशे नः कोऽपि जायते ॥ ४० ।
यद्वंश्या मुनयः काश्यां घण्टाकर्णे महाह्लदे ।
कृतोदकक्रियाः प्राप्ताः परां सिद्धिं घटोद्भव ॥ ४१ ।

औदरीम् उदरभवाम् । दरीं गुहाम् ॥ ३६ ।

व्यासेश्वरमित्यत्र विश्वेश्वरमिति क्वचित्पाठः ॥ ३७ ।

अवहितो ध्यानस्थः ॥ ३९ ।

वदन्तीति नोऽस्माकं वंशे तिलोदकस्यापि दाता कः कश्चिदपि किं जायते जनिष्यतीति पितरो वदन्तीत्यर्थः ॥ ४० ।

ननु तथा सति किं स्यात् किमर्थं वा ते वदन्तीत्याकाङ्क्षायामाह । यद्वंश्या इति । यस्य घण्टाकर्णह्लदे तिलोदकदातुर्वंश्या यद्वंश्याः । घण्टाकर्णे महाह्लदे कृता उदकक्रिया

हे द्विजोत्तम अगस्त्य ! काशी में जो कोई महोदरेश्वर का दर्शन करता है, वह फिर कभी माता की उदररूप दरी में प्रवेश नहीं करता ॥ ३६ ।

घंटाकर्ण (=कर्णघंटा) के कुंड में नहाकर और भगवान् व्यासेश्वर का दर्शन करके यदि कोई मानव कहीं पर भी मरे तो काशी में ही मरने का फल मिलता है ॥ ३७ ।

इस घंटाकर्ण तीर्थ पर विधिपूर्वक श्राद्ध करने वाला अपने सात पूर्वज पुरुषों का दुर्गति में पड़े रहने पर भी उद्धार कर सकता है ॥ ३८ ।

आज तक इस कुंड में गोता मारकर यदि क्षणभर चित्त एकाग्र करके सुने तो विश्वनाथ की बड़ी आरती के घंटा का शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ता है ॥ ३९ ।

पितरलोग यह कहा ही करते हैं कि क्या हमारे कुल में भी, कोई ऐसा होगा, जो घंटाकर्ण कुंड के निर्मल जल में हम लोगों को तिलोदक देगा ? ॥ ४० ।

हे घटोद्भव ! काशी में जिनके वंश के लोग घंटाकर्ण नामक महाह्लद में उदकक्रिया करते हैं, वे सब मुनियों के समान परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ।

स्कन्द उवाच–

घण्टाकर्णे गणे याते प्रयाते च महोदरे ।
विसिस्माय स्मरद्वेष्टा मौलिमान्दोलयन् मुहुः ॥ ४२ ।
उवाच च मनस्येव हरः स्मित्वा पुनः पुनः ।
महामोहनविद्याऽसि काशि त्वां पर्यवैम्यहम् ॥ ४३ ।
पुराविदः प्रशंसन्ति त्वां महामोहहारिणीम् ।
काशीं त्विति न जानन्ति महामोहनभूरियम् ॥ ४४ ।
प्रेषयिष्याम्यहं सर्वान् भवती मोहयिष्यति ।
इति सम्यग् विजानामि काशि त्वां मोहनौषधिम् ॥ ४५ ॥
तथापि प्रेषयिष्यामि यावान्मेऽस्ति परिच्छदः ।
नोद्यमाद्विरमन्तीह ज्ञानिनः साध्यकर्मणि ॥ ४६ ।

येभ्यो वंशेभ्यस्ते तथा मुनयः सन्तः परां सिद्धिं प्राप्ताः, तथा वयमपि प्राप्स्याम इत्यभिप्रायेण वदन्तीति ॥ ४१ ।

तु पुनः इयं काशी महामोहनभूरिति पुनर्न जानन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ।

यावान् परिच्छदः परिकरस्तावन्तं प्रेषयिष्यामीत्यर्थः । सर्वांश्चेन्मोहयिष्यामि किं प्रेषणेन तत्राह । नोद्यमादिति ॥ ४६ ।

स्वामिकार्तिकेय ने कहा–

घंटाकर्ण और महोदर इन दोनों गणों के चले जाने पर (बहुत विलम्ब देखकर) महादेव बारम्बार मस्तक हिलाते हुए अत्यंत आश्चर्यमग्न हो गये ॥ ४२ ।

और फिर-फिर हँसकर यह कहने लगे कि, हे काशि ! तुम महामोहिनी-विद्या हो, यह मैं अच्छी रीति से जानता हूँ ॥ ४३ ।

पुरातन लोग तुमको महामोह का हरण करने वाली ही कहकर प्रशंसा करते हैं, पर यह नहीं जानते कि, तुम महामोहन करनेवाली हो ॥ ४४ ।

मैं जिन-जिन लोगों को भेजता हूँ, तुम उनको मोहित कर डालती हो । हे काशि ! मैं तुमको भलीभाँति जानता हूँ कि तुम मोहन करने की औषधि हो ॥ ४५।

फिर भी जब तक हो सकेगा, मैं अपने सब लोगों को भेजता जाऊँगा; क्योंकि समझनेवाले साध्यकर्म में उद्यम करने से कभी नहीं हटते ॥ ४६ ।

नोद्यमाद्विरतिः कार्या क्वापि कार्ये विचक्षणैः ।
प्रतिकूलोऽपि खिद्येत विधिस्तत्सततोद्यमात् ॥ ४७ ।
शीतोष्णभानू स्वर्भानुग्रस्तावपि नभोऽङ्गणे ।
गतिं न त्यजतोऽद्यापि प्रक्रान्तव्यकृतोद्यमौ ॥ ४८ ।
एकत्र हन्ति कार्याणि प्रातिकूल्याद्विधिर्मुहुः ।
एकत्र करणीयानि सेत्स्यन्त्यत्र भृशोद्यमात् ॥ ४९ ।
दैवं पूर्वकृतं कर्म कथ्यते नेतरत्पुनः ।
तन्निराकरणे यत्नः स्वयं कार्यो विपश्चिता ॥ ५० ।

एतद्विवृणोति । नोद्यमादिति । पुरुषकारस्य फलमाह । **प्रतिकूल इति** । प्रतिपक्षभूतोऽपि विधिर्दैवं तेषां विचक्षणानां सततोद्यमात् खिद्येत निर्बन्धं दृष्ट्वा सोऽनुकूलो भवेदित्यर्थः ॥ ४७ ।

प्रतिबन्धेऽपि उद्यमाभावाभावे दृष्टान्तमाह । **शीतेति** । शीतोष्णभानवो रश्मयो ययोस्तौ चन्द्रसूर्यौ स्वर्भानुना राहुणा ग्रस्तावप्यद्यारभ्याऽपि गतिं न त्यजतो न मुञ्चतः । किमिति । प्रक्रमन्तव्ये गमने कृत उद्यमो याभ्यां तौ ॥ ४८ ।

तर्हि कुत्रापि कार्यप्रतिबन्धो न स्यादित्याशङ्क्य विभागमाह । **एकत्रेति** । मुहुः प्रातिकूल्यादित्यन्वयः । अत्र जगति । अन्त इति पाठे अन्तेऽन्ततो बहूद्यमानन्तरमित्यर्थः ॥ ४९ ।

ननु "ललाटे लिखितं यत्तु षष्ठीजागरवासरे । नो हरिः शङ्करो ब्रह्माऽन्यथा तत्कर्तुमर्हति" ॥ इत्यादिदर्शनात् कथं दैवमन्यथयितव्यमित्याशङ्क्याह ।

किसी काम में क्यों न हो, बुद्धिमान् लोगों को उद्योग करने से कभी नहीं हटना चाहिए; क्योंकि, निरन्तर (बराबर) उद्यम करते रहने से प्रतिकूल भी विधि अनुकूल हो जाता है–

उद्यम से हटिये नहीं, यही विज्ञ की बात ।
करत जाय उद्योग जो, पोंचहु विधि बनि जात॥ ४७ ।

इस बात के दृष्टान्त चन्द्र और सूर्य दोनों ही हैं, जो राहु के ग्रस लेने पर भी आकाशमंडल में अपने मंजिल पर पहुँचने का उद्योग करते हुए कभी ठहरते ही नहीं ॥ ४८ ।

इस संसार में एक ओर तो दैव प्रतिकूल होकर बारंबार कामों को बिगाड़ता रहता है; परन्तु दूसरी ओर अत्यन्त उद्योग करते रहने से सब काम आप से आप बनते जाते हैं ॥ ४९ ।

पूर्वजन्म के किये हुए कर्म को ही तो दैव कहा जाता है, फिर वह दूसरा कुछ तो नहीं है, अतएव पंडित को चाहिए कि उसके दूर करने का उपाय स्वयं करे ॥ ५० ।

भाजनोपस्थितं दैवाद् भोज्यं नास्यं स्वयं विशेत् ।
हस्तवक्त्रोद्यमात्तच्च प्रविशेदौदरीं दरीम् ॥ ५१ ॥
इत्युद्यमं समर्थ्येशो निश्चितं दैवजित्वरम् ।
पुनश्च प्रेषयाञ्चक्रे गणान् पञ्च महारयान् ॥ ५२ ॥
सोमनन्दी नन्दिषेणः कालपिङ्गलकुक्कुटाः ।
तेऽद्यापि न निवर्तन्ते काश्यां जीवा मृता यथा ॥ ५३ ॥
तेऽपि स्वनाम्ना लिङ्गानि शम्भुसन्तुष्टिकाम्यया ।
प्रतिष्ठाप्य स्थिताः काश्यां विश्वनिर्वाणजन्मनि ॥ ५४ ॥
सोमनन्दीश्वरं दृष्ट्वा लिङ्गं नन्दवने परम् ।
सोमलोके परानन्दं प्राप्नुयाद्भक्तिमान्नरः ॥ ५५ ॥
तदुत्तरे विलोक्याऽथ नन्दिषेणेश्वरं नरः ।
आनन्दसेनां सम्प्राप्य जयेन्मृत्युमपि क्षणात् ॥ ५६ ॥

दैवमिति । कर्मणा कर्म निर्हारसम्भवात् । निषेधवचनस्य त्वनुद्यमवत् पुरुषविषयत्वादिति भावः ॥ ५० ॥

उद्यमं विना दैवमकिञ्चित्करमित्याह । भाजनेति ॥ ५१ ॥

प्रयत्नसमर्थनमुपसंहरंस्तस्य फलमाह इत्युद्यममिति । समर्थ्य संसाध्य । उद्यमं विशिनष्टि । निश्चितं युक्त्या दृढीकृतम् । दैवजित्वरम् अदृष्टजयनशीलम् ॥ ५२ ॥

थाली में परसा हुआ भोजन आप ही दैव की सहायता से मुख में नहीं घुस जाता—हाँ, हाथ और मुख के उद्यम करने पर ही वह पेट में जा सकता है ॥ ५१ ॥

विश्वनाथ ने इस प्रकार से उद्यम को ही दैव का जीतनेवाला स्थिर करके, सोमनंदी, नंदिषेण, काल, पिंगल और कुक्कुट नामक दूसरे पाँच बड़े वेगवाले गणों को भेजा और वे सब भी काशी में मरे हुए जीव के समान आज तक फिर नहीं लौटे ॥ ५२-५३ ॥

उन लोगों ने भी संसार के मोक्ष की जन्मभूमि उसी काशी में महादेव के संतोषार्थ अपने-अपने नाम से लिंगों की स्थापना करके (नियत) निवास कर लिया ॥ ५४ ॥

भक्तिमान् जन आनंदवन में सोमनंदीश्वर के दर्शन करने से सोमलोक में परम आनंद को पाता है ॥ ५५ ॥

उसके उत्तरभाग में नन्दिषेणेश्वर के दर्शन से मनुष्य आनन्द की सेना को पाकर क्षणमात्र में मृत्यु को जीत लेता है ॥ ५६ ॥

कालेश्वरं महालिङ्गं गङ्गायाः पश्चिमोत्तरे ।
प्रणम्य कालपाशेन नो बध्येत कदाचन ॥ ५७ ।
पिङ्गलेश्वरमभ्यर्च्य कालेशात्किञ्चिदुत्तरे ।
लभते पिङ्गलज्ञानं येन तन्मयतां व्रजेत् ॥ ५८ ।
कुक्कुटेश्वरलिङ्गस्य येऽत्र भक्तिं वितन्वते ।
कुक्कुटाण्डाकृतेस्तस्य न ते गर्भमवाप्नुयुः ॥ ५९ ।

स्कन्द उवाच–

सोमनन्दिप्रभृतिषु मुने पञ्चगणेष्वपि ।
आनन्दकाननं प्राप्य स्थितेषु स्थाणुरब्रवीत् ॥ ६० ।
कार्यमस्माकमेवैतद्यदि सम्यग् विमृश्यते ।
अनेनोपाधिनाप्येते तत्र तिष्ठन्तु मामकाः ॥ ६१ ।
प्रमथेषु प्रविष्टेषु मायावीर्यमहत्स्वपि ।
अहमेव प्रविष्टोऽस्मि वाराणस्यां न संशयः ॥ ६२ ।

पिङ्गलज्ञानं पिङ्गलेश्वरस्वरूपज्ञानम् ॥ ५८ ।

कुक्कुटाण्डस्येवाकृतिराकारो यस्य स कुक्कुटाण्डाकृतिस्तस्य ॥ ५९।

मायावीर्यमहत्सु मायावीर्याभ्यां महत्तरेषु ॥ ६२ ।

गंगा के पश्चिमोत्तर भाग में कालेश्वर नामक लिङ्ग को प्रणाम करने से कभी कालपाश में नहीं बँधना पड़ता ॥ ५७ ।

कालेश्वर से कुछ उत्तर ओर पर पिंगलेश्वर के पूजन करने से वह पिंगल ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे (जीव) तन्मय हो जाता है ॥ ५८ ।

यों ही कुक्कुट के अंडे ऐसे कुक्कुटेश्वर लिंग की भक्ति करने से संसार में फिर गर्भवास का दुःख नहीं भोगना पड़ता ॥ ५९ ।

स्कन्द ने कहा–

हे मुने ! सोमनन्दी प्रभृति पाँचों गणों के भी काशी में जाकर ठहर जाने पर शिव कहने लगे ॥ ६० ।

यदि विचार की दृष्टि से देखा जाय तो यह हमारा ही काम हो रहा है, जो इसी उपाधि से ये सब मेरे लोग वहाँ पर जा रहे हैं ॥ ६१ ।

क्योंकि माया और पराक्रम से सम्पन्न मेरे इन गणों के काशी में घुसे रहने से मानों मैं ही वहाँ पर बैठा रहूँगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ६२ ।

क्रमेण प्रेषयिष्यामि योऽस्ति मे स्वपरिच्छदः ।
तत्र सर्वेषु यातेषु ततो यास्याम्यहं पुनः ॥ ६३ ।
संप्रधार्येति हृदये देवदेवेन शूलिना ।
प्रैषिष्ट प्रमथानान्तु ततो गणचतुष्टयम् ॥ ६४ ।
कुण्डोदरो मयूराख्यो बाणो गोकर्ण एव च ।
मायाबलं समाश्रित्य काशीं प्रविविशुर्गणाः ॥ ६५ ।
कृत्वोपायशतं तैस्तु दिवोदासस्य सम्भ्रमे ।
यदैकोऽपि समर्थो न तदा तत्रैव संस्थितम् ॥ ६६ ।
अपराधशतेष्वीशः केन तुष्यति कर्मणा ।
संप्रधार्येति ते चक्रुर्लिङ्गाराधनमुत्तमम् ॥ ६७ ।
एकस्मिन् शाम्भवे लिङ्गे विधिनाऽत्र समर्चिते ।
क्षमेत्त्र्यक्षोऽपराधानां शतं मोक्षं च यच्छति ॥ ६८ ।
न तुष्यति तथा शम्भुर्यज्ञदानतपोव्रतैः ।
यथा तुष्येत्सकृल्लिङ्गे विधिनाऽभ्यर्चिते सति ॥ ६९ ।
लिङ्गार्चनविधानज्ञो लिङ्गार्चनरतः सदा ।
त्र्यक्ष एव स विज्ञेयः साक्षाद् द्व्यक्षोऽपि मानवः ॥ ७० ।

मैं क्रम से अपने समस्त लोगों को वहाँ पर ही भेज देता हूँ। यहाँ के सब लोगों के चले जाने पर फिर मैं भी चल दूँगा ॥ ६३ ।

महादेव ने यही विचार मन में स्थिर करके कुंडोदर, मयूर, बाण और गोकर्ण इन चारों गणों को फिर भेजा और वे सब माया के बल से काशी में जा घुसे ॥ ६४-६५ ।

राजा दिवोदास के संभ्रम उत्पन्न करने में उन सब गणों ने सैंकड़ों ही उपाय रचे, पर जब वहाँ एक भी उपाय न लगा, तब फिर असमर्थ होकर वे वहाँ पर ही रहने लगे ॥ ६६ ॥

सैंकड़ों अपराध करने पर भी स्वामी किस काम के करने से संतुष्ट होंगे ? यह विचार कर वे सब शिवलिंग की आराधना करने में तत्पर हो गये ॥ ६७ ।

(क्योंकि) इस काशी में विधिपूर्वक एक भी शिवलिंग के पूजन करने से भगवान् शिव सैकड़ों ही अपराधों को क्षमा करते और मोक्ष भी दे देते हैं ॥ ६८ ।

महादेव तो यज्ञ, दान, तपस्या और व्रतादि से कभी वैसे संतुष्ट नहीं होते, जैसे कि विधिपूर्वक एक बार भी लिंग के पूजन करने से प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ६९ ।

जो मनुष्य लिंगार्चन के विधान का ज्ञाता होकर सर्वथा लिंग के ही पूजन में लगा रहता है, वह दो नेत्र का होने पर भी साक्षात् 'त्रिलोचन' है ॥ ७० ।

न गोशतप्रदानेन न स्वर्णशतदानतः ।
तत्फलं लभ्यते पुंभिर्यत् सकृल्लिङ्गपूजनात् ॥ ७१ ।
अश्वमेधादिभिर्यागैर्न तत्फलमवाप्यते ।
यत्फलं लभ्यते मर्त्यैर्नित्यं लिङ्गप्रपूजनात् ॥ ७२ ।
स्नापयित्वा विधानेन यो लिङ्गस्नपनोदकम् ।
त्रिः पिबेत्त्रिविधं पापं तस्येहाशु प्रणश्यति ॥ ७३ ।
लिङ्गस्नपनवार्भिर्यः कुर्यान्मूर्ध्न्यभिषेचनम् ।
गङ्गास्नानफलं तस्य जायतेऽत्र विपाप्मनः ॥ ७४ ।
लिङ्गं समर्चितं दृष्ट्वा यः कुर्यात्प्रणतिं सकृत् ।
सन्देहो जायते तस्य पुनर्देहनिबन्धने ॥ ७५ ।
लिङ्गं यः स्थापयेद् भक्त्या सप्तजन्मकृतादघात् ।
मुच्यते नाऽत्र सन्देहो विशुद्धः स्वर्गभाग्भवेत् ॥ ७६ ।

स्नापयित्वेति । यत्त्वग्राह्यं शिवनिर्माल्यं पत्रं पुष्पं फलं जलमित्यादि-निषेधवचनं तत्त्वज्ञानपूर्वकं काश्यतिरिक्तस्थानविषयं विष्णुपादोदकासंसर्गविषयं वा । शालग्रामशिलातोयात् सर्वं याति पवित्रतामित्युक्तेः । शिवाऽभक्तविषयं वा । शिवविष्ण्वोर्भेददर्शिमूढविषयं वेति दिक् । वस्तुतस्तु बाणलिङ्गादिव्यतिरिक्तविषयमेव तदिति पूर्वोक्तं न प्रस्मर्तव्यम् ॥ ७३-७४ ।

देह एव नितरां बन्धनं देहबन्धनं तस्मिन् ॥ ७५ ।

सैंकड़ों गोदान अथवा सुवर्णदान करने से भी वह फल कभी नहीं मिलता, जो कि एक बार लिंग के पूजने से मनुष्य पा सकता है ॥ ७१ ।

अश्वमेध इत्यादि यज्ञों से भी वह फल नहीं प्राप्त हो सकता, जो फल नित्य ही लिंग के पूजन करने से प्राप्त होता है ॥ ७२ ।

जो कोई यथाविधि शिवलिंग को नहलाकर उस स्नपनोदक का तीन बार आचमन करता है, उसके सांसारिक त्रिविध पाप तुरंत ही विनष्ट हो जाते हैं ॥ ७३ ।

जो कोई लिंग के स्नान-जल को अपने मस्तक पर छिड़क लेता है, वह निष्पाप हो जाता है और उसे गंगास्नान करने का फल (अनायास ही) मिल जाता है ॥ ७४ ।

जो कोई पूजित शिवलिंग को देख एक बार भी प्रणाम कर लेता है, उसके फिर शरीर धारण करने में सन्देह ही बना रह जाता है ॥ ७५ ।

यहाँ पर जो कोई भक्तिपूर्वक शिव के लिंग की स्थापना करता है, वह निःसन्देह सात जन्म के किये हुए पापों से छूटकर विशुद्ध हो जाता है और स्वर्ग का भागी भी होता है ॥ ७६ ।

विचार्येति गणैः काश्यां स्वामिद्रोहोपशान्तये ।
प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि महापातकभिन्त्यपि ॥ ७७ ।
कुण्डोदरेश्वरं लिङ्गं दृष्ट्वा लोलार्कसन्निधौ ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥ ७८ ।
कुण्डोदरेश्वराल्लिङ्गात्प्रतीच्यामसिरोधसि ।
मयूरेश्वरमभ्यर्च्य न गर्भं प्रतिपद्यते ॥ ७९ ।
मयूरेशप्रतीच्यां च लिङ्गं बाणेश्वरं महत् ।
तस्य दर्शनमात्रेण सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ॥ ८० ।
गोकर्णेशं महालिङ्गमन्तर्गेहस्य पश्चिमे ।
द्वारे समर्च्य वै काश्यां न विघ्नैरभिभूयते ॥ ८१ ।
गोकर्णेश्वरभक्तस्य पञ्चत्वसमये सति ।
ज्ञानभ्रंशो न जायेत क्वचिदप्यन्तमृच्छतः ॥ ८२ ।

महापातकानि भिन्दन्तीति महापातकभिन्दि ॥ ७७ ।

असिरोधसि अस्या नद्यास्तीरे ॥ ७९ ।

पञ्चत्वसमये मरणावसरे । तर्हि किं काश्यामेव नेत्याह । क्वचिदपीति । यत्र कुत्राप्यन्तं मृत्युमृच्छतः प्राप्नुवतो ज्ञानभ्रंशो न जायत इत्यर्थः ॥ ८२ ।

प्रमथगण ने यही विचार कर स्वामी के क्रोध की शान्ति के लिये महापातकभंजक (अपने-अपने नाम के) लिंगों को स्थापित किया ॥ ७७ ।

लोलार्क के समीप कुंडोदरेश्वर के दर्शन से मनुष्य सब पापों से छूटकर शिवलोक में पूजित होता है ॥ ७८ ।

उसी कुंडोदरेश्वर लिंग से पश्चिम और असीनदी के तीर पर विराजमान मयूरेश्वर का पूजन करने से फिर जठरयातना नहीं भुगतनी पड़ती ॥ ७९ ।

यों ही मयूरेश्वर के पश्चिम जो बाणेश्वर नामक महालिंग है, उसके तो केवल दर्शन ही करने से समस्त पाप छूट जाते हैं ॥ ८० ।

अन्तर्गृही (यात्रा) के पश्चिम द्वार (फाटक) पर गोकर्णेश्वर नामक बड़ा भारी लिंग प्रतिष्ठित है, उसके पूजन करने से काशी में समस्त विघ्न दूर हो जाते हैं ॥ ८१ ।

जो कोई गोकर्णेश्वर का भक्त होता है, उसका मरने के समय चाहे कहीं भी अन्तकाल क्यों न हो, पर ज्ञान नहीं बिगड़ता ॥ ८२ ।

स्कन्द उवाच–

चिरयत्सु गणेष्वेषु चतुर्ष्वपि गणेश्वरः ।
महिमानं महत्त्वं तु तत्काश्याः पर्यवर्णयत् ॥ ८३ ।
वैष्णव्या मायया विश्वं भ्राम्येताऽत्र ययाऽखिलम् ।
ध्रुवं मूर्तिमती सैषा काशी विश्वैकमोहिनी ॥ ८४ ।
अपास्य सोदरान् दारान् पुत्रं क्षेत्रं गृहं वसु ।
अप्यङ्गीकृत्य निधनं सर्वे काशीमुपासते ॥ ८५ ।
मरणादपि नो काश्यां भयं यत्र मनागपि ।
गणास्तत्र तु तिष्ठन्तः कुतो मत्तोऽपि बिभ्यति ॥ ८६ ।
मरणं मङ्गलं यत्र विभूतिर्यत्र भूषणम् ।
कौपीनं यत्र कौशेयं काशी कुत्रोपमीयते ॥ ८७ ।

गणेश्वर इत्यत्र महेश्वर इति क्वचित्पाठः ॥ ८३ ।

मोहकत्वमात्रेण माययैकत्वाभिधानं न तु तत्कार्यकरत्वेन, तदेवाह । **अपास्येति** ॥ ८४-८५ ।

ननु स्वामिनं विहाय तिष्ठन्तः कुतस्ते न बिभ्ययुस्तत्राह । **मरणादिति** ॥ ८६ ।

कुत्र क्व । केनेति वा पाठः ॥ ८७ ।

स्वामिकार्तिक ने कहा–

'भगवान् प्रमथनाथ उन चारों गणों के भी लौटने में बहुत विलम्ब देखकर काशीपुरी की अपरंपार महिमा वर्णन करने लगे ॥ ८३ ।

(उन्होंने कहा–) जो इस अखंड ब्रह्माण्ड को घुमा रही है, यह संसारमोहिनी काशी उसी विष्णुमाया की मूर्ति है, यह ध्रुव है ॥ ८४ ।

लोग भाई, बंधु, स्त्री, पुत्र, खेत-बारी, घर और धन इन सबको छोड़कर मरने ही के लिये इस काशी को सेवते हैं और फिर जिस काशी में लोग मरने से भी तनिक भी नहीं डरते, वहाँ पर ही टिककर मेरे गणलोग भला मुझसे क्यों डरेंगे ? ॥ ८५-८६ ।

जहाँ पर मरना ही मंगल है और जहाँ भस्म का लगाना ही देह का भूषण होता है एवं लंगोटी ही जहाँ का उत्तम रेशमी वस्त्र है, उस काशी की उपमा कहाँ से दी जा सकती है–

मरिबो मंगल है जहाँ भस्महि भूषन जत्र ।
काशी की उपमा कहाँ, जहँ कौपीनहि वस्त्र ॥ ८७ ।

निर्वाणरमणी यत्र रङ्कं वाऽरङ्कमेव वा ।
ब्राह्मणं वाश्वपाकं वा वृणीते प्रान्त्यभूषणम् ॥ ८८ ।
मृतानां यत्र जन्तूनां निर्वाणपदमृच्छताम् ।
कोट्यंशेनापि न समा अपि शक्रादयः सुराः ॥ ८९ ।
यत्र काश्यां मृतो जन्तुर्ब्रह्मनारायणादिभिः ।
प्रबद्धमूर्धाञ्जलिभिर्नमस्येताति यत्नतः ॥ ९० ।
यत्र काश्यां शवत्वेऽपि जन्तुर्नाऽशुचितां व्रजेत् ।
अतस्तत्कर्णसंस्पर्शं करोम्यहमपि स्वयम् ॥ ९१ ।
यस्तु काशीति काशीति द्विस्त्रिर्जपति पुण्यवान् ।
अपि सर्वपवित्रेभ्यः स पवित्रतरो महान् ॥ ९२ ।
येन काशी हृदि ध्याता येन काशीह सेविता ।
तेनाऽहं हृदि संध्यातस्तेनाऽहं सेवितः सदा ॥ ९३ ।

निर्वाणं कैवल्यमेव रमणी सुन्दरी निर्वाणरमणी । प्रकर्षेणाऽन्ते देहत्यागाऽवसरे भवतीति प्रान्त्यस्तारकोपदेशस्तदेव भूषणं यस्य स तथा तम् । यद्वा, प्रान्ते भवं प्रान्त्यं मरणं तदेव भूषणं मङ्गलं यस्य तम् । मरणं मङ्गलं यत्रेत्युक्तेः । यत्र काश्यां शवत्वेऽपि जन्तुर्नाऽशुचितां व्रजेदित्युक्तत्वात् । शावं नालोकयेदित्यादि मनुवचनं तु काश्यतिरिक्तविषयं द्रष्टव्यम् ॥ ८८ ।

शवत्वेऽपि अपिशब्दाज्जीवत्वेऽपि । अत एव तस्य जन्तोर्मरणाव्यवहितसमये तारकोपदेशार्थं कर्णसंस्पर्शं करोमि ॥ ९१ ।

जिस स्थान पर श्रीमती मुक्तिरमणी–मृतक-भूषण से सुसज्जित रंक अथवा राजा, ब्राह्मण किं वा चांडाल को भी एक ही भाव से वर लेती है (उस काशी के समान कौन है?) ॥ ८८ ।

इन्द्र इत्यादि देवगण जहाँ पर मरकर मुक्त हो जाने वाले जीवों के करोड़वें अंश के भी तुल्य कभी नहीं हो सकते ॥ ८९ ।

उस काशी में मृत्यु प्राप्त होने से एक सामान्य जन्तु भी ब्रह्मा और विष्णु इत्यादि देवताओं द्वारा बड़े प्रयत्न के साथ, हाथ जोड़, माथा नवाया जाता है ॥ ९० ।

उस नगरी में मृतक शरीर भी अपवित्र नहीं होता, इसी से उस मृत के कान को मैं भी स्वयं छूता हूँ ॥ ९१ ।

जो पुण्यात्मा दो-तीन बार काशी-काशी कह देता है, वह समस्त पवित्रों से भी महापवित्र हो जाता है ॥ ९२ ।

जो इस काशी का हृदय में ध्यान अथवा सेवन करता है, वह मेरा ही ध्यान और सेवा करता है ॥ ९३ ।

काशीं यः सेवते जन्तुर्निर्विकल्पेन चेतसा ।
तमहं हृदये नित्यं धारयामि प्रयत्नतः ॥ ९४ ।
स्वयं वस्तुमशक्तोऽपि वासयेत्तीर्थवासिनम् ।
अप्येकमपि मूल्येन स वस्तुः फलभाग् ध्रुवम् ॥ ९५ ।
काश्यां वसन्ति ये धीरा आपञ्चत्वविनिश्चयाः ।
जीवन्मुक्तास्तु ते ज्ञेया वन्द्याः पूज्यास्त एव हि ॥ ९६ ।
इत्थं विमृश्य बहुशः स्थाणुर्वाराणसीगुणान् ।
गणानन्यान् समाहूय प्राहिणोत्प्रीतिपूर्वकम् ॥ ९७ ।
तारक त्वं समागच्छ गच्छाऽतिस्वच्छमानस ।
दिवोदासो वृषावासो यामधीष्टे वरां पुरीम् ॥ ९८ ।
तिलपर्ण स्थूलकर्ण दमिचण्ड प्रभामय ।
सुकेश विन्दते छाग कपर्दिन् पिङ्गलाक्षक ॥ ९९ ।
वीरभद्र किराताख्य चतुर्मुख निकुम्भक ।
पञ्चाक्ष भारभूताख्य त्र्यक्ष क्षेमक लाङ्गलिन् ॥ १०० ।

मूल्येन जीविकया वस्तुर्वासकर्तुर्यावत्फलं तावत्फलं भजत इत्यर्थः ॥ ९५ ।
वृषावासो धर्माश्रयः । अधीष्टे अधिकं यथा स्यात्तथा ईष्टे शास्तीत्यर्थः ॥ ९८ ।

जो प्राणी निर्विकल्पचित्त से काशी को ही सेवता है, मैं बड़े प्रयत्न से उसे अपने हृदय में रख लेता हूँ ॥ ९४ ।

जो कि स्वयं काशीवास करने में असमर्थ होने पर किसी एक तीर्थवासी ही को कुछ जीविका लगाकर बसा देता है, वह निश्चय ही वास करने वाले का फलभागी होता है ॥ ९५ ।

जो धीरजन काशी में मरणावधि निश्चय निवास करते हैं, उनको तो जीवनमुक्त ही समझना चाहिये और वे लोग सर्वथा वन्दनीय और पूजनीय होते हैं ॥ ९६ ।

महादेव इसी भाँति से काशी के बहुतेरे गणों को विचार दूसरे-दूसरे गणों को बुलाकर प्रीतिपूर्वक (वहाँ) भेजने लगे ॥ ९७ ।

(और यह बोले कि) हे शुद्धान्तःकरण ! तारक ! धर्म का आश्रय राजा दिवोदास जिस नगरी का शासन कर रहा है, वहाँ पर जाओ ॥ ९८ ।

हे तिलपर्ण ! स्थूलकर्ण ! हे दमिचंड ! हे प्रभामय ! हे सुकेश ! हे विन्दते ! हे छाग ! हे कपर्दिन् ! हे पिंगलाक्ष ! ॥ ९९ ।

हे वीरभद्र ! हे किरात ! हे चतुर्मुख ! हे पंचाक्ष ! हे भारभूत ! हे त्र्यक्ष ! हे क्षेमक ! हे लांगलिन् ! ॥ १०० ।

विराध सुमुखाषाढे यान्तु सर्वे पृथक् पृथक् ।
एते गणा महाभागाः स्वामिभक्ता दृढव्रताः ॥ १०१ ।
कृत्वा माया बहुविधा बहुरूपा विचक्षणाः ।
अनिमेषेक्षणास्तस्थुः क्षोणीशच्छिद्रकाङ्क्षिणः ॥ १०२ ।
अपरिज्ञाततच्छिद्रा विद्रावितयशोधनाः ।
आः किमेतदहो जातं निनिन्दुः स्वमितीह ते ॥ १०३ ।

गणा ऊचुः—

धिगस्मान् स्वामिना नित्यं कृतसम्भावनान् मुहुः ।
मनुष्यमात्रमप्यत्र यैरेकं न वशीकृतम् ॥ १०४ ।
बहुमानेन दानेन सौहार्देन महीयसा ।
कृतप्रसादांस्त्र्यक्षेण धिङ् नः तत्कार्यवञ्चकान् ॥ १०५ ।

निमेषरहितानीक्षणानि येषां तेऽनिमेषेक्षणाः । अत्यन्तं सावधाना इत्यर्थः ॥ १०२ ।

न परिज्ञातं तस्य राज्ञश्छिद्रं यैस्तेऽपरिज्ञाततच्छिद्राः। विद्रावितं दूरीकृतं यशोलक्षणं धनं येषां ते विद्रावितयशोधनाः। आः क्रोधे। अहो खेदे ॥ १०३ ।

एकं मनुष्यमात्रमपि यः कश्चिदेको मनुष्यो वाऽपि न वशीकृतम्। तस्य नरेन्द्रस्य वशीकरणं तु दूरत एव निरस्तमित्यर्थः ॥ १०४ ।

हे विराध ! सुमुख ! और आषाढ़ ! तुम सब पृथक्-पृथक् वहाँ जाओ । (कार्तिकेय कहने लगे कि) ये सब परम स्वामिभक्त महात्मा, दृढ़प्रतिज्ञ प्रमथगण, (महादेव की आज्ञा से काशी में जाकर) अनेक प्रकार की मायाओं को करते हुए नाना भाँति के रूपों को धारण कर एकाग्रचित्त से उस राजा दिवोदास का छिद्र ढूँढते हुए वहीं पड़े रह गये ॥ १०१-१०२ ।

परन्तु उसका कोई भी दोष न देख सकने से अपने (एकत्र किये हुये) यशरूप धन को मलिन कर "आः छी ! यह क्या हुआ ?" यह कहते हुए अपने ही को धिक्कारने लगे ॥ १०३ ।

गणों ने यही कहा कि—अपने स्वामी से नित्य ही आदर-सत्कार पाने वाले हम लोगों को बारंबार धिक्कार है, जो हम लोगों ने यहाँ पर एक मनुष्य को भी किसी चाल से अपने वश में नहीं किया ॥ १०४ ।

प्रभु त्रिनयन के द्वारा बड़े मान, दान, सौहार्द, इत्यादि से प्रसादित होने पर भी उनके कार्यवंचक हम लोगों को धिक्कार है ! ॥ १०५ ।

का गतिर्नो भवित्रीह स्वामिकृत्यप्रमादिनाम् ।
अन्धन्तमोमये लोके ध्रुवं वासो भविष्यति ॥ १०६ ।
अकृतस्वामिकार्याणामहो जीवितधारिणाम् ।
अक्षतेन्द्रियवृत्तीनां दुर्गतिश्च पदे पदे ॥ १०७ ।
लब्धसम्भावनानां च न्यक्कृतस्वामिकर्मणाम् ।
भृत्यानां भूरिभाजां च भङ्गुराः स्युर्मनोरथाः ॥ १०८ ।
अनिष्पादितकार्यार्था ये मुखं प्रेक्षयन्त्यहो ।
अपत्रपाः पुरो भर्तुस्तैर्भूर्भारवती त्वियम् ॥ १०९ ।
नाद्रीणां न समुद्राणां न द्रुमाणां महीयसाम् ।
भूतधात्र्यास्तथाभारो यथा स्वामिद्रुहां महान् ॥ ११० ।
अहो पौराणिकी गाथा स्मृताऽस्माभिरनिन्दिता ।
तदर्थमवलम्ब्येह स्थास्यामः कृतनिश्चयाः ॥ १११ ।

स्वामिकार्याऽसावधानानां किमिति नरकप्राप्तिस्तत्राहुरकृतेति ॥ १०७ ।

भङ्गुरा नाशशीलाः ॥ १०८ ।

महीयसां महत्तराणाम् । महीजुषामिति पाठे महीं सेवमानानां तदुत्पन्नाना-मित्यर्थः ॥ ११० ।

ऐसे (दयालु) स्वामी के कार्य में असावधानी करने वाले हम लोगों की कौन गति होगी ? अवश्य हम सबको अंधकारमय (दुस्तर) लोक में वास करना पड़ेगा ॥१०६ ।

जो लोग हाथ, पैर चलते भी जीते जी स्वामी का कार्य सिद्ध नहीं करते, पग-पग पर उनकी दुर्गति होती है ॥ १०७ ।

जो भृत्यगण, प्रथम ही स्वामी से आदर और सत्कार पाकर फिर उनके कामों में प्रमाद करते हैं, उन सब लोगों के अभिलाष कभी पूरे नहीं होते ॥ १०८ ।

अथवा जो लोग स्वामी का कार्य विना किये ही निर्लज्ज होकर प्रभु के सामने अपना मुख दिखाते हैं, उन्हीं से इस पृथ्वी पर बड़ा बोझ पड़ता है ॥ १०९ ।

बड़े बड़े पर्वत, समुद्र और वृक्षों का भार इस भूमि पर वैसा असर नहीं करते, जैसा इन प्रभुद्रोहियों के भार से यह (धरती) दब जाती है ॥ ११० ।

अहो ! हम लोगों ने पुराण की यह उत्तम गाथा (पुरानी कहावत) स्मरण कर रखी है, सो उसी के अर्थ का अवलम्बन करके निश्चय ही इसी काशी में रह जायेंगे ॥ १११ ।

अनाकलितपुण्यानां परिक्षीणधनायुषाम् ।
सर्वोपायविहीनानां गतिर्वाराणसीपुरी ॥ ११२ ।
अपुण्यभारखिन्नानां पश्चात्तापमुपेयुषाम् ।
विष्वगूर्ध्वगतीनां च गतिर्वाराणसी पुरी ॥ ११३ ।
स्वामिद्रुहः कृतघ्नाश्च ये च विश्रम्भघातकाः ।
तेषां क्वापि गतिर्नास्ति मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम् ॥ ११४ ।
इत्थं निश्चित्य गाथार्थं प्रमथा अवतस्थिरे ।
अविज्ञातस्वरूपाश्च दिवोदासेन भूभुजा ॥ ११५ ।
न बुबोध स भूपालो नितरां बुद्धिमानपि ।
विबुधान् विविधाकारैः स्थितानीशप्रभावतः ॥ ११६ ।
चित्रं न चित्रगुप्तोऽपि वेत्ति वाराणसीस्थितान् ।
जन्तून् का गणनाऽन्येषां मर्त्यलोकनिवासिनाम् ॥ ११७ ।

विष्वक् सर्वत ऊर्ध्वं च गतिर्येषां ते विष्वगूर्ध्वगतयस्तेषां विष्वगूर्ध्वगतीनाम्, सर्वत्रोद्भ्रान्तानामित्यर्थः। विष्वगरुद्धगतीनामिति क्वचित्पाठः ॥ ११३ ।

जिन लोगों ने न तो पुण्य का ही संचय किया, न धन अथवा आयुष्य को बढ़ाया, उन सब उपायों से हीन लोगों की गति वाराणसी पुरी ही है ॥ ११२ ।

पापों के बोझों से थके हुए तथा पीछे से (उस पाप के) ताप को प्राप्त होने वाले और चारों ओर से घबराये हुए लोगों की एक काशीपुरी ही गति है ॥ ११३ ।

एवं जो लोग स्वामीद्रोही, कृतघ्न, विश्वासघाती होते हैं, उन सब का इस काशी को छोड़कर और कहीं ठिकाना नहीं लग सकता है ! ॥ ११४ ।

इस प्रकार से प्रमथगण पुराण के कथन पर विश्वास करके राजा दिवोदास से छिपकर वहाँ पर रहने लगे ॥ ११५ ।

अत्यन्त बुद्धिमान् होने पर भी वह भूपाल शिव के प्रभाव से नानारूप धारण किये हुए उन सब देवताओं को कुछ भी जान न पाया ॥ ११६ ।

इसमें कोई विचित्रता नहीं है; क्योंकि स्वयं चित्रगुप्त को भी काशीवासी लोगों का कुछ अनुसन्धान (पता) नहीं लगने पाता, तो दूसरे मर्त्यलोक-निवासी की कौन गिनती है ? ॥ ११७ ।

अविच्छिन्नप्रभावाणामपरिच्छिन्नतेजसाम् ।
कृतलिङ्गप्रतिष्ठानां तं प्राप्नोति धर्मराट् ॥ ११८ ।
इति ते प्रमथा सर्वे घटोद्भव महामुने ।
कृतलिङ्गार्चना काशीं नाद्याप्युज्झन्ति शर्मदाम् ॥ ११९ ।
तारकेशं महालिङ्गं तारकाख्यो गणोत्तमः ।
तारकज्ञानदं पुंसां मुनेऽद्यापि समर्चयेत् ॥ १२० ।
तारकेश्वरलिङ्गस्य कृत्वा भक्तिं सुनिश्चलाम् ।
सुखेन तारकज्ञानं लभ्यते तैर्नरोत्तमैः ॥ १२१ ।
तिलपर्णेश्वरं लिङ्गं तिलपर्णप्रतिष्ठितम् ।
तिलप्रमाणमप्यत्र दृष्ट्वा पापं न संभवेत् ॥ १२२ ।
स्थूलकर्णेश्वरं लिङ्गं परिपूज्य नरोत्तमः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति पुण्यमाप्नोति चोत्तमम् ॥ १२३ ।
दृमिचण्डेश्वरं लिङ्गं तथा लिङ्गं प्रभामयम् ।
आराध्य तत्प्रतीच्यां च न पापैरभिभूयते ॥ १२४ ॥

जो लोग यहाँ पर लिंग की स्थापना करके (रहने लगते हैं) उन असीम प्रभाव वाले पूर्णतेजस्वियों का अन्त धर्मराज को भी नहीं मिल सकता है ॥ ११८ ।

हे कुंभजमुने ! इसी भाँति से वे सब प्रमथगण शिवलिंग की आराधना करते हुए कल्याणदात्री काशी को आज तक भी नहीं छोड़ते हैं ॥ ११९ ।

हे मुनिवर ! गणों में सर्वश्रेष्ठ तारक, तारकेश्वर नामक महालिंग की, जो मनुष्यों को तारक-ज्ञान देता है, आज तक पूजा किया करता है ॥ १२० ।

जो उत्तम नर तारकेश्वर लिंग पर दृढ़भक्ति करते हैं, उनको सहज ही में तारक-ज्ञान मिल जाता है ॥ १२१ ।

तिलपर्ण नामक गण के द्वारा प्रतिष्ठित तिलपर्णेश्वर लिंग के तिलभर भी दर्शन कर लेने से पाप नहीं रह जाने पाता ॥ १२२ ।

यों ही स्थूलकर्णेश्वर लिंग का पूजन करने से मनुष्य को दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती, परं च उत्तम पुण्यलाभ होता है ॥ १२३ ।

उसके पश्चिम ओर दृमिचंडेश्वर और प्रभामयेश्वर नामक लिंग विराजमान हैं, जिनकी आराधना करने से पापों का भय नहीं रह जाता ॥ १२४ ।

प्रभामयेश्वरं लिङ्गं दृष्ट्वाऽन्यत्रापि संस्थितः ।
प्रभामयेन यानेन शिवलोके व्रजेत्सुधीः ॥ १२५ ।
सुकेशेश्वरमभ्यर्च्य हरिकेशवने नरः ।
षाट्कौशिकमयं देहं धारयेन्न पुनः पुनः ॥ १२६ ।
विन्दतीशं नरोऽभ्यर्च्य भीमचण्डीसमीपतः ।
त्यक्त्वा प्रचण्डमप्येनो मोक्षं विन्दति शाश्वतम् ॥ १२७ ।
छागलेशं महालिङ्गं पित्रीश्वरसमीपगम् ।
विलोक्य पशुवत् कोऽपि न पापं प्राकृतं स्पृशेत् ॥ १२८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे वाराणसीवर्णनगणप्रेषणं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ।

त्वङ्मांसरुधिरस्नाय्वस्थिमज्जा इति षट्कोशास्तैर्निर्मितं षाट्कौशिकम् ॥ १२६ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ।

जो कोई इस प्रभामयेश्वर लिंग का दर्शन करके कहीं अन्यत्र पर भी मर जाय, तो भी वह बुद्धिमान् अतिप्रभामय दिमान पर चढ़कर शिवलोक को चला जाता है ॥ १२५ ।

और हरिकेशव नामक स्थान में सुकेशेश्वर संज्ञक जो शिवलिंग है, उसके पूजन करने से मनुष्य को इस चर्म, मांस, रुधिर, नस, हड्डी और मज्जा की खोलरी (खोली=शरीर) बार-बार (फिर) नहीं धारण करनी पड़ती ॥ १२६ ॥

भीमचंडी के समीप ही में बिंदतीश्वरनामक शिवलिंग की पूजा करने से मनुष्य बड़े उत्कट-पापों को त्यागकर नित्य मोक्षपद को प्राप्त करता है ॥ १२७ ।

इसी रूप से पित्रीश्वर शिव के समीप में विराजमान छागलेश्वर नामक लिंग के दर्शन करने से कोई भी पशुओं की नाईं (भाँति) प्राकृत पाप में नहीं पड़ता ॥ १२८ ।

भ्रमण करन लागे बहुत, काशी में गण जाय ।
दिवोदास भूपाल से, तनिकहु वश न सिराय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां काशीमाहात्म्य-गणप्रेषणवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ।

●

॥ अथ चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

कुम्भसम्भव वक्ष्यामि शृणोत्ववहितो भवान् ।
कपर्दीशस्य लिङ्गस्य महामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ १ ।
कपर्दी नाम गणपः शम्भोरत्यन्तवल्लभः ।
पित्रीशादुत्तरे भागे लिङ्गं संस्थाप्य शाम्भवम् ॥ २ ।
कुण्डं चखान तस्याग्रे विमलोदकसंज्ञकम् ।
यस्य तोयस्य संस्पर्शाद्विमलो जायते नरः ॥ ३ ।
इतिहासं प्रवक्ष्यामि तत्र त्रेतायुगे पुरा ।
यथावृत्तं कुम्भयोने श्रवणात्पातकापहम् ॥ ४ ।
एकः पाशुपतश्रेष्ठो वाल्मीकिरिति संज्ञितः ।
तपश्चचार स मुनिः कपर्दीशं समर्चयन् ॥ ५ ।

कपर्दीशस्य लिङ्गस्य माहात्म्याख्यानपूर्वकम् ।
चतुष्पञ्चाशकेऽध्याये पैशाचाख्यानमुच्यते ॥ १ ।

गणपो गणमुख्यः । गणक इति पाठे स्वार्थे कः ॥ २ ।

तज्जलस्पर्शमात्रेण वैमल्यं भवतीत्यत्रेतिहासमाह । इतीति ॥ ४ ।

(पिशाचमोचन की कथा)

स्कन्द ने कहा–

हे कुंभसंभव ! अब मैं कपर्दीश्वर लिंग का परमोत्तम माहात्म्य वर्णन करता हूँ, सावधान होकर आप सुनें ॥ १ ।

महादेव का बड़ा प्यारा गणों में एक प्रधान कपर्दीनामक है, उसने पित्रीश्वर के उत्तर भाग में इस शिवलिंग की स्थापना करके उसके सन्मुख एक विमलोदक नामक कुंड खोद दिया था, जिस कुंड के जल का स्पर्श करने से मनुष्य की मलिनतां छूट जाती है ॥ २-३ ।

इसके विषय में एक (छोटा-सा) उपाख्यान कहता हूँ, जो पूर्वकाल त्रेतायुग में घटित हुआ था । उसके श्रवण करने से पातक विनष्ट हो जाते हैं । हे कुंभयोने ! (अगस्त्य) ॥ ४ ।

वाल्मीकि नामक बड़े भारी एक शैव थे, वे मुनि कपर्दीश्वर की आराधना करते हुए तपस्या करने लगे ॥ ५ ।

एकदा स हि हेमन्ते मार्गे मासि तपोधनः ।
स्नात्वा तत्र महातीर्थे मध्याह्ने विमलोदके ॥ ६ ।
चकार भस्मना स्नानमापादतलमस्तकम् ।
लिङ्गस्य दक्षिणे भागे कृतमाध्याह्निकक्रियः ॥ ७ ।
न्यस्तमस्तकपांसुश्च सन्ध्यामाध्यात्मिकीं स्मरन् ।
जपन् पञ्चाक्षरीं विद्यां ध्यायन् देवं कपर्दिनम् ॥ ८ ।
कृत्वा संहारमार्गेण सप्रमाणं प्रदक्षिणम् ।
हुडुंकृत्य हुडुंकृत्य हुडुंकृत्य त्रिरुच्चकैः ॥ ९ ।

इदानीं तस्य पाशुपतयोगावस्थानमाह । एकदेति । मार्गे मार्गशीर्षे ॥ ६ ।

लिङ्गस्य दक्षिणे भागे इत्यादीनां स क्षणं सरस्तीरे उपविष्टः सन् राक्षसमद्राक्षीदिति षष्ठश्लोकगतेनान्वयः ॥ ७ ।

न्यस्तमस्तकपांसुरिति । पुनः शिरसि भस्मधारणध्यानाङ्गत्वाय सम्यक् ध्यां सन्ध्यां जीवब्रह्मणोरैक्यानुसन्धानरूपताम् । कथंभूताम् आध्यात्मिकीम् आत्मानं कार्यकारणसंघातमधिकृत्य जाताम् । माध्याह्नीकीमिति पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः । पञ्चाक्षरी विद्यां, "नमः शिवाय" इति मन्त्रात्मिकाम् । पञ्चात्मिकीमिति पाठे ईशानतत्पुरुषाघोरवामदेवसद्योजातात्मिकामित्यर्थः ॥ ८ ।

संहारमार्गेण वामावर्तेन । तदुक्तम्—

अपसव्यं यतीनां तु सव्यं तु ब्रह्मचारिणाम् ।
सव्यासव्यं गृहस्थस्य शम्भोर्नित्यं प्रदक्षिणाम् ॥ इति ।

पाशुपतविशेषस्य निर्वाणदीक्षया दीक्षितत्वाद् यतिसमानधर्मत्वं द्रष्टव्यम्। यत्त्विदानीं विश्वेश्वरादौ सृष्टिक्रमेण यतिभिः प्रदक्षिणं क्रियते, तत्तु विष्णुसन्निधानात्, तदयुक्तम्—

एक बार उन तपोधन ने हेमन्त ऋतु के अगहन मास में उसी विमलोदक नामक महातीर्थ में मध्याह्न के समय स्नान किया ॥ ६ ।

(तदनंतर) पादतल से लेकर मस्तक पर्यन्त (सर्वांग में) भस्म से स्नान किया, फिर लिंग की दक्षिण ओर में (बैठ) मध्याह्न कर्म समाप्त किया ॥ ७ ।

(तत्पश्चात्) मस्तक पर फिर भस्म डाल, मध्याह्नकाल की सन्ध्या का स्मरण करते हुए और पंचाक्षरी मंत्र का जप तथा भगवान् कपर्दीश्वर का ध्यान उन्होंने किया ॥ ८ ।

अनन्तर वामावर्त प्रदक्षिणा और प्राणायामपूर्वक तीन बार उच्च स्वर से हुडुंकार में प्रणव लगाकर कहा, फिर षड्ज इत्यादि स्वरभेदों के साथ, हाथ हिलाकर आनंदपूर्वक मंडलबद्ध अंगभंगी के सहित तांडव करते हुए गीत

प्रणवं पुरतः कृत्वा षड्जादिस्वरभेदतः ।
गीतं विधाय सानन्दं सनृत्यं हस्तकान्वितम् ॥ १० ।
अङ्गहारैर्मनोहारि चारीमण्डलसंयुतम् ।
क्षणं तत्र सरस्तीरे उपविष्टो महातपाः ॥ ११ ।
अद्राक्षीद्राक्षसं घोरमतीवविकृताकृतिम् ।
शुष्कशङ्खकपोलास्यं निमग्नापिङ्गलोचनम् ॥ १२ ।

सोमसूत्रद्वयं यत्र यत्र वा विष्णुमन्दिरम् ।
अपसव्यं न कुर्वीत कुर्यादेव प्रदक्षिणम् ॥ इति ।

स्वयम्भुलिङ्गत्वाद्वा । यत्तु वृषं चण्डं वृषं चैव सोमसूत्रं पुनर्वृषम् । चण्डं च सोमसूत्रं च पुनश्चण्डं पुनर्वृषमित्युक्तम्, तत्तु शनिप्रदोषप्रकरणे पठितत्वात् तद्दिने सर्वलिङ्गेषु तथैव विधेयम् । अत्र यः कश्चित् शनिवारसम्बन्धी प्रदोषः । अत एवाऽष्टम्यां वृषं चण्डमित्युक्तप्रकारेण विश्वेश्वरे व्यासेन प्रदक्षिणा कृता, इति सनत्कुमारसंहितायां दृश्यते । सोमसूत्रप्रमाणं चान्यत्रोक्तम् । तथा हि, प्रासादविस्तार-समानसूत्रं सोमस्य सूत्रं दिशि सोमसूत्रम् । सूत्राद्बहिर्लंघनतो न दोषः-सदोषमभ्यन्तरलंघने त्विति । सप्रमाणं शास्त्रीयप्रमाणसहितं यथा स्यात् । पाठान्तरं स्पष्टम्[1] । एवं प्रसङ्गागतमुक्त्वा पुनः पाशुपतयोगमेवाऽनुक्रामति । **हुडुंकृत्येति** । **हुडुंकारं विधाय** । हुडुकृत्येति क्वचित् । उच्चैर्यथा स्यात्तथा ओं हुडुं हुडुमिति प्रणवपुरःसरं वारत्रयमुच्चार्येत्यर्थः ॥ ९ ।

षड्जादीत्यादिपदेन निषादादयो गृह्यन्ते । हस्तकान्वितं करचालनयुक्तम् ॥ १० ।

अङ्गानां हारैर्विहारैर्विक्षेपैर्मनोहर्तुं शीलं यस्य तन्मनोहारि । चारी नृत्य-चरणशीलः । पाशुपतविशेषणमण्डलसंयुतं मण्डलाकारेण संबद्धम् । अङ्गहारै-र्मनोहारिमण्डलसम्बद्धं च यथा स्यात्तथा गीतं विधाय सरस्तीर उपविष्ट इत्यर्थः । तथो चोक्तं पाशुपतयोगविधौ श्रीमहादेवेन–"भस्मना त्रिषवणं स्नायीत भस्म निशयीत अनुस्नानं निर्माल्यलिङ्गधारी आयतनवासी सहितगीतनृत्यहुडुंकार-नमस्कारजप्योपहारेणोपतिष्ठेत महादेवस्य दक्षिणामूर्तिम्" इति । व्याख्यातं चैतत्सूत्रजातं पञ्चाध्याय्याम् नेहोच्यते ग्रन्थगौरवभयादिति ॥ ११ ।

कथम्भूतं ? राक्षसं घोरम् तत्र हेतुमाहाऽतीवविकृताकृतिमिति । विकृताकारत्वमाह । **शुष्केति** दशभिः । शुष्कौ शंखौ ललाटप्रान्तौ कपोलौ तदधोभागौ च यस्मिंस्तदास्यं मुखं यस्य तम् । निमग्नेऽधःप्रविष्टे आपिङ्गे ईषत्पीतवर्णे लोचने यस्य तम् ॥ १२ ।

गाकर उसी सरोवर के तीर पर वह तपस्वी क्षण भर बैठ गया ॥ ९-११ ।

इसी अवसर पर उसने एक भयंकर राक्षस को देखा, जिसका ललाट, और गाल एवं मुंख (बहुत चुचका था) और पीली-पीली आँखें भीतर को धँसी हुई थीं ॥ १२ ।

---

1. सप्रणाममिति ।

रुक्षस्फुटितकेशाग्रं महालम्बशिरोधरम् ।
अतीवचिपिटघ्राणं शुष्कौष्ठमतिदन्तुरम् ॥ १३ ।
महाविशालमौलिं च प्रोर्ध्वीभूतशिरोरुहम् ।
प्रलम्बकर्णपालीकं पिङ्गलश्मश्रुभीषणम् ॥ १४ ।
प्रलम्बितललज्जिह्वमत्युत्कटकृकाटिकम् ।
स्थूलास्थिजत्रुसंस्थानं दीर्घस्कन्धद्वयोत्कटम् ॥ १५ ।
निमग्नकक्षाकुहरं शुष्कंह्रस्वभुजद्वयम् ।
विरलाङ्गुलिहस्ताग्रं नतपीननखावलिम् ॥ १६ ।

रुक्षाणि शुष्काणि स्फुटितानि विदीर्णानि केशानामग्राण्यग्रभागा यस्य तम् । महती स्थूला लम्बायमाना दीर्घा शिरोधरा ग्रीवा यस्य तम् । अतीवचिपिटं निम्नं घ्राणं नासा यस्य तम् । शुष्कौ ओष्ठौ यस्य तम् । दन्तुरान् अति अतिदन्तुरस्तं महादन्तुरमित्यर्थः ॥ १३ ।

महती दीर्घा विशाला विस्तृता मौलिर्मस्तकं यस्य तम् । प्रकर्षेण ऊर्ध्वीभूता उद्गताः शिरोरुहाः केशा यस्य तम् । प्रलम्बकर्णपालीकं लम्बायमानश्रोत्रोपरिभागम् । पिङ्गलानि पिङ्गलवर्णानि यानि श्मश्रूणि तैर्भीषणम् ॥ १४ ।

प्रम्बिता दीर्घा ललन्ती चलन्ती जिह्वा यस्य तम् । अत्युत्कटाऽतिविकृता कृकाटिका वटुर्घंटिकाया बहिर्भागो यस्य तम् । स्थूले अस्थिनी ययोस्तथाभूते जत्रुसंस्थाने कण्ठाऽधोभागौ यस्य तम् । दीर्घं यत्स्कन्धद्वयं तेनोत्कटमुन्नतम् ॥ १५ ।

निमग्ने कक्षाकुहरे बाहुमूलविवरे यस्य तम् । विमग्नेति क्वचित् । शुष्कं रुक्षं ह्रस्वं खर्वं भुजद्वयं यस्य तम् । विरलाः परस्परासंलग्ना अङ्गुलयोर्ययोस्ते हस्ताग्रे यस्य तम् । नताऽधोमुखा पीना स्थूला च नखावलिर्नखपङ्क्तिर्यस्य तम् ॥ १६ ।

शिर पर के बाल रूखे, फटे और ऊपर की ओर खड़े थे । ग्रीवा (गरदन) मोटी थी, नाक तो बहुत ही चिपटी थी, और ओठ सुकटे (काष्ठवत् शुष्क) थे एवं उन पर बड़े-बड़े दाँत निकले रहते थे ॥ १३ ।

मस्तक बहुत ही भारी था ? रोएँ खड़े थे, कानों के ऊपर का भाग लटक रहा था और पीली दाढ़ी भी बड़ी ही भयंकर थी ॥ १४ ।

लंबी जीभ लप-लप कर रही थी, गले की घाँटी बहुत ही उभड़ी थी, हंसुली की दोनों ही मोटी-मोटी हड्डियां बाहर निकल पड़ी थीं और दोनों कंधे भी बड़े होने पर उभड़े ही रहते थे ॥ १५ ।

कोख (काँख) गड़हे के समान धँसे हुए थे, छोटे-छोटे हाथ बहुत ही चुचके से थे, हाथ के अग्रभाग में अँगुलियाँ बड़ी विरल थीं और उनके नख मोटे तथा आगे की ओर (तनिक) झुके थे ॥ १६ ।

विशुष्कपांसुलोत्क्रोडं पृष्ठलग्नोदरत्वचम् ।
कटीतटेन विकटं निर्मांसत्रिकबन्धनम् ॥ १७ ।
प्रलम्बस्फिग्युगयुतं शुष्कमुष्काल्पमेहनम् ।
दीर्घनिर्मांसलोरूकं स्थूलजान्वस्थिपंजरम् ॥ १८ ।
अस्थिचर्मावशेषं च शिराजालितविग्रहम् ।
शिरालं दीर्घजंघं च स्थूलगुल्फास्थिभीषणम् ॥ १९ ।
अतिविस्तृतपादं च दीर्घवक्रकृशाङ्गुलिम् ।
अस्थिचर्मावशेषेण शिराताडितविग्रहम् ॥ २० ।

विशेषेण शुष्को रुक्षः पांसुलो धूलि धूसर उत् उन्नद्धः क्रोडो यस्य तम् । पृष्ठे लग्ना उदर सम्बन्धिनी त्वग् यस्य तम् । कटीतटेन श्रोण्युपरिभागेन विकटं भयानकम् । निर्मांसं मांसरहितं त्रिकरूपं बन्धनं गुल्फजानुकूर्परलक्षणं यस्य तम् । यद्वा त्रिकबन्धनं तिहडा इति लोके प्रसिद्धं तन्निर्मांसं यस्य तम् ॥ १७ ।

प्रलम्बं लम्बायमानं यत् स्फिग्युगं कटियुगं तेनान्वितम् । शुष्को रुक्षो मुष्कोऽण्डकोशो यस्य अल्पं मेहनं शिश्नो यस्य स च स च तम् । अनेन विवस्त्रत्वं सूचितम् । दीर्घौ निर्मांसलौ मांसरहितौ च ऊरू सक्थिनी यस्य तम् । शिराजालित-विग्रहं नाडीसमूहयुक्तदेहम् । शिरालं शिराभिरलं पर्याप्तं व्याप्तमित्यर्थः । यद्वा शिरालं यथा स्यात्तथा दीर्घे जंघे यस्य तम् । स्थूलानि यानि गुल्फास्थीनि घुटिक-कीकसानि तैर्भीषणम् ॥ १८-१९ ।

अतिविस्तृतौ पादौ चरणौ यस्य तम् । दीर्घा वक्राः कृशा अङ्गुलयो यस्य तम् । अस्थिचर्मणोरवशेषेण कृत्वा शिराभिस्ताडितः प्रहारित इव विग्रहो यस्य तम् ॥ २० ।

छाती धूलि से धूसर और बड़ी सुकठी थी । पेट का चमड़ा (जाकर) पीठ में सटा हुआ था, कटि तट तो बड़ा ही विकट था । रीढ़ की गाँठ पर तनिक भी मांस नहीं था ॥ १७ ।

दोनों ही कूल्हे लहक रहे थे, अंडकोश चुचुक गया था, लिंग नाम मात्र का था, जाँघें लम्बी तो थीं; पर मांस का (उन पर) चिह्न भी नहीं था । घुटना बड़ा मोटा हड्डियों से जकड़ा था ॥ १८ ।

उसमें केवल हाड़ और चाम (चमड़ा) ही रह गया था । समस्त शरीर में नसों की भरमार थी, घुटना के नीचे का भाग बहुत लंबा और नसों से भरा था, एड़ी मोटी और भयानक रूप की थी ॥ १९ ।

पाँव तो बहुत ही बड़े-बड़े थे, पर उनकी अंगुलियाँ लंबी टेढ़ी और बड़ी पतली थीं । केवल हड्डी, चमड़ा और नस ही देह भर में उपटे हुए थे ॥ २० ।

विकटं भीषणाकारं क्षुत्क्षाममतिलोमशम् ।
दावदग्धद्रुमाकारमतिचञ्चललोचनम् ॥ २१ ।
मूर्तं भयानकमिव सर्वप्राणिभयप्रदम् ।
हृदयाकम्पनं दृष्ट्वा तं प्रेतं वृद्धतापसः ॥
अतिदीनाननं कस्त्वमिति धैर्येण पृष्टवान् ॥ २२ ।
कुतस्त्वमिह सम्प्राप्तः कस्मात्ते गतिरीदृशी ।
अनुक्रोशधिया रक्ष पृच्छामि वद निर्भयम् ॥ २३ ।
अस्माकं तापसानां च न भयं त्वद्विधान् मनाक् ।
शिवनामसहस्राणां विभूतिकृववर्मणाम् ॥ २४ ।
तापसोदीरितमिति तद्रक्षः प्रीतिपूर्वकम् ।
निशम्य प्राञ्जलिः प्राह तं कृपालुं तपोधनम् ॥ २५ ।

विकटं कुत्सितम् । भीषणाकारं भयजनकाकारम् ॥ विटंक मिति क्वचित् । तत्रापिस स एवार्थः । क्षुत्क्षामं बुभुक्षया कृशम् । अतिलोमशं निबिडलोमवन्तम् । दावदग्धद्रुमाकारं वनाग्निभस्मीकृतवृक्षसदृशम् । अतिचञ्चले लोचने यस्य तम् ॥ २१ ।

किं बहुना, मूर्तं मूर्तिमद् भयानकं भयमिव । अत एव प्राणिमात्रस्य भयप्रदम् ॥ २२ ।

ऐसे विकट और परम भयानक रूप वाले, भूख से मरते हुए, समस्त शरीर रोंगटों से भरा, दावानल से जले हुए ठूँठे पेड़ की तरह, अत्यन्त चंचल नेत्र, समस्त प्राणियों के भय उपजाने वाले मूर्तिमान् साक्षात् भयानक रस के समान हृदय को कंपा देने वाले अत्यंत हीनमुख उस पिशाच को देखकर बड़ी धीरता के साथ उस बूढ़े तपस्वी ने पूछा कि तुम कौन हो ? ॥ २१-२२ ।

और तुम यहाँ कैसे आये ? फिर तुम्हारी यह दशा कैसे हुई है ? हे पिशाच ! मैं दया की बुद्धि से पूँछ रहा हूँ, तू निर्भय होकर कह ॥ २३ ।

और तेरे ऐसों से हम सब तपस्वियों को जो शिव के सहस्रनाम को जपते तथा विभूति का कवच पहिने रहते हैं, तनिक भी डर नहीं है ॥ २४ ।

पिशाच ने तपस्वी की इस बात को प्रीति से सुनकर और हाथ जोड़कर उस दयाशील तपोधन से कहा ॥ २५ ।

राक्षस उवाच–

अनुक्रोशोऽस्ति यदि ते भगवंस्तापसोत्तम ।
स्ववृत्तान्तं तदा वच्मि शृणुष्वावहितः क्षणम् ॥ २६ ।
प्रतिष्ठानाभिधानोऽस्ति देशो गोदावरीतटे ।
तीर्थप्रतिग्रहरुचिस्तत्रासं ब्राह्मणस्त्वहम् ॥ २७ ।
तेन कर्मविपाकेन प्राप्तोऽस्मि गतिमीदृशीम् ।
मरुस्थले महाघोरे तरुतोयविवर्जिते ॥ २८ ।
गतो बहुतरः कालस्तत्र मे वसतो मुने ।
क्षुधितस्य तृषार्तस्य शीततापसहस्य च ॥ २९ ।
वर्षत्यपि महामेघे धारासारैर्दिवानिशम् ।
प्रावृट्कालेऽनिले वाति किञ्चित्प्रावरणं न मे ॥ ३० ।
पर्वण्यदत्तदाना ये कृततीर्थप्रतिग्रहाः ।
त इमां योनिमृच्छन्ति महादुःखनिबन्धनीम् ॥ ३१ ।
गते बहुतिथे काले मरुभूमौ मुने मया ।
दृष्टो ब्राह्मणदायाद एकदा कश्चिदागतः ॥ ३२ ।

गोदावरीतीर इति प्रयागव्यावृत्त्यर्थमुक्तम् ॥ २७ ।
वाति सति । प्रावरणमाच्छादनम् ॥ ३० ॥

पिशाच बोला–

भगवन् ! यदि आपने दयादृष्टि की है, तो हे तापसोत्तम ! मैं अपना वृत्तान्त कहता हूँ आप क्षण भर मन देकर सुन लें ॥ २६ ।

गोदावरी नदी के तीर पर एक प्रतिष्ठान नामक देश है, वहाँ पर मैं तीर्थ का दान लेने वाला ब्राह्मण था ॥ २७ ।

उसी कर्म के फल से मेरी यह दशा हुई है, वृक्ष और जल से रहित बड़े घोर मरुस्थल में निवास करते-करते मुझे बहुत दिन काटने पड़े, हे मुनिराज ! उस वेला क्षुधा, पिपासा, शीत और घाम यह सब मुझे सहना ही पड़ता था ॥ २८-२९ ।

वर्षाकाल में जब रात्रि-दिन मूसलाधार घोर वृष्टि होती थी और वायु का वेगवान् झँकोरा चलता था, तब भी मेरे पास एक टुकड़ा कपड़ा न था (जिससे मैं अपनी देह तो ढाँप सकता) ॥ ३० ।

जो लोग तीर्थ में प्रतिग्रह तो ले लेते हैं, परन्तु पर्व पड़ने पर भी स्वयं कुछ दान नहीं करते, उन्हीं लोगों को बड़े दुःख में डालनेवाली यह (पिशाच) योनि भोगनी पड़ती है ॥ ३१ ।

हे मुने ! उस मरुभूमि में इसी भाँति बहुत दिन बीत जाने पर एकबार मैं ने एक ब्राह्मण के लड़के को आते हुए देखा ॥ ३२ ।

सूर्योदयमनुप्राप्य सन्ध्याविधिविवर्जितः ।
कृत्वा मूत्रपुरीषे तु शौचाचमनवर्जितः ॥ ३३ ।
मुक्तकच्छमशौचं च सन्ध्याकर्मविवर्जितम् ।
तं दृष्ट्वा तच्छरीरेऽहं संक्रान्तो भोगलिप्सया ॥ ३४ ।
स द्विजो मन्दभाग्यान्मे केनचिद् वमिजा सह ।
अर्थलोभेन सम्प्राप्तः पुरीं पुण्यामिमां मुने ॥ ३५ ।
अन्तःपुरि प्रविष्टोऽभूत् स द्विजो मुनिसत्तम ।
तच्छरीराद् बहिर्भूतस्त्वहं पापैः समं क्षणात् ॥ ३६ ।
प्रवेशो नास्ति चास्माकं प्रेतानां तपसांनिधे ।
महतां पातकानां च वाराणस्यां शिवाज्ञया ॥ ३७ ।
अद्यापि तानि पापानि तद्बहिर्निर्गमेच्छया ।
बहिरेव हि तिष्ठन्ति सीम्नि प्रमथसाध्वसात् ॥ ३८ ।
अद्य श्वो वा परश्वो वा स बहिर्निर्गमिष्यति ।
इत्याशया स्थिताः स्मो वै यावदद्य तपोधन ॥ ३९ ।

संक्रान्तः प्रविष्टः ॥ ३४ ।

पुर्यामित्यन्तःपुरि पुरीमध्य इत्यर्थः ॥ ३६ ।

जो कि सूर्य उदय हो जाने पर भी सन्ध्या इत्यादि कुछ नहीं किये हुए था, परं च मलमूत्र करके शौच और कुल्ला आदि कुछ भी नहीं किया था ॥ ३३ ।

बस उसे पछौटा कोले (बिना लाँग बाँधे) शौच से हीन और संध्या कर्म से रहित देखते ही मैं भोग की वांछा से उस के शरीर में घुस गया ॥ ३४ ।

हे मुनिनाथ ! मेरे मन्दभाग्य होने से वह ब्राह्मणकुमार किसी बनियां के साथ धन के लोभ से इस पवित्र (काशी) पुरी में चला आंया ॥ ३५ ।

हे मुनिसत्तम ! ज्यों ही वह नगर की सीमा के भीतर घुसा त्यों ही मैं उसके पापों के साथ क्षणमात्र में उसके शरीर से बाहर हो पड़ा ॥ ३६ ।

हे तपोनिधे ! (मेरे बाहर ही रुक जाने का कारण यह है कि) महादेव की आज्ञानुसार इस वाराणसी पुरी में मेरे ऐसे पिशाच और बड़े-बड़े पातक भीतर नहीं जाने पाते ॥ ३७ ॥

सो अब तक वे सब पाप उसके आने का बाट जोहते हुए गण लोगों के डर से सीमा के बाहर ही ठहरे हैं ॥ ३८ ।

हे तपोधन ! वह इसी आज, कल, परसों तक बाहर निकलेगा—इसी आशा में पड़कर हम सब आज तक बैठे हैं ॥ ३९ ।

नाद्यापि स बहिर्गच्छेन्नाद्याप्याशा प्रयाति नः ।
इत्यास्महे निराधारा आशापाशनियन्त्रिताः ॥ ४० ॥
चित्रमद्यतनं वच्मि तपस्विंस्तन्निशामय ।
अतीवभाविकल्याणमिति मन्येऽधुनैव हि ॥ ४१ ॥
आ प्रयागं प्रतिदिनं प्रयामः क्षुधिता वयम् ।
आहारकाम्यया क्वापि परं नो किञ्चिदाप्नुमः ॥ ४२ ॥
सन्ति सर्वत्र फलिनः पादपाः प्रतिकाननम् ।
जलाशयाश्च स्वच्छापाः सन्ति भूम्यां पदे पदे ॥ ४३ ॥

अद्यापीति । सीम्नि सीमनि । सीमा प्रमथेति पाठे आदन्तोऽपि सीमाशब्दो द्रष्टव्यः । अत्रेदं तात्पर्यम् । तच्छरीरप्रवेशमात्राशया केवलं तस्य बहिर्गमनेच्छया सीम्नि पापानि तिष्ठन्ति, न तु प्रवेशोऽस्ति वाराणस्यां प्रविष्टस्य पुनस्तेषां प्रवेशासम्भवात् । यद्वा यस्तु जितेन्द्रियो भूत्वा यथाविधि काश्यामायाति, तस्यैव सर्वाणि पापानि नश्यन्ति । तदुक्तम्—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चापि सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ इति ।

अयं च स्वत एव पापी अविधिना प्रथमं वर्त्मनि पापमाचरन्नेवार्थलोभेनागतः । यद्वा बिभीषिकेयं काश्यां प्रविष्टैर्बहिर्न गन्तव्यमिति । वाराणस्यां प्रविष्टो बहिर्न गच्छेदित्यादिविधेरर्थवादोऽयं सोऽरोदीदित्यादिवदिति । अत एव एतदपि श्लोकद्वयं कालभैरवोक्तं स्वल्पनारदीयस्थम्—

सीमायां तिष्ठते देव ब्रह्महत्या सुदारुणा ।
वस्तुमिच्छाम्यहं क्षेत्रे तव चक्रगदाधर ॥
स त्वां याचे जगन्नाथ देहि क्षेत्रं सदैव मे ।
मम निर्गमने हत्या पुनरेव प्रवर्त्तते ॥

इत्यनयैव दिशा नेयमिति सर्वमनवद्यम् ॥ ३८ ॥

तर्हि त्वं कथमत्र काश्यां प्रविष्टोऽसीत्यत आह । चित्रमिति ॥ ४१ ॥

अब तक न वह बाहर निकलता है, न हम लोगों की आशा ही दूर होती है, इसी आशा के जाल में उलझकर बिना अवलंब के हम सब पड़े हैं ॥ ४० ।

हे तपस्विन् ! अब मैं आज की विचित्र बात कहता हूँ, आप इसे भी सुन लें, मेरी समझ में तो इस घटना से अभी बड़ा भारी कल्याण हुआ चाहता है ॥ ४१ ।

हम लोग प्रतिदिन मारे भूख के व्याकुल होकर आहार (ढूँढ़ने) के लिये (यहाँ से लेकर) प्रयागपर्यन्त चले जाते हैं, पर (कभी) कुछ हाथ नहीं लगता ॥ ४२ ।

सभी जंगलों में फलों से लदे हुए बहुत से वृक्ष पड़े हैं और इस भूमि में पग-पग पर निर्मल जल से भरे अनेक जलाशय भी विद्यमान हैं ॥ ४३ ।

अन्यान्यपि च भक्ष्याणि सर्वेषां सुलभान्यहो ।
पानान्यपि विचित्राणि सन्ति भूयांसि सर्वतः ॥ ४४ ।
परं नो दृग्गतान्येव दूरे दूरे व्रजन्त्यहो ।
दैवादद्यैकमायान्तं दृष्ट्वा कार्पटिकं मुने ॥ ४५ ।
तस्यान्तिकमहं प्राप्तः क्षुधया परिपीडितः ।
प्रसह्य भक्षयाम्येनमिति मत्वा त्वरान्वितः ॥ ४६ ।
यावत्तं तु जिघृक्षामि तावत्तद्वदनाम्बुजात् ।
शिवनामपवित्रा नाङ्निरगाद् विघ्नहारिणी ॥ ४७ ।
शिवनामस्मरणतो मदीयमपि पातकम् ।
मन्दीभूतं ततस्तेन प्रवेशं लब्धवानहम् ॥ ४८ ।
सीमस्थैः प्रमथैर्नाहं सद्यो दृग्गोचरीकृतः ।
शिवनाम श्रुतौ येषां तान्न पश्येद्यमोऽपि यत् ॥ ४९ ।
अन्तर्गेहस्य सीमानं प्राप्तस्तेन सहाधुना ।
स तु कार्पटिको मध्यं प्रविष्टोऽहमिह स्थितः ॥ ५० ।

दृग्गतानि सन्तीत्यन्वयः । पानानि प्रपानकादीनि । पाकान्यपीति क्वचित्पाठः । तत्र पक्वानीत्येव ॥ ४४ ।

नेत्रविषयीकरणे कैमुतिकं हेतुमाह । शिवेति ॥ ४९ ।

यों ही और भी अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ तथा बहुत से विचित्र पीने के द्रव्य और लोगों को बड़े ही सुलभ हैं ॥ ४४ ।

परन्तु (क्या करें) हमलोगों की दृष्टि पड़ते ही वे सब वस्तुएँ दूर-दूर हटते चले जाते हैं । हे मुने ! आज अकस्मात् एक वस्त्रधारी संन्यासी को आते हुए देखकर भूख के मारे अत्यन्त पीड़ित हो, चाहा कि इसे बलपूर्वक पटक कर खा डालूँ—बस यही विचार कर बड़ी शीघ्रता से उसके पास पहुँचा ॥ ४५-४६ ।

ज्यों ही मैं उसे पकड़ना चाहता था त्यों ही उसके मुखारविन्द से विघ्न-विनाशिनी शिवनाम की पवित्र वाणी निकल पड़ी ॥ ४७ ।

(अब तो) शिवनाम के स्मरण होते ही मेरा भी (पूर्वसंचित) पाप दब गया, इसी से मैं इस पुरी में प्रवेश कर सका ॥ ४८ ।

सीमा पर रहनेवाले प्रमथगणों ने एकबार भी मेरी ओर नहीं ताका; क्योंकि जिनके कान में शिव का नाम जा पड़ता है, फिर उसकी ओर यमराज भी दृष्टि नहीं फेर सकते ॥ ४९ ।

मैं तो अभी उसी (संन्यासी) के साथ (पंचकोशी की) सीमा लाँघता हुआ यहाँ अन्तर्गृही के सिवाने पर आ पहुँचा हूँ । फिर वह संन्यासी तो भीतर चला गया, पर मैं यहाँ ही रह गया ॥ ५० ।

आत्मानं बहुमन्येऽहं त्वां विलोक्याधुना मुने ।
मामुद्धर कृपालो त्वं योनेरस्मात्सुदारुणात् ॥ ५१ ॥
इति प्रेतवचः श्रुत्वा स कृपालुस्तपोधनः ।
मनसा चिन्तयामास धिङ् निजार्थोद्यमान्नरान् ॥ ५२ ॥
स्वोदरम्भरयः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः।
स एव धंन्यः संसारे यः परार्थोद्यतः सदा ॥ ५३ ॥
तपसाद्य निजेनाहं प्रेतमेतमघातुरम् ।
मामेव शरणं प्राप्तमुद्धरिष्याम्यसंशयम् ॥ ५४ ॥
विमृश्येति स वै चित्ते पिशाचं प्राह सत्तमः ।
विमलोदे सरस्यस्मिन् स्नाहि रे पापनुत्तये ॥ ५५ ॥
पिशाच ते पिशाचत्वं तीर्थस्यास्य प्रभावतः ।
कपर्दीशेक्षणादद्य क्षणात्क्षीणं विनङ्क्ष्यति ॥ ५६ ॥
श्रुत्वेति स मुनेर्वाक्यं प्रेतः प्राह प्रणम्य तम् ।
प्रीतात्मा प्रीतमनसं प्रबद्धकरसम्पुटः ॥ ५७ ॥

सत्तमः सतां मध्ये श्रेष्ठः । तापस इति क्वचित् ॥ ५५ ।

हे मुनीश्वर ! इसी घड़ी आपके दर्शन पा जाने से मैं अपने को बहुत कुछ (कृतार्थ) समझने लगा । हे कृपानिधे ! आप इस दारुण (पिशाच) योनि से मेरा उद्धार कर देवें ॥ ५१ ।

इसके पश्चात् उस पिशाच के उक्त (दीन) वचन को सुनकर वह दयालु तपस्वी मन में सोचने लगा कि स्वार्थ में ही लगे रहने वाले मनुष्य को धिक्कार है ॥ ५२ ।

पशु, पक्षी और मृग इत्यादि सभी कोई अपना पेट तो भर ही लेते हैं; परन्तु इस संसार में जो सदैव परोपकार करने को उद्यत रहता है, वही धन्य है ॥ ५३ ।

सो आज मैं इस शरणागत पिशाच का—जो पाप के बोझ से दबा जा रहा है—अपने तपोबल से उद्धार करूँगा ॥ ५४ ।

उस सज्जन ने मन ही मन यह विचार स्थिर करके पिशाच से कहा कि, "तू इस विमलोदक सरोवर में पाप त्यागने के लिये नहा लो ॥ ५५ ।

रे पिशाच ! इस तीर्थ के प्रभाव तथा भगवान् कपर्दीश्वर के दर्शन से अभी क्षण भर में तेरी पिशाचयोनि क्षीण होकर नष्ट हो जायेगी" ॥ ५६ ।

मुनि की बात सुन, प्रसन्नचित्त हो दोनों हाथ को जोड़ प्रसन्न मन से उस मुनि को प्रणाम कर पिशाच कहने लगा ॥ ५७ ।

पानीयं पातुमपि नो लभेयं मुनिसत्तम ।
स्नानस्य का कथा नाथ रक्षेयुर्जलदेवताः ॥ ५८ ।
पानस्याप्यत्र का वार्ता जलस्पर्शोऽपि दुर्लभः ।
इति प्रेतोक्तमाकर्ण्य स भृशं प्रीतिमानभूत् ॥ ५९ ।
उवाच च तपस्वी तं जगदुद्धरणक्षमः ।
गृहाणेमां विभूतिं त्वं ललाटफलके कुरु ॥ ६० ।
अस्माद्विभूतिमाहात्म्यात् प्रेत कोऽपि न कुत्रचित् ।
बाधां करोति कस्यापि महापातकिनोऽप्यहो ॥ ६१ ।
भालं विभूतिधवलं विलोक्य यमकिङ्कराः ।
पापिनोऽपि पलायन्ते भीताः पाशुपतास्त्रतः ॥ ६२ ।
अस्थिध्वजाङ्कितं दृष्ट्वा यथा पान्था जलाशयम् ।
दूरयन्ति तथा भस्मभालाङ्कं यमकिङ्कराः ॥ ६३ ।

यतो रक्षेयुः ॥ ५८ ।

विभूतिधारणमेव पाशुपतास्त्रम् ॥ ६२ ।

दूरगमनमात्रे दृष्टान्तः । अस्थीति । अस्थिध्वजाङ्कितं शवकङ्कालाद्युपलक्षितम् ॥ ६३ ।

हे नाथ ! जल के अधिष्ठाता देवतालोग (बराबर) रक्षा करते रहते हैं, इस कारण से हे मुनिसत्तम ! मुझे तो पीने के लिये भी पानी नहीं मिलता, फिर नहाने की कौन बात है ? ॥ ५८ ।

और (नहाने) पीने को क्या कहें ? मेरे लिये तो जल का छूना ही बड़ा कठिन है। पिशाच की यह बात सुन अत्यंत प्रसन्न होकर संसार भर के उद्धार करने में समर्थ उस तपस्वी ने उससे कहा कि—'अच्छा तो ले, इस विभूति को अपने ललाट-फलक में लगा दे ॥ ५९-६० ।

हे पिशाच ! इस विभूति की ऐसी विचित्र महिमा है कि चाहे कैसा ही पापी क्यों न हो, पर उसे कहीं पर कोई भी कुछ बाधा नहीं डाल सकता ॥ ६१ ।

यमराज के दूत लोग, मस्तक पर विभूति को पोती हुई देखकर चाहे वह पापी ही क्यों न हो पर उस पाशुपत-अस्त्र से डर कर भाग ही जाते हैं ॥ ६२ ।

जैसे पथिक लोग हड्डियों की ध्वजा से चिह्नित जलाशय को देखते ही दूर से छोड़ देते हैं वैसे ही यम के किंकर भस्म से भूषित भालदेशवाले के पास नहीं जाते ॥ ६३ ।

कृतभूतितनुत्राणं शिवमन्त्रैर्नरोत्तमम् ।
नोपसर्पन्ति नियतमपि हिंस्राः समन्ततः ॥ ६४ ।
भक्त्या बिभर्ति यो भस्म शिवमन्त्रपवित्रितम् ।
भाले वक्षसि दोर्मूले न तं हिंसन्ति हिंसकाः ॥ ६५ ।
सर्वेभ्यो दुष्टसत्त्वेभ्यो यतो रक्षेदहर्निशम् ।
रक्षत्येषा ततः प्रोक्ता विभूतिर्भूतिकृद्यतः ॥ ६६ ।
भासनाद् भार्त्सनाद् भस्म पांसुः पांसुत्वदायतः ।
पापानां क्षारणात् क्षारो बुधैरेवं निरुच्यते ॥ ६७ ।
गृहीत्वाधारमध्यात् स भस्म प्रेतकरेऽर्पयत् ।
सोऽप्यादरात्समादाय भालदेशे न्यवेशयत् ॥ ६८ ।

शिवमन्त्रैर्नमः शिवायेत्यादिभिः ॥ ६४ ।

भाले वक्षसि दोर्मूले शिरस्यपि बोद्धव्यम् । शिरो ललाटवक्षःस्कन्धेष्विति श्रुतेः ॥ ६५ ।

अग्निहोत्रादिदग्धस्य करीषादेर्नामपञ्चकं निर्वक्ति सर्वेभ्य इति द्वयेन ॥ ६६ ।

भासनाज्जगत्प्रकाशनात् । भर्त्सनादविद्यातत्कार्ययोस्तिरस्करणात् । पांसुत्वदायतः पांसुत्वं पापत्वं द्यति खण्डयति, निपातनात्साधुत्वम् ॥ ६७ ।

गृहीत्वेत्यस्य पूर्वमितिशब्दो ज्ञातव्यः । इति एवं निर्वचनं कृत्वा ॥ ६८ ।

जो उत्तम नर शिवमंत्रों को कहकर भस्मरूप कवच को शरीर में धारण करता है, उसके समीप में हिंसक जन्तु भी कभी नहीं जा सकते हैं ॥ ६४ ।

जो कोई शिवमंत्रों से पवित्रित भस्म भक्तिपूर्वक भाल, वक्षःस्थल और बाहुमूल में लगाता है, उसे हिंसक लोग भी कभी नहीं मार सकते ॥ ६५ ।

समस्त दुष्ट जन्तुओं से सर्वदा रक्षा करने के कारण रक्षा और भूति (ऐश्वर्य) बढ़ाने से विभूति संसार में भासमान करने तथा अज्ञान कर्मों के भर्त्सन करने से भस्म, (भुनने से भस्म), पांसुत्व दोष के दूर करने से पांसु तथा पापों के क्षरण कर देने से क्षार भस्म के इन नामों को पंडित लोगों ने अन्वर्थक नाम बताया है ॥ ६६-६७ ।

(यह कहकर) उस तपस्वी ने आधार (बोरसी) भस्म लेकर उस पिशाच के हाथ में दिया और उसने भी बड़े ही आदर से लेकर अपने कपाल में मल दिया (ललाट फलकपर लगा लिया) ॥ ६८ ।

विभूतिधारिणं वीक्ष्य पिशाचं जलदेवताः ।
जलावगाहनपरं वारयाञ्चक्रिरे न तम् ॥ ६९ ।
स्नात्वा पीत्वा स निर्गच्छेद्यावत्तस्माज्जलाशयात् ।
तावत्पैशाच्यमगमद्दिव्यदेहमवाप च ॥ ७० ।
दिव्यमालाम्बरधरो दिव्यगन्धानुलेपनः ।
दिव्ययानं समारुह्य वर्त्म प्राप्तोऽथ पावनम् ॥ ७१ ।
गच्छता तेन गगने स तपस्वी नमस्कृतः ।
प्रोच्चैः प्रोवाच भगवन् मोचितोऽस्मि त्वयाऽनघ ॥ ७२ ।
तस्मात्कदर्ययोनित्वादतीवपरिनिन्दितात् ।
अस्य तीर्थस्य माहात्म्याद्दिव्यं देहमवाप्तवान् ॥ ७३ ।
पिशाचमोचनं तीर्थमद्यारभ्य समाख्यया ।
अन्येषामपि पैशाच्यमिदं स्नानाद्धरिष्यति ॥ ७४ ।
अस्मिंस्तीर्थे महापुण्ये ये स्नास्यन्तीह मानवाः ।
पिण्डांश्च निर्वपिष्यन्ति सन्ध्यातर्पणपूर्वकम् ॥ ७५ ।
दैवात्पैशाच्यमापन्नास्तेषां पितृपितामहाः ।
तेऽपि पैशाच्यमुत्सृज्य यास्यन्ति परमां गतिम् ॥ ७६ ।

जलाधिष्ठित देवताओं ने भी विभूतिधारी पिशाच को जल में उतरकर नहाते हुए देख कर तनिक भी निवारण नहीं किया ॥ ६९ ।

फिर तो वह पिशाच ज्यों ही नहाकर और पानी पीकर उस सरोवर से बाहर हुआ, त्यों ही उस की पिशाचयोनि छूट गयी और वह (तुरन्त) दिव्यदेही हो गया ॥ ७० ।

दिव्य माला और वस्त्रों को पहन दिव्य गन्धों का अनुलेपन कर, दिव्य विमान पर चढ़ पावनमार्ग की ओर चल पड़ा ॥ ७१ ।

आकाशमार्ग में जाते हुए उस (दिव्यपुरुष) ने उस तपस्वी को प्रणाम करके बड़े उच्चस्वर से कहा—हे अनघ ! भगवन् ! मुझे आप ही ने परमनिन्दित उस कुत्सित पिशाचयोनि से छुड़ाया है और इस तीर्थ के महिमाबल से मुझे यह दिव्यदेह प्राप्त हुई है ॥ ७२-७३ ।

आज से इस तीर्थ का नाम पिशाचमोचन पड़ेगा और इसमें स्नान करने से और लोगों की भी पिशाचयोनि छूट जायेगी ॥ ७४ ।

और जो लोग इस परमपुनीत तीर्थ में स्नान करके संध्या और तर्पण के अनन्तर पितरों को पिण्डदान करेंगे, यदि दैवात् उन के बाप-दादे पिशाचयोनि में पड़े होंगे तो उससे छूटकर उत्तम गति को पा जावेंगे ॥ ७५-७६ ।

अद्य शुक्लचतुर्दश्यां मार्गे मासि तपोनिधे ।
अत्र स्नानादिकं कार्यं पैशाच्यपरिमोचनम् ॥ ७७ ।
इमां सांवत्सरीं यात्रां ये करिष्यन्ति मानवाः ।
तीर्थप्रतिग्रहात्पापान्निःसरिष्यन्ति ते नराः ॥ ७८ ।
पिशाचमोचने स्नात्वा कपर्दीशं समर्च्य च ।
कृत्वा तत्रान्नदानं च नरोऽन्यत्रापि निर्भयाः ॥ ७९ ।
मार्गशुक्लचतुर्दश्यां कपर्दीश्वरसन्निधौ ।
स्नात्वाऽन्यत्रापि मरणान्न पैशाच्यमवाप्नुयुः ॥ ८० ।
इत्युक्त्वा दिव्यपुरुषो भूयो भूयो नमस्य तम् ।
तपोधनं महाभागो दिव्यां गतिमवाप्तवान् ॥ ८१ ।
तपोधनोऽपि तद्दृष्ट्वा महाश्चर्यं घटोद्भव ।
कपर्दीश्वरमाराध्य कालान्निर्वाणमाप्तवान् ॥ ८२ ।
पिशाचमोचनं तीर्थं तदारभ्य महामुने ।
वाराणस्यां परां ख्यातिमगमत्सर्वपापहृत् ॥ ८३ ।

नरो नराः ॥ ७९ ।

हे तपोधन ! आज अगहन मास के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी है, आज के दिन यहाँ पर स्नानादिक करने से पिशाचयोनि का मोचन हो जाता है (काशी में उस दिन 'पिशाचमोचन' पोखरे पर भारी मेला होता है) ॥ ७७ ।

जो लोग इस दिन प्रतिवर्ष यहाँ की यात्रा करेंगे, वे तीर्थ में दान लेने के पाप से मुक्त हो जायेंगे ॥ ७८ ।

पिशाचमोचन तीर्थ में स्नान तथा कपर्दीश्वर का पूजन एवं वहाँ पर अन्नदान करने वाला मनुष्य सर्वत्र निर्भय रहता है ॥ ७९ ॥

अगहन सुदी चतुर्दशी के दिन कपर्दीश्वर के समीप (इस पिशाचमोचन) में स्नान कर लेने पर चाहे कहीं भी मरे, पर पिशाच नहीं होना पड़ता ॥ ८० ।

यह कह कर वह महाभाग्यशाली दिव्यपुरुष और उस मुनि को बारंबार प्रणाम करके दिव्यगति को प्राप्त हो गया ॥ ८१ ।

हे घटोद्भव ! उस तपस्वी ने भी इस आश्चर्यमयी घटना को देख, कपर्दीश्वर की आराधना करके कालक्रम में मोक्षलाभ किया ॥ ८२ ।

हे मुनिवर ! वाराणसीपुरी में तभी से वह 'पिशाचमोचन' तीर्थ सर्वपापनाशक (होने से) बहुत ही प्रसिद्ध हो गया ॥ ८३ ।

पैशाचमोचने तीर्थे सम्भोज्य सिवयोगिनम् ।
कोटिभोज्यफलं सम्यगेकैकपरिसंख्यया ॥ ८४ ।
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं नरो नियतमानसः ।
भूतैः प्रेतैः पिशाचैश्च कदाचिन्नाभिभूयते ॥ ८५ ।
बालग्रहाभिभूतानां बालानां शान्तिकारकम् ।
पठनीयं प्रयत्नेन महाख्यानमिदं परम् ॥ ८६ ।
इदमाख्यानमाकर्ण्य गच्छन् देशान्तरं नरः ।
चोरव्याघ्रपिशाचाद्यैर्नाभिभूयेत कुत्रचित् ॥ ८७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे पिशाचमोचनमहिमाकथनं नाम चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ।

बालग्रहाभिभूतानां बालग्रहाः पूतनाद्यास्तदभिभूतास्तदाक्रान्तास्तेषां बालानाम् ॥ ८६ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ।

इस पिशाचमोचन तीर्थ पर एक-एंक शिवयोगी के भोजन कराने से करोड़-करोड़ (संन्यासी के) खिलाने का फल पूर्ण रीति से प्राप्त होता है ॥ ८४ ।

जो कोई नियतचित्त से इस पवित्र अध्याय को सुनता है, उसे कभी भूत, प्रेत और पिशाच इत्यादि का भय नहीं होता ॥ ८५ ।

यह उत्तम उपाख्यान बालग्रहों से पीड़ित बालकों के (रोगावस्था में) प्रयत्न-पूर्वक पाठ करने से (ग्रहों की) पूर्ण शान्ति कर देता है ॥ ८६ ।

इस आख्यान को सुनकर यदि कोई मनुष्य परदेश की यात्रा करे, तो उसे कहीं भी चोर, बाघ अथवा पिशाच इत्यादि का भय नहीं होता ॥ ८७ ।

चौदश अगहन शुक्ल की, लोटा भंटा नाम ।
पिशाचमोचन तीर्थ पै, मेला लगतलाम ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां पिशाचमोचनकथावर्णनं नाम चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ।

॥ अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

अन्येऽपि ये गणास्तत्र काश्यां लिङ्गानि चक्रिरे ।
तांश्च ते कथयिष्यामि कुम्भयोने निशामय ॥ १ ।
गणेन पिङ्गलाख्येन पिङ्गलाख्येशसंज्ञितम् ।
लिङ्गं प्रतिष्ठितं शम्भोः कपर्दीशादुदग्दिशि ॥ २ ।
तस्य दर्शनमात्रेण पापानां जायते क्षयः ।
वीरभद्रो महाप्रीतो देवदेवस्य शूलिनः ॥ ३ ।
वीरभद्रेश्वरं लिङ्गं ध्यायेदद्यापि निश्चलः ।
तस्य दर्शनमात्रेण वीरसिद्धिः प्रजायते ॥ ४ ।
अविमुक्तेश्वरात्पश्चाद्वीरभद्रेश्वरं नरः ।
समर्च्य न रणे भङ्गं कदाचिदपि चाप्नुयात् ॥ ५ ।
वीरभद्रः स्वयं साक्षाद्वीरमूर्तिधरो मुने ।
संहरेद्विघ्नसंघातमविमुक्तनिवासिनाम् ॥ ६ ।

अध्याये पञ्चपञ्चाशे महिमानन्दकाननः ।
पिङ्गलाद्यैर्गणेशैश्च लिङ्गाराधनमुच्यते ॥ १ ।

उदगुत्तरस्याम् ॥ २ ।

(काशी-वर्णन और गणेश-प्रेरण)

स्कन्द बोले–

हे कुंभयोने ! वहाँ पर काशी में और भी गणों ने जिन-जिन लिंगों को स्थापित किया था, मैं उनका भी वर्णन करता हूँ, तुम श्रवण करो ॥ १ ।

पिंगलाक्ष नामक पारिषद ने कपर्दीश्वर के उत्तरभाग में पिंगलाक्षेश्वर संज्ञक शिवलिंग को प्रतिष्ठापित किया था ॥ २ ।

उनके केवल दर्शन करने से ही पापों का क्षय हो जाता है । भगवान् महादेव के परमप्रीतिपात्र वीरभद्र भी निश्चलरूप से आज तक वीरभद्रेश्वर का ध्यान करते रहते हैं, उस लिंग के दर्शन से ही वीरसिद्धि हो जाती है ॥ ३-४ ।

जो कोई अविमुक्तेश्वर के पिछवाड़े वीरभद्रेश्वर का पूजन करता है, उसे रणक्षेत्र में कभी भंग नहीं मिलता (रणक्षेत्र में उसका अंग-भंग नहीं होता) ॥ ५ ।

हे अगस्त्यमुने ! स्वयं वीरभद्र ही साक्षात् वीररूप को धारण करके अविमुक्त-क्षेत्रवासियों के विघ्नों का विध्वंस करते रहते हैं ॥ ६ ।

भद्रया भद्रकाल्या च भार्यया शुभया युतम् ।
वीरभद्रं नरोऽभ्यर्च्य काशीवासफलं लभेत् ॥ ७ ।
किरातेन किरातेशं लिङ्गं काश्यां प्रतिष्ठितम् ।
केदाराद्दक्षिणे भागे भक्तानामभयप्रदम् ॥ ८ ।
चतुर्मुखो गणः श्रीमान् वृद्धकालेशसन्निधौ ।
चतुर्मुखेश्वरं लिङ्गं ध्यायेदद्यापि निश्चलः ॥ ९ ।
भक्ताश्चतुर्मुखेशस्य चतुराननवद्दिवि ।
पूज्यन्ते सुरसंघातैः सर्वभोगसमन्विताः ॥ १० ।
निकुम्भेश्वरमालोक्य निकुम्भगणपूजितम् ।
पूजयित्वा व्रजन् ग्रामं कार्यसिद्धिमवाप्नुयात् ॥
कुबेरेशसमीपे तु शिवलोके महीयते ॥ ११ ।
पञ्चाक्षेशं महालिङ्गं महादेवस्य दक्षिणे ।
समभ्यर्च्य नरः काश्यां जातिस्मृतिमवाप्नुयात् ॥ १२ ।

शुभया शुभकारिण्या ॥ ७ ।

वृद्धकालेशसन्निधौ दक्षिणभाग इत्यनुषज्यते ॥ ९ ।

तथा कुबेरेशसमीप इति ॥ ११ ।

मनुष्य शुभप्रदा, भद्रा और भद्रकाली के साथ विराजमान वीरभद्र की पूजा करके काशीवास का फल प्राप्त करता है ॥ ७ ।

यों ही किरात नामक गण ने काशी में केदारेश्वर के दक्षिणभाग में भक्तों के अभय देने वाले किरातेश्वर लिंग को प्रतिष्ठित किया है ॥ ८ ।

श्रीमान् चतुर्मुख नामक गण वृद्धकालेश्वर के समीप में ही दृढ़रूप से चतुर्मुखेश्वर लिंग के ध्यान में आज तक लीन पड़ा रहता है ॥ ९ ।

इस चतुर्मुखेश्वर लिंग के भक्तलोग स्वर्गलोक में समग्र भोगों से पूर्ण होकर साक्षात् ब्रह्मा के समान समस्त देवों से पूजित होते हैं ॥ १० ।

कुबेरेश्वर के पास में हि निकुंभगण के पूजित निकुंभेश्वर के दर्शन और पूजन करने के अनंतर परदेश की यात्रा करने से कार्य की सिद्धि होती है और अन्त में शिवलोक में सादर वास मिलता है ॥ ११ ।

महादेव (नामक लिंग) के दक्षिण ओर में पंचाक्षेश्वर लिंग की पूजा करने से काशी में मनुष्य को जातिस्मरण (की शक्ति) हो जाती है ॥ १२ ।

भारभूतेश्वरं लिङ्गं भारभूतगणार्चितम् ।
अन्तर्गृहोत्तरद्वारि ध्यात्वा शिवपुरे वसेत् ॥ १३ ।
भारभूतेश्वरं लिङ्गं यैः काश्यां न विलोकितम् ।
भारभूताः पृथिव्यास्तेऽवकेशिन इव द्रुमाः ॥ १४ ।
गणेन त्र्यक्षसंज्ञेन लिङ्गं त्र्यक्षेश्वरं परम् ।
त्रिलोचनपुरोभागे शील्येताऽद्यापि कुम्भज ॥ १५ ।
तस्य लिङ्गस्य ये भक्तास्ते तु देहावसानतः ।
त्र्यक्षा एव प्रजायन्ते नात्र कार्या विचारणा ॥ १६ ।
क्षेमको नाम गणपः काश्यां मूर्तिधरः स्वयम् ।
विश्वेश्वरं सर्वगतं ध्यायेदद्यापि निश्चलः ॥ १७ ।
क्षेमकं पूजयेद्यस्तु वाराणस्यां महागणम् ।
विघ्नास्तस्य प्रलीयन्ते क्षेमं स्याच्च पदे पदे ॥ १८ ।
देशान्तरं गतो यस्तु तस्यागमनकाम्यया ।
क्षेमकः पूजनीयोऽत्र क्षेमेणाशु स आव्रजेत् ॥ १९ ।

अवकेशिनोऽफलाः ॥ १४ ।
शील्येत ध्यायेत । शीलेतेति क्वचित् । तत्र याभावश्छान्दसः ॥ १५ ।

अन्तर्गृह के उत्तर द्वार पर भारभूतनामक गण के अर्चित **भारभूतेश्वर महादेव** का ध्यान करने से ही शिवलोक में वास मिलता है ॥ १३ ।

जिन लोगों ने काशी में **भारभूतेश्वर लिंग** का अवलोकन नहीं किया, वे सब बाँझे वृक्ष की भाँति पृथिवी के भारभूत ही बने रहते हैं ॥ १४ ।

हे कुंभज ! त्र्यक्ष नामक गण त्रिलोचन लिंग के सम्मुख, **त्र्यक्षेश्वर** नामक बड़े लिंग का आजतक ध्यान करता रहता है ॥ १५ ।

उस (त्र्यक्षेश्वर) लिंग के जो लोग भक्त हैं, वे शरीरान्त होने पर साक्षात् त्र्यक्ष ही हो जाते हैं—इसमें तनिक भी विचार नहीं करना चाहिए ॥ १६ ।

क्षेमक नामक पारिषद काशी में स्वयं मूर्ति धारण कर स्थिरभाव से आज भी सर्वव्यापी भगवान् विश्वनाथ के ध्यान में मग्न रहता है ॥ १७ ।

जो कोई काशी में गणप्रधान **क्षेमक** का पूजन करता है, उसके विघ्न तो नष्ट हो ही जाते हैं, फिर पग-पग पर क्षेम होने लगता है ॥ १८ ।

यदि कोई परदेश में चला गया हो, तो उसके आने की कामना से यहाँ पर क्षेमक की पूजा करने से वह कुशल-क्षेम से शीघ्र ही लौट आता है ॥ १९ ।

लाङ्गलीश्वरमालोक्य लिङ्गं लाङ्गलिनार्चितम् ।
विश्वेशादुत्तरे भागे न नरो रोगभाग्भवेत् ॥ २० ।
लाङ्गलीशं सकृत्पूज्य पञ्चलाङ्गलदानजम् ।
फलं प्राप्नोत्यविकलं सर्वसम्पत्करं परम् ॥ २१ ।
विराधेश्वरमाराध्य विराधगणपूजितम् ।
सर्वापराधयुक्तोऽपि नाऽपराध्यति कुत्रचित् ॥ २२ ।
दिने दिनेऽपराधो यः क्रियते काशिवासिभिः ।
स याति संक्षयं क्षिप्रं विराधेशसमर्चनात् ॥ २३ ।
नैर्ऋते दण्डपाणेस्तु विराधेशं प्रयत्नतः ।
नत्वा सर्वापराधेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ॥ २४ ।
सुमुखेशं महालिङ्गं सुमुखाख्यगणार्चितम् ।
पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं दृष्ट्वा पापैः प्रमुच्यते ॥ २५ ।
स्नात्वा पिलिपिलातीर्थे सुमुखेशं विलोक्य च ।
सदैव सुमुखं पश्येद्धर्मराजं न दुर्मुखम् ॥ २६ ।
आषाढिनार्चितं लिङ्गमाषाढीश्वरसंज्ञिकम् ।
दृष्ट्वाऽऽषाढ्या नरो भक्त्या सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ॥ २७ ।

दृष्ट्वाऽऽषाढ्यां पञ्चदश्यामित्यग्रिममनुषञ्जनीयम् ॥ २७ ।

विश्वेश्वर के उत्तरभाग में लांगली नामक गण के प्रतिपूजित लांगलीश्वर के दर्शन करने से मनुष्य कभी रोगभागी नहीं होता ॥ २० ।

एक बार भी लांगलीश्वर के पूजन करने से पाँच हल दान करने का पूर्णफल और समस्त सम्पत्तियाँ भी प्राप्त होती हैं ॥ २१ ।

विराध के स्थापित विराधेश्वर की आराधना करने से सब अपराधों से भरे रहने पर भी कहीं अपराधी नहीं होने पाता ॥ २२ ।

काशीवासी लोग जो प्रतिदिन अपराध करते हैं; इस विराधेश्वर के पूजन करने से वे सब अपराध शीघ्र ही क्षय (पूर्णतः क्षीण) हो जाते हैं ॥ २३ ।

दंडपाणि से नैर्ऋत्यकोण पर स्थित विराधेश्वर को प्रयत्नपूर्वक प्रणाम करने से निःसन्देह सब अपराधों से छूट जाता है ॥ २४ ।

सुमुख नामक गण के प्रतिष्ठित पश्चिमाभिमुख सुमुखेश्वर लिंग के देखने से ही सब पाप दूर हो जाते हैं ॥ २५ ।

पिलपिला तीर्थ में स्नान कर सुमुखेश्वर के दर्शन करने से सदैव यमराज को सुमुख ही देखता है, कभी दुर्मुख (रूप) नहीं देखना पड़ता ॥ २६ ॥

मनुष्य आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन आषाढ़ीगण के संस्थापित आषाढ़ीश्वर लिंग का भक्तिपूर्वक दर्शन करने से पापरहित हो जाता है ॥ २७ ।

उदीच्यां भारभूतेशादाषाढीशं समर्चयन् ।
आषाढ्यां पञ्चदश्यां वै न पापैः परितप्यते ॥ २८ ।
शुचिशुक्लचतुर्दश्यां पञ्चदश्यामथापि वा ।
कृत्वा सांवत्सरीं यात्रामनेना जायते नरः ॥ २९ ।

स्कन्द उवाच–

मुने गणेषु चैतेषु वाराणस्यां स्थितेष्विति ।
स्वनाम्ना स्थाप्य लिङ्गानि विश्वेशपरितुष्टये ॥ ३० ।
विश्वेशश्चिन्तयाञ्चक्रे पुनः काशीप्रवृत्तये ।
कं वा हितं प्रहित्याद्य निर्वृतिं परमां भजे ॥ ३१ ।
योगिन्यस्तिग्मगुर्वेधाः शङ्कुकर्णमुखा गणाः ।
व्यावृत्त्य नागताः काश्याः सिन्धुगा इव सिन्धवः ॥ ३२ ।
ध्रुवं काश्यां प्रविष्टा ये ते प्रविष्टा ममोदरे ।
तेषां विनिर्गमो नास्ति दीप्तेऽग्नौ हविषामिव ॥ ३३ ।
येषां हि संस्थितिः काश्यां लिङ्गार्चनरतात्मनाम् ।
त एव मम लिङ्गानि जङ्गमानि न संशयः ॥ ३४ ।

अनेना निष्पापः ॥ २९ ।
प्रहृत्य प्रस्थाप्य ॥ ३१ ।

भारभूतेश्वर की उत्तर ओर आषाढ़ी पूर्णिमा को **आषाढ़ीश्वर** के पूजन करने से पापों का संताप नहीं होने पाता ॥ २८ ।

जो कोई आषाढ़ मास की शुक्ला चतुर्दशी अथवा पौर्णमासी के दिन इस लिंग की वार्षिक यात्रा करता है, वह मनुष्य निष्पाप हो जाता है ॥ २९ ।

स्वामिकार्तिक कहने लगे–

हे मुने ! वाराणसी में विश्वनाथ के प्रसन्ननार्थ अपने-अपने नाम से लिंगों को स्थापित करके इन सब गणों के वहाँ पर ही रह जाने से काशी का समाचार जानने के लिये भगवान् **विश्वेश्वर** फिर चिंता करने लगे । किस हितैषी को भेजूँ, जिससे पूरा सन्तोष पाऊँ ? ॥ ३०-३१ ।

योगिनीगण, सूर्य, ब्रह्मा, शंकुकर्ण इत्यादि गण, ये सब लोग समुद्र में मिल गई नदियों की नाईं (भाँति) फिर नहीं लौटे ॥ ३२ ।

जो लोग काशी में जा बैठे हैं, वे तो सचमुच मेरे उदर ही में बैठे हैं । जलती हुई ज्वाला में घृत की तरह पड़कर अब वे फिर नहीं निकल सकते ॥ ३३ ।

जो लोग लिंगपूजा में तत्पर होकर काशी में वास करते हैं, वे सब मेरे ही जंगम लिंगरूप हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ३४ ।

स्थावरा जङ्गमाः काश्यामचेतनसचेतनाः ।
सर्वे ममैव लिङ्गानि तेभ्यो द्रुह्यन्ति दुर्धियः ॥ ३५ ।
वाचि वाराणसी येषां श्रुतौ वैश्वेश्वरी कथा ।
त एव काशीलिङ्गानि वराण्यर्च्यान्यहं यथा ॥ ३६ ।
वाराणसीतिं काशीति रुद्रावास इति स्फुटम् ।
मुखाद्विनिर्गतं येषां तेषां न प्रभवेद्यमः ॥ ३७ ।
आनन्दकाननं प्राप्य ये निरानन्दभूमिकाम् ।
अन्यां हृदापि वाञ्छन्ति निरानन्दाः सदाऽत्र ते ॥ ३८ ।
अद्यैव वाऽस्तु मरणं बहुकालान्तरेऽपि वा ।
कलिकालभिया पुंसां काशी त्याज्या न कर्हिचित् ॥ ३९ ।
अवश्यंभाविनो भावा भविष्यन्ति पदे पदे ।
सलक्ष्मीनिलयां काशीं ते त्यजन्ति कुतो धियः ॥ ४० ।

वराणि श्रेष्ठानि । चराणीति क्वचित् ॥ ३६ ।

सलक्ष्मीनिलयां लक्ष्म्याश्रयसहिताम् । सल्लक्ष्मीति क्वचित् । सुलक्ष्मीति चान्यत्र । कुतः कस्याः । धियः बुद्धेः ॥ ४० ।

काशी में स्थावर, जंगम, अचेतन और सचेतन जो कुछ हैं, सब मेरे लिंगरूप ही हैं, उनसे द्वेष करने वाले सभी (लोग) दुर्बुद्धि ही होते हैं—'काशी के कंकड़ सब शंकरसमान हैं' ॥ ३५ ।

जिनके मुख से काशी का नाम निकले और जिनके कानों में विश्वनाथ की क़था का प्रवेश हो, वे ही लोग काशी में लिंगस्वरूप हैं और मेरे ही समान पूजनीय तथा श्रेष्ठ हैं ॥ ३६ ।

वाराणसी, काशी, रुद्रावास, यह वचन जिसके मुख से स्पष्टरूप से बाहर होता है, फिर यमराज उसका कुछ नहीं कर सकते ॥ ३७ ।

जो लोग आनन्दवन में पहुँचकर फिर कहीं दूसरी निरानन्दभूमि को हृदय से चाहने लगते हैं, वे इस संसार में सदैव आनन्द से ही हीन रहते हैं ॥ ३८ ।

चाहे आज हो अथवा बहुत दिनों के बाद हो, पर मरना तो अवश्य ही है, अतएव मनुष्यों को चाहिए कि कलि और काल के भय से काशी को कभी नहीं छोड़ें ॥ ३९ ।

जो बातें होने वाली होती हैं, वे पग-पग पर अवश्य ही हो जाती हैं, फिर निर्बुद्धि लोग लक्ष्मी की आश्रयरूपा इस काशी को क्यों छोड़ देते हैं ॥ ४० ।

वरं विघ्नसहस्राणि सोढव्यानि पदे पदे ।
काश्यां नान्यत्र निर्विघ्नं वाञ्छेद्राज्यमपि क्वचित् ॥ ४१ ।
कियन्निमेषसंभोग्याः सन्ति लक्ष्म्याः पदे पदे ।
परं निरन्तरसुखाऽमुत्राप्यत्रापि काशिका ॥ ४२ ।
विश्वनाथो ह्यहं नाथः काशिका मुक्तिकाशिका ।
सुधातरङ्गा स्वर्गङ्गा त्रय्येषा किन्न यच्छति ॥ ४३ ।
पञ्चक्रोश्या परिमिता तनुरेषा पुरी मम ।
अविच्छिन्नप्रमाणर्धिर्भक्तनिर्वाणकारणम् ॥ ४४ ।
संसारभारखिन्नानां यातायातकृतां सदा ।
एकैव मे पुरी काशी ध्रुवं विश्रामभूमिका ॥ ४५ ।
मण्डपः कल्पवल्लीनां मनोरथफलैरलम् ।
फलितः काशिकाख्योऽयं संसाराध्वजुषां सदा ॥ ४६ ।

अविच्छिन्नप्रमाणा अपरिमितप्रमाणा समृद्धिर्यस्याः सा अविच्छिन्नप्रमाणर्धिः । षष्ठ्यन्तपाठे ममेत्यस्य विशेषणम् ॥ ४४ ।

विश्रामभूमिका विश्रामस्थानम् । विश्रामभूमिरिवेति क्वचित् ॥ ४५ ।

फलितः संजातफलः ॥ ४६ ।

काशी में पद-पद पर सहस्रों दुःख सहकर भी रहना अच्छा है; परन्तु कहीं अन्यत्र निष्कंटक राज्य पाने की भी वांछा नहीं करनी चाहिए ॥ ४१ ।

ऐश्वर्य के भोग भला कितने पल, कितने निमेष रह सकते हैं ? पर काशी में तो पद-पद पर इस लोक और परलोक—उभयत्र निरन्तर सुख ही बना रहता है ॥ ४२ ।

मैं विश्वनाथ स्वयं (जिसका) नाथ हूँ, और काशी आप ही मुक्तिप्रकाशिनी है, फिर सुधातरंगा साक्षात् स्वर्गंगा जहाँ बह रही हैं—तो ये तीनों ही एकमत होकर क्या नहीं दे सकते हैं ? ॥ ४३ ।

अगणित समृद्धियों से परिपूर्ण पाँच कोश प्रमाण की यह नगरी तो मेरा शरीर ही है, इससे यह मोक्ष का कारण है ॥ ४४ ।

एक मेरी काशीपुरी ही तो संसार के बोझ से थके हुए तथा सदैव आवागमन करने वाले जीवों की निश्चित विश्रामभूमिका है ॥ ४५ ।

संसार के पथिकों के लिये यह काशी ही सदैव मनोरथरूपी फलों से अत्यंत फला हुआ कल्पलताओं का मंडप है ॥ ४६ ।

चक्रवर्तेरियं छत्रं विचित्रं सर्वतापहृत् ।
काशी निर्वाणराजस्य मम शूलोच्चदण्डवत् ॥ ४७ ।
निर्वाणलक्ष्मीं ये पुण्याः परिवाञ्छन्ति लीलया ।
निरन्तरसुखप्राप्त्यै काशी त्याज्या न तैर्नृभिः ॥ ४८ ।
ममाऽऽनन्दवने ये वै निरन्तरवनौकसः ।
मोक्षलक्ष्मीफलान्यत्र सुस्वादूनि लभन्ति ते ॥ ४९ ।
निर्ममं चापि निर्मोहं या मामपि विमोहयेत् ।
कैर्न संस्मरणीया सा काशी विश्वविमोहिनी ॥ ५० ।
नामाऽपि मधुरं यस्याः परानन्दप्रकाशकम् ।
काश्याः काशीति काशीति सा कैः पुण्यैर्न जप्यते ॥ ५१ ।
काशीनामसुधापानं ये कुर्वन्ति निरन्तरम् ।
तेषां वर्त्म भवत्येव सुधाम वसुधामयम् ॥ ५२ ।
ममतारहितस्यापि मम सर्वात्मनो ध्रुवम् ।
त एव मामका लोके ये काशीनामजापकाः ॥ ५३ ।

निर्वाणराजस्य चक्रवर्तेरिति सम्बन्धः । चक्रवर्तेरित्यार्षम् ॥ ४७ ।

चक्रवर्ती मोक्ष महाराज का यह काशी ही सर्वतापहर विचित्र छत्र है और इस छाते की डाँडी (दंड) मेरा त्रिशूल है ॥ ४७ ।

जिन पुण्यात्माओं को निरन्तर सुख पाने के लिये विना परिश्रम के ही मोक्ष-लक्ष्मी की कामना हो, उन्हें काशी को कदापि नहीं त्यागना चाहिए ॥ ४८ ।

जो लोग मेरे आनन्दवन के निश्चित वनवासी होते हैं, वे मोक्षलक्ष्मी के अत्यंत स्वादिष्ट फलों को (परलोक में) पाते हैं ॥ ४९ ।

ममता और मोह से रहित मुझको भी मोह लेती है वह मोक्षलक्ष्मीदायिनी काशी । उस विश्वमोहिनी काशी को कौन नहीं सुमिरना चाहता है ? ॥ ५० ।

परमानन्द का प्रकाशक होने से जिस काशी[1] का नाम भी बड़ा ही मधुर है, उसे कौन से पुण्यात्मा "काशी-काशी" कहकर नहीं जपते हैं ? ॥ ५१ ।

जो लोग सर्वदा काशी की नामरूपा सुधा को पीते रहते हैं, उनके लिये भूतलव्यापी उत्तम धाम ही मार्ग होता है ॥ ५२ ।

यद्यपि मैं सर्वथा ममतारहित और निश्चित सर्वात्मा हूँ, तथापि संसारभर में वे ही लोग मेरे हैं, जो काशी के नाम को जपते रहते हैं ॥ ५३ ।

---

1. काश्यते=प्रकाश्यते ज्ञानमयी मुक्तिर्यया सा काशी ।

रहस्यमिति विज्ञाय वाराणस्या गणेश्वरैः ।
सब्रह्मयोगिनीब्रध्नैः स्थितं तत्रैव नान्यथा ॥ ५४ ।
अन्यथा ताश्च योगिन्यः स रविः स पितामहः ।
ते गणा मां परित्यज्य कथं तिष्ठेयुरन्यतः ॥ ५५ ।
अतीवभद्रं संजातं काश्यां तिष्ठत्सु तेषु हि ।
एकोऽपि भेदे प्रभवेद्राज्ये राज्यान्तरं विना ॥ ५६ ।
लब्धप्रवेशास्तावन्तस्ते सर्वे मत्स्वरूपिण ।
यतिष्यन्ति यतोऽवश्यं मदागमनहेतवे ॥ ५७ ।
अन्यानपि प्रेषयामि मत्पार्श्वपरिवर्तिनः ।
ये ते तत्र स्थिताः श्रेष्ठा अपि गन्तास्म्यहं ततः ॥ ५८ ।
विचार्येति महादेवः समाहूय गजाननम् ।
प्राहिणोत्कथयित्वेति गच्छ काशीमितः सुत ॥ ५९ ।

राज्ये परराष्ट्रे। राज्यान्तरं विना राज्यान्तरमप्राप्य भ्रष्टराज्योऽपीत्यर्थः । राज्यान्तरस्य नेति पाठे नापुरुषो राज्यान्तरस्य भेदे प्रभवेदित्यन्वयः । राज्यान्तरेऽपीत्यन्यत्र ॥ ५६ ।

यतो यस्मात् । तत इति क्वचित् ॥ ५७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ।

वाराणसी के इस रहस्य को समझ कर ही योगिनियाँ, ब्रह्मा, सूर्य और प्रधान गण लोग वहाँ पर रह गये, उन सबके वैसे आचरण का और कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ ५४ ।

नहीं तो वे योगिनियाँ, वह सूर्य, वह ब्रह्मा और वे सब (मेरे) गण मुझे छोड़कर अन्यत्र कैसे रह जाते ? ॥ ५५ ।

उन सब लोगों का काशी में रह जाना बहुत ही अच्छा हुआ; क्योंकि दूसरे राज्य का एक मनुष्य भी राज्य का भेद (फोड़-फाड़) कर देने में समर्थ हो जाता है ॥ ५६ ।

(पर वहाँ तो) मेरे स्वरूपधारी ही उतने लोग घुस-पैठ चुके हैं । फिर भी वे सब मेरे भी चलने का प्रयत्न अवश्य ही कर रहे होंगे ॥ ५७ ।

अच्छा तो अब और भी कुछ (थोड़े से) अपने पार्श्ववर्ती लोगों को वहाँ भेज दूँ; क्योंकि इन सब प्रधान लोगों के वहाँ ठहर जाने से ही मैं भी पीछे से (बाद में) चल सकूँगा ॥ ५८ ।

महादेव ने यही सब विचार कर गजानन को बुलाया और यह कहकर उनको भी भेजा कि—हे पुत्र ! तुम यहाँ से काशी जाओ और वहाँ पर टिक कर गणों

तत्र स्थितोऽपि संसिद्ध्यै यतस्व सहितो गणैः ।
निर्विघ्नं कुरु चास्माकं नृपे विघ्नं समाचर ॥ ६० ।
आधाय शासनं मूर्ध्नि गणाधीशोऽथ धूर्जटेः ।
प्रतस्थे त्वरितः काशीं स्थितिज्ञः स्थितिहेतवे ॥ ६१ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे काशीवर्णन-गणेशप्रेषणं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ।

के साथ (इस कार्य की सिद्धि में) प्रयत्न करो और हम लोगों के विघ्न को दूर हटाकर राजा में ही (राज्यचर्या में) विघ्न डालो ॥ ५९-६० ।

इसके अनन्तर मर्यादापालक गणाध्यक्ष ने महादेव की आज्ञा को सिर-माथे पर लेकर उनकी स्थिति के लिये (काशीपुनरागमन और काशीवास के लिए) तुरन्त काशी की ओर प्रस्थान किया ॥ ६१ ।

जेहि सुमिरे जग होहिं सब, सिद्धि वहीं गननाथ ।
चले करन जिन काज को, भे वे आपुहिं साथ ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे भाषायामुत्तरार्द्धे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ।

॥ अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

अथेशाज्ञां समादाय गजवक्त्रः प्रतस्थिवान् ।
शम्भोः काश्यागमोपायं चिन्तयन्मन्दराद्रितः ॥ १ ।
प्राप्य वाराणसीं तूर्णमाशु स्यन्दनगो विभुः ।
वाडवीं मूर्तिमालम्ब्य प्राविशच्छकुनैः स्तुतः ॥ २ ।
नक्षत्रपाठको भूत्वा वृद्धः प्रत्यवरोधगः ।
चचार मध्ये नगरं पौराणां प्रीतिमावहन् ॥ ३ ।
स्वयमेव निशाभागे स्वप्नं सन्दर्शयन्नृणाम् ।
प्रातस्तेषां गृहान् गत्वा तेषां वक्ति बलाबलम् ॥ ४ ।

षडुत्तरेऽथ पञ्चाशेऽप्यध्यायेऽत्यन्तपावने ।
ढुण्ढेर्मायाप्रपञ्चश्च वर्ण्यतेऽतिसुखप्रदः ॥ १ ।

अथेति मङ्गलार्थः ॥ १ ।

आशु स्यन्दनगः शीघ्रगामिरथगः । आखिवति क्वचित् । **वाडवीं मूर्तिं** ब्राह्मणमूर्तिम् ।

वाडवं करणे स्त्रीणां घोटकौघे नपुंसकम् ।
पाताले न स्त्रियां पुंसि ब्राह्मणे वडवानलः ॥ इति मेदिनीकारः ।

शकुनैर्यात्रिकैर्माङ्गलिकैः सवत्सधेनुप्रमुखैरिति यावत् । **स्तुतः** स्तुतेर्विषयीकृतः सध्रीचीने लग्ने काश्यां प्रविष्ट इत्यर्थः ॥ २ ।

नक्षत्रपाठको ज्योतिर्वित् । **प्रत्यवरोधगः** प्रत्यन्तः पुरगः प्रतिवेश्मग इत्यर्थः ॥ ३ ।

(गणेश का काशी में प्रवेश और मायाप्रपंच का वर्णन)

स्वामिकार्तिक ने कहा–

इसके अनन्तर महादेव की आज्ञानुसार (की आज्ञा के अनुसार) गणेश्वर मन्दराचल से शिव जी के काशी में आने का उपाय सोचते हुए प्रस्थित हुए ॥ १ ।

मूषकवाहन भगवान् गणेश शीघ्रता से वाराणसी पुरी में पहुँच ब्राह्मण की मूर्ति बनकर अच्छे-अच्छे सगुनों के साथ नगर में प्रविष्ट हुए ॥ २ ।

वृद्ध ज्योतिषी का रूप धारण कर, सभी किसी के भीतरी घरैया हो, नगर के मध्य में पुरवासियों के प्रीतिपात्र बनकर, घूमने लगे ॥ ३ ।

वे आप ही रात्रिकाल में लोगों को स्वप्न दिखलाते और प्रभात को उन सबों के घरों पर जा-जाकर उन स्वप्नों का दोष-गुण (यों) कहने लगे थे ॥ ४ ।

भवद्भिरद्य रात्रौ यद्दृष्टं स्वप्नविचेष्टितम् ।
भवत्कौतूहलोत्पत्त्यै तदेव कथयाम्यहम् ॥ ५ ।
स्वपता भवता रात्रौ तुर्ये यामे महाह्रदः ।
अदर्शि तत्र च भवान् मज्जन्मज्जंस्तटं गतः ॥ ६ ।
तदम्बु पिच्छिले पङ्के मग्नोन्मग्नोऽसि भूरिशः ।
दुःस्वप्नस्याऽस्य च महान् विपाकोऽतिभयप्रदः ॥ ७ ।
काषायवसनो मुण्डः प्रैक्ष्यहो भवताऽपि यः ।
परितापं महानेष जनयिष्यति दारुणम् ॥ ८ ।
रात्रौ सूर्यग्रहो दृष्टो महाऽनिष्टकरो ध्रुवम् ।
ऐन्द्रं धनुर्द्वयं रात्रौ यदलोकि न तच्छुभम् ॥ ९ ।
प्रतीच्यां रविरागत्य प्रोद्यन्तं व्योम्नि शीतगुम् ।
पातयामास भूपृष्ठे तद्राज्यभयसूचकम् ॥ १० ।

मग्नश्चासौ उन्मग्नश्चेति मग्नोन्मग्नः । मग्नोमग्न इति क्वचित् । विपाकः फलम् ॥ ७ ।

आज की रात में जो कुछ स्वप्न आप लोगों ने देखा है, वह आप सबके ही कौतूहल-निमित्त मैं उसी को कहता हूँ ॥ ५ ।

रात के चौथे पहर में आपने बड़ा भारी पोखरा देखा, फिर उस पोखरे में गोते खाते जाकर तीर लगे ॥ ६ ।

(जब तीर से निकलने लगे) तब उसके जल से बिछिलनभरे चहटे में (कीचड़ में) फँसकर अनेक बार डूबे और उतराये। इस दुःस्वप्न का फल बड़ा ही भयानक है ॥ ७ ।

आपने भी गेरुआ वस्त्र पहिने मूड़ मुड़ाये हुए एक मनुष्य को जो देखा है, वह भी अत्यन्त दारुण और बहुत बड़ा सन्ताप देगा ॥ ८ ।

रात्रि में सूर्यग्रहण (लगते) देखा था, सो यह तो ध्रुव करके (निश्चय ही) भारी अनिष्ट करेगा और (आपने) रात में दो इन्द्रधनुष देखे, यह भी अच्छा नहीं है ॥ ९ ।

(और आपने जो यह देखा कि) आकाश में सूर्य ने पश्चिम ओर आकर उदय होते हुए चन्द्रमा को पृथिवी पर गिरा दिया, सो यह राज्य का भयसूचक है ॥ १० ।

युगपत्केतुयुगलं युध्यमानं परस्परम् ।
यददर्शि न तद्भद्रं राष्ट्रभङ्गाय केवलम् ॥ ११ ।
विशीर्यत्केशदशनं नीयमानं च दक्षिणे ।
आत्मानं यत्समद्राक्षीः कुटुम्बस्यापि भीषणम् ॥ १२ ।
प्रासादध्वजभङ्गो यस्त्वयैक्षत निशाक्षये ।
राज्यक्षयकरं विद्धि महोत्पाताय निश्चितम् ॥ १३ ।
नगरी प्लाविता स्वप्ने तरङ्गैः क्षीरनीरधेः ।
पक्षैस्त्रिचतुरैः शङ्के महाशङ्कां पुरौकसाम् ॥ १४ ।
स्वप्ने वानरयानेन यत्त्वमूढोऽसि दक्षिणाम् ।
अतस्तद्वंचनोपायः पुरत्यागो महामते ॥ १५ ।
रुदती या त्वया दृष्टा महिलैका निशात्यये ।
मुक्तकेशी विवसना सा नारी श्रीरिवोद्गता ॥ १६ ।

ऐक्षत दृष्टः । त्वयैवेक्षीति क्वचित् । यत्त्वया वीक्षितः । पतन्निति चान्यत्र ॥ १३ ।

महिला स्त्री ॥ १६ ।

(आपने) एक साथ ही जो दो केतुओं को परस्पर लड़ते हुए देखा था—यह भी अच्छा नहीं है। केवल राज्यभंग ही के लिये (यह होता है) ॥ ११ ।

(आपने स्वप्न में जो) बाल और दाँतों को झड़ते हुए तथा अपने को दक्षिण की ओर ले जाते हुए देखा है, उसे अपना ही नहीं वरन् अपने कुटुम्बभर के लिए बड़ा भयंकर (समझियेगा) ॥ १२ ।

तुमने रात्रि के अन्त में (अपने) अटारी के ध्वज को टूटकर गिर पड़ना जो देखा है, उसे राज्य का नाशकारक और भारी उत्पात मचाने वाला ही जान रखना ॥ १३ ।

यह जो स्वप्न में क्षीरसमुद्र की तरंगों से नगरी को प्लावित होते देखा है, उससे मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तीन ही चार पक्ष के भीतर पुरवासियों को भारी शंका होवेगी (भारी विपत्ति झेलनी पड़ेगी) ॥ १४ ।

स्वप्न में तुम वानरों के यान पर चढ़ाकर दक्षिण की ओर ले जाये गये थे—हे महामते ! बस उससे बचने का तो एक ही उपाय है और वह है पुरत्याग ॥ १५ ।

बीती हुई रात में जो तुमने एक स्त्री को रोती हुई, चोटी खोले और बिना वस्त्र के देखा था, मानों वह (राज) लक्ष्मी ही थी, जो यहाँ से चली गई ॥ १६ ।

देवालयस्य कलशो यत्त्वया वीक्षितः पतन् ।
दिनैः कतिपयैरेव राज्यभङ्गो भविष्यति ॥ १७ ।
पुरी परिवृता स्वप्ने मृगयूथैः समन्ततः ।
रोरूयमाणैरत्यर्थं मासेनैवोद्वसी भवेत् ॥ १८ ।
आतायियूकगृध्राद्यैः पुरीमुपरिचारिभिः ।
सूच्यतेऽत्याहितं किञ्चिद्ध्रुवमत्र निवासिनाम् ॥ १९ ।
स्वप्नोत्पातानिति बहून् शंसन् शंसन्नितस्ततः ।
बहूनुच्चाटयाञ्चक्रे स विघ्नेशः पुरौकसः ॥ २० ।
केषाञ्चित्पुरतोऽवादीद् ग्रहचारं प्रदर्शयन् ।
एकराशिस्थिताः सौरिसितभौमा न शोभनाः ॥ २१ ।
सोऽयं धूमग्रहो व्योम्नि भित्त्वा सप्तर्षिमण्डलम् ।
प्रयातः पश्चिमामाशां स नाशाय विशांपतेः ॥ २२ ।

मृगाः कुक्कुरास्तत्साधारणा वा तेषाम् । यूथैः समूहैः ॥ १८ ।

आतायिश्चिल्लः, यूको घूकस्तत्प्रतिपक्षभूतो बको वा । घूकेति वा पाठः । गृध्रो दाक्षाय्यः । एते आद्या येषां तैः । आतायिघूकगृध्रौघैरिति क्वचित् पाठः । अत्याहितं महाभीतिः ॥ १९ ।

ग्रहचारं ग्रहगतिम् । ग्रहचारमेवाह । एकराशीति । सौरिः शनिः । सितः शुक्रः ॥ २१ ।

स प्रसिद्धः । य इति वा पाठः । धूमग्रहः केतुः ॥ २२ ।

और तुमने जो देवमंदिर का कलशा गिरते हुए देखा है—उससे कुछ ही दिनों में राज्यभंग हो जाएगा ॥ १७ ।

सपने में चारों ओर से रोते हुए सियार आदि के झुंडों से अत्यंत ही घिरी हुई जो इस पुरी को (देखा था सो) एक मास के भीतर ही यह उजड़ जायेगी ॥ १८ ।

पुरी के ऊपर मड़रानेवाले चील्ह, घूघू और गिद्ध इत्यादि के द्वारा यहाँ के रहने वालों पर कोई बड़ी भारी आपत्ति पड़ने की सूचना हो रही है ॥ १९ ।

इस प्रकार विघ्नराज ने जहाँ तहाँ बहुत से दुःस्वप्नों की बातें कहते (फैलाते) हुए अनेक पुरवासियों के (मन में) उच्चाटन कर दिया (उच्चाटन का भाव भर दिया) ॥ २० ।

वे किसी-किसी के आगे ग्रहचार दिखलाते हुए कहने लगे कि जो शनैश्चर, शुक्र और मंगल ये तीनों ग्रह एक राशि में जा बैठे हैं, वह तो अच्छा नहीं है ॥ २१ ।

यह जो धूमकेतु आकाश में सप्तर्षिमंडल को भेदकर पश्चिम दिशा में चला गया है, वह तो राजा ही का नाश कर डालेगा ॥ २२ ।

अतिचारगतो मन्दः पुनर्वक्राध्वसंस्थितः ।
पापग्रहसमायुक्तो न युक्तोऽयमिहेष्यते ॥ २३ ।
व्यतीते वासरे योऽयं भूकम्पः समपद्यत ।
कम्पं जनयतेऽतीव हृदो मेऽपि पुरौकसः ॥ २४ ।
उदीच्यां दक्षिणाशायां येयमुल्का प्रधाविता ।
विलीना च वियत्येव सनिर्घातं न सा शुभा ॥ २५ ।
उन्मूलितो महामूलो महानिलरयेण यः ।
चत्वरे चैत्यवृक्षोऽयं महोत्पातं प्रशंसति ॥ २६ ।
सूर्योदयमनुप्राप्य प्राच्यां शुष्कतरूपरि ।
करटो रारटीत्येष कटूत्कटभयप्रदः ॥ २७ ।
मध्ये विपणि यत्तूर्णं कौचिच्चारण्यचारिणौ ।
मृगौ मृगयतां यातौ पौराणां पुरतोऽहितौ ॥ २८ ।

अतिचारगतो राशिमुल्लंघ्य गतः । मन्दः शनिः । पापग्रहा राहुकेतुभौमास्तैः समायुक्तः ॥ २३ ।

चत्वरे चतुष्पथे । चैत्यवृक्षः पूज्यतरुः ॥ २६ ।

करटः काकः । रारटीति अतिशयेन भाषते । कटु यथा स्यात् ॥ २७ ।

पण्यवीथिका मध्ये-मध्ये विपणि । मृगयताम् अन्वेषणं कुर्वताम् । अनादरे षष्ठी । मृगयतोऽनादृत्य । यद्यस्माद्यातौ इति वा तूर्णं यातौ मृगौ तावग्रतोऽहितौ अहित-शंसकावित्यर्थः ॥ २८ ।

शनैश्चर राशि को लाँघकर चले जाने पर फिर जो वक्रचारी हो (टेढ़े मार्ग में जा) कर पापग्रहों के साथ हो रहे हैं, यह बड़ा ही अशुभ है ॥ २३ ।

कल दिन में जो भूकम्प हुआ था, वह तो इस नगर में रहने से मेरे हृदय में भी बड़ी ही थरथरी उत्पन्न कर रहा है ॥ २४ ।

यह उत्तर से दक्षिण दिशा में बड़े शब्द के साथ जो लुक्क (उल्का) दौड़ता गया और आकाश में ही लीन भी हो गया, वह तो कभी भी अच्छा नहीं है ॥ २५ ॥

जब कि वायु के बड़े वेग से यह मोटी जड़ का चौमुहानी वाला पूजा का पेड़ उखड़ गया, तब फिर कोई भारी उत्पात अवश्य ही होगा ॥ २६ ।

सूर्योदय के बिना हुए ही उकठे पेड़ पर पूर्वदिशा में यह कौआ जो उत्कट बोली रट रहा है, वह किसी आनेवाले भारी भय का सूचक है ॥ २७ ।

ये जो दोनों वनैले हरने हाट के बीच से ढूँढने वाले पुरवासियों के आगे से भागकर निकल गये, यह भी बड़ा ही अपशकुन हुआ ॥ २८ ।

रसालशालमुकुलं वीक्ष्यते यच्छरद्यदः ।
महाकालभयं मन्येऽप्यकालेऽपि पुरौकसाम् ॥ २९ ।

साध्वसं जनयित्वेति केचिदुच्चाटिताः पुरः ।
तेन विघ्नकृता पौराः कपटद्विजरूपिणा ॥ ३० ।

अथ मध्येऽवरोधं स प्रविश्य निजमायया ।
दृष्टार्थमेव कथयन् स्त्रीणां विस्रम्भभूरभूत् ॥ ३१ ।

तव पुत्रशतं जज्ञे सप्तोनं शुभलक्षणे ।
तेष्वेकस्तुरगारूढो बाह्याल्यां पतितो मृतः ॥ ३२ ।

अन्तर्वत्नी त्वियं कन्यां जनयिष्यति शोभनाम् ।
एषा हि दुर्भगा पूर्वं साम्प्रतं सुभगाऽभवत् ॥ ३३ ।

रसाला आम्राः, शालाः सर्जास्तेषां मुकुलं कुड्मलम् ॥ २९ ।

पुरः पुर्याः ॥ ३० ।

अवरोधमन्तःपुरम् ॥ ३१ ।

बाह्याल्यां बहिः सेतौ ॥ ३२ ।

यह जो शरद् ऋतु में ही आम और सखुओं में कली दीखती है, वह विना काल के भी पुरवासियों पर भारी काल (कुकाल=दुष्काल) पड़ने के भय का सूचक जान पड़ता है ॥ २९ ।

इस प्रकार से भय उपजाकर कपटपूर्वक ब्राह्मणरूपधारी उस विघ्नराज ने कितने ही पुरवासियों को उस नगर से उच्चाटित कर दिया ॥ ३० ।

फिर तो वे अपनी माया के बल से अन्तःपुर में भी घुसकर प्रत्यक्ष फलों के कह देने से स्त्रियों के बड़े ही विश्वासपात्र बन गये ॥ ३१ ।

(किसी रमणी से यह कहने लगे कि) हे सुलक्षणे ! तुमको तो तिरानबे बेटे उत्पन्न हुए थे, उन सबों में एक तो घोड़े पर चढ़कर बाहरी सेतु (पुल) पर गिर पड़ने से मर गया ॥ ३२ ।

(यों ही दूसरी से यह बोले कि) यह गर्भवती तो एक सुन्दरी कन्या को प्रसव करेगी। और यह भी पूर्व में तो (पति के प्रेम न करने से) दुर्भगा थी, पर इस घड़ी सुभगा हो गयी है ॥ ३३ ।

असौ हि राज्ञो राज्ञीनामत्यन्तमिह बल्लभा ।
मुक्तालङ्कृतिरेतस्यै राज्ञा दत्ता निजोरसः ॥ ३४ ।
पञ्चसप्तदिनान्येव जातानीतीह तर्क्यते ।
अस्यै राज्ञा प्रसादेन ग्रामौ दातुमुदीरितौ ॥ ३५ ।
इति दृष्टार्थकथनै राज्ञीमान्योऽभवद्द्विजः ।
वर्णयन्ति च ता राज्ञः परोक्षेऽपि गुणान् बहून् ॥ ३६ ।
अहो यादृगसौ विप्रः सर्वत्राऽतिविचक्षणः ।
सुशीलश्च सुरूपश्च सत्यवाङ् मितभाषणः ॥ ३७ ॥
अलोलुप उदारश्च सदाचारो जितेन्द्रियः ।
अपि स्वल्पेन सन्तुष्टः प्रतिग्रहपराङ्मुखः ॥ ३८ ।
जितक्रोधः प्रसन्नास्यस्त्वनसूयुरवञ्चकः ।
कृतज्ञः प्रीतिसुमुखः परिवादपराङ्मुखः ॥ ३९ ।
पुण्योपदेष्टा पुण्यात्मा सर्वव्रतपरायणः ।
शुचिः शुचिचरित्रश्च श्रुतिस्मृतिविशारदः ॥ ४० ।
धीरः पुण्येतिहासज्ञः सर्वदृक् सर्वसंमतः ।
कलाकलापकुशलो ज्योतिःशास्त्रविदुत्तमः ॥ ४१ ।
क्षमी कुलीनोऽकृपणो भोक्ता निर्मलमानसः ।
इत्यादिगुणसम्पन्नः कोऽपि क्वापि न दृग्गतः ॥ ४२ ।

अलंकृतिरलङ्कारः ॥ ३४ ।

गुणानिति । तस्येति शेषः ॥ ३६ ।

कलाः शैवतन्त्रोक्ताश्चतुःषष्टिलक्षणास्तासां कलापः समूहस्तत्र कुशलः ॥ ४१ ।

भोक्ता धर्माऽविरोधेन भोगवान् ॥ ४२ ।

हाँ, यह तो यहाँ पर राजा और रानियों की बड़ी ही प्यारी है, इसे तो राजा ने अपनी छाती पर की मोती वाली माला दी थी ॥ ३४ ।

और मैं समझता हूँ पाँच ही सात दिन हुए होंगे कि राजा ने प्रसन्न होकर इसे दो गाँव (भी) देने को कहा था ॥ ३५ ।

इसी रीति से प्रत्यक्ष फलों के कह देने से वह ब्राह्मण रानियों का परम मान्य हो गया और वे सब (रानियाँ) पीठ पीछे उसके बहुतेरे गुणों को यों कहने लगीं ॥ ३६ ।

अहो ! यह ब्राह्मण सभी बातों में कैसा अभिज्ञ, सुशील, सुरूप, सत्यवादी, मितभाषी, निर्लोभ, उदारप्रकृति, सदाचारी, जितेन्द्रिय, थोड़े ही में संतोषी, प्रतिग्रह से विमुख, क्रोधरहित, प्रसन्नवदन, असूया और वंचना से हीन, कृतज्ञ, प्रीति-सुमुख,

इत्थं तास्तद्गुणग्रामं वर्णयन्त्यः पदे पदे ।
कालं विनोदयन्ति स्म अन्तःपुरचराः स्त्रियः ॥ ४३ ।
एकदाऽवसरं प्राप्य दिवोदासस्य भूभुजः ।
राज्ञी लीलावती नाम राज्ञे तं विन्यवेदयत् ॥ ४४ ।
राजन् वृद्धो गुणैर्वृद्धो ब्राह्मणः सुविचक्षणः ।
एकोऽस्ति स तु द्रष्टव्यो मूर्तो ब्रह्मनिधिः परः ॥ ४५ ।
राज्ञी राज्ञा कृताऽनुज्ञा सखीं प्रेष्य विचक्षणाम् ।
आनिनाय च तं विप्रं ब्राह्मं तेज इवाङ्गवत् ॥ ४६ ।
राजाऽपि दूरादायान्तं तं विलोक्य महीसुरम् ।
यत्राकृतिर्गुणास्तत्र जहर्षेति वदन् हृदि ॥ ४७ ।

विन्यवेदयद्विशेषेण ज्ञापितवती ॥ ४४ ।

गुणैर्वृद्धो महत्तरः । ब्रह्मनिधिः वेदसमुद्रः ॥ ४५ ।

अङ्गवत् शरीरवत् ॥ ४६ ।

महीसुरं भूदेवं ब्राह्मणमिति यावत् । यत्राकृतिः सम्यगाकारस्तत्र गुणा इति हृदि वदन् हर्षं प्राप्तवानित्यन्वयः ॥ ४७ ।

परनिन्दा से पराङ्मुख, हितोपदेशक, पुण्यात्मा, सब व्रतों में निष्ठावान्, पवित्र-सच्चरित्र, श्रुति-स्मृतियों में विशारद, परम धीर, पवित्र इतिहासों का वेत्ता, समदर्शी, सर्वप्रिय, समस्त कलाओं में निपुण, ज्योतिषियों में श्रेष्ठ, क्षमाशील, कुलीन, कृपणतारहित (दाता), भोक्ता और निर्मलचित्त है । इन सब गुणों से पूर्ण तो ऐसा कोई भी कहीं दृष्टि पर नहीं चढ़ता (दृष्टिगत नहीं होता !) ॥ ३७-४२ ।

इसी भाँति वे सब अन्तःपुर की स्त्रियाँ पद-पद पर उसके गुणग्राम का वर्णन करती हुई समय काटती थीं ॥ ४३ ।

एक दिन, लीलावती अवसर पाकर राजा दिवोदास से निवेदन करने लगी ॥ ४४ ।

महाराज ! एक बूढ़ा-सा परम गुणवान् पंडित ब्राह्मण है । वह साक्षात् मूर्तिमान् परम ब्रह्म निधि होने से दर्शन ही करने के योग्य है ॥ ४५ ।

फिर राजा की अनुमति लेकर रानी ने अपनी विचक्षणा सखी को भेजकर शरीरधारी ब्राह्म तेज की नाईं उस ब्राह्मण को बुलवा भेजा ॥ ४६ ।

राजा भी दूर से आते हुए उस ब्राह्मण को देखकर जहाँ रूप वहाँ ही गुण– यही बात मन ही मन कहते हुए बड़े ही हर्षित हुए ॥ ४७ ।

पदैर्द्वित्रैर्न पतिना कृताभ्युत्थानसत्कृतिः ।
चतुर्निगमजाभिः स तमाशीर्भिरनन्दयत् ॥ ४८ ।
कृतप्रणामो राज्ञा स सादरं दत्तमासनम् ।
भेजेऽथ कुशलं पृष्टः स राज्ञा तेन भूपतिः ॥ ४९ ।
परस्परं कुशलिनौ कुशलौ च कथागमे ।
प्रश्नोत्तराभ्यां सन्तुष्टौ द्विजवर्यक्ष्माभृतौ ॥ ५० ।
कथावसाने राज्ञाऽथ गेहं विससृजे द्विजः ।
लब्धमानमहापूजः स स्वमाश्रममाविशत् ॥ ५१ ।
गतेऽथ स्वाश्रमं विप्रे दिवोदासो नरेश्वरः ।
लीलावत्याः पुरो विप्रं वर्णयामास भूरिशः ॥ ५२ ।
महादेवी महाप्राज्ञे लीलावति गुणप्रिये ।
यथाशंससि तथा विप्रस्ततोऽपि गुणवत्तरः ॥ ५३ ।

पदैरिति । द्वित्रैः पञ्चभिः पदैर्गत्वा राज्ञा कृताऽभ्युत्थानपूर्विका सत्कृतिर्यस्य सः । कृताभ्युत्थानगौरव इति क्वचित् । तं राजानं चतुर्वेदोक्ताशीर्भिः समतोषयदित्यर्थः ॥ ४८ ।

अथासनोपवेशनानन्तरं स ब्राह्मणो राज्ञा कुशलं पृष्टस्तेन ब्राह्मणेन च राजा कुशलं पृष्ट इत्यर्थः ॥ ४९ ।

शंससि स्तौषि कथयसीति वा ॥ ५३ ।

फिर तो राजा उठकर ज्यों ही दो-तीन पग बढ़कर अगुवानी का सत्कार करने लगे, त्यों ही उस ब्राह्मण ने चतुर्वेदोक्त आशीर्वादों से उन्हें अभिनंदित किया ॥ ४८ ।

राजा ने भी प्रणाम करके आदरपूर्वक आसन पर बैठाया और कुशल प्रश्न किया । ब्राह्मण ने भी राजा से उनका कुशल पूछा ॥ ४९ ।

वे दोनों ही ब्राह्मण और राजा वार्तालाप में चतुर होने से परस्पर के कुशलप्रश्न तथा प्रत्युत्तर से संतुष्ट हो गये ॥ ५० ।

इसके अनन्तर बातचीत समाप्त होने पर राजा ने ब्राह्मण को घर जाने के लिये विसर्जन किया (घर जाने के लिये बिदा किया) और वे भी बड़ा सम्मान और पूजा पाकर अपने स्थान पर चले आये ॥ ५१ ।

उस ब्राह्मण के अपने आश्रम को चले जाने पर नरनाथ दिवोदास रानी लीलावती से उस विप्र की बड़ी बड़ाई करने लगे ॥ ५२ ।

'अयि गुणप्रिये ! महाबुद्धिमति ! देवि ! लीलावति ! तुमने जैसा कहा था, यह ब्राह्मण वैसा ही क्या, उससे भी बहुत अधिक गुणवान् है ॥ ५३ ।

अतीतं वेत्ति सकलं वर्तमानमवैति च ।
प्रष्टव्यः प्रातराहूय भविष्यं किञ्चिदेष वै ॥ ५४ ।
महाविभवसंभारैर्महाभोगैरनेकधा ।
व्युष्टायां स नृपो रात्र्यां प्रातराहूतवान् द्विजम् ॥ ५५ ।
सत्कृत्य तं द्विजं भक्त्या दुकूलादिप्रदानतः ।
एकान्ते तं द्विजं राजा पप्रच्छ निजहृत्स्थितम् ॥ ५६ ।

राजोवाच—

द्विजवर्यो भवानेकः प्रतिभातीति निश्चितम् ।
यथा तत्त्ववती ते धीर्न तथाऽन्यस्य मे मतिः ॥ ५७ ।
दृष्ट्वा त्वां तु महाप्राज्ञं शान्तं दान्तं तपोनिधिम् ।
किञ्चित्प्रष्टुमना विप्र तदाख्याहि यथार्थवत् ॥ ५८ ।
शासितेयं मया पृथ्वी न तथाऽन्यैस्तु पार्थिवैः ।
यावद्भूतिमया भुक्ता दिव्या भोगा अनेकधा ॥ ५९ ।

एष प्रष्टव्य इत्यन्वयः ॥ ५४ ।

दुकूलं पट्टवस्त्रम् ॥ ५६ ।

एको मुख्यः केवलो वेति प्रतिभातीत्यत्र प्रतिभातीत्यस्योपरिष्टादितिशब्दो द्रष्टव्यः ॥ ५७ ।

यावद्भूति ऐश्वर्यमनतिक्रम्य ॥ ५९ ।

यह तो बीती हुई तथा वर्तमान सभी बातों को जानता है, परन्तु कल प्रातः काल उसे बुलाकर कुछ भविष्य विषय पूछना चाहिये ॥ ५४ ।

फिर बड़े विभवमय भोगों से युक्त रात के बीत जाने पर प्रातःकाल ही राजा ने उस ब्राह्मण को बुलवा भेजा ॥ ५५ ।

बड़ी भक्ति से दुपट्टा इत्यादि के दान द्वारा सत्कार करके राजा ने एकान्त में उस ब्राह्मण से अपने मन की बातें पूछीं ॥ ५६ ।

राजा बोले—

मुझे तो आप ही अकेले ब्राह्मणों में सर्वोत्तम हैं, ऐसा प्रतीत होता है और मेरी समझ में जैसी आपकी बुद्धि तत्त्वदर्शिनी है, वैसी और किसी की नहीं है, यह निश्चित है ॥ ५७ ।

आपको शान्त, दान्त, परम विज्ञ और तपोनिधि देखकर हे विप्र ! मैं कुछ पूछना चाहता हूँ, यदि आप उसे ठीक-ठीक बतला दें ॥ ५८ ।

मैंने जैसा इस पृथिवी का शासन किया, दूसरे राजों ने नहीं किया होगा, मैंने अनेकविध विभवादिक दिव्य भोगों का भी भोग किया ॥ ५९ ।

निजौरसेभ्योऽप्यधिकं रात्रिन्दिवमतन्द्रितम् ।
विनिर्जित्य हठाद्दुष्टान् प्रजेयं परिपालिता ॥ ६० ।
द्विजपादार्चनात्किञ्चित्सुकृतं वेद्मि नाऽपरम् ।
अनेनापरिकथ्येन कथितेनेह किं मम ॥ ६१ ।
निर्विस्ममिव मे चेतः साम्प्रतं सर्वकर्मसु ।
विचार्यार्य शुभोदर्कमत आख्याहि सत्तम ॥ ६२ ।

द्विज उवाच—

अपि स्वल्पतरं कृत्यं यद्भवेद्भूभुजामिह ।
एकान्ते तत्तु पृष्टेन वक्तव्यं सुधिया सदा ॥ ६३ ।
अमात्येनाप्यपृष्टेन न वक्तव्यं नृपाग्रतः ।
महापमानभीतेन स्तोकमप्यत्र किञ्चन ॥ ६४ ।
पृष्टश्चेत् कथयामीह मा तत्र कुरु संशयम् ।
तत्कृते तव गन्ता वै मनोनिर्वेदकारणम् ॥ ६५ ।

अपरिकथ्येन कथनानर्हेण मम किं न किञ्चित् । मयेति क्वचित् । यदाह भागवते भगवान्—"कृतस्यापरिकीर्तनम्" इति ॥ ६१ ।

निर्विस्मं विरक्तम् ॥ ६२ ।

तु पुनः ॥ ६३ ।

तत्कृते यन्मया उच्यते तस्मिन् कृते सतीति । त्वत्कृत इति पाठे पूर्वेणैवाऽन्वयः । गन्ता गमिष्यति ॥ ६५ ।

मैं रात-दिन निरालस्य होकर बलपूर्वक दुष्टों को जीतकर अपने औरस पुत्रों से भी अधिक इस प्रजावर्ग का प्रतिपालन किया ॥ ६० ।

मैं ब्राह्मण के चरणपूजन से बढ़कर दूसरा तो कोई पुण्य ही नहीं समझता, जो हो, इस अकथनीय विषय के कहने से कुछ फल नहीं है ॥ ६१ ।

हे आर्य ! अब मेरा चित्त सब कर्मों से विरक्त-सा हो रहा है, अतः हे सत्तम ! जैसे अन्त में भला होवे उस बात को विचार कर आप कहें ॥ ६२ ।

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—

संसार में राजाओं का चाहे कैसा भी छोटा-सा काम क्यों न हो, पर जब तक एकान्त में न पूछा जाय, बुद्धिमान् को कभी नहीं कहना चाहिये ॥ ६३ ।

अत एव यदि आपने पूछा है तो मैं अवश्य ही कहूँगा, इसमें कुछ भी संदेह मत कीजिये और उसके करने से आपके चित्त की उदासीनता अवश्यमेव दूर हो जायेगी ॥ ६४-६५ ।

शृणु राजन् महाबुद्धे नायथार्थं ब्रवीम्यहम् ।
विक्रान्तोऽस्यतिशूरोऽसि भाग्यवानसि सर्वदा ॥ ६६ ।
पुण्येन यशसा बुद्ध्या सम्पन्नोऽस्ति भवान् यथा ।
मन्ये तथाऽमरावत्यां त्रिदशेशोऽपि नैव हि ॥ ६७ ।
सुधिया त्वां गुरुं मन्ये प्रसादेन सुधाकरम् ।
तेजसाऽस्ति भवानर्कः प्रतापेनाशुशुक्षणिः ॥ ६८ ।
प्रभञ्जनो बलेनाऽसि श्रीदोऽसि श्रीसमर्पणैः ।
शासनेन भवान् रुद्रो निर्ऋतिस्त्वं रणाऽङ्गणे ॥ ६९ ।
दुष्टपाशयिता पाशी यमो नियमने सताम् ।
इन्दनात्त्वं महेन्द्रोऽसि क्षमया त्वमसि क्षमा ॥ ७० ।
मर्यादया भवानब्धिर्महत्त्वे हिमवानसि ।
भार्गवो राजनीत्यासि राज्येन मनुना समः ॥ ७१ ।
सन्तापहर्ताऽम्बुदवत्पवित्रो गाङ्गनामवत् ।
सर्वेषामेव जन्तूनां काशीवसुगतिप्रदः ॥ ७२ ।

निर्ऋतिर्यमो मृत्युर्वा ॥ ६९ ।

पाशी वरुणः । असतामिति छेदः । इन्दनात् परमैश्वर्यात् । इदि परमैश्वर्ये इति धातुः ॥ ७० ।

भार्गवः शुक्रः । राज्येन राज्यकर्मणा ॥ ७१ ।

हे महामते ! महाराज ! सुनिये, मैं यह कुछ अयथार्थ नहीं कहता, आप सर्वतोभाव से परम भाग्यशाली बड़े पराक्रमी और शूर हैं ॥ ६६ ।

कि आप पुण्य, यश और बुद्धि से जैसे सम्पन्न हैं, मेरी जान में तो, अमरावती के इन्द्र भी वैसे नहीं हैं ॥ ६७ ।

आपको तो मैं बुद्धि में बृहस्पति, प्रसन्नता में चंद्र, तेज में सूर्य, प्रताप के द्वारा अग्नि, बल में वायु, धनदान करने में कुबेर, शासन में रुद्र, रणभूमि में निर्ऋति, दुष्टों के फाँसने में वरुण, दुर्जनों के नियमन करने में यमराज, प्रभुत्व करने में महेन्द्र, क्षमा में सर्वंसहा भूमि, मर्यादा में समुद्र, बड़ाई में हिमालय, नीतिशास्त्र में शुक्राचार्य और राज्यसिंहासन में साक्षात् मनु हैं (ऐसा ही समझता हूँ) ॥ ६८-७१ ।

आप मेघ के समान संतापहारी, गंगा के नाम सम पवित्र और समस्त जीवों को सद्गति देने में काशी के तुल्य ही हैं ॥ ७२ ।

रुद्रः संहाररूपेण पालनेन चतुर्भुजः ।
विधिवत्त्वं विधाताऽसि भारती ते मुखाम्बुजे ॥ ७३ ।
त्वत्पाणिपद्मे कमला त्वत्क्रोधेऽस्ति हलाहलः ।
अमृतं तव वागेव त्वद्भुजावश्विनीसुतौ ॥ ७४ ।
तत्किं यत्त्वयि भूजानौ सर्वदेवमयो ह्यसि ।
तस्मात्तव शुभोदर्को मया ज्ञातोऽस्ति तत्त्वतः ॥ ७५ ।
आरभ्याऽद्यदिनाद् भूप ब्राह्मणोऽष्टादशेऽहनि ।
उदीच्यः कश्चिदागत्य ध्रुवं त्वामुपदेक्ष्यति ॥ ७६ ।
तस्य वाक्यं त्वया राजन् कर्तव्यमविचारितम् ।
ततस्ते हृत्स्थितं सर्वं सेत्स्यत्येव महामते ॥ ७७ ।
इत्युक्त्वा पृच्छ्य राजानं लब्धानुज्ञो द्विजोत्तमः ।
विवेश स्वाश्रमं तुष्टो नृपोऽप्याश्चर्यवानभूत् ॥ ७८ ।

अमृतमेवेति सम्बन्धः । इवार्थे एवशब्दः ॥ ७४ ।

किं बहुना, **तत्किमिति** । यत्किञ्चित् सारं वस्तु-जातं तत्सर्वं त्वयि भूजानौ पृथिवीपतौ त्वयि । तत्र हेतुः । यतः सर्वदेवमयो ह्यसि । सर्वदेवमयेऽत्र न इति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ ७५ ।

आप संहार करने में रुद्र, पालन में चतुर्भुज और (सृष्टि) विधान में विधाता हैं । आपके कमलमुख में सरस्वती विराजती हैं ॥ ७३ ।

आपके हस्तकमल में कमला और क्रोधानल में हलाहल विष रहता है । आपका वचन ही अमृत और दोनों भुजाएँ अश्विनीकुमार हैं ॥ ७४ ।

हे भूपते ! आप तो सर्वदेवमय हैं और सब कुछ आप ही में वर्त्तमान हैं । इसी कारण से मैं आपका भावी शुभफल यथार्थरूप से जान सका हूँ ॥ ७५ ।

हे राजन् ! आज के अठारहवें दिन कोई उतरहा (औदीच्य) ब्राह्मण यहाँ आकर निश्चय ही आपको उपदेश देगा ॥ ७६ ।

हे महाराज ! वह जो कुछ कहे, उसे बिना सोचे-विचारे कर दीजियेगा, बस इसी से आपका समस्त मनोभिलाष सिद्ध हो जायगा ॥ ७७ ।

यह कह वह ब्राह्मण राजा की अनुमति पाकर अपने स्थान पर चला गया और राजा भी बड़े ही विस्मित हुए ॥ ७८ ।

इत्थं विघ्नजिता सर्वा पुरी स्वात्मवशीकृता ।
सपौरा सावरोधा च सनृपा निजमायया ॥ ७९ ।
कृतकृत्यमिवात्मानं ततो मत्वा स विघ्नजित् ।
विधाय बहुधात्मानं काश्यां स्थितिमवाप च ॥ ८० ।
यदा स न दिवोदासः प्रागासीत् कुम्भसम्भव ।
तदातनं निजं स्थानमलञ्चक्रे गणाधिपः ॥ ८१ ।
दिवोदासे नरपतौ विष्णुनोच्चाटिते सति ।
पुनर्नवीकृतायां च नगर्यां विश्वकर्मणा ॥ ८२ ।
स्वयमागत्य देवेन मन्दरात्सुन्दरां पुरीम् ।
वाराणसीं प्रथमतस्तुष्टुवे गणनायकम्[1] ॥ ८३ ।

अगस्त्य उवाच–

कथं स्तुतो भगवता देवदेवेन विघ्नजित् ।
कथं च बहुधात्मानं स चकार विनायकः ॥ ८४ ।

स्वयमागत्येति गणेशस्तुतिप्रसङ्गाद् रुद्रागमनं भाव्यपि दर्शयति ॥ ८३ ।

॥ इति श्रीकाशीखण्डटीकायां रामानन्दकृतायां षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ।

इस विघ्नराज ने अपनी माया के जाल से पुरवासी रानियों और राजा के सहित समग्र नगरी को अपने वश में कर लिया ॥ ७९ ।

फिर तो गणेश्वर अपने को कृतकृत्य मान अपनी अनेक मूर्तियाँ बनाकर काशी में वास करने लगे ॥ ८० ।

हे अगस्त्य ! जब कि राजा दिवोदास नहीं था, उस समय के अपने स्थानों को गणेश ने भूषित किया ॥ ८१ ।

विष्णु भगवान् के राजा दिवोदास को उच्चाटित कर देने पर और पुनः नगरी को विश्वकर्मा द्वारा नई बना देने पर भगवान् विश्वनाथ स्वयं मन्दराचल से इस सुन्दर नगरी वाराणसी में आकर प्रथमतः गणनायक की ही स्तुति करने लगे थे ॥ ८२-८३ ।

अगस्त्य ने पूछा–

'कि भगवान् महादेव ने कैसे विघ्नेश्वर की स्तुति की और उन विनायक ने अपनी कौन-कौन सी मूर्तियाँ बनाईं ? ॥ ८४ ।

---

1. अत्र गणनायक इत्यपेक्षितमिति भाति ।

केन केन स वै नाम्ना काशिपुर्यां व्यवस्थितः ।
इति सर्वं समासेन कथयस्व षडानन ॥ ८५ ।
इत्युदीरितमाकर्ण्य कुम्भयोनेः षडाननः ।
यथावत्कथयामास गणराजकथां शुभाम् ॥ ८६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे गणेशमायाप्रपञ्चो नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ।

और किस-किस नाम से वे काशीपुरी में विराजमान हुए ? हे षडानन ! इन सब बातों को आप संक्षेप से कहिये' ॥ ८५ ।

कार्तिकेय अगस्त्य के इस कथन को सुनकर गणराज की मंगलमयी कथा यथावत् कहने लगे ॥ ८६ ।

रचि प्रपंच निज वश किये, दिवोदास को जाय ।
भे गणेश जब हीं गणक, तब कहँ मनुस बसाय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां काशीवर्णन-गणेशप्रेषणवर्णनं नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

॥ अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

विश्वेशो विश्वया सार्धं मया च मुनिसत्तम ।
महाशाखविशाखाभ्यां नन्दिभृङ्गिपुरोगमः ॥ १ ।
नैगमेयेन सहितो रुद्रैः सर्वत्र संवृतः ।
देवर्षिभिः समायुक्तः सनकाद्यैरभिष्टुतः ॥ २ ।
[1]समस्तायतनाधीशैर्दिक्पालैरभिनन्दितः ।
तीर्थैर्दर्शिततीर्थश्च गन्धर्वैर्गीतमङ्गलः ॥ ३ ।
कृतपूजोऽप्सरोभिश्च नृत्यहस्तकपल्लवैः ।
वियत्यनाहतैर्वाद्यैः समन्तादनुमोदितः ॥ ४ ।

अध्याये सप्तपञ्चाशे मन्दरादेत्य शङ्करः ।
अस्तौद् गजाननं तस्य प्रादुर्भावश्च कीर्त्यते ॥ १ ।

विश्वेशो विश्वया पार्वत्या सह वाराणसीं पुरीं प्रविवेशेति दशमश्लोक-गतेनाऽन्वयः ॥ १ ।

तीर्थैर्मूर्तिमद्भिः । दर्शिततीर्थः प्रापितात्मीयजलः ॥ ३ ।

(ढुण्ढिराज का स्तोत्र और छप्पन विनायकों का वर्णन)

स्कन्द कहने लगे–

हे मुनिसत्तम ! जब भगवान् विश्वेश्वर भवानी को और मुझे साथ ले चले, उस घड़ी नैगमेयों से युक्त महाशाख और विशाख के संग नंदी, भृंगी इत्यादि आगे-आगे चलते थे । रुद्रगणों ने चारों ओर से घेर लिया था । देव-ऋषियों के सहित सनकादिक स्तुति कर रहे थे ॥ १-२ ।

समस्त देवालयों के स्वामी और दिक्पाल लोग अभिनन्दन करते थे एवं तीर्थगण अपना-अपना जल दरसा रहे थे (अपने अपने जल को दिखा रहे थे, दर्शन करा रहे थे) और गन्धर्वगण मंगलगीत गा रहे थे ॥ ३ ।

अप्सराएँ नाच में अपने हाथरूपी पल्लवों से मानों पूजा ही कर रही थीं ॥ ४ ।

---

1. सममायतनाधीशैरिति क्वचित्पाठः ।

ऋषीणां ब्रह्मनिर्घोषैर्बधिरीकृतदिङ्मुखः ।
कृतस्तुतिश्चारणौघैर्विमानैरभितो वृतः ॥ ५ ।
त्रिविष्टपवधूमुष्टिभ्रष्टैर्लाजैरितस्ततः ।
अभिवृष्टो महादेवः संप्रहृष्टतनूरुहः ॥ ६ ।
दत्तमाल्योपहारश्च बहुविद्याधरीगणैः ।
यक्षगुह्यकसिद्धैश्च खेचरैरभिनन्दितः ॥ ७ ।
कृतप्रवेशशकुनो मृगैः शकुनिभिः पुरः ।
किन्नरीभिः प्रहृष्टास्यैः किन्नरैरुपवर्णितः[1] ॥ ८ ।
विष्णुना च महालक्ष्म्या ब्रह्मणा विश्वकर्मणा ।
नन्दिनाथगणेशेन आविष्कृतमहोत्सवः ॥ ९ ।
नागाङ्गनाभिः परितः कृतनीराजनाविधिः ।
प्रविवेश महादेवः पुरीं वाराणसीं शुभाम् ॥ १० ।
पश्यतां सर्वदेवानामवरुह्य वृषेन्द्रतः ।
परिष्वज्य गणाधीशं प्रोवाच वृषभध्वजः ॥ ११ ।

ब्रह्म वेदः । बधिरीकृतं दिङ्मुखं दिशां समूहो यस्मै सः । यत्तुष्टय इत्यर्थः ॥ ५ ।
नीराजनाविधिः आरार्तिकविधानम् ॥ १० ।

ऋषियों की वेदध्वनि से सभी दिशाओं का अग्रभाग बधिर हो गया था (अर्थात् कुछ सुनाई नहीं पड़ता था) । चारण लोग स्तुतिगान करने लगे थे और सारे विमान चारों ओर भर गये थे ॥ ५ ।

प्रसन्नता से पुलकित महादेव के ऊपर इधर-उधर से देवांगनायें मुठ्ठियों में भर-भर कर लावों की वर्षा (लाजावृष्टि) कर रही थीं ॥ ६ ।

अनेक विद्याधरियाँ मालाओं का उपहार दे रहीं थीं । यक्ष, गुह्यक, सिद्ध इत्यादि आकाशचारी गण जयध्वनि कर रहे थे ॥ ७ ।

शकुनसूचक मृग और पक्षिगण स्वयं आगे प्रवेश कर रहे थे, प्रसन्नमुख किन्नर और किन्नरियाँ (उनकी) बड़ी ही बड़ाई गा रही थीं (स्तुति कर रही थीं) ॥ ८ ।

विष्णु, महालक्ष्मी, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, नन्दी और गणेश—ये सब लोग (अपनी वहाँ उपस्थिति से) इस महोत्सव की धूमधाम प्रकट कर रहे थे ॥ ९ ।

और नागकन्याएँ चारों ओर से मंगल-आरती उतार रही थीं । उसी वेला में महादेव ने शुभमयी वाराणसी पुरी में प्रवेश किया ॥ १० ।

वृषभध्वज वृषराज पर से उतरकर समग्र देवताओं के देखते ही गणेश का आलिंगन करके यह कहने लगे कि ॥ ११ ॥

---

1. उपवीक्षित इत्यपि क्वचित्पाठः ।

यदहं प्राप्तवानस्मि पुरीं वाराणसीं[1] शुभाम् ।
मयाऽप्यतीवदुष्प्राप्यां स प्रसादोऽस्य वै शिशोः ॥ १२ ।
यद्दुष्प्रसाध्यं हि पितुरपि त्रिजगतीतले ।
तत्सूनुना सुसाध्यं स्यादत्र दृष्टान्तता मयि ॥ १३ ।
अनेन गजवक्त्रेण स्वबुद्धिविभवैरिह ।
काशीप्राप्तिर्यथा मे स्यात्तथा किञ्चिदनुष्ठितम् ॥ १४ ।
पुत्रवानहमेवाऽस्मि यच्च मे चिरचिन्तितम् ।
स्वपौरुषेण कृतवानभिलाषं करस्थितम् ॥ १५ ।
इत्युक्त्वा त्रिपुरीहर्ता पुरुहूतादिभिः स्तुतः ।
परितुष्टाव संहृष्टः स्पष्टगीर्भिर्गजाननम् ॥ १६ ।

विभवः सामर्थ्यम् ॥ १४ ।

करस्थितं सन्तम् ॥ १५ ।

त्रयाणां स्वर्णरूप्यलोहमयानां समाहारस्त्रिपुरी तस्याहर्ता । पाठान्तरे[2] कर्मणि षष्ठी ।

आनन्दवनसम्प्राप्त्या हर्षनिर्भरमानसः ।
चतुर्विंशतिभिः पद्यैरस्तौच्छम्भुर्गजाननम् ॥ १६ ।

'मुझे अपने लिए परमदुर्लभ (बनी) इस शुभा वाराणसी पुरी में जो मैं आ सका हूँ, यह सब इसी लड़के का प्रसाद है ॥ १२ ।

त्रैलोक्य मंडल में जो पिता का भी दुःसाध्य है (पिता जिस कार्य को पूरा नहीं कर सकता) पुत्र से वही वस्तु सुसाध्य हो जाती है, इसका उदाहरण मैं स्वयं ही हूँ ॥ १३ ।

मुझको जिससे काशी प्राप्त हो जाय, इसी गजानन ने ऐसा न जाने कौन-सा कार्य अपनी बुद्धि के विभवों से किया है ॥ १४ ।

पुत्रवान् तो मैं ही हूँ; क्योंकि जिस बात की चिन्ता मुझे बहुत दिनों से लगी थी और मेरा किया कुछ भी नहीं हो सका, पर मेरे इस पुत्र ने अपने पौरुष से उसी अभिलाषा को हाथ में लाकर मानो रख दिया ॥ १५ ।

इन्द्रादिक देवताओं के भी स्तुत्य भगवान् त्रिपुरान्तक यह कहकर, प्रसन्नतापूर्वक स्पष्ट वचनों में गणेश की स्तुति करने लगे ॥ १६ ।

---

1. वाराणसीमिमामित्यपि क्वचित्पाठः ।
2. त्रिपुरां हर्तेत्येवं रूपे ।

श्रीकण्ठ उवाच–

जय विघ्नकृतामाद्य भक्तनिर्विघ्नकारक ।
अविघ्नविघ्नशमनमहाविघ्नैकविघ्नकृत् ॥ १७ ।
जय सर्वगणाधीश जय सर्वगणाग्रणीः ।
गणप्रणतपादाब्जगणनातीतसद्‌गुण ॥ १८ ।
जय सर्वग सर्वेश सर्वबुद्ध्येकशेवधे ।
सर्वमायाप्रपञ्चज्ञ सर्वकर्माग्रपूजित ॥ १९ ।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्य जय त्वं सर्वमङ्गल ।
अमङ्गलोपशमनमहामङ्गलहेतुक ॥ २० ।

जय. उत्कर्षमाविष्कुरु सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । आद्यकारण । भक्तनिर्विघ्नकारकेत्यत्र हेतुमाह । **विघ्नेति** । अविघ्नादेः पदत्रयस्य क्रमेण विपर्ययेण वा हेतुहेतुमद्‌भावः ॥ १७ ।

गणनातीतांः सन्तो गुणा यस्य तत्सम्बोधनं तथा । तृतीयान्तः[1] क्वचित्पाठः ॥ १८ ।

सर्वबुद्ध्येकशेवधे सर्वबुद्धितद्‌वृत्तीनां मुख्याश्रय । केवलप्रवर्तकेति वा । हे सर्वेति पृथक्पदं वा ॥ १९ ।

माङ्गल्य मङ्गलस्वरूप । स्वार्थे ष्यञ् । मङ्गलानां च मङ्गलमिति स्मृतेः । मङ्गल्येति पाठे हे मङ्गलाय हित । महामङ्गलं कैवल्यम् ॥ २० ।

(ढुण्ढिराज-स्तोत्र)

भगवान् नीलकण्ठ ने कहा–

हे विघ्नविनाशकश्रेष्ठ ! भक्तगण के निर्विघ्नकारक ! तुम निर्विघ्न लोगों के विघ्न को शमन और सविघ्नों के लिये एकमात्र विघ्नकर्ता हो ! अतएव तुम्हीं सब से बढ़कर हो ॥ १७ ।

हे समग्र गणों के अधीश ! और समस्त गणों के अग्रगण्य ! सभी गण तुम्हारे चरणकमल पर प्रणत रहते हैं और तुम्हारे सद्‌गुण गणना करने से अतीत हैं, अतएव तुम्हारी जय हो ॥ १८ ।

हे सर्वव्यापक ! सर्वस्वामिन् ! तुम्हीं समस्त बुद्धियों के एकमात्र आश्रय हो, सभी मायाओं के प्रपंचज्ञ हो और सभी कर्मों में प्रथम पूजित हो–अतः तुम सर्वोत्कर्ष लाभ करो, तुम्हारी जय हो ॥ १९ ।

हे सर्वमंगलमांगल्य ! सर्वमंगलस्वरूप ! तुम्हीं समस्त अमंगलों के शमयिता और महामंगल के कारण हो, तुम्हारी जय हो ॥ २० ।

---

1. गणैः प्रणतेत्यादिः ।

जय सृष्टिकृतां वन्द्य जय स्थितिकृता नत ।
जय संहृतिकृत्स्तुत्य जय सत्कर्मसिद्धिद ॥ २१ ।
सिद्धवन्द्यपदाम्भोज जय सिद्धिविधायक ।
सर्व सिद्ध्येकनिलय महासिद्ध्यृद्धिसूचक ॥ २२ ।
अशेषगुणनिर्माण गुणातीत गुणाग्रणीः ।
परिपूर्णचरित्रार्थ जय त्वं गुणवर्णित ॥ २३ ।
जय सर्वबलाधीश बलाराति बलप्रद ।
बलाकोज्ज्वलदन्ताग्र बालाबालपराक्रम ॥ २४ ।

सृष्टिकृतां ब्रह्मादीनाम् । सृष्टिकृतेति क्वचित् । स्थितिकृता विष्णुना नत नमस्कृत । पाठान्तरे[3] स्थितौ कृतमाननं मुखं दृष्टिर्येन तत्सम्बोधनम् । तथा संहृतिकृत् संहारकर्तः । सत्य अवितथ । स्तुत्येति कक्वचित्पाठः ॥ २१ ।

महासिद्धीनामणिमादीनामृद्धिः समृद्धिरुत्कर्ष इति यावत् । तस्य सूचक तत्प्रदेत्यर्थः । सिद्धार्थेति क्वचित् ॥ २२ ।

अर्थार्थस्वरूप परमार्थस्वरूपेति वा ॥ २३ ।

बलाकवद् बकपङ्क्तिवदुज्ज्वलानि दन्ताग्राणि यस्य तस्य सम्बोधनं बलाकोज्ज्वलदन्ताग्र । वालकेति पाठे वालेषु रोमविवरेषु वा ब्रह्माणो यस्य तत्सम्बोधनं तथा ॥ २४ ।

हे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के वन्दनीय ! तुम्हारी जय हो, हे पालनकर्ता विष्णु के प्रणामपात्र ! तुम्हारी जय हो, हे संहारकर्ता रुद्र के स्तवनीय ! तुम्हारी जय हो, हे सत्कर्मों के सिद्धिदायक ! तुम्हारी जय हो ॥ २१ ।

हे सिद्धिविधायक ! तुम्हारा पादपद्म तो सिद्धों को भी वन्दनीय है और तुम्हीं समस्त सिद्धियों के अकेले अवलम्बन हो एवं महासिद्धि और महा-ऋद्धियों के सूचक भी तो तुम्हीं हो, अतएव तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ हो ॥ २२ ।

हे गुणातीत ! तुम समस्त गुणों के बनाने वाले और गुणों से ही सब में अग्रगण्य एवं परिपूर्ण चरित्र, कृतार्थ और गुणवर्णित हो, अतः तुम्हारी जय हो ॥ २३ ।

हे सर्वसेनाध्यक्ष ! इन्द्र के पराक्रमदाता ! तुम्हारे दाँत का अग्रभाग बकुला के समान उज्ज्वल है और तुम बालक होने पर भी बड़े ही पराक्रमी हो, अतः तुम्हारा जय-जयकार है ॥ २४ ।

---

1. सर्वसिद्धिति क्वचित्पाठः ।
2. वर्जितेति क्वचित्पाठः ।
3. स्थिरीकृताननेति ।

अनन्तमहिमाधार धराधरविदारण ।
दन्ताग्रप्रोतदिङ्नाग जय नागविभूषण ॥ २५ ।

ये त्वां नमन्ति करुणामय दिव्यमूर्ते
सर्वैनसामपि भुवो भुवि मुक्तिभाजः ।
तेषां सदैव हरसीह महोपसर्गान्
स्वर्गापवर्गमपि सम्प्रददासि तेभ्यः ॥ २६ ।

ये विघ्नराज भवता करुणाकटाक्षैः
सम्प्रेक्षिताः क्षितितले क्षणमात्रमत्र ।
तेषां क्षयन्ति सकलान्यपि किल्बिषाणि
लक्ष्मीः कटाक्षयति तान्पुरुषोत्तमान् हि ॥ २७ ।

धराधरः क्रौञ्चः । एतत्तु कार्तिकेयेन सहैक्यविवक्षया गमयितव्यम् । यद्वा गजाननोऽपि कदाचित् क्रौञ्चपर्वतं विदारितवानिति ज्ञातव्यम् । प्रलयसमये दन्ताग्रे प्रोता ग्रथिता दिङ्नागादिगजा येन तत्सम्बोधनं तथा ॥ २५ ।

ये त्वामिति । हे करुणामय हे दिव्यमूर्त्ते ये त्वां नमन्ति, ते सर्वैनसांभुव आश्रयभूता अपि मुक्तिभाजो भवन्ति, पापान्मोक्षं लभन्त इत्यर्थः । न केवलमेतावदेव किन्त्विह संसारे तेषामुपसर्गानाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदोषान् हरसि । स्वर्गापवर्गमपि सकामनिष्कामत्वेन तेभ्यः प्रददासि । स्वर्गश्चापवर्गश्च स्वर्गापवर्गम् । समाहारत्वादेकवद्भावः ॥ २६ ।

कटाक्षयति करुणाकटाक्षेण पश्यतीत्यर्थः । सदाश्रयतीति क्वचित्पाठः ॥ २७ ।

हे अनन्त महिमाओं के आधार ! पर्वतविदारण ! तुमने दिग्गजों को अपने दंत के अग्रभाग में खोंस लिया था । अतः हे नागभूषण ! तुम्हारी जय हो ॥ २५ ।

हे करुणामय ! दिव्यमूर्ते ! इस भूमंडल पर जो लोग तुमको प्रणाम करते हैं, वे समस्त पापों के आश्रय होने पर भी मुक्ति के भागी होते हैं और तुम उनके सर्वदैव बड़े-बड़े विघ्नों को हरते रहते हो और अन्त में स्वर्ग और अपवर्ग भी दे ही डालते हो ॥ २६ ।

विघ्नराज ! इस पृथ्वीतल पर आपने जिन्हें करुणाकटाक्ष से क्षणमात्र भी देख दिया, उनके समस्त पातकपुंजों का क्षय हो जाता है और उन पुरुषोत्तमों पर लक्ष्मी कटाक्ष फेरने लगती हैं ॥ २७ ।

ये त्वां स्तुवन्ति नतविघ्नविघातदक्ष
दाक्षायणी हृदयपङ्कजतिग्मरश्मे ।
श्रूयन्त[1] एव त इह प्रथिता न चित्रं
चित्रं तदत्र गणपा यदहो त एव ॥ २८ ।
ये शीलयन्ति सततं भवतोऽङ्घ्रियुग्मं
ते पुत्र पौत्रधनधान्यसमृद्धिभाजः ।
संशीलितांघ्रिकमला बहुभृत्यवर्गै-
र्भूपालभोग्यकमलां विमलां लभन्ते ॥ २९ ।
त्वं कारणं परमकारणकारणानां
वेद्योऽसि वेदविदुषां सततं त्वमेकः ।
त्वं मार्गणीयमसि किञ्चन मूलवाचां
वाचामगोचर चराचर दिव्यमूर्ते ॥ ३० ।

प्रथिता विख्याताः ॥ २८ ।

हे परमकारण । अत्र हेतुस्त्वं कारणं कारणानां प्रकृतिपुरुषमहदादीनाम् । तर्हि कार्यकारणयोः सत्त्वे द्वैतापत्तिरित्यत आह । त्वमेक इति । सजातीयविजातीयस्वगत-भेदशून्य इत्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह । सततं वेदविदुषां वेद्य इति । तर्हि वेदान्तिनां ज्ञेयत्वे प्रत्यग् ब्रह्मणोऽनात्मत्वजडत्वे प्रसज्येयातामित्यत्राह । त्वं मार्गणीयमसि किञ्चनेति । किञ्चन किमपि यन्मार्गणीयं निषेधावधिनान्वेषणीयं वृत्तिव्याप्यत्वेन वा बोधनीयं यद्ब्रह्मतत्त्वमित्यर्थः । हेतुमाह—**हे वाचामगोचरेति** । कथंभूतानां वाचाम् ? मूलवाचां मूलं स्वकारणं शास्त्रयोनि ब्रह्म चकितमभिदधताम् । अगोचर अविषय । मायया हे चराचरजङ्गमस्थावरस्वरूप । परमार्थतो दिव्यमूर्तेऽलौकिकस्वरूप ॥ ३० ।

हे प्रणत लोगों के विघ्नविघात करने में दक्ष ! पार्वती-हृदयारविन्द के सूर्य ! जो लोग तुम्हारे स्तुति को करते हैं, वे प्रसिद्ध सुने जाते हैं, यह तो कोई विचित्रता नहीं है, पर आश्चर्य तो यह है कि, वे ही लोग यहाँ पर गणनायक बनने लगते हैं ॥ २८ ।

जो लोग निरन्तर आपके चरणयुगल का सेवन करते हैं, वे पुत्र, पौत्र, धन, धान्य और समृद्धियों के भागी होते हैं और अनेक दास-दासी उन लोगों के पदसरोज की सेवा में लग जाते हैं एवं सब निर्मल राज्यभोग्य लक्ष्मी के अधिकारी हो जाते हैं ॥ २९ ।

हे परमकारण ! तुमम्हीं समस्त कारणों के कारण हो, वेदवेत्ताओं के भी परमवेदनीय एक तुम्हीं हो । हे वाङ्मूल ! तुम तो वचनों के अगोचर-हो, हे चराचरस्वरूप ! दिव्यमूर्ते ! तुम्हीं कोई अलौकिक अन्वेषणीय वस्तु हो ॥ ३० ।

---

1. स्तूयन्त इत्यपि पाठः ।

वेदा विदन्ति न यथार्थतया भवन्तं
ब्रह्मादयोऽपि न चराचरसूत्रधार ।
त्वं हंसि पासि विदधासि समस्तमेकः
कस्ते स्तुतिव्यतिकरो मनसाप्यगम्य ॥ ३१ ॥

त्वद्दुष्टदृष्टिविशिखैर्निहतान्निहन्मि
दैत्यान् पुरान्धक जलंधरमुख्यकांश्च ।
कस्यास्ति शक्तिरिह यस्त्वदृतेऽपि तुच्छं
वांञ्छेद्विधातुमिह सिद्धिद कार्यजातम् ॥ ३२ ।

उक्तमेव विवृणोति । वेदा इति । चराचरसूत्रधार स्थावरजङ्गमात्मकस्थूलप्रपञ्च-धारको यः सूत्रात्मा हिरण्यगर्भो वाय्वात्मा तं धारयतीति तथा तत्सम्बोधनम् । चराचरसूत्रधार । एकः साधनान्तरनिरपेक्षः । कस्ते तव स्तुतिव्यतिकरः स्तवनरूपो व्यवहारः कथनमिति यावत् । न कोऽपीत्यर्थः । अत्र हेतुमाह । मनसाप्यगम्येति । "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतेः ॥ ३१ ।

त्वद्दुष्टदृष्टिविशिखैस्तव क्रोधदर्शनबाणैः । दैत्यान् विशिनष्टि । पुरेति । पुरं त्रिपुरम् । लक्षणया तत्स्था दैत्या लक्ष्यन्ते । पुरा पूर्वमिति वा । अपि तुच्छं तुच्छमपीत्यर्थः ॥ ३२ ।

इस चराचर नाटक के हे सूत्रधार ! चारों ही वेद और ब्रह्मादिक देवतागण भी यथार्थरूप से तुमको नहीं समझ सकते । हे मनोऽगम्य ! तुम तो अकेले ही समस्त जगत् का संहार, पालन और सिरजन करते हो, फिर अब तुम्हारी कौन-सी स्तुति कही जा सकती है ? ॥ ३१ ।

तुम्हारे कुटिलदृष्टिरूपी बाणों से मारे गये त्रिपुर, अंधक और जलंधर इत्यादि दानवों को ही मैं भी मार सका । हे सिद्धिप्रद ! तुम्हारे बिना एक तुच्छ कार्य के भी करने की इच्छा कर सके, ऐसी यहाँ पर किसकी शक्ति है ? ॥ ३२ ।

अन्वेषणे ढुंढिरयं प्रथितोऽस्ति धातुः
सर्वार्थढुंढिततया तव ढुंढिनाम ।
काशीप्रवेशमपि को लभतेऽत्र देही
तोषं विना तव विनायक ढुंढिराज ॥ ३३ ।
ढुंढे प्रणम्य पुरतस्तव पादपद्मं
यो मां नमस्यति पुमानिह काशिवासी।
तत्कर्णमूलमधिगम्य पुरा दिशामि
तत् किञ्चिदत्र न पुनर्भवतास्ति येन ॥ ३४ ।
स्नात्वा नरः प्रथमतो मणिकर्णिकाया-
मुद्धूलिताङ्घ्रियुगलस्तु सचैलमाशु ।
देवर्षिमानवपितॄनपि तर्पयित्वा
ज्ञानोदतीर्थमभिलभ्य भजेत्ततस्त्वाम् ॥ ३५ ।

ढुंढिनाम निर्वक्ति । अन्वेषणे ढुंढिरिति । अयं ढुंढिरिति धातुः क्रियाप्रतिपादको लोके अन्वेषणे प्रथितः प्रसिद्धोऽस्ति । अतो भक्तानां सर्वार्थढुंढितया सर्वस्यार्थस्य ढुंढितं ढुंढनं यस्मात् स सर्वार्थढुंढितः । यद्वा सर्वस्यार्थस्य ढुंढनं ढुंढः, स संजातोऽस्येति सर्वार्थढुंढितः । तारकादित्वादितच् । तस्य भावः सर्वार्थढुंढितता तया सर्वार्थालोचकतया धर्मार्थकाममोक्षान्वेष्टृतयेत्यर्थः । यद्वा साधारण्येन सर्वेषां सर्वार्थलोचकतया तव ढुंढि नाम । इदनुबन्धत्वान्नुमागमः । ढुंढिरिति संज्ञेत्यर्थः । हे विनायक ! हेअभक्तविघ्नहेतो ! हे ढुंढिराज ! ढुंढिश्चासौ राजत इति राजा च ढुंढिराजस्तत्सम्बोधनं हे ढुंढिराज । अत्र जगति तव तोषं विना काशीप्रवेशमपि को देही लभते । काशीवासस्य का वार्तेत्यपिशब्दार्थः ॥ ३३ ।

एवं ब्रह्मत्वेन स्तुत्वा वरदानेनाऽनुगृह्णाति । ढुंढ इति । पुरा अन्तिमावस्थायां प्राणनिर्गमात्पूर्वमेव । भवस्य भावो भवता संसारतेत्यर्थः ॥ ३४ ।

उद्धूलितं धूलिधूसरितमंघ्रियुगलं यस्य स उद्धूलितांघ्रियुगलः । अनेन मणिकर्ण्यां स्नात्वा विश्वेश्वरे यानादिना न गन्तव्यमिति सूचितम् ॥ ३५ ।

ढुंढि धातु तो ढूढँने ही के अर्थ में प्रसिद्ध है और समस्त अर्थों के ढूँढने ही के कारण तुम्हारा नाम ढुंढी हुआ है । इस लोक में तुम्हारे संतोष के बिना हे ढुंढिराज ! विनायक ! काशीपुरी में प्रवेश भी कौन पा सकता है ? ॥ ३३ ।

हे ढुंढिराज ! जो काशीवासी प्रथम ही तुम्हारे चरणारविन्द में प्रणाम कर फिर मुझे नमस्कार करता है, मैं उसके कान के पास पहुँचकर अन्त समय में कुछ ऐसा उपदेश कर देता हूँ, जिससे फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ३४ ।

मनुष्य प्रथमतः मणिकर्णिका में सचैल स्नान कर, देव-ऋषि और मानव-पितरों का तर्पण करके (संपन्न करके) धुरहे (नंगे) पैरों से ही ज्ञानवापी में पहुँच कर तुम्हारा पूजन करे ॥ ३५ ।

समोदमोदकभरैर्वरधूपदीपै-
मर्ल्यैः सुगन्धबहुलैरनुलेपनैश्च ।
संप्रीण्य काशिनगरीफलदानदक्षं
प्रोक्त्वाथ मा क इह सिध्यति नैव ढुंढे ॥ ३६ ।

तीर्थान्तराणि च ततः क्रमवर्जितोऽपि
संसाधयन्निह भवत्करुणाकटाक्षैः ।
दूरीकृतस्वहितघात्युपसर्गवर्गो
ढुंढे लभेदविकलं फलमत्र काश्याम् ॥ ३७ ।

यः प्रत्यहं नमति ढुंढिविनायकं त्वां
काश्यां प्रगे प्रतिहताखिलविघ्नसंघः ।
नो तस्य जातु जगतीतलवर्ति वस्तु
दुष्प्रापमत्र च परत्र च किञ्चनापि ॥ ३८ ।

भरैः समूहैर्भारैरिति वा । प्रोक्त्वा स्तुत्वा । मा माम् । प्रोक्त्वाथ मामिति वा पाठः ॥ ३६ ।

क्रमवर्जितः उल्लंघितक्रमः ॥ ३७ ।

प्रगे प्रातःसमये ॥ ३८ ।

हे ढुंढे ! कोई भी काशीपुरी का फल देने में दक्ष तुमको पहले सुगंधित चन्दन के लेपन, सुन्दर धूप, दीप, माला और सामोदमोदक समूह से प्रसन्न कर, फिर मेरी पूजा करने से कौन-सी सिद्धि को नहीं पा सकता है ? ॥ ३६ ।

इसके अनन्तर वही नर काशी के दूसरे तीर्थों में क्रम के उलट-फेर हो जाने पर भी पर्यटन करता हुआ तुम्हारी ही दयादृष्टि से अपने हित-घातक विघ्नों को दूर भगाकर इस काशी में सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है ॥ ३७ ।

हे ढुंढिविनायक ! काशी में जो कोई प्रतिदिन प्रातःकाल में तुमको प्रणाम करता है, उसके समस्त विघ्नसंघ नष्ट हो जाते हैं और उसे यहाँ पर एवं परलोक में भी भूतलवर्ती कोई भी वस्तु कभी दुर्लभ नहीं होती ॥ ३८ ।

योे नाम ते जपति ढुंढिविनायकस्य
तं वै जपन्त्यनुदिनं हृदि सिद्धयोऽष्टौ ।
भोगान् विभुज्य विविधान् विबुधोपभोग्यान्
निर्वाणया कमलया व्रियते स चान्ते ॥ ३९ ।
दूरे स्थितोऽप्यहरहस्तव पादपीठं
यः संस्मरेत्सकलसिद्धिद[1] ढुंढिराज ।
काशीस्थितेरविकलं सफलं लभेत
नैवान्यथा न वितथा मम वाक्कदाचित् ॥ ४० ।
जाने विघ्नानसंख्यातान् विनिहन्तुमनेकधा ।
क्षेत्रस्याऽस्य महाभाग नानारूपैरिह स्थितः ॥ ४१ ।
यानि यानि च रूपाणि यत्र यत्र च तेऽनघ ।
तानि तत्र प्रवक्ष्यामि शृण्वन्त्वेते दिवौकसः ॥ ४२ ।

सिद्धयोऽणिमाद्याः । भुज्यन्त इति भोगा विषयाः, तान् विभुज्य विष्वग्भुज्य भोजयित्वेत्यर्थः । विभोग्येति पाठान्तरं चिन्त्यम् । निर्वाणया मोक्षस्वरूपया ॥ ३९ ।

पादपीठं चरणाधारसिंहासनम् ॥ ४० ।

नानारूपैस्त्वमिह स्थित इत्यहं जाने इत्यन्वयः । स्थितौ हेतुमाह । विघ्नानिति ॥ ४१ ।

तानि तत्रेत्युभयत्र वीप्सा बोद्धव्या ॥ ४२ ।

हे ढुंढिराज ! जो कोई तुम्हारा नाम प्रतिदिन जपता है, उसे आठों सिद्धियाँ अपने-अपने हृदय में सदा जपती रहती हैं और वह मनुष्य देवतोपभोग्य अनेक भोगों को भोगकर अन्त में मोक्षलक्ष्मी के द्वारा वरण किया जाता है ॥ ३९ ।

हे ढुंढिविनायक ! तुम सकल सिद्धियों के दाता हो, अतएव यदि कोई दूरदेशस्थित मनुष्य प्रतिदिन तुम्हारे पादपीठ का स्मरण करता रहे, तो उसे काशीवास करने का अविकल फल मिल जाता है, नहीं तो (वह फल) नहीं मिल सकता और मेरी बात कभी झूठ नहीं हो सकती है ॥ ४० ।

हे महाभाग ! मैं यह जानता हूँ कि तुम इस क्षेत्र के अनेकविध असंख्य विघ्नों के विनष्ट करने के लिए बहुत से रूपों को धारण करके यहाँ पर विराजमान हो ॥ ४१ ।

हे अनघ ! जहाँ-जहाँ पर तुम्हारे जो-जो रूप हैं, वहाँ-वहाँ पर उनको मैं कहता हूँ, ये देवता लोग भी सुन लेवें ॥ ४२ ।

---

1. सकलसिद्धिविधायकस्येति क्वचित्पाठः ।

प्रथमं ढुंढिराजोऽसि मम दक्षिणतो मनाक् ।
आढुंढ्य सर्वभक्तेभ्यः सर्वार्थान् संप्रयच्छसि ॥ ४३ ।
अङ्गारवासरवतीमिह यैश्चतुर्थीं
संप्राप्य मोदकभरैः परमोदवद्भिः ।
पूजा व्यधायि विविधा तव गन्धमाल्यै-
स्तानत्र पुत्र विदधामि गणान् गणेश ॥ ४४ ।
ये त्वामिह प्रतिचतुर्थि समर्चयन्ति
ढुंढे विगाढमतयः कृतिनस्त एव ।
सर्वापदां शिरसि वामपदं निधाय
सम्यग्गजानन गजाननतां लभन्ते ॥ ४५ ।
माघशुक्लचतुर्थ्यां तु नक्तव्रतपरायणाः ।
ये त्वां ढुंढेऽर्चयिष्यन्ति तेऽर्च्याः स्युरसुरद्रुहाम् ॥ ४६ ।
विधाय वार्षिकीं यात्रां चतुर्थीं प्राप्य तापसीम् ।
शुक्लां शुक्लतिलैर्बद्ध्वा प्राश्नीयाल्लड्डुकान् व्रती ॥ ४७ ।
कार्या यात्रा प्रयत्नेन क्षेत्रसिद्धिमभीप्सुभिः ।
तस्यां चतुर्थ्यां त्वत्प्रीत्यै ढुंढे सर्वोपसर्गहृत् ॥ ४८ ।

आढुंढ्याऽन्विष्य ॥ ४३ ।

प्रथम तो मेरे दक्षिण ओर समीप ही में तुम ढुंढिराज रूप से विराजमान हो, जो समस्त भक्तों को ढूँढ-ढूँढ कर उनके सब अर्थों को पूर्ण कर देते हो ॥ ४३ ।

हे सुपुत्र ! गणेश ! जो लोग मंगलवार की चतुर्थी तिथि को पाकर सुगन्धयुक्त लड्डुओं से तथा गंधमाल्य इत्यादि के द्वारा तुम्हारी विविधभाँति की पूजा करते हैं, उन सबको यहाँ पर मैं अपना पारिषद बनाता हूँ ॥ ४४ ।

हे ढुंडिगजानन ! प्रति चतुर्थी को जो लोग तुम्हारा समर्चन करते हैं, वे ही बड़े बुद्धिमान् और परम सुकृती होकर समस्त आपदाओं के सिर पर अपना बायाँ पैर भले ही रखकर फिर स्वयं गजानन हो जाते हैं ॥ ४५ ।

हे ढुंढे ! माघमास की शुक्ल चतुर्थी को नक्तव्रत धारण कर जो लोग तुम्हारी पूजा करेंगे, वे देवताओं के पूज्य हो ज़ायेंगे ॥ ४६ ।

माघ सुदी चौथ को तुम्हारी वार्षिकी यात्रा करके श्वेत तिल के लड्डुओं को (बाँधकर) व्रतकर्ता भोजन करें ॥ ४७ ।

हे ढुंढिराज ! क्षेत्र की सिद्धि को चाहने वाले लोग उस माघ सुदी चौथ को तुम्हारी प्रसन्नता के लिये प्रयत्नपूर्वक यात्रा करें, तत्पश्चात् यह यात्रा उनके सब विघ्नों को दूर कर सकेगी ॥ ४८ ।

तां यात्रां नाऽत्र यः कुर्यान्नैवेद्यं तिललड्डुकैः ।
उपसर्गसहस्रैस्तु स हन्तव्यो ममाज्ञया ॥ ४९ ।

होमं तिलाज्यद्रव्येण यः करिष्यति भक्तितः ।
तस्यां चतुर्थ्यां मन्त्रज्ञस्तस्य मन्त्रः प्रसेत्स्यति ॥ ५० ।

वैदिकोऽवैदिको वाऽपि यो मन्त्रस्ते गजानन ।
जप्तस्त्वत्सन्निधौ ढुंढे सिद्धिं दास्यति वाञ्छिताम् ॥ ५१ ।

ईश्वर उवाच–

इमां स्तुतिं मम कृतिं यः पठिष्यति सन्मतिः ।
न जातु तं तु विघ्नौघाः पीडयिष्यन्ति निश्चितम् ॥ ५२ ।

ढौण्ढीं स्तुतिमिमां पुण्यां यः पठेद् ढुण्ढिसन्निधौ ।
सान्निध्यं तस्य सततं भजेयुः सर्वसिद्धयः ॥ ५३ ।

इमां स्तुतिं नरो जप्त्वा परं नियतमानसः ।
मानसैरपि पापैस्तैः नाभिभूयेत कर्हिचित् ॥ ५४ ।

वैदिको गणानां त्वेत्यादिः । अवैदिको गमित्यादिः ॥ ५१ ।

और जो कोई यहाँ पर उस यात्रा को न करे अथवा तिलवा का नैवेद्य न लगावे, उसे मेरी आज्ञा से सहस्रों विघ्न पीड़ित करेंगे ॥ ४९ ।

जो कोई मंत्रवेत्ता उसी चतुर्थी में भक्तिपूर्वक तिल और घृतादिक द्रव्यों से होम करेगा, उसका मंत्र सिद्ध हो जायेगा ॥ ५० ।

हे ढुंढिराज ! तुम्हारा वैदिक अथवा तांत्रिक चाहे कोई भी मंत्र हो, वह तुम्हारे समीप में जपे जाने पर वांछित सिद्धि को देगा ॥ ५१ ।

महेश्वर ने कहा कि–

जो सद्बुद्धि जन मेरी बनाई हुई तुम्हारी इस स्तुति का पाठ करेगा, उसे कदापि बड़े से बड़े विघ्नवर्ग पीड़ित नहीं कर सकेंगे, यह तो निश्चित ही है ॥ ५२ ।

इस पवित्र ढुंढिराज स्तोत्र को जो ढुंढिराज के समीप में पढ़ेगा, समस्त सिद्धियाँ उसकी सर्वदा सेवा करती रहेंगी ॥ ५३ ।

अत्यन्त पवित्र चित्त से नियमित रूप से जो मनुष्य इस स्तोत्र का पाठ करेगा, उसे मानसिक पाप भी कभी दबा नहीं सकेंगे ॥ ५४ ।

पुत्रान् कलत्रं क्षेत्राणि वराश्वान् वरमन्दिरम् ।
प्राप्नुयाच्च धनं धान्यं ढुण्ढिस्तोत्रं जपन्नरः ॥ ५५ ।
सर्वसम्पत्करं नाम स्तोत्रमेतन्मयेरितम् ।
प्रजप्तव्यं प्रयत्नेन मुक्तिकामेन सर्वदा ॥ ५६ ।
जप्त्वा स्तोत्रमिदं पुण्यं क्वापि कार्ये गमिष्यतः ।
पुंसः पुरः समेष्यन्ति नियतं सर्वसिद्धयः ॥ ५७ ।
अन्यच्च कथयाम्यत्र शृण्वन्त्वेते दिवौकसः ।
ढुण्ढिना क्षेत्ररक्षार्थं यत्र यत्र स्थितिः कृता ॥ ५८ ।
काश्यां गङ्गासिसंभेदे नामतोऽर्कविनायकः ।
दृष्टोऽर्कवासरे पुंभिः सर्वतापप्रशान्तये ॥ ५९ ।
दुर्गो नाम गणाध्यक्षः सर्वदुर्गतिनाशनः ।
क्षेत्रस्य दक्षिणे भागे पूजनीयः प्रयत्नतः ॥ ६० ।
भीमचण्डीसमीपे तु भीमचण्डविनायकः ।
क्षेत्रनैर्ऋतदेशस्थो दृष्टो हन्ति महाभयम् ॥ ६१ ।

अर्कदुर्गभीमचण्डदेहल्युद्दण्डपाशपाणिखर्वसिद्धयो बाह्यावरणे गणपाः स्थिताः ॥ ५९ ।

ढुंढिस्तोत्र के पाठ करने से मनुष्य पुत्र, कलत्र, क्षेत्र, उत्तम घोड़े, बढ़ियाँ (उत्कृष्ट) गृह, धन और धान्य सब कुछ पा सकता है ॥ ५५ ।

मोक्षार्थी मनुष्य मेरे बनाये हुए इस सर्वसम्पत्तिकर नामक स्तोत्र का पाठ बड़े प्रयत्न के साथ सदैव करे ॥ ५६ ।

प्रथम इस स्तोत्र को पढ़कर फिर किसी प्रयोजन के लिये यात्रा करे, तो अवश्य ही समस्त सिद्धियाँ आगे मिलती हैं ॥ ५७ ।

(प्रथम आवरण के विनायक)

अच्छा तो देवतालोग अब एक और बात भी सुन लेवें कि इस क्षेत्र की रखवारी करने के लिये ढुंढिराज ने जहाँ-जहाँ अपना डेरा डाल रखा है, काशी में गंगा और असि के संगम पर **अर्कविनायक** नाम गणेश हैं, जिनका रविवार के दिन दर्शन करने से समस्त तापों की शान्ति होती है ॥ ५८-५९ ।

इस क्षेत्र के दक्षिण भाग में समस्त दुर्गतियों के विनाशक **दुर्गविनायक** नाम गणेश हैं, उनकी पूजा बड़े प्रयत्न से करनी चाहिए ॥ ६० ।

भीमचंडी के समीप क्षेत्र के नैर्ऋत्यकोण में **भीमचंडविनायक** हैं, दर्शन से ही बड़े-बड़े भय को वे नष्ट कर देते हैं ॥ ६१ ।

क्षेत्रस्य पश्चिमे भागे स देहलिविनायकः ।
सर्वान्निवारयेद्विघ्नान् भक्तानां नात्र संशयः ॥ ६२ ।
क्षेत्रवायव्यदिग्भागे उद्दण्डाख्यो गजाननः ।
उद्दण्डानपि विघ्नौघान् भक्तानां दण्डयेत्सदा ॥ ६३ ।
काश्याः सदोत्तराशायां पाशपाणिर्विनायकः ।
विनायकान् पाशयन्ति भक्त्या काशीनिवासिनाम् ॥ ६४ ।
गङ्गावरणयोः सङ्गे रम्यः खर्वविनायकः ।
अखर्वानपि विघ्नौघान् भक्तानां खर्वयेत्सताम् ॥ ६५ ।
प्राच्यां तु क्षेत्ररक्षार्थं सिद्धः सिद्धिविनायकः ।
पश्चिमे यमतीर्थस्य साधकक्षिप्रसिद्धिदः ॥ ६६ ।
बाह्यावरणगाश्चैते काश्यामष्टौ विनायकाः ।
उच्चाटयन्त्यभक्तांश्च भक्तानां सर्वसिद्धिदाः ॥ ६७ ।

उद्दण्डान् बहून् ॥ ६३ ।

सिद्धोऽनादिः । यमतीर्थस्य गङ्गास्थस्य ॥ ६६ ॥

काशी की पश्चिम सीमा पर देहलीविनायक हैं, वे भक्तों के समस्त विघ्नों को यहाँ पर निःसन्देह निवारण कर देते हैं ॥ ६२ ।

इसी क्षेत्र के वायव्यकोण पर उद्दण्डविनायक हैं, वे सर्वदा भक्त लोगों के बड़े उद्दण्ड विघ्नों को भी दण्ड दिया करते हैं ॥ ६३ ।

काशी की उत्तरदिशा में पाशपाणिविनायक विराजते हैं, वे भक्ति करने मात्र से काशीवासियों के सभी विघ्नों को सदैव फाँसा करते हैं (अपने पाश में बद्ध कर लेते हैं) ॥ ६४ ।

गंगा और वरणा के संगम पर रमणीय खर्वविनायक अवस्थित हैं, वे सज्जन भक्तों के बड़े-बड़े विघ्नसमूहों को भी (दबाकर) बहुत छोटा बना देते हैं ॥ ६५ ।

पूर्व की ओर क्षेत्र की रक्षा करने के लिये प्रसिद्ध सिद्धिविनायक यमतीर्थ के पश्चिम विद्यमान रहते हैं, वे साधकों को अतिशीघ्र ही सिद्धियाँ दे देते हैं ॥ ६६ ।

काशी में बाहरी घेरे पर ये आठों विनायक विराजमान रहकर—जो लोग भक्त नहीं हैं, उनको उच्चाटन और जो भक्त हैं, उन्हें सर्वसिद्धि देते रहते हैं ॥ ६७ ।

द्वितीयावरणे चैव ये रक्षन्ति विनायकाः ।
अविमुक्तमिदं क्षेत्रं तानहं कथयाम्यतः ॥ ६८ ।
स्वर्धुन्याः पश्चिमे कूले उत्तरेऽर्कविनायकात् ।
लम्बोदरो गणाध्यक्षः क्षालयेद्विघ्नकर्दमम् ॥ ६९ ।
तत्पश्चिमे कूटदन्त उदग्दुर्गविनायकात् ।
दुर्गोपसर्गसंहर्ता रक्षेत् क्षेत्रमिदं सदा ॥ ७० ।
भीमचण्डगणाध्यक्षात् किञ्चिदीशानदिग्गतः ।
क्षेत्ररक्षो गणाध्यक्षः पूज्यः शालकटंकटः ॥ ७१ ।
प्राच्यां देहलिविघ्नेशात् कूष्माण्डाख्यो विनायकः ।
पूजनीयः सदा भक्तैर्महोत्पातप्रशान्तये ॥ ७२ ।
उद्दण्डाख्याद् गणपतेराशुशुक्षणिदिक् स्थितः ।
महाप्रसिद्धः सम्पूज्यो भक्तैर्मुण्डविनायकः ॥ ७३ ।

लम्बोदरकूटदन्तशालकटंकटकूश्माण्डमुण्डविकटद्विजराजपुत्रप्रणवा द्वितीयावरणस्थाः ॥ ६८ ।

उत्तरेऽर्कविनायकादिति मध्यवर्त्यावरणाभिप्रायम् । वस्तुतो लम्बोदरो वायव्यदिग्भाग एवास्ति ॥ ६९ ।

क्षेत्रं रक्षतीति क्षेत्ररक्षो विशेषणमेतत् ॥ ७१ ।

(द्वितीय आवरण के विनायक)

अब मैं दूसरे घेरे में रहकर इस अविमुक्त क्षेत्र की जो विनायक रक्षा करते हैं, उनको बतलाता हूँ ॥ ६८ ।

गंगा के पश्चिम तट पर **अर्कविनायक** से उत्तर ओर **लंबोदरविनायक** हैं, जो विघ्नरूप कर्दम को धो डालते हैं ॥ ६९ ।

उनके पश्चिम और दुर्गविनायक के उत्तर **कूटदन्त** नामक गणेश हैं, वे कठिन उपसर्गों का संहार और इस क्षेत्र का रक्षण सदैव करते रहते हैं ॥ ७० ।

भीमचंड गणेश से कुछ (हटकर) ईशानकोण में क्षेत्ररक्षक **शालकटंकटनामा** गणेश पूजनीय हैं ॥ ७१ ।

देहलीविनायक से पूर्व **कूष्माण्ड** नामक गणाध्यक्ष रहते हैं, भक्तों को उचित है कि, महा उत्पात के शान्त्यर्थ उन्हीं की पूजा करें ॥ ७२ ।

उद्दंडविनायक के अग्निकोण पर भक्तों के परमपूजनीय और महाप्रसिद्ध **मुण्डविनायक** वर्तमान हैं ॥ ७३ ।

पाताले तस्य देहोऽस्ति मुण्डं काश्यां व्यवस्थितम् ।
अतः संगीयते काश्यां देवो मुण्डविनायकः ॥ ७४ ।

पाशपाणेर्गणेशानाद् दक्षिणे विकटद्विजम् ।
पूजयित्वा गणपतिं गाणपत्यपदं लभेत् ॥ ७५ ।

खर्वाख्यान्नैर्ऋते भागे राजपुत्रो विनायकः ।
भ्रष्टराज्यं च राजानं राजानं कुरुतेऽर्चितः ॥ ७६ ।

गङ्गायाः पश्चिमे कूले प्रणवाख्यो गणाधिपः ।
अवाच्यां राजपुत्राच्च प्रणतः प्रणयेद्दिवम् ॥ ७७ ।

द्वितीयावरणे काश्यामष्टावेते विनायकाः ।
उत्सादयेयुर्विघ्नौघान् काशीस्थितिनिवासिनाम् ॥ ७८ ।

क्षेत्रे तृतीयावरणे क्षेत्ररक्षाकृतः सदा ।
ये विघ्नराजाः सन्तीह ते वक्तव्या मयाऽधुना ॥ ७९ ।

मुण्डनाम निर्वक्तुमाह । पाताल इति ॥ ७४-७६ ।

वक्रतुण्डैकदन्तत्रिमुखपञ्चास्य-हेरम्बविघ्नराजवरदमोदकप्रियास्तृतीयावरणगाः॥ ७९ ।

उनका शरीर तो पाताल में है और केवल मुंड (भर) काशी में विराजित हैं, इसी से काशी में उनकी **मुंडविनायक** संज्ञा पड़ी है ॥ ७४ ।

पाशपाणि गणेश के दक्षिण ओर **विकटदन्त-गणेश** की पूजा करने से गणेश का ही पद प्राप्त होता है ॥ ७५ ।

खर्वविनायक के नैर्ऋत्यकोण पर **राजपुत्र-गणेश** का पूजन करने से राज्यच्युत राजा को भी फिर से राज्य प्राप्त हो जाता है ॥ ७६ ।

गंगा के पश्चिम तट पर राजपुत्र-गणेश के पश्चिम ओर **प्रणवनामक** गणेश हैं, जो प्रणाम करने ही से स्वर्ग में पहुँचा देते हैं ॥ ७७ ।

काशी के दूसरे आवरण में ये ही आठों विनायक अवस्थित हैं । ये लोग काशीवासियों के विघ्नराशियों को उखाड़ते रहते हैं ॥ ७८ ।

(तृतीय आवरण के विनायक)

अब काशीक्षेत्र के तीसरे आवरण में क्षेत्र के रखवार (रक्षक) जो-जो विघ्न राज हैं, मैं उनका वर्णन किया चाहता हूँ ॥ ७९ ।

उदग्वहायाः स्वर्धुन्या रम्ये रोधसि विघ्नराट् ।
लम्बोदरादुदीच्यां तु वक्रतुण्डोघसंघहृत् ॥ ८० ।
कूटदन्ताद् गणपतेरुदीच्यामेकदन्तकः ।
सदोपसर्गसंसर्गात् पायादानन्दकाननम् ॥ ८१ ।
काशीभयहरो नित्यमैश्यां शालकटंकटात् ।
त्रिमुखो नाम विघ्नेशः कपिसिंहद्विपाननः ॥ ८२ ।
कूष्माण्डात् पूर्वदिग्भागे पञ्चास्यो नाम विघ्नराट् ।
पञ्चास्यस्यन्दनवरः पाति वाराणसीं पुरीम् ॥ ८३ ।
हेरम्बाख्यः सदाग्नेय्यां पूज्यो मुण्डविनायकात् ।
अम्बावत् पूरयेत् कामान् सर्वेषां काशिवासिनाम् ॥ ८४ ।

उदग्वहाया उत्तरवाहिन्या रोधसि तीरे यो लम्बोदरस्तस्मादुदीच्यामुत्तरस्यामिति पूर्ववद् व्याख्येयम् । दिशीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि ॥ ८०-८१ ।

ऐश्याम् ऐशान्याम् । कपिसिंहद्विपा इव तेषामाननानीवाननानि वा यस्य स कपिसिंहद्विपाननः ॥ ८२ ।

पञ्चास्यानि यस्य सः पञ्चास्यः, स एव स्यन्दनवरः । पञ्चास्ययुक्तं वा स्यन्दनवरं यस्य स पञ्चास्यस्यन्दनवरः ॥ ८३ ।

मुण्डविनायकादाग्नेय्याम् ॥ ८४ ।

उत्तरवाहिनी गंगा के रमणीय तीर पर लंबोदर-गणेश से उत्तर **वक्रतुण्ड नामक** विनायक हैं, जो पापों के ढेर को हरण कर लेते हैं ॥ ८० ।

कूटदन्त-गणेश के उत्तर भाग में **एकदन्तविनायक** हैं, वे सर्वदा उपद्रवों के संसर्ग से आनन्दवन की रक्षा करते हैं ॥ ८१ ।

शालकटंतटक-गणेश के ईशानकोण पर नित्य ही काशी के भयहर्ता **त्रिमुख-विनायक** हैं, जिनका एक मुख तो वानर, दूसरा सिंह और तीसरा हाथी के मुख समान है ॥ ८२ ।

कूष्माण्ड गणेश के पूर्व ओर **पंचमुखविनायक** हैं, जिनका उत्तम रथ भी पंचानन से युक्त है, वे वाराणसी पुरी की रक्षा करते रहते हैं ॥ ८३ ।

मुंडविनायक के अग्निकोण पर **हेरम्ब-गणेश** हैं, उनकी पूजा सदैव करनी चाहिए; क्योंकि वे माता के समान सभी काशीवासियों की कामना पूर्ण कर देते हैं ॥ ८४ ।

अवाच्यामर्चयेद्धीमान् सिद्ध्यै विकटदन्ततः ।
विघ्नराजं गणपतिं सर्वविघ्नविनाशनम् ॥ ८५ ।
विनायकाद्राजपुत्रात् किञ्चिद्रक्षोदिशि स्थितः ।
वरदाख्यो गणाध्यक्षः पूज्यो भक्तवरप्रदः ॥ ८६ ।
याम्यां प्रणवविघ्नेशाद् गणेशो मोदकप्रियः ।
पूज्यः पिशङ्गिलातीर्थे देवनद्यास्तटे शुभे ॥ ८७ ।
चतुर्थावरणे काश्यां भक्तविघ्नविनाशकाः ।
द्रष्टव्या हृष्टचेतोभिः स्पष्टमष्टौ विनायकाः ॥ ८८ ।
वक्रतुण्डादुदग्दिक्स्थः स्वःसिन्धो रोधसि स्थितः ।
विनायकोऽस्त्यभयदः सर्वेषां भयनाशनः ॥ ८९ ।
कौबेर्यामेकदशनात् सिंहतुण्डो विनायकः ।
उपसर्गगजान् हन्ति वाराणसिनिवासिनाम् ॥ ९० ।

विघ्नराजमिति विशेष्यम् ॥ ८५ ।

रक्षोदिशि नैर्ऋत्यां दिशि ॥ ८६ ।

याम्यामित्युत्तरवहाभिप्रायेण । वस्तुतस्तु प्रणवात् प्रतीच्यां मोदकप्रियः ॥ ८७ ।

अभयदसिंहतुण्डकूणिताक्षक्षिप्रप्रसदनाः । चिन्तामणिदन्तहस्तपिचिण्डिलोद्दण्डाश्चतुर्थावरणाः ॥ ८८ ।

सिंहतुण्डः श्रेष्ठमुखः । उपसर्गगजभयानकास्य इत्यर्थः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठस्य वाचका इति वचनात् ॥ ९० ।

बुद्धिमान् नर सिद्धि के लिये विकटदन्तगणेश के पश्चिम भाग में सर्वविघ्नों के विनाशक विघ्नराजनामक गणेश का पूजन करें ॥ ८५ ।

राजपुत्र गणेश के कुछ नैर्ऋत्यकोण पर स्थित भक्तों के बड़े वरदानी **वरदनामक** गणेश की पूजा करनी चाहिए ॥ ८६ ।

प्रणवविनायक से दक्षिण गंगा के पवित्र तट पर पिशंगिला (त्रिलोचन) तीर्थ में **मोदकप्रिय** (नामक) गणेश पूजनीय हैं ॥ ८७ ।

(चतुर्थ आवरण के विनायक)

काशी के चौथे आवरण में भक्त लोगों के विघ्न-विघातक ये आठों विनायक प्रसन्नचित्त से सुव्यक्तरूप में दर्शनीय हैं ॥ ८८ ।

वक्रतुण्ड-गणेश की उत्तर ओर गंगा के तट पर ही सब किसी के भयहर्ता **अभयप्रद-गणेश** विराजमान हैं ॥ ८९ ।

एकदन्त-गणेश के उत्तरभाग में **सिंहमुण्ड नामक** विनायक हैं, जो काशीवासियों के उपसर्गरूपी हस्तियों को विनष्ट कर डालते हैं ॥ ९० ।

कूणिताक्षो गणाध्यक्षस्त्रितुण्डादीशदिक्स्थितः ।
महाश्मशानं सततं पायाद्दुष्टकुदृष्टितः ॥ ९१ ।

प्राच्यां पञ्चास्यतः पायात् पुरीं क्षिप्रप्रसादनः ।
क्षिप्रप्रसादनार्चातः क्षिप्रं सिद्ध्यन्ति सिद्धयः ॥ ९२ ।

हेरम्बाद्वह्निदिग्भागे चिन्तामणिविनायकः ।
भक्तचिन्तामणिः साक्षाच्चिन्तितार्थसमर्पकः ॥ ९३ ।

विघ्नराजादवाच्यां तु दन्तहस्तो गणेश्वरः ।
लिखेद्विघ्नसहस्राणि नृणां वाराणसी द्रुहाम् ॥ ९४ ।

वरदाद्यातुधान्यां च यातुधानगणावृतः ।
देवः पिचिण्डिलो नाम पुरीं रक्षेदहर्निशम् ॥ ९५ ।

दृष्टः पिलिपिलातीर्थे दक्षिणे मोदकप्रियात् ।
उद्दण्डमुण्डो हेरम्बो भक्तेभ्यः किं न यच्छति ॥ ९६ ।

कूणिते संकुचित अक्षिणी यस्य ॥ ९१ ।

दन्तहस्तो हस्तगृहीतदन्त इत्यर्थः ॥ ९४-९६ ।

त्रिमुख गणेश से ईशानकोण पर कूणिताक्षनामा विनायक हैं, वे इस महाश्मशान काशी की कुदृष्टि से रक्षा करते रहते हैं ॥ ९१ ।

पंचमुख गणेश के पूर्वभाग में **क्षिप्रप्रसादन-गणेश** इस नगरी की रक्षा करते हैं। इनकी पूजा करने से सभी सिद्धियाँ शीघ्र ही सिद्ध हो जाती हैं ॥ ९२ ।

हेरम्ब गणेश के दक्षिण भाग में **चिन्तामणिविनायक** हैं, जो वास्तव में भक्तों के लिये साक्षात् चिन्तामणि ही हैं; क्योंकि वे सभी चिंतित अर्थों का समर्पण कर देते हैं ॥ ९३ ।

विघ्नराजविनायक के दक्षिणप्रान्त में **दन्तहस्त गणेश** हैं, जो काशी के विद्रोही मनुष्यों के (ऊपर) सहस्रों ही विघ्नों को लिखते रहते हैं ॥ ९४ ।

वरदविनायक से नैर्ऋत्य कोण पर राक्षसगणों से घेरे हुए **पिचंडिल गणेश** हैं, जो देव इस नगरी की रात्रि-दिन रक्षा करते हैं ॥ ९५ ।

पिलपिला (त्रिलोचन) तीर्थ पर मोदकप्रिय गणेश से दक्षिण जो **उद्दण्डमुण्ड-विनायक** हैं, वे भक्तों को क्या नहीं दे देते हैं ? ॥ ९६ ।

प्रावारे पञ्चमे काश्यां द्विचतुष्कविनायकाः ।
कुर्वन्ति रक्षां क्षेत्रस्य ये तानत्र ब्रवीम्यहम् ॥ ९७ ।
तीरे स्वर्गतरङ्गिण्या उत्तरे चाभयप्रदात् ।
स्थूलदन्तो गणेशानः स्थूलाः सिद्धीर्दिशेत् सताम् ॥ ९८ ।
सिंहतुण्डादुदग्भागे कलिप्रियविनायकः ।
कलहं कारयेन्नित्यमन्योन्यं तैर्थिकद्रुहाम् ॥ ९९ ।
कूणिताक्षात्तथैशान्यां चतुर्दन्तो विनायकः ।
तस्य दर्शनमात्रेण विघ्नसंघः क्षयेत् स्वयम् ॥ १०० ।
क्षिप्रप्रसादनादैन्द्र्यां द्वितुण्डो गणनायकः ।
अग्रतः पृष्ठतश्चापि बिभर्त्ति सदृशीं श्रियम् ॥ १०१ ।
तस्य सन्दर्शनात्पुंसां भवेच्छ्रीः सर्वतोमुखी ।
ज्येष्ठो नाम गणाध्यक्षो ज्येष्ठो मे पुत्रसम्पदि ॥ १०२ ।

प्रावारे आवरणे । स्थूलदन्तकलिप्रियकौ तौ चतुर्दशनद्वितुण्डौ । ज्येष्ठगजकालनागेशाः पञ्चमावरणगणेशाः ॥ ९७ ।

तैर्थिकद्रुहां तीर्थसेविप्राणिहिंसकानाम् ॥ ९९ ।

क्षयेन्नाशं गच्छेत् ॥ १०० ।

(पंचम आवरण के विनायक)

अब काशी के पाँचवें आवरण में जो आठों विनायक इस क्षेत्र का रक्षण करते रहते हैं, उनको मैं कहता हूँ ॥ ९७ ।

जाह्नवी के तीर पर ही अभयप्रद गणेश से उत्तर **स्थूलदन्त गणेश** हैं, जो सज्जनों को स्थूल (बड़ी) सिद्धियाँ दिया करते हैं ॥ ९८ ।

सिद्धतुंड-विनायक से उत्तर ओर **कलिप्रिय-विनायक** हैं, जो तीर्थवासियों के द्वेषियों में परस्पर नित्य ही कलह कराते फिरते हैं ॥ ९९ ।

कूणिताक्ष-गणेश के ईशानकोण पर **चतुर्दन्त-विनायक** हैं, उनके दर्शनमात्र से विघ्नवर्ग का आप ही आप क्षय हो जाता है ॥ १०० ।

क्षिप्रप्रसादन गणेश से पूर्वभाग में **द्विमुख-विनायक** हैं, उनके आगे की जैसी छटा है, वैसी ही पीछे की ओर भी (शोभा) है ॥ १०१ ।

उनके दर्शन करने से मनुष्यों को सब ओर से श्री प्राप्त होती है । मेरी पुत्रसम्पत्ति में सबसे जेठे **ज्येष्ठ-विनायक** हैं ॥ १०२ ।

ज्येष्ठशुक्लचतुर्दश्यां सम्पूज्यो ज्येष्ठताप्तये ।
स्थितो वह्निदिशो भागे चिन्तामणिविनायकात् ॥ १०३ ।
दन्तहस्ताद्यमाशायां पूज्यो गजविनायकः ।
तस्य सम्पूजनाद् भक्त्या गजान्ता श्रीरवाप्यते ॥ १०४ ।
पिचिण्डिलाद् गणपतेर्याम्यां कालविनायकः ।
भयं न कालकलितं तस्य संसेवनान्नृणाम् ॥ १०५ ।
उद्दण्डमुण्डद्गणपात् कीनाशदिशि संस्थितम् ।
नागेशं गणपं दृष्ट्वा नागलोके महीयते ॥ १०६ ।
अथ षष्ठावरणगाः प्रोच्यन्ते विघ्ननायकाः ।
तेषां नामश्रवणादेव पुंसां सिद्धिः प्रजायते ॥ १०७ ।
मणिकर्णो गणपतिः प्राच्यां विघ्नविघातकृत् ।
आशाविनायको वह्न्यां भक्ताशां पूरयन् स्थितः ॥ १०८ ।

उद्दण्डो महान्मुण्डो यस्य स तथा तस्मात् । उद्दण्डशुण्डादिति क्वचित् पाठः, सचिन्त्यः । पूर्वत्र तथा पाठकल्पने प्रमाणाभावात् । प्राच्यादीनां दिशां प्रतियोगित्वेन स्थूलदन्तादयो यथासंख्येन बोद्धव्याः ॥ १०६ ।

मणिकर्णाशाविनायक-सृष्टिविनायक-यक्षविघ्नेशाः । गजकर्ण-चित्रघण्टास्थूल-जंघमित्राः[1] षष्ठावृतिगाः ॥ १०८ ।

वे चिन्तामणि-विनायक से अग्निकोण पर विराजमान हैं । जेठ मास की शुक्ला चतुर्दशी के दिन जेठाई (ज्येष्ठता) पाने के लिये उनकी पूजा करनी चाहिए ॥ १०३ ।

दन्तहस्त गणेश के दक्षिणभाग में **गजविनायक** पूज्य हैं, उनकी पूजा भक्तिपूर्वक करने से गजान्त सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥ १०४ ।

पिचंडिल गणेश से दक्षिण **कालविनायक** हैं, जिनके सेवन से मनुष्य को काल का भय नहीं रहता ॥ १०५ ।

उद्दण्डमुण्ड गणेश के दक्षिणभाग में वर्तमान **नागेश-विनायक** के देखने ही से नागलोक में सादर वास प्राप्त होता है ॥ १०६ ।

(षष्ठ आवरण के विनायक)

काशी के छठवें आवरणों के गणेशों को अब कहता हूँ, जिनके केवल नाम भी सुन लेने से मनुष्यों को सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १०७ ।

पूर्व में विघ्नविघातक **मणिकर्ण-विनायक** हैं, अग्निकोण में भक्तों की आशा पूर्ण करने वाले **आशा-विनायक** विराजमान हैं ॥ १०८ ।

---

1. मंगला इति पुस्तकान्तरे पाठः ।

यांम्यां सृष्टिगणेशश्च सृष्टिसंहारसूचकः ।
नैर्ऋत्यां यक्षविघ्नेशः सर्वविघ्नहरः परः ॥ १०९ ।
प्रतीच्यां गजकर्णश्च सर्वेषां क्षेमकारकः ।
चित्रघण्टो गणपतिर्वायव्यां पालयेत् पुरीम् ॥ ११० ।
स्थूलजङ्घ उदीच्यां च शमयेच्छमिनामघम् ।
ऐश्यामैशीं पुरीं पायात् समङ्गलविनायकः ॥ १११ ।
यमतीर्थादुदीच्यां च पूज्यो मित्रविनायकः ।
सप्तमावरणे ये च तांश्च वक्ष्ये विनायकान् ॥ ११२ ।

शमयेच्छामिनामघमिति । शमिनां शान्तानाम् अघमिति रोगाद्युपलक्षणं शमये-च्छमयति । शमयेदघमत्स्थितिमिति पाठे अघमत्[1]स्थितिं अघमतां स्थानम् ॥ १११ ।

यमतीर्थादुदीच्यां चेत्याद्यर्धपद्यं त्वनाकरम् । अष्टाधिक्यापत्तेः । षट्पञ्चाशद् गजमुखानेतान्यः संस्मरिष्यतीत्युपसंहारविरोधाच्च । यदि बहुपुस्तकानुरोधेनायं पाठः कक्षीकार्यस्तदा षडधिकापञ्चाशद्येषु तान् सप्तपञ्चाशद् गजाननानित्यर्थः । दशधर्मायकायेन्दोर्द्विषट्त्रिणवदत्तवानित्यत्र द्विगुणाः षड्यासु त्रयोदशेतिवदिति । यद्वा एकस्य सिंहतुण्डत्वादन्येषां गजमुखत्वात् षट्पञ्चाशद् गजमुखानित्युक्तम् । न तु तस्य स्मरणप्रभावाभिप्रायेणेति । यद्वा समकक्षत्वान्नवमस्य मित्रविनायकस्य प्रसंगादुक्तिरत्र । ऐश्यामित्यत्र इमामिति पाठे स्थूलजंघ इत्याद्येकः श्लोको वाक्यम् । तथा चायमर्थः—स प्रसिद्धो मङ्गलविनायकः इमामैशीं पुरीं पायादित्यन्वयः । कथम्भूतः ? स्थूले जंघे यस्य सः । यद्वा मङ्गलो स्थितादुदीच्यामैशान्यामिति सर्वमनवद्यम् ॥ ११२ ।

दक्षिण दिशा में सृष्टि के संहारकारी **सृष्टि-विनायक** हैं, नैर्ऋत्यकोण में सर्वविघ्नहारी भगवान् **यक्ष-विनायक** विराजित हैं ॥ १०९ ।

पश्चिम की ओर सब किसी के मंगलकर्ता **गजकर्ण-विनायक** हैं, वायव्यकोण पर **चित्रघंट-विनायक** पुरी का पालन करते रहते हैं ॥ ११० ।

उत्तर में **स्थूलजंघ-विनायक** शान्त प्रकृति वालों के अघ का शमन करते हैं और ईशानकोण पर **मंगल-विनायक** इस पुरी का पालन करते हैं ॥ १११ ।

(सप्तम आवरण के विनायक)

यमतीर्थ की उत्तर ओर एक **मित्र-विनायक** भी पूजनीय हैं । अब मैं सातवें आवरण के विनायकों को बताता हूँ ॥ ११२ ।

---

1. इदमार्षम् ।

मोदाद्याः पञ्चविघ्नेशाः षष्ठो ज्ञानविनायकः ।
सप्तमो द्वारविघ्नेशो महाद्वारपुरश्चरः ॥ ११३ ॥
अष्टमः सर्वकष्टौघानविमुक्तविनायकः ।
अविमुक्ते मम[1] क्षेत्रे हरेत् प्रणतचेतसाम् ॥ ११४ ॥
षट्पञ्चाशद् गजमुखानेतान्यः संस्मरिष्यति ।
दूरदेशान्तरस्थोऽपि स मृतो ज्ञानमाप्नुयात् ॥ ११५ ॥
ढुण्ढिस्तुतिं महापुण्यां षट्पञ्चाशद् गजाननाम् ।
यः पठिष्यति पुण्यात्मा तस्य सिद्धिः पदे पदे ॥ ११६ ॥
इमे गणेश्वराः सर्वे स्मर्तव्या यत्र कुत्रचित् ।
महाविपत्समुद्रान्तः पतन्तं पान्ति मानवम् ॥ ११७ ॥
इति स्तुतिं महापुण्यां श्रुत्वा चैतान् विनायकान् ।
जातु विघ्नैर्न बाध्येत पापेभ्योऽपि प्रहीयते ॥ ११८ ॥

मोदाद्याः पञ्चविघ्नेशास्तथाज्ञानविनायकः ।
तद्वद्द्वाराविमुक्ताख्यौ सप्तमावृतिगास्त्वमी ॥ ११३ ॥

स चाविमुक्त इति सर्वोपलक्षणार्थः । सर्वकष्टौघान् हरेद्धरति । कष्टमुक्तविनायक इति क्वचित्पाठः ॥ ११४ ॥

(प्रसिद्ध) मोदादिक पाँच विनायक, छठवें ज्ञानविनायक, सातवें द्वारविनायक हैं, वे महाद्वार के अग्रचारी हैं ॥ ११३ ॥

और आठवें अविमुक्त-विनायक हैं, जो मेरे इस अविमुक्तक्षेत्र में भक्तिमान् लोगों के समस्त कष्टों को दूर कर देते हैं ॥ ११४ ॥

जो कोई इन छप्पन विनायकों का स्मरण करेगा, वह देश-देशान्तर में मरने पर भी ज्ञान पावेगा ॥ ११५ ॥

जो कोई ढुंढिराज स्तोत्र और छप्पन विनायक की कथा को पढ़ेगा, उसकी आत्मा पवित्र हो जावेगी और उसे पद-पद पर सिद्धि मिलेगी ॥ ११६ ॥

जहाँ चाहे वहाँ पर ही इन गणेशों का स्मरण करे तो, विपत्तिरूप समुद्र के भीतर गिरते हुए मनुष्य का भी ये लोग उद्धार कर देते हैं ॥ ११७ ॥

इस परमपुनीत स्तोत्र और विनायकों की कथा के सुनने से न तो कभी विघ्नों की बाधा ही होती है और न फिर पाप ही रह जा सकते हैं ॥ ११८ ॥

---

1. टीकानुरोधेनात्र स चेति पाठोऽपेक्षित इति भाति ।

इत्युक्त्वा देवदेवोऽपि महोत्सवितमानसः ।
कृताभिषेको ब्रह्माद्यैस्तेभ्यो दत्वाऽभिवाञ्छितम् ॥ ११९ ।

सम्प्रसाद्य यथायोगं सर्वानुचितचञ्चुरः ।
अविशद्राजसदनं विश्वकर्मविनिर्मितम् ॥ १२० ।

स्कन्द उवाच–

एवं स्तुतो भगवता देवदेवेन विघ्नजित् ।
इत्थं च बहुधात्मानं स चकार विनायकः ॥ १२१ ।

एतानि तस्य नामानि ढुण्ढिराजस्य कुम्भज ।
जपित्वा यानि मनुजो लप्स्यते निजवाञ्छितम् ॥ १२२ ।

अन्येऽपि तत्र वै भेदास्तस्य ढुण्ढेर्गणेशितुः ।
भक्तैः समर्चिता भक्त्या ह्यसंख्याताः सहस्रशः ॥ १२३ ।

महदुदारमुत्सवितमुत्सवयुक्तं चेतो यस्य स महोत्सवितमानसः ॥ ११९ ।
उचितचञ्चुरः यथायोग्यव्यवहारे दक्षः ॥ १२० ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ।

तत्पश्चात् देवदेव भी महोत्सव से प्रसन्नचित्त होकर यह कहने के अनन्तर ब्रह्मादि देवताओं के अभिषेक करने पर उन लोगों को मनोवांछित अर्थ देकर और सभी लोगों को यथायोग्य प्रसन्न करके विश्वकर्मा के बनाये हुए राजभवन में चले गये ॥ ११९-१२० ।

स्कन्द ने कहा–

इस प्रकार से भगवान् महादेव ने विघ्नराज की स्तुति की और गणेश ने भी उसी भाँति से अपने अनेकरूप बना डाले थे ॥ १२१ ।

हे कुंभज ! उसी ढुंढिराज के ये सब नाम हैं, जिनका जप करने से मनुष्य अपने वांछित वस्तु को पाता है ॥ १२२ ।

वहाँ पर इनसे भिन्न और भी सहस्रों मूर्तियाँ ढुंढिराज की विद्यमान हैं, उनका भक्त लोगों ने भक्तिपूर्वक पूजन किया है ॥ १२३ ।

---

1. योग्यमिति क्वचित्पाठः ।

भगीरथगणाध्यक्षो हरिश्चन्द्रविनायकः ।
कपर्दाख्यो गणपतिस्तथा बिन्दुविनायकः ॥ १२४ ।
इत्याद्यास्तत्र विघ्नेशाः प्रतिभक्तप्रतिष्ठिताः ।
तेषामप्यर्चनात्पुंसां जायन्ते सर्वसम्पदः ॥ १२५ ।
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं नरः श्रद्धासमन्वितः ।
सर्वविघ्नान् समुत्सृज्य लभते वाञ्छितं पदम् ॥ १२६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ढुण्ढिविनायकप्रादुर्भावो नाम सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ।

जैसे भगीरथ-गणेश, हरिश्चन्द्र-विनायक, कपर्द-गणपति, बिन्दु-विनायक इत्यादिक प्रत्येक भक्तों के स्थापित काशी में अनेक गणेश हैं और उनके भी पूजन करने से लोगों को सब सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ १२४-१२५ ।

जो कोई श्रद्धापूर्वक इस पवित्र अध्याय को सुनता है, उसके सब विघ्न दूर हो जाते हैं और वह अपना अभीष्ट पद प्राप्त करता है ॥ १२६ ।

ढुंढिराज, बतलाइये, को हैं बड़े गणेश ।
माघ वदी जो चौथ को, लड्डू खात विशेष ॥ १ ।
ढुंढिराज महराज के, प्रणवों छप्पन रूप ।
काशी माहि बसाइये, ज्यों न परों भवकूप ॥ २ ।
है महाल तव नाम से, ढुंढिराज परसिद्ध ।
काशिराज युवराज तुम, करहु काम सब सिद्ध ॥ ३ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां ढुंढिराजस्तोत्र-विनायक-कथावर्णनं नाम सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ।

॥ अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

किं चकार हरः स्कन्द मन्दराद्रिगतस्तदा ।
विलम्बमालम्बयति तस्मिन्नपि गजानने ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

शृण्वगस्त्य कथां पुण्यां कथ्यमानां मयाऽधुना ।
वाराणस्येकविषयामशेषाघौघनाशिनीम् ॥ २ ।
करीन्द्रवदने तत्र क्षेत्रवर्येऽविमुक्तके ।
विलम्बभाजित्र्यक्षेण प्रैक्षि क्षिप्रमधोक्षजः ॥ ३ ।
प्रोक्तोऽथ बहुशश्चेति बहुमानपुरःसरम् ।
तथा त्वमपि मा कार्षीर्यथा प्राक्प्रस्थितैः कृतम् ॥ ४ ।

श्रीविष्णुरुवाच–

उद्यमः प्राणिभिः कार्यो यथाबुद्धि बलाबलम् ।
परं फलन्ति कर्माणि त्वदधीनानि शङ्कर ॥ ५ ।

अध्याये चाष्टपञ्चाशे विष्णोर्गमनमुच्यते ।
मन्दरादविमुक्ते च दिवोदासस्य निर्वृतिः ॥ १ ।
कृतकृत्यमिवात्मानं ततो मत्वा स विघ्नजित् ।
विधाय बहुधात्मानं काश्यां स्थितिमवाप च ॥ २ ।
इत्युक्तं तत्र पृच्छति । किं चकारेति ॥ १ ॥

(श्रीविष्णु की काशीयात्रा और राजा दिवोदास की मुक्ति)

अगस्त्य ऋषि ने पूछा–

हे स्कन्द ! जब गणेश भी विलम्ब करने लगे, तब मंदराचल पर रहते हुए महादेव ने क्या किया' ? ॥ १ ।

स्कन्द बोले–

हे अगस्त्य ! अखिल पापों की नाशिनी एकमात्र काशी के विषय में जो पवित्र कथा मैं अब कहता हूँ, उसे श्रवण करो ॥ २ ।

उस अविमुक्त नामक उत्तम क्षेत्र में जाकर गजानन के भी बहुत विलम्ब करने पर महादेव ने तुरन्त ही विष्णु को देखा (और बुला लिया) ॥ ३ ।

और बड़े सम्मान से कई बार यह भी कहा कि (देखो) पूर्व के गये लोगों ने जैसा किया है, वैसा ही तुम भी मत करने लगना ॥ ४ ।

श्रीविष्णु बोले–

सभी प्राणियों को अपनी बुद्धि और बल के अनुसार उद्यम तो करना ही

अचेतनानि कर्माणि स्वतन्त्राः प्राणिनोऽपि न ।
त्वं च तत्कर्मणां साक्षी त्वं च प्राणिप्रवर्त्तकः ॥ ६ ।
किन्तु त्वत्पादभक्तानां तादृशी जायते मतिः ।
यया त्वमेव कथयेः साध्वनेन त्वनुष्ठितम् ॥ ७ ।
यत्किञ्चिदिह वै कर्म स्तोकं वाऽस्तोकमेव वा ।
तत्सिद्ध्यत्येव गिरिश त्वत्पादस्मृत्यनुष्ठितम् ॥ ८ ।
सुसिद्धमपि वै कार्यं सुबुद्ध्याऽपि स्वनुष्ठितम् ।
अत्वत्पदस्मृतिकृतं विनश्यत्येव तत्क्षणात् ॥ ९ ।
शम्भुना प्रेषितेनाद्य सूद्यमः क्रियते मया ।
त्वद्भक्तिसम्पत्तिमतां सम्पन्नप्राय एव नः ॥ १० ।
अतीव यदसाध्यं स्यात् स्वबुद्धिबलपौरुषैः ।
तत्कार्यं हि सुसिद्धं स्यात् त्वदनुध्यानतः शिव ॥ ११ ।

नोऽस्माकमुद्यमः सम्पन्नप्रायः सिद्धप्राय इति योगिन्याद्यनन्तर्भाव्याह । हीति पाठे निश्चितमित्यर्थः ॥ १० ।

चाहिए; परन्तु हे शंकर ! कर्मों का फल मिलना तो (सर्वथा) आप ही के हाथ में है ॥ ५ ।

क्योंकि कर्म तो सब अचेतन हैं और प्राणी लोग भी स्वतंत्र नहीं हैं, फिर कर्मों के साक्षी और प्राणियों के प्रवर्तक एक आप ही हैं ॥ ६ ।

तब रहा यह कि, जो लोग आपके पादपद्म की भक्ति करते हैं, उनकी बुद्धि ही ऐसी हो जाती है कि अन्त में आपको ही यह कहना पड़ता है कि इसने यह अच्छा किया ॥ ७ ।

हे गिरीश ! इस संसार में छोटा अथवा बड़ा चाहे जो कुछ कर्म हो, पर वह सब आपके चरणों को सुमिर कर आरंभ किया जावे तो सिद्ध हो ही जाता है ॥ ८ ।

जो उत्तम बुद्धिपूर्वक अनुष्ठित तथा सुसिद्धप्राय भी कार्य हो, पर आपके पदस्मरण के बिना ही किया गया हो, तो वह उसी क्षण विनष्ट हो जाता है ॥ ९ ।

आज मैं शिव का प्रेषित बनकर उत्तम उद्योग कर रहा हूँ, तब आपकी भक्तिरूप सम्पत्तिवाले हम लोगों के वे उद्योग प्रायः संपन्न ही हैं ॥ १० ।

हे शिव ! जो कार्य अपनी बुद्धि, बल और पौरुष से भी अत्यन्त ही असाध्य होता है, वह भी आपके ध्यानमात्र से सुसिद्ध हो जाता है ॥ ११ ।

यान्ति प्रदक्षिणीकृत्य ये भवन्तं भवं विभो ।
भवन्ति तेषां कार्याणि पुरो भूतानि ते भयात् ॥ १२ ।
जातं विद्धि महादेव कार्यमेतत्सुनिश्चितम् ।
काशीप्रावेशिकश्चिन्त्यः शुभलग्नोदयः परम् ॥ १३ ।
अथवा काशिसम्प्राप्तौ न चिन्त्यं हि शुभाऽशुभम् ।
तदेव हि शुभः कालो यदैवाप्येत काशिका ॥ १४ ।
शम्भुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च पुनः पुनः ।
प्रतस्थेऽथ सलक्ष्मीको मन्दराद् गरुडध्वजः ॥ १५ ।
दृशोरतिथितां नीत्वा विष्णुर्वाराणसीं ततः ।
पुण्डरीकाक्ष इत्याख्यां सफलीकृतवान् मुदा ॥ १६ ।
गङ्गावरणयोर्विष्णुः संभेदे स्वच्छमानसः ।
प्रक्षाल्य पाणिचरणं सचैलः स्नातवानथ ॥ १७ ।
तदा प्रभृति तत्तीर्थं पादोदकमितीरितम् ।
पादौ यदादौ शुभदौ क्षालितौ पीतवाससा ॥ १८ ।
तत्र पादोदके तीर्थे ये स्नास्यन्तीह मानवाः ।
तेषां विनश्यति क्षिप्रं पापं सप्तभवार्जितम् ॥ १९ ।

प्रावेशिकः प्रवेशयोग्यः, काल इति शेषः । शुभलग्नोदयो वा विशिष्यते ॥ १३ ।

हे विभो ! हे भव ! जो लोग आपको प्रदक्षिण करके चलते हैं, उनके सभी कार्य मानो आपके भय से आगे ही के हुए रहते हैं ॥ १२ ।

हे महादेव ! इस काम को तो हुआ ही जानिये, यह निश्चित है, अब तो काशी में प्रवेश करने का कोई उत्तम लग्न स्थिर करना चाहिए ॥ १३ ।

अथवा काशी के प्रवेश में कुछ शुभाशुभ की चिन्ता नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वही तो शुभ क्षण है, जिसमें काशी प्राप्त हो जावे ॥ १४ ।

इसके अनन्तर गरुड़ध्वज ने शिव की प्रदक्षिणा और बारम्बारं प्रणाम करके मंदराचल से लक्ष्मी के साथ प्रस्थान किया ॥ १५ ।

तदनंतर विष्णु ने वाराणसीपुरी को देखते ही अपने पुंडरीकाक्ष (इस) नाम को हर्ष से सफल कर दिया (अर्थात् आँखें फाड़कर देखने लगे) ॥ १६ ।

फिर गंगा और वरणा के संगम पर विष्णु ने स्वच्छ हृदय से हाथ-पाँव धोकर सचैल स्नान किया ॥ १७ ।

तभी से वह तीर्थ पादोदक नाम से कहा जाता है; क्योंकि पीताम्बर भगवान् ने मंगलप्रद अपने चरणों को पहले-पहल वहाँ पर ही धोया था ॥ १८ ।

उस पादोदक तीर्थ में जो लोग स्नान करेंगे, उनके सात जन्म के संचित पुराने पाप तुरन्त ही नष्ट हो जावेंगे ॥ १९ ।

तत्र श्राद्धं नरः कृत्वा दत्वा चैव तिलोदकम् ।
सप्त सप्त तथा सप्त स्ववंश्यांस्तारयिष्यति ॥ २० ।
गयायां यादृशी तृप्तिर्लभ्यते प्रपितामहैः ।
तीर्थे पादोदके काश्यां तादृशी लभ्यते ध्रुवम् ॥ २१ ।
कृतपादोदकस्नानं पीतपादोदकोदकम् ।
दत्तपादोदपानीयं नरं न निरयः स्पृशेत् ॥ २२ ।
विष्णुपादोदके तीर्थे प्राश्य पादोदकं सकृत् ।
जातुचिज्जननीस्तन्यं न पिबेदिति निश्चितम् ॥ २३ ।
सचक्रशालग्रामस्य शंखेन स्नापितस्य च ।
अद्भिः पादोदकस्याम्बु पिबन्नमृततां व्रजेत् ॥ २४ ।
विष्णुपादोदके तीर्थे विष्णुपादोदकं पिबेत् ।
यदि तत्सुधया किं नु बहुकालीनया तया ॥ २५ ।

दत्तं पादोदपानीयं देवादिभ्यो नयेन तम् ॥ २२ ।
पादोदकस्य तीर्थस्याद्भिः शिंखेन स्नापितस्येत्यन्वयः ॥ २४ ।

जो कोई वहाँ पर श्राद्ध और तिल-जल से तर्पण करेगा, वह अपने वंश के इक्कीस पुरुषों का उद्धार कर देवेगा ॥ २० ।

पितरों को जैसी तृप्ति गयातीर्थ में होती है, काशी के पादोदकतीर्थ में भी ध्रुवरूप से वैसी ही होती है ॥ २१ ।

जो मनुष्य पादोदकतीर्थ में स्नान, पादोदक का जलपान और उसी पादोदक का जल देता है, उसे नरक कभी नहीं छू सकता ॥ २२ ।

पादोदकतीर्थ के जल से विष्णु का चरणामृत जो एक बार भी पी लेता है, फिर उसे माता का दूध कभी नहीं पीना पड़ता, यह निश्चित सत्य है ॥ २३ ।

(गोमती) चक्र के सहित शालग्राम को पादोदक के जल से शंख के द्वारा नहवाकर वही जल जो कोई पी लेता है, वह अमृतपद को प्राप्त होता है ॥ २४ ।

यदि विष्णु के पादोदकतीर्थ पर ही विष्णु का चरणामृत पी लिया जावे, तो बहुत दिनों के पुराने (सड़ियल) उस अमृत से कौन फल है ? ॥ २५ ।

काश्यां पादोदके तीर्थे यैः कृता नोदकक्रिया: ।
जन्मैव विफलं तेषां जलबुद्बुदसश्रियाम् ॥ २६ ।
कृतनित्यक्रियो विष्णुः सलक्ष्मीकः सकाश्यपिः ।
उपसंहृत्य तां मूर्तिं त्रैलोक्यव्यापिनीं तथा ॥ २७ ।
विधाय दार्षदीं[1] मूर्तिं स्वहस्तेनादिकेशवः ।
स्वयं संपूजयामास सर्वसिद्धिसमृद्धिदाम् ॥ २८ ।
आदिकेशवनाम्नीं तां श्रीमूर्तिं पारमेश्वरीम् ।
सम्पूज्य मर्त्यो वैकुण्ठं मन्यते स्वगृहाङ्गणम् ॥ २९ ।
श्वेतद्वीप इति ख्यातं तत्स्थानं काशिसीमनि ।
श्वेतद्वीपेव सन्त्येव नरास्तन्मूर्तिसेवकाः ॥ ३० ।
क्षीराब्धिसंज्ञं तत्रान्यत्तीर्थं केशवतोऽग्रतः ।
कृतोदकक्रियस्तत्र वसेत्क्षीराब्धिरोधसि ॥ ३१ ।

सश्रियामित्यत्र सन्निभमिति क्वचित्पाठः ॥ २६ ।

कृता नित्यक्रियाः सन्ध्यादिरूपा येन स तथा । काश्यपिर्गरुडः । उपसंहृत्य तां मूर्तिमिति श्लोकद्वयं वाक्यम् ॥ २७ ।

जिन लोगों ने काशी के पादोदकतीर्थ में उदकक्रिया को नहीं किया, उन सब का जल के बुल्ले ऐसा जन्म ही व्यर्थ गया ॥ २६ ।

लक्ष्मी और गरुड़ के सहित भगवान् आदिकेशव विष्णु ने नित्य कृत्य के समाप्त करने पर त्रैलोक्यव्यापिनी अपनी मूर्ति को बटोर अपने ही हाथों से पत्थर की मूर्ति को बनाकर समस्त सिद्धि और समृद्धियों की देनेवाली उस मूर्ति की आप ही पूजा की ॥ २७-२८ ।

मनुष्य भी श्री परमेश्वर की आदिकेशवनाम्नी उस मूर्ति की पूजा करने से वैकुंठ को अपने घर के अँगना-सा समझने लगता है ॥ २९ ।

काशी की सीमा पर वह स्थान श्वेतद्वीप के नाम से प्रसिद्ध है और जो लोग उस आदिकेशव मूर्ति के सेवक हैं, वे ही उस श्वेतद्वीप में वास करते हैं ॥ ३० ।

वहीं पर आदिकेशव के आगे एक क्षीरसमुद्र नामक दूसरा भी तीर्थ है, उस तीर्थ में जलक्रिया करने से क्षीरसागर के तीर पर वास होता है ॥ ३१ ।

---

1. पार्थिवीमित्यपि क्वचित्पाठः ।

तत्र श्राद्धं नरः कृत्वा गां दत्वा च पयस्विनीम् ।
यथोक्तसर्वाभरणां क्षीरोदे वासयेत् पितॄन् ॥ ३२ ।
एकोत्तरशतं वंश्यान्नयेत्पायसकर्दमम् ।
क्षीरोदरोधः पुण्यात्मा भक्त्या तत्रैकधेनुदः ॥ ३३ ।
बह्वीश्च नैचिकीर्दत्वा श्रद्धयाऽत्र सदक्षिणाः ।
शय्योत्तरांश्च प्रत्येकं पितॄंस्तत्र सुवासयेत् ॥ ३४ ।
क्षीरोदाद्दक्षिणे तत्र शंखतीर्थमनुत्तमम् ।
तत्रापि सन्तर्प्य पितॄन् विष्णुलोके महीयते ॥ ३५ ।
तद्याम्यां चक्रतीर्थं च पितॄणामपि दुर्लभम् ।
तत्रापि विहितश्राद्धो मुच्यते पैतृकादृणात् ॥ ३६ ।
तत्सन्निधौ गदातीर्थं विष्वगाधिनिबर्हणम् ।
तारणं च पितॄणां वै कारणं चैनसां क्षये ॥ ३७ ।

यथोक्तं स्वर्णशृङ्गरौप्यखुराद्याभरणं यस्याः सा तथा ताम् ॥ ३२ ।

नैचिकीरुत्तमा धेनुः । शय्याभोगसाधनमुत्तरमुदर्कफलं येषां तान् पितॄन् । **तत्र क्षीरोदे** । यद्वा शय्याया उत्तरे उपरि सुखसुप्तान् । शय्योत्तरांश्चेत्यत्र शतोत्तरांश्चेति क्वचित्पाठः ॥ ३४ ।

गृहीतमूर्तिभिः शंखचक्रादिभिरधिष्ठितानि तीर्थानि शंखादितीर्थानि ॥ ३५ ।

मनुष्य वहाँ पर श्राद्ध करके स्वर्णशृंग, रौप्यखुर इत्यादि आभरणों से युक्त दुधार गौ का दान करने से अपने पितरों को क्षीरसमुद्र पर बसाता है ॥ ३२ ।

वहाँ पर जो पुण्यात्मा भक्तिपूर्वक एक भी गोदान कर देता है, वह अपने एक सौ एक पूर्वपुरुषों को पायस के कर्दम से पूर्ण क्षीरोद के तीर पर पहुँचा देता है ॥ ३३ ।

और जो वहाँ पर दक्षिणा के सहित बहुत-सी उत्तम गौओं को श्रद्धापूर्वक देता है, वह अपने प्रत्येक पितरों को क्षीरसागर के तीर में टिकाता और शय्या पर सुख से सुलाता है ॥ ३४ ।

क्षीरोदतीर्थ से दक्षिण ओर उसी ठाँव पर परमोत्तम **शंखतीर्थ** है, उसमें भी पितरों का तर्पण करने से विष्णुलोक प्राप्त होता है ॥ ३५ ।

उसके भी दक्षिण **चक्रतीर्थ** है, वह भी पितरों को दुर्लभ है, वहाँ पर भी श्राद्ध करने से पितृ-ऋण छूट जाता है ॥ ३६ ।

उसी के समीप में ही **गदातीर्थ** है, जो समस्त मानसिक पीड़ाओं का नाश कर डालता है और वह पितरों का निस्तारक और पापों का संहारक है ॥ ३७ ।

पद्मतीर्थं तदग्रे तु तत्र स्नात्वा नरोत्तमः ।
पितॄन् सन्तर्प्य विधिना पद्मया नैव हीयते ॥ ३८ ।
तत्रैव च महालक्ष्म्यास्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
स्वयं यत्र महालक्ष्मीः स्नाता त्रैलोक्यहर्षदा ॥ ३९ ।
तत्र तीर्थे कृतस्नानो दत्वा रत्नानि काञ्चनम् ।
पट्टाम्बराणि विप्रेभ्यो न लक्ष्म्या परिहीयते ॥ ४० ।
यत्र यत्र हि जायेत तत्र तत्र समृद्धिमान् ।
पितरोऽपि हि सश्रीकास्तस्य स्युस्तीर्थगौरवात् ॥ ४१ ।
तत्रास्ति हि महालक्ष्म्या मूर्तिस्त्रैलोक्यवन्दिता ।
तां प्रणम्य नरो भक्त्या न रोगी जायते क्वचित् ॥ ४२ ।
नभस्यबहुलाष्टम्यां कृत्वा जागरणं निशि ।
समर्च्य च महालक्ष्मीं व्रती व्रतफलं लभेत् ॥ ४३ ।
तार्क्ष्यतीर्थं हि तत्रास्ति तार्क्ष्यकेशवसन्निधौ ।
तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या संसाराहिं न पश्यति ॥ ४४ ।

नभस्यबहुलाष्टम्यां भाद्रकृष्णाष्टम्याम् ॥ ४३ ।

उसके आगे ही पद्मतीर्थ है। उसमें जो उत्तम नर नहाकर विधिपूर्वक पितरों का तर्पण करता है, वह कदापि लक्ष्मी से हीन नहीं होने पाता ॥ ३८ ।

त्रिभुवन की हर्षदात्री महालक्ष्मी ने स्वयं जहाँ पर स्नान किया था, त्रैलोक्यविख्यात महालक्ष्मीतीर्थ भी वहीं पर वर्तमान है ॥ ३९ ।

उस तीर्थ में स्नान करने तथा सुवर्ण, रत्न और पट्टवस्त्र इत्यादिक ब्राह्मण को दान देने से कभी लक्ष्मी से हीन नहीं हो सकता ॥ ४० ।

तीर्थ ही के प्रभाव से वह मनुष्य जहाँ-जहाँ पर जन्म लेता है, वहाँ ही वहाँ समृद्धिमान् होता है और उसके पूर्वज भी श्रीमन्त बने रहते हैं ॥ ४१ ।

वहाँ पर त्रैलोक्यवन्दिता महालक्ष्मी की मूर्ति है, मनुष्य जिसके प्रणाम करने ही से कदापि रोगग्रस्त नहीं हो सकता ॥ ४२ ।

जो व्रत रहकर भादों वदी अष्टमी की रात्रि में जागरण और महालक्ष्मी का पूजन करे, उसे व्रत का फल मिले ॥ ४३ ।

उसी स्थान पर गरुड़केशव के समीप ही में गरुड़तीर्थ है, वहाँ भक्तिपूर्वक स्नान करने से मनुष्य को संसाररूपी सर्प का फिर दर्शन नहीं करना पड़ता ॥ ४४ ।

तदग्रे नारदं तीर्थं महापातकनाशनम् ।
ब्रह्मविद्योपदेशं च प्राप्तवान् यत्र नारदः ॥ ४५ ।
तत्र स्नातो नरः सम्यग् ब्रह्मविद्यामवाप्नुयात् ।
केशवात्तेन तत्रोक्तः काश्यां नारदकेशवः ॥ ४६ ।
अर्चयित्वा नरो भक्त्या देवं नारदकेशवम् ।
जनन्या जठरं पीठमध्यास्ते न कदाचन ॥ ४७ ।
प्रह्लादतीर्थं तस्याग्रे यत्र प्रह्लादकेशवः ।
तत्र श्राद्धादिकं कृत्वा विष्णुलोके महीयते ॥ ४८ ।
आम्बरीषमहातीर्थमघघ्नं तस्य सन्निधौ ।
तत्रौदकीं क्रियां कुर्वन्निष्कालुष्यं लभेन्नरः ॥ ४९ ।
आदित्यकेशवः पूज्य आदिकेशवपूर्वतः ।
तस्य सन्दर्शनादेव मुच्यते चोच्चपातकैः ॥ ५० ।

प्राप्तवान् केशवादिति द्वितीयेनान्वयः । यथाश्रुतयोजनिकायामग्रे नारदकेशव इति सुसंश्लिष्टं न स्यात् ॥ ४५ ।

मुच्यते चेति चकाराद्रोगैश्च ॥ ५० ।

उसके आगे ही **नारदतीर्थ** है, जो महापातकों का भी विनाशक है और वहीं पर केशव से नारद को ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त हुआ था ॥ ४५ ।

वहाँ पर भी जो कोई सम्यक् प्रकार से स्नान करे, उसको भी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति केशव ही से हो जाती है, इसी से काशी में उनका नाम **नारदकेशव** (पड़ गया) है ॥ ४६ ।

जो जन भक्तिभाव से नारदकेशवदेव का पूजन करता है, वह कभी माता की जठर-यातना का दुःख नहीं भोगने पाता ॥ ४७ ।

फिर उसके भी आगे **प्रह्लादतीर्थ** (घाट) है, वहाँ पर **प्रह्लादकेशव** की मूर्ति है । उस तीर्थ में श्राद्धादिक करने से वैकुंठलोक में वास मिलता है ॥ ४८ ।

उसके पास ही में **आम्बरीषतीर्थ** है, जो बड़ा ही पापनाशक है, वहाँ भी तर्पणादि जलक्रिया के करने से मनुष्य निष्पाप हो जाता है ॥ ४९ ।

आदिकेशव के पूर्वभाग में **आदित्यकेशव** हैं, जिनके दर्शन ही से बड़े-बड़े पाप छूट जाते हैं ॥ ५० ।

दत्तात्रेयेश्वरं तीर्थं तत्रैवादिगदाधरः ।
पितॄन् सन्तर्प्य तत्रैव ज्ञानयोगमवाप्नुयात् ॥ ५१ ।
भृगुकेशवपूर्वेण तीर्थं वै भार्गवं परम् ।
तत्र स्नातो नरः प्राज्ञो भवेद् भार्गववत्सुधीः ॥ ५२ ।
तत्र वामनतीर्थं च प्राच्यां वामनकेशवात् ।
पूजयित्वा च तं विष्णुं वसेद्वामनसन्निधौ ॥ ५३ ।
नरनारायणं तीर्थं नरनारायणात्पुरः ।
तत्र तीर्थे कृतस्नानो नरो नारायणो भवेत् ॥ ५४ ।
यज्ञवाराहतीर्थं च तदग्रे पापनाशम् ।
प्रतिमज्जनतस्तत्र राजसूयक्रतोः फलम् ॥ ५५ ।
विदारनारसिंहाख्यं तत्र तीर्थं सुनिर्मलम् ।
स्नातो विदारयेत्तत्र पापं जन्मशतार्जितम् ॥ ५६ ।
गोपिगोविन्दतीर्थं च गोपिगोविन्दपूर्वतः ।
स्नात्वा तत्र समभ्यर्च्य विष्णुं विष्णुप्रियो भवेत् ॥ ५७ ।

भार्गवमौशनसम् ॥ ५३ ।

वहाँ पर ही दत्तात्रेयेश्वरतीर्थ है और आदिगदाधर विद्यमान हैं, वहाँ भी पितरों के तर्पण करने से ज्ञानयोग प्राप्त होता है ॥ ५१ ।

उसके आगे भृगुकेशव के पूर्व भार्गवतीर्थ है, वहाँ पर स्नान करने से मनुष्य भार्गव ही के समान बुद्धिमान् हो जाता है ॥ ५२ ।

उसी स्थान पर वामनकेशव के पूर्व वामनतीर्थ है, उस विष्णु का पूजन करने से वामन भगवान् के पास वास मिलता है ॥ ५३ ।

फिर नरनारायण के आगे नरनारायणतीर्थ है। उस तीर्थ पर स्नान करके नर भी नारायण ही हो जाता है ॥ ५४ ।

उसके आगे यज्ञवाराहतीर्थ है, जो पापों का नाशक है और वहाँ पर स्नान करने से (प्रत्येक गोते में) राजसूय यज्ञ का फल प्राप्त होता है ॥ ५५ ।

वहाँ पर ही विदारनारसिंहतीर्थ है, वह बड़ा ही निर्मल है। वहाँ भी स्नान करने से सैकड़ों जन्म के संचित पुराने पाप विदीर्ण हो जाते हैं ॥ ५६ ।

आगे गोपगोविन्द के पूर्व ओर गोपीगोविन्दतीर्थ है, वहाँ पर स्नान और विष्णु का पूजन करने से विष्णु का प्रीतिपात्र होता है ॥ ५७ ।

तीर्थं लक्ष्मीनृसिंहाख्यं गोपिगोविन्ददक्षिणे ।
न लक्ष्म्या त्यजते क्वापि तत्तीर्थपरिमज्जनात् ॥ ५८ ।
तदग्रे शेषतीर्थं च शेषमाधवसन्निधौ ।
तर्पितानां पितॄणां च यत्र तृप्तिर्न शिष्यते ॥ ५९ ।
शंखमाधवतीर्थं च तदवाच्यां सुनिर्मलम् ।
कृतोदको नरस्तत्र भवेत् पापोऽपि निर्मलः ॥ ६० ।
तदग्रे च हयग्रीवं तीर्थं परमपावनम् ।
तत्र स्नात्वा हयग्रीवं केशवं परिपूज्य च ॥ ६१ ।
पिण्डं च तत्र निर्वाप्य हयग्रीवस्य सन्निधौ ।
हायग्रीवीं श्रियं प्राप्य स मुच्येत सपूर्वजः ॥ ६२ ।

स्कन्द उवाच–

प्रसङ्गतो मयैतानि तीर्थानि कथितानि ते ।
भूमौ तिलान्तरायां यत्तत्र तीर्थान्यनेकशः ॥ ६३ ।
उद्दिष्टानां तु तीर्थानामेतेषां कलशोद्भव ।
नाममात्रमपि श्रुत्वा निष्पापो जायते नरः ॥ ६४ ।

प्रसङ्गत इति । एतानि पूर्वोक्तानि कानिचिन्न तु साकल्येन । तत्र हेतुर्यद्यस्मात्तत्र काश्यां भूमौ तिलान्तरायां तिलमध्यप्रमाणायामनेकशः ालिङ्गानि तीर्थानि सन्ति ॥ ६३ ।

विशेषतः केषाञ्चिन्निर्देशफलमाह । उद्दिष्टानामिति ॥ ६४ ।

गोपीगोविन्द के दक्षिण **लक्ष्मीनृसिंह** नामक तीर्थ है, इस तीर्थ में डुबकी लगाने वाले को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़तीं ॥ ५८ ।

आगे (चलकर) **शेषमाधव** के समीप में **शेषतीर्थ** है, जहाँ पर पितरों का तर्पण कर देने से फिर उनकी तृप्ति कुछ शेष नहीं रह जाने पाती ॥ ५९ ।

उसके भी दक्षिण शंखमाधव नामक बड़ा निर्मल तीर्थ है, जहाँ उदकक्रिया के करने से पापीजन भी निर्मल हो जाता है ॥ ६० ।

उसके भी आगे **हयग्रीवतीर्थ** है, जो कि परमपावन है । वहाँ पर नहाकर हयग्रीव की पूजा करने से तथा हयग्रीव के समीप में पिंडदान करने से हयग्रीव की श्री को पाकर अपने पूर्वज पुरुषों के सहित मुक्त हो जाता है ॥ ६१-६२ ।

स्कन्द ने कहा–

प्रसंगवश मैंने इन सब तीर्थों का वर्णन तुमसे कर दिया, पर काशी की भूमि में तो तिल-तिल के अन्तर पर अनेकानेक तीर्थ वर्तमान हैं ॥ ६३ ।

हे कलशोद्भव ! इन सब उद्दिष्ट तीर्थों के केवल नाम ही सुन लेने से भी मनुष्य निष्पाप हो जाता है ॥ ६४ ।

इदानीं प्रस्तुतं विप्र शृणु वक्ष्यामि तेऽग्रतः ।
वैकुण्ठनाथो यच्चक्रे शंखचक्रगदाधरः ॥ ६५ ।
तस्यां मूर्तौ समावेश्य कैशव्यामथ केशवः ।
शम्भोः कार्ये कृतमना अंशांशांशेन निर्गतः ॥ ६६ ।

अगस्त्य उवाच–

अंशांशांशेन निश्चक्रे कुतो भो चक्रपाणिना ।
क्व निर्गतं च हरिणा प्राप्य काशीं षडानन ॥ ६७ ।

स्कन्द उवाच–

सामस्त्येन यदर्थं न निर्गतं विष्णुना मुने ।
ब्रुवे तत्कारणमिति क्षणमात्रं निशामय ॥ ६८ ।
सम्प्राप्य पुण्यसंभारैः प्राज्ञो वाराणसीं पुरीम् ।
न त्यजेत्सर्वभावेन महालाभैरपीरितः ॥ ६९ ।
अतः प्रतिकृतिः स्वीया तत्र काश्यां मुरारिणा ।
प्रतितस्थे कलशज स्तोकांशेन च निर्गतम् ॥ ७० ।

प्रसङ्गागतं परिसमाप्य प्रस्तुतमावेदयति । **इदानीमिति** ॥ ६५ ।

समावेश्य सम्यगावेश्य प्रवेश्य । व्यापिनीं तनुमिति शेषः । ननु क्रिया नाम व्यापारः, कथं सा विष्णोर्व्यापकस्येत्यत आह–अंशः अन्तर्यामी तस्यांशः पुरुषस्तस्यांशश्चतुर्भुजस्तेन ॥ ६६ ।

प्रतितस्थे स्थापिता ॥ ७० ।

हे विप्र ! अब मैं तुम्हारे आगे वह प्रस्तुत विषय कहता हूँ, जो कि शंख-चक्र-गदाधर वैकुंठनाथ ने किया था ॥ ६५ ।

इसके पीछे भगवान् विष्णु उसी **केशवमूर्ति** में प्रवेश कर महादेव के कार्य में कृतसंकल्प हो अंशांश के भी अंश से निकल गये ॥ ६६ ।

अगस्त्य ने पूछा–

'हे षडानन ! चक्रपाणि अंशांश के अंश से क्यों निकले ? और काशी में पहुँच जाने पर निकलकर विष्णु फिर कहाँ चले गये ?' ॥ ६७ ।

स्कन्द कहने लगे–

हे मुने ! जिस कारण से विष्णु समूचे रूप से नहीं निकले, उसका अभिप्राय मैं कहता हूँ, क्षण भर श्रवण करो ॥ ६८ ।

बड़े-बड़े पुण्यों के बल से वाराणसीपुरी में प्राप्त होकर विज्ञजन उसे सर्वतोरूप से न छोड़ दें, चाहे उसे कितने ही बड़े से बड़े लाभ की आशा रहे, तो क्या हुआ ? ॥ ६९ ।

हे अगस्त्य ! इसी से विष्णु ने काशी में अपनी मूर्ति बनाकर बैठा दी और आप छोटे (थोड़े) अंश से निकल गये ॥ ७० ।

किञ्चित्काश्या उदीच्यां च गत्वा देवेन चक्रिणा ।
स्वस्थित्यै कल्पितं स्थानं धर्मक्षेत्रमितीरितम् ॥ ७१ ।
ततस्तु सौगतं रूपं शिश्राय श्रीपतिः स्वयम् ।
अतीवसुन्दरतरं त्रैलोक्यस्यापि मोहनम् ॥ ७२ ।
श्रीः परिव्राजिका जाता नितरां सुभगाकृतिः ।
यामालोक्य जगत्सर्वं चित्रन्यस्तमिवास्थितम् ॥ ७३ ।
विश्वयोनिं जगद्धात्रीं न्यस्तहस्ताग्रपुस्तकाम् ।
गरुत्मानपि तच्छिष्यो जातो लोकोत्तराकृतिः ॥ ७४ ।
अत्यद्भुतमहाप्राज्ञो निःस्पृहः सर्ववस्तुषु ।
गुरुशुश्रूषणपरो न्यस्तहस्ताग्रपुस्तकः ॥ ७५ ।

किञ्चिदिति । किञ्चिद्दूरं यथा स्याद्धर्मक्षेत्रं धर्मेश इति लोकप्रसिद्धम् ॥ ७१ ।

सुगतो बुद्धस्तत्सम्बन्धि सौगतम् । शिश्राय श्रितवान् ॥ ७२ ।

परिव्राजिका बौद्धाङ्गना । विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुमिति पराशरोक्तेः । **चित्रन्यस्तं चित्रलिखितम्** । मोहितम् । तत्क्षणादिहेति क्वचित्पाठः ॥ ७३ ।

लोकोत्तराकृतिः सर्वोत्कृष्टमूर्तिः ॥ ७४ ।

भगवान् विष्णु ने काशी से कुछ उत्तर दिशा में जाकर अपने रहने के लिये एक स्थान निश्चित किया, जो धर्मक्षेत्र (धमेख) कहा जाता है ॥ ७१ ।

तदनन्तर भगवान् विष्णु ने स्वयं अत्यन्त सुन्दर और त्रैलोक्य को मोहित करने वाला बौद्धरूप धारण कर लिया ॥ ७२ ।

और लक्ष्मी भी अत्यन्त सुभगरूपवती होकर परिव्राजिका बन गयीं । हाथ में आगे पुस्तक लिये हुए उस विश्वमाता जगद्धात्री को देखकर समस्त जगत् चित्रलिखित (तसबीर) की तरह सन्न हो जाता था और गरुड़ भी हाथ में पुस्तक लेकर समस्त वस्तुवों में निःस्पृह लोकोत्तर स्वरूपवान् विचित्र महाविद्वान् और परम-गुरु-शुश्रूषक उनके शिष्य बन गये ॥ ७३-७५ ।

अपृच्छत् परमं धर्मं संसारविनिर्मोचकम् ।
आचार्यवर्यं सौम्यास्यं प्रसन्नात्मानमुत्तमम् ॥ ७६ ।
धर्मार्थशास्त्रकुशलं ज्ञानविज्ञानशालिनम् ।
सुस्वरं सुपदव्यक्ति सुस्निग्धमृदुभाषिणम् ॥ ७७ ।
स्तम्भनोच्चाटनाकृष्टिवशीकर्मादिकोविदम् ।
व्याख्यानसमयाकृष्टपक्षिरोमाञ्चकारिणम् ॥ ७८ ।
पीततद्गीतपीयूषमृगपूगैरुपासितम् ।
महामोदभराक्रान्तवातचाञ्चल्यहारिणम् ॥ ७९ ।
वृक्षैरपि पतत्पुष्पच्छलैः कृतसमर्चनम् ।
ततः प्रोवाच पुण्यात्मा पुण्यकीर्तिः ससौगतः ॥ ८० ।
शिष्यं विनयकीर्तिं तं महाविनयभूषणम् ॥ ८१ ।

संसारविनिमोचकमिति तन्मतमवलम्ब्योक्तम् । प्रसन्नात्मानं सुस्थमनसम् ॥ ७६ ।

ज्ञानं शास्त्रीयं विज्ञानमनुभवस्ताभ्यां शालत इति ज्ञानविज्ञानशालिनम् ॥ ७७ ।

आकृष्टिराकर्षणम् । व्याख्यानसमये व्याख्यानं श्रोतुमायान्त्यतो व्याख्यान-समयेनाकृष्टा आहूताः पक्षिणस्तेषां रोमाञ्चोदयकारिणाम् ॥ ७८ ।

महामोदभराक्रान्तेन घनतरप्रमोदभराक्रमणेन वातस्य चाञ्चल्यं हर्तुं शीलं यस्य तम् ॥ ७९ ।

पुण्यापुण्यजनिका कीर्तिर्यस्य स पुण्यकीर्तिः ॥ ८० ।

विनयेन कीर्तिर्यस्य तम् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । महाविनयभूषणमिति ॥ ८१ ।

फिर वह शिष्य, सौम्यमुख, प्रसन्नहृदय, परमोत्तम धर्मार्थशास्त्र में निपुण, ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, सुस्वर शोभनपदों से पूर्ण अतिस्निग्ध मधुरभाषी, स्तंभन-उच्चाटन-आकर्षण-वशीकरण इत्यादि कर्मों के विज्ञ, धर्मव्याख्यान में आकर्षित पक्षियों के भी रोमांच कर देने वाले, उनके गीतरूप अमृत के पीने वाले मृगों के झुंडों से सेवित, परमानन्द के बोझ से दबाकर वायु की भी चंचलता को दूर कर देने वाले एवं पुष्पों के झर पड़ने के छल से मानों वृक्षों से भी पूजित उस आचार्यवर्य से संसारविमोचक परम धर्म पूछने लगा। तब वह पुण्यात्मा पुण्यकीर्ति नामक बौद्ध, महाविनयभूषण उस विनयकीर्तिनामक शिष्य से कहने लगा ॥ ७६-८१ ।

पुण्यकीर्तिरुवाच–

त्वया विनयकीर्ते यो धर्मः पृष्टः सनातनः ।
वक्ष्याम्यहमशेषेण शृणुष्व त्वं महामते ॥ ८२ ।
अनादिसिद्धः संसारः कर्तृकर्मविवर्जितः ।
स्वयं प्रादुर्भवेदेष स्वयमेव विलीयते ॥ ८३ ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यावद्देहनिबन्धनम् ।
आत्मैवैकेश्वरस्तत्र न द्वितीयस्तदीशिता ॥ ८४ ।
यद् ब्रह्मविष्णुरुद्राद्यास्तथाख्या देहिनामिमाः ।
आख्या यथाऽस्मदादीनां पुण्यकीर्त्यादिरुच्यते ॥ ८५ ।

अनुवादपूर्वकं वक्तुं प्रतिजानीते । **त्वयेति** । सनातनः प्रवाहरूपेण नित्यः ॥ ८२ ।

स्वभाववादमादाय निरीश्वरेश्वरवादौ निरस्यति । **अनादिसिद्ध इति** ॥ ८३ ।

देहद्वयोपाधिजगदनूद्यसर्वदेहेष्वात्माभेदं प्रतिजानीते । **ब्रह्मादीति** । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं हिरण्यगर्भमारभ्य गुल्मावसानं जगदिति शेषः । निबध्यतेऽनेनेति निबन्धनम्, देहद्वयं स्थूलसूक्ष्मलक्षणं निबन्धनं यत्तज्जगत् । तथा आत्मैवैकेति । तत्र जगति आत्मैवैकः स्वतन्त्रः, तदीशिता तन्नियामक ईश्वर इत्यर्थः । यद्वा वेदान्तिमतं दूषयितुमवलम्ब्याह । **आत्मैवैकेति** । सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्य इत्यर्थः । तदीशितेत्यत्र तच्छब्दो जगद्विषयः ॥ ८४ ।

ननु ब्रह्मविष्णुहरा जगन्नियन्तारः सन्ति तत्राह । **ब्रह्मेति** । देहिनामस्मदादीनां यथा पुण्यकीर्त्यादिराख्योच्यते तथा ब्रह्मादीनां चतुर्मुख-चतुर्भुज-पञ्चवक्त्राद्या उच्यते कल्प्यते इत्यर्थः । **"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"** इति श्रुतेः । काल्पनिको नियम्यनियन्तृभावो न वास्तवः स्वप्ने यथेत्यर्थः ॥ ८५ ।

[अहिंसा-धर्मोपदेश (बौद्धधर्म में मूलसूत्र)]

पुण्यकीर्ति बोला–

हे विनयकीर्ते ! तुमने मुझसे जो सनातन धर्म पूछा है, उसे मैं अशेष प्रकार से कहता हूँ । हे महामते ! तुम सुनो ॥ ८२ ।

यह संसार अनादिसिद्ध है, इसका कोई न तो कर्ता है और न यह किसी का बनाया ही है, यह तो आप से आप उत्पन्न होता है और फिर आप से आप ही विलय भी हो जाता है ॥ ८३ ।

ब्रह्मा से लेकर तृणगुच्छपर्यन्त सभी कोई देहबन्धन में पड़े हैं, इसका स्वामी एकमात्र आत्मा ही है और उस आत्मा का नियामक दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ८४ ।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, ये सभी देहधारियों ही के नाम हैं, जैसे हम लोगों का भी पुण्यकीर्ति इत्यादि नाम कहा जाता है ॥ ८५ ।

देहो यथाऽस्मदादीनां स्वकालेन विलीयते ।
ब्रह्मादिमशकान्तानां स्वकालाल्लीयते तथा ॥ ८६ ।
विचार्यमाणे देहेऽस्मिन्न किञ्चिदधिकं क्वचित् ।
आहारो मैथुनं निद्रा भयं सर्वत्र यत्समम् ॥ ८७ ।
निजाहारपरीमाणं प्राप्य सर्वोऽपि देहभृत् ।
सदृशीमेव संतृप्तिं प्राप्नुयान्नाधिकेतराम् ॥ ८८ ।
यथा वितृषिताः स्याम पीत्वा पेयं मुदा वयम् ।
तृषितास्तास्तु तथाऽन्येऽपि न विशेषोऽल्पकोऽधिकः ॥ ८९ ।
सन्तु नार्यः सहस्राणि रूपलावण्यभूमयः ।
परं निधुवने काले ह्येकैवेहोपयुज्यते ॥ ९० ।

ब्रह्मादिमशकान्तानां देहानां साम्यमाह । ब्रह्मादिपदविरक्त्यै । देह इत्यारभ्य इदं निश्चित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ ८६ ।

अधिकेतरामधिकया सह इतरा न्यूना अधिकेतरा तामतिरिक्तां न्यूनां चेत्यर्थः ॥ ८८ ।

तत्र स्वानुभवं प्रमाणयति । यथेति ॥ ८९ ।

साधनभूयस्त्वाभूयस्त्वाभ्यां सुखस्याधिक्यन्यूनतां निराकरोति । सन्तु नार्य इति । निधुवने मैथुने; परन्तु मैथुन इति क्वचित्पाठः ॥ ९० ।

जैसे हम लोगों का शरीर कालानुसार विनष्ट होता है, वैसे ही ब्रह्मा से लेकर मशकपर्यन्त सभी प्राणियों का शरीर अपने कालक्रम से नष्ट हो जाता है ॥ ८६ ।

यदि विचारा जाय तो इस देह में कहीं पर कुछ भी विशेष नहीं पाया जाता; क्योंकि आहार, निद्रा, भय और मैथुन सर्वत्र एकसमान ही हैं ॥ ८७ ।

अपने-अपने परिमाण के अनुरूप आहार पाने पर सभी देहधारी एक-सी तृप्ति को प्राप्त होते हैं, न तो किसी को न्यून और न किसी को अधिक ही प्रीति होती है ॥ ८८ ।

प्यास लगने पर पानी पीकर जैसे हम लोग आनंद से तृषाहीन हो जाते हैं, वैसे ही दूसरे तृषित भी होते हैं, इसमें कुछ भी न्यूनाधिक्य (अंतर) नहीं है ॥ ८९ ।

रूपलावण्यवती चाहे सहस्रों स्त्रियाँ क्यों न हों, पर मैथुन के समय एक ही के साथ संभोग किया जा सकता है ॥ ९० ।

अश्वाः परःशता सन्तु सन्त्वनेकेऽप्यनेकपाः ।
अधिरोहे तथाप्येको न द्वितीयस्तथात्मनः ॥ ९१ ।
पर्यङ्कशायिनां स्वापे सुखं यदुपपद्यते ।
तदेव सौख्यं निद्रायामिह भूशायिनामपि ॥ ९२ ।
यथैव मरणाद् भीतिरस्मदादिवपुष्मताम् ।
ब्रह्मादिकीटकान्तानां तथा मरणतो भयम् ॥ ९३ ।
सर्वे तनुभृतस्तुल्या यदि बुद्ध्या विचार्यते ।
इदं निश्चित्य केनाऽपि नो हिंस्यः कोऽपि कुत्रचित् ॥ ९४ ।
धर्मो जीवदयातुल्यो न क्वापि जगतीतले ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कार्या जीवदया नृभिः ॥ ९५ ।
एकस्मिन् रक्षिते जीवे त्रैलोक्यं रक्षितं भवेत् ।
घातिते घातितं तद्वत्तस्माद्रक्षेन्न घातयेत् ॥ ९६ ।

साम्यमुपसंहरति । सर्व इति । साम्यज्ञानफलमाह । इदमिति ॥ ९४ ।

एवमात्मभेदं सुखतारतम्यं च प्रत्याख्याय पृष्टमनूदितं परमं धर्ममाह । धर्म इति ॥ ९५ ।

तद्वद्भवेदित्यर्थः । फलितमाह । तस्मादिति ॥ ९६ ।

यों ही सैकड़ों घोड़े और बुहत से हाथियों के रहते भी अपनी चढ़ाई (सवारी) एक ही पर की जा सकती है, दूसरे पर नहीं ॥ ९१ ।

पर्यंक पर सोने वाले को जो निद्रा का सुख मिलता है, संसार में पृथ्वी पर पड़ रहने वाले को भी वही सुख है ॥ ९२ ।

हम सब शरीरियों को जो मृत्यु से भय है, ब्रह्मा से लेकर कीट तक सब किसी को वैसे ही मरणभय बना रहता है ॥ ९३ ।

यदि बुद्धिपूर्वक विचार करें तो सभी प्राणी एक से हैं, अतएव इस विचार को दृढ़ करके कहीं पर किसी को किसी प्राणी की हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए ॥ ९४ ।

पृथिवीतल में जीवों के ऊपर दया करने के समान दूसरा कोई भी धर्म नहीं है । इसलिये मनुष्यों को सब प्रकार के प्रयत्न से जीवों पर दया करनी चाहिए ॥ ९५ ।

केवल एक ही जीव की रक्षा कर देने से त्रैलोक्य की रक्षा करने का फल प्राप्त होता है और एक के मार डालने से त्रैलोक्य के मार डालने का पाप होता है, अतएव यावच्छक्य (जीव) रक्षा ही करे, घात न करे ॥ ९६ ।

अहिंसा परमो धर्म इहोक्तः पूर्वसूरिभिः ।
तस्मान्न हिंसा कर्तव्या नरैर्नरकभीरुभिः ॥ ९७ ।
न हिंसासदृशं पापं त्रैलोक्ये सचराचरे ।
हिंसको नरकं गच्छेत् स्वर्गं गच्छेदहिंसकः ॥ ९८ ।
सन्ति दानान्यनेकानि किं तैस्तुच्छफलप्रदैः ।
अभीतिदानसदृशं परमेकमपीह न ॥ ९९ ।
इह चत्वारि दानानि प्रोक्तानि परमर्षिभिः ।
विचार्य नानाशास्त्राणि शर्मणेऽत्र परत्र च ॥ १०० ।
भीतेभ्यश्चाऽभयं देयं व्याधितेभ्यस्तथौषधम् ।
देया विद्यार्थिनां विद्या देयमन्नं क्षुधातुरे ॥ १०१ ।

जीवदयातुल्यो धर्मो नास्तीत्यत्र वेदान्तिनां संमतिमाह । **अहिंसेति** । न हिंस्यात्सर्वभूतानीति श्रुतेः । यद्वा पूर्वसूरिभिः प्राक्तनैर्बौद्धाचार्यैरित्यर्थः । अहिंसा परमो धर्म इत्युक्तेः ॥ ९७ ।

तर्हि किं भूताभयप्रदानादन्यो धर्मो नास्त्येव तत्राह । **इह चत्वारीति** ॥ १०० ।

तान्येव दर्शयति । **भीतेभ्य इति** ॥ १०१ ।

पुरातन पंडितों ने संसार में अहिंसा को ही परमधर्म कहा है । अतएव नरक में पड़ने के डर से मनुष्यों को कभी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥ ९७ ।

सचराचर त्रैलोक्य में हिंसा के समान कोई भी पाप नहीं है; क्योंकि हिंसक (नर) नरक में जाता है, पर अहिंसक स्वर्ग में चला जाता है ॥ ९८ ।

यद्यपि अनेक प्रकार के दान हैं, पर उन तुच्छ फल देनेवालों से कौन प्रयोजन है ? (पर) हाँ, इस जगत् में अभयदान के समान कोई एक भी दान नहीं है ॥ ९९ ।

नानाविध शास्त्रों को विचार कर बड़े-बड़े ऋषियों ने संसार में केवल चार ही दानों को इस लोक और परलोक के हित कहा है ॥ १०० ।

भयग्रस्तों को (१.) अभयदान करे, रोगियों को औषध देना (२.) (औषधिदान) चाहिये, (३.) विद्यार्थियों को विद्या पढ़ाये (विद्यादान) और (४.) भूखे को अन्न दे (अन्नदान) ॥ १०१ ।

[अभय डरे को बोलिये, रोगिहिं औषध देय ।
विद्यारथि विद्या पढ़ैं, भूखे अन्नहि सेय ॥ १ ।]

अविचिन्त्य प्रभावं हि मणिमन्त्रौषधीबलम् ।
तदभ्यस्यं प्रयत्नेन नानार्थोपार्जनाय वै ॥ १०२ ।
अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै ।
परितः परिपूज्यानि किमन्यैरिह पूजितैः ॥ १०३ ।
पञ्च कर्मेन्द्रियाण्येव पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि चं ।
मनोबुद्धिरिह प्रोक्तं द्वादशायतनं शुभम् ॥ १०४ ।
इहैव स्वर्गनरकौ प्राणिनां नान्यतः क्वचित् ।
सुखं स्वर्गः समाख्यातो दुःखं नरक एव हि ॥ १०५ ।
सुखेषु भुज्यमानेषु यत्स्याद्देहविसर्जनम् ।
अयमेव परो मोक्षो न मोक्षोऽन्यः क्वचित्पुनः ॥ १०६ ।

देहात्मवादमाह । **अविचिन्त्येति** द्वाभ्याम् । मणयश्च मन्त्राश्च ओषधयश्च तेषां यद् बलम् । कथम्भूतम् ? अविचिन्त्यप्रभावं चिन्तितुमशक्यः प्रभावो यस्य तत्तथा तम् । नानार्थोपार्जनाय अनेकविधधनसम्पादनार्थमभ्यस्यम् ॥ १०२ ।

तेनाभ्यासेन बहूनर्थानुपार्ज्य । परितः समन्ततः सर्वैः प्रकारैरित्यर्थः । द्वादशायतनानि कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय-मनोबुद्धिलक्षणानि परिपूज्यानि निरन्तरं सर्वदा पूज्यानि । अन्यैरिन्द्रादिभिः पूजितैः किं न किमपीत्यर्थः ॥ १०३ ।

द्वादशायतनानि स्वयमेव व्याचष्टे । **पञ्चेति** ॥ १०४ ।

नन्वन्यदेवाभजने नरकपातध्रौव्याद् भजने च स्वर्गप्राप्तेः, कथं नान्ये पूजनीया इत्याशंक्याह । **इहैव स्वर्गेति** ॥ १०५ ।

ननु स्वर्गनरकयोः पारलौकिकयोरभावेऽपि मोक्षस्य सद्भावात्तदर्थं श्रवणाद्यनुष्ठानं विधेयमेवेत्याशंक्याह । **सुखेष्विति** ॥ १०६ ।

(नास्तिक-मत)

मणि, मंत्र और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य है । अनेकविध अर्थोपार्जन करने के लिये उन सबका अभ्यास प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए ॥ १०२ ।

बहुत-सा अर्थ उपार्जन करके सर्वतः द्वादश आयतनों की ही पूजा करनी चाहिए, नहीं तो इस संसार में दूसरे पूजनों से कौन फल है ? ॥ १०३ ।

पाँचों कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि ये ही बारहों संसार में पवित्र द्वादशायतन कहे गये हैं ॥ १०४ ।

प्राणियों का स्वर्ग और नरक यहाँ पर ही है, कहीं अन्यत्र नहीं है, सुख को स्वर्ग कहते हैं और दुःख ही नरक है ॥ १०५ ।

यदि सुख का भोग करते रहते देह छूट जावे, तो यही परम मोक्ष हैं और कोई दूसरा मोक्ष कहीं नहीं है ॥ १०६ ।

वासनासहितक्लेशसमुच्छेदे सति ध्रुवम् ।
विज्ञानो परमो मोक्षो विज्ञेयस्तत्त्वचिन्तकैः ॥ १०७ ।
प्रामाणिकी श्रुतिरियं प्रोच्यते वेदवादिभिः ।
न हिंस्यात्सर्वभूतानि नान्या हिंसाप्रवर्तिका ॥ १०८ ।
अग्नीषोमीयमिति या भ्रामिका साऽसतामिह ।
न सा प्रमाणं ज्ञातॄणां पश्वालम्भनकारिका ॥ १०९ ।

प्रामाणिकसंमत्या उक्तं द्रढयति । **वासनासहितक्लेशेति** । वासयति संसारे प्रवर्तयतीति वासनासंवृतिरविद्येति यावत् । तत्सहिताः क्लेशा अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाः । तत्राऽनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । आत्मानात्मनोस्तप्तायःपिण्डवत् संश्लेष इवावभासोऽस्मिता । सुखतत्साधनलोभो रागः । दुःखतत्साधनजिहासा द्वेषः । सर्वस्य यात्माशीर्मानभुवं भूयासमिति सोऽभि-निवेश इति । तेषां समुच्छेदे सति विज्ञानोपरमः, विज्ञायत इति विज्ञानम्, संवृति तत्कार्यं तस्योपरमो मोक्षः । कैवल्यं तत्त्वचिन्तकैस्तत्त्वविद्भिर्विज्ञेय इष्ट इति ध्रुवं निश्चितमित्यर्थः । अयम्भावः—द्विविधो हि परः पुरुषार्थः—आनन्दावाप्तिः, सर्वानर्थोच्छित्तिश्च । तत्रोपभुज्यमानसुखसमये एव देहद्वयस्य नाशेनानायासेनैव तदुभयस्य सिद्धत्वाच्छ्रवणादिकं व्यर्थमिति ॥ १०७ ।

अहिंसा परमो धर्म इत्युक्तं तच्छ्रुतिसंवादेन द्रढयति । **प्रामाणिकीति** । ननु हिंसानिवर्तकश्रुतिवद्धिंसाप्रवर्तिकाऽपि काचिच्छ्रुतिर्भविष्यंति नेत्याह । **नान्येति** । श्रुतिरिति शेषः ॥ १०८ ।

नन्वग्नीषोमीयं पशुमालभेत वायव्यं श्वेतमालभेतेत्यादि दृश्यत इति चेत्तत्राह । **अग्नीषोमीयमिति** । भ्रामिका भ्रमजनिका । असतामिति च्छेदः । अग्नीषोमीयमिति वायव्यं श्वेतमालभेतेत्यादेरुपलक्षणम् । पश्वालम्भनं देवतोद्देशेन पशुहननम् ॥ १०९ ।

समस्त वासनाओं के सहित क्लेशों के उच्छेद हो जाने पर जो विज्ञान का उपराम हो जाता है, तत्त्वचिंतक लोग ध्रुव करके उसी को मोक्ष समझते हैं (बौद्धदृष्टि) ॥ १०७ ।

वेदवादी लोग तो इसी को प्रामाणिक श्रुति कहते हैं कि, "किसी प्राणी को न मारे", फिर हिंसा का प्रवर्तन करनेवाली कोई दूसरी श्रुति भी नहीं है ॥ १०८ ।

और "अग्निषोमीय पशु को मारे" यह श्रुति तो केवल दुर्जनों की भ्रमोत्पादिनी है । पर ज्ञाताओं के लिये यह पशुसंहारिणी श्रुति कभी प्रमाण नहीं मानी जा सकती ? ॥ १०९ ।

वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
दग्ध्वा वह्नौ तिलाज्यादि चित्रं स्वर्गोऽभिलष्यते ॥ ११० ।

इत्येवं धर्मजिज्ञासां पुण्यकीर्तौ प्रकुर्वति ।
पारम्पर्येण तच्छ्रुत्वा पौरा यात्रां प्रचक्रिरे ॥ १११ ।

परिव्राजिकयाप्येवं समाकृष्टाः पुराङ्गनाः ।
तया विज्ञानकौमुद्या सर्वविद्याविदग्धया ॥ ११२ ।

ततस्तासां पुरस्तात्सा बौद्धधर्मानवीवदत् ।
दृष्टार्थप्रत्ययकरान्देहसौख्यैकसाधनान् ॥ ११३ ।

श्रुतेरप्रामाण्यं युक्त्या साधयति । वृक्षानिति । वृक्षानश्वत्थादीन् समिदाहरणार्थं छित्त्वा । चित्रम् आश्चर्यम् । अत्रैवं प्रयोगः । क्रत्वन्तर्वर्तिवृक्षादिच्छेदनादि न स्वर्गसाधनं वृक्षादिच्छेदनादित्वात् क्रतुबाह्यवृक्षादिच्छेदनादिवदिति । न च निषिद्धत्वमुपाधिस्तस्यानिरूप्यत्वादिति भावः ॥ ११० ।

समाकृष्टाः आकर्षण्या विद्यया स्वसमीपं प्रापिता इत्यर्थः । विज्ञानकौमुदीति । बौद्धाभिमतमालयादिरूपमाकर्षणवशीकरणादिरूपं च ज्ञानं विज्ञानं तस्य कौमुदीव कौमुदी प्रकाशिका तया विज्ञानकौमुद्या ॥ ११२ ।

पेड़ काटि पशु मारकै, लोहू कीच बनाय ।
तिल घिव डारे अग्नि में, भला स्वर्ग को जाय ॥ ११० ।

इस भाँति से पुण्यकीर्ति को धर्मव्याख्यानों के समझा देने पर, पुरवासी लोग एक-दूसरे से सुनकर वहाँ की यात्रा करने लगे ॥ १११ ।

इधर सर्वविद्याओं में सुचतुरा परिव्राजिका विज्ञानकौमुदी भी पुरस्त्रियों को इसी प्रकार से परचाने लगी (भौतिक-दैहिक सुखभोग की श्रेष्ठता सिद्ध करने लगी) ॥ ११२ ।

और उन सबों के सन्मुख प्रत्यक्ष फल के विश्वासदायक और शरीर के एकमात्र सुखसाधक बौद्धधर्मों का बारम्बार वर्णन करने लगी ॥ ११३ ।

विज्ञानकौमुद्युवाच—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं श्रुत्यैवं यन्निगद्यते ।
तत्तथैवेह मन्तव्यं मिथ्यानानात्वकल्पना ॥ ११४ ।
यावत्स्वस्थमिदं वर्ष्म यावन्नेन्द्रियविक्लवः ।
यावज्जरा च दूरेऽस्ति तावत्सौख्यं प्रसाधयेत् ॥ ११५ ।
अस्वास्थ्येन्द्रियवैकल्ये वार्धके तु कुतः सुखम् ।
शरीरमपि दातव्यमर्थिभ्योऽतः सुखेप्सुभिः ॥ ११६ ।
याचमानमनोवृत्तिप्रीणने यस्य नो जनिः ।
तेन भूर्भारवत्येषा समुद्रागद्रुमैर्न हि ॥ ११७ ।

सर्वप्रकारेण सुखं साधनीयमिति वक्ष्यन्ती प्रथमं श्रुत्यवष्टम्भेन सुखं साधयति । **आनन्दमिति** । षण्ढत्वमार्षम् । **"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्", "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्", "स एष परमानन्दः"** इत्यादिश्रुत्या यत्सुखं निगद्यते, तत्तथैव मन्तव्यं ज्ञातव्यमिति । ननु सुखस्य जन्मनाशदर्शनात्तारतम्यश्रवणात् कथं सुखरूपत्वं ब्रह्मणस्तत्राह । **मिथ्या नानात्वेति** । औपाधिकमेव जन्मनाशतारतम्यादिकमित्यर्थः ॥ ११४ ।

तच्च सौख्यमस्मिन्नेव शरीरे सम्पादनीयमिति बौद्धमतमवलम्ब्याह । **यावत्स्वस्थमिति** । अस्वास्थ्यं चेन्द्रियवैकल्यं च तस्मिन् । अथास्येन्द्रियवैकल्य इति क्वचित्पाठः । यतो वार्द्धके सुखं नास्त्यतः सुखार्थिभिः शरीरमपि दातव्यं जरातः पूर्वमित्यर्थः ॥ ११६ ।

अगाः पर्वताः ॥ ११७ ।

विज्ञानकौमुदी ने कहा—

'वेद ने जो आनंद को ही ब्रह्म का स्वरूप कहा है, वही ठीक और मानने के योग्य है और यह अनेक जन्म इत्यादि की कल्पना तो सर्वथा मिथ्या ही है ॥ ११४ ।

जब तक यह शरीर स्वस्थ रहे और इन्द्रियाँ शिथिल नहीं पड़ जावें एवं बुढ़ौती पास में न पहुंच सके, तभी तक सुखों का साधन कर लेना चाहिए ।

जब लगि सुस्थ शरीर है, इन्द्रिय शिथिल न होय ।
रहै जरा दूरे जबै, तबै सौख करु सोय ॥ ११५ ।

शरीर के अस्वस्थ, शिथिलेन्द्रिय और जराग्रस्त हो जाने पर फिर सुख कहाँ से मिल सकता है । अतएव जिसे सुख भोगने की इच्छा हो, उसे उचित है कि यदि कोई माँग बैठे तो अपना शरीर भी दे डाले ॥ ११६ ।

जिन्होंने जन्म लेकर याचकों का मनोऽभिलाष पूर्ण नहीं किया, उन्हीं से इस भूमि पर भार होता है । समुद्र, पर्वत अथवा वृक्षों का कुछ भी बोझ नहीं होता ।

सत्वरोगत्वरो देहः संचयाः सपरिरक्षयाः ।
इति विज्ञाय विज्ञाता देहे सौख्यं प्रसाधयेत् ॥ ११८ ।
श्ववायसकृमीणां च प्रान्ते भोज्यमिदं वपुः ।
भस्मान्तं तच्छरीरं च वेदे सत्यं प्रपद्यते ॥ ११९ ।
मुधा जाति विकल्पोऽयं लोकेषु परिकल्प्यते ।
मानुष्ये सति सामान्ये कोऽधमः कोऽथ चोत्तमः ॥ १२० ।
ब्रह्मादिसृष्टिरेषेति प्रोच्यते वृद्धपूरुषैः ।
तस्य स्रष्टुः सुतौ दक्षमरीची चेति विश्रुतौ ॥ १२१ ।
मारीचिना कश्यपेन दक्षकन्याः सुलोचनाः ।
धर्मेण किल मार्गेण परिणीतास्त्रयोदश ॥ १२२ ।

भस्मान्तमिति । तथा च श्रुतिः– "वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्" इत्याद्या ॥ ११९ ।

ननु शरीरदानेऽपि सजातीयेभ्य एव दातव्यं नाऽधमेभ्यस्तत्राह । मुधेति । मृषात्वमेव दर्शयति । मानुष्य इति ॥ १२० ।

कारणैक्यादपि गम्यागम्यकल्पना वृथेत्याह । ब्रह्मादिसृष्टिरित्यादिना ॥ १२१ ।

नैषधकाव्य में यही श्लोक अन्य छन्द में यों लिखा गया है–

"याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य ।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः" ॥ ११७ ।

शरीर का कोई ठिकाना नहीं है कि कब चला जावे और संचयों का भी परिक्षय होना निश्चित ही है । यह समझकर विज्ञजन शारीरिक सुखसम्पादन कर लें ॥ ११८ ।

यह देह अन्त में, काक, कुत्ता और कृमियों का भोजन ही होता है, अथवा इस शरीर का परिणाम भस्म ही होता है । यह बात वेद में सत्यरूप से प्रतिपादित है ॥ ११९ ।

लोगों में जातिभेद की कल्पना तो झूठ ही चल पड़ी हैं, क्योंकि मनुष्यत्व के समान होने पर कौन उत्तम और अधम है ? ॥

("जातिभेद की कल्पना, झूठहि लोगबीच ।
सब मनुष्य जब एक से, को उत्तम को नीच ? ॥) १२० ।

ब्रह्मा से ही यह सृष्टि होने लगी है, यह तो बूढ़े लोगों की बात है; (देखो) उसी सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के दक्ष और मरीचि नामक दोनों प्रसिद्ध पुत्र हुए हैं ॥ १२१ ।

फिर उसी मरीचि के बेटा कश्यप ने दक्ष की सुन्दरनेत्रा तेरह बेटियों से धर्ममार्गानुसार ही विवाह कर लिया था ॥ १२२ ।

अपीदानीन्तनैर्मर्त्यैरल्पबुद्धिपराक्रमैः ।
अयं गम्यस्त्वगम्योऽयं विचारः क्रियते मुधा ॥ १२३ ।
मुखबाहूरुपज्जातं चातुर्वर्ण्यमिहोदितम् ।
कल्पनेयं कृता पूर्वैर्न घटेत विचारतः ॥ १२४ ।
एकस्यां च तनौ जाता एकस्माद्यदि वा क्वचित् ।
चत्वारस्तनयास्तत्किं भिन्नवर्णत्वमाप्नुयुः ॥ १२५ ।
वर्णावर्णविवेकोऽयं तस्मान्न प्रतिभासते ।
अतो भेदो न मन्तव्यो मानुष्ये केनचित् क्वचित् ॥ १२६ ।
विज्ञानकौमुदीवाणीमित्याकर्ण्य पुराङ्गनाः ।
भर्तृशुश्रूषणवतीं विजहुर्मतिमुत्तमाम् ॥ १२७ ।
अभ्यस्याकर्षणीं विद्यां वशीकृतिमतीमपि ।
पुरुषाः सफलीचक्रुः परदारेषु मोहिताः ॥ १२८ ।

वर्णावर्णभेदोऽपि न घटत इत्याह । मुखेति सार्धद्वयेन ॥ १२४ ।

उपसंहरति । अत इति ॥ १२६ ।

शरीराभेदकथनफलमाह । विज्ञानेति ॥ १२७ ।

सफलीचक्रुर्विद्यामित्यनुषज्जते । सफलमिति पाठे इन्द्रियचक्रमिति शेषः ॥ १२८ ।

पर आजकल के थोड़ी बुद्धि और बलवीर्यवाले लोग, "यह गम्य, यह अगम्य है" यह विचार व्यर्थ ही करते हैं ॥ १२३ ।

इस लोक में मुख, बाहु, ऊरु और पद से चारों वर्णों की जो उत्पत्ति कही जाती हैं, ? यह तो बुढ्ढों की एक कल्पना (गप्प) मात्र है, विचारने पर तो यह असंगत ही जान पड़ती है ॥ १२४ ।

यदि कहीं पर एक ही पुरुष से एक ही स्त्री के शरीर में चार बेटे होवें तो क्या वे सब भिन्न-भिन्न वर्ण के हो जावेंगे ? ॥ १२५ ।

इसी से यह वर्णाऽवर्ण का विचार संगत नहीं घटता । तब मनुष्य होकर यह भेद कभी किसी को नहीं मानना चाहिये ॥ १२६ ।

नागरी स्त्रियाँ विज्ञानकौमुदी की इन सब बातों को सुनकर भर्तृसेवन की उत्तम बुद्धि को त्यागने लगीं ॥ १२७ ।

उधर पुरुषलोग भी आकषर्ण और वशीकरण की विद्या को सीख, परस्त्रियों पर मोहित होकर उसकी सफलता साधने लगे ॥ १२८ ।

अन्तःपुरचरा नार्यस्तथा राजकुमारकाः ।
पौराः पुराङ्गनाश्चापि सर्वे ताभ्यां विमोहिताः ॥ १२९ ।
वन्ध्यानां चापि वन्ध्यात्वं सा परिव्राजिकाहरत् ।
तैस्तैश्च कार्मणोपायैरसौभाग्यवतीः स्त्रियः ॥ १३० ।
सौभाग्यभाग्यसम्पन्ना व्यधाद्विज्ञानकौमुदी ।
कस्यैचिदञ्जनं दत्तं कस्यैचित्तिलकौषधम् ॥ १३१ ।
वशीकरणमन्त्रैश्च तथा बह्व्योऽपदीक्षिताः ।
मन्त्रान् जपेयुः काश्चिच्च यन्त्राण्यन्या लिखन्ति च ॥ १३२ ।
काश्चिज्जुह्वति कुण्डाग्नौ नानाद्रव्याणि निश्चलाः ।
एवं सर्वेषु पौरेषु निजधर्मेषु सर्वथा ।
पराङ्मुखेषु जातेषु प्रोल्ललास वृषेतरः ॥ १३३ ।

व्यधादकरोत् । तिलके औषधं तिलकौषधम् । तिलकरूपमौषधं तिलकौषधमिति वा ॥ १३१ ।

दीक्षिता बौद्धधर्मे प्रवेशं कारिता इत्यर्थः । यन्त्राणि ताम्रादिपीठेषु निर्मितानीत्यर्थः ॥ १३२ ।

प्रोल्ललास प्रकर्षेण ववृधे । वृषो धर्मस्तदितरोऽधर्मो वृषेतरः ॥ १३३ ।

राजा के अन्तःपुर की स्त्रियाँ और राजकुमार, पुरवासीलोग और उनकी भी नारियाँ इन सब लोगों को उन दोनों ने मोहित कर लिया ॥ १२९ ।

वह परिव्राजिका विज्ञानकौमुदी उन सब कर्मविशेष के उपायों से वंध्याओं का वंध्यत्व दूर करने लगी एवं दुर्भगाओं को भी सौभाग्य के भाग्य से संपन्न बनाने लगी । उसने किसी स्त्री को अंजन, किसी को तिलक लगाने के लिये जड़ी-बूटी दी[1] ॥ १३०-१३१ ।

बहुतों को वशीकरण के मंत्र सिखला दिये, कोई-कोई स्त्री उन मंत्रों को जपने लगी, कोई-कोई यंत्रों (जन्तर) को लिखने लगी ॥ १३२ ।

कोई-कोई स्थिर होकर कुंड के आग में अनेक द्रव्यों से होम करने लगीं । इस प्रकार जब समस्त पुरवासी लोग सर्वथा अपने धर्म से पराङ्मुख होने लगे तब अधर्म उल्लसित होकर बढ़ने लगा ॥ १३३ ।

---

1. अंजन, गुटिका, पादुका आदि तांत्रिक सिद्धियाँ हैं ।

सिद्धयः कृष्टपच्याद्या नष्टा एनः प्रवेशनात् ।
आसीत्कुण्ठितसामर्थ्यो नृपोऽपि स मनाङ्मनाक् ॥ १३४ ।
दूरस्थितोऽपि विघ्नेशो नृपं निर्विण्णमानसम् ।
चकार राज्यकरणे ढुण्ढिराजो रिपुञ्जयम् ॥ १३५ ।
अजीगणद्दिवोदासोऽप्यष्टादशदिनावधिम् ।
कदा गन्ता स वै विप्रो यो मां समुपदेक्ष्यति ॥ १३६ ।
इत्थमष्टादशे प्राप्ते दिवसे दिवसेश्वरे ।
प्राप्ते मध्यं नभोभागं द्वारं प्राप्तो द्विजोत्तमः ॥ १३७ ।
स एव पुण्यकीर्त्याख्यो धर्मक्षेत्रादधोक्षजः ।
द्विजवेषं समालम्ब्य समायातो नृपान्तिकम् ॥ १३८ ।
द्वित्रैः पवित्रैर्बहुधा जय जीवेतिवादिभिः ।
समेतः स इतो विप्रो मूर्तिमानिव पावकः ॥ १३९ ।

अकृष्टपच्यत्वं कर्षणं विनैव सस्यादिसम्पन्नत्वम् । आद्यशब्देन पुटकादौ मध्वादिसम्पत्तिर्गृह्यते । सिद्धयोऽष्टाणिमाद्या इति क्वचित्पाठः । तत्र दीर्घश्छान्दसः । मनाङ्मनाक् शनैः शनैः ॥ १३४ ।

निर्विण्णमानसं विरक्तचित्तम् ॥ १३५ ।

अजीगणद् गणयामास ॥ १३६।

समायातः आगतः ॥ १३८ ।

इतः आगतः ॥ १३९ ।

बिना जोते-बोए ही जो अन्नादिक उत्पन्न होते थे, वे सब पाप के घुसते ही नष्ट हो गये । उस राजा दिवोदास का सामर्थ्य भी धीरे-धीरे कुंठित हो चला ॥ १३४ ।

विश्वेश्वर ढुंढिराज ने दूर ही पर बैठकर उस रिपुंजय राजा (दिवोदास) को राज्य (पालन) करने से खिन्नचित्त (मन छोट) कर दिया ॥ १३५ ।

राजा दिवोदास नियमित अठारहवें दिन की गिनती करने लगा कि वह ब्राह्मण कब आवेगा ? और कब मुझ को उपदेश करेगा ॥ १३६ ।

यों ही (ज्यों त्यों करके सत्रह दिन बीत गये) अठारहवें दिन ठीक मध्याह्न के समय राजा के द्वार पर एक उत्तम ब्राह्मण आ पहुँचा ॥ १३७ ।

(यह कोई दूसरा ब्राह्मण नहीं है) विष्णु ही धर्मक्षेत्र (सारनाथ की धमेख) से पुण्यकीर्तिनामक (बौद्धाचार्यरूपी) ब्राह्मण का वेष धर कर राजा के पास आ पहुँचे थे ॥ १३८ ।

बहुधा 'जय' 'जीव' इत्यादि वचन बोलने वाले दो तीन पवित्र जनों के सहित वह ब्राह्मण मूर्तिमान् पावक के समान वहाँ पर प्राप्त हुआ ॥ १३९ ।

विलोक्य तं समायान्तं दूरादुत्कण्ठितो नृपः ।
मेने भवेद् गुरुरयं युक्तो मदुपदेशने ॥ १४० ।
अभिगम्य च तं राजा प्रणम्य च पुनः पुनः ।
गृहीतस्वस्तिवचनो निनायान्तःपुरं द्विजम् ॥ १४१ ।
मधुपर्केण विधिना तं सम्पूज्य जनाधिपः ।
व्यपेताध्वश्रमं स्वस्थं प्रोल्लसन् मुखपङ्कजम् ॥ १४२ ।
निवेद्य खाद्यवस्तूनि कृतकृत्यक्रियाविधिम् ।
परितृप्तं सुखासीनं पप्रच्छ ब्राह्मणं नृपः ॥ १४३ ।

राजोवाच—

खिन्नोऽस्मि विप्रवर्याऽहं राज्यभारं समुद्वहन् ।
खेदो नास्त्येव हि परं वैराग्यमिव जायते ॥ १४४ ।

उत्कण्ठितस्तद्दर्शनोत्सुकः ॥ १४० ।

स्वस्तिवचनान्याशीर्वादाः ॥ १४१ ।

मधुपर्केण विधिना दधिमधुघृतानां समाहारो मधुपर्कः, स एव विधिः प्रकारस्तेन विधिना शास्त्रोक्तप्रकारेण मधुपर्केण चेति वैयधिकरण्यं वा ॥ १४२ ।

खाद्यवस्तूनि भक्ष्यद्रव्याणि । कृतः कृत्यक्रियाविधिः कर्तव्यानुष्ठानप्रकारो यस्मै स तथा तम् ॥ १४३ ।

खिन्नः पीडितः ॥ १४४ ।

अत्यन्त उत्कंठित होकर राजा आते हुए उस ब्राह्मण को दूर से ही देखकर मन ही मन सोचने लगा कि, यह ब्राह्मण मुझे उपदेश देने में गुरु होने के योग्य है ॥ १४० ।

फिर तो राजा स्वयं जाकर उसे बारम्बार प्रणाम करके 'स्वस्ति" ऐसा आशीर्वाद पाकर उस ब्राह्मण को अपने अन्तःपुर में लिवा ले गया ॥ १४१ ।

जनाधिपति दिवोदास मधुपर्कविधि से उसकी पूजा कर मार्गश्रम के दूर होने से स्वस्थ और प्रसन्न मुखकमल उस ब्राह्मण को समस्त क्रियाकलाप के कर चुकने पर खाने के पदार्थों को निवदेन कर और भोजन से संतुष्ट हो उसके सुखपूर्वक बैठ जाने के उपरान्त यह पूछने लगा ॥ १४२-१४३ ।

राजा बोला—

हे विप्रवर्य ! मैं राज्य का बोझ ढ़ोते-ढ़ोते अब बहुत थक गया हूँ, सो भी थकावट नहीं है, परं च जैसे वैराग्य उत्पन्न हो गया हो ॥ १४४ ।

किं करोमि क्व गच्छामि कथं मे निर्वृतिर्भवेत् ।
पक्षद्वय्येव यातेति मम चिन्तयतो द्विज ॥ १४५ ।
असीमसुखसंतानं भुक्तं राज्यं मया द्विज ।
परिक्षीणविपक्षं च त्र्यक्षैश्वर्यामव स्फुटम् ॥ १४६ ।
स्वसामर्थ्यादहं जातः पर्जन्याग्न्यनिलात्मकः ।
प्रजाश्च पालिताः सम्यक् पुत्रा इव निजौरसाः ॥ १४७ ।
तर्पिताश्चापि भूदेवा वसुभिश्च दिने दिने ।
एकमेवापराद्धं च मया राज्यं प्रशासता ॥ १४८ ।
देवास्तृणीकृताः सर्वे स्वतपोबलदर्पतः ।
तच्च प्रजोपकारार्थं न स्वार्थं भवता शपे ॥ १४९ ।
अधुना गुरुरेधि त्वं मम भाग्योदयागतः ।
राज्यं तु प्रकरोम्येवं न्यक्कृतान्तकसाध्वसम् ॥ १५० ।

पक्षद्वय्येव यातेति । पक्षद्वय्येव मासमात्रमेवेत्यर्थः । पक्षद्वयेव यातेति पाठे पक्षद्वये आत्मानात्मवस्तुनोर्मध्येऽवयाता प्राप्तमतिरिति शेषः ॥ १४५ ।

एधि भव । न्यक्कृतान्तकसाध्वसं तिरस्कृतयमभयम् ॥ १५० ।

हे द्विज ! मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, मेरी निर्वृति कैसे होगी, इसी चिंता में पड़े-पड़े मेरे प्रायः दो पक्ष बीत गये ॥ १४५ ।

हे द्विजवर ! महादेव के ऐश्वर्य ऐसा स्फुटरीति से मैंने असीम सुखवर्द्धक निष्कंटक राज्य का भोग किया ॥ १४६ ।

फिर मैंने अपने ही सामर्थ्य से मेघ, अग्नि और वायु बनकर औरस पुत्र की भाँति अच्छी रीति से प्रजाओं का पालन किया ॥ १४७ ।

और दिन-प्रतिदिन धन के द्वारा भूमि के देवता ब्राह्मणों को भी सन्तुष्ट किया, फिर भी राज्यशासन के समय मैंने एक ही अपराध किया है ॥ १४८ ।

(वह यही कि) मैं अपने तपोबल के अहंकार से देवताओं को तृण के समान समझता रहा, पर मैं आपका ही शपथ करता हूँ कि, यह काम मैंने प्रजाओं के हितार्थ ही किया था, कुछ अपने लिये नहीं किया ॥ १४९ ।

संप्रति मेरे भाग्य के उदय होने से ही आप आ गये हैं तो गुरु हो जाइये । मैं तो ऐसा राज्य करता हूँ कि उसमें यमराज का तनिक भी भय नहीं रहता ॥ १५० ।

अकालकालकलनं मम राज्ये न कुत्रचित् ।
जराव्याधिदरिद्रेभ्यो मम राज्येऽपि नो भयम् ॥ १५१ ।
कोऽपि धर्मेतरां वृत्तिं न श्रयेन्मयि शासति ।
धर्मोदया जनाः सर्वे सर्वे सन्ति सुखोदयाः ॥ १५२ ।
सद्विद्याव्यसनाः सर्वे सर्वे सन्मार्गचञ्चुराः ।
अथवा यदि कल्पान्तं तिष्ठेदायुस्ततोऽपि किम् ॥ १५३ ।
सर्वे भोग्यास्तथा भान्ति यथा चर्वितचर्वणम् ।
किं पिष्टपेषणेनात्र राज्येन द्विजपुङ्गव ॥ १५४ ।
किमप्युपदिश प्राज्ञ गर्भवासोपशान्तये ।
अथवा त्वां प्रपन्नस्य मम किं चिन्तनैरिमैः ॥ १५५ ।
यदेव कथयस्यद्य तत्करिष्याम्यसंशयम् ।
त्वद्विलोकनमात्रेण सर्व एव मनोरथाः ॥ १५६ ।
अन्येषामपि जायन्ते जातप्राया ममैव तु ।
जाने देवविरोधेन के के न प्रलयं गताः ॥ १५७ ।

एवं स्वसामर्थ्यादिकं दर्शयित्वा वैराग्यं प्रकटयति । अथवेति ॥ १५३ ।

और मेरे राज्य में अकालमृत्यु कहीं भी नहीं होती । जरा, रोग और दरिद्रता ये सब मेरे राज्य में किसी को नहीं व्याप सकते ॥ १५१ ।

मेरे शासनकाल में कोई भी अधर्मवृत्ति का अवलम्बन नहीं कर सका; पर हाँ, धर्मोन्नत और सुखोन्नत तो सभी लोग हैं ॥ १५२ ।

सभी कोई उत्तम विद्याओं के व्यसनी और सन्मार्गचारी हैं; पर यदि मेरी आयुष्य कल्पान्तर भर बनी ही रहे तो इससे क्या फल है ? ॥ १५३ ।

हे द्विजपुंगव ! जितने ही भोग्य हैं, वे सब मुझे तो चर्वित-चर्वण ही के समान जान पड़ते हैं, तो फिर अब इस पिसान पीसने से (पिष्ट-पेषण से, भुक्त सुखभोग से) क्या लाभ है ! ॥ १५४ ।

हे प्राज्ञ ! जिसमें गर्भवास का दुःख न भोगना पड़े, ऐसा कोई उपदेश कर दीजिये अथवा जब मैं आप ही के शरण में प्राप्त हुआ तो फिर इन चिन्तनों से मुझे कौन-सा प्रयोजन रह गया ॥ १५५ ।

आप जो कुछ कहेंगे, मैं निःसन्देह आज ही उसे कर डालूँगा; क्योंकि आपके दर्शनमात्र से ही समस्त मनोरथ दूसरे लोगों के भी पूर्ण हो जाते हैं और मेरे तो हुए ही ऐसे हैं । मैं यह अच्छी रीति से जानता हूँ कि देवताओं का विरोध करने से कौन-कौन लोग नष्ट नहीं हुए ॥ १५६-१५७ ।

अवन्तोऽपि प्रजाः स्वीया निजधर्ममनुव्रताः ।
पुरा ते त्रिपुराः शूराः शिवभक्तिपरा अपि ॥ १५८ ।
धरामयं रथं कृत्वा धनुः कृत्वा हिमाचलम् ।
वेदांश्च वाजिनः कृत्वा गुणं कृत्वा च वासुकिम् ॥ १५९ ।
विरिञ्चिं सारथिं कृत्वा कृत्वा विष्णुं च पत्त्रिणम् ।
रथचक्रे पुष्पवन्तौ प्रतोदं प्रणवात्मकम् ॥ १६० ।
ताराग्रहमयान् कीलान् वरूथं गगनात्मकम् ।
ध्वजदण्डं सुमेरुं च प्रांशु कल्पतरुं ध्वजम् ॥ १६१ ।
योक्त्राणि चक्षुःश्रवसश्छन्दांस्यङ्गानि रक्षकान् ।
भल्लं कालाग्निरुद्राख्यं पुंखीकृत्य प्रभञ्जनम् ॥ १६२ ।

एवं स्वसामर्थ्यादिकं दर्शयित्वा वैराग्यं प्रकट्यति । अथवेति ॥ १५६ ।

पुरा ते इति । त्रिपुरास्त्रिपुरस्था दैत्या एकबाणपातेन हरेण भस्मसात्कृता दग्धा इति पञ्चमेनान्वयः ॥ १५८।

पुष्पवन्तौ सूर्यचन्द्रौ । द्वितीयान्तानां पदानां कृत्वेति सम्बन्धः ॥ १६० ।

कीलान् शंकून् । वरूथं रथगुप्तम् ॥ १६१ ।

चक्षुःश्रवसः सर्पान् । कालाग्निः रुद्रो नाम प्रलयकारकः संकर्षणमुखानलः ॥ १६२ ।

पूर्वकाल में अपनी प्रजाओं के पालन में तत्पर और निज धर्मों में अनुरक्त, तथा बड़े शूर वे सब त्रिपुरासुर शिव की भक्ति में परायण रहने पर भी शिव ने पृथिवी को रथ, चारों वेदों को ही घोड़े की चौकड़ी, चन्द्र और सूर्य को रथ की दोनों पहिया, प्रणव को कशा (चाबुक), तारा-ग्रहों को रथ के कील, आकाश ही को टोप (टप्प), सुमेरु को ध्वजदंड, बड़े ऊँचे कल्पवृक्ष को ध्वज, (बड़े-बड़े) सर्पों को बाँधने की डोरी, वेदांग छन्दों को अंगरक्षक, ब्रह्मा को सारथि, हिमालय को धनुष, वासुकि नाग को धनुष की प्रत्यंचा (रस्सी), कालाग्नि रुद्र को भाला, विष्णु को बाण और वायु को बाण का पंख बनाकर लीला से एक ही बाण चलाकर उसे भस्म कर डाला था ॥ १५८-१६२ ।

हरेणैकेषु पातेन लीलया भस्मसात्कृताः ।
बलिर्यज्ञकृतां श्रेष्ठः कृत्वा कपटखर्वताम् ॥ १६३ ।
पातालं गमितः पूर्वं हरिणा विक्रमैस्त्रिभिः ।
वृत्तवानपि वै वृत्रः सुत्राम्णा विनिसूदितः ॥ १६४ ।
दधीचिरपि विप्रेन्द्रो देवैरस्थिकृते हतः ।
पूर्ववैरमनुस्मृत्य जयार्थं युध्यतो हरेः ।
कुशास्त्रैर्विजितस्याजौ तेनैव च दधीचिना ॥ १६५ ।
शिवभक्तस्य बाणस्य दोः सहस्रं पुरा हरिः ।
चिच्छेद संख्ये किं तेनापराद्धं साधुवर्तिना ॥ १६६ ।
तस्माद्विरोधो भद्राय न भवेद्दैवतैः सह ।
देवेभ्यो मद्भयं नास्ति सत्पथीनस्य वै मनाक् ॥ १६७ ।

सुत्राम्णा इन्द्रेण ॥ १६४ ।

दधीचिरिति । दधीचिर्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्ववेदविप्रेन्द्रोऽपि श्रेष्ठब्राह्मणोऽप्यस्थिकृतेऽस्थिनिमित्तमात्रं कृत्वा हरेः पूर्ववैरमनुस्मृत्य हतः । पूर्ववैरं दर्शयन् विष्णुं विशिनष्टि । जयार्थं युध्यतस्तेनैव दधीचिनाजौ संग्रामे विजितस्येति । एतदाख्यानं द्वात्रिंशदध्याये लिखितम् ॥ १६५ ।

शिवभक्तस्येति । यद्यपि श्रीकृष्णेन बाणभुजनिकृन्तनं तत्कालापेक्षया पश्चाद्भावि, तथाप्यतीतश्रीकृष्णावतारापेक्षयैवमुक्तमिति ज्ञेयम् । तथा चोक्तं वासिष्ठे भुशुण्डेन--

वसुदेवगृहे विष्णोर्भुवो भारनिवृत्तये ।
अधुना षोडशं जन्म भविष्यति मुनीश्वर ॥ इति ॥ १६६ ।

यह पुरानी ही बात है कि, विष्णु ने कपटपूर्वक वामन बनकर त्रिविक्रम के द्वारा यज्ञकर्ताओं में श्रेष्ठ राजा बलि को पाताल में भेज दिया । सच्चरित्र होने पर भी वृत्रासुर को इन्द्र ने मार कर ही छोड़ा ॥ १६३-१६४ ।

जय की इच्छा से युद्ध करते हुए विष्णु जब दधीचि के कुशास्त्र से हार गये, तो उसी पुराने वैर को स्मरण कर देवताओं ने विप्रेन्द्र दधीचि मुनि को अस्थि लेने के लिये मार ही डाला था ॥ १६५ ।

देखिये, यह भी तो पूर्व ही की बात है, जो विष्णु ने शिव के परमभक्त बाणासुर के सहस्र भुजाओं को युद्ध में काट डाला था । भला उस साधुवर्ती बिचारे बाण ने क्या अपराध किया था ? ॥ १६६ ।

अतएव देवताओं के साथ विरोध करना अच्छा नहीं होता; परन्तु मुझे देवताओं का कुछ भी डर नहीं है; क्योंकि मैं तो कुछ कुमार्ग पर चलता ही नहीं हूँ; फिर वे मेरा क्या कर सकते हैं ? ॥ १६७ ।

यज्ञैर्देवत्वमापन्ना गीर्वाणा वासवादयः ।
यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च तेभ्योऽप्याधिक्यमस्ति मे ॥ १६८ ।
अस्तु न्यूनत्वमाधिक्यं किमनेनाऽधुना मम ।
इन्द्रियोपरमः प्राप्तः सुखदस्तव दर्शनात् ॥ १६९ ।
इदानीं दिश मे तात कर्मनिर्मूलनक्षमम् ।
उपायं त्वमुपायज्ञ येन निर्वृतिमाप्नुयाम् ॥ १७० ।

स्कन्द उवाच–

गणेशावेशवशतो राज्ञेति यदुदीरितम् ।
तदाकर्ण्य हृषीकेशः प्राह ब्राह्मणवेषभृत् ॥ १७१ ।

श्रीविष्णुरुवाच–

साधु साधु महाप्राज्ञ नृपचूडामणेऽनघ ।
मया यदुपदेष्टव्यं तत्त्वयैव निरूपितम् ॥ १७२ ।

आवेशः प्रवेशः ॥ १७१।

इन्द्रादिक देवतागण यज्ञों के ही बल से देवत्व को प्राप्त हुए है; पर मुझमें तो यज्ञ, दान, तप इत्यादि के द्वारा उनसे अधिकता ही है ॥ १६८ ।

फिर चाहे न्यूनता हो, अथवा आधिक्य हो, अब मुझे इससे कौन काम है ? आपके दर्शन ही से मैं इस घड़ी सुखदायक इन्द्रियों की शान्ति को पा रहा हूँ॥ १६९

हे तात ! आप उपायों के ज्ञाता हैं, अतः इस वेला मैं जिससे निर्वृति को प्राप्त हो सकूँ, कर्म के निर्मूलन करने में समर्थ उसी उपाय का उपदेश कीजिये ॥ १७० ।

स्कन्द ने कहा–

गणेश के आवेशवश (चढ़-दबाने से) राजा ने जो यह सब कहा, ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णु वह सब सुनकर कहने लगे ॥ १७१ ।

श्रीविष्णु बोले–

हे महाविज्ञ ! निष्पाप ! भूपालचूड़ामणे ! साधु, साधु (बाह बाह) !! जो कुछ मुझे उपदेश करना था, वह सब तो आप ही ने निरूपण कर दिया ॥ १७२ ।

त्वमादावेव निर्वृत्तः परं मे मानदो ह्यसि ।
क्षालितेन्द्रियपङ्कश्च सुतपः स्वच्छवारिभिः ॥ १७३ ।
यदुक्तं भवता भूप तत्सर्वं तथ्यमेव हि ।
तव शक्तिं च जानामि विरक्तिं च महामते ॥ १७४ ।
न भवत्सदृशो राजा भुवि भूतो भविष्यति ।
राज्यं भोक्तुं त्वयाज्ञायि युक्तं यत्तु मुमुक्षसि ॥ १७५ ।
विरोधेऽपि हि देवानां त्वया नापकृतं क्वचित् ।
धर्मेतरप्रवेशश्च तव राष्ट्रेऽपि नोऽभवत् ॥ १७६ ।
प्रवर्तिताभिर्भवता प्रजाभिर्यदनुष्ठितम् ।
धर्मे धर्मं स्वधर्मज्ञ तेन तृप्ता दिवौकसः ॥ १७७ ।
एक एव हि ते दोषो हृदि मे प्रतिभासते ।
काश्या विश्वेश्वरो दूरं यत्कृतो भवता किल ॥ १७८ ।

स्वच्छानि निर्मलानि ॥ १७३ ।

मुमुक्षसि त्यक्तुमिच्छसि ॥ १७५ ।

धर्मेतरोऽधर्मः ॥ १७६ ।

धर्मे प्रवर्तिताभिरित्यन्वयः ॥ १७७ ।

आप तो पहले से ही निर्वृति को प्राप्त हो चुके हैं; पर इस समय मुझे सम्मान दे रहे हैं, आपने तो अपनी स्वच्छ तपस्या की स्वच्छ जलधारा से इन्द्रियरूप पंक को धो डाला है ॥ १७३ ।

हे राजन् ! आपने जो कुछ कहा, वह सब सत्य है । हे महामते ! मैं आपकी शक्ति और वैराग्य को बहुत अच्छी रीति से जानता हूँ ॥ १७४ ।

आपके ऐसा कोई भी राजा भूतल पर न हुआ (न है) और न होगा, राज्य का भोगना तो आप ही ने जाना और यह भी अत्यन्त युक्त ही है, जो आप अब मोक्ष पाने की इच्छा कर रहे हैं ॥ १७५ ।

देवताओं से विरोध रहने पर भी आपने कोई अपकार नहीं किया और न आपके राज्य में अधर्म ही घुसने पाया ॥ १७६ ।

हे स्वधर्मनिष्ठ ! आप ही के धर्म में लगा देने से प्रजाओं ने जो धर्म का आचरण किया, उसी से देवता लोग सन्तुष्ट हो गये ॥ १७७ ।

मेरे हृदय में तो आपका एक ही दोष झलकता है, जो आपने काशी से विश्वेश्वर को दूर हटा दिया ॥ १७८ ।

महान्तमपराधं ते जाने भूजानिसत्तम ।
इमं तत्पापशान्त्यै च वच्म्युपायं महत्तरम् ॥ १७९ ।
संख्यास्ति यावती देहे देहिनो रोमसम्भवा ।
तावन्तोऽप्यपराधा वै यान्ति लिङ्गप्रतिष्ठया ॥ १८० ।
एकं प्रतिष्ठितं येन लिङ्गमत्रेशभक्तितः ।
तेनात्मना समं विश्वं जगदेतत्प्रतिष्ठितम् ॥ १८१ ।
रत्नाकरे रत्नसंख्या संख्याविद्भिरपीष्यते ।
लिङ्गप्रतिष्ठापुण्यस्य न तु संख्येति लिख्यते ॥ १८२ ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुरु लिङ्गप्रतिष्ठितिम् ।
तया लिङ्गप्रतिष्ठित्या कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १८३ ।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणो दध्यौ क्षणं निश्चलमानसः ।
उवाच च प्रहृष्टास्यो राजानं पाणिना स्पृशन् ॥ १८४ ।

भूर्जाया येषां ते भूजानयस्तेषां मध्ये सत्तम श्रेष्ठ भूजानिसत्तम । वच्मि कथयामि ॥ १७९ ।

हे भूपसत्तम ! मेरे जान में तो यही आपका बहुत बड़ा अपराध है । अस्तु, इस पाप की शान्ति के लिये मैं अत्युत्तम उपाय बतलाता हूँ ॥ १७९ ।

(शिवलिङ्ग-प्रतिष्ठा का माहात्म्य)

देहधारी के शरीर में जितने रोयें हैं, यदि उतने ही संख्या के पाप भी हों, तो एक शिवलिंग की प्रतिष्ठा कर देने से दूर चले जाते हैं ॥ १८० ।

यहाँ पर जिस किसी ने शिव की भक्ति से एक भी लिंग की स्थापना कर दी, उसने आत्मा के सहित समस्त विश्व को प्रतिष्ठित कर दिया ॥ १८१ ।

गिनती जोड़ने वाले लोग समुद्र के रत्नों की भी संख्या बिना लगाये नहीं रहते, पर लिंग-स्थापन के पुण्य की गिनती कभी नहीं लिखी जा सकती है ॥ १८२ ।

इसलिये सब प्रयत्नों और कष्टों को उठाकर भी लिंग की स्थापना कर डालिये; क्योंकि उसी लिंग-प्रतिष्ठा से आप कृतकृत्य हो जाइयेगा ॥ १८३ ।

यह कह ब्राह्मण ने स्थिरचित्त होकर क्षणमात्र ध्यान लगा लिया और फिर हाथ से राजा को स्पर्श करते हुए, प्रसन्नमुख होकर यह कहा ॥ १८४ ।

श्रीविष्णुरुवाच–

अन्यच्च किञ्चित्पश्यामि भूपाल ज्ञानचक्षुषा ।
शृणुष्वावहितो भूत्वा तदपि प्राज्ञसत्तम ॥ १८५ ।

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि मान्योऽसि महतामपि ।
जप्यं च तव नामेह प्रातः शुभफलेप्सुना ॥ १८६ ।

दिवोदास त्वदभ्याशादपि धन्यतरा वयम् ।
तेऽपि धन्यतरा मर्त्ये ये त्वदाख्यां प्रचक्षते ॥ १८७ ।

स्मायं स्मायं जगौ विप्रो मौलिमान्दोलयन् मुहुः ।
हृद्येव बहुशो हृष्टः संप्रहृष्टतनूरुहः ॥ १८८ ।

अहो भाग्योदयश्चास्य अहो नैर्मल्यमस्य वै ।
यदेनमनिशं ध्यायेद् ध्येयो विश्वेश्वरोऽखिलैः ॥ १८९ ।

त्वदभ्याशात्त्वत्सन्निधानात् ॥ १८७ ।

स्मायं स्मायमिति । पुनः पुनरीषद्धास्यं कृत्वेत्यर्थः ॥ १८८ ।

यद्यस्मादखिलैर्ध्येय इति सम्बन्ध ॥ १८९ ।

श्रीविष्णु बोले–

हे भूपाल ! ज्ञान की दृष्टि से मैं और भी कुछ देख रहा हूँ । हे प्राज्ञसत्तम ! सावधान होकर उसे भी श्रवण कीजिये ॥ १८५ ।

आप धन्य हैं, कृतार्थ हैं और बड़े लोगों के भी मान्य हैं, संसार में शुभफल चाहने वालों को प्रातःकाल ही आपका नाम जपना चाहिए ॥ १८६ !

हे दिवोदास ! आप के समीपवर्ती होने से हमलोग भी परमधन्य हो गये और इस लोक में वे सभी कोई धन्य-धन्य हैं जो आपका नाम भी ले लेते हैं ॥ १८७ ।

वह ब्राह्मण मुसुकुराता हुआ और हृदय में परमप्रसन्न तथा रोमांचित शरीर हो, बारंबार शिर हिलाकर यह कहने लगा ॥ १८८ ।

अहो ! इस राजा का कैसा भाग्य उदय हुआं है ? इसकी कैसी निर्मलता है कि समस्त लोकों के ध्येय भगवान् विश्वेश्वर इसे रात्रि-दिन ध्यान पर चढ़ाये ही रहते हैं ॥ १८९ ।

अहो उदर्क एतस्य न कैश्चित्प्रतिपद्यते ।
अस्माकमपि यद्दूरमदवीयस्तदस्य यत् ॥ १९० ।
हृद्यालोच्येति विप्रोऽथ वर्णयित्वा क्षितीश्वरम् ।
आविश्चकार तत्सर्वं यत्समाधावलोकयत् ॥ १९१ ।

ब्राह्मण उवाच–

राजंस्तवाद्य फलितो मनोरथमहाद्रुमः ।
अनेनैव शरीरेण त्वं गन्ताऽसि परं पदम् ॥ १९२ ।
यथा विश्वेश्वरो नित्यं त्वामेव हृदि शीलयेत् ।
तथास्मदादीनपि न द्विजांस्तत्पादलोचनात् ॥ १९३ ।
कृतलिङ्गप्रतिष्ठं त्वां सप्तमे ह्यद्य वासरात् ।
दिव्यं विमानमागत्य नेतुमेष्यति शाम्भवम् ॥ १९४ ।
राजंस्त्वं वेत्सि कस्यायं विपाकः सुकृतस्य ते ।
वाराणस्याः पुरः सम्यक् सेवनादित्यवैम्यहम् ॥ १९५ ।

उदर्क उत्तरकालीनं फलम् । दवीयोऽल्पं न दवीयोऽदवीयो महत्तरम् । अदवीयो निकटमिति वा । पदमिति शेषः । उदर्क[1] इति वा विशेष्यते । यद्यस्मात् ॥ १९० ।

वर्णयित्वा स्तुत्वा ॥ १९१ ।

तच्छब्दार्थमेव दर्शयति । राजन्निति । गन्ताऽसि गमिष्यसीत्यर्थः ॥ १९२ ।

विपाकः फलम् ॥ १९५ ।

अहो ! इस राजा का कैसा आश्चर्यमय परिणाम है, ऐसा परिणाम तो किसी का हुआ ही नहीं जो बात हमलोगों के लिये बहुत दूर है, वही इसके लिये बहुत निकटवर्ती है ॥ १९० ।

ब्राह्मण ने इसी भाँति हृदय में देखभाल और वर्णन कर, जो कुछ समाधि में देखा था, राजा से प्रकट किया ॥ १९१ ।

ब्राह्मण ने कहा–

हे राजन् ! आज आप का मनोरथरूपी बड़ा वृक्ष फल गया, आप इसी शरीर से परमपद को प्राप्त होंगे ॥ १९२ ।

विश्वेश्वर जैसे आपको हृदय से स्मरण करते रहते हैं, वैसे अपने चरणसेवक हम सब ब्राह्मणों को कभी नहीं चाहते ॥ १९३ ।

लिंग की प्रतिष्ठा कर लेने पर आज के सातवें दिन शिव का दिव्य विमान आकर आपको ले जावेगा ॥ १९४ ।

राजन् ! क्या आप यह जानते हैं कि, आपके किस पुण्य का यह फल है ? मैं तो यही समझता हूँ कि, अच्छी प्रकार से वाराणसी पुरी के सेवन ही से यह हुआ है ॥ १९५ ।

---

1. अस्मिन् पक्षे विशेषणे नपुंसकत्वस्यार्षत्वं कल्पनीयम् ।

एकमप्यत्र यः पायाद्वाराणस्यां स्थितं जनम् ।
तस्याप्येवं विपाकोऽस्ति देहान्ते राजसत्तम ॥ १९६ ।

इति श्रुत्वा स राजर्षिर्दिवोदासः प्रतापवान् ।
ब्राह्मणाय सशिष्याय प्रादात्प्रीतोऽभिवाञ्छितम् ॥ १९७ ।

अथ संप्रीणितं विप्रं प्रणम्य च मुहुर्मुहुः ।
प्रोवाच राजा संहृष्टस्तारितोऽस्मि भवार्णवात् ॥ १९८ ।

ब्राह्मणोऽपि प्रहृष्टात्मा परिपूर्णमनोरथः ।
समापृच्छ्य महीनाथं स्वेष्टं देशं जगाम ह ॥ १९९ ।

विलोक्य काशीं परितो मायाद्विजवपुर्हरिः ।
भूयो भूयो विचार्यापि किमत्रातीवपावनम् ॥ २०० ।

सम्प्रीणितं सन्तोषितम् ॥ १९८ ।

भूय इति । भूयो भूयो वक्ष्यमाणं विचार्य पश्चादिति संप्रधार्य तत्रैव संस्थित इति सार्धद्वयस्यान्वयः ॥ २०० ।

हे महाराज ! यदि कोई काशी में रहने वाले एक जन का भी पालन कर सके, तो शरीर के अन्त होने पर उसका भी परिणाम यही होगा ॥ १९६ ।

प्रतापशाली राजर्षि उस दिवोदास ने यह सुनकर प्रसन्नतापूर्वक शिष्यों के सहित उस ब्राह्मण को वांछित द्रव्य दान किया ॥ १९७ ।

तत्पश्चात् सन्तोषित ब्राह्मण को बारम्बार प्रणाम करके हृष्टचित्त राजा ने कहा—कि "मुझे आप ही ने इस संसार-समुद्र से पार उतार दिया" ॥ १९८ ।

मनोरथ के परिपूर्ण हो जाने से प्रसन्नहृदय वह ब्राह्मण भी राजा से पूछकर अपने इष्टस्थान पर चला गया ॥ १९९ ।

(पंचगंगा पर विष्णु का निवास)

मायावश ब्राह्मणवेषधारी विष्णु कांशी को चारों ओर से देखभाल कर बारम्बार यह विचार करने लगे कि "यहाँ पर अत्यन्त पवित्र कौन स्थान है ॥ २०० ।

स्थानं यच्चाहमध्यास्य निजभक्तानशेषतः ।
नेष्यामि परमं धाम विश्वेशानुग्रहात्परात् ॥ २०१ ।
संप्रधार्येति भगवान् दृष्ट्वा पाञ्चनदं ह्रदम् ।
तत्र कृत्वा विधिस्नानं ततस्तत्रैव संस्थितः ॥ २०२ ।
प्रतीक्षमाणो लक्ष्मीशो मंक्षु त्र्यक्षसमागमम् ।
तार्क्ष्यं प्रस्थापयाञ्चक्रे राजवृत्तान्तवेदिनम् ॥ २०३ ।
दिवोदासोऽपि राजेन्द्रो विप्रेन्द्रं परिवर्णयन् ।
आहूय प्रकृतीः सर्वाः सामात्यान्मण्डलेश्वरान् ॥ २०४ ।
अध्यक्षानपि सर्वांश्च कोशाश्वेभादिदेशितान् ।
पुत्रान् पञ्चशतं प्राग्र्यं सुतं च समरञ्जयम् ॥ २०५ ।
पुरोहितं प्रतीहारमृत्विजो गणकान् द्विजान् ।
सामन्तान् राजपुत्रांश्च सूपकारांश्चिकित्सकान् ॥ २०६ ।
वैदेशिकानपि बहून्नानाकार्यसमागतान् ।
सान्तःपुरां च महिषीं वृद्धगोपालबालकान् ॥ २०७ ।
सर्वान् प्रोवाच हृष्टात्मा प्रबद्धकरसम्पुटः ।
यथा स ब्राह्मणः प्राह दिनसप्तावधिस्थितिम् ॥ २०८ ।

मंक्षु द्रुतम् । यदाहामरः—'सद्यो द्राङ्मंक्षुसपदिद्रुतम्' इति ॥ २०३ ।

प्रकृतीर्मन्त्रिणः ॥ २०४ ।

अध्यक्षान् विशिनष्टि । कोशेति । देशितानादिष्टान्नियोजितानित्यर्थः । सर्वान् प्रोवाचेत्यतः प्राक्तनानां द्वितीयान्तानां पदानाम् आहूयेत्यनेन सम्बन्धः ॥ २०५ ।

जहाँ पर बैठकर मैं अपने समस्त भक्तों को विश्वेश्वर के परम अनुग्रह से परम धाम तक पहुँचा सकूँगा" ॥ २०१ ।

भगवान् विष्णु इस बात को मन में बनाये रहकर पाँचनद ह्रद (पंचगंगा तीर्थ) को देख, उसमें विधिपूर्वक स्नान कर वहाँ पर ही ठहर गये ॥ २०२ ।

और फिर लक्ष्मीपति (वहीं से) राजा के वृत्तान्तवेत्ता गरुड़ को भेजकर शीघ्रता से महादेव के आगमन की बाट जोहने लगे ॥ २०३ ।

राजेन्द्र दिवोदास ने भी ब्राह्मणेन्द्र का गुणगान करते हुए—समस्त प्रजागण, अमात्यों के सहित सभी मंडलेश्वर, कोश, अश्व और हस्ती इत्यादि पर नियुक्त सब अध्यक्षगण, पाँच सौ पुत्र तथा युवराज समरंजय, पुरोहित, प्रतीहार, ऋत्विज, गणक, ब्राह्मणवृन्द, सामन्त, राजकुमार, सूपकार, चिकित्सक, नाना कार्यों के लिये अनेक विदेशीय लोग, अन्तःपुरवर्ग के सहित राजमहिषी, वृद्ध, गोपाल और बालकवृन्द, इन सब को बुलाकर, प्रसन्न हृदय से अपने दोनों हाथों को जोड़ सभी लोगों से ब्राह्मण ने जैसी कि सात दिन अवधि की स्थिति कही थी, कह सुनायी ॥ २०४-२०८ ।

आश्चर्यं तेषु शृण्वत्सु विषण्णवदनेषु च ।
स्वयं राजगृहं नीत्वा कुमारं समरञ्जयम् ॥ २०९ ।

अभिषिच्य महाबुद्धिः पौरान् जानपदानपि ।
प्रसादीकृत्य पुण्यात्मा पुनः काशीमगान्नृपः ॥ २१० ।

आगत्य काशीं मेधावी स भूपालो रिपुञ्जयः ।
प्रासादं कारयामास स्वर्धुन्याः पश्चिमे तटे ॥ २११ ।

रिपून् प्रमथ्य समरे यावती श्रीरुपार्जिता ।
तावत्या स हि भूपालः शिवालयमचीक्लृपत् ॥ २१२ ।

भूपाललक्ष्मीरखिला यत्तत्र विनियोजिता ।
भूपालश्रीरिति ख्याता ततः सा भूरभूच्छुभा ॥ २१३ ।

दिवोदासेश्वरं लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य रिपुञ्जयः ।
कृतकृत्यमिवात्मानममन्यत नरेश्वरः ॥ २१४ ।

पुनः काशीमगादिति विष्णुवाक्यात्काशीं त्यक्त्वा तत्पूर्वदिग्भगे गोमतीतीरे सपरिवारो गतस्तत्र पुत्रं राज्ये अभिषिच्य लिङ्गस्थापनद्वारा रुद्रं प्रसादयितुमागतः । तथा चोक्तं हरिवंशे—"विषयान्ते पुरीं रम्यां गोमत्यां स न्यवेशयत्" इति ॥ २१० ।

उन लोगों के इस आश्चर्यकथा के सुनते ही विषण्णमुख हो जाने पर उस महाबुद्धिमान् राजा ने कुमार समरंजय को स्वयं (गोमती के तट पर) राजगृह में लिवा जाकर अभिषेक कर दिया और पुरवासी तथा देशवासी लोगों को प्रसन्न कर वह पुण्यात्मा राजा फिर काशी में लौट आया ॥ २०९-२१० ।

उस मेधावी राजा रिपुंजय (दिवोदास) ने काशी में आकर गंगा के पश्चिम तट पर एक शिवमन्दिर बनवाया ॥ २११ ।

उस भूपाल ने समर में शत्रुओं को पराजित कर जितनी सम्पत्ति उपार्जित की थी, वह सब लगा कर एक (बहुत बड़ा) शिवालय बनवा डाला ॥ २१२ ।

राजा की समस्त सम्पत्ति वहाँ पर लग गई थी, इसी कारण से उस शुभमयी भूमि का "भूपालश्री" ऐसा नाम विख्यात हुआ ॥ २१३ ।

नरनाथ रिपुंजय, दिवोदासेश्वर नामक लिंग की स्थापना करके अपने को मानो कृतार्थ समझने लगा ॥ २१४ ।

अथैकस्मिन् दिने राजा तल्लिङ्गं विधिपूर्वकम् ।
समभ्यर्च्य नमस्कृत्य यावत्तुष्टाव तुष्टिदम् ॥ २१५ ।
तावन्नभोऽङ्गणादाशु दिव्यं यानमवातरत् ।
पार्षदैः परितः कीर्णं शूलखट्वाङ्गपाणिभिः ॥ २१६ ।
अत्यादित्याग्नितेजोभिर्भालनेत्रैः कपर्दिभिः ।
शुद्धस्फटिकसंकाशैरङ्गैर्दीप्तनभोऽङ्गणैः ॥ २१७ ।
विभूषाहिफणारत्नज्योतिःपूजितविग्रहैः ।
नित्यप्रकाशसंत्रस्ततमःश्रितशिरोधरैः ॥ २१८ ।
चामरव्यग्रहस्ताग्ररुद्रकन्याशतावृतम् ।
अथ पारिषदै राजा दिव्यस्रगनुलेपनैः ॥ २१९ ।
दिव्यैर्दुकूलनेपथ्यैरलञ्चक्रे मुदान्वितैः ।
त्रिनेत्रीकृतसद्भालं श्यामीकृतशिरोधरम् ॥ २२० ।

यानं विशिनष्टि । पार्षदैरिति । पार्षदान् विशिनष्टि । शूलेत्यादिसार्धद्वयेन । खट्वाङ्गमायुधविशेषः ॥ २१६ ।

अति अतिक्रान्तमादित्याग्नितेजो यैस्ते तथा तैरत्यादित्याग्नितेजोभिः ॥ २१७ ।

नित्येति । नित्यप्रकाशेन स्वप्रकाशेन संत्रस्तैस्तमोभिराश्रिता शिरोधरा ग्रीवा येषां ते, तथा तैः नीलकण्ठैरित्यर्थः ॥ २१८ ।

इसके अनन्तर एक दिन राजा उस लिंग की विधिपूर्वक पूजा और प्रणाम करके ज्यों ही तुष्टिकर स्तोत्रों से स्तुति करने लगा, त्यों ही गगनांगण से शीघ्रतापूर्वक एक दिव्य विमान उतर पड़ा, जिसकी चारों ओर हाथ में त्रिशूल और खट्वांग को लिये हुए सूर्य और अग्नि के तेज को दबा रखने वाले, भाल में नेत्र और मस्तक पर जटाजूट से सुशोभित, शुद्ध स्फटिक के समान अंगों से आकाश-मंडल को चमका देने वाले, भूषणरूप सर्प के महाफणि की ज्योति से शोभित शरीर, स्वप्रकाश के भय से डरे हुए तम के जा छिपने से नीलकंठ शिव के पारिषद् (खचाखच) भरे हुए थे ॥ २१५-२१८ ।

उस विमान को चमर डुलाने से व्यस्तहस्ता सैकड़ों ही रुद्रकन्याएँ घेरे रहीं । इसके पीछे महादेव के पार्षदों ने आनन्दपूर्ण होकर दिव्य माला, दिव्य अनुलेपन, दिव्य वसन और दिव्य वेष-भूषणों से राजा को अलंकृत किया । फिर उन लोगों ने दिवोदास के ललाट में तीसरा नेत्र लगा दिया और कंठ को भी नीला कर दिया ॥ २१९-२२० ।

सुगौरीकृतसर्वाङ्गं कपर्दीकृतमौलिजम् ।
चतुर्भुजीकृततनुं भूषणीकृतपन्नगम् ॥ २२१ ।
मारीचिना कश्यपेन दक्षकन्याः सुलोचनाः ।
चन्द्रार्धीकृतमूर्धानं निन्युस्तं पार्षदा दिवम् ॥ २२२ ।
तदाप्रभृति तत्तीर्थं भूपालश्रीरिति श्रुतम् ।
तत्र श्राद्धादिकं कृत्वा दानं दत्वा स्वशक्तितः ॥ २२३ ।
दिवोदासेश्वरं दृष्ट्वा समभ्यर्च्य च भक्तितः ।
राज्ञश्चाख्यायिकां श्रुत्वा न नरो गर्भमाविशेत् ॥ २२४ ।
आख्यानमेतन्नृपतेर्दिवोदासस्य पावनम् ।
पठित्वा पाठयित्वाऽपि नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ २२५ ।
दिवोदासशुभाख्यानं श्रुत्वा यः समरं विशेत् ।
न जातु जायते तस्य भयं वैरिकृतं क्वचित् ॥ २२६ ।
दिवोदासकथा पुण्या महोत्पातनिकृन्तनी ।
पठनीया प्रयत्नेन सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ २२७ ।

दिवं कैलासम् ॥ २२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ।

सर्वांग को अत्यन्त गौरवर्ण कर दिया, बालों की जटा बाँध दी, शरीर में चार हाथ लगा दिये, सर्पों का भूषण पहना दिया ॥ २२१ ।

और मस्तक में अर्धचन्द्र देकर (उसे विमान पर बैठाकर) वे सब दूत स्वर्ग को ले चले ॥ २२२ ।

तभी से वह तीर्थ भूपालश्री नाम से विश्रुत है, वहाँ पर श्राद्ध इत्यादिक करने तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान कर देने से और भक्तिपूर्वक दिवोदासेश्वर के दर्शन और पूजन करने से तथा राजा की इस आख्यायिका के श्रवण करने से मनुष्य गर्भ में प्रवेश नहीं करता (उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है) ॥ २२३-२२४ ।

राजा दिवोदास का यह आख्यान परम पावन है, मनुष्य इसके पढ़ने तथा पढ़वाने से समस्त पापों से छुट्टी पा जाता है ॥ २२५ ।

दिवोदास के इस पवित्र उपाख्यान को सुनकर यदि कोई समरांगण में जाय तो उसे कहीं पर भी शत्रुओं का भय नहीं रहता ॥ २२६ ।

बड़े-बड़े उत्पातों को नष्ट करनेवाली, राजा दिवोदास की इस पुनीत कथा को समस्त विघ्नों के शान्त्यर्थ बड़े प्रयत्न से पढ़ना चाहिए ॥ २२७ ।

नावृष्टिर्जायते तत्र नाकालमरणाद्भयम् ।
दैवोदासी कथा यत्र सर्वपातकनाशिनी ॥ २२८ ।
अस्याख्यानस्य पठनाद् विष्णोरिव मनोरथाः ।
सम्पूर्णतां गमिष्यन्ति शम्भोश्चिन्तितकारिणः ॥ २२९ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दिवोदासनिर्वाणप्राप्ति-
र्नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ।

जहाँ समग्र पातकनाशिनी राजा दिवोदास की यह कथा होती है, वहाँ न तो अनावृष्टि होती है और न अकालमरण का ही भय रहता है ॥ २२८ ।

महादेव को चेतावनी देने वाले इस आख्यान के पाठ करने से विष्णु के समान सकल मनोरथ परिपूर्ण हो जायेंगे ॥ २२९ ।

दिवोदास तुम धन्य थे, देवन दियो निकाल ।
"गोरी", "औरंगजेब" हू, चले तुम्हारी चाल ॥ १ ।
तोति देवमन्दिर सबै, मसजिद दीन बनाय ।
तहँ ईश्वर आराधना, म्लेच्छहु करते जा ॥ २ ।
धन्य धन्य यह काशिका, क्यों कर भूतल बीच ।
पढ़ै पाँच नमाज जँह, जनमहु ते अतिनीच ॥ ३ ।
देश देश से आइ कै, नीच ऊँच सब लोग ।
निज निज मत विस्तार हित, करहिं बहुत उद्योग ॥ ४ ।
यहि काशी के भूप थे, दिवोदास विख्यात ।
तिन की पुण्यमयी कथा, पढतहि पाप परात ॥ ५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां विष्णुभगवत्काशीयात्रा-
दिवोदासमुक्तिवर्णनं नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ।

●

॥ अथैकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

सर्वज्ञ हृदयानन्द गौरीचुम्बितमूर्धज ।
तारकान्तक षड्वक्त्र तारिणे भद्रकारिणे ॥ १ ।
सर्वज्ञाननिधे तुभ्यं नमः सर्वज्ञसूनवे ।
सर्वथा जितमाराय कुमाराय महात्मने ॥ २ ।
कामारिमर्धनारीशं वीक्ष्य कामकृतं किल ।
यो जिगाय कुमारोऽपि मारं तस्मै नमोऽस्तु ते ॥ ३ ।
यदुक्तं भवता स्कन्द मायाद्विजवपुर्हरिः ।
काश्यां पञ्चनदं तीर्थमध्यासातीव पावनम् ॥ ४ ।
भूर्भुवःस्वःप्रदेशेषु काशीपरमपावनम् ।
तत्रापि हरिणाज्ञायि तीर्थं पञ्चनदं परम् ॥ ५ ।

एकोनषष्टिकेऽध्याये श्रीमदानन्दकानने ।
पञ्चानां सरितां पुण्यः प्रादुर्भावो निरूप्यते ॥ १ ।

अग्रिमं प्रष्टुं स्कन्दं प्रोत्साहयन् स्तौति । **सर्वज्ञेति** । तारितुं शीलमस्यास्तीति तारी, तस्मै ॥ १ ।

अध्यास अधि अधिष्ठाय आस स्थितवानित्यर्थः ॥ ४ ।

(पञ्चनद के प्रादुर्भाव की कथा)

पञ्चनदतीर्थ (पञ्चगंगा और वेणीमाधव)

अगस्त्य ने पूछा–

'हे सर्वज्ञ ! हृदयानन्द ! गौरीचुम्बितकेश ! तारकान्तक ! षण्मुख ! आप ही तारने वाले और कल्याणों के कर्ता हैं ॥ १ ।

हे सर्वज्ञाननिधे ! आप भगवान् सर्वज्ञ के पुत्र हैं, फिर सब प्रकार से काम के जीतने वाले महात्मा कुमार हैं, आपको नमस्कार है ॥ २ ।

आपने कुमार होने पर भी कन्दर्परिपु महादेव को कामकृत अर्द्धनारीश्वररूप देखकर मन्मथ को जीत लिया है । अतएव आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ३ ।

हे स्कन्द ! आपने यह बताया है कि माया करके द्विजरूपी हरि ने काशी में परम पवित्र पंचनद तीर्थ पर निवास किया ॥ ४ ।

अब भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्ग-लोग के बीच में तो काशी बड़ी पवित्र हुई है । पर वहाँ भी विष्णु ने पंचनद तीर्थ ही को क्यों सबसे श्रेष्ठ समझा ? ॥ ५ ।

कुतः पञ्चनदं नाम तस्य तीर्थस्य षण्मुख ।
कुतश्च सर्वतीर्थेभ्यस्तदासीत् पावनं परम् ॥ ६ ।
कथं च भगवान् विष्णुरन्तरात्मा जगत्पतिः ।
सर्वेषां जगतां पाता कर्ता हर्ता च लीलया ॥ ७ ।
अरूपो रूपमापन्न अव्यक्तो व्यक्ततां गतः ।
निराकारोऽपि साकारो निष्प्रपञ्चः प्रपञ्चभाक् ॥ ८ ।
अजन्माऽनेकजन्मा च त्वनामा स्फुटनामभृत् ।
निरालम्बोऽखिलालम्बो निर्गुणोऽपि गुणास्पदम् ॥ ९ ।
अहृषीको हृषीकेशोऽप्यनंघ्रिरपि सर्वगः ।
उपसंहृत्य रूपं स्वं सर्वव्यापी जनार्दनः ॥ १० ।
स्थितः सर्वात्मभावेन तीर्थे पञ्चनदे परे ।
एतदाख्याहि षड्वक्त्र पञ्चवक्त्राद्यथा श्रुतम् ॥ ११ ।

स्कन्द उवाच–

कथयामि कथामेतां नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
सर्वाघौघप्रशमनीं सर्वश्रेयोविधायिनीम् ॥ १२ ।

आपन्न इत्यत्र विसन्धिरार्षः ॥ ८ ।

अहृषीक इन्द्रियरहितोऽथ हृषीकेश इन्द्रियाणां प्रवर्तकः । 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादिश्रुतेः ॥ १० ।

हे षडानन ! उस तीर्थ का पंचनद ऐसा नाम क्यों पड़ा ? और यह सब तीर्थों से अधिक पावन कैसे हो गया ? ॥ ६ ।

और फिर जो अपनी लीला से ही समस्त ब्रह्माण्डों के कर्ता, हर्ता और पालयिता हैं, वही जगन्नाथ रूपरहित होने पर भी रूपधारी, अव्यक्त होकर व्यक्तता को प्राप्त, निराकार रहने पर भी साकार, निष्प्रपंच होकर प्रपंचभागी, जन्म और नाम से रहित रहकर भी अनेक जन्म और नामवाले, स्वयं निरालम्ब होने पर भी सब किसी के अवलम्बन, निर्गुण होकर भी सगुण, इन्द्रियरहित रहकर भी सब इन्द्रियों के स्वामी एवं चरण न रहने पर भी सर्वत्र ही विचरण करने वाले, अन्तर्यामी भगवान् विष्णु अपने सर्वव्यापी रूप को बटोरकर, सर्वात्मभाव से उस पंचनद तीर्थ पर क्यों जा ठहरे ? हे षड्वदन ! इस विषय में आपने पंचवदन महादेव से जो कुछ सुना है, मुझसे कहिये' ॥ ७-११ ।

स्कन्द ने उत्तर दिया–

महेश्वर को प्रणाम करके मैं सर्वपापापहारिणी और समस्त कल्याणकारी इस कथा को कहता हूँ ॥ १२ ।

यथा पञ्चनदं तीर्थं काश्यां प्रथितिमागतम् ।
यन्नामग्रहणादेव पापं याति सहस्रधा ॥ १३ ।
प्रयागोऽपि च तीर्थेशो यत्र साक्षात्स्वयं स्थितः ।
पापिनां पापसंघातं प्रसह्य निजतेजसा ॥ १४ ।
हरन्ति सर्वतीर्थानि प्रयागस्य बलेन हि ।
तानि सर्वाणि तीर्थानि माघे मकरगे रवौ ॥ १५ ।
प्रत्यब्दं निर्मलानि स्युस्तीर्थराजसमागमात् ।
प्रयागश्चापि तीर्थेन्द्रः सर्वतीर्थार्पितं मलम् ॥ १६ ।
महाघिनां महाघं च हरेत्पाञ्चनदाद्बलात् ।
यं सञ्चयति पापौघमावर्षन्तीर्थनायकः ।
तमेकमज्जनादूर्जे त्यजेत्पञ्चनदे ध्रुवम् ॥ १७ ।
यथा पञ्चनदोत्पत्तिस्तथा च कथयाम्यहम् ।
निशामय महाभाग मित्रावरुणनन्दन ॥ १८ ।
पुरा वेदशिरा नाम मुनिरासीन्महातपाः ।
भृगुवंशसमुत्पन्नो मूर्तो वेद इवापरः ॥ १९ ।

ऊर्जे कार्तिके ॥ १७ ।

जैसे यह पंचनद तीर्थ काशी में प्रसिद्ध हुआ और जिसके नाम लेते ही पाप सहस्त्रों टुकड़े हो जाते हैं ॥ १३ ।

जहाँ पर साक्षात् तीर्थराज प्रयाग भी स्वयं विराजमान रहता है, (क्योंकि) पापियों के पापों की ढेर को अपने ही तेज के द्वारा हठपूर्वक प्रयाग ही के बल से सब तीर्थ हरण करते हैं और वे सब तीर्थ माघ मास में जब सूर्य मकरराशि पर जाते हैं, तो प्रतिवर्ष तीर्थराज ही के समागम से निर्मल हो जाते हैं; परन्तु तीर्थराज प्रयाग भी समस्त तीर्थों के अर्पित मल तथा बड़े-बड़े अघियों के घोर अघ को इस पंचनद तीर्थ के बल से हरता रहता है। तीर्थराज वर्षभर की बटोरी हुई समस्त पापराशि को इसी पंचनदतीर्थ पर कार्तिक मास में एक बार गोता लगाकर निश्चय छोड़ देता है ॥ १४-१७ ।

हे महाभाग ! मित्रावरुणनन्दन ! इस पंचनद तीर्थ की उत्पत्ति जैसे हुई है, मैं वर्णन करता हूँ तुम श्रवण करो ॥ १८ ।

(वेदशिरोपाख्यान)

पूर्वकाल में भृगु के वंश में उत्पन्न, बड़े ही तपस्वी, मूर्तिमान् वेद के समान वेदशिरा नामक एक मुनि रहते थे ॥ १९ ।

तपस्यतस्तस्य मुनेः पुरो दृग्गोचरं गता ।
शुचिरप्सरसांश्रेष्ठा रूपलावण्यशालिनी ॥ २० ।
तस्या दर्शनमात्रेण परिक्षुब्धं मुनेर्मनः ।
चस्कन्द स मुनिस्तूर्णं साऽथ भीता वराप्सरा ॥ २१ ।
दूरादेव नमस्कृत्य तमृषिं साऽभ्यभाषत ।
अतीववेपमानाङ्गी शुचिस्तच्छापभीतितः ॥ २२ ।
नापराध्नोम्यहं किञ्चिन्महोग्रतपसां निधे ।
क्षन्तव्यं मे क्षमाधार क्षमारूपास्तपस्विनः ॥ २३ ।
मुनीनां मानसं प्रायो यत्पद्मादपि तन्मृदु ।
स्त्रियः कठोरहृदयाः स्वरूपेणैव सत्तम ॥ २४ ।

रूपं सौन्दर्यं लावण्यमङ्गसौष्ठवं तच्छालिनी ॥ २० ।

परः श्रीकृष्णः स पितृत्वेन वर्तते यस्य स परी कामस्तेन क्षुब्धं क्षुभितं मुनेर्मनो बभूवेति शेषः ॥ २१ ।

मुनीनां मननशीलानां मानसं यत्तत्पद्मादपि मृदु कोमलमित्यन्वयः । प्रायो ग्रहणं दुर्वासःप्रभृतीनां व्यावृत्त्यर्थम् । स्वभावात्क्षमिणां मृदु इति क्वचित्पाठः । स्वरूपेणैव स्वभावेनैव । तथा चोर्वशीवचनम्–"क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा" इत्यादि ॥ २४ ।

एक बार तपस्या करते हुए उस मुनि के आगे परमरूपलावण्यशालिनी शुचिनाम्नी एक प्रधान अप्सरा दृष्टिगोचर हुई ॥ २० ।

उसे देखते ही मुनि का मन चलायमान हो गया और वे तुरन्त ही स्खलित हो गये । (यह देखकर) वह अप्सरा बहुत ही डरी ॥ २१ ।

उस मुनि के शापभय से अत्यन्त काँपती हुई शुचि दूर से ही उस ऋषि को प्रणाम करके कहने लगी ॥ २२ ।

"हे महोग्रतपोनिधे ! (इस विषय में) मेरा कुछ भी अपराध नहीं है, हे क्षमाधार ! मुझे क्षमा कीजिये; क्योंकि तपस्वी लोग ही क्षमा के स्वरूप होते हैं ॥ २३ ।

हे सत्तम ! मुनियों का हृदय प्रायः कमल से भी (अधिक) कोमल होता है, पर स्त्रियों का चित्त स्वभावतः बड़ा कठोर होता है" ॥ २४ ।

इति श्रुत्वा वचस्तस्याः शुचेरप्सरसो मुनिः ।
विवेकसेतुना स्तंभीन्महारोषनदीरयम् ॥ २५ ।
उवाच च प्रसन्नात्मा शुचे शुचिरसि ध्रुवम् ।
न मेऽल्पोऽपि हि दोषोऽत्र न ते दोषोऽस्ति सुन्दरि ॥ २६ ।
वह्निस्वरूपा ललना नवनीतसमः पुमान् ।
अनभिज्ञा वदन्तीति विचारान्महदन्तरम् ॥ २७ ।
स्निह्येदुद्धृतसारोऽपि वह्नेः संस्पर्शमाप्य वै ।
चित्रं स्त्र्याख्यासमादानात्पुमान् स्निह्यति दूरतः ॥ २८ ।

विवेकसेतुना आत्मानात्मविवेकधृत्या महान् यो रोष एव नदी तस्या रयं वेगमस्तंभीत्स्तंभितवानित्यर्थः ॥ २५ ।

नवनीतसमः प्रथमोद्धृतघृततुल्यः । इति उदाहरणमिति शेषः । अनभिज्ञत्वे हेतुमाह । **विचारादिति** । अन्तरमसाम्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरिति शेषः ॥ २७ ।

साम्याभावमेवाह । **स्निह्येदिति** । उद्धृतश्चासौ सारश्चेति उद्धृतसारो घृतम् । स्त्री इति आख्या यस्य पदार्थस्य स स्त्र्याख्यास्तस्याः समादानादसंस्पर्शादित्यर्थः । स्त्रीनामग्रहणादिति वा ॥ २८ ।

इस प्रकार से उस शुचि अप्सरा की बात सुनकर, उस मुनि ने बड़े क्रोधरूप नदी के वेग को विवेकरूपी बाँध से रोक लिया ॥ २५ ।

और प्रसन्न मन से कहा—अयि शुचे ! तुम वास्तव में शुचि (निर्दोष) हो । हे सुन्दरि ! इस विषय में न तो मेरा ही कोई दोष है, न तुम्हारा ही कुछ दोष है ॥ २६ ।

रमणी अग्निज्वाला के समान और पुरुष माखन के समान होते हैं । यह बात अनजान लोग ही कहते हैं, पर विचार करने से बड़ा ही अन्तर दीखता है ॥ २७ ।

माखन तो अग्नि की आँच लगने पर पिघलता है, पर यह तो बड़ा आश्चर्य है, जो कि पुरुष दूर से ही स्त्री का नाम लेते ही पिघलने लग जाता है ॥ २८ ।

अतः शुचे न भेतव्यं त्वया शुचिमनोगते ।
अतर्कितोपस्थितया त्वया च स्खलितं मया ॥ २९ ।
स्खलनान्न तथा हानिरकामात्तपसो मुनेः ।
यथा क्षणान्धीकरणाद्धानिः कोपरयादरेः ॥ ३० ।
कोपात्तपः क्षयं याति संचितं यत्सुकृच्छ्रतः ।
यथाभ्रपटलं प्राप्य प्रकाशः पुष्पवन्तयोः ॥ ३१ ।
अनर्थकारिणः क्रोधात् क्वार्थानां परिजृम्भणम् ।
क्व वा खलजनोत्सेधात्साधूनां परिवर्धनम् ॥ ३२ ।

शुचिः पवित्रा मनोगतिरन्तःकरणवृत्तिर्यस्याः सा तथा तस्याः सम्बोधनं हे शुचिमनोगते । रुचिमनोगते इति क्वचित् । तत्रापि स एवार्थः । न भेतव्यमित्यत्र हेतुं वदन् शुचिमनोगतत्वमेवाह । अतर्कितोपस्थितया त्वया च स्खलितं मयेति । अतर्कितोपस्थितत्वं नाम मद्दर्शनादस्य क्षोभो जायतामित्यननुसन्धायागतत्वम् । यच्च स्खले इति क्वचित्पाठः । यद्यस्माच्च स्खले स्खलितं क्षरितमिति यावत्, रेत इति शेषः ॥ २९ ।

कोपरय एवारिस्तस्मात्कोपरयादरेः । कथम्भूतात् ? क्षणेनान्धीकरोतीति क्षणान्धीकरणस्तस्मात् ॥ ३० ।

सुकृच्छ्रः सुकष्टात् । पुष्पवन्तयोश्चन्द्रसूर्ययोः ॥ ३१ ।

अर्थानां पुरुषार्थानां परिजृंभणं परिस्फुरणं प्राप्तिरित्यर्थः । उत्सेधो वर्धनम् ॥ ३२ ।

अतएव हे शुचे ! तुम्हारा मनोगत भाव शुद्ध है और तुम मुझे क्षोभित करने की इच्छा से नहीं आई हो । इससे कुछ मत डरो, मेरा रेतस्खलन हो गया, तो क्या हुआ ? ॥ २९ ।

कामभावना के बिना रेतःस्खलन हो जाने पर भी मुनि के तप की हानि नहीं होती, जैसे क्षणमात्र में प्राणी को अन्धा बना देने वाले क्रोधरूपी शत्रु से सम्भव है ॥ ३० ।

क्रोध करने से बड़े कष्ट से संचित तपस्या का वैसे ही क्षय हो जाता है, जैसे बादल के घिर आने से चन्द्र और सूर्य का प्रकाश प्रायः लुप्त हो जाता है ॥ ३१ ।

अनर्थ करने वाले क्रोध से पुरुषार्थों की प्राप्ति कहाँ हो सकती है ? जैसे खल लोगों की बढ़ती होने पर साधुजनों का अभ्युदय कहाँ होने पाता है ? ॥ ३२ ।

अमर्षे कर्षति मनो मनोभूसम्भवः कुतः ।
विधुन्तुदे तुदत्युच्चैर्विधुं कुत्रास्ति कौमुदी ॥ ३३ ।
ज्वलतो रोषदावाग्नेः क्व वा शान्तिदरोः स्थितिः ।
दृष्टा केनापि किं क्वापि सिंहात्कलभसुस्थता ॥ ३४ ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रतीपः प्रतिघातुकः ।
चतुर्वर्गस्य देहस्य परिहेयो विपश्चिता ॥ ३५ ।
इदानीं शृणु कल्याणि कर्तव्यं यत्त्वया शुचे ।
अमोघबीजा हि वयं तद्बीजमुररीकुरु ॥ ३६ ।
एतस्मिन् रक्षिते वीर्ये परिस्कन्ने त्वदीक्षणात् ।
त्वया तव भवित्र्येकं कन्यारत्नं महाशुचि ॥ ३७ ।

ननु क्रोधाद्धर्मादीनामभावेऽपि स्त्र्यादिविषयः कामो भविष्यति तत्राह । **अमर्षे इति** । अमर्षे क्रोधे । मनः कर्मभूतम् । मनोभूः कामः । उच्चैः सर्वग्रासे ॥ ३३ ।

शान्तितरोः शान्तिवृक्षस्य । कलभो हस्तिशावकः । अत्यन्तास्वास्थ्यप्रतिपादनाय कलभशब्दप्रयोगः ॥ ३४ ।

प्रतीपः प्रतिकूलः । प्रतिघ इति पाठेऽपि स एवार्थः । प्रतिघातुकः । चतुर्वर्गस्य देहस्य चतुर्वर्गशरीरस्येत्यर्थः । चत्वारो वर्गा धर्मादयो यस्मात्तस्य देहस्येति वा । परिहेयः क्रोध इति शेषः ॥ ३५ ।

उररीकुरु स्वीकुरु जठरे धारयेत्यर्थः ॥ ३६ ।

भवितृ भविष्यति ॥ ३७ ।

जब कि मन क्रोध में खिंच जाता है, तब भला मनोज कहाँ से उत्पन्न हो सकता है ? जैसे राहु के चन्द्रमा को अत्यन्त ग्रस लेने पर चन्द्रिका कहाँ रह जाती है ? ॥ ३३ ।

फिर जब क्रोधरूपी दावानल जलने लगता है तो शान्तिरूपी वृक्ष कैसे बच सकता है ? भला किसी ने कहीं भी सिंह से हाथी के बच्चे की सुस्थता देखी है ? ॥ ३४ ।

इसलिये बुद्धिमान् जन के द्वारा चतुर्वर्ग और शरीर का घातक प्रतिकूल क्रोध सर्वथा त्यागने ही के योग्य है ॥ ३५ ।

हे कल्याणि ! शुचे ! अब जो कुछ तुम्हारा कर्तव्य विषय है, उसे सुनो । हम लोगों का वीर्य अमोघ होता है । अतएव तुम इसे धारण कर लो ॥ ३६ ।

तुम्हारे ही दिखाई पड़ने से स्खलित हुए इस वीर्य को रक्षित करने से तुमको अत्यन्त उत्तम एक कन्यारत्न प्राप्त होगा ॥ ३७ ।

इत्युक्ता तेन मुनिना पुनर्जातिव साप्सरा ।
महाप्रसाद इत्युक्त्वा मुनेः शुक्रमजीगिलत् ॥ ३८ ।
अथ कालेन दिव्यस्त्री कन्यारत्नमजीजनत् ।
अतीवनयनानन्दि निधानं रूपसम्पदाम् ॥ ३९ ।
तस्यैव वेदशिरसः आश्रमे तां निधाय सा ।
शुचिरप्सरसां श्रेष्ठा जगाम च यथेप्सितम् ॥ ४० ।
तां च वेदशिराः कन्यां स्नेहेन समवर्धयत् ।
क्षीरेण स्वाश्रमस्थाया हरिण्या हरिणीक्षणाम् ॥ ४१ ।
मुनिर्नाम ददौ तस्यै धूतपापेति चार्थवत् ।
यन्नामोच्चारणेनापि कम्पते पातकावली ॥ ४२ ।
सर्वलक्षणशोभाढ्यां सर्वावयवसुन्दरीम् ।
मुनिस्तत्याज नोत्संगात्क्षणमात्रमपि क्वचित् ॥ ४३ ।
दिने दिने वर्धमानां तां पश्यन् मुमुदे भृशम् ।
क्षीरनीरधिवद्रम्यां निशि चान्द्रमसीं कलाम् ॥ ४४ ।

अजीगिलत् गिलितवती ॥ ३८ ।
यथेप्सितं यथारुचि जगाम । त्रिदशालयमिति क्वचित् ॥ ४० ।
नाम्नोऽर्थवत्वमेव दर्शयति । यन्नामेति ॥ ४२ ।

उस मुनि के यह कहने पर मानो नया जन्म पाकर उस अप्सरा ने "महाप्रसाद" कहकर उस ऋषि का वीर्य निगल लिया ॥ ३८ ।

फिर तो कालक्रम से उस अप्सरा को परम नयनानन्दकर और रूपसंपत्ति की खानि एक कन्यारत्न उत्पन्न हुई ॥ ३९ ।

तब अप्सराओं में श्रेष्ठ उस शुचि ने उस कन्या को वहीं पर वेदशिरा मुनि के आश्रम में रखकर अपने इष्टस्थान का गमन किया ॥ ४० ।

इसके अनन्तर वेदशिरा मुनि अपने आश्रम की हरिणी के दूध से उस हरिणी-नयना (मृगाक्षी) कन्या को बड़े स्नेह से पालने (पोषने) लगे ॥ ४१ ।

और मुनि ने उस कन्या का यथार्थतः धूतपापा नाम रखा । (क्योंकि) उसका नाम उच्चारण करते ही पातकावली काँपने लगती है ॥ ४२ ।

मुनिराज सर्वलक्षण और शोभा से सम्पन्न तथा सर्वांगसुन्दरी उस कन्या को क्षणमात्र के लिये भी कहीं पर अपने गोद से नहीं उतारते थे ॥ ४३ ।

फिर शुक्लपक्ष की रात्रि में चन्द्रकला के समान दिन-प्रतिदिन उस कन्या को बढ़ती हुई देखकर क्षीरसमुद्र की तरह अत्यंत प्रमुदित होने लगे ॥ ४४ ।

अथाष्टवार्षिकीं दृष्ट्वा तां कन्यां स मुनीश्वरः ।
कस्मै देयेति संचिन्त्य तामेव समपृच्छत ॥ ४५ ।

वेदशिरा उवाच–

अयि पुत्रि महाभागे धूतपापे शुभेक्षणे ।
कस्मै दद्यां वराय त्वां त्वमेवाख्याहि तं वरम् ॥ ४६ ।
अतिस्नेहार्द्रचित्तस्य जनेतुश्चेति भाषितम् ।
निशम्य धूतपापा सा प्रोवाच विनताननना ॥ ४७ ।

धूतपापोवाच–

जनेतर्यद्यहं देया सुन्दराय वराय ते ।
तदा तस्मै प्रयच्छ त्वं यमहं कथयामि ते ॥ ४८ ।
तुभ्यं च रोचते तात शृणोत्ववहितो भवान् ।
सर्वेभ्योऽतिपवित्रो यो यः सर्वेषां नमस्कृतः ॥ ४९ ।
सर्वे यमभिलष्यन्ति यस्मात्सर्वसुखोदयः ।
कदाचिद्यो न नश्येत यः सदैवानुवर्तते ॥ ५० ।
इहामुत्रापि यो रक्षेन्महापदुदयाद्ध्रुवम् ।
सर्वे मनोरथा यस्मात् परिपूर्णा भवन्ति हि ॥ ५१ ।

अनन्तर जब वह आठ वर्ष की हो गई, तो मुनिवर ने यह विचार किया कि इसे किसको देना उचित है। उसी कन्या से पूछा ॥ ४५ ।

वेदशिरा बोले–

अयि महाभागे ! सुनयने ! पुत्रि ! धूतपापे ! मैं तुमको किस वर के हाथ में दूँ, यह बात तुम्हीं कहो ॥ ४६ ।

तब धूतपापा ने अत्यन्त स्नेहार्द्रचित्त पिता का यह वचन सुन नीचे मुख करके कहा ॥ ४७ ।

धूतपापा बोली–

हे पिता जी ! यदि आप मुझे किसी सुन्दर वर को दियां चाहते हैं, तो मैं जिसे कहती हूँ, उसी को आप समर्पण कीजिये ॥ ४८ ।

हे तात ! आप भी उसे प्रसन्न करेंगे, इसलिये सावधानमन से श्रवण कीजिये। जो सब से अधिक पवित्र और सब किसी के नमस्कार योग्य हो, जिसे सभी लोग चाहते हों, जिससे समस्त सुखों का उदय होता हो, जो कभी विनष्ट न हो, जो सर्वदा साथी बना रहे, इस लोक और परलोक में भी जो अवश्य ही बड़ी से बड़ी विपत्तियों में रक्षा कर सके, जिसके द्वारा समस्त मनोरथ परिपूर्ण हो जावें, जिसके निकट दिन-प्रतिदिन सौभाग्य बढ़ता ही रहे, सर्वदा जिसकी सेवा करने से

दिने दिने च सौभाग्यं वर्धते यस्य सन्निधौ ।
नैरन्तर्ये यत्सेवां कुर्वतो न भयं क्वचित् ॥ ५२ ।
यन्नामग्रहणादेव केऽपि बाधां न कुर्वते ।
यदाधारेण तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश ॥ ५३ ।
एवमाद्या गुणा यस्य वरस्य वरचेष्टितम् ।
तस्मै प्रयच्छ मां तात मम तेऽपीह शर्मणे ॥ ५४ ।
एतच्छ्रुत्वा पिता तस्या भृशं मुदमवाप ह ।
धन्योऽस्मि धन्या मे पूर्वे येषामेषा सुतान्वये ॥ ५५ ।
ध्रुवा हि धूतपापाऽसौ यस्या ईदृग्विधा मतिः ।
ईदृग्विधैर्गुणगणैर्गरिम्णा कोऽत्र वै भवेत् ॥ ५६ ।
अथवा स कथं लभ्यो विना पुण्यभरोदयम् ।
इति क्षणं समाधाय मनः स मुनिपुङ्गवः ॥ ५७ ।
ज्ञानेन तं समालोच्य वरमीदृग्गुणोदयम् ।
धन्यां कन्यां बभाषेऽथ शृणु वत्से शुभैषिणि ॥ ५८ ।

गरिम्णा गरिष्ठत्वेन ॥ ५६ ।

कहीं भी भय न हो, जिसके केवल नाम लेने ही से कोई भी कुछ बाधा नहीं कर सके और जिसके आधार पर यह सब चौदहों भुवन ठहरे होवें, इस प्रकार के गुण जिस वर में हो, हे तात ! उसी को देने से यहाँ पर मुझे और आपको भी सुख मिल सकता है ॥ ४९-५४ ।

उस कन्या की इन बातों को सुनकर वेदशिरा ऋषि बड़े ही प्रसन्न हुए और अपने को तथा अपने पूर्वजों को धन्य कहने लगे कि जिसके वंश में यह कन्या उत्पन्न हुई है ॥ ५५ ।

अवश्य ही यह बेटी धूतपापा है, नहीं तो इसकी ऐसी बुद्धि कैसे होती ? अस्तु, अब इन गुणगणों से परिपूर्ण इस संसार में कौन है ? ॥ ५६ ।

और फिर वह बिना बड़े पुण्यपुंज के संचय किये कैसे मिल सकता है ? यही सोचते हुए मुनिराज ने क्षणभरमें मन को समाधि में लगा लिया ॥ ५७ ।

फिर ज्ञानदृष्टि से वैसे गुणसंपन्न वर को देखकर उस धन्या कन्या से कहा कि हे बेटी ! कल्याणी ! सुनो ॥ ५८ ।

पितोवाच–

वरस्य ये त्वया प्रोक्ता गुणा एते विचक्षणे ।
एषां गुणानामाधारो वरोऽस्तीति विनिश्चितम् ॥ ५९ ।
परं स सुखलभ्यो न नितरां सुभगाकृतिः ।
तपःपणेन स क्रय्यः सुतीर्थविपणौ क्वचित् ॥ ६० ।
नार्थभारैः स सुलभो न कौलीन्येन कन्यके ।
न वेदशास्त्राभ्यसनैर्न चैश्वर्यबलेन वै ॥ ६१ ।
न सौन्दर्येण वपुषा न बुद्ध्या न पराक्रमैः ।
एकयैव मनःशुद्ध्या करणानां जयेन च ॥ ६२ ।
महातपःसहायेन दमदानदयायुजा ।
लभ्यते स महाप्राज्ञो नान्यथा सदृशः पतिः ॥ ६३ ।
इति श्रुत्वाऽथ सा कन्या पितरं प्रणिपत्य च ।
अनुज्ञां प्रार्थयामास तपसे कृतनिश्चया ॥ ६४ ।

पण्यते व्यवह्रियतेऽनेनेति पणं द्रविणं तेन स क्रय्यः क्रेतव्यः प्राप्य इत्यर्थः । सुतीर्थमेव विपणिः पण्यवीथिका तस्याम् ॥ ६० ।

पिता कहने लगे–

हे बुद्धिमति ! तुमने वर के जो यह सब गुण कहें हैं, उन सबों से परिपूर्ण वर तो निश्चय ही है ॥ ५९ ।

परन्तु वह परम सुन्दरमूर्ति वर बिना प्रयास के नहीं मिल सकता तब, किसी उत्तम तीर्थरूपी हाट में तपस्या के मूल्य देने से क्रय किया जा सकता है ॥ ६० ।

हे बेटी ! यह वर धन, सम्पत्ति, कुलीनता, वेद और शास्त्रों के अभ्यास, ऐश्वर्य शरीर की सुन्दरता, बुद्धिवैभव अथवा पराक्रम के बल से कदापि नहीं मिल सकता है, हाँ केवल चित्तशुद्धि, इन्द्रियों के विजय, दम, दान और दया से युक्त घोर तपस्या की सहायता से ही वह परमविज्ञ वर पाया जा सकता है, नहीं तो (तुम्हारे) अनुरूप पति का मिलना दुर्घट हैं ॥ ६१-६३ ।

यह सुनकर उस कन्या ने पिता को प्रणाम कर तपस्या के लिये दृढ़ संकल्प हो अनुमति पाने की प्रार्थना की ॥ ६४ ।

स्कन्द उवाच–

कृतानुज्ञा जनेत्रा सा क्षेत्रे परमपावने ।
तपस्तताप परमं यदसाध्यं तपस्विभिः ॥ ६५ ।
क्व सा बालाऽतिमृद्वङ्गी क्व च तत्तादृशं तपः ।
कठोरवर्ष्मसंसाध्यमहो सच्चेतसो धृतिः ॥ ६६ ।
धारासारासु वर्षासु महावातवतीष्वलम् ।
शिलासु सावकाशासु सा बह्वीरनयन्निशाः ॥ ६७ ।
श्रुत्वा गर्जरवं घोरं दृष्ट्वा विद्युच्चमत्कृतीः ।
आसारसीकरैः क्लिन्ना न चकम्पे मनाक् च सा ॥ ६८ ।
तडित्स्फुरन्ती त्वसकृत्तमिस्रासु तपोवने ।
यातायातं करोतीव द्रष्टुं तत्तपसः स्थितिम् ॥ ६९ ।
तपर्तुरेव साक्षाच्च कुमारीकैतवात्किल ।
पञ्चाग्नीन् परिधायात्र तपस्यति तपोवने ॥ ७० ।

क्षेत्रेऽविमुक्ते । परमपावन इति विशेषणात् ॥ ६५ ।

धारा अविच्छिन्नेन पतमाना आसाराः सीकरायासु तास्तथा तासु ॥ ६७ ।

आसारशीकरैरविच्छिन्नपतमानाम्बुकणैः ॥ ६८ ।

तपुर्तुर्ग्रीष्मर्तुः । कैतवं व्याजम् ॥ ७० ।

स्कन्द ने कहा–

पिता की आज्ञा पाकर वह कन्या परमपावन काशीक्षेत्र में तपस्वियों से भी असाध्य कठोर तपस्या को करने लगी ॥ ६५ ।

अहो ! मनस्वी जन का कैसा असाधारण धैर्य होता है ! कहाँ तो अत्यन्त सुकुमारी वह कुमारी और कहाँ कठोर शरीर से साध्य वैसी घोर तपस्या ! ॥ ६६ ।

वह वर्षा ऋतुओं में बड़े वायु के झँकोरे के साथ मूसलाधार वृष्टि होते रहने पर भी शिलाओं पर ही बहुतेरी रातें काट देती थी ॥ ६७ ।

मेघों की घोर गर्जन को सुन और बिजली की चमक देख बूँदो की झड़ी से भीग जाने पर भी वह तनिक नहीं हिलती थी ॥ ६८ ।

अँधेरी रात में चमकती हुई बिजली मानो उसकी तपस्या की स्थिति देखने ही के लिये तपोवन में आवागमन कर रही थी ॥ ६९ ।

ग्रीष्म ऋतु (गर्मी) मानों आप ही कुमारी के व्याज से इस तपोवन में पाँचों अग्नियों को रखकर तपस्या करती थी ॥ ७० ।

जलाभिलाषिणी बाला न मनागपि सापिबत् ।
कुशाग्रतोयपृषतं पञ्चाग्नि परितापिता ॥ ७१ ।
रोमाञ्चकञ्चुकवती वेपमानतनुच्छदा ।
पर्यक्षिपत्क्षपाः क्षामा तपसा हैमनीश्च सा ॥ ७२ ।
निशीथिनीषु शिशिरे श्रयन्ती सारसं रसम् ।
मेने सा सारसैः केयमुद्यताद्येति पद्मिनी ॥ ७३ ।
मनस्विनामपि मनो रागतां सृजते मधौ ।
तदोष्ठपल्लवाद्रागो जह्रे माकन्दपल्लवैः ॥ ७४ ।

मनागपि ईषदपि कदाचिदपीत्यर्थः । तपोऽवधीति वा पाठः। पृषतं बिन्दुम् ॥ ७१ ।

रोमाञ्चेति । सा धूतपापाा हैमनीर्हेमन्तर्तुःसम्बन्धिनीर्निशाः पर्यक्षिपत् सर्वतो-भावेन क्षपयामास, कथम्भूता ? रोमाञ्च एव कञ्चुकस्तनपट्टिका तद्वती । वेपमानं कम्पमानं तनुच्छदं त्वगिन्द्रियं यस्याः, सा तथा । तपसा क्षामा कृशा ॥ ७२ ।

निशीथिनीष्विति । सा धूतपापा सारसैः पुष्करैरद्य केयं पद्मिनी समुद्यतेति मेने इत्यन्वयः । किं कुर्वती ? शिशिरे शिशिरर्तौ निशीथिनीषु रात्रिषु सारसं रसं सारभूतं सम्यग्रसं तपोविषयं धर्मविषयं वा । सारसानामयं सारसस्तं रसं वा श्रयन्ती आश्रयन्ती सेवमानेति यावत् । पुष्कराह्वा हि शिशिरर्तौ रजन्यां शिशिरभवं रसं सेवन्ते इति हि प्रसिद्धम् ॥ ७३ ।

मनस्विनामिति । मनस्विनां प्रशस्तमनसां मुनीनामपि मनो मधौ वसन्ते रागतामनुरागतां सृजते सृजति गृह्णातीत्यर्थः । तदित्यव्ययं षष्ठ्यर्थे । तत्तस्याः धूतपापाया मनोगतो राग ओष्ठपल्लवादोष्ठपल्लवद्वारा बहिर्निर्गतो माकन्द-पल्लवैराम्रपल्लवैर्जह्रे हृतो गृहीतः । एतेनान्तर्बही रागाभावेन मुनिभ्योऽप्यधिका तस्यास्तपश्चर्येति ध्वनितम् ॥ ७४ ।

वह लड़की पंचाग्नि के ताप से पिपासित होकर (गर्मी में) कुशाग्रभाग से भी जलबिन्दु को कदापि नहीं पीती थी ॥ ७१ ।

रोमांच ही की चोलिया पहन कर (जाड़ा के मारे) सर्वांग से काँपती हुई वह तपःकृशा बालिका हेमन्त ऋतु की रातें बिता देती थी ॥ ७२ ।

शिशिर ऋतु की रजनियों में सरोवर के जल में बैठी हुई उसे देखकर सारस पक्षिगण यह समझने लगते थे कि आज यह कौन सी कमलिनी खिल पड़ी है ॥ ७३ ।

यद्यपि वसन्त ऋतु में तपस्वी मुनियों के भी मन में राग (उत्पन्न) हो जाता है, पर यहाँ तो आम्र के पल्लव भी उसी के ओष्ठपल्लव का राग चुराने लगे ॥ ७४ ।

वसन्ते निवसन्ती सा वने बाला चलं मनः ।
चक्रे तपस्यपि श्रुत्वा कोकिलाकाकलीरवम् ॥ ७५ ।
बन्धुजीवेऽधररुचिं कलहंसे कलागतीः ।
निक्षेपमिव सा क्षिप्त्वा शरद्यासीत्तपोरता ॥ ७६ ।
अपास्तभोगसम्पर्का भोगिनां वृत्तिमाश्रिता ।
क्षुदुद्बोधनिरोधाय धूतपापा तपस्विनी ॥ ७७ ।
शाणेन मणिवल्लीढा कृशाप्यायादनर्घताम् ।
तथापि तपसा क्षामा दिदीपे तत्तनुस्तराम् ॥ ७८ ।
निरीक्ष्य तां तपस्यन्तीं विधिः संशुद्धमानसाम् ।
उपेत्योवाच सुप्रज्ञे प्रसन्नोऽस्मि वरं वृणु ॥ ७९ ।

वसन्त इति । सा बाला धूतपापा वसन्ते मधौ वने निवसन्ती कोकिलाकाकलीरवं पिकाया मधुरध्वनिं श्रुत्वापि तपसि तपोविषये मनश्चक्रे कृतवतीत्यर्थः ॥ ७५ ।

बन्धुजीवे बन्धूके । कलहंसे कादम्बे । कलागतीर्विलाससूपागतीः ॥ ७६ ।

अपास्तेति । विरुद्धालङ्कारोऽयम् । क्षुदुद्बोधनिरासाय भोगिनां सर्पाणां वृत्तिमास्थिता आसीदिति पूर्वक्रियाया अनुषङ्गः ॥ ७७ ।

शाणेन शणसूत्रमयेन वस्त्रेण लीढा आच्छन्ना कृशातन्वी शाणेन लीढापीत्येवं वान्वयः । अनर्घतामभूल्यतामायादागतवती मणिवत् । यथा उत्कृष्टो मणिः कुत्सितवस्त्रादिना छन्नोऽतिसूक्ष्मो मलिनवस्त्रादिना छन्नोऽपि वाऽनर्घतामायाति, तद्वदित्यर्थः । तथेति वाक्यान्तरे । तस्यास्तनुः शरीरं दिदीपेतरामतिशयेन दीप्तिं

वह बालिका वसन्त में भी वनवासिनी होकर कोकिलों की कुहुक सुनते रहने पर भी तपस्या ही में मनोयोग देती थी ॥ ७५ ।

यों ही शरद् ऋतु में भी वह बालिका अपनी अधरकान्ति को दुपहरिया पुष्प के पास और अपनी मन्दगतियों को कलहंस के समीप धरोहर रखकर तपस्या ही में लगी रहती थी ॥ ७६ ।

वह तपस्विनी धूतपापा समस्त भोगों को कर क्षुधानिवारण करने के लिये वायु ही भक्षण करती थी ॥ ७७ ।

जैसे मणि शान पर चढ़ने से घिस जाने पर भी बहुमूल्य हो जाता है, वैसे ही उस का शरीर तप से कृश होकर भी अत्यन्त समुज्ज्वल हो गया था ॥ ७८ ।

इसके अनन्तर ब्रह्मा उसे शुद्ध हृदय से तपस्या करती हुई देख वहाँ जाकर बोले—"हे सुप्रज्ञे ! मैं प्रसन्न हूँ, तू वर माँग" ॥ ७९ ।

सा चतुर्वक्त्रमालोक्य हंसयानोपरिस्थितम् ।
प्रणम्य प्राञ्जलिः प्रीता प्रोवाचाऽथ प्रजापतिम् ॥ ८० ।

धूतपापोवाच–

पितामह वरो मह्यं यदिं देयो वरप्रद ।
सर्वेभ्यः पावनेभ्योऽपि कुरु मामतिपावनीम् ॥ ८१ ।
स्रष्टा तदिष्टमाकर्ण्य नितरां तुष्टमानसः ।
प्रत्युवाचाऽथ तां बालां विमलां विमलैषिणीम् ॥ ८२ ।

ब्रह्मोवाच–

धूतपापे पवित्राणि यानि सन्त्यत्र सर्वतः ।
तेभ्यः पवित्रमतुलं त्वमेधि वरतो मम ॥ ८३ ।
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च सन्ति तीर्थानि कन्यके ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च पावनान्युत्तरोत्तरम् ॥ ८४ ।
तानि सर्वाणि तीर्थानि त्वत्तनौ प्रतिलोम वै ।
वसन्तु मम वाक्येन भव सर्वातिपावनी ॥ ८५ ।

चकारेत्यर्थः । अथवा शाणेन मणिघर्षणपाषाणेन लीढा घर्षिता अत एव कृशापि मणिव्यक्तिर्यथाऽनर्घतामत्यन्तप्रकाशतामायाति, तथाऽतितपसा क्षामा तत्तनुस्त-स्यास्तनुर्दिदीपेतरामतिशयेन दीप्तिं चकारेत्यर्थः ॥ ७८ ।

विमलं निर्मलमेष्टुं शीलं यस्याः सा विमलैषिणी ताम् ॥ ८२ ।

एधि भव ॥ ८३ ।

तब तो उसने हंस के ऊपर विराजमान भगवान् चतुर्मुख को देख प्रणाम कर प्रसन्न हो हाथ जोड़ प्रजापति से यह कहा ॥ ८० ।

धूतपापा बोली–

'हे वरप्रद! पितामह! यदि मैं आपके वरदान योग्य हूँ, तो मुझे समस्त पवित्रों से अत्यन्त पवित्र कर दीजिये' ॥ ८१ ।

ब्रह्मा उसके इस मनोरथ को सुन बहुत ही सन्तुंष्ट होकर निर्मलता चाहने वाली उस पवित्र बालिका से कहने लगे ॥ ८२ ।

ब्रह्मा बोले–

हे धूतपापे ! इस संसार में जितने पवित्र हैं, तुम मेरे वरदान के प्रभाव से सबसे अधिक पवित्र हो जाओ ॥ ८३ ।

हे बेटी ! स्वर्ग और मर्त्य एवं अन्तरिक्ष इन सबों में उत्तरोत्तर पवित्र करने वाले साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं, मेरे वचन से वे सब तीर्थ तुम्हारे शरीर के प्रत्येक रोमों में वास करें और तुम सब की अपेक्षा परम पावनी हो जाओ ॥ ८४-८५ ।

इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे वेधाः साऽपि निर्धूतकल्मषा ।
धूतपापोटजं प्राप्ताऽथो वेदशिरसः पितुः ॥ ८६ ।
कदाचित्तां समालोक्य खेलन्तीमुटजाजिरे ।
धर्मस्तत्तपसाकृष्टः प्रार्थयामास कन्यकाम् ॥ ८७ ।

धर्म उवाच–

पृथुश्रोणि विशालाक्षि क्षामोदरि शुभानने ।
क्रीतः स्वरूपसम्पत्त्या त्वयाऽहं देहि मे रहः ॥ ८८ ।
नितरां बाधते कामस्त्वत्कृते मां सुलोचने ।
अज्ञातनाम्ना सा तेन प्रार्थितेत्यसकृद्ग्रहः ॥ ८९ ।
उवाच सा पिता दाता तं प्रार्थय सुदुर्मते ।
पितृप्रदेया यत्कन्या श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ९० ।

अथोऽनन्तरं पितुरुटजं पर्णशालां लक्ष्मीनृसिंहसमीपस्थां प्राप्तेत्यर्थः ॥ ८६ ।

उटजाजिरे पर्णशालाऽङ्गणे आकृष्ट आकर्षितो वशीकृत इति यावत् ॥ ८७ ।

रहो ग्राम्यधर्मम् । रतिमिति वा पाठः ॥ ८८ ॥

न ज्ञातं नाम यस्य तेन धर्मेण इत्येवं प्रकारेणासकृत्प्रार्थिता असकृत्प्रार्थने हेतुमाह यतो ग्रहः आग्रहः कामावेश इत्यर्थः ॥ ८९ ।

पितुः कन्यादातृत्वे श्रुतिं प्रमाणयति पित्रिति यद्यस्मात् ॥ ९० ।

यह कहकर ब्रह्मा अन्तर्धान हो गये और वह धूतपापा भी निर्मल होकर अपने पिता वेदशिरा मुनि की पर्णकुटी पर जा पहुँची ॥ ८६ ॥

फिर कुछ दिन के पीछे एक बार भगवान् धर्म उसकी तपस्या के वशीभूत होकर पर्णशाला के आँगन में उसे खेलती हुई देखकर प्रार्थना करने लगे ॥ ८७ ।

धर्म ने कहा–

"हे सुश्रोणि ! कृशोदरि ! शुभानने ! विशालाक्षि ! मैं तुम्हारी रूपसंपत्ति से क्रीत हो गया हुँ, मुझे एकान्त दान करो ॥ ८८ ।

अयि सुलोचने ! तुम्हारे ही लिये मुझे काम अत्यन्त बाधा दे रहा है" इस प्रकार से आग्रहपूर्वक बारम्बार एक अज्ञात कुलशील पुरुष से प्रार्थित होने पर उसने कहा–"रे दुर्मते ! मुझे दान करने वाले पिता वर्तमान हैं, तुम उन्हीं से प्रार्थना करो; क्योंकि कन्या के दान करने का पिता ही अधिकारी होता है, यह सनातन श्रुति (चली आती) है ॥ ८९-९० ।

निशम्येति वचो धर्मो भाविनोऽर्थस्य गौरवात् ।
पुनर्निर्बन्धयाञ्चक्रेऽपधृतिर्धृतिशालिनीम् ॥ ९१ ।

धर्म उवाच–

न प्रार्थयेऽहं सुभगे पितरं तव सुन्दरि ।
गान्धर्वेण विवाहेन कुरु मे त्वं समीहितम् ॥ ९२ ।
इति निर्बन्धवद्वाक्यं सा निशम्य कुमारिका ।
पितुः कन्याफलं दित्सुः पुनराहेति तं द्विजम् ॥ ९३ ।
अरे जडमते मा त्वं पुनर्ब्रूहीति याह्यतः ।
इत्युक्तोऽपि कुमार्या स नातिष्ठन्मदनातुरः ॥ ९४ ।
ततः शशाप तं बाला प्रबला तपसो बलात् ।
जडोऽसि नितरां यस्माज्जलाधारो नदो भव ॥ ९५ ।
इति शप्तस्तया सोऽथ तां शशाप क्रुधान्वितः ।
कठोरहृदये त्वं तु शिला भव सुदुर्मते ॥ ९६ ।

गौरवाद् गुरुत्वाद् बलवत्तरत्वादित्यर्थः । अपधृतिरपगतधैर्यः ॥ ९१ ।

गान्धर्वेण कन्यावरयोर्मिथः समयरूपेण ॥ ९२ ।

तब तो धर्म यह बात सुनकर अधीरता से होनहारवश फिर उस धैर्यशालिनी कन्या से हठ करने लगे ॥ ९१ ।

धर्म ने कहा–

"हे सुभगे ! मैं तुम्हारे पिता से यह प्रार्थना नहीं कर सकता, हे सुन्दरि ! तू गान्धर्व विवाह करके मेरा मनोरथ पूर्ण कर दो" ॥ ९२ ।

इस हठयुक्त वचन को सुन कुमारी धूतपापा पिता को कन्यादान का फल प्राप्त कराने की इच्छा से फिर उस ब्राह्मण से कहने लगी ॥ ९३ ।

"अरे जड़मते ! अब फिर ऐसी बात न कहना, यहाँ से चला जा;" परन्तु उस कन्या के इस कहने पर भी उस कामातुर ने कुछ नहीं माना ॥ ९४ ।

तब तो तपोबल से बलवती उस बालिका ने उसे यह शाप दिया कि "तुम बड़े भारी जड़ हो, अतएव जड़ों के आधार नद होओ" ॥ ९५ ।

तब तो शापग्रस्त हो उस ब्राह्मण ने भी क्रोधपूर्ण होकर यह शाप दिया कि– "रे दुर्मते ! कठोरहृदये ! तू भी (चेतनारहित पाषाण की) शिला हो जा" ॥ ९६ ।

स्कन्द उवास—

इत्यन्योन्यस्य शापेन मुने धर्मो नदोऽभवत् ।
अविमुक्ते महाक्षेत्रे ख्यातो धर्मनदो महान् ॥ ९७ ।
साप्याह पितरं त्रस्ता स्वशिलात्वस्य कारणम् ।
ध्यानेन धर्मं विज्ञाय मुनिः कन्यामथाब्रवीत् ॥ ९८ ॥
मा भैः पुत्रि करिष्यामि तव सर्वं शुभोदयम् ।
तच्छापो नान्यथा भूयाच्चन्द्रकान्तशिला भव ॥ ९९ ।
चन्द्रोदयमनुप्राप्य द्रवीभूततनुस्ततः ।
धुनी भव सुते साध्वि धूतपापेति विश्रुता ॥ १०० ।
स च धर्मनदः कन्ये तव भर्ता सुशोभनः ।
तैर्गुणैः परिपूर्णाङ्गो ये गुणाः प्रार्थितास्त्वया ॥ १०१ ।
अन्यच्च शृणु सद्बुद्धे ममापि तपसो बलात् ।
द्वैरूप्यं भवतोर्भावि प्राकृतं च द्रवं च वै ॥ १०२ ।

मा भैर्मा भैषीः ॥ ९९ ।

धुनी नदी ॥ १०० ।

स्कन्द ने कहा—

हे मुनिवर ! इस प्रकार परस्पर के शाप से धर्म नद हो गया, जो कि अविमुक्त महाक्षेत्र में धर्मनद नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ९७ ।

और वह धूतपापा भी डरती हुई अपने पिता से जाकर अपने शिला होने का कारण कहने लगी । तुरन्त ही मुनि ने ध्यानबल से धर्म की सब बातें जानकर कन्या से कहा ॥ ९८ ।

अयि पुत्रि ! तुम मत डरो, मैं तुम्हारा सब प्रकार से कल्याण ही करूँगा । उसका शाप तो वृथा नहीं हो सकता, पर तुम चन्द्रकान्तमणि की शिला हो जाओ ॥ ९९ ।

हे साध्वि ! चन्द्रोदय होने पर तुम्हारी शिला शरीर द्रवीभूत हो जावेगी । हे बेटी ! तब तुम धूतपापा नाम से विख्यात नदी होगी ॥ १०० ।

अयि कन्ये ! वह धर्मनद ही तुम्हारे अनुरूप भर्ता है; क्योंकि तुमने जिन-जिन गुणों की प्रार्थना की थी, यही उन सब से परिपूर्ण है ॥ १०१ ।

हे सद्बुद्धे ! और भी सुनो, मेरे भी तप के प्रभाव से तुम्हारा एक तो प्राकृत और दूसरा द्रवरूप होगा ॥ १०२ ।

इत्याश्वास्य पिता कन्यां धूतपापां परन्तप ।
चन्द्रकान्तशिला भूता मनुजग्राहबुद्धिमान् ॥ १०३ ।
तदारभ्य मुने काश्यां ख्यातो धर्मनदो ह्रदः ।
धर्मो द्रवस्वरूपेण महापातकनाशनः ॥ १०४ ॥
धुनी च धूतपापा सा सर्वतीर्थमयी शुभा ।
हरेन्महाघसंघातान् कूलजानिव पादपान् ॥ १०५ ।
तत्र धर्मनदे तीर्थे धूतपापासमन्विते ।
यदा न स्वर्धुनी तत्र तदा ब्रध्नस्तपो व्यधात् ॥ १०६ ।
गभस्तिमाली भगवान् गभस्तीश्वरसन्निधौ ।
शीलयन्मङ्गलां गौरीं तप उग्रं चचार ह ॥ १०७ ।
नाम्ना मयूखादित्यस्य तीर्थे तत्र तपस्यतः ।
किरणेभ्यः प्रववृते महास्वेदोऽतिखेदतः ॥ १०८ ।
किरणेभ्यः प्रवृत्ता या महास्वेदस्य सन्ततिः ।
ततः सा किरणा नाम जाता पुण्या तरङ्गिणी ॥ १०९ ।
महापापान्धतमसं किरणाख्या तरङ्गिणी ।
ध्वंसयेत्स्नानमात्रेण मिलिता धूतपापया ॥ ११० ।

शीलयन् ध्यायन् ॥ १०७ ।

हे परंतप, इस भाँति से बुद्धिमान् पिता वेदशिरा मुनि ने अपनी कन्या धूतपापा को जो कि चन्द्रकान्त शिला हो गई, अनुगृहीत किया ॥ १०३ ।

हे अगस्त्य ऋषि ! तभी से काशीपुरी में धर्मनद नामक ह्रद प्रख्यात हुआ, महापातकनाशक वह द्रवरूपी धर्मनद और सर्वतीर्थमयी शुभरूपा धूतपापा नदी तट पर के वृक्षों की तरह घोर पापराशियों को विनष्ट करते रहते हैं ॥ १०४-१०५ ।

फिर जब कि गंगा नहीं थी, तभी धूतपापा से मिले हुए धर्मनदतीर्थ पर सूर्य ने तप किया ॥ १०६ ।

वहाँ पर भगवान् गभस्तिमाली गभस्तीश्वर के समीप में ही श्रीमंगलागौरी की आराधना करते हुए बड़ी उग्र तपस्या करने लगे थे ॥ १०७ ।

उस तीर्थ में तप करने वाले मयूखादित्य नामक सूर्य के किरणों से मारे परिश्रम के बड़ा स्वेद (पसीना) बह चला था ॥ १०८ ।

इसके अनन्तर किरणों से निकलने के कारण उस बड़े स्वेद की धारा से एक किरणा नामक पवित्र नदी होकर बह चली ॥ १०९ ।

यह किरणा नाम्नी नदी धूतपापा नदी में मिल जाने से स्नान करने मात्र से समस्त पापान्धकार का ध्वंस कर डालती है ॥ ११० ।

आदौ धर्मनदः पुण्यो मिश्रितो धूतपापया ।
यया धूतानि पापानि सर्वतीर्थीकृतात्मना ॥ १११ ।
ततोऽपि मिलितागत्य किरणा रविणैधिता ।
यन्नामस्मरणादेव महामोहोऽन्धतां व्रजेत् ॥ ११२ ।
किरणाधूतपापे च तस्मिन् धर्मनदे शुभे ।
स्त्रवन्त्यौ पापसंहर्त्र्यौ वाराणस्यां शुभद्रवे ॥ ११३ ।
ततो भागीरथी प्राप्ता तेन दैलीपिना सह ।
भागीरथी समायाता यमुना च सरस्वती ॥ ११४ ।
किरणा धूतपापा च पुण्यतोया सरस्वती ।
गङ्गा च यमुना चैव पञ्चनद्योऽत्र कीर्तिताः ॥ ११५ ।

सर्वतीर्थीकृत आत्मा यया सा तथा तया सर्वतीर्थीकृतात्मना ॥ १११ ।

एधिता वर्धिता सम्पादितेत्येतत् । अन्धतां स्वकार्याक्षमताम् ॥ ११२ ।

किरणेति । किरणाधूतपापेच धौते तस्मिन् धर्मनदे तस्थुरिति शेषः ॥ ११३ ।

दैलीपिना भगीरथेन ॥ ११४ ।

अत्राऽविमुक्ते । प्रकीर्तिता इति क्वचित्पाठः ॥ ११५ ।

जो धूतपापा सर्वतीर्थमयी होकर सब पापों को कँपा देती है, पहले तो उसमें पुण्य धर्मनद जा मिला ॥ १११ ।

फिर जिसका नाम सुमिरते ही महामोह जाल भी फट जाता है, वहीं सूर्य की बनाई हुई किरणा भी आकर मिल गयी ॥ ११२ ।

काशी के उस पवित्र धर्मनद में पापहंत्री किरणा और धूतपापा ये दोनों ही शुभद्रवा नदियाँ स्रवती ही रहती हैं ॥ ११३ ।

इसके पीछे दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ के साथ भगीरथी भी वहाँ पर आ पहुँची और गंगा ही के सहित यमुना और सरस्वती भी वहाँ आ गईं ॥ ११४ ।

यहाँ पर पवित्रजला किरणा, धूतपापा, सरस्वती, यमुना और गंगा ये ही पाँचों नदियाँ कही जाती हैं[1] ॥ ११५ ।

---

1. कार्तिकमास में पंचगंगा (गंगा-नदी) में स्नान के समय के मन्त्र में पंचनदियों के नाम इस प्रकार हैं–
'किरणा धूतपापा च पुण्यतोया सरस्वती । गङ्गा च यमुना चैव पञ्चनद्यः पुनन्तु माम्' ॥

अतः पञ्चनदं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
तत्राप्लुतो न गृह्णीयादेहं ना पाञ्चभौतिकम् ॥ ११६ ।
अस्मिन् पञ्चनदीनां च संभेदेऽघौघभेदिनि ।
स्नानमात्रात्प्रयात्येव भित्त्वा ब्रह्माण्डमण्डपम् ॥ ११७ ।
तीर्थानि सन्ति भूयांसि काश्यामत्र पदे पदे ।
न पञ्चनदतीर्थस्य कोट्यंशेन समान्यपि ॥ ११८ ।
प्रयागे माघमासे तु सम्यक् स्नातस्य यत्फलम् ।
तत्फलं स्याद्दिनैकेन काश्यां पञ्चनदे ध्रुवम् ॥ ११९ ।
स्नात्वा पञ्चनदे तीर्थे कृत्वा च पितृतर्पणम् ।
बिन्दुमाधवमभ्यर्च्य न भूयोजन्मभाग्भवेत् ॥ १२० ।
यावत्संख्यास्तिला दत्ताः पितृभ्यो जलतर्पणे ।
पुण्ये पञ्चनदे तीर्थे तृप्तिः स्यात्तावदाब्दिकी ॥ १२१ ।
श्रद्धया यैः कृतं श्राद्धं तीर्थे पञ्चनदे शुभे ।
तेषां पितामहा मुक्ता नानायोनिगता अपि ॥ १२२ ।

ना पुरुषः ॥ ११६ ।
कोट्यंसेनापीत्यन्वयः ॥ ११८ ।

(पंचगंगा और वहाँ स्नान का माहात्म्य)

इसी कारण से यह पंचनदतीर्थ त्रैलोक्य में प्रसिद्ध है। उस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को फिर कभी पंचभूतों से बना हुआ देह नहीं धरना पड़ता ॥ ११६ ।

पापपुंजभंजक इस पंचनदी के संगम में केवल स्नान करने ही से मनुष्य ब्रह्माण्ड-मंडप भेदकर चला जाता है ॥ ११७ ।

यद्यपि काशी में पद-पद पर बहुतेरे तीर्थ पड़े हैं; परन्तु इस पंचनद तीर्थ के कोटि अंश के समान नहीं हैं ॥ ११८ ।

प्रयागराज में माघ मास भर स्नान करने से जो फल प्राप्त होता है, काशी के इस पंचनदतीर्थ में केवल एक दिन ही नहा लेने से भी वही फल निश्चय मिल जाता है ॥ ११९ ।

पंचनदतीर्थ में स्नान और पितरों का तर्पण करके श्रीबिन्दुमाधव का पूजन करने से फिर जन्मभागी नहीं होना पड़ता ॥ १२० ।

पवित्र पंचनदतीर्थ में जल से तर्पण करते समय पितरों के निमित्त जितने तिल दिये जाते हैं, उतने ही वर्ष के लिए उनकी तृप्ति हो जाती है ॥ १२१ ।

इस शुभप्रद पंचनदतीर्थ पर जो लोग श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करते हैं, उनके पितर लोग अनेक योनियों में पड़े रहने पर भी मुक्त हो जाते हैं ॥ १२२ ।

यमलोके पितृगणैर्गाथेयं परिगीयते ।
महिमानं पाञ्चनदं दृष्ट्वा श्राद्धविधानतः ॥ १२३ ।
अस्माकमपि वंश्योऽत्र कश्चिच्छ्राद्धं करिष्यति ।
काश्यां पञ्चनदं प्राप्य येन मुच्यामहे वयम् ॥ १२४ ।
इयं गाथा प्रतिदिनं श्राद्धदेवस्य सन्निधौ ।
पितृभिः परिगीयेत काश्यां पञ्चनदं प्रति ॥ १२५ ।
तत्र पञ्चनदे तीर्थे यत्किञ्चिद्दीयते वसु ।
कल्पक्षयेऽपि न भवेत्तस्य पुण्यस्य संक्षयः ॥ १२६ ।
वन्ध्यापि वर्षपर्यन्तं स्नात्वा पञ्चनदे ह्रदे ।
समर्च्य मङ्गलां गौरीं पुत्रं जनयति ध्रुवम् ॥ १२७ ।
जलैः पाञ्चनदैः पुण्यैर्वाससा परिशोधितैः ।
महाफलमवाप्नोति स्नपयित्वेष्टदेवताम् ॥ १२८ ।
पञ्चामृतानां कलशैरष्टोत्तरशतोन्मितैः ।
तुलितोऽधिकतां यातो बिन्दुः पाञ्चनदाम्भसः ॥ १२९ ।

पितृगण श्राद्धविधान में पंचनद की महिमा देखकर यमलोक में भी यह गाथा गाते रहते हैं ॥ १२३ ।

वे कहते हैं—"हमारे लोगों के वंश का भी कोई न कोई काशी के इस पंचनदतीर्थ में श्राद्ध कर देगा, तो हम सब भी मुक्त हो जावेंगे" ॥ १२४ ।

यह गाथा (कहावत) प्रतिदिन श्राद्धदेव (यमराज) के समीप में पितरलोग काशी के पंचनदतीर्थ के विषय में गाते ही रहते हैं ॥ १२५ ।

इस पंचनदतीर्थ पर जो कुछ धन-दान किया जाता है, कल्पपर्यन्त उस पुण्य का कभी क्षय नहीं होता ॥ १२६ ।

पंचनदह्रद में स्नान कर वर्षभर मंगलागौरी की पूजा करने से वन्ध्या स्त्री को भी निश्चय ही पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १२७ ।

कपड़े से छाने हुए पवित्र पंचनदतीर्थ के जल से अपने इष्टदेवता को नहलाने से बड़ा ही फल प्राप्त होता है ॥ १२८ ।

पंचामृत के एक सौ आठ भरे हुए घड़ों से तौल करने पर इस पंचनदतीर्थ का एक बूँद जल ही अधिक हुआ था ॥ १२९ ।

पञ्चकूर्चेन पीतेन याऽत्र शुद्धिरुदाहृता ।
सा शुद्धिः श्रद्धया प्राश्य बिन्दुं पाञ्चनदाम्भसः ॥ १३० ।
भवेदवभृथस्नानाद्राजसूयाश्वमेधयोः ।
यत्फलं तच्छतगुणं स्नानात् पाञ्चनदाम्भसा ॥ १३१ ।
राजसूयाश्वमेधौ च भवेतां स्वर्गसाधनम् ।
आब्रह्मघटिकाद्वन्द्वं मुक्त्यै पाञ्चनदाप्लुतिः ॥ १३२ ।
स्वर्गराज्याभिषेकोऽपि न तथा संमतः सताम् ।
अभिषेकः पाञ्चनदो यथानल्पसुखप्रदः ॥ १३३ ।
वरं वाराणसीं प्राप्य भृत्यः पञ्चनदोक्षिणाम् ।
नान्यत्र सेवकीभूतभूपकोटिर्नरेश्वरः ॥ १३४ ।

पञ्चकूर्चेन पञ्चगव्येन ॥ १३० ।

आब्रह्मघटिकाद्वन्द्वं ब्रह्ममुहूर्तद्वयमभिव्याप्य सीमानं कृत्वेति वा । पञ्चनदाप्लुतिस्तत्स्नानं मुक्तये । आब्रह्मघटिकाद्वन्द्वमित्यस्य पूर्वेण वा सम्बन्धः ॥ १३२ ।

पञ्चनदोक्षिणां पाञ्चनदजलसेकवताम् । पञ्चनदेक्षिणामिति पाठे तत्पश्यताम् ॥ १३४ ।

संसार में पंचगव्य पीने से जो शुद्धि कही गयी है, श्रद्धापूर्वक पंचनद के एक बूँद जल पी लेने से भी वही पवित्रता हो जाती है ॥ १३० ॥

राजसूय और अश्वमेध यज्ञ (के अन्त) में अवभृथस्नान करने से जो फल मिलता है, पंचनद के जल से स्नान करने पर वही फल सौ गुना हो जाता है ॥ १३१ ।

क्योंकि राजसूय और अश्वमेध यज्ञ तो ब्रह्मा की दो घड़ी भर के लिये स्वर्ग-साधन हो सकते हैं, पर पंचनद का स्नान तो मुक्ति ही का साधन हो जाता है ॥ १३२ ।

स्वर्ग के राज्य का भी अभिषेक सज्जनों को वैसा संमत नहीं है, जैसा कि महासुखदायी पंचनदतीर्थ में स्नान करनेवाले का सेवक होना बहुत ही अच्छा है ॥ १३३ ।

वाराणसी पुरी में जाकर पंचनदतीर्थ में स्नान करनेवाले का सेवक होना बहुत ही अच्छा है, पर दूसरे किसी स्थान में सेवक बने हुए करोड़ों राजाओं का अधीश्वर होकर रहना भी अच्छा नहीं है ॥ १३४ ।

यैर्न पञ्चनदे स्नातं कार्तिके पापहारिणि ।
तेऽद्यापि गर्भे तिष्ठन्ति पुनस्ते गर्भवासिनः ॥ १३५ ।
कृते धर्मनदं नाम त्रेतायां धूतपापकम् ।
द्वापरे बिन्दुतीर्थं च कलौ पञ्चनदं स्मृतम् ॥ १३६ ।
शतं समास्तपस्तप्त्वा कृते यत्प्राप्यते फलम् ।
तत्कार्तिके पञ्चनदे सकृत्स्नानेन लभ्यते ॥ १३७ ।
इष्टापूर्त्तेषु धर्मेषु यावज्जन्मकृतेषु यत् ।
अन्यत्र स्यात्फलं तत्स्यादूर्जे धर्मनदाप्लवात् ॥ १३८ ।
न धूतपापसदृशं तीर्थं क्वापि महीतले ।
यदेकस्नानतो नश्येदघं जन्मत्रयार्जितम् ॥ १३९ ।
बिन्दुतीर्थे नरो दत्वा काञ्चनं कृष्णलोन्मितम् ।
न दरिद्रो भवेत् क्वापि न स्वर्णेन वियुज्यते ॥ १४० ।

इष्टानि अन्तर्वेद्यां दीयमानानि पूर्तानि वापीकूपतडागादिनिर्माणानि तेषु कृतेष्वन्यत्र यत्फलं स्यात्तद्धर्मनदाप्लवात्स्यादित्यन्वयः ॥ १३८ ।

कृष्णलोन्मितं रक्तिकापरिमाणम् ॥ १४० ।

जो लोग कार्तिकमास में पापहारी पंचनदतीर्थ में स्नान नहीं करते, वे आज तक गर्भ में वास कर रहे हैं और वे फिर भी गर्भवासी ही बने रहेंगे ॥ १३५ ।

(मानो) यह तीर्थ सत्ययुग में धर्मनद, त्रेता में धूतपापक, द्वापर में बिन्दुतीर्थ और कलियुग में पंचनद नाम से कहा गया है ॥ १३६ ।

सत्ययुग में सैकड़ों वर्ष तपस्या करने से जो फल मिलता है, कार्तिक मास के मध्य एक बार भी पंचनद में स्नान कर लेने से वह फल प्राप्त हो जाता है ॥ १३७ ।

अन्यत्र यज्ञ और कूँआ, बावली आदि धर्मकार्य यावज्जीवन करते रहने से जो पुण्य होता है, कार्तिक मास में केवल एक बार ही धर्मनद में स्नान करने पर वह मिल जाता है ॥ १३८ ।

धूतपापा के समान कोई भी तीर्थ भूतल में कहीं नहीं है, जो केवल एक ही बार स्नान करने से तीन जन्म के संचित पापों को विनष्ट कर डालता हो ॥ १३९ ।

जो कोई बिन्दुतीर्थ में एक घुँघचीभर भी (रत्ती भर भी) सुवर्ण दान करता है, वह न तो दरिद्री होता है और न कभी सुवर्ण ही से हीन रहता है ॥ १४० ।

गोभूतिलहिरण्याश्वावासोऽन्नस्रग्विभूषणम् ।
यत्किञ्चिद्बिन्दुतीर्थेऽत्र दत्वाऽक्षयमवाप्नुयात् ॥ १४१ ।
एकामप्याहुतिं दत्वा समिद्धेऽग्नौ विधानतः ।
पुण्ये धर्मनदे तीर्थे कोटिहोमफलं लभेत् ॥ १४२ ।
न पञ्चनदतीर्थस्य महिमानमनन्तकम् ।
कोऽपि वर्णयितुं शक्तश्चतुर्वर्गशुभौकसः ॥ १४३ ।
श्रुत्वाख्यानमिदं पुण्यं श्रावयित्वाऽपि भक्तितः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोके महीयते ॥ १४४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे पञ्चनदाविर्भावो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ।

कोऽपि ब्रह्माऽपि यः कश्चिदिति वा ॥ १४३ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ।

इस बिन्दुतीर्थ में गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, घोड़ा, कपड़ा, अन्न, माला, गहना इत्यादि जो कुछ दिया जावे, वह सब अक्षय होता है ॥ १४१ ।

पवित्र धर्मनद तीर्थ पर विधानपूर्वक प्रज्ज्वलित अग्नि में एक भी आहुति देने से कोटि होम का फल प्राप्त होता है ॥ १४२ ।

चतुर्वर्ग के शुभस्थान पंचनदतीर्थ की अपारमहिमा का वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ १४३ ।

इस पवित्र आख्यान को भक्तिपूर्वक सुनने और सुनाने से मनुष्य सब पापों से छूटकर विष्णुलोक में जाता है ॥ १४४ ।

दोहा—**कहेउ पंचनद तीर्थ जो, सो पँचगंगा घाट ।**
काशी में विख्यात है, सीढ़िन को बड़ ठाट ॥ १ ॥
कातिक मास पुनीत में, रात याम अवशिष्ट ।
नर नारी न्हावें वहाँ, मेला होत विशिष्ट ॥ २ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां पंचनदप्रादुर्भाववर्णनं नामोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

॥ अथ षष्टितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

उक्ता पञ्चनदोत्पत्तिर्मित्रावरुणनन्दन ।
इदानीं कथयिष्यामि माधवाविष्कृतिं पराम् ॥ १ ॥
यां श्रुत्वा श्रद्धया धीमान् पापेभ्यो मुच्यते क्षणात् ।
न च श्रिया वियुज्येत संयुज्येत वृषेण च ॥ २ ॥
आगत्य मन्दरादद्रेरुपेन्द्रश्चन्द्रशेखरम् ।
आपृच्छ्य तार्क्ष्यरथगः क्षणाद्वाराणसीं पुरीम् ॥ ३ ॥
दिवोदासं महीपालं समुच्चाट्य स्वमायया ।
स्थित्वा पादोदके तीर्थे केशवाख्यस्वरूपतः ॥ ४ ॥
महिमानं परं काश्यां विचार्य सुविचार्य च ।
दृष्ट्वा पञ्चनदं तीर्थं परां मुदमवाप ह ॥ ५ ॥
उवाच च प्रसन्नात्मा पुण्डरीकविलोचनः ।
अगण्या अपि वैकुण्ठगुणा विगणिता मया ॥ ६ ॥

अथ षष्टितमेऽध्यायेऽविमुक्ते मोक्षधामनि ।
माधवाविष्कृतिः पुण्या वर्ण्यतेऽतिमनोहरा ॥ १ ॥

(श्रीबिन्दुमाधव की कथा)

स्कन्द कहने लगे–

हे मित्रावरुणनन्दन ! मैं पंचनदतीर्थ की उत्पत्ति-कथा कह चुका, अब बिन्दुमाधव के प्रकट होने की कथा का वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

जिस कथा को श्रद्धापूर्वक सुनने से बुद्धिमान् जन क्षणभर में सब पापों से मुक्त हो जाता है और कभी लक्ष्मी से हीन नहीं होता; परं च उस कथा के कहने-सुनने से धर्म से परिपूर्ण बना रहता है ॥ २ ॥

जब महादेव की आज्ञा पाकर भगवान् विष्णु गरुड़ पर चढ़ क्षणमात्र में मन्दराचल से वाराणसी पुरी में आ पहुँचे, तब अपने मायाजाल से वहाँ के राजा दिवोदास का उच्चाटन कर, पादोदकतीर्थ पर केशवरूप से टिक काशी की अपार महिमा विचारते-विचारते पंचनदतीर्थ को देखकर अत्यन्त आंनन्दित हुए ॥ ३-५ ॥

प्रसन्नचित्त होकर पुंडरीकाक्ष यह कहने लगे–'मुझे तो अगणित गुणों से पूर्ण वैकुंठलोक भी गुणहीन ही जान पड़ता है ॥ ६ ॥

क्व क्षीरनीरधौ सन्ति तावन्तो निर्मला गुणाः ।
यावन्तो विजयन्तेऽत्र काश्यां पञ्चनदे ह्रदे ॥ ७ ।
श्वेतद्वीपेऽपि सामग्री क्व गुणानां गरीयसी ।
ईदृशी यादृशी काश्यां धूतपापेऽस्ति पावनी ॥ ८ ।
मुदे कौमोदकीस्पर्शस्तथा न मम जायते ।
धूतपापाम्बुसम्पर्को यथा भवति सर्वथा ॥ ९ ।
न क्षीरनीरधिजया सुखं मे श्लिष्टगात्रया ।
तथा भवेद्यथाऽत्र स्यात्स्पृष्टया धूतपापया ॥ १० ।
इत्थं पञ्चनदे तीर्थे क्षीरनीरधिजाधवः ।
सम्प्रेष्य तार्क्ष्यं त्र्यक्षाग्रे वृत्तान्तं विनिवेदितुम् ॥ ११ ।
आनन्दकाननभवं दिवोदासक्षमापतेः ।
संवर्णयन् गुणग्रामं पुण्यं पाञ्चनदोद्भवम् ॥ १२ ॥
सुखोपविष्टः संहृष्टः सुदृष्टिर्विष्टरश्रवाः ।
दृष्टवांस्तपसा जुष्टमपुष्टाङ्गं तपोधनम् ॥ १३ ।

धूतपापे तीर्थे ॥ ८ ।

मुदे हर्षाय ॥ ९ ।

विष्टं व्याप्तिं राति कीर्तयतीति विष्टरा याज्ञवल्क्यादयः, तेभ्यः श्रूयते विष्टरे शब्दप्रपञ्चमये वेदे श्रूयत इति वा विष्टरश्रवाः। विष्टरे स्वच्छे श्रवसी श्रवणे यस्येति मधुमाधव्याममरटीकायाम् ॥ १३ ।

फिर क्षीर समुद्र में (भला) उतने निर्मल गुण कहाँ हैं, जितने कि काशी के इस पंचनद तीर्थ में विराजमान हैं ॥ ७ ।

और श्वेतद्वीप में तो इतने बड़े गुणों की सामग्री हुई नहीं है, जितनी काशी के परम पवित्र इस धूतपापा में वर्तमान रहती है ॥ ८ ।

मुझे तो अपनी कौमोदकी गदा का स्पर्श वैसा आनन्द नहीं देता, जैसा कि धूतपापा के जल छू जाने पर सर्वथा आनन्द मिलता है ॥ ९ ।

यहाँ पर तो धूतपापा का जलस्पर्श करने से जो सुख मुझे मिलता है, वह साक्षात् क्षीरसागर की कन्या लक्ष्मीदेवी के आलिंगन में भी नहीं होता ॥ १० ।

यही सब सोचते-विचारते हुए महादेव के पास वृत्तान्त निवदेन करने के लिये गरुड़ को भेजकर, आनन्दवन काशी, राजा दिवोदास और पंचनदतीर्थ के पवित्र गुणग्रामों का वर्णन करने लगे। तत्पश्चात् भगवान् माधव ने पंचनदतीर्थ पर सुखपूर्वक बैठकर संहृष्टचित्त से सुदृष्टिसम्पन्न हो, तपस्या में लगे हुए दुर्बल देह एक तपोधन को देखा ॥ ११-१३ ।

स ऋषिस्तं समभ्येत्य पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
उपोपविष्टकमलं वनमालाविराजितम् ॥ १४ ।
शंखपद्मगदाचक्रचञ्चत्करचतुष्टयम् ।
कौस्तुभोद्भासितोरस्कं पीतकौशेयवाससम् ॥ १५ ।
सुनीलेन्दीवररुचिं सुस्निग्धमधुराकृतिम् ।
नाभीह्रदलसत्पद्मं सुपाटलरदच्छदम् ॥ १६ ।
दाडिमीबीजदशनं किरीटद्योतिताम्बरम् ।
देवेन्द्रवन्दितपदं सनकादिपरिष्टुतम् ॥ १७ ।
दिव्यर्षिभिर्नारदाद्यैः परिगीतमहोदयम् ।
प्रह्लादाद्यैर्भागवतैः परिनन्दितमानसम् ॥ १८ ।
धृतशार्ङ्गधनुर्दण्डं दण्डिताखिलदानवम् ।
मधुकैटभहन्तारं कंसविध्वंससूचकम् ॥ १९ ।

उपोपविष्टकमलमिति उपसर्गस्य द्विर्वचनम् । तथा च श्रूयते—

प्रप्रपूज्य महादेवं संसंयम्य मनः सदा ।
उपोपहाय संसर्गमुदुद्गतः स तापसः ॥ इत्यादि ।

उपविष्टं कमलं येन स तथा तम् । यद्वा, उप समीपे उपविष्टा कमला लक्ष्मीर्यस्य तम् ॥ १४ ।

चञ्चच्छब्दः स्फुरणार्थः ॥ १५ ।

सुपाटलरदच्छदं शोभनपाटलपुष्पवदोष्ठम् ॥ १६ ।

वह ऋषि पुंडरीकाक्ष भगवान् अच्युत के समीप जाकर लक्ष्मी के सहित विराजमान, वनमाला से सुशोभित, चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म को धारण किये, कौस्तुभ मणि के द्वारा भासमान हृदय, पीताम्बर को पहने हुए, सुन्दर नीलकमल के समान वर्ण, अतिमधुर मनोहर रूप, नाभिरूपी ह्रद में पद्म से शोभायमान, अत्यन्त पाटल (गुलाबी) रंग के ओठ से भूषित, अनारदाने के समान दन्तपंक्ति से युक्त, किरीट से आकाश को प्रकाशित करते हुए उनको देखने लगे, जिनके चरणों की वन्दना स्वयं देवराज इन्द्र कर रहे हैं, सनकादि ऋषिगण स्तुति-गान में लगे हैं ॥ १४-१७ ।

उन्होंने देखा कि नारद इत्यादि दिव्य मुनिवृन्द महोदय उनकी महिमा की कथा गा रहे हैं, प्रह्लाद प्रभृति भगवद्भक्तगण उनके मन को प्रसन्न कर रहे हैं ॥ १८ ।

वे 'शार्ङ्ग' नामक धनुष के धारणकर्ता हैं और अशेष दानवों के दंडदाता हैं । मधु-कैटभ के हन्ता और कंस के विध्वंसकर्ता हैं ॥ १९ ।

कैवल्यं यत्परं ब्रह्म निराकारमगोचरम् ।
तं पुंमूर्त्या परिणतं भक्तानां भक्तिहेतुतः ॥ २० ॥
वेदा विदुर्यदाकारं नैवोपनिषदोदितम् ।
ब्रह्माद्या न च गीर्वाणाश्चक्रे नेत्रातिथिं स तम् ॥ २१ ॥
प्रणनाम मुदा युक्तः क्षितिविन्यस्तमस्तकः ।
स ऋषिस्तं हृषीकेशमग्निबिन्दुर्महातपाः ॥ २२ ॥
तुष्टाव परया भक्त्या मौलिबद्धकराञ्जलिः ।
अध्यस्तविस्तीर्णशिलं बलिध्वंसिनमच्युतम् ॥ २३ ॥
तत्र पञ्चनदाभ्यासे मार्कण्डेयादिसेविते ।
गोविन्दमग्निबिन्दुः स स्तुतवांस्तुष्टमानसः ॥ २४ ॥

अग्निबिन्दुरुवाच—

ओं नमः पुण्डरीकाक्ष बाह्यान्तःशौचदायिने ।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ २५ ॥

वेदाः कर्मोपासनविषया उपनिषदोदितं विद्यैकसमधिगम्यं नैव विदुः ॥ २१ ।

अध्यस्तविस्तीर्णशिलमाश्रितबृहत्पाषाणम् ॥ २३ ।

पद्यैरेकोनविंशत्या भक्त्या परमया मुदा ।
अस्तौषीन्माधवं देवमग्निबिन्दुर्द्विजोत्तमः ॥ १ ॥

वे कैवल्यरूप परंब्रह्म निराकार और वचन-मन के अगोचर होने पर भी भक्तों के भक्तिहेतु से पुरुषरूप में परिणत हो गये हैं ॥ २० ।

वेदगण उपनिषद् के द्वारा कहने पर भी जिसके रूप को नहीं जान सके और न ब्रह्मादिक देवताओं ने ही जाना, उसका उस ऋषि ने साक्षात् अपनी आँखों से दर्शन कर लिया ॥ २१ ।

फिर तो महातपस्वी अग्निबिन्दु ऋषि बड़े ही हर्षित हो उठे । उन्होंने पृथिवी पर माथा टेककर भगवान् माधव को प्रणाम किया ॥ २२ ।

और वे विस्तीर्ण शिलातल पर विराजमान बलिविध्वंसक भगवान् अच्युत की बड़ी भक्ति के साथ हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ॥ २३ ।

वहाँ पर मार्कण्डेय इत्यादि मुनियों से सेवित पंचनद तीर्थ के समीप ही में सन्तुष्टचित्त होकर अग्निबिन्दु ऋषि ने इस प्रकार से स्तुति को आरंभ किया ॥ २४ ।

अग्निबिन्दु बोले—

हे पुण्डरीकाक्ष ! आप बाहर और भीतर की शुद्धि के प्रदाता हैं, आप सहस्रशीर्ष, सहस्रनेत्र और सहस्रचरण पुरुष हैं, आपको नमस्कार है ॥ २५ ।

नमामि ते पदद्वन्द्वं सर्वद्वन्द्वनिवारकम् ।
निर्द्वन्द्वया धिया विष्णो जिष्ण्वादिसुरवन्दित ॥ २६ ।
यं स्तोतुं नाधिगच्छन्ति वाचो वाचस्पतेरपि ।
तमीष्टे क इह स्तोतुं भक्तिरत्र बलीयसी ॥ २७ ।
अपि यो भगवानीशो मनःप्राचामगोचरः ।
स मादृशैरल्पधीभिः कथं स्तुत्यो वचःपरः ॥ २८ ।
यं वाचो न विशन्तीशं मनतीह मनो न यम् ।
मनोगिरामतीतं तं कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् ॥ २९ ।

बाह्यान्तरिति । तथा चोक्तम्–

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।

यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ इति ।

पुरुषसूक्ताद्यृचोऽर्धेन स्तौति । सहस्रेति । सहस्रशीर्षादिकं च सर्वात्मकत्वाज्ज्ञातव्यम् । गीतोक्तविश्वरूपशरीरग्रहणाद्वा । क्षीराब्धिशायिश्रीनारायणचिद्घनलीलाशरीरपरिग्रहणाद्वा ॥ २५ ।

द्वन्द्वशब्देनात्राध्यात्मिकादितापत्रितयं गृह्यते । निर्द्वन्द्वयाऽप्रतिबद्धयाऽकुण्ठितयेति यावत् ॥ २६ ।

मनसः प्राचां ब्रह्मादीनाम् । मनो वाचामिति क्वचित् ॥ २८ ।

यं वाच इति । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः ॥ २९ ।

हे इन्द्रादिकदेवगणवन्दित ! विष्णो ! मैं निर्द्वन्द्व (एकाग्र) बुद्धि से सर्वविध द्वन्द्व (अर्थात् धर्माधर्म, पापपुण्य, सुखदुःख इत्यादि) के निवारक आपके पदद्वन्द्व को प्रणाम करता हूँ ॥ २६ ।

वाचस्पति की वाणी भी जिसकी स्तुति नहीं करना जानती, भला उसकी बड़ाई कौन कर सकता है ? तब फिर (जो स्तुति की जाती है, उसमें) भक्ति ही का भरोसा रहता है ॥ २७ ।

जो ईश्वर प्राचीन लोगों के भी मनोगोचर नहीं हो सके, वे ही वाणी की शक्ति से परे रहने के कारण मेरे ऐसे छोटी बुद्धिवालों के द्वारा कैसे स्तुति करने योग्य हो सकते हैं ? ॥ २८ ।

जहाँ पर वाणियों की गति ही नहीं है और मन ही जिसे मनन कर सकता है, उस मन-वचन से अतीत ईश्वर की स्तुति-गान करने के लिए किसकी शक्ति है ? ॥ २९ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः ।
तस्य देवस्य महिमा महान् कैरवगम्यते ॥ ३० ॥
अतन्द्रितमनोबुद्धीन्द्रिया यं सनकादयः ।
ध्यायन्तोऽपि हृदाकाशे न विन्दन्ति यथार्थतः ॥ ३१ ॥
नारदाद्यैर्मुनिवरैराबालब्रह्मचारिभिः ।
गीयमानचरित्रोऽपि न सम्यग् योऽधिगम्यते ॥ ३२ ॥
तं सूक्ष्मरूपमजमव्ययमेकमाद्यं
ब्रह्माद्यगोचरमजेयमनन्तशक्तिम् ।
नित्यं निरामयममूर्तमचिन्त्यमूर्तिं
कस्त्वां चराचरचराचरभिन्न वेत्ति ॥ ३३ ॥

यस्येति । शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतींष्यङ्गानि पदक्रमाश्च तत्सहिता वेदा यस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं निःश्वासवदप्रयत्नेनाविर्भूता इत्यर्थः । अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिश्रुतेः ॥ ३० ।

अतन्द्रित्वमकुण्ठितत्वम् ॥ ३१ ।

तमिति । तं त्वां को वेत्तीत्यन्वयः । तत्र नित्यमित्युक्ते प्रध्वंसाभावे गच्छति तद्वारणार्थमजमित्युक्तम्। तावन्मात्रे उक्ते प्रागभावे गच्छति तद्वारणायोक्तं नित्यमिति । मायया चराचर । वस्तुतश्चराचरभिन्नः ॥ ३३ ।

छहों अंग और पद, क्रम के सहित चारों वेद जिसके निःश्वास से अनायास ही उत्पन्न हुए हैं, उस भगवान् की अपार महिमा को कौन जान सकता है ? ॥ ३० ॥

अकुंठित मन, बुद्धि और इन्द्रियवाले सनकादि ऋषिगण जिसे हृदयाकाश में ध्यान करते रहने पर भी यथार्थरूप से नहीं जान सके हैं, आबालब्रह्मचारी नारदादि महर्षिलोग भी यद्यपि उन्हीं का चरित्र गान करते रहते हैं, पर सम्यक् प्रकार से जिसे नहीं समझ सकते हैं ॥ ३१-३२ ।

ब्रह्मादि देवों के भी अगोचर, अजेय, अनन्तशक्तिसम्पन्न, सूक्ष्मरूप, जन्मरहित, अव्यय, अद्वितीय, आद्य, नित्य, निरामय, निराकार, अचिन्त्यस्वरूप, चराचरमय, और चराचर से भिन्न आपको कौन जान सकता है ? ॥ ३३ ।

एकैकमेव तव नाम हरेन्मुरारे
जन्मार्जिताघमघिनां च महापदाढ्यम् ।
दद्यात् फलं च महितं महतो मखस्य
जप्तं मुकुन्द मधुसूदन माधवेति ॥ ३४ ।
नारायणेति नरकार्णवतारणेति
दामोदरेति मधुहेति चतुर्भुजेति ।
विश्वम्भरेति विरजेति जनार्दनेति
क्वास्तीह जन्म जपतां क्व कृतान्तभीतिः ॥ ३५ ।
ये त्वां त्रिविक्रम सदा हृदि शीलयन्ति
कादम्बिनीरुचिररोचिषमम्बुजाक्षम् ।
सौदामनीविलसितांशुकवीतमूर्ते
तेऽपि स्पृशन्ति तव कान्तिमचिन्त्यरूपाम् ॥ ३६ ।

मखो ब्रह्मयज्ञः । महत इति तद्विशेषणम् । अश्वमेधविषयो वा महच्छब्दः । महिमानमतो नरस्येति क्वचित्पाठः । तत्र महिमरूपं फलमित्यर्थः ॥ ३४ ।

विरजेति सन्धिरार्षः ॥ ३५ ।

ये त्वामिति । कादम्बिनी मेघमाला । निर्गुणोपासकास्ते तव कान्तिं स्वप्रकाशां शोभां स्पृशन्त्येव ये तूक्तविधाः सगुणोपासकास्तेऽपि प्राप्नुवन्तीत्यपिशब्दार्थः ॥ ३६ ।

हे मुरारे ! हरे ! आपका एक-एक नाम ही पापियों के जन्मान्तर-संचित बड़ी-बड़ी विपत्तियों से भरपूर पापों को दूर कर देता है, एवं "मुकुन्द ! मधुसूदन ! माधव !" इत्यादि पूजित नाम तो जप करते ही बड़े-बड़े यज्ञों का फल दे देते हैं ॥ ३४ ।

"नारायण–नरकार्णवतारण–दामोदर–मधुसूदन–चतुर्भुज–विश्वंभर- विरज और जनार्दन" इन सब (आपके) नाम जपने वालों का इस संसार में जन्म कहाँ ? और यमराज का भय ही कहाँ होता है ? ॥ ३५ ।

हे त्रिविक्रम ! जो लोग अपने हृदय में मेघमाला के तुल्य सुन्दर शोभित श्यामल मूर्ति पर सौदामिनी के समान पीतपट ओढ़े हुए पुंडरीकाक्षरूपी आपका ध्यान करते हैं, वे सब भी आपकी ही अचिन्त्यरूपा कान्ति को पा जाते हैं, अर्थात् आप ही के जैसे हो जाते हैं । "तेइ जानै जेहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई" ॥ ३६ ।

श्रीवत्सलाञ्छन हरेऽच्युत कैटभारे
गोविन्द तार्क्ष्यरथ केशव चक्रपाणे ।
लक्ष्मीपते दनुजसूदन शार्ङ्गपाणे
त्वद्भक्तिभाजिनभयं क्वचिदस्ति पुंसि ॥ ३७ ।

यैरर्चितोऽसि भगवंस्तुलसी प्रसूनै-
र्दूरीकृतैणमदसौरभदिव्यगन्धैः ।
तानर्चयन्ति दिवि देवगणाः समस्ता
मन्दार दामभिरलं विमलस्वभावान् ॥ ३८ ।

यद्वाचि नाम तव कामदमब्जनेत्र
यच्छ्रोत्रयोस्तव कथामधुराक्षराणि ।
यच्चित्तभित्तिलिखितं भवतोऽस्ति रूपं
नीरूपभूपपदवी न हि तैर्दुरापा ॥ ३९ ।

दूरीकृत एणमदसौरभो मृगमदपरिमलः कस्तूरीगन्धो येन तादृशो दिव्यगन्धो येषां तैस्तुलसीप्रसूनैरिति ॥ ३८ ।

निर्गतं रूपं यत्र तन्नीरूपं ब्रह्म, तदेव भूपस्तस्य पदवी स्थितिः दुरापा दुष्प्रापा ॥ ३९ ।

हे श्रीवत्सलांछन ! हरे ! अच्युत ! कैटभारे ! गोविन्द ! गरुड़वाहन ! केशव ! चक्रपाणे ! लक्ष्मीपते ! दानवसूदन ! शार्ङ्गधर ! आपके भक्तों को कहीं भी भय नहीं है ॥ ३७ ।

हे भगवन् ! कस्तूरी के सुगन्ध को जीतने वाले दिव्यगन्ध से भरे तुलसी की मंजरियों से जिन लोगों ने आपकी पूजा की है, स्वर्ग में सभी देवता मन्दार की मालाओं से उन निर्मल स्वभाववालों की बड़ी (भारी) पूजा करते हैं ॥ ३८ ॥

हे कमललोचन ! जिनकी बोलचाल में अभिलाषपूरक आपका नाम रहता है और जिनके कानों में आपकी कथा के मधुर अक्षर जा पड़ते हैं, एवं जिनकी चित्तभित्तियों पर आपकी मूर्ति लिख जाती है, उन लोगों के लिये निराकार ब्रह्मपद की प्राप्ति भी कुछ दुर्घट नहीं है ॥ ३९ ।

ये त्वां भजन्ति सततं भुवि शेषशायिं-
स्ताञ्छ्रीपते पितृपतीन्द्रकुबेरमुख्याः ।
वृन्दारका दिवि सदैव सभाजयन्ति
स्वर्गापवर्गसुखसन्ततिदानदक्ष ॥ ४० ।
ये त्वां स्तुवन्ति सततं दिवि तान् स्तुवन्ति
सिद्धाप्सरोऽमरगणा लसदब्जपाणे ।
विश्राणयत्यखिलसिद्धिद को विना त्वां
निर्वाणचारुकमलां कमलायताक्ष ॥ ४१ ।
त्वं हंसि पासि सृजसि क्षणतः स्वलीला-
लीलावपुर्धर विरिञ्चिनताङ्घ्रियुग्म ।
विश्वं त्वमेव परविश्वपतिस्त्वमेव
विश्वस्य बीजमसि तत्प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ ४२ ।
स्तोता त्वमेव दनुजेन्द्ररिपो स्तुतिस्त्वं
स्तुत्यस्त्वमेव सकलं हि भवानिहैकः ।
त्वत्तो न किञ्चिदपि भिन्नमवैमि विष्णो
तृष्णां सदा कृणुहि मे भवजाम्भवारे ॥ ४३ ।

विश्राणयति प्रयच्छति ॥ ४१ ।
क्षणतः कालतः । पर हे पर । तत्तस्मात् ॥ ४२ ।
कृणुहि विक्षिप नाशयेत्यर्थः ॥ ४३ ।

हे स्वर्ग-अववर्ग-सुखसन्तति के दानदक्ष ! शेषशायिन् ! श्रीपते ! इस भूलोक में जो लोग आपको सर्वदैव भजते रहते हैं, स्वर्ग में इन्द्र, यम, कुबेर प्रभृति देवगण सदैव उनको सम्मानित करते हैं ॥ ४० ।

हे कमलायतलोचन ! पद्मपाणे ! जो लोग निरन्तर आपका स्तवगान करते हैं, सिद्ध, अप्सरा और देवतागण भी स्वर्ग में उनकी बड़ाई ही किया करते हैं । हे सर्वसिद्धिप्रद ! आपको छोड़कर मुक्तिलक्ष्मी का दान दूसरा कौन करता है ? ॥ ४१ ।

हे निजमायावश लीलारूपधारिन् ! विरिंचिनमस्कृतचरणयुगल ! आप ही क्षणमात्र में इस संसार को सिरजते, पालते और संहार करते हैं । हे सर्वश्रेष्ठ ! आप ही जगत् और जगत् के नाथ एवं जगत् के बीज हैं, अतएव आप ही को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ ४२ ।

हे दनुजेन्द्ररिपो ! आप ही स्तुतिकर्ता और आप ही स्तुति और आप ही स्तुति के पात्र हैं, अतएव अकेले आप ही सब कुछ हैं । हे विष्णो ! मुझे तो आपसे भिन्न

इति स्तुत्वा हृषीकेशमग्निबिन्दुर्महातपाः ।
तस्थौ तूष्णीं ततो विष्णुरुवाच वरदो मुनिम् ॥ ४४ ।

श्रीविष्णुरुवाच–
अग्निबिन्दो महाप्राज्ञ महतां तपसांनिधे ।
वरं वरय सुप्रीतस्तवादेयं न किञ्चन ॥ ४५ ।

अग्निबिन्दुरुवाच–
यदि प्रीतोऽसि भगवन् वैकुण्ठेश जगत्पते ।
कमलाकान्त तद्देहि यदिह प्रार्थयाम्यहम् ॥ ४६ ।
कृतानुज्ञोऽथ हरिणा भ्रूभङ्गेन स तापसः ।
कृतप्रणामो हृष्टात्मा वरयामास केशवम् ॥ ४७ ।
भगवन् सर्वगोऽपीह तिष्ठ पञ्चनदे ह्रदे ।
हिताय सर्वजन्तूनां मुमुक्षूणां विशेषतः ॥ ४८ ।
लक्ष्मीशेन वरो मह्यमेष देयोऽविचारतः ।
नान्यं वरं समीहेऽहं भक्तिं च त्वत्पदाम्बुजे ॥ ४९ ।

कुछ भी नहीं समझ (जान) पड़ता, (अतः हे भवनाशक ! आप मेरी संसारजनित तृष्णा को दूर कर दें (बिन्दुमाधव-पुण्डरीकाक्षस्तुति समाप्त)॥ ४३ ।

इस प्रकार से महातपस्वी अग्निबिन्दु ऋषि हृषीकेश की स्तुति करके चुपचाप खड़े हो गये । तब वरदायक विष्णु ने उस मुनि से कहा ॥ ४४ ।

श्रीविष्णु कहने लगे–

'हे महातपोनिधे ! परमप्राज्ञ ! अग्निबिन्दो ! मैं बड़ा ही प्रसन्न हूँ । तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है, अतः तुम वर माँगो' ॥ ४५ ।

अग्निबिन्दु ने कहा–

'हे वैकुण्ठनाथ ! जगन्नायक ! भगवन् ! कमलाकान्त ! यदि आप (मुझ पर) प्रसन्न हैं, तो मैं जो प्रार्थना करता हूँ, वही दीजिये' ॥ ४६ ।

इसके अनन्तर भगवान् विष्णु ने भौं हिलाकर उस तपस्वी को जब अनुमति दी, तब उसने प्रसन्न मन से प्रणाम करके केशव से यह प्रार्थना की ॥ ४७ ।

'हे नाथ ! आप यद्यपि सर्वव्यापी हैं, पर विशेष करके सभी जन्तुओं के और मुमुक्षु लोगों के हितार्थ इस पंचनदतीर्थ पर निवास कीजिये ॥ ४८ ।

हे माधव ! विचार न करके आप यह वर मुझे दे दें । मैं आपके चरणकमल की भक्ति को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता' ॥ ४९ ।

इति श्रुत्वा वरं तस्याग्निबिन्दोर्मधुसूदनः ।
प्रीतः परोपकारार्थं तथेत्याहाब्धिजापतिः ॥ ५० ।

श्रीविष्णुरुवाच—

अग्निबिन्दो मुनिश्रेष्ठ स्थास्याम्यहमिह ध्रुवम् ।
काशीभक्तिमतां पुंसां मुक्तिमार्गं समादिशन् ॥ ५१ ।
मुने पुनः प्रसन्नोऽस्मि वरं ब्रूहि ददामि ते ।
अतीव मम भक्तोऽसि भक्तिस्तेऽस्तु दृढा मयि ॥ ५२ ।
आदावेव हि तिष्ठासुरहमत्र तपोनिधे ।
ततस्त्वया समभ्यर्थि स्थास्याम्यत्र सदैव हि ॥ ५३ ।
प्राप्य काशीं सुदुर्मेधाः कस्त्यजेज्ज्ञानवान् यदि ।
अनर्घ्यं प्राप्य माणिक्यं हित्वा काचं क ईहते ॥ ५४ ।
अल्पीयसा श्रमेणेह वपुषो व्ययमात्रतः ।
अवश्यं गत्वरस्याशु यथा मुक्तिस्तथा क्व हि ॥ ५५ ।

तिष्ठासुः स्थातुमिच्छुः । समभ्यर्थि सम्यगभ्यर्थितः । अतः स्थास्यामीति ॥ ५३ ।

सुदुर्मेधाः प्राकृतबुद्धिः । अथ च यदि ज्ञानवान् काशी सर्वोत्कृष्ठा कदापि न त्याज्येति ज्ञानवानित्यर्थः ॥ ५४ ।

इस प्रकार से उस अग्निबिन्दु ऋषि की वर-प्रार्थना को सुनकर मधुसूदन माधव ने प्रीत (प्रसन्न) होकर परोपकार के लिये 'तथास्तु' कह दिया ॥ ५० ।

श्रीविष्णु ने कहा—

'हे मुनिश्रेष्ठ ! अग्निबिन्दो ! काशी के भक्त मनुष्यों को मुक्तिमार्ग का उपदेश करता हुआ मैं इस स्थान पर अवश्य (बना) रहूँगा' ॥ ५१ ।

'हे मुने ! तुम मेरे बड़े ही दृढ़भक्त हो, अतएव मुझ पर तुम्हारी (ऐसी ही) दृढ़भक्ति बनी रहेगी, पर मैं प्रसन्न हूँ, इससे और भी कुछ वर माँग लो । मैं तुमको वह वर भी दे दूँगा ॥ ५२ ॥

हे तपोनिधे ! मैं तो पहले ही से यहाँ पर रहा चाहता था । उस पर अब तुम्हारी प्रार्थना से तो यहाँ सदैव निवास करूँगा ॥ ५३ ।

यदि कुछ भी समझ होगी तो काशी में पहुँचकर कौन दुर्बुद्धिजन इसे त्याग सकता है ? क्योंकि अमूल्य माणिक्य पाकर उसे छोड़ भला कौन काँच लेने की इच्छा कर सकता है ? ॥ ५४ ।

बहुत थोड़े परिश्रम से अवश्य नश्वर शरीर के पात (व्यय) मात्र से, यहाँ पर जैसी त्वरित मुक्ति मिल जाती है, अन्यत्र वैसी कहाँ है ? ॥ ५५ ।

विनिमय्य जराजीर्णं देहं पार्थिवमत्र वै ।
प्राज्ञाः किमु न गृह्णीयुरमृतं नैर्जरं वपुः ॥ ५६ ।
न तपोभिर्न वा दानैर्न यज्ञैर्बहुदक्षिणैः ।
अन्यत्र लभ्यते मोक्षो यथा काश्यां तनुव्ययात् ॥ ५७ ।
अपि योगं हि युञ्जाना योगिनो यतमानसाः ।
नैकेन जन्मना मुक्ताः काश्यां मुक्ता वपुर्व्ययात् ॥ ५८ ।
इदमेव महादानमिदमेव महत्तपः ।
इदमेव व्रतं श्रेष्ठं यत्काश्यां म्रियते तनुः ॥ ५९ ।
स एव विद्वान् जगति स एव विजितेन्द्रियः ।
स एव पुण्यवान् धन्यो लब्ध्वा काशीं न यस्त्यजेत् ॥ ६० ।
तावत्स्थास्याम्यहं चात्र यावत्काशी मुने त्विह ।
प्रलयेऽपि न नाशोऽस्याः शिवशूलाग्रसुस्थितेः ॥ ६१ ।
इत्याकर्ण्य गिरं विष्णोरग्निबिन्दुर्महामुनिः ।
प्रहृष्टरोमा प्रोवाच पुनरन्यं वरं वृणे ॥ ६२ ।

अमृतं कैवल्यम् । नैर्जरमित्युपलक्षणम्, षड्भावविकाररहितमित्यर्थः । वपुः स्वरूपम् ॥ ५६ ।

प्राज्ञ लोग, यहाँ पर जरा से जीर्ण मिट्टी की देह के बदले में निर्जर अमृतदेह को क्यों नहीं ग्रहण कर लेते ? ॥ ५६ ।

अन्य किसी स्थान में तपस्या, दान अथवा बड़ी दक्षिणा से पूर्ण बहुतेरे यज्ञों से भी वह मोक्ष-लाभ नहीं होता, जो कि काशी में केवल शरीरत्याग करने ही से मिल जाता है ॥ ५७ ॥

संयतचित्त योगी लोग योगाभ्यास करते रहने पर भी एक ही जन्म में मुक्ति को नहीं पा जाते, पर काशी में केवल शरीरत्याग करने ही से मुक्त हो जाते हैं ॥ ५८ ।

काशी में मृत्यु होनी ही महादान, बड़ी तपस्या और सर्वश्रेष्ठ व्रत है ॥ ५९ ।

संसार में वही पण्डित, वही जितेन्द्रिय, वही धन्य पुण्यवान् है, जो काशी को पाकर फिर न छोड़े ॥ ६० ।

हे मुने ! जब तक काशी है, तब तक मैं यहाँ बना रहूँगा और शिव के त्रिशूलाग्र पर स्थित होने से इस (काशी) का प्रलयकाल में भी विनाश नहीं होता ॥ ६१ ।

महामुनि अग्निबिन्दु ने विष्णु के इस वचन को सुन रोमांचित होकर कहा, मैं फिर दूसरा वर माँगता हूँ ॥ ६२ ।

मापते मम नाम्नाऽत्र तीर्थे पञ्चनदे शुभे ।
अभक्तेभ्योऽपि भक्तेभ्यः स्थितो मुक्तिं सदादिश ॥ ६३ ।
येऽत्र पञ्चनदे स्नात्वा गत्वा देशान्तरेष्वपि ।
नराः पञ्चत्वमापन्ना मुक्तिं तेभ्योऽपि वै दिश ॥ ६४ ।
ये तु पञ्चनदे स्नात्वा त्वां भजिष्यन्ति मानवाः ।
चलाचलाऽपि द्वैरूपा मात्याक्षीच्छ्रीश्च तान्नरान् ॥ ६५ ।

श्रीविष्णुरुवाच–

एवमस्त्वग्निबिन्दोऽत्र भवता यद् वृतं मुने ।
त्वन्नाम्नोऽर्धेन मे नाम मया सह भविष्यति ॥ ६६ ।
बिन्दुमाधव इत्याख्या मम त्रैलोक्यविश्रुता ।
काश्यां भविष्यति मुने महापापौघघातिनी ॥ ६७ ।
ये मामत्र नराः पुण्याः पुण्ये पञ्चनदे ह्रदे ।
सदा सपर्ययिष्यन्ति तेषां संसारभीः कुतः ॥ ६८ ।

द्विरूपैव द्वैरूपा । द्वैरूप्यमेवाह–चलाचलेति चलाविष्णितरेषु तस्मिन्नचला । यद्वा चला सम्पत्, अचला निर्वाणरूपा ॥ ६५ ।

मया सह मा लक्ष्मीस्तया सह माधव इति ॥ ६६ ।

एतदेव दर्शयति । **बिन्दुमाधव इति** ॥ ६७ ।

सपर्ययिष्यन्ति पूजयिष्यन्ति ॥ ६८ ।

हे माधव ! इस शुभस्थान पंचनदतीर्थ पर आप मेरे नाम के साथ रहकर भक्त तथा अभक्त लोगों को भी मुक्तिदान करते रहिये ॥ ६३ ।

जो लोग इस पंचनदतीर्थ में स्नान कर देशान्तर में भी जा मरें, उनको भी आप मुक्ति दे दें ॥ ६४ ।

जो मनुष्य पंचनदतीर्थ में स्नान कर आपको भजें, उन लोगों को सम्पत्तिरूपा चला और मुक्तिरूपा निश्चला दोनों विध की लक्ष्मी कभी न त्यागें ॥ ६५ ।

श्रीविष्णु बोले–

हे मुने ! अग्निबिन्दो ! तुमने जो वरप्रदान माँगा, वही होगा । लक्ष्मी के सहित मेरे नाम के साथ तुम्हारा भी आधा नाम रहेगा ॥ ६६ ।

काशी में त्रैलोक्यविश्रुत 'बिन्दुमाधव' ऐसा मेरा नाम पड़ेगा, जो बड़े से बड़े पापपुंजों का घातक होगा ॥ ६७ ।

जो पुण्यात्मा लोग इस पवित्र पंचनद ह्रद पर सर्वदा मेरा पूजन करेंगे, उन्हें संसार का भय कहाँ है ? ॥ ६८ ।

वसुस्वरूपिणी लक्ष्मीर्लक्ष्मीर्निर्वाणसंज्ञिका ।
तत्पार्श्वगा सदा येषां हृदि पञ्चनदे ह्यहम् ॥ ६९ ।
यैर्न पञ्चनदं प्राप्य वसुभिः प्रीणिता द्विजाः ।
आशु लभ्यविपत्तीनां तेषां तद्वसु रोदिति ॥ ७० ।
त एव धन्या लोकेऽस्मिन् कृतकृत्यास्त एव हि ।
प्राप्य यैर्मम सान्निध्यं वसवो मम सात्कृताः ॥ ७१ ।
बिन्दुतीर्थमिदं नाम तव नाम्ना भविष्यति ।
अग्निबिन्दो मुनिश्रेष्ठ सर्वपातकनाशनम् ॥ ७२ ।
कार्तिके बिन्दुतीर्थे यो ब्रह्मचर्यपरायणः ।
स्नास्यत्यनुदिते भानौ भानुजात्तस्य भीः कुतः ॥ ७३ ।
अपि पापसहस्राणि कृत्वा मोहेन मानवः ।
ऊर्जे धर्मनदे स्नातो निष्पापो जायते क्षणात् ॥ ७४ ।
यावत्स्वस्थोऽस्ति देहोऽयं यावन्नेन्द्रियविक्लवः ।
तावद् व्रतानि कुर्वीत यतो देहफलं व्रतम् ॥ ७५ ।

वस्विति । येषां पञ्चनदे स्थितानां सदाऽहं हृदि वर्ते, पञ्चनदे सदा अहं तिष्ठामीति वा हृदि येषाम् । वसुस्वरूपिणी लक्ष्मीर्धनादिसम्पन्निर्वाणसंज्ञिका लक्ष्मीर्मोक्षलक्ष्मीश्च तत्पार्श्वगा तेषां वशवर्तिनीत्यर्थः ॥ ६९ ।

वसव इति पुंस्त्वमार्षम् । विषया इति वा पाठः ॥ ७१ ।

जो लोग पंचनदतीर्थ पर मुझे हृदय में रखेंगे, धनरूपा और मोक्षरूपा भी लक्ष्मी उनके पास में सदा बनी रहेंगी ॥ ६९ ।

जो लोग पंचनदतीर्थ पर पहुँचकर धन से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट नहीं करते, थोड़े ही दिनों में मृत्यु प्राप्त होने पर उनका वह धन रोने लगता है ॥ ७० ।

जो कोई मेरे समीप में पहुँचकर मुझे द्रव्य चढ़ा देते हैं, इस लोक में वे ही लोग धन्य और कृतकृत्य होते हैं ॥ ७१ ।

हे मुनिश्रेष्ठ ! अग्निबिन्दो ! सर्वपातकनाशक यह तीर्थ भी तुम्हारे ही नाम से बिन्दुतीर्थ कहा जायेगा ॥ ७२ ।

जो कोई ब्रह्मचर्य के साथ कार्तिक मास में सूर्योदय के पहले ही इस बिन्दुतीर्थ में स्नान कर लेगा, उसे यमराज का डर कहाँ है ? ॥ ७३ ।

मनुष्य मोहवश चाहे सहस्रों पाप करके भी कार्तिक मास के मध्य यदि इस धर्मनद में नहा ले, तो क्षणमात्र में निष्पाप हो जाता है ॥ ७४ ।

जब तक यह शरीर स्वस्थ रहे और जब तक इन्द्रियाँ विकल न हो जावें, तब तक व्रत का अनुष्ठान करे; क्योंकि देह का फल तो व्रत ही है ॥ ७५ ।

एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।
उपवासेन देहोऽयं संशोध्योऽशुचिभाजनम् ॥ ७६ ।
कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि कर्तव्यानि प्रयत्नतः ।
अशुचिः शुचितामेति कायो यद्व्रतधारणात् ॥ ७७ ।
व्रतैः संशोधिते देहे धर्मो वसति निश्चलः ।
अर्थकामौ सनिर्वाणौ तत्र यत्र वृषस्थितिः ॥ ७८ ।
तस्माद् व्रतानि सततं चरितव्यानि मानवैः ।
धर्मसान्निध्यकर्तॄणि चतुर्वर्गफलेप्सुभिः ॥ ७९ ।
सदा कर्तुं न शक्नोति व्रतानि यदि मानवः ।
चातुर्मास्यमनुप्राप्य तदा कुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ८० ।
भूशय्या ब्रह्मचर्यं च किञ्चिद्भक्ष्यनिषेधनम् ।
एकभक्तादिनियमो नित्यदानं स्वशक्तितः ॥ ८१ ।
पुराणश्रवणं चैव तदर्थाचरणं पुनः ।
अखण्डदीपोद्बोधश्च महापूजेष्टदैवते ॥ ८२ ।
प्रभूताङ्कुरबीजाढ्ये देशे चापि गतागतम् ।
यत्नेन वर्जयेद्धीमान् महाधर्मविवृद्धये ॥ ८३ ।

यह अपवित्रता का पात्र गात्र (शरीर) एकभक्त, नक्त, अयाचितव्रत एवं उपवास करके शोधनीय है ॥ ७६ ।

कृच्छ्र, चान्द्रायण इत्यादि व्रत यत्नपूर्वक करने चाहिएँ; क्योंकि उन व्रतों के आचरण करने से यह अशुद्ध शरीर भी शुद्ध हो जाता है ॥ ७७ ।

व्रतों से शुद्ध की हुई देह में धर्म स्थिर रूप से वास करता है, फिर जहाँ धर्म बना रहता है, वहाँ पर मोक्ष के साथ अर्थ औरकाम भी वर्तमान रहते हैं ॥ ७८ ।

अतएव चतुर्वर्ग के फल चाहने वाले लोगों को सदैव धर्म के साधनरूप व्रतों का आचरण करना ही चाहिए ॥ ७९ ।

यदि मनुष्य सर्वदा व्रत न कर सके तो चातुर्मास्य प्राप्त होने पर अवश्य ही करे ॥ ८० ।

भूमि पर शयन, ब्रह्मचर्य और कुछ एक भोजन निषेध, एक बार भोजन का नियम, अपनी शक्ति भर नित्यदान, पुराण-श्रवण, उसके कथनानुसार आचरण, अखंड दीपदान और इष्टदेवता की महापूजा करे ॥ ८१-८२ ।

बुद्धिमान् जन, बहुत से अंकुर और बीजों से परिपूर्ण स्थान में आवागमन का यत्नपूर्वक वर्जन करें ॥ ८३ ।

असंभाष्या न संभाष्याश्चातुर्मास्यव्रतस्थितैः ।
मौनं चापि सदा कार्यं तथ्यं वक्तव्यमेव वा ॥ ८४ ।
निष्पावांश्च मसूरांश्च कोद्रवान् वर्जयेद् व्रती ।
सदा शुचिभिरास्थेयं स्प्रष्टव्यो नाव्रतीजनः ॥ ८५ ।
दन्तकेशाम्बरादीनि नित्यं शोध्यानि यत्नतः ।
अनिष्टचिन्ता नो कार्या व्रतिना हृद्यपि क्वचित् ॥ ८६ ।
द्वादशस्वपि मासेषु व्रतिनो यत्फलं भवेत् ।
चातुर्मास्यव्रतभृतां तत्फलं स्यादखण्डितम् ॥ ८७ ।
चतुर्ष्वपि च मासेषु न सामर्थ्यं व्रते यदि ।
तदोर्जे व्रतिना भाव्यमप्यब्दफलमिच्छता ॥ ८८ ।
अव्रतः कार्तिको येषां गतो मूढधियामिह ।
तेषां पुण्यस्य लेशोऽपि न भवेत् सूकरात्मनाम् ॥ ८९ ।
कृच्छ्रं वा चातिकृच्छ्रं वा प्राजापत्यमथापि वा ॥
सम्प्राप्ते कार्तिके मासि कुर्याच्छक्त्यातिपुण्यवान् ॥ ९० ।
एकान्तरं व्रतं कुर्यात्त्रिरात्रव्रतमेव वा ।
पञ्चरात्रं सप्तरात्रं संप्राप्ते कार्तिके व्रती ॥ ९१ ।

जो कोई चातुर्मास्य व्रत को धारण करे वह (चांडाल म्लेच्छादि) असंभाष्य लोगों से बातचीत न करे, सदैव मौन ही रहे, अथवा सत्य ही बोले ॥ ८४ ।

पछोर कर बनाये हुए धान्य, मसूर और कोदव इत्यादि अन्नों को व्रतीजन न खावे, सदा पवित्र भाव से रहे, जो व्रत न करता हो, उसे स्पर्श न करे ॥ ८५ ।

दाँत, केश और वस्त्र इत्यादि को नित्य ही यत्न से धो डाले, व्रतकर्ता अपने मन में कभी अनिष्टचिन्ता न करे ॥ ८६ ।

बारहों मास व्रत करने वाले को जो फल होता है, चातुर्मास्य व्रती को भी वही समूचा फल प्राप्त हो जाता है ॥ ८७ ।

यदि चातुर्मास्य भर भी व्रत करने की शक्ति न हो, तो पूर्ण वर्ष भर के व्रतफल को चाहने वाला कार्तिक मास में व्रत करे ॥ ८८ ॥

जिस मूढ़बुद्धि जन का कार्तिक मास व्रत के बिना ही बीत जाता है, उन सूकरात्मा लोगों में लेशमात्र भी पुण्य नहीं रह जाता । बड़ा पुण्यवान् प्राणी कार्तिक मास उपस्थित होने पर यथाशक्ति कृच्छ्रप्राजापत्य (जो ही बन पड़े वही) व्रत करे ॥ ८९-९० ।

व्रती नर कार्तिक मास में एकान्तरव्रत, त्रिरात्रव्रत, पंचरात्रव्रत, सप्तरात्रव्रत, पक्षव्रत अथवा मासोपवासव्रत करे, व्रतहीन होकर किसी को कहीं पर भी कार्तिक

पक्षव्रतं वा कुर्वीत मासोपोषणमेव वा ।
नोर्जो वन्ध्यो विधातव्यो व्रतिना केनचित् क्वचित् ॥ ९२ ।
शाकाहारं पयोहारं[1] फलाहारमथापि वा ।
चरेद्यवान्नाहारं वा संप्राप्ते कार्तिके व्रती ॥ ९३ ।
नित्यं नैमित्तिकं स्नानं कुर्यादूर्जे व्रती नरः ।
ब्रह्मचर्यं चरेदूर्जे महाव्रतफलार्थवान् ॥ ९४ ।
बाहुलं ब्रह्मचर्येण यः क्षिपेच्छुचिमानसः ।
समस्तं हायनं तेन ब्रह्मचर्यं कृतं भवेत् ॥ ९५ ।
यस्तु कार्तिकिकं मासमुपवासैः समापयेत् ।
अप्यब्दमपि तेनेह भवेत्सम्यगुपोषितम् ॥ ९६ ।
शाकाहारपयोहारैरूर्जो यैरतिवाहितः ।
अखण्डिता शरत्तेन तदाहारेण यापिता ॥ ९७ ।
पत्रभोजी भवेदूर्जे कांस्यं त्याज्यं प्रयत्नतः ।
यो व्रती कांस्यभोजी स्यान्न तद्व्रतफलं लभेत् ॥ ९८ ।

यापिता नीता ॥ ९७ ।

मास व्यर्थ नहीं बिताना चाहिए ॥ ९१-९२ ।

कार्तिक मास आने पर व्रतकर्ता जन शाकभोजन, दुग्धभोजन, फलाहार अथवा यव अन्न का भक्षण करे ॥ ९३ ।

व्रती मनुष्य कार्तिक मास में नित्य और नैमित्तिक स्नान करे और महाफलार्थी हो तो समूचा कार्तिक मास ब्रह्मचर्य करके बिता देवे ॥ ९४ ।

जो कोई केवल कार्तिक भर भी पवित्र-चित्त से ब्रह्मचर्य निबाहता है, उसे समूचे वर्ष भर के ब्रह्मचर्य करने का फल होता है ॥ ९५ ।

यों ही जिस किसी ने उपवासों को करके एक भी कार्तिक मास काट डाला, वह मानो पूरे वर्षभर का व्रत कर चुका ॥ ९६ ।

जो लोग केवल शाकभोजन अथवा पयोमात्र आहार से कार्तिक मास को बिता देते हैं, उन सब को उन्हीं वस्तुओं के भोजन से समस्त वर्ष बिता देने का फल होता है ॥ ९७ ।

कार्तिक भर पत्तल पर ही खाना चाहिए । काँसे का वर्तन यत्नपूर्वक छोड़ दें, क्योंकि जो व्रती होकर भी काँसे में ही भोजन करता है, उसे व्रत का फल नहीं मिलता ॥ ९८ ।

---

1. आर्षमेतत् ।

कांस्यस्य नियमे दद्यात्कांस्यं सर्पिः प्रपूरितम् ।
ऊर्जे न भक्षयेत्क्षौद्रमतिक्षुद्रगतिप्रदम् ॥ ९९ ।
मधुत्यागे घृतं दद्यात्पायसं च सशर्करम् ।
अभ्यङ्गेऽभ्यवहारे च तैलमूर्जे विवर्जयेत् ॥ १०० ।
भूयात्स नारकी देही तत्राभ्यङ्गाद्यतोऽनघ ।
तैलत्यागे तिलान् दद्याद्द्रोणमात्रान् सकाञ्चनान् ॥ १०१ ।
कार्तिके मत्स्यभोजी यः स तैमीं योनिमृच्छति ।
बाहुले मांसभोजी यः स कृमिः पूयशोणिते ॥ १०२ ।
मांसाशिनोऽपि ये भूपास्त्यजेयुस्तेऽपि कार्तिके ।
मत्स्यमांसानि सन्त्यज्य कार्तिके व्रततत्परः ॥ १०३ ।
मत्स्यमांसादनाद्दोषाद् बहिर्भवति निश्चितम् ।
नियमे मत्स्यमांसानां दद्यात्कार्तिकिके व्रती ॥
कूष्माण्डानि समाषाणि[1] दशस्वर्णयुतान्यपि ॥ १०४ ।

अभ्यङ्गाद्यत इति । अभ्यङ्गादुद्वर्तनात् । आद्यतः आद्यात् अभ्यवहाराच्चेत्यर्थः । अभ्यङ्गाद्यत इति वा पदच्छेदः । तत्राभ्यङ्गादित्यभ्यवहारोपलक्षणम् ॥ १०१ ।

तैमीं तिमिर्मत्स्यस्तदीयां योनिम् ॥ १०२ ।

काँस्यपात्र त्यागने का नियम करने पर घृत से पूर्ण कांस्यपात्र का दान करे और कार्तिक में अत्यन्त नीचगति देनेवाले मधु को भी न खावे ॥ ९९ ।

मधु को त्यागने पर घृत और शक्कर के सहित खीर दे । यों ही कार्तिक में तेल देह के लगाने और खाने में भी छोड़ देना चाहिये ॥ १०० ।

हे अनघ ! कार्तिक में जो कोई तेल लगाता है, वह नरकभागी होता है, तेल छोड़ने पर द्रोण (चार पसेरी) भर तिल और कुछ सुवर्ण भी देना चाहिए ॥ १०१ ।

जो कोई कार्तिक में मत्स्य खाता है, वह तिमिनामक मछली की योनि में जाता है । जो कार्तिक में मांस खाता है, वह पूयशोणित में कृमि होता है ॥ १०२।

जो राजा लोग मांस खाते हों, वे भी कार्तिक में छोड़ दें, कार्तिक में मत्स्य-मांस त्यागकर व्रत में तत्पर होना चाहिए ॥ १०३ ।

कार्तिक में मत्स्य-मांस-भोजन के दोष से अवश्य ही बाहर (सर्प) होना पड़ता है । व्रती कार्तिक में मत्स्य-मांस के नियम करने पर माष (उरदी) और सुवर्ण के सहित दश कोंहड़ा (पेठा) दें ॥ १०४ ।

---

1. समांसानीति क्वचित्पाठः ।

कार्तिके मौनभोजी यः सोऽश्नात्यमृतमेव हि ।
सुघण्टां सतिलां मौनी सहिरण्यां प्रदापयेत् ॥ १०५ ।
कार्तिके लवणं त्यक्तं येन व्रतभृता सता ।
त्यक्ताः सर्वे रसास्तेन तत्त्यागी गां प्रदापयेत् ॥ १०६ ।
भूशय्यां कार्तिके कुर्वन्न भुवं संस्पृशेद् व्रती ।
पर्यङ्कं भूशयो दद्यात् सतूलं सोपधानकम् ॥ १०७ ।
दीपं यः कार्तिके दद्यादखण्डं घृतवर्तिकम् ।
मोहान्धतमसं प्राप्य स न गच्छति दुर्गतिम् ॥ १०८ ।
यः कुर्यात्कार्तिके मासे रजन्यां दीपकौमुदीम् ।
तामिस्रं चान्धतामिस्रं न स पश्येत्कदाचन ॥ १०९ ।
पापान्धकारसंक्रुद्धः कार्तिके दीपदानतः ।
क्रोधान्धकारितमुखं भास्करिं स न वीक्षते ॥ ११० ।
स उद्योतमयं पश्येत् त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
प्रबोधयेन्ममाग्रे यो दीपं सोज्ज्वलवर्तिकम् ॥ १११ ।

पापान्धकारसंक्रुद्धः पापमेवान्धकारस्तस्मै संक्रुद्धः ॥ ११० ।

जो कि कार्तिक में मौन होकर खाता है, वह तो अमृत ही भोजन करता है, मौनव्रती को तिल और सुवर्ण के साथ उत्तम घंटा देना चाहिए ॥ १०५ ।

जो व्रतकर्ता कार्तिक में लवण को त्याग दे, उसे सब रसों के छोड़ देने का फल होता है, अलोना करने वाले को अन्त में गोदान करना चाहिए ॥ १०६ ।

कार्तिक में जो व्रती भूमिशय्या करता है, उसे फिर भूमि पर जन्म नहीं लेना पड़ता । भूशायी को तोषक (तुराई) तकिया के साथ पलंग-दान करना चाहिए ॥ १०७ ।

जो कोई घृतवर्तिसंयुक्त अखंडदीप कार्तिक भर देता है, तो उसे मोह के अन्धकार में पड़ जाने पर भी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती ॥ १०८ ।

जिस किसी ने कार्तिक में दीपावली चन्द्रिका रात में कर दी, उसे कभी तामिस्र अथवा अन्धतामिस्र नरक को नहीं देखना पड़ता ॥ १०९ ।

कार्तिक में दीपदान करने से पापरूप अन्धकार पर क्रोधित होकर व्रतीजन यमराज के क्रोधान्ध मुख को नहीं देखने पाता है ॥ ११० ।

जो कोई मेरे सन्मुख उज्ज्वल (श्वेत) बत्ती का दीया जलाता है, वह सचराचर त्रैलोक्य को ज्योतिर्मय ही देखता है ॥ १११ ।

पञ्चामृतानां कलशैरूर्जे मां स्नापयेन्नरः ।
क्षीराब्धितटमासाद्य वसेत्कल्पं स पुण्यवान् ॥ ११२ ।
प्रतिक्षपं कार्तिकिके कुर्वन् ज्योत्स्नां प्रदीपजाम् ।
ममाग्रे भक्तिसंयुक्तो गर्भध्वान्तं न संविशेत् ॥ ११३ ।
आज्यवर्तिकमूर्जे यो दीपं मेऽग्रे प्रबोधयेत् ।
बुद्धिभ्रंशं न चाप्नोति महामृत्युभये सति ॥ ११४ ।
कार्तिके मासि मे यात्रा यैः कृता भक्तितत्परैः ।
बिन्दुतीर्थे कृतस्नानैस्तेषां मुक्तिर्न दूरतः ॥ ११५ ।
व्रतिनः कार्तिके मासि स्नातस्य विधिवन्मम ।
दामोदर गृहाणाऽर्घ्यं दनुजेन्द्रनिषूदन ॥ ११६ ।
स्नाने नैमित्तिके कृष्ण कार्तिके पापशोषणे ।
गृहाणात्वर्घ्यं मया दत्तं राधया सहितो भवान् ॥ ११७ ।
इमौ मन्त्रौ समुच्चार्य योऽर्घ्यं मह्यं प्रयच्छति ।
सुवर्णरत्नपुष्पाम्बुयुजा शंखेन पुण्यवान् ॥ ११८ ।
सुवर्णपूर्णपृथिवी सङ्कल्पोदकपूर्वकम् ।
तेन दत्ता भवेत्सम्यक् सुपात्राय सुपर्वणि ॥ ११९ ।

जो मनुष्य कार्तिक में पंचामृत के घड़ों से मुझे स्नान कराता है, वह पुण्यवान् क्षीरसमुद्र के तट पर जाकर कल्पभर वास करता है ॥ ११२ ।

कार्तिक मास की प्रत्येक रात्रि में मेरे आगे भक्तिपूर्वक दीपावली कर देने से गर्भ के अन्धकार में नहीं पड़ना होता ॥ ११३ ॥

जो कोई कार्तिक में घी की बत्ती का दीया मेरे आगे जला देता है, महामृत्यु के भय होने पर भी उसकी बुद्धि में कुछ भ्रम नहीं पड़ता ॥ ११४ ।

जो लोग कार्तिक में भक्तिपूर्वक (इस) बिन्दुतीर्थ में नहाकर मेरी यात्रा करते हैं, उनसे मोक्ष भी कुछ दूर नहीं रह जाता है ॥ ११५ ।

हे दैत्येन्द्रविघातक ! दामोदर ! कार्तिक मास में विधिपूर्वक नहाये हुए मुझ व्रती के (इस) अर्घ्य को लीजिये ॥ ११६ ।

हे कृष्ण ! पाप को सुखा देने वाले कार्तिक में नैमित्तिक स्नान करने पर मेरे दिये हुए इस अर्घ्य को आप राधिका के सहित ग्रहण करें । इन दोनों मंत्रों को कहकर जो कोई पुण्यात्मा सुवर्ण, रत्न, पुष्प और जल से युक्त शंख के द्वारा मुझे अर्घ्य देता है, उसे उत्तमपर्व में सुपात्र को संकल्प का जल लेकर सुवर्ण से पूर्ण पृथिवीदान का पूरा-पूरा फल मिलता है ॥ ११७-११९ ।

एकादशीं समासाद्य प्रबोधकरणीं मम ।
बिन्दुतीर्थकृतस्नानो रात्रौ जागरणान्वितः ॥ १२० ।
दीपान् प्रबोध्य बहुशो ममालङ्कृत्य शक्तितः ।
तौर्यत्रिकविनोदेन पुराणश्रवणादिभिः ॥ १२१ ।
महामहोत्सवं कृत्वा यावत्पूर्णा तिथिर्भवेत् ।
तत्रान्नदानं बहुशः कृत्वा मत्प्रीतये नरः ॥ १२२ ।
महापातकयुक्तोऽपि न विशेत्प्रमदोदरम् ।
बिन्दुमाधवनामानं यो मामत्र समर्चयेत् ॥ १२३ ।
बिन्दुतीर्थकृतस्नानो निर्वाणं स हि विन्दति ।
आदिमाधवनामाऽहं पूज्यः सत्ययुगे मुने ॥ १२४ ।
अनन्तमाधवो ज्ञेयस्त्रेतायां सर्वसिद्धिदः ।
श्रीदमाधवसंज्ञोऽहं द्वापरे परमार्थकृत् ॥ १२५ ।
कलौ कलिमलध्वंसी ज्ञेयोऽहं बिन्दुमाधवः ।
कलौ कल्मषसम्पन्ना न मां विन्दन्ति मानवाः ॥ १२६ ।
ममैव मायया मूढा भेदवादपरायणाः ।
मम भक्तिं प्रकुर्वाणा ये विश्वेशं द्विषन्ति वै ॥ १२७ ।

प्रबोधकरणीम् उत्थानैकादशीम् ॥ १२० ।

मेरी प्रबोधिनी (डिठवन) एकादशी प्राप्त होने पर बिन्दुतीर्थ में स्नान कर रात्रि में जागरण करता हुआ, बहुत से दीयों को जलाकर और यथाशक्ति मुझे अलंकृत कर, नाच, गाने और बजाने के विनोद तथा पुराण इत्यादि के श्रवण से बड़ा भारी महोत्सव करे, जब तक तिथि पूर्ण न हो जाय, यदि वहाँ पर मेरी प्रीति के लिये बहुत-सा अन्नदान करे, तो वह मनुष्य महापातकी होने पर भी फिर स्त्री के पेट में प्रवेश नहीं करता ॥ १२०-१२२ ।

बिन्दुतीर्थ में स्नान करके जो कोई यहाँ पर बिन्दुमाधव नाम से मेरी पूजा करता है, वही निर्वाण को प्राप्त होता है । हे मुने ! सत्ययुग में मैं आदिमाधव के नाम से पूज्य हूँ, त्रेता में मुझे सर्वसिद्धिदायक अनन्तमाधव नाम से समझना चाहिए, द्वापर में परमार्थकर्ता मैं ही श्रीदमाधवसंज्ञक हूँ और कलियुग में कलिमलध्वंसी बिन्दुमाधव मुझे जानना चाहिए, कलियुग में मनुष्य लोग पापी होने से मुझे नहीं समझ सकते हैं ॥ १२३-१२६ ।

मेरी ही माया से मोहित जो लोग भेदवाद में तत्पर होकर मेरी भक्ति करते हुए विश्वेश्वर से द्वेष करते हैं ॥ १२७ ।

विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पिशाचपदगामिनः ।
पैशाचीं योनिमाप्यापि कालभैरवशासनात् ॥ १२८ ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि उषित्वा दुःखसागरे ।
विश्वेशानुग्रहादेव ततो मोक्षमवाप्नुयुः ॥ १२९ ।
तस्माद्द्वेषो न कर्तव्यो विश्वेशे परमात्मनि ।
विश्वेशद्वेषिणां पुंसां प्रायश्चित्तं यतो न हि ॥ १३० ।
मनसाऽपि हि विश्वेशं विद्विषन्तीह येऽधमाः ।
अध्यासतेऽन्धतामिस्रं मृतास्तेऽन्यत्र सन्ततम् ॥ १३१ ।
शिवनिन्दापरा ये च ये पाशुपतनिन्दकाः ।
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पतन्तो[1] नरकेऽशुचौ ॥ १३२ ।
अष्टाविंशतिकोटीषु नरकेषु क्रमेण हि ।
कल्पं कल्पं वसेयुस्ते ये विश्वेश्वरनिन्दकाः ॥ १३३ ।

वे सब मेरे ही शत्रु हैं और वे अन्त में पिशाचपद के भागी होते हैं, फिर पिशाचयोनि पाने पर कालभैरव की आज्ञा से तीस सहस्र वर्षपर्यन्त दुःख-सागर में रहकर अन्त में फिर विश्वेश्वर के ही अनुग्रह से मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १२८-१२९ ॥

अतएव परमात्मा विश्वेश्वर पर द्वेष की बुद्धि न करे; क्योंकि जो पुरुष विश्वनाथ का द्वेषी होता है, उसका कोई प्रायश्चित भी नहीं हो सकता है ॥ १३० ।

जो अधम लोग इस लोक में मन से भी विश्वेश्वर से द्वेष रखते हैं, वे मर जाने पर परलोक में भी निरन्तर अन्धतामिस्र नरक में वास करते हैं ॥ १३१ ।

जो लोग शिव के निन्दक होते हैं अथवा शैव लोगों की निन्दा करते हैं, वे सब मेरे ही द्वेषी समझे जाने के योग्य हैं और वे घोर नरक में पतित होते हैं ॥ १३२ ।

जो लोग विश्वेश्वर के निन्दक होते हैं, वे अट्ठाईस करोड़ नरकों में क्रमशः कल्प-कल्प भर वास करते हैं ॥ १३३ ।

---

1. पतन्ते इत्यपि क्वचित्पाठः ।

विश्वेशानुग्रहं प्राप्य मुनेऽहमपि मुक्तिदः ।
मद्भक्तैस्तद्विशेषेण सेव्यो विश्वेश्वरोऽनिशम् ॥ १३४ ।
इयं वाराणसी ज्ञेया मुने पाशुपतस्थली ।
तस्मात्पशुपतिः सेव्यः काश्यां निःश्रेयसार्थिभिः ॥ १३५ ।
अत्र पञ्चनदे तीर्थे स्नाति विश्वेश्वरः स्वयम् ।
ऊर्जे सदैव सगणः सस्कन्दः सपरिच्छदः ॥ १३६ ।
ब्रह्मा सवेदः समखो ब्रह्माण्याद्याश्च मातरः ।
सप्ताब्धयः ससरितः स्नान्त्यूर्जे धूतपापके ॥ १३७ ।
सचेतना हि यावन्तस्त्रैलोक्ये देहधारिणः ।
तावन्तः स्नातुमायान्ति कार्तिके धूतपापके ॥ १३८ ।

धूतपापक इति तप औदार्यख्यापनायोक्तम् । धूतपापकोपलक्षिते धर्मनद इत्यर्थः ॥ १३८ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ।

शिवद्रोही मम दास कहावे । सो नर सपनेहु मोहिं न पावे ।
शंकर विमुख भक्ति चह मोरी । सो नर मूढ़ मन्दमति थोरी ॥
शंकरप्रिय मम द्रोही, शिवद्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कल्प भर, घोर नरक महँ वास' ॥ (तु. रा.)

हे मुने ! मैं भी विश्वेश्वर की ही दया से मुक्तिदान में समर्थ हुआ हूँ, अतएव मेरे भक्तों को तो विशेष रूप से सर्वदैव विश्वेश्वर की सेवा करनी चाहिये ॥ १३४ ।

हे ऋषे ! इस वाराणसी को महादेव की राजधानी समझना चाहिये, इसी कारण से मोक्षार्थियों को काशी में महादेव का ही सेवन करना उचित है ॥ १३५ ।

इस पंचनदतीर्थ में स्वयं भगवान् विश्वेश्वर भी गणराज, स्कन्द और परिजन के सहित सदैव कार्तिक मास में स्नान करते हैं ॥ १३६ ।

चारों वेद और यज्ञों के साथ साक्षात् ब्रह्मा एवं ब्रह्माणी इत्यादि मातृगण तथा समस्त नदियों के सहित समुद्रगण, कार्तिक भर इस धूतपापक तीर्थ में स्नान करते हैं ॥ १३७ ।

त्रैलोक्य भर में जितने सचेतन देहधारी हैं, वे सब के सब कार्तिक मास में इस धूतपापक तीर्थ में स्नान करने के लिये आते हैं ॥ १३८ ।

यैर्न पञ्चनदे स्नातं प्राप्य कार्तिकिकं शुभम् ।
जलबुद्बुदवत्तेषां वृथा जन्म शरीरिणाम् ॥ १३९ ।
आनन्दकाननं पुण्यं पुण्यं पाञ्चनदं ततः ।
ततोऽपि मम सान्निध्यमग्निबिन्दो महामुने ॥ १४० ।
अनेनैवानुमानेन विद्धि पञ्चनदस्य वै ।
महिमानं महाप्राज्ञ सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम् ॥ १४१ ।
श्रुत्वाऽपि यं महाप्राज्ञो महापापैः प्रमुच्यते ।
विष्णोर्मुखादिति श्रुत्वा सोऽग्निबिन्दुर्महामुनिः ॥ १४२ ।
पुनः प्रणम्य पप्रच्छ बिन्दुमाधवमच्युतम् ॥ १४३ ।

अग्निबिन्दुरुवाच–

भगवन् श्रोतुमिच्छामि बिन्दुमाधव तद्वद ।
कतिधा तव रूपाणि काश्यां सन्ति जनार्दन ॥ १४४ ।

शुभमय कार्तिक मास में जिन्होंने पंचनदतीर्थ में स्नान नहीं किया, उन शरीरधारियों का जन्म तो जल के बुल्ले-सा वृथा ही बीत गया ॥ १३९ ।

हे महामुने ! अग्निबिन्दो ! (सब से) पवित्र तो आनन्दवन ही है, उसमें भी पंचनदतीर्थ और भी पवित्र है, वहाँ पर भी मेरा सान्निध्य तो अत्यन्त ही पवित्र है ॥ १४० ।

हे महाप्राज्ञ ! इसी अनुमान से पंचनदतीर्थ का सब तीर्थों से उत्तमोत्तम माहात्म्य समझ लो ॥ १४१ ।

जिसके सुनने से महामूर्ख जन भी बड़े-बड़े पापों से छूट जाता है, उस अग्नि-बिन्दु महामुनि ने विष्णु के मुख से इस कथा को सुनकर बिन्दुमाधव रूप भगवान् अच्युत को प्रणाम करके फिर (यह) पूछा ॥ १४२-१४३ ।

अग्निबिन्दु बोले–

हे भगवन् ! बिन्दुमाधव ! इस काशी में आपकी कैसी-कैसी मूर्तियाँ वर्तमान हैं, हे जनार्दन ! यह मैं सुनना चाहता हूँ, आप बताइये ॥ १४४ ।

भविष्याण्यपि कानीह तानि मे कथयाऽच्युत ।
यानि सम्पूज्य ते भक्ताः प्राप्स्यन्ति कृतकृत्यताम् ॥ १४५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे बिन्दुमाधवाविर्भावो नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ।

और हे अच्युत ! कौन-कौन से आपके रूप अभी होने वाले हैं, जिनका पूजन करके आपके भक्त लोग कृतार्थ होंगे, कृपापूर्वक आप मुझसे उनका भी वर्णन कीजिये' ॥ १४५ ।

अग्निबिन्दु मुनि धन्य भे, मेलेउ हरि में नाम ।
तबहिं बिन्दु-माधव भये, द्वैतविशिष्ट निकाम ॥ १ ।
मसजिद "औरंगजेब की", कही जाय कुछ और ।
माधो जी को "धरहरा" है प्रसिद्ध सब ठौर ॥ २ ।
वही धरहरा धर्मकर, है फरहरा समान ।
भुज उठाय काशी कहै, हरिहर दोउ न आन ॥ ३ ।
पँचगंगा पर स(छ)त्रयुत, मन्दिर देखन जोग ।
दरशन माधोराय को, देत बहुत फलभोग ॥ ४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां श्रीबिन्दुमाधवकथावर्णनं नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ।

॥ अथैकषष्टितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

षडास्य माधवाख्यानं श्रुतं मे पापनाशनम् ।
महिमाऽपि श्रुतः श्रेयान् सम्यक् पञ्चनदस्य वै ॥ १ ।
यदग्निबिन्दुनाऽपृच्छि माधवो दैत्यसूदनः ।
तस्योत्तरं समाख्याहि यथाख्यातं मधुद्विषा ॥ २ ।

स्कन्द उवाच–

शृण्वगस्त्य महर्षे त्वं कथ्यमानं मयाऽधुना ।
माधवेन यथाऽऽचक्षि मुनये चाग्निबिन्दवे ॥ ३ ।

बिन्दुमाधव उवाच–

आदौ पादोदके तीर्थे विद्धि मामादिकेशवम् ।
अग्निबिन्दो महाप्राज्ञ भक्तानां मुक्तिदायकम् ॥ ४ ।

एकषष्टितमेऽध्याये महामाहात्म्यसूचकम् ।
वैष्णवानां च तीर्थानां माहात्म्यं हरिणाऽकथि ॥ १ ।

अतीताध्याये भगवन्नित्यादिना अग्निबिन्दुना पृष्टस्य प्रत्युत्तरमुक्तानुवादपूर्वकं पृच्छति । षडास्येति ॥ १ ।

आचक्षि अकथि ॥ ३ ।

(विष्णु के तीर्थों का माहात्म्य और मूर्तियों का भेद-वर्णन)

श्री अगस्त्यमुनि बोले–

'हे षडानन ! पापनाशक बिन्दुमाधव का उपाख्यान और पंचनदतीर्थ की उत्तम महिमा पूर्णतया मैंने सुनी ॥ १ ।

अब आप अग्निबिन्दु के पूछने पर दानवसूदन माधव ने जो उत्तर दिया था, उसे कीर्तन कीजिये' ॥ २ ।

स्कन्द ने कहा–

'हे अगस्त्य ! महर्षे ! भगवान् माधव ने अग्निबिन्दु मुनि से जैसा कहा था, मैं भी सम्प्रति तुमसे कहता हूँ, श्रवण करो' ॥ ३ ।

बिन्दुमाधव ने कहा–

'हे महापंडित ! अग्निबिन्दो ! प्रथमतः तो मुझे भक्त लोगों के मुक्तिदाता 'आदिकेशव' रूप को पादोदकतीर्थ पर समझना चाहिए ॥ ४ ।

अविमुक्तेऽमृते क्षेत्रे येऽर्चयन्त्यादिकेशवम् ।
तेऽमृतत्वं भजन्त्येव सर्वदुःखविवर्जिताः ॥ ५ ।
संगमेशं महालिङ्गं प्रतिष्ठाप्यादिकेशवः ।
दर्शनादघहं नृणां भुक्तिं मुक्तिं दिशेत्सदा ॥ ६ ।
याम्यां पादोदकाच्छ्वेतद्वीपतीर्थं महत्तरम् ।
तत्राहं ज्ञानदो नृणां ज्ञानकेशवसंज्ञकः ॥ ७ ।
श्वेतद्वीपे नरः स्नात्वा ज्ञानकेशवसन्निधौ ।
न ज्ञानाद् भ्रश्यते क्वापि ज्ञानकेशवपूजनात् ॥ ८ ।
तार्क्ष्यकेशवनामाऽहं तार्क्ष्यतीर्थे नरोत्तमैः ।
पूजनीयः सदा भक्त्या तार्क्ष्यवत्ते प्रिया मम ॥ ९ ।
तत्रैव नारदे तीर्थेऽस्म्यहं नारदकेशवः ।
ब्रह्मविद्योपदेष्टा च तत्तीर्थाप्लुतवर्ष्मणाम् ॥ १० ।
प्रह्लादतीर्थं तत्रैव नाम्ना प्रह्लादकेशवः ।
भक्तैः समर्चनीयोऽहं महाभक्तिसमृद्धये ॥ ११ ।

जो लोग अमृतस्वरूप अविमुक्तक्षेत्र में मेरे आदिकेशव रूप का पूजन करते हैं, वे सब दुःखों से रहित होकर अन्त में अमृत पद को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ।

आदिकेशव,, दर्शन से ही पापनाशक संगमेश्वरनामक महालिंग की स्थापना कर मनुष्यों को सदैव भोग और मोक्ष का दान करते रहते हैं ॥ ६ ।

पादोदकतीर्थ के दक्षिण एक श्वेतद्वीप नामक महातीर्थ है, वहाँ पर मनुष्यों को ज्ञान देने के लिये, मैं ज्ञानकेशव नाम से विराजमान रहता हूँ ॥ ७ ।

ज्ञानकेशव के समीप श्वेतद्वीप तीर्थ में स्नान करने से और ज्ञानकेशव की पूजा करने से मनुष्य कभी भी ज्ञान से भ्रष्ट नहीं होता ॥ ८ ।

फिर गरुड़तीर्थ पर मैं तार्क्ष्यकेशवनामा हूँ, जो उत्तम जन भक्तिपूर्वक वहाँ पर मेरी पूजा करते हैं, वे गरुड़ ही के समान मेरे प्रीतिपात्र हो जाते हैं ॥ ९ ।

यों ही उसी स्थान पर नारदतीर्थ में मैं नारदकेशव के नाम से रहता हूँ, और उस तीर्थ के स्नान करने वालों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करता रहता हूँ ॥ १० ।

वहाँ पर ही प्रह्लादतीर्थ है, जहाँ पर मैं प्रह्लादकेशव के नाम से व्यवस्थित हूँ, बड़ी भक्ति की समृद्धि के लिये भक्त लोगों को वहाँ पर मेरी पूजा करनी चाहिए ॥ ११ ॥

तीर्थेऽम्बरीषे तत्राऽहं नाम्नैवादित्यकेशवः ।
पातकध्वान्तनिचयं ध्वंसयामीक्षणादपि ॥ १२ ।
दत्तात्रेयेश्वराद्याम्यामहमादिगदाधरः ।
हरामि तत्र भक्तानां संसारगदसंचयम् ॥ १३ ।
तत्रैव भार्गवे तीर्थे भृगुकेशवनामतः ।
काशीनिवासिनः पुंसो बिभर्मि च मनोरथैः ॥ १४ ।
वामनाख्ये महातीर्थे मनःप्रार्थितदे शुभे ।
पूज्योऽहं शुभमिच्छद्भिर्नाम्ना वामनकेशवः ॥ १५ ।
नरनारायणे तीर्थे नरनारायणात्मकम् ।
भक्ताः समर्च्य मां स्युर्वै नरनारायणात्मकाः ॥ १६ ।
तीर्थे यज्ञवराहाख्ये यज्ञवाराहसंज्ञकः ।
नरैः समर्चनीयोऽहं सर्वयज्ञफलेप्सुभिः ॥ १७ ।
विदारनरसिंहोऽहं काशीविघ्नविदारणः ।
तन्नाम्नि तीर्थे संसेव्यस्तीर्थोपद्रवशान्तये ॥ १८ ।

उसके आगे अम्बरीषतीर्थ पर आदित्यकेशव नाम से मैं पापान्धकार के समूह का दर्शनमात्र से विध्वंस कर डालता हूँ ॥ १२ ।

दत्तात्रेयेश्वर के दक्षिण मैं आदिगदाधर रूप से रहता हूँ और वहाँ पर भक्तों के संसाररूपी रोगराशि को दूर कर देता हूँ ॥ १३ ।

उसी स्थान पर भार्गवतीर्थ है, जहाँ पर मैं भृगुकेशव के नाम से वास करता हूँ ॥ १४ ।

शुभेच्छु लोगों को अभीष्टफलदायक वामन नामक महातीर्थ पर (वामनतीर्थ पर) मुझे वामनकेशव नाम से पूजना चाहिए ॥ १५ ।

फिर नरनारायण तीर्थ पर मैं नारायण नाम से बना रहता हूँ, जो भक्तगण वहाँ पर मेरा पूजन करते हैं, वे नरनारयण के ही स्वरूप हो जाते हैं ॥ १६ ।

मैं यज्ञवाराहतीर्थ पर यज्ञवाराहनामक हूँ, जो लोग सब यज्ञों का फल चाहें, वे हमारी पूजा करें ॥ १७ ।

काशी के विघ्नों के विदारक विदारनरसिंह नामक मुझे इसी नाम के तीर्थ पर तीर्थ के उपद्रवों को शान्त करने के लिये सेवन क़रना चाहिए ॥ १८ ।

गोपीगोविन्दतीर्थे तु गोपीगोविन्दसंज्ञकम् ।
समर्च्य मां नरो भक्त्या मम मायां न संस्पृशेत् ॥ १९ ।
मुने लक्ष्मीनृसिंहोऽस्मि तीर्थे तन्नाम्नि पावने ।
दिशामि भक्तियुक्तेभ्यः सदा नैःश्रेयसीं श्रियम् ॥ २० ।
शेषमाधवनामाऽहं शेषतीर्थेऽघहारिणि ।
विश्राणयाम्यशेषांश्च विशेषान् भक्तचिन्तितान् ॥ २१ ।
शंखमाधवतीर्थे च स्नात्वा मां शंखमाधवम् ।
शंखोदकेन संस्नाप्य भवेच्छंखनिधेः पतिः ॥ २२ ।
हयग्रीवे महातीर्थे मां हयग्रीवकेशवम् ।
प्रणम्य प्राप्नुयान्नूनं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २३ ।
भीष्मकेशवनामाऽहं वृद्धकालेशपश्चिमे ।
उपसर्गान् हरे भीष्मान् सेवितो भक्तियुक्तितः ॥ २४ ।
निर्वाणकेशवश्चाहं भक्तनिर्वाणसूचकः ।
लोलार्कादुत्तरे भागे लोलत्वं चेतसो हरे ॥ २५ ।

गोपीगोविन्दतीर्थं गोपीयुक्तश्रीकृष्णतीर्थम् ॥ १९ ।
विशेषानुत्कृष्टाभिलषितपदार्थान् ॥ २१ ।
भक्तियुक्तितः भक्तियोगेन ॥ २४ ।

गोपीगोविन्दतीर्थ पर भक्तिपूर्वक गोपीगोविन्द नाम से मेरी अर्चना करने वाला मनुष्य मेरी माया में नहीं पड़ता ॥ १९ ।

हे मुने ! लक्ष्मीनृसिंह नाम से उसी नाम के पावन तीर्थ पर (लक्ष्मीनृसिंहतीर्थ पर) मैं भक्तियुक्त लोगों को सर्वदा मोक्षलक्ष्मी दिया करता हूँ ॥ २० ।

अघहारी शेषतीर्थ पर मैं शेषमाधवसंज्ञक होकर भक्तों के अशेष विशेष चिन्तितों को देता (अशेष मनोरथ पूरा करता) रहता हूँ ॥ २१ ।

शंखमाधव तीर्थ में स्नान करके शंख के जल से मुझ शंखमाधव को नहला देने से मनुष्य शंखनिधि का अधीश्वर हो जाता है ॥ २२ ।

मैं हयग्रीवतीर्थ पर हयग्रीवकेशव नामक हूँ, वहाँ पर मुझे प्रणाम भी कर दे, तो निश्चय ही वह विष्णु का परम पद प्राप्त करता है ॥ २३ ।

वृद्धकालेश्वर के पश्चिम ओर मैं भीष्मकेशव नाम से रहकर भक्तिपूर्वक सेवा करने से बड़े भयंकर उपद्रवों को दूर कर देता हूँ ॥ २४ ।

लोलार्क के उत्तरभाग में मैं निर्वाणकेशवसंज्ञक हूँ, भक्तों के निर्वाण की (देने की) सूचना करता हुआ चित्त की चंचलता का हरण करता हूँ ॥ २५ ।

वन्ध्यास्त्रिलोकसुन्दर्या याम्यां यो मां समर्चयेत् ।
काश्यां ख्यातं त्रिभुवनकेशवं न स गर्भभाक् ॥ २६ ।
ज्ञानवाप्याः पुरोभागे विद्धि मां ज्ञानमाधवम् ।
तत्र मां भक्तितोऽभ्यर्च्य ज्ञानं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ २७ ।
श्वेतमाधवसंज्ञोऽहं विशालाक्ष्याः समीपतः ।
श्वेतद्वीपेश्वरं रूपं कुर्यां भक्त्या समर्चितः ॥ २८ ।
उदग्दशाश्वमेधान्मां प्रयागाख्यं च माधवम् ।
प्रयागतीर्थे सुस्नातो दृष्ट्वा पापैः प्रमुच्यते ॥ २९ ।
प्रयागगमने पुंसां यत् फलं तपसि श्रुतम् ।
तत्फलं स्याद्दशगुणमत्र स्नात्वा ममाऽग्रतः ॥ ३० ।
गङ्गायमुनयोः सङ्गे यत्पुण्यं स्नानकारिणाम् ।
काश्यां मत्सन्निधावत्र तत्पुण्यं स्याद्दशोत्तरम् ॥ ३१ ।

उदगुत्तरे ॥ २९ ।

तपसि माघे ॥ ३० ।

मत्सन्निधौ प्रयागमाधवनिकटे ॥ ३१ ।

त्रैलोक्यसुन्दरी वन्दी देवी के दक्षिण काशी में विख्यात भुवनकेशव नाम से जो मेरी पूजा करता है, वह फिर कभी गर्भभागी नहीं होता (उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है) ॥ २६ ।

ज्ञानवापी के सन्मुख ही मैं ज्ञानमाधव होकर विराजमान रहता हूँ । भक्तिभाव से वहाँ पर मेरा समर्चन करने से शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है ॥ २७ ।

विशालाक्षी देवी के समीप ही मैं श्वेतमाधव नाम से भक्तिपूर्वक पूजन करने पर श्वेतद्वीपेश्वर का रूप ही बना देता हूँ ॥ २८ ।

दशाश्वमेध से उत्तर प्रयागतीर्थ में यथावत् स्नान करके जो कोई प्रयागमाधव रूप का दर्शन करता है, वह पापों से छूट जाता है ॥ २९ ।

माघ मास में प्रयाग जाने से जो फल सुना गया है, यहाँ (प्रयागतीर्थ में) मेरे आगे स्नान करने से वही फल दशगुण अधिक होता है ॥ ३० ।

गंगा और यमुना के संगम पर स्नान करने वालों को जो पुण्य होता है, काशी में मेरे समीप इस तीर्थ में उसका दशगुणा पुण्य प्राप्त होता है ॥ ३१ ।

दानानि राहुग्रस्तेऽर्के ददतां यत्फलं भवेत् ।
कुरुक्षेत्रे हि तत्काश्यामत्रैव स्याद्दशाधिकम् ॥ ३२ ।
गङ्गोत्तरवहा यत्र यमुना पूर्ववाहिनी ।
तत्संभेदं नरः प्राप्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ ३३ ।
वपनं तत्र कर्तव्यं पिण्डदानं च भावतः ।
देयानि तत्र दानानि महाफलमभीप्सुना ॥ ३४ ।
गुणाः प्रजापतिक्षेत्रे ये सर्वे समुदीरिताः ।
अविमुक्ते महाक्षेत्रेऽसंख्याताश्च भवन्ति हि ॥ ३५ ।
प्रयागेशं महालिङ्गं तत्र तिष्ठति कामदम् ।
तत्सान्निध्याच्च तत्तीर्थं कामदं परिकीर्तितम् ॥ ३६ ।
काश्यां माघः प्रयागे यैर्न स्नातो मकरार्कगः ।
अरुणोदयमासाद्य तेषां निःश्रेयसं कुतः ॥ ३७ ।

प्रयागेशं शूलटङ्केश्वरम् ॥ ३६ ।

सूर्यग्रहण लगने पर कुरुक्षेत्र में अनेक दान करने से जो फल होता है, काशी में इसी स्थान पर (कुरुक्षेत्र सरोवर में) उसका दशगुणा अधिक फल मिल जाता है ॥ ३२ ।

जहाँ पर गंगा उत्तरवाहिनी और यमुना पूर्ववाहिनी हैं, उस संगम पर पहुँचते ही मनुष्य की ब्रह्महत्या भी छूट जाती है (रघुवंश में सीता के प्रति राम का वाक्य है–

'समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनां यत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः')। ३३ ।

वहाँ पर केशमुण्डन और पिण्डदान एवं अनेक प्रकार के दान गहनभाव से बड़े फल चाहने वाले को करना चाहिए ॥ ३४ ।

प्रजापति-क्षेत्र प्रयागराज में जो सब गुण कहे गये हैं, वे सब अविमुक्त महाक्षेत्र में अगणित हो जाते हैं ॥ ३५ ।

प्रयाग में सब कामनाओं का दाता प्रयागेश्वरनामक एक महालिंग विराजमान है, उसी के सान्निध्य होने से वह तीर्थ कामद कहा जाता है ॥ ३६ ।

सूर्य के मकर राशि में चले जाने पर माघ मास में जिन लोगों ने अरुणोदय के समय काशी में प्रयागतीर्थ में स्नान नहीं किया, उनको भला मोक्ष कहाँ से मिलेगा ? ॥ ३७ ।

काश्युद्भवे प्रयागे ये तपसि स्नान्ति संयताः ।
दशाश्वमेधजनितं फलं तेषां भवेद्ध्रुवम् ॥ ३८ ।
प्रयागमाधवं भक्त्या प्रयागेशं च कामदम् ।
प्रयागे तपसि स्नात्वा येऽर्चयन्त्यन्वहं सदा ॥ ३९ ।
धनधान्यसुतर्द्धीस्ते लब्ध्वा भोगान् मनोरमान् ।
भुक्त्वेह परमानन्दं परं मोक्षमवाप्नुयुः ॥ ४० ।
माघे सर्वाणि तीर्थानि प्रयागमधियान्ति हि ।
प्राच्युदीची प्रतीचीतो दक्षिणाधस्तथोर्ध्वतः ॥ ४१ ।
काशीस्थितानि तीर्थानि मुने यान्ति न कुत्रचित् ।
यदि यान्ति तदायान्ति तीर्थत्रयमनुत्तमम् ॥ ४२ ।
आयान्त्यूर्जे पञ्चनदे प्रातः प्रातर्ममान्तिकम् ।
महाघौघप्रशमने महाश्रेयोविधायिनि ॥ ४३ ।
प्राप्य माघमघारिं च प्रयागेशसमीपतः ।
प्रातः प्रयागं संस्नान्ति सर्वतीर्थानि मामनु ॥ ४४ ।

ऊर्जे कार्तिके ॥ ४३ ।

मामनु मां लक्ष्यीकृत्य मत्समीपे चेत्यर्थः ॥ ४४ ।

जो लोग काशी के प्रयागतीर्थ पर माघ मास में संयत होकर नहाते हैं, उन्हें दस अश्वमेध यज्ञों के करने का फल अवश्य ही होता है ॥ ३८ ।

माघ मास में प्रयाग (दशाश्वमेध घाट) पर नहाकर जो सदैव भक्तिपूर्वक प्रयागमाधव और कामप्रद प्रयागेश्वर का पूजन करते हैं, वे लोग इस लोक में धन-धान्य, पुत्र और सम्पत्तियों को पाकर परम आनन्द से मनोरम भोगों को भोगते हुए अन्त में मोक्ष को भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३९-४० ।

माघ में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे और ऊपर के समस्त तीर्थ प्रयागराज में चले जाते हैं ॥ ४१ ।

किन्तु हे मुने ! वाराणसी में जितने तीर्थ स्थित हैं, वे कहीं नहीं जाते और जाते भी हैं, तो परमोत्तम केवल इन्हीं तीनों तीर्थों में जाते हैं ॥ ४२ ।

प्रथम तो महापापनाशक और परममंगलदायक पंचनदतीर्थ पर प्रतिदिन प्रातःकाल मेरे समीप में आते हैं ॥ ४३ ।

फिर अघहारी माघ मास में प्रयागेश्वर के सन्निकट प्रयागतीर्थ पर मेरे पास ही सब तीर्थ स्नात करते हैं ॥ ४४ ॥

समासाद्य च मध्याह्नमभियान्ति च नित्यशः ।
संस्नातुं सर्वतीर्थानि मुक्तिदां मणिकर्णिकाम् ॥ ४५ ।
काश्यां रहस्यं परममेतत्ते कथितं मुने ।
यथा तीर्थत्रयी श्रेष्ठा स्वस्वकाले विशेषतः ॥ ४६ ।
अन्यद्रहस्यं वक्ष्यामि न वाच्यं यत्र कुत्रचित् ।
अभक्तेषु सदा गोप्यं न गोप्यं भक्तिमज्जने ॥ ४७ ।
काश्यां सर्वाणि तीर्थानि एकैकादुत्तरोत्तरम् ।
महैनांसि प्रहन्त्येव प्रसह्य निजतेजसा ॥ ४८ ।
एतदेव रहस्यं ते वाराणस्या उदीर्यते ।
उत्क्षिप्यैकाङ्गुलिं तथ्यं श्रेष्ठैका मणिकर्णिका ॥ ४९ ।
गर्जन्ति सर्वतीर्थानि स्वस्वधिष्ण्यगतान्यहो ।
केवलं बलमासाद्य सुमहन्मणिकर्णिकम् ॥ ५० ।
पापानि पापिनां हत्वा महान्त्यपि बहून्यपि ।
काशीतीर्थानि मध्याह्ने प्रायश्चित्तचिकीर्षया ॥ ५१ ।

प्रहन्त्येव प्रघ्नंत्येवेत्यर्थः । दहन्तीति वा पाठः ॥ ४८ ।

और फिर तो सभी तीर्थगण नित्य ही मध्याह्नवेला में मुक्तिदात्री मणिकर्णिका पर स्नान करने के लिये जाते हैं ॥ ४५ ।

हे मुनिवर ! अपने-अपने समय पर काशी में ये तीनों ही तीर्थ जितने श्रेष्ठ हैं, यह गुप्त बात मैंने विशेषरूप से तुम्हें बता दी है ॥ ४६ ।

अब एक और भी गूढ़ विषय तुमसे कहता हूँ। पर उसे जहाँ ही हो, वहीं पर नहीं कह देना चाहिए, अर्थात् जो लोग भक्ति रखते हों, उनसे तो अवश्य ही कह दे, पर जो भक्तिहीन हों, उनसे कभी नहीं कहे ॥ ४७ ।

काशी में सभी तीर्थ एक से एक बढ़-चढ़कर अपने-अपने तेज से बलपूर्वक बड़े-बड़े पापों को विनष्ट कर डालते हैं ॥ ४८ ।

परन्तु वाराणसी का यह रहस्य मैं एक अंगुलि उठाकर तुमसे बहुत ही ठीक-ठीक बता रहा हूँ कि (सब तीर्थों से) एक मणिकर्णिका ही श्रेष्ठ है ॥ ४९ ।

एकमात्र मणिकर्णिका का ही बड़ा बल पाकर अपने-अपने स्थान पर विराजमान सभी तीर्थ (पापहरण करने के लिये) गरजते रहते हैं ॥ ५० ।

काशी के समस्त तीर्थ पापियों के बहुत ही बड़े-बड़े पापों को काटकर प्रायश्चित्त करने की इच्छा से मध्याह्न के समय सब पर्वों में और पर्वों के बिना भी

पर्वस्वपर्वस्वपि वा नित्यं नियमवन्त्यहो ।
निर्मलानि भवन्त्येव विगाह्य मणिकर्णिकाम् ॥ ५२ ।
विश्वेशो विश्वया सार्धं सदोपमणिकर्णिकम् ।
मध्यंदिनं समासाद्य संस्नाति प्रतिवासरम् ॥ ५३ ।
वैकुण्ठादप्यहं नित्यं मध्याह्ने मणिकर्णिकाम् ।
विगाहे पद्मया सार्धं मुदा परमया मुने ॥ ५४ ।
सकृन्ममाख्यां गृणतां निर्हरन्यदघान्यहम् ।
हरिनामसमापन्नस्तद्‌बलान्माणिकर्णिकात् ॥ ५५ ।
सत्यलोकात् प्रतिदिनं हंसयानः पितामहः ।
माध्याह्निकविधानाय समायान्मणिकर्णिकाम् ॥ ५६ ।
इन्द्राद्या लोकपालाश्च मरीचाद्या महर्षयः ।
माध्याह्निकीं क्रियां कर्तुं समीयुर्मणिकर्णिकाम् ॥ ५७ ।

मणिकर्णिकायाः समीपमुपमणिकर्णिकं मणिकर्णिकायामित्यर्थः ॥ ५३ ।

वैकुण्ठादिति । आगत्य मणिकर्णिकां समासाद्येति समासादयेति शेषः ॥ ५४ ।

सकृदिति । सकृत् कदाचिन्ममाख्याम् । गृणतामुच्चरतां यदहमघं निर्हरन् निःशेषेण पापं हरामि नाशयामि, तन्माणिकर्णिकाद् बलात् । मणिकर्णिकावगाहनादिजन्यसामर्थ्यादित्यर्थः । निर्हरेदिति पाठे निर्हरामीत्येव । अत एवाहं हरिनामसमापन्नो भक्तानां सर्वाणि पापानि हरतीति हरिः, हरिरिति नाम समापन्नं येन सोऽहं तथा ॥ ५५ ।

नित्य ही नियम के साथ मणिकर्णिका में अवगाहन करके (धो-धाकर) निर्मल हो जाते हैं ॥ ५१-५२ ।

(कहाँ तक कहें) प्रतिदिन मध्याह्नवेला में भगवान् विश्वनाथ भी भवानी (अन्नपूर्णा) के साथ मणिकर्णिका में ही स्नान करते हैं ॥ ५३ ।

हे मुने ! मैं भी नित्यशः मध्याह्नकाल में लक्ष्मी के सहित वैकुण्ठ से आकर बड़े आनन्द से मणिकर्णिका में स्नान करता हूँ ॥ ५४ ।

किसी के एक बार भी मेरा नाम ले लेने से मैं उसका पापहरण करने के कारण ही जो हरि कहा जाता हूँ, वह प्रभाव केवल मणिकर्णिका का ही है ॥ ५५ ।

पितामह ब्रह्मा भी मध्याह्नक्रिया करने के लिये हंस पर आरूढ़ होकर प्रतिदिन सत्यलोक से मणिकर्णिका पर आते हैं ॥ ५६ ।

इन्द्रादिक लोकपाल और मरीचि इत्यादि महर्षिगण मध्याह्नकर्म करने के लिये (स्वर्ग से) मणिकर्णिका पर ही आते हैं ॥ ५७ ।

शेषवासुकिमुख्याश्च नागा वै नागलोकतः ।
समायान्तीह मध्याह्ने संस्नातुं मणिकर्णिकाम् ॥ ५८ ।
चराचरेषु सर्वेषु यावन्तश्च सचेतनाः ।
तावन्तः स्नान्ति मध्याह्ने मणिकर्णीजलेऽमले ॥ ५९ ।
के माणिकर्णिकेयानां गुणानां सुगरीयसाम् ।
शक्ता वर्णयितुं विप्राऽसंख्येयानां मदादिभिः ॥ ६० ।
चीर्णान्युग्राण्यरण्येषु तैस्तपांसि तपोधनैः ।
यैरियं हि समासादि मुक्तिभूर्मणिकर्णिका ॥ ६१ ।
विश्राणितमहादानास्त एव नरपुङ्गवाः ।
चरमे वयसि प्राप्ता यैरेषा मणिकर्णिका ॥ ६२ ।
चीर्णसर्वव्रतास्ते तु यथोक्तविधिना ध्रुवम् ।
यैः स्वतल्पीकृता माणिकर्णिकियी स्थली मृदुः ॥ ६३ ।
त एव धन्या मर्त्येऽस्मिन् सर्वक्रतुषु दीक्षिताः ।
त्यक्त्वा पुण्यार्जितां लक्ष्मीमैक्षि यैर्मणिकर्णिका ॥ ६४ ।

इसी मणिकर्णिका पर नागलोक (पाताल) से शेष और वासुकि इत्यादि नागलोग मध्याह्न के समय स्नान करने के लिये आया करते हैं ॥ ५८ ।

(अधिक क्या कहें) समस्त चराचरों में जितने ही सचेतन प्राणी हैं, वे सब मध्याह्न की वेला में मणिकर्णिका के निर्मल जल में स्नान करते हैं ॥ ५९ ।

हे विप्र ! हम लोग भी जिसकी गणना करने में अशक्त हैं, मणिकर्णिका के उन गुरु-गरिमा वाले गुणों का कौन लोग वर्णन कर सकते हैं ? ॥ ६० ।

जिन तपस्वियों ने जंगलों में बड़ी उग्र तपस्याएँ संचय की हैं, उन्हीं लोगों ने अन्त में इस मुक्तिभूमि मणिकर्णिका को प्राप्त किया है ॥ ६१ ।

जो लोग अन्त अवस्था में इस मणिकर्णिका को पा सकें, वे नरश्रेष्ठ ही बड़े दानियाँ कहे जाते हैं ॥ ६२ ।

यथोक्त विधि के अनुसार जिन लोगों ने सब व्रत कर डाले हैं, निश्चित रूप से वे सब ही मणिकर्णिका की सुकोमल भूमि को अपनी शय्या बना सके हैं ॥ ६३ ।

वे ही लोग इस मर्त्यलोक में धन्यवाद के पात्र और सब यज्ञों में दीक्षित हो चुके हैं, जो अपने पुण्य से उपार्जित सम्पत्ति को त्यागकर मणिकर्णिका को देख सके हैं ॥ ६४ ।

कृता नानाविधा धर्मा इष्टापूर्तास्तु तैर्नृभिः ।
वार्धकं समनुप्राप्य प्रापि यैर्मणिकर्णिका ॥ ६५ ।
रत्नानि सदुकूलानि काञ्चनं गजवाजिनः ।
देयाः प्राज्ञेन यत्नेन सदोपमणिकर्णिकम् ॥ ६६ ।
पुण्येनोपार्जितं द्रव्यमत्यल्पमपि यैर्नरैः ।
दत्तं तदक्षयं नित्यं मुनेऽधिमणिकर्णिकम् ॥ ६७ ।
कुर्याद्यथोक्तमप्येकं प्राणायामं नरोत्तमः ।
यस्तेन विहितो नूनं षडङ्गो योग उत्तमः ॥ ६८ ।
जप्त्वैकामपि गायत्रीं सम्प्राप्य मणिकर्णिकाम् ।
लभेदयुतगायत्रीजपनस्य फलं स्फुटम् ॥ ६९ ।
एकामप्याहुतिं प्राज्ञो दत्वोपमणिकर्णिकम् ।
यावज्जीवाग्निहोत्रस्य लभेदविकलं फलम् ॥ ७० ।
इति हरेर्वाक्यमग्निबिन्दुर्महातपाः ।
प्रणिपत्य महाभक्त्या पुनः पप्रच्छ माधवम् ॥ ७१ ।

वास्तव में जो लोग नानाप्रकार के इष्टापूर्त धर्मकर्मों का अनुष्ठान कर चुके हैं, वे ही लोग वृद्धावस्था में मणिकर्णिका को पा सकते हैं ॥ ६५ ।

बुद्धिमान् जन को उचित है कि, बड़े यत्न से रत्न, सुवर्ण, वस्त्र, हाथी और घोड़ा इत्यादि वस्तु मणिकर्णिका पर दान करे ॥ ६६ ।

हे मुने ! मणिकर्णिका पर यदि धर्मपूर्वक उपार्जित थोड़ा भी द्रव्य दिया जाय, तो वह नित्य ही अक्षय बना रहता है ॥ ६७ ।

जो उत्तम मनुष्य एक बार भी इस स्थान पर विधिपूर्वक प्राणायाम करे, उसे परम उत्कृष्ट षडंग योग साधन का फल प्राप्त होता है ॥ ६८ ।

यों ही जो कोई मणिकर्णिका पर एक गायत्री का भी जप करता है, उसे दश सहस्र गायत्री के जपने का पुण्य हो जाता है ॥ ६९ ।

जो प्राज्ञ जन मणिकर्णिका पर एक भी आहुति दे देता है, उसे जन्म भर अग्निहोत्र करने का पूर्ण फल मिल जाता है ॥ ७० ।

इस प्रकार से उस परम तपस्वी अग्निबिन्दु ऋषि ने भगवान् माधव के वाक्य को सुनकर बड़ी भक्ति के साथ प्रणाम करके फिर पूछा ॥ ७१ ।

अग्निबिन्दुरुवाच–

विष्णो कियत्परीमाणा पुण्यैषा मणिकर्णिका ।
ब्रूहि मे पुण्डरीकाक्ष न त्वत्तस्तत्त्ववित् परः ॥ ७२ ।

श्रीविष्णुरुवाच–

आगङ्गा केशवादा च हरिश्चन्द्रस्य मण्डपात् ।
आमध्याद्देवसरितः स्वर्द्वारान्मणिकर्णिका ॥ ७३ ।
स्थूलमेतत् परीमाणं सूक्ष्मं च प्रवदामि ते ।
हरिश्चन्द्रस्य तीर्थाग्रे हरिश्चन्द्रविनायकः ॥ ७४ ।
सीमाविनायकश्चात्र मणिकर्णीह्रदोत्तरे ।
सीमाविनायकं भक्त्या पूजयित्वा नरोत्तमः ॥ ७५ ।
मोदकैः सोपचारैश्च प्राप्नुयान्मणिकर्णिकाम् ।
हरिश्चन्द्रे महातीर्थे तर्पयेयुः पितामहान् ॥ ७६ ।
शतं समाः सुतृप्ताः स्युः प्रयच्छन्ति च वाञ्छितम् ।
हरिश्चन्द्रे महातीर्थे स्नात्वा श्रद्धान्वितो नरः ॥ ७७ ।
हरिश्चन्द्रेश्वरं नत्वा न सत्यात्परिहीयते ।
ततः पर्वततीर्थं च पर्वतेश्वरसन्निधौ ॥ ७८ ।

तत्र सूक्ष्मपरिमाणं वक्तुं प्रसङ्गात् स्थूलमणिकर्णिकायामवान्तरतीर्थान्याह । हरिश्चन्द्रेत्यारभ्य चक्रपुष्करणीत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ ७४ ।

सुतृप्ताः स्युः, तस्य ते पितामहा इति शेषः ॥ ७७ ।

अग्निबिन्दु ने कहा–

हे माधव ! इस पुण्यभूमि मणिकर्णिका का कितना परिमाण है, आप मुझसे कहें; क्योंकि, हे पुंडरीकाक्ष ! आपसे बढ़कर कोई दूसरा तत्त्वज्ञ नहीं है ॥ ७२ ।

श्रीविष्णु ने उत्तर दिया–

(दक्षिण) गंगाकेशव से (उत्तर) हरिश्चन्द्र का मंडप और (पूर्व) आधी गंगा से (पश्चिम) स्वर्गद्वार तक मणिकर्णिका की सीमा है ॥ ७३ ।

यह तो मोटा परिमाण है, अब मैं उसका सूक्ष्मरूप भी तुमसे कहता हूँ । **हरिश्चन्द्रतीर्थ** के आगे **हरिश्चन्द्रविनायक** हैं ॥ ७४ ।

और वहीं पर मणिकर्णिका कुंड के उत्तर ओर सीमाविनायक हैं । जो कोई उत्तम नर भक्तिपूर्वक मोदक आदि उपचारों से सीमाविनायक का पूजन करने के पश्चात् मणिकर्णिकातीर्थ पर पहुँचे और **हरिश्चन्द्रतीर्थ** में अपने पितरों का तर्पण करे, तो उसके पूर्वपुरुष सौ वर्ष के लिये तृप्त होकर वांछित फल देते हैं । जो

अधिष्ठानं महामेरोर्महापातकनाशनम् ।
तत्र स्नात्वाऽर्चयित्वेशं किञ्चिद्दत्वा स्वशक्तितः ॥ ७९ ।
अध्यास्य मेरुशिखरं दिव्यान् भोगान् समश्नुते ।
कम्बलाश्वतरं तीर्थं पर्वतेश्वरदक्षिणे ॥ ८० ।
कम्बलाश्वतरेशं च तत्तीर्थात्पश्चिमे शुभम् ।
तस्मिंस्तीर्थे कृतस्नानस्तल्लिङ्गं यः समर्चयेत् ॥ ८१ ।
अपि तस्य कुले जाता गीतज्ञाः स्युः श्रियान्विताः ।
चक्रपुष्करिणी तत्र योनिचक्रनिवारिणी ॥ ८२ ।
संसारचक्रे गहने यत्र स्नातो विशेन्न ना ।
चक्रपुष्करिणीतीर्थं ममाधिष्ठानमुत्तमम् ॥ ८३ ।
समाः परार्धसंख्यातास्तत्र तप्तं महातपः ।
तत्र प्रत्यक्षतां यातो मम विश्वेश्वरः परः ॥ ८४ ।

तत्तीर्थात्पर्वतेश्वरतीर्थात् । तस्मिंस्तीर्थे कम्बलाश्वतरतीर्थे ॥ ८१ ।

चक्रेति । तत्र कम्बलाश्वतरेश्वरतीर्थे । चक्रपुष्करिणी सूक्ष्मेति शेषः । हरिश्चन्द्रादीनि कम्बलाश्वतरान्तानि तीर्थानि तत्रेत्यभिलष्यन्त इति केचित् ॥ ८२ ।

मनुष्य श्रद्धापूर्वक हरिश्चन्द्र महातीर्थ में स्नान कर, **हरिश्चन्द्रेश्वर** को प्रणाम करे, वह कभी सत्य से भ्रष्ट नहीं होता, फिर पर्वतेश्वर के समीप ही में पर्वततीर्थ है ॥ ७५-७८ ॥

जो महासुमेरु के रहने का स्थान होने से महापापों का नाशक है, वहाँ पर स्नान, शिवपूजन और यथाशक्ति दान करने से सुमेरु पर्वत के शिखर पर चढ़कर दिव्यभोगों की प्राप्ति होती है । आगे पर्वतेश्वर से दक्षिण ओर **कम्बलाश्वतरतीर्थ** है ॥ ७९-८० ।

उस तीर्थ के पश्चिम भाग में **कम्बलाश्वतरेश्वर** नामक शिव हैं, उस तीर्थ में स्नान कर जो उस शुभप्रद लिंग की पूजा करता है, उसके वंश में जो लोग उत्पन्न होते हैं, वे सब गान में निपुण और श्रीमान् होते हैं । वहीं पर योनिचक्र का निवारण करने वाली **चक्रपुष्करिणी** विराजमान है ॥ ८१-८२ ।

उसमें स्नान करने से मनुष्य को इस गहन संसारचक्र में प्रवेश नहीं करना पड़ता, यह चक्रपुष्करिणी तीर्थ ही मेरा प्रधान वासस्थल है ॥ ८३ ।

पहले मैंने इसी तीर्थ पर परार्धवर्षपर्यन्त घोर तपस्या की थी, और वहीं पर परमात्मा भगवान् विश्वेश्वर को प्रत्यक्ष देखा था ॥ ८४ ।

तत्र लब्धं मयैश्वर्यमविनाशि महत्तरम् ।
चक्रपुष्करिणी चैव ख्याताऽभून्मणिकर्णिका ॥ ८५ ।
द्रवरूपं परित्यज्य ललनारूपधारिणी ।
प्रत्यक्षरूपिणी तत्र मयैक्षि मणिकर्णिका ॥ ८६ ।
तस्या रूपं प्रवक्ष्यामि भक्तानां शुभदं परम् ।
यद्रूपध्यानतः पुंभिराषण्मासं त्रिसन्ध्यतः ॥ ८७ ।
प्रत्यक्षरूपिणी देवी दृश्यते मणिकर्णिका ।
चतुर्भुजा विशालाक्षी स्फुरद्भालविलोचना ॥ ८८ ।
पश्चिमाभिमुखी नित्यं प्रबद्धकरसम्पुटा ।
इन्दीवरवतीं मालां दधती दक्षिणे करे ॥ ८९ ।
वरोद्यते करे सव्ये मातुलुङ्गफलं शुभम् ।
कुमारीरूपिणी नित्यं नित्यं द्वादशवार्षिकी ॥ ९० ।
शुद्धस्फटिककान्तिश्च सुनीलस्निग्धमूर्द्धजा ।
जितप्रवालमाणिक्यरमणीयरदच्छदा ॥ ९१ ।

इन्दीवरवतीं नीलोत्पलवतीम् ॥ ८९ ।

मातुलुङ्गफलं रुचकफलम् । यदाहाऽमरः—'रुचको मातुलुङ्गकः' इति ॥ ९० ।

फिर वहाँ ही बड़ा अविनश्वर ऐश्वर्य मुझे मिला था और वही **चक्रपुष्करिणी मणिकर्णिका** नाम से प्रसिद्ध हुई है ॥ ८५ ।

मैंने द्रवरूप को त्याग कर प्रत्यक्ष स्त्रीरूपधारिणी **मणिकर्णिका** (देवी) को वहीं पर देखा था ॥ ८६ ।

अब मैं भक्तों के परम मंगलदायक उसके रूप का वर्णन करता हूँ। मनुष्य छः मासपर्यन्त त्रिकाल जिस रूप का ध्यान करने से प्रत्यक्षरूपा मणिकर्णिका देवी का दर्शन पा सकते हैं, वह देवी चतुर्भुजा, विशालनेत्रा, भाल में त्रिनेत्र से भूषित, नित्य ही दो हाथों को जोड़े हुए पश्चिमाभिमुखी रहती है, उसके दाहिने हाथ में नीलकमल की माला और वरदान के लिये उठाये हुए बायें हाथ में मातुलुंग (विजौरा नींबू) का उत्तम फल शोभित रहता है, वह सदैव बारह वर्ष की कुमारी का रूप धारण किये रहती है ॥ ८७-९० ।

उसकी कान्ति शुद्ध स्फटिक के समान और केशपाश अत्यन्त नीलवर्ण एवं बहुत चिकना रहता है, उसके बीच में विकसित केतकी का पुष्प शोभायमान रहता है, ओष्ठपल्लव मूँगा और माणिक्य से भी बढ़कर रमणीय और सर्वांग में मुक्तालंकार को धारण किये हुए चन्द्रकान्ति के समान श्वेत वस्त्र को पहने और

प्रत्यग्रकेतकीपुष्पलसद्धम्मिल्लमस्तका ।
सर्वाङ्गमुक्ताभरणा चन्द्रकान्त्यंशुकावृता ॥ ९२ ।
पुण्डरीकमयीं मालां सश्रीकां बिभ्रती हृदि ।
ध्यातव्याऽनेन रूपेण मुमुक्षुभिरहर्निशम् ॥ ९३ ।
निर्वाणलक्ष्मीभवनं श्रीमती मणिकर्णिका ।
मन्त्रं तस्याश्च वक्ष्यामि भक्तकल्पद्रुमाभिधम् ॥
यस्यावर्तनतः सिद्ध्येदपि सिद्ध्यष्टकं नृणाम् ॥ ९४ ।
वाग्भवमाया-लक्ष्मी-मदनप्रणवान् वदेत्पूर्वम् ।
भान्त्यं बिन्दूपेतं मणिपदमथ कर्णिके सहृत् प्रणवपुटः ॥ ९५ ।

प्रत्यग्रेति । प्रत्यग्रं विकसितं नूतनं वा यत् केतकीपुष्पं तेन लसन् धम्मिल्लः संयताः कचा यस्मिंस्तथाभूतं मस्तकं यस्याः सा तथा ॥ ९२ ।

मन्त्रं मन्त्रद्वयम् ॥ ९४ ।

तत्र एको मन्त्रः पञ्चदशाक्षरो द्वितीयश्चतुर्दशाक्षरस्तयोराद्यमुद्धरति । वाग्भवेति श्लोकेन । बीजाधिक्यात्फलाधिक्यं झटिति फलप्रदत्वं च । वाग्भवबीजं सरस्वतीबीजं ऐं मायाबीज भुवनेश्वरीबीजं ह्रीं लक्ष्मीबीजं श्रीं मदनबीजं कामबीजं क्लीं प्रणव ओंकारः, एतान् पूर्वं वदेत् प्रथमं पठेत् । अन्ते भवोऽन्त्यो भस्यान्त्यो भान्त्यो मकारस्तं भान्तमिति वा पाठः । कथम्भूतम् ? बिन्दूपेतम् । मणिपदं मणीति पदं मणिपदम् । पूर्वं पूर्वमित्युक्तत्वात् पश्चाद् वदेत् । अथानन्तरं सहृद् हृदा हृन्मन्त्रेण नमसा सह कर्णिके कर्णिके नम इति वदेत् । अनन्तरं प्रणवपुटः प्रणवाभ्यां पुटः पुटितः आद्यन्तयोः प्रणवपुटितो मन्त्रः पठितव्य इत्यर्थः । तथा चैतादृशो मन्त्रो भवति—**"ओं ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं, ओं मं मणिकर्णिके नम ओमिति"** । अत्र मन्त्राद् बहिस्तुभ्यमित्यध्याहर्तव्यम् । चतुर्थ्यर्थे वा प्रथमा । एवमुत्तरत्रापि ॥ ९५ ।

वक्षःस्थल पर शोभायमान कमल की माला धारण किये हुए उस देवी का इस रूप से मोक्षार्थियों को अहर्निश ध्यान करना चाहिए ॥ ९१-९३ ।

क्योंकि, मोक्षलक्ष्मी का मन्दिर श्रीमती मणिकर्णिका ही हैं । अब मैं भक्तकल्पद्रुम नामक उसके मंत्र को कहता हूँ, जिसके जपने से मनुष्यों को आठों सिद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं ॥ ९४ ।

पहले प्रणव फिर सरस्वतीबीज, भुवनेश्वरीबीज, लक्ष्मीबीज, कामबीज, तब बिन्दु के सहित मकार और प्रणवसंपुटित "मर्णिकर्णिके नमः" ऐसा पद उच्चारण करे । यह पन्द्रह अक्षरों का मंत्र कल्पद्रुम के समान जप करने ही के योग्य है,

मन्त्रः सुरद्रुमसमः समस्तसुखसन्ततिप्रदो जप्यः ।
तिथिभिः परिमितवर्णः परमप दंशति दिनिशितधियाम्॥ ९६।
तारस्तारतृतीयो बिन्द्वन्तो मणिपदं ततः कर्णिके ।
प्रणवात्मिपदं के नम इति मनुसंख्यवर्णमनुः ॥ ९७।
अयं मन्त्रोऽनिशं जप्यः पुंभिर्मुक्तिमभीप्सुभिः ।
होमो दशांशकः कार्यः श्रद्धाबद्धादरैर्नृभिः ॥ ९८ ।
परिप्लुतैः पुण्डरीकैर्गव्येन हविषा स्फुटैः ।
सशर्करेण मेधावी सक्षौद्रेण सदा शुचिः ॥ ९९।

मन्त्रस्यादेयत्वं दर्शयन् वर्णपरिमितिं दर्शयति । **मन्त्र इति** । निशितधियां शुद्धसत्त्वानामित्यर्थः ॥ ९६ ।

द्वितीयमन्त्रमुद्धरति । **तार इति** पादत्रयेण । तारः प्रणवः, तारस्याऽकारोकारमकारात्मकस्य तृतीयस्तारस्तृतीयो मकारः । कथम्भूतः ? बिन्द्वन्तोऽनुस्वारान्तः, मणिपदं मणीतिपदं ततस्तदनन्तरं कर्णिके इति पदं प्रणवात्मिके पदम् । सच्चिदात्मिके पदमिति क्वचित् । के नम इति च पदम् । तथा चैतादृगयं मनुर्भवति—**"ओं मं मणिकर्णिके प्रणवात्मिके नमः"** इति । मन्त्राक्षरपरिमितिं दर्शयत । **मन्विति** । मनुश्चतुर्दशतत्संख्यका वर्णा यस्मिन् स चासौ मनुर्मन्त्रश्चेति मनुसंख्यवर्णमनुः । अत्र यथाश्रुतस्य ग्राह्यत्वादृष्यादिनियमो नावेक्ष्यः ॥ ९७ ।

पुंभिरिति विशेषणात् स्त्रीणां जपो निवारितः । स्त्रीभिरिति पाठो मृतो देशान्तरेष्विति दर्शनादनादेयः ॥ ९८ ।

पुण्डरीकैः पद्मैः । **सक्षौद्रेण** समधुना ॥ ९९ ।

शुद्ध बुद्धिवालों को यह समस्त सुख और सन्तति का दाता है एवं अन्त में परम पद भी दे देता है ॥ ९५-९६ ।

और दूसरा मनुसंख्यक मंत्र है (जो चौदह ही अक्षरों से होता है), इसमें प्रथम प्रणव, तब बिन्दुसहित मकार, फिर मणिकर्णिके प्रणवात्मिके के अनन्तर नमः पद रहता है ॥ ९७ ।

मोक्षाभिलाषी मनुष्यों को श्रद्धा और आदर के साथ सर्वदा इस मंत्र को जपना चाहिए और पवित्रता के साथ गौ के घृत में डुबाकर कमल और शक्कर के सहित मधु से दशांश होम करना चाहिए ॥ ९८-९९ ।

त्रिलक्षमन्त्रजप्येन मृतो देशान्तरेष्वपि ।
अवश्यं मुक्तिमाप्नोति मन्त्रस्याऽस्य प्रभावतः ॥ १०० ।
सौवर्णी प्रतिमा कार्या नवरत्नसमन्विता ।
पूर्वोक्तरूपसम्पन्ना सम्पूज्या सा प्रयत्नतः ॥ १०१ ।
सम्पूज्या वा सदा गेहे नरैर्मोक्षैककाङ्क्षिभिः ।
मणिकर्ण्यामथाक्षेप्या समभ्यर्च्य प्रयत्नतः ॥ १०२ ।
संसारभीरुभिः पुंभिः श्रद्धाबद्धादरैरिह ।
उपायः समनुष्ठेयो ह्यपि दूरनिवासिभिः ॥ १०३ ।
मणिकर्ण्यां कृतस्नानो मणिकर्णीशवीक्षणात् ।
जननीजठरावासे वसतिं न लभेन्नरः ॥ १०४ ।
मणिकर्णीश्वरं लिङ्गं पुरा संस्थापितं मया ।
प्राग्द्वारेऽन्तर्गृहस्यात्र समर्च्यो मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ १०५ ।
ततः पाशुपतं तीर्थमवाच्यां मणिकर्णितः ।
कृतोदकक्रियस्तत्र पश्येत्पशुपतीश्वरम् ॥ १०६ ।

नवरत्नसमन्विता नूतनै रत्नैरलंकृतेत्यर्थः ॥ १०१ ।
समर्च्यो मणिकर्णिकेश्वर इत्यर्थः ॥ १०५ ।

जो कोई इस मंत्र का तीन लक्ष जप कर लेता है, वह देशान्तर में भी मृत्यु को प्राप्त होने पर इस मंत्र के प्रभाव से अवश्य ही मुक्ति को पा जाता है ॥ १००।

नवों रत्नों से युक्त सुवर्ण की मूर्ति उक्त रूप के अनुसार बनाकर प्रयत्नपूर्वक पूजनी चाहिए ॥ १०१ ।

और मोक्षार्थियों को तो ऐसी मूर्ति की पूजा अपने घर में सदैव करनी चाहिए, अथवा पूजा के अनन्तर उस मूर्ति को मणिकर्णिका में फेंक देना चाहिए ॥ १०२ ।

जो लोग संसार के भय से डरे और श्रद्धा में बद्ध आदर-पुरुष हों, उनको अथवा दूरदेशवासियों को भी यही उपाय करना चाहिए ॥ १०३ ।

जो कोई मनुष्य मणिकर्णिका में स्नान कर मणिकर्णिकेश्वर का दर्शन करता है, उसे फिर माता के गर्भ की यंत्रणा नहीं सहनी पड़ती (पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता) ॥ १०४ ।

पूर्वकाल में मैंने ही अन्तर्गृह के पूर्वद्वार पर मणिकर्णिकेश्वर नामक लिंग की स्थापना की थी, अतएव मोक्षार्थियों को उसकी पूजा करनी चाहिये ॥ १०५ ।

मणिकर्णिका से पश्चिम ओर पाशुपततीर्थ है, वहाँ जलक्रिया करके पशुपतीश्वर का दर्शन करना बहुत आवश्यक है ॥ १०६ ।

यत्र पाशुपतो योग उपदिष्टः पिनाकिना ।
ममापि विधिमुख्यानां सुराणां पशुपाशहृत् ॥ १०७ ।
अतः पशुपतिर्यत्र लिङ्गरूपधरः स्वयम् ।
पशुपाशविमोक्षाय नित्यं काश्यां प्रकाशते ॥ १०८ ।
तत्र चैत्रचतुर्दश्यां शुक्लायां शुचिमानसैः ।
कार्या यात्रा प्रयत्नेन रात्रौ जागरणं तथा ॥ १०९ ।
पूजयित्वा पशुपतिमुपोषणपरायणाः ।
पशुपाशैर्न बध्यन्ते दर्शे विहितपारणाः ॥ ११० ।

"आत्मानः पशवः प्रोक्ताः सर्वे संसारवर्तिनः ।
तेषां पतिरहं देवः स्मृतः पशुपतिर्बुधैः" ॥ इति ।

विधिर्ब्रह्मा । पशूनां पशुतुल्यानां जीवानां पाशहृदज्ञानहृत् पशुपाशहृत् । पाश्यतेऽनेनेति पाशमज्ञानं बन्धो वा पाशः पाशहृद् बन्धहृत् । तदुक्तम्—

बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः ।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ॥ इति ।

चतुर्विंशतितत्त्वमायाकर्मगुणक्लेशा वा पाशाः । तदुक्तमीश्वरगीतायां कूर्मपुराणे—

चतुर्विंशतितत्त्वानि मायाकर्मगुणा इति ।
एते पाशाः पशुपतेः क्लेशाश्च पशुबन्धनाः ॥ इति ।

तस्य हृदिति ॥ १०७ ।

तत्र शुक्लचतुर्दश्यामिति पद्यं सांवत्सरयात्राविषयम् । **पूजयित्वेति** तु पद्यं प्रतिमास-कृष्णचतुर्दशीविषयमिति भेदः ॥ १०९ ।

वहीं पर भगवान् शंकर ने मुझे और ब्रह्मादिक देवताओं को पशुओं के पाश (बन्धन) हरने वाले पाशुपतयोग का उपदेश दिया था ॥ १०७ ।

अतएव पशुतुल्य जीवों के मायापाश काटने ही के लिये भगवान् पशुपतीश्वर लिंगरूप धारणा कर काशी में नित्य ही प्रकाशमान रहते हैं ॥ १०८ ।

जो लोग चैत्र मास की शुक्ला चतुर्दशी के दिन पवित्र चित्त से वहाँ की यात्रा और प्रयत्नपूर्वक रात्रि में जागरण और उपवासी होकर पशुपति का पूजन एवं अमावास्या में पारण करते हैं, वे सब पशुओं के समान कभी बन्धन में नहीं पड़ते ॥ १०९-११० ।

रुद्रावासस्ततस्तीर्थं तीर्थात्पाशुपतात्पुरः ।
तत्र स्नात्वा नरैरर्च्यो रुद्रावासेश्वरो हरः ॥ १११ ।
मणिकर्णीश्वराद्याम्यां रुद्रावासेश्वरं नरः ।
समाराध्य वसेल्लोके रुद्रावासे न संशयः ॥ ११२ ।
विश्वतीर्थं ततो याम्यां विश्वैस्तीर्थैरधिष्ठितम् ।
तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या विश्वनाथं विलोकयेत् ॥ ११३ ।
विश्वां गौरीं च तदनु पूजयित्वाऽतिभक्तितः ।
विश्वस्य पूज्यो भवति ततो विश्वमयो भवेत् ॥ ११४ ।
मुक्तितीर्थं च तदनु तत्रापि कृतमज्जनः ।
मोक्षेश्वरं ततोऽभ्यर्च्य मोक्षमाप्नोत्यसंशयम् ॥ ११५ ।
अविमुक्तेश्वरात्पश्चान्मोक्षेशं वीक्ष्य मानवः ।
न पुनर्मानवे लोके यातायातं करोत्यहो ॥ ११६ ।
अविमुक्तेश्वरं तीर्थं मुक्तितीर्थान्मनाक् परे ।
तत्राप्लुत्याऽविमुक्तेशमर्चयित्वा विमुच्यते ॥ ११७ ।
तत्परं तारकं तीर्थं यत्र विश्वेश्वरः स्वयम् ।
आचष्टे तारकं ब्रह्म मृतकर्णेऽमृतात्मकम् ॥ ११८ ।

इस पाशुपततीर्थ के आगे रुद्रावासतीर्थ है, वहाँ पर स्नान कर रुद्रावासेश्वर नामक महादेव का पूजन करना उचित है ॥ १११ ।

मणिकर्णिकेश्वर की दक्षिण दिशा में रुद्रावासेश्वर के पूजन करने से मनुष्य निःसन्देह रुद्रावास में निवास करता है ॥ ११२ ।

उसके दक्षिण भाग में समस्त (विश्वभर के) तीर्थों से अधिष्ठित विश्व नामक तीर्थ है, जो कोई वहाँ पर स्नानकर विश्वनाथ का दर्शन करके पूर्ण भक्ति के साथ विश्वागौरी (अन्नपूर्णा) की पूजा करे, वह विश्वमात्र का पूज्य और विश्वरूप हो जाता है ॥ ११३-११४ ।

उसके अनन्तर मुक्तितीर्थ है, जो मनुष्य वहाँ भी स्नान कर मोक्षेश्वर की अर्चना करता है, वह निःसन्देह मोक्ष को पाता है ॥ ११५ ।

अविमुक्तेश्वर के दर्शन के पश्चात् मोक्षेश्वर का दर्शन करने से मनुष्य इस मर्त्यलोक के आवागमन से रहित हो जाता है ॥ ११६ ।

मुक्तितीर्थ से थोड़े ही अन्तर पर अविमुक्तेश्वर तीर्थ है, मनुष्य वहाँ पर स्नान कर अविमुक्तेश्वर की पूजा करने से मुक्त हो जाता है ॥ ११७ ।

फिर उसके अनन्तर तारक तीर्थ है, जहाँ पर स्वयं भगवान् विश्वेश्वर मृत जन्तुओं के कान में अमृतात्मक तारक ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ ११८ ।

सुस्नातस्तारके तीर्थे तारकेश्वरदर्शनात् ।
संसारसागरं तीर्त्वा तारयेत्स्वपितॄनपि ॥ ११९ ।
तत्राभ्यासे स्कन्दतीर्थं तत्राप्लुत्य नरोत्तमः ।
दृष्ट्वा षडाननं चैव जह्यात् षाट्कौशिकीं तनुम् ॥ १२० ।
तारकेश्वरपूर्वेण दृष्ट्वा देवं षडाननम् ।
वसेत् षडानने लोके कौमारं वपुरुद्वहन् ॥ १२१ ।
ढुण्ढितीर्थं ततः पुण्यं नरस्तत्र कृतोदकः ।
ढुण्ढिं गणपतिं स्तुत्वा न विघ्नैरभिभूयते ॥ १२२ ।
भवानीतीर्थमतुलं ढुण्ढितीर्थस्य दक्षिणे ।
तत्र स्नात्वा विधानेन भवानीं परिपूज्य च ॥ १२३ ।
दुकूलै -रत्ननेपथ्यैर्नैवेद्यैर्बहुविस्तरैः ।
पुष्पैर्धूपैः प्रदीपैश्च भवानीशौ प्रपूज्य च ॥ १२४ ।
समस्तमर्चितं तेन त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
भवानीशङ्करौ काश्यामर्चितौ श्रद्धया तु यैः ॥ १२५ ।

त्वङ्मांसं रुधिरमिति मातृतः स्नाय्वस्थिमज्जा इति पितृत इति षट्कोशास्तत्प्रभावां षाट्कौशिकीम् ॥ १२० ।

जो कोई उस तारक तीर्थ में विधिपूर्वक स्नान और तारकेश्वर का अवलोकन करता है, वह आप संसार-सागर से पार उतरकर अपने पितरों को भी तार देता है ॥ ११९ ।

स्कन्द-तीर्थ भी उसी के समीप में ही है, जहाँ पर उंत्तम जन नहाने के उपरान्त षडानन के दर्शन करने से छहों कोशों (त्वचा, मांस, रुधिर, नस, हड्डी और मज्जा) से परिपूर्ण शरीर को फिर नहीं धारण करता ॥ १२० ।

तारकेश्वर के पूर्व ओर स्वामिकार्तिक देव के दर्शन से कुमार-सा शरीर धारण कर स्कन्दलोक में वास पाता है ॥ १२१ ।

तदनन्तर पवित्र ढुंढितीर्थ है, जो नर वहाँ पर स्नानादि कर्म करके ढुंढिराज गणेश की स्तुति करता है, उस पर किसी भाँति के विघ्न नहीं पड़ते ॥ १२२ ।

इसी ढुंढितीर्थ के दक्षिण भाग में असमान भवानीतीर्थ है। वहाँ पर विधिपूर्वक स्नान कर भवानी की (अन्नपूर्णा की) पूजा करनी चाहिए ॥ १२३ ।

वस्त्र, रत्न, भूषण, अतिविस्तार के साथ नैवेद्य, पुष्प, धूप और दीप इत्यादि से भवानी और भव देव का पूजन करना चाहिए ॥ १२४ ।

जिसने काशी में श्रद्धापूर्वक भवानी और शंकर को अर्चित किंया, वह सचराचर त्रैलोक्य का पूजन कर चुका ॥ १२५ ।

चैत्राष्टम्यां महायात्रां भवान्याः कारयेत्सुधीः ।
अष्टाधिकाः प्रकर्तव्याः शतकृत्वः प्रदक्षिणाः ॥ १२६ ।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपवती मही ।
सशैला ससमुद्रा च साश्रमा च सकानना ॥ १२७ ।
अष्टौ प्रदक्षिणा देयाः प्रत्यहं तुष्टितत्परैः ।
नमनीयौ प्रयत्नेन भवानीशङ्करौ सदा ॥ १२८ ।
भक्तानां कामदा नित्यं भवानीवाससांप्रदा ।
अतो भवानी सम्पूज्या काश्यां तीर्थनिवासिभिः ॥ १२९ ।
योगक्षेमं सदा कुर्याद् भवानी काशिवासिनाम् ।
तस्माद् भवानी संसेव्या सततं काशिवासिभिः ॥ १३० ।
भिक्षणीया सदा भिक्षा भिक्षुणा मोक्षकाङ्क्षिणा ।
यतो भिक्षाप्रदा काश्यां विश्वेशस्य कुटुम्बिनी ॥ १३१ ।
गृहमेध्यत्र विश्वेशो भवानी तत्कुटुम्बिनी ।
सर्वेभ्यः काशिसंस्थेभ्यो मोक्षभिक्षां प्रयच्छति ॥ १३२ ।

ससमुद्रा समुद्रैः सहिता ॥ १२७ ।
तुष्टितत्परैरित्यत्र तुष्टीति क्रियाविशेषणम् । भक्तितत्परैरिति वा पाठः ॥ १२८ ।

पंडित जन को उचित है कि, चैत्र की शुक्ला महाष्टमी को भवानी की यात्रा करे और एक सौ आठ प्रदक्षिणा (फेरी) भी अवश्य कर्तव्य है ॥ १२६ ।

क्योंकि, उस दिन प्रदक्षिणा करने से पर्वत, समुद्र, आश्रम और अरण्यों के सहित सप्तद्वीपा पृथिवी भर की फेरी देने का फ़ल होता है ॥ १२७ ।

सन्तोषपरायण लोगों को प्रतिदिन आठ प्रदक्षिणा करनी चाहिए और सदैव प्रयत्नपूर्वक भवानी और शंकर को प्रणाम करना उचित है ॥ १२८ ।

भक्तों की मनोरथदात्री भवानी ही स्थिर वास करने देती हैं, अतएव काशी में तीर्थवास करनेवालों को भवानी का पूजन करना बहुत ही आवश्यक है ॥ १२९ ।

भवानी ही काशीवासियों का सदा योगक्षेम करती हैं, इसलिये वहाँ के रहनेवालों को निरन्तर भवानी की सेवा करनी चाहिए ॥ १३० ।

मोक्षाकांक्षी भिक्षुक को काशी में भिक्षा देने वाली विश्वेश्वर की कुटुम्बिनी भवानी ही से (मोक्ष की) भिक्षा माँगनी चाहिए ॥ १३१ ।

काशी में भगवान् विश्वनाथ गृहस्थ हैं और उनकी कुटुम्बिनी भवानी हैं, अतएव वही समस्त काशीवासियों को मोक्ष की भिक्षा देती हैं ॥ १३२ ।

दुष्प्रापमपि यत्किञ्चित्काशीक्षेत्रनिवासिनाम् ।
तत्सुप्राप्यं करोत्येव भवानी पूजिता नृभिः ॥ १३३ ।
कुर्याज्जागरणं रात्रौ महाष्टम्यां व्रती नरः ।
प्रातर्भवानीमभ्यर्च्य प्राप्नुयाद् वाञ्छितं फलम् ॥ १३४ ।
शक्रेशात्पश्चिमाशायां भवानीं योऽभिवीक्षते ।
सर्वे मनोरथास्तस्य सिद्ध्यन्तीह न संशयः ॥ १३५ ।
काश्यां सदैव वस्तव्यं स्नातव्योत्तरवाहिनी ।
भवानीशङ्करौ सेव्यौ प्राप्तव्ये भुक्तिमुक्तिके ॥ १३६ ।
मातर्भवानि तव पादरजो भवानि
मातर्भवानि तव दासतरो भवानि ।
मातर्भवानि न भवानि यथा भवेऽस्मिं-
स्त्वद्भाग्भवान्यनुदिनं न पुनर्भवानि ॥ १३७ ।

मातर्भवानीति । हे मातर्भवानि तव पादरजोऽहं भवानि तव चरणधूलिरहं स्याम् । हे मातर्भवानि तव दासतरस्तव दासानां मध्ये प्रकृष्टः सेवकोऽहं भवानि । हे मातर्हे भवानि यथाऽस्मिन् भवे संसारेऽहं न भवानि न भवेयं न भविष्यामीत्यर्थः । तथाऽनुदिनं प्रतिदिनं त्वद्भाक् त्वां भजत इति त्वद्भाक् तादृशो भवानि । तर्हि किं प्रतिजन्म मद्भक्तो भूत्वा कल्पान्ते मोक्षं वाञ्छसि नेत्याह । न पुनर्भवानीति । यद्वा ननु तर्हि ब्रह्मणः प्रतिदिनं जन्म लब्ध्वा मद्भक्तः सन् भोगान् भुङ्क्ष्व ब्रह्मणो मुक्तिसमये मोक्षं दास्यामीति चेन्नेत्याह । अनुदिनं ब्रह्मणः प्रतिदिनं न

काशीवासियों को यदि कुछ भी दुर्लभ हो तो पूजा करने से ही भवानी उसे सुलभ कर देती हैं ॥ १३३ ।

जो मनुष्य चैत्र की महाष्टमी में रात्रि भर जागरण कर प्रातःकाल भवानी की पूजा कर सके, उसे सभी वांछित फल प्राप्त हो जाते हैं ॥ १३४ ।

जो शुक्रेश्वर से पश्चिम दिशा में विराजमान भवानी का दर्शन करे, उसके सभी मनोरथ निःसन्देह सिद्ध हो जाते हैं ॥ १३५ ।

काशी में सदैव वास, उत्तरवाहिनी गंगा में स्नान और भवानी और शंकर का सेवन करना चाहिए, इसी से भुक्ति एवं मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है ॥ १३६ ।

हे मातः ! भवानि ! मैं आपके चरण का रज होऊँ, हे भवानि ! मातः ! मैं आपका परम सेवक हो जाऊँ, हे मातः ! भवानि ! जिसमें फिर मुझे इस संसार का क्लेश न सहना पड़े, हे अन्नपूर्णे देवि ! मैं (वैसे ही) तुमको भजूँ और फिर (संसार में) न (उत्पन्न) होऊँ ।

तिष्ठता गच्छता वाऽपि स्वपता जाग्रताऽपि वा ।
अयं मन्त्रः सदा जप्यः सुखाप्त्यै काशिवासिना ॥ १३८ ।
ईशानतीर्थं तत्रैव भवानीतीर्थसन्निधौ ।
तत्र स्नातो य ईशानमर्चयेन्न स जन्मभाक् ॥ १३९ ।
ज्ञानतीर्थं च तत्रैव ज्ञानदं सर्वदा नृणाम् ।
कृताभिषेकस्तत्तीर्थे दृष्ट्वा ज्ञानेश्वरं शिवम् ॥ १४० ।
ज्ञानवापीसमीपस्थो ज्ञानेशो यैः समर्चितः ।
ज्ञानभ्रंशो न तेषां स्यादपि पञ्चत्वमृच्छताम् ॥ १४१ ।
शैलादितीर्थं तत्रैवं परमर्द्धिप्रकाशकम् ।
तत्र श्राद्धादिकं कृत्वा दत्वा दानं स्वशक्तितः ॥ १४२ ।

पुनर्भवानीति । वर्तमानजन्मनि त्वद्भक्तो भूत्वा एतज्जन्मानन्तरमेव मुक्तःस्या-मित्यर्थः । यदा अस्मिन् भवे यथाऽहं न भवानि, विधिनिषेधकिङ्करो न स्यां तथा त्वद्भाग् भवानि, शरीरपातानन्तरं तु पुनर्न भवानि । यद्वा, तथाऽहमनुदिनं त्वद्भाग् भवानि, शरीरपातानन्तरं तु पुनर्न भवानि । यद्वा तथाऽहमनुदिनं त्वद्भाग् भवानि यथाऽस्मिन् भवे पुनर्न भवानि, न भवानि । अपुनर्भवस्यादरार्था वीप्सेत्यलमति-विस्तरेण ॥ १३७ ।

शैलादिर्नन्दी ॥ १४२ ।

मात ! भवानि ! सुनो बिनती, तुम्हरे पदपद्म को धूलि हौं माता ।
होउं भवानि ! महूं तुव सेवक, श्रेष्ठ यही हमरे मन भाता ।
जन्म न होय जथा जग में फिर, चित्त यही पर है ललचाता ।
हे अनपूरन ! तोहिं भजौं नित, फेरि न होय कहूं जगनाता ।
मात भवानी ! होऊँ मैं, तव-पदरज सम दास ।
भजौं तोहिं जग होई नहिं, जन्म मोर यह आस ॥ १३७ ।

सुख पाने के लिये काशीवासी जन को बैठते, चलते, सोते और जागते सदैव इस मंत्र का जप करते रहना चाहिए ॥ १३८ ।

भवानीतीर्थ के पास ही में ईशानतीर्थ है, वहाँ भी स्नानकर ईशानेश्वर के दर्शन करने से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ १३९ ।

वहीं पर मनुष्यों को ज्ञान देने वाला ज्ञानतीर्थ है, उसमें स्नान कर ज्ञानवापी के समीप ही में ज्ञानेश्वर-महादेव के दर्शन और पूजन करने से मृत्यु के समय भी ज्ञानभ्रंश नहीं होने पाता है ॥ १४०-१४१ ।

उसी स्थान पर परम सम्पत्ति का प्रकाशक नन्दी तीर्थ है, वहाँ पर पिंडा पारने और अपनी शक्ति के अनुसार दान करने तथा ज्ञानवापी के उत्तर नन्दीश्वर

शैलादीश्वरमालोक्य ज्ञानवाप्या उदग्दिशि ।
लभेद्गणत्वपदवीं नात्र कार्या विचारणा ॥ १४३ ।
नन्दितीर्थादवाच्यां तु विष्णुतीर्थं परं मम ।
तत्र पिण्डान् विनिर्वाप्य पितॄणामनृणो भवेत् ॥ १४४ ।
विष्णुतीर्थे कृतस्नानो यो मां विष्णुं विलोकयेत् ।
विश्वेशाद्दक्षिणे पार्श्वे विष्णुलोकं स गच्छति ॥ १४५ ।
यः प्रत्येकादशीं प्राप्य शयनीं बोधिनीं तथा ।
कुर्याज्जागरणं रात्रौ मम मूर्तिसमीपतः ॥ १४६ ।
प्रातः समर्च्य मां भक्त्या भोजयित्वा द्विजानपि ।
दत्वा गाः काञ्चनं भूमिं न भूयो भूमिभाग्भवेत् ॥ १४७ ।
कृत्वा तत्र व्रतोत्सर्गं वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
सम्यग् व्रतफलं धीमान् प्राप्नोत्येव ममाज्ञया ॥ १४८ ।
मम तीर्थादवाच्यां तु तीर्थं पैतामहं शुभम् ।
तत्र श्राद्धविधानेन तर्पयित्वा पितामहान् ॥ १४९ ।
पितामहेश्वरं लिङ्गं ब्रह्मनालोपरिस्थितम् ।
पूजयित्वा नरो भक्त्या ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥ १५० ।

के दर्शन करने से निश्चय ही महादेव के गण की पदवी प्राप्त होती है ॥ १४२-१४३ ।

नन्दितीर्थ के दक्षिण मेरा प्रधान विष्णुतीर्थ है, मनुष्य वहाँ पर पिंडदान करने से पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है ॥ १४४ ।

जो विष्णुतीर्थ में स्नान कर विश्वेश्वर के दक्षिणभाग में मेरा दर्शन करता है, वह विष्णुलोक में चला जाता है ॥ १४५ ।

जो कोई प्रत्येक एकादशी अथवा शयनी और प्रबोधिनी को मेरी उस मूर्ति के समीप रात्रि में जागरण करता है और दूसरे दिन प्रातःकाल में भक्तिभाव से मेरा पूजन कर ब्राह्मणों को भोजन कराकर गौ, सुवर्ण और भूमि का दान करता है, वह फिर भूमि पर नहीं उत्पन्न होता ॥ १४६-१४७ ।

जो बुद्धिमान् जन धन की कृपणता छोड़कर वहाँ पर व्रतों का उद्यापन करता है, वह मेरी आज्ञा से सम्पूर्ण व्रतों का फल पाता ही है ॥ १४८ ।

मेरे तीर्थ के दक्षिण शुभप्रद पितामह का तीर्थ है, वहाँ पर भी श्राद्ध के विधान से अपने पुरुषों को तर्पित कर, भक्तिपूर्वक ब्रह्मनाल के ऊपर विराजमान पितामहेश्वर लिंग का पूजन करने से मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है ॥ १४९-१५० ।

ब्रह्मस्रोतः समीपे तु कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
परामक्षयतामेति शुभमेव ततश्चरेत् ॥ १५१ ।
अत्यल्पमपि यत्कर्म कृतमत्र शुभाशुभम् ।
प्रलयेऽपि न तस्याऽस्ति प्रलयो मुनिसत्तम ॥ १५२ ।
नाभितीर्थमिदं प्रोक्तं नाभिभूतं यतः क्षितेः ।
अपि ब्रह्माण्डगोलस्य नाभिरेषा शुभोदया ॥ १५३ ।
सा माणिकर्णिकेयीयं नाभिर्गाम्भीर्यभूमिका ।
ब्रह्माण्डगोलकं सर्वं यस्यामेति लयोदयम् ॥ १५४ ।
ब्रह्मनालं परं तीर्थं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्संगमे नरः स्नात्वा कोटिजन्ममलं हरेत् ॥ १५५ ।
ब्रह्मनाले पतेद्येषामपि कीकसमात्रकम् ।
ब्रह्माण्डमण्डपान्तस्ते न विशन्ति कदाचन ॥ १५६ ।
ततो भागीरथेस्तीर्थं ब्रह्मनालाच्च दक्षिणे ।
तत्र स्नात्वा नरः सम्यङ् मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १५७ ।

कीकसमात्रकम् अस्थिमात्रम् ॥ १५६ ।
भागीरथेः भागीरथ्याः ॥ १५७ ।

उस ब्रह्मस्रोत के समीप में जो कुछ शुभ अथवा अशुभ (बुरा-भला) कर्म किया जाता है, वह परम अविनाशी हो जाता है, इससे वहाँ अच्छा ही काम करना चाहिए ॥ १५१ ।

हे मुनिसत्तम ! इस स्थान पर बहुत थोड़ा भी जो सत् अथवा असत् कर्म किया जाता है, प्रलयकाल में भी उसका क्षय नहीं होता ॥ १५२ ।

पृथिवी के नाभिस्थान में रहने से यह तीर्थ नाभितीर्थ कहा गया है, भूमि ही की क्यों, यह समस्त ब्रह्मांडगोलक की शुभोदया नाभि है ॥ १५३ ।

यही गंभीरता की भूमि मणिकर्णिका नाभि है, जिसमें समस्त ब्रह्मांडगोलक उदय और अस्त होता रहता है ॥ १५४ ।

त्रैलोक्य भर में ब्रह्मनाल ही प्रधानतीर्थ प्रसिद्ध है, मनुष्य उस तीर्थ के संगम पर स्नान करने से करोड़ों जन्म के मलों से मुक्त हो जाता है ("करोड़ों जन्म के पातक गँवाये जिसका जी चाहे") ॥ १५५ ।

जिस किसी की एक भी हड्डी ब्रह्मनाल में गिर पड़ती है, उन लोगों को फिर कभी ब्रह्मांडमंडप में प्रवेश नहीं करना पड़ता ॥ १५६ ।

उक्त ब्रह्मनाल के दक्षिण भागीरथी तीर्थ है, जो मनुष्य वहाँ पर स्नान करता है, वह सम्पूर्ण ब्रह्महत्या से भी छूट जाता है ॥ १५७ ।

भागीरथीश्वरं लिङ्गं स्वर्गद्वारस्य सन्निधौ ।
दर्शनाद् ब्रह्महत्यायाः पुरश्चरणमुच्यते ॥ १५८ ।
अशुभां गतिमापन्ना यस्य पूर्वे पितामहाः ।
तेन भागीरथीतीर्थे तर्पणीयाः प्रयत्नतः ॥ १५९ ।
तत्र भागीरथे तीर्थे श्राद्धं कृत्वा विधानतः ।
ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु ब्रह्मलोके नयेत्पितॄन् ॥ १६० ।
तद्दक्षिणे महातीर्थं खुरकर्तरिसंज्ञितम् ।
गोलोकादागताभिश्च गोभिर्यत्खुरकोटिभिः ॥ १६१ ।
स्थपुटीकृतभूभागं ततस्तत्खुरकर्तरि ।
तस्मिंस्तीर्थे कृतस्नानः कृतपिण्डोदकक्रियः ॥ १६२ ।
खुरकर्तरीशं लिङ्गं दृष्ट्वा गोलोकमाप्नुयात् ।
गोधनैर्न विमुच्येत तल्लिङ्गस्य समर्चनात् ॥ १६३ ।
दक्षिणे खुरकर्तर्या मार्कण्डं तीर्थमुत्तमम् ।
कृतश्राद्धविधानश्च तस्मिंस्तीर्थेऽघहारिणि ॥ १६४ ।

स्थपुटीकृतभूभागं श्लथीकृतभूप्रदेशम् आच्छादितभूभागं वा । सम्पुटीति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ १६२ ।

खुरकर्तर्या इति खुरकर्तरिणस्तीर्थादित्यर्थः ॥ १६४ ।

स्वर्गद्वार के सन्निधान में ही भागीरथीश्वर लिंग के दर्शन करने से ब्रह्महत्या के पाप का पुरश्चरण हो जाता है ॥ १५८ ।

जिसके पूर्वपुरुष लोग अधोगति को प्राप्त हुए हों, उसे तो भागीरथी तीर्थ में बड़े प्रयत्न से तर्पण करना चाहिए ॥ १५९ ।

उस भागीरथी तीर्थ में विधानपूर्वक श्राद्ध करने से और ब्राह्मणों को भोजन कराने से पितर लोग ब्रह्मलोक में पहुँचा दिये जाते हैं ॥ १६० ।

उसके दक्षिण भाग में **खुरकर्तरी** नामक एक **महातीर्थ** है । पूर्वकाल में गोलोक से आई हुई गौओं के खुर की कोटियों से उस भूमिभाग के खुद जाने पर वह खुरकर्तरी तीर्थ कहा जाता है । वहाँ पर स्नान कर पिंडदान और तर्पण एवं **खुरकर्तरीश्वर** लिंग के दर्शन करने से मनुष्य गोलोक को प्राप्त करता है और उस लिंग की पूजा करने से कभी भी गोरूप धन से हीन नहीं होता ॥ १६१-१६३ ।

खुरकर्तरी के दक्षिण उत्तम **मार्कण्डेयतीर्थ** है, उस पातकनाशक तीर्थ पर श्राद्धकृत्यों के सम्पादन से तथा मार्कण्डेयेश्वर लिंग के दर्शन से भूमि पर दीर्घायु,

मार्कण्डेयेश्वरं लिङ्गं दृष्ट्वायुर्दीर्घमाप्नुयात् ।
ब्रह्मतेजोऽभिवृद्धिं च कीर्तिं च परमां भुवि ॥ १६५ ।
वसिष्ठतीर्थं परमं महापातकनाशनम् ।
तर्पयित्वा पितृंस्तत्र वसिष्ठेशं विलोक्य च ॥ १६६ ।
नरो न लिप्यते पापैर्जन्मत्रयसमर्जितैः ।
वसिष्ठलोके वसति ब्रह्मतेजःसमन्वितः ॥ १६७ ।
तत्रैवाऽरुन्धतीतीर्थं स्त्रीणां सौभाग्यवर्धनम् ।
पतिव्रताभिस्तत्तीर्थं गाहनीयं विशेषतः ॥ १६८ ।
पौंश्चल्यजनितो दोषस्तत्तीर्थपरिमज्जनात् ।
क्षणाद्विनाशमागच्छेदरुन्धत्याः प्रभावतः ॥ १६९ ।
मार्कण्डेयेश्वरात्प्राच्यां वसिष्ठेश्वरपूजनात् ।
निष्पापो जायते मर्त्यो महत्पुण्यमवाप्नुयात् ॥ १७० ।
मूर्ती वसिष्ठाऽरुन्धत्योस्तत्र पूज्ये प्रयत्नतः ।
न स्त्री वैधव्यमाप्नोति न पुमांस्त्रीवियोगिताम् ॥ १७१ ।
वसिष्ठतीर्थतो याम्यां नर्मदातीर्थमुत्तमम् ।
विधाय श्राद्धं मेधावी नर्मदेशं विलोक्य च ॥ १७२ ।

ब्रह्मतेज की वृद्धि और बड़ी कीर्ति प्राप्त होती है ॥ १६४-१६५ ।

फिर महापातकहारी वसिष्ठ नामक प्रधान तीर्थ है, वहाँ पर भी पितरों के तर्पण और वसिष्ठेश्वर के दर्शन करने से मनुष्य तीन जन्म के संचित पापों से छूटकर ब्रह्मतेजस्वी हो, वसिष्ठलोक में वास करता है ॥ १६६-१६७ ।

वहीं पर स्त्रियों का सौभाग्यवर्द्धक अरुन्धतीतीर्थ भी है, उस तीर्थ में पतिव्रता स्त्रियों को विशेषरूप से स्नान करना चाहिए ॥ १६८ ।

उस तीर्थ में डुबकी लगाने से क्षणमात्र में अरुन्धती के प्रभाव-बल से पुंश्चलता का दोष मिट जाता है ॥ १६९ ।

जो मनुष्य मार्कण्डेयेश्वर के पूर्वभाग में विराजमान वसिष्ठेश्वर का पूजन करता है, वह निष्पाप हो जाता है और बड़ा पुण्यभागी भी होता है ॥ १७० ।

उसी स्थान पर वसिष्ठ ऋषि और अरुन्धती की भी मूर्तियाँ कष्ट उठाकर भी पूजनीय हैं। उनकी पूजा से स्त्री को तो वैधव्य और पुरुष को स्त्री का वियोग नहीं सहना पड़ता है ॥ १७१ ।

वसिष्ठतीर्थ के दक्षिण उत्तम नर्मदातीर्थ है, बुद्धिमान् जन वहाँ पर श्राद्ध और नर्मदेश्वर का दर्शन कर एवं महादानों के करने से कभी धनहीन नहीं होता,

तत्र दत्वा महादानं पद्मया न विमुच्यते ।
ततस्त्रिसन्ध्यं वै तीर्थं त्रिसन्ध्येश्वरपूर्वतः ॥ १७३ ।
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा कृत्वा सन्ध्यां विधानतः ।
सन्ध्याकालविलोपोत्थपातकैर्नाऽभिभूयते ॥ १७४ ।
त्रिसन्ध्येश्वरमालोक्य कृतसन्ध्यस्त्रिकालतः ।
त्रिवेदावर्तजं पुण्यं प्राप्नुयाच्छ्रद्धया द्विजः ॥ १७५ ।
ततोऽनु योगिनीतीर्थं नरस्तत्र कृताप्लवः ।
दृष्ट्वा तु योगिनीपीठं योगसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १७६ ।
अगस्तितीर्थं तत्रास्ति महाघौघविघातकृत् ।
तत्र स्नात्वा प्रयत्नेन दृष्ट्वाऽगस्तीश्वरं विभुम् ॥ १७७ ।
अगस्तिकुण्डे च ततः सन्तर्प्य च पितामहान् ।
अगस्तिना समेतां च लोपामुद्रां प्रणम्य च ॥ १७८ ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वक्लेशविवर्जितः ।
गच्छेत्स पूर्वजैः सार्धं शिवलोकं नरोत्तमः ॥ १७९ ।
दक्षिणेऽगस्त्यतीर्थाच्च तीर्थमस्त्यतिपावनम् ।
गङ्गाकेशवसंज्ञं च सर्वपातकनाशनम् ॥ १८० ।

तदनंतर त्रिसन्ध्येश्वर के पूर्व ओर त्रिसन्ध्यतीर्थ है ॥ १७२-१७३ ॥

उस तीर्थ में स्नान कर विधानपूर्वक जो मनुष्य संध्यावन्दन करता है, वह संध्योपासन कर्म के काललोप होने के पापों से छुटा रहता है ॥ १७४ ।

द्विज, त्रिकाल में संध्योपासन करके श्रद्धापूर्वक त्रिसंध्येश्वर के दर्शन करने से तीनों वेदों के अध्ययन करने का पुण्य प्राप्त करता है ॥ १७५ ।

तदनन्तर योगिनी-तीर्थ है, जहाँ पर मनुष्य स्नान कर योगिनी-पीठ के दर्शन से योगों की सिद्धि का लाभ करता है ॥ १७६ ।

उस स्थान में अगस्त्यतीर्थ भी है, वह बड़ी-बड़ी पापराशियों का भी नाश कर डालता है, वहाँ पर स्नान कर प्रयत्नपूर्वक अगस्त्येश्वर शिव का दर्शन करना चाहिए ॥ १७७ ।

तब फिर अगस्त्य कुंड में पितरों का तर्पण कर अगस्त्य के सहित लोपामुद्रा को प्रणाम करना चाहिए ॥ १७८ ।

वैसा करने पर वह सब पापों से और समस्त क्लेशों से छूटकर अपने पूर्वजों के साथ शिवलोक में चला जाता है ॥ १७९ ।

अगस्त्यतीर्थ से दक्षिण अत्यन्त पवित्र गंगाकेशव-संज्ञक तीर्थ है, जो सब पापों का शमन कर देता है ॥ १८० ।

तत्र मे शुभदां मूर्तिं मुने तत्तीर्थसंज्ञिकाम् ।
सम्पूज्य श्रद्धया धीमान् मम लोके महीयते ॥ १८१ ।
तत्र पिण्डान् विनिर्वाप्य दत्वा दानं स्वशक्तितः ।
शतसांवत्सरीं तृप्तिं पितॄणां स समर्पयेत् ॥ १८२ ।
मणिकर्णीपरीमाणमेतत्ते कीर्तितं महत् ।
सीमाविनायकाद्याम्यां सर्वविघ्नविघातनात् ॥ १८३ ।
वैरोचनेश्वरात्प्राच्यामहं वैकुण्ठमाधवः ।
तत्र मां भक्तितोऽभ्यर्च्य वैकुण्ठार्चामवाप्नुयात् ॥ १८४ ।
वीरमाधवसंज्ञोऽहं वीरेशात्पश्चिमे मुने ।
तत्र व्रती समभ्यर्च्य न यामीं यातनां लभेत् ॥ १८५ ।
कालमाधवनामाऽहं कालभैरवसन्निधौ ।
कलिः कालो न कलयेन्मद्भक्तमिति निश्चितम् ॥ १८६ ।
मार्गशीर्षस्य शुक्लायामेकादश्यामुपोषितः ।
तत्र जागरणं कृत्वा यमं नालोकयेत्क्वचित् ॥ १८७ ।
निर्वाणनरसिंहोऽहं पुलस्तीश्वरदक्षिणे ।
भक्तो निर्वाणमाप्नोति तन्मूर्तिनमनादपि ॥ १८८ ।

हे मुने ! उस तीर्थ पर उसी नाम की शुभप्रदा मेरी मूर्ति है। बुद्धिमान् जन श्रद्धापूर्वक उसकी पूजा करने से मेरे लोक में पूजित होते हैं ॥ १८१ ।

उस तीर्थ में पिंडा पारने और अपनी शक्ति के अनुसार दान करने से सौ वर्ष के लिये पितरों की तृप्ति हो जाती है ॥ १८२ ।

मैंने यह मणिकर्णिका का बड़ा परिमाण तुमसे वर्णन किया। वह समस्त विघ्नों के हर्ता सीमाविनायक से लेकर दक्षिण दिशा में वर्तमान है ॥ १८३ ।

वैरोचनेश्वर से पूर्व दिशा में मैं वैकुंठमाधव नामक हूँ। वहाँ पर भक्तिभाव से मेरी पूजा करे, तो वैकुंठ में ही पूजने का फल प्राप्त होता है ॥ १८४ ।

हे मुने ! वीरेश्वर के पश्चिम प्रान्त में मैं वीरमाधव संज्ञक हूँ, उस स्थान पर जो व्रत धारण करके मेरी पूजा करता है, वह यमयातना में (कभी) नहीं पड़ता ॥ १८५ ।

मैं कालभैरव के पास कालमाधव नाम से स्थित हूँ। (उस रूप के) मेरे भक्त को कलि और काल दुःख नहीं देने पाते, यह निश्चित है ॥ १८६ ।

अगहन मास की शुक्ला एकादशी के दिन व्रती रहकर वहाँ पर जो कोई रात्रि में जागरण करता है,उसे यमराज का मुख कभी नहीं देखना पड़ता ॥ १८७ ।

पुलस्त्येश्वर के दक्षिण ओर मैं निर्वाणनरसिंहरूप से रहता हूँ। भक्तजन उस मूर्ति को प्रणाम करने से ही निर्वाणपद को प्राप्त कर लेता है ॥ १८८ ।

महाबलनृसिंहोऽहमोंकारात्पूर्वतो मुने ।
दूतान् महाबलान्याम्यान्न पश्येत्तु तदर्चकः ॥ १८९ ॥
प्रचण्डनरसिंहोऽहं चण्डभैरवपूर्वतः ।
प्रचण्डमप्यघं कृत्वा निष्पाप्मा स्यात्तदर्चनात् ॥ १९० ॥
अहं गिरिनृसिंहोऽस्मि तद्देहलिविनायकात् ।
प्राच्यां प्रबलपापौघगजानां प्रविदारणः ॥ १९१ ॥
महाभयहरश्चाऽहं नरसिंहो महामुने ।
पितामहेश्वरात्पश्चाद् भक्तसाध्वससाध्वसः ॥ १९२ ॥
अत्युग्रनरसिंहोऽहं कलशेश्वरपश्चिमे ।
अत्युग्रमपि पापौघं हरामि श्रद्धयार्चितः ॥ १९३ ॥
ज्वालामालीनृसिंहोऽहं ज्वालामुख्याः समीपतः ।
संज्वालयामि पापौघतृणानि परिपूजितः ॥ १९४ ॥
कोलाहलनृसिंहोऽस्मि दैत्यदानवमर्दनः ।
मम नाम समुच्चारादघकोलाहलो यतः ॥ १९५ ॥

मम मे विष्णोः ॥ १९५ ।

हे मुने ! ओंकारेश्वर के पूर्वभाग में मैं महाबल नृसिंह के नाम से वास करता हूँ । मेरी पूजा करने वाला नर कभी यमराज के महाबली दूतों को नहीं देख पाता ॥ १८९ ।

चंडभैरव के पूर्व में मैं प्रचंडनरसिंह नामक हूँ, उनके पूजन से मनुष्य प्रचंड पापों के भी करने पर निष्पाप हो जाता है ॥ १९० ।

देहलीविनायक से पूर्वदिशा में प्रबल पापौघ रूपी हस्तियों को फार डालनेवाला मैं गिरिनृसिंह रूप से विराजमान रहता हूँ ॥ १९१ ।

हे तपोधन ! । पितामहेश्वर के पिछवाड़े महाभयहर नामक नरसिंह (महाभयनरसिंह) होकर मैं भक्तों का भय हरण करता हूँ ॥ १९२ ।

कमलेश्वर शिव के पश्चिम भाग में मैं अत्युग्रनरसिंह के नाम से रहता हूँ । श्रद्धा से उनका पूजन करने पर बड़ी उग्र पापराशि को भी दूर कर देता हूँ ॥ १९३ ।

ज्वालामुखी के समीप ही में मैं ज्वालामाली नृसिंह नाम से प्रसिद्ध हूँ ।वहाँ पर पूजन करने से मैं पापपुंजरूप तृणों को जला डालता हूँ ॥ १९४ ।

जहाँ पर काशी की रक्षा में दक्षबुद्धि कंकालभैरव हैं, वहीं पर दैत्य-दानवों का मर्दक मैं कोलाहलनृसिंह होकर रहता हूँ, इस नाम का यह कारण है कि इसे लेते ही पाप (भय के कारण) कोलाहल (हौरा) करने लग जाते हैं । उस स्थान पर

कङ्कालभैरवो यत्र काशीरक्षणदक्षधीः ।
तत्र मां भक्तितोऽभ्यर्च्य नोपसर्गैर्निरुध्यते ॥ १९६ ।
विटङ्कनरसिंहोऽस्मि नीलकण्ठेश्वरादनु ।
तत्र मां श्रद्धया पूज्य नरो भवति निर्भयः ॥ १९७ ।
अनन्तवामनश्चाहमनन्तेश्वरसन्निधौ ।
अनन्तान्यपि भक्तस्य कलुषाणि हरेऽर्चितः ॥ १९८ ।
दधिवामनसंज्ञोऽहं भक्तानां दधिभक्तदः ।
यन्नामस्मरणादेव न दरिद्रो नरो भवेत् ॥ १९९ ।
त्रिविक्रमोऽस्म्यहं काश्यामुदीच्यां च त्रिलोचनात् ।
ददामि पूजितो लक्ष्मीं हरामि वृजिनान्यपि ॥ २०० ।
बलिवामननामाऽहं बलिना परिपूजितः ।
बलिभद्रेश्वरात्प्राच्यां भक्तानां बलवर्धनः ॥ २०१ ।

कं ब्रह्माणं कालयतीति कंकालः, स चासौ भैरवश्चेति कङ्कालभैरवः । मां कोलाहलनृसिंहम् ॥ १९६ ।

विटङ्को भयङ्करः अलङ्कृतो वा ॥ १९७ ।

भक्तिपूर्वक मेरी अभ्यर्चना करने से किसी प्रकार के उपसर्ग बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं ॥ १९५-१९६ ।

नीलकंठ महादेव के पीछे की ओर मैं विटंकनरसिंह रूप से हूँ । जो नर वहाँ पर श्रद्धा करके मुझे पूजता है, वह निर्भय हो जाता है ॥ १९७ ।

अनन्तेश्वर के समीप ही में मैं अनन्तवामन की मूर्ति धरकर रहता हूँ । पूजन करने से भक्तों के अनन्त कलुषों को भी हर लेता हूँ ॥ १९८ ।

मैं अपने भक्तों को दही-भात देने वाला दधिवामन नाम से (भी वहीं) बना रहता हूँ । मनुष्य जिस नाम के स्मरण करने से ही कभी दरिद्री नहीं होता ॥ १९९ ।

त्रिलोचन से उत्तर मैं त्रिविक्रमरूप हूँ । वहाँ मेरी पूजा करने से (भक्तों को) लक्ष्मी को देता हूँ और (उनके) पापों को हर लेता हूँ ॥ २०० ।

मैं दैत्यराज बलि से पूजित बलिवामन नामक होकर बलिभद्रेश्वर के पूर्वभाग में अवस्थित हूँ, उस मूर्ति के दर्शन-पूजन से भक्त लोगों का बल बढ़ाता रहता हूँ ॥ २०१ ।

दक्षिणे भवतीर्थाच्च ताम्रद्वीपादिहागतः ।
नाम्ना ताम्रवराहोऽस्मि भक्तानां चिन्तितार्थदः ॥ २०२ ।
मुने धरणिवाराहः प्रयागेश्वरसन्निधौ ।
स्नात्वा वाराहतीर्थेऽत्र दृष्ट्वा मां किटिरूपिणम् ॥ २०३ ।
सम्पूज्य बहुभावेन न विशेद्योनिसङ्कटम् ।
तत्राऽल्पमपि दत्वाऽन्नं धरादानफलं लभेत् ॥ २०४ ।
महाकलुषगम्भीरसागरे निपतन् जनः ।
मम भक्त्युडुपं प्राप्य प्रलयेऽपि न मज्जति ॥ २०५ ।
अहं कोकावराहोऽस्मि किटीश्वरसमीपतः ।
तत्र मां पूजयन्मर्त्यो लभते चिन्तितं फलम् ॥ २०६ ।
नारायणाः शतं पञ्च शतं च जलशायिनः ।
त्रिंशत्कमठरूपाणि मत्स्यरूपाणि विंशतिः ॥ २०७ ।
गोपालाश्च शतं साष्टं बुद्धाः सन्ति सहस्रशः ।
त्रिंशत्परशुरामाश्च रामा एकोत्तरं शतम् ॥ २०८ ।

किटिरूपिणं सूकररूपिणम् ॥ २०३ ।

मैं ताम्रद्वीप से काशी में आकर भवतीर्थ के दक्षिण ताम्रवराहरूप होकर भक्तों का अभीष्ट सिद्ध करता हूँ ॥ २०२ ।

हे तपस्विन् ! मैं धरणिवराह की मूर्ति धारणा कर प्रयागेश्वर के सन्निकट में वर्तमान हूँ । उस वराहतीर्थ में स्नान कर मुझे वराहरूपधारी देखने से एवं पूर्णभावपूर्वक पूजन करने से अनेक योनियों में घूमने का संकट नहीं सहना पड़ता । उस तीर्थ पर थोड़ा भी अन्नदान करने से भूमिदान का फल मिलता है ॥ २०३-२०४ ।

जो मनुष्य मेरी भक्तिरूप घरनई (घटनौका) पी सके, अर्थात् घटनौका का सहारा पा जाता है, वह घोर पातकरूप अथाह समुद्र में गिरते रहने पर प्रलयकाल में भी नहीं डूब सकता है ॥ २०५ ।

मैं वराहेश्वर के समीप ही में कोकावराहरूप से विद्यमान हूँ । वहाँ पर जो मनुष्य मेरी पूजा करता है, वह अपना चिन्तित फल पा जाता है ॥ २०६ ।

मेरी पाँच सौ मूर्तियाँ नारायणरूप की, एक सौ जलशायीरूप की, तीस कच्छपरूप की, बीस मत्स्यरूप की, एक सौ आठ गोपालरूप की, सहस्रशः बौद्धरूप की, तीस परशुरामरूप की और एक सौ एक रामरूप की हैं ॥ २०७-२०८ ।

विष्णुरूपोऽस्म्यहं चैको मुक्तिमण्डपमध्यतः ।
मुने कृतप्रसादेन विश्वेशेन श्रितः स्वयम् ॥ २०९ ।
नारायणस्वरूपेण गणाश्चक्रगदोद्यताः ।
कुर्वन्ति रक्षां क्षेत्रस्य परितो नियुतानि षट् ॥ २१० ।
सोऽग्निबिन्दुरिति श्रुत्वा संप्रहृष्टतनूरुहः ।
पुनः पप्रच्छ मेधावी मूर्तिभेदान् वद प्रभो ॥ २११ ।
हिताय निजभक्तानां मम सन्देहशान्तये ।
कति ते मूर्तयोऽनन्त कथं ज्ञेयास्तथा वद ॥ २१२ ।
इत्याकर्ण्य वचस्तस्याऽग्निबिन्दोस्तपसां निधेः ।
उवाच भगवान् विष्णुर्मूर्तिभेदाननुक्रमात् ॥ २१३ ।
यान् श्रुत्वाऽपि हि नो मर्त्यो यमगोचरतां व्रजेत् ।
केशवादींश्चतुर्विंशद्भेदानाह प्रजापतिः ॥ २१४ ।

मुक्तिमंडप के मध्य में मैं विष्णुरूप से अकेला ही हूँ। हे मुने ! विश्वेश्वर ने स्वयं प्रसन्न होकर वहाँ पर मुझे आश्रयण दिया है ॥ २०९ ।

मेरे साठ लाख अनुचरगण नारायणरूप से चक्र और गदा धारण कर इस क्षेत्र की चारों ओर से रक्षा करते रहते हैं ॥ २१० ।

इन सब बातों को सुनकर अग्निबिन्दु ऋषि हर्ष के मारे रोमांचित हो गये। तदनंतर उस बुद्धिमान् ने भगवान् से पूछा—हे प्रभो ! अपने भक्तों के हितार्थ और मेरे सन्देह को हटाने के लिये मूर्तियों के भेदों को वर्णन कीजिये। हे अनन्त ! आपकी मूर्तियाँ कितनी हैं और वे सब कैसे जानी जा सकती हैं, यह भी बतलाइये ॥ २११-२१२ ।

तपोनिधि अग्निबिन्दु ऋषि की इस बात को सुनकर भगवान् विष्णु ने क्रम से मूर्तियों के भेदों को कहना आरम्भ किया ॥ २१३ ।

जिन केशव इत्यादि चौबीस भेदों को सुनकर मनुष्य यमराज की गोचरता को नहीं प्राप्त होता, भगवान् उनको कहने लगे ॥ २१४ ।

श्रीविष्णुरुवाच—

अग्निबिन्दो महाप्राज्ञ श्रृणु ते कथयाम्यहम् ।
आद्यदक्षिणहस्ताच्च विद्धि सृष्टिक्रमान् मुने ॥ २१५ ।
शंखचक्रगदापद्मैर्मूर्तिं जानीहि कैशवीम् ।
पूजिता या नृणां कुर्याच्चिन्तितार्थमसंशयम् ॥ २१६ ।
मधुहा परिचेतव्यः शंखपद्मगदादिभिः ।
वैरिणो नाशमायान्ति तन्मूर्तिपरिसेवनात् ॥ २१७ ।
संकर्षणः समर्च्योऽत्र शंखाब्जारिगदायुधः ।
तन्मूर्तिपूजनाज्जातु जन्तुर्न स्यात् पुनर्भवी ॥ २१८ ।

अग्निबिन्दो इति । कथयामि स्वमूर्तिभेदानिति शेषः । सृष्टिक्रमात् प्रदक्षिण-क्रमात् ॥ २१५ ।

तत्राद्यदक्षिणकराद्यवामकराधो वामकराऽधो दक्षिणकरक्रमेण शंख-चक्र-गदा-पद्मैः केशवमधुहसंकर्षणदामोदरवामनप्रद्युम्नषट्कं विष्णुमाधवाऽनिरुद्ध-पुरुषोत्तमाऽधोक्षजजनार्दनषट्कं गोविन्दत्रिविक्रमश्रीधरहृषीकेशनृसिंहाऽच्युतषट्कं वासुदेवनारायणपद्मनाभोपेन्द्रहरिकृष्णषट्कं मूर्तयो भवन्ति । तत्र केशवादिषण्मूर्तिषु आद्यदक्षिणकरे शंख एव आद्यवामकरे चक्रपद्मगदाचक्रगदाः अधो वामकरे गदाचक्रचक्रपद्मपद्मानि अधो दक्षिणकरे पद्मचक्रगदापद्मगदाचक्राणि विष्ण्वादि-षण्मूर्तिषु आद्यवामकरे शंख एव गोविन्दादिषण्मूर्तिषु अधो वामकरे शंख एव वासुदेवादिषण्मूर्तिषु अधो दक्षिणकरे शंख एव अन्यत्स प्रादक्षिण्येन पूर्ववदेव । तत्र केशवः स्वर्णवर्णः ॥ २१६ ।

मधुहाऽर्जुनवर्णः ॥ २१७ ।

संकर्षणः स्वर्णवर्णः ॥ २१८ ।

श्रीविष्णु बोले—

हे महाप्राज्ञ ! अग्निबिन्दो ! मुने ! मैं तुमसे कहता हूँ, श्रवण करो । पहले ऊपर का दाहिना हाथ, तब ऊपर का बायाँ हाथ, फिर नीचे का बाँया हाथ, तब नीचे का दाहिना हाथ, इसी क्रम से शंख, चक्र, गदा और पद्म से जो भूषित रहे, उसे केशवमूर्ति समझ लो और उसकी पूजा करने से निःसन्देह वांछित मनोरथ की सिद्धि होती है ॥ २१५-२१६ ।

शंख, पद्म, गदा और चक्र से जो युक्त हो, उसे **मधुसूदनमूर्ति** पहचाननी चाहिए। उसके सेवन से शत्रुओं का विनाश हो जाता है ॥ २१७ ।

जो मूर्ति शंख, पद्म, चक्र और गदा से परिपूर्ण हो, उसे **संकर्षणमूर्ति** कहते हैं । उसके पूजन करने से जन्तु फिर कभी जन्मभागी नहीं होता ॥ २१८ ।

शंखकौमोदकीचक्रपद्मैर्दामोदरोऽर्च्यते ।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च गोधनं धान्यमेव हि ॥ २१९ ।
वामनः शंखचक्राब्जगदाभिरुपलक्षितः ।
लक्ष्मीवन्तं जनं कुर्याद् गृहेऽपि परिधारितः ॥ २२० ।
पाञ्चजन्यं गदां पद्मं चित्रमूर्तिसुदर्शनम् ।
प्रद्युम्नः पूज्यते मर्त्यैर्बहुद्युम्नं प्रयच्छति ॥ २२१ ।
ऊर्ध्ववामकरात्सृष्ट्या विष्ण्वाद्यं षट्कमुच्यते ।
यस्य स्मरणमात्रेण विलीयन्तेऽघराशयः ॥ २२२ ।
शंखारिभ्यां गदाब्जाभ्यां पूज्यो विष्णुः श्रिये नरैः ।
शंखपद्मगदाचक्रैर्माधवः परमर्द्धिदः ॥ २२३ ।

दामोदरः क्षीरवर्णः ॥ २१९ ।

वामनो रक्तवर्णः ॥ २२० ।

पाञ्चजन्यमिति । चित्रा विचित्रा मूर्तिर्यस्य सुदर्शनस्य तत्तथा । एतच्चतुष्टयं बिभ्राण इति शेषः । प्रद्युम्नो वज्रवर्णः ॥ २२१ ।

विष्णुरलक्तवर्णः । माधवो जपावर्णः ॥ २२३ ।

शंख, गदा, चक्र और पद्म क्रम से जिसके हाथों में हों, वह दामोदरमूर्ति के नाम से पूजी जाती है और वह मूर्ति (के पूजन से) प्रचुर द्रव्य, पुत्र, गोधन, धन और धान्य की अवश्य प्राप्ति होती है ॥ २१९ ।

वामन की मूर्ति शंख, चक्र, पद्म और गदा से उपलक्षित रहती है । यह मूर्ति जिसके घर में विराजमान रहती है, उस मनुष्य को धनवान् बना देती है ॥ २२० ।

मेरी जिस मूर्ति में पाञ्चजन्य नामक शंख, गदा, पद्म और सुन्दर सुदर्शन चक्र, यथाक्रम से रहता है, वह प्रद्युम्नमूर्ति है, जो लोग उसे पूजते हैं, उनको बहुत धनलाभ होता है ॥ २२१ ।

विष्णु इत्यादि छः मूर्तियाँ ऊपर के बाँये हाथ से सृष्टि के अनुसार कहाती हैं, जिनके स्मरणमात्र से पापराशि का विलोप हो जाता है ॥ २२२ ।

शंख, चक्र, गदा और पद्म से युक्त विष्णुमूर्ति की पूजा करने से मनुष्य श्रीमान् होता है एवं शंख, पद्म, गदा और चक्र से सुशोभित जो माधवमूर्ति है, वह बड़ी सम्पत्ति देती है ॥ २२३ ।

ध्येयोऽनिरुद्धः संसिद्ध्यै शंखाब्जारिगदोद्यतः ।
शंखेन गदया चक्राम्बुजाभ्यां पुरुषोत्तमः ॥ २२४ ।
अधोक्षजो जनिहरः शंखार्यब्जगदो मुने ।
शंखकौमोदकीपद्मचक्रैर्ध्येयो जनार्दनः ॥ २२५ ।
अधो वामकरात् सृष्ट्या षड्गोविन्दादिमूर्तयः ।
शंखं चक्रं गदां पद्मं गोविन्दो बिभृयात्सदा ॥ २२६ ।
शंखपद्मगदाचक्रैरर्च्यो लक्ष्म्यै त्रिविक्रमः ।
शंखाब्जचक्रं बिभ्राणो गदावान् श्रीधरः श्रिये ॥ २२७ ।
हृषीकेशश्च शंखेन गदाचक्राम्बुजैर्मतः ।
नृसिंहः शंखचक्राभ्यां पद्मेन गदयोह्यते ॥ २२८ ।
अच्युतः शंखभृन्नित्यं गदापद्मरथाङ्गवान् ।
दक्षिणाधः करादूह्या वासुदेवादयश्च षट् ॥ २२९ ।

अनिरुद्धः कृष्णवर्णः ॥ २२४ ।

गोविन्दो मनःशिलावर्णः ॥ २२६ ।

त्रिविक्रमो नीलपाषाणवर्णः । श्रीधरः कुमुदवर्णः ॥ २२७ ।

हृषीकेशः काश्मीरवर्णः ॥ २२८ ।

शंख, पद्म, चक्र और गदा को धारण किये हुए **अनिरुद्धमूर्ति** का ध्यान करने से सिद्धि मिलती है । **पुरुषोत्तममूर्ति** में शंख, गदा, चक्र और पद्म रहते हैं ॥ २२४ ।

हे मुने ! शंख, चक्र, पद्म और गदा वाली जन्मदुःखहारिणी **अधोक्षजमूर्ति** है । शंख, कौमोदकी गदा, पद्म और चक्र से युक्त **जनार्दनमूर्ति** होती है ॥ २२५ ।

सृष्टि के क्रम से नीचे के बाँयें हाथ से गोविन्द इत्यादि छः मूर्तियों का भेद होता है, उक्त क्रम के अनुसार **गोविन्दमूर्ति** सदैव शंख, चक्र, गदा और पद्म तथा शंख, पद्म, गदा एवं चक्र से युक्त **त्रिविक्रममूर्ति** पूजनीय है । शंख, पद्म, चक्र और गदाधारी **श्रीधर** की मूर्ति भी श्री के लाभार्थ ही पूज्य है ॥ २२६-२२७ ।

हृषीकेशमूर्ति में उक्त क्रम से शंख, गदा, चक्र और पद्म सुशोभित रहता है । शंख, चक्र, पद्म और गदा को धारण करने वाली **नृसिंहमूर्ति** है ॥ २२८ ।

शंख, गदा, पद्म और चक्रधारी अच्युत की मूर्ति होती है । अब नीचे के दाहिने हाथ के क्रम से वासुदेव इत्यादि छः मूर्तियों का भेद कहा जाता है ॥ २२९ ।

वासुदेवश्च शंखारिगदाजलजभृत्सदा ।
शंखाम्बुजगदाचक्री ध्येयो नारायणो नृभिः ॥ २३० ॥
शंखी पद्मी पद्मनाभो ज्ञेयश्चक्री गदी मुने ।
उपेन्द्रः शंखवान्नित्यं गदारिकमलायुधः ॥ २३१ ॥

वासुदेवः स्फटिकवर्णः। नारायणः क्षीरवर्णः ॥ २३० ।

पद्मनाभोऽञ्जनवर्णः। तथा चोक्तम्—

शंखचक्रगदापद्मैः केशवः कनकप्रभः ।
चक्रशंखगदापद्मैरर्जुनो मधुसूदनः ॥

अर्जुनो धवलः ।

संकर्षणोदराब्जारिगदाभिः कनकप्रभः ।
दामोदरः शंखगदाचक्राब्जैः भीरसन्निभः ॥
रक्तश्चक्रगदापद्मदरैर्वामन उच्यते ।
शंखी गदी साब्जचक्रः प्रद्युम्नो वज्रसन्निभः ॥
वज्रं हीरकं सपद्मशंखारिगदो विष्णुश्चालक्तसप्रभः ।
माधवश्चक्रशंखाब्जगदाहस्तो जपानिभः ॥
गदी शंखी साब्जचक्रस्त्वनिरुद्धोऽसितप्रभः ।
मनःशिलाभो गोविन्दो गदापद्मदरादिभिः ॥

मनःशिला धातुविशेषः ।

सचक्रशंखाब्जगदो नीलाश्माभस्त्रिविक्रमः ।
शंखचक्रगदापद्मैः श्रीधरः कुमुदप्रभः ॥
काश्मीराभो हृषीकेशः सचक्राब्जदरो गदी ।

काश्मीरं कुङ्कुमम् ।

स्फटिकाभो वासुदेवः शंखार्यब्जगदाधरः ॥
क्षीराभोऽब्जगदापद्म चक्रैर्नारायणः स्मृतः ।
पद्मचक्रगदाशंखैः पद्मनाभोऽञ्जनद्युतिः । । इति ।

अन्येषामपि रूपाणि आगमपुराणादिषु द्रष्टव्यानि । आयुधधारणभेदाश्चतुर्विंशतिषोडशमूर्तावुपासनभेदाभिप्रायेण द्रष्टव्याः ॥ २३१ ।

शंख, चक्र, गदा और पद्म से अलंकृत वासुदेव की मूर्ति होती है । शंख, पद्म, गदा और चक्रवाली नारायण की मूर्ति का ध्यान मनुष्यों को करना चाहिए ॥ २३० ।

हे मुनिवर ! शंख, पद्म, चक्र और गदा वाली जो मूर्ति हो, उसे पद्मनाभ की मूर्ति समझना चाहिए एवं शंख, गदा, चक्र और पद्म से भूषित उपेन्द्र की मूर्ति होती है ॥ २३१ ।

हरिर्हरेदघं शंखी चक्री पद्मी गदी नृणाम् ।
शंखेन गदया पद्मचक्राभ्यां कृष्ण उच्यते ॥ २३२ ।

एते भेदा मयाख्याताः स्वमूर्तीनां महामुने ।
यान् विज्ञाय ध्रुवं मर्त्यो भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥ २३३ ।

एवं वदति गोविन्दे मुनये चाग्निबिन्दवे ।
पक्षीन्द्रः पक्षविक्षिप्तविपक्षोऽक्षिपथंगतः ॥ २३४ ।

प्राह च प्रणिपत्याशु त्र्यक्षस्यागमनं मुदा ।
संभ्रमेण हृषीकेशः क्वेश इत्यवदत्ततः ॥ २३५ ।

गरुड उवाच–

प्रत्यक्षः क्रियतामेष महावृषभकेतनः ।
यस्य ध्वजस्य रत्नार्चिः पूरयेद्रोदसीमिमाम् ॥ २३६ ।

पक्षेति । पक्षाभ्यां विक्षिप्ता निरस्ता विपक्षा येन सः ॥ २३४ ।

रोदसी द्यावापृथिव्योरन्तरालम् ॥ २३६ ।

शंख, चक्र, पद्म और गदा से पूर्ण हरि की मूर्ति है, जो मनुष्यों के पापों को हरण करती है और शंख, गदा, पद्म और चक्र को लिये हुए कृष्ण की मूर्ति कही जाती है ॥ २३२ ।

हे महातपस्विन् ! अपनी सब मूर्तियों के भेदों का मैंने वर्णन किया । मनुष्य इन भेदों को जान सकने से निश्चय ही भुक्ति और मुक्ति को भी प्राप्त करता है ॥ २३३ ।

जिस समय भगवान् विष्णु अग्निबिन्दु मुनि से यह सब बात कह रहे थे, उसी वेला में अपने पक्षों से विपक्षों को दूर फेंक देने वाले पक्षिराज गरुड़ दिखलाई पड़े ॥ २३४ ।

उन्होंने बड़े हर्ष से प्रणाम कर शीघ्रतापूर्वक भगवान् त्रिलोचन के आने का समाचार दिया, तब तो यह सुनते ही घबराकर हृषीकेश कहने लगे–'महादेव कहाँ हैं' ? ॥ २३५ ।

गरुड बोले–

देखिये तो, ये ही न वृषभध्वज हैं, जिनके ध्वज में लगे हुए रत्नों की प्रभा समस्त आकाश और भूमंडल में भर रही है ॥ २३६ ।

लोकलोचननिर्माणसफलीकरणक्षमम् ।
कोटिमार्तण्डविद्योतप्रद्योतितदिगाननम् ॥ २३७ ।
निरीक्ष्य पुण्डरीकाक्षस्त्र्यक्षस्य वृषभध्वजम् ।
विमानिनां विमानौघैः परीतगगनाङ्गणम् ॥ २३८ ।
महावाद्यनिनादौघैः प्रतिस्वानितकन्दरम् ।
विद्याधरीपरिक्षिप्तपुष्पाञ्जलिसुगन्धितम् ॥ २३९ ।
प्रणम्य दूरादपि च संप्रहृष्टतनूरुहः ।
अभ्युत्थातुं मनश्चक्रे शंखचक्रगदाधरः ॥ २४० ।
अग्निबिन्दुमथ प्राह मुक्तिदस्तु मुदांनिधिः ।
इदं सुदर्शनं चक्रं स्पृश सव्येन पाणिना ॥ २४१ ।

लोकेति । पुण्डरीकाक्षस्त्र्यक्षस्य लोकेत्यादि विशेषणविशिष्टं वृषभध्वजं वृषभरूपो ध्वजो वृषभध्वजः, वृषभो वृषो ध्वजो यस्मिन् रथ इति वा तं निरीक्ष्य दूरादपि च दूरादेव, चकारः संभ्रमे, अभ्युत्थातुमभ्युत्थानेन गन्तुं मनश्चक्रे दूरादेव निरीक्ष्येति वाऽन्वयः । पञ्चभिर्विशेषणै रथं विशिनष्टि । लोकलोचनेति । कोटिमार्तण्डानामिव यः प्रद्योतः प्रकृष्टा द्युतिस्तेन प्रद्योतितं दिशामाननं मुखं येन स तथा तम् ॥ २३७ ।

विमानिनां देवानां विमानौघैः रथसमूहैः परित इतं व्याप्तं गगनाङ्गणं यस्मै स तथा तम् ॥ २३८ ।

असव्येन दक्षिणेनेत्यर्थः । सव्येनेति पाठेऽपि स एवार्थः । "सव्यदक्षिणवामयोः" इति वचनात् ॥ २४१ ।

तदनन्तर पुंडरीकाक्ष श्री विष्णु भगवान् त्रिनेत्र के वृषभ की ध्वजा से युक्त रथ को देखने लगे, जिसका दर्शन ही सब लोगों के नयननिर्माण को सफल कर देने में समर्थ है, जो करोड़ों सूर्यों की किरणमाला से मानो दिङ्मंडल को उद्‌भासित कर रहा है एवं जिसके चारों ओर देवतालोगों के विमानों से गगनमंडल भरा-पूरा हो रहा है ॥ २३७-२३८ ।

उसके अनेक बड़े वाद्यों की ध्वनियों से पर्वतों की कन्दराएँ प्रतिध्वनित हो रही हैं, एवं विद्याधरियों की फेंकी हुई पुष्पाञ्जलियों से वह सुगन्धित हो रहा है ॥ २३९ ।

तब शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु हर्ष से पुलकित शरीर हो दूर से ही प्रणाम कर अगवानी करने की इच्छा करने लगे ॥ २४० ।

फिर मुदनिधान मुक्तिप्रद भगवान् अग्निबिन्दु से बोले—'यह सुदर्शन-चक्र है, इसे तुम दाहिने हाथ से छू दो' ॥ २४१ ॥

अग्निबिन्दुरिति प्रोक्तः स्पृशेद्यावत्सुदर्शनम् ।
तावत्सुदर्शनो जातः परमानुग्रहाद्धरेः ॥ २४२ ।

स्कन्द उवाच–

ज्योतीरूपोऽथ स मुनिः कौस्तुभे ज्योतिषां तनौ ।
एकीभूतः कलशज बिन्दुमाधवसेवनात् ॥ २४३ ।
बिन्दुमाधवपादाब्जभ्रमरीकृतमानसाः ।
अग्निबिन्दूपमां यान्ति कलशोद्भव निश्चितम् ॥ २४४ ।
काश्यां सदैव वस्तव्यं द्रष्टव्यो बिन्दुमाधवः ।
श्रोतव्यमिदमाख्यानं जेतव्या जगतां गतिः ॥ २४५ ।
पुण्या पञ्चनदोत्पत्तिः पुण्या माधवसंकथा ।
पुण्यो वाराणसीवासः संभवेत् पुण्यजन्मनाम् ॥ २४६ ।
अग्निबिन्दोः स्तुतिं योऽत्र माधवाग्रे पठिष्यति ।
समृद्धसर्वकामः स मोक्षलक्ष्मीपतिर्भवेत् ॥ २४७ ।

शोभनं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सुदर्शनः ॥ २४२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ।

ऐसे कहने पर ज्यों ही अग्निबिन्दु मुनि ने सुदर्शन चक्र को स्पर्श किया, त्यों ही नारायण के परम अनुग्रह से स्वयं सुदर्शन (दिव्यज्ञानी) हो गये ॥ २४२ ।

स्कन्द कहने लगे–

हे अगस्त्य ! इसके अनन्तर वे अग्निबिन्दु ऋषि बिन्दुमाधव के सेवन से ज्योतीरूप होकर कौस्तुभधारी के ज्योतिर्मय शरीर में मिल गये ॥ २४३ ।

हे कुम्भज ! जो लोग अपने मन को बिन्दुमाधव के चरणकमल का भ्रमर बना देते हैं, वे सब अग्निबिन्दु के ही समान हो जाते हैं–इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २४४ ।

जो कोई काशी में सर्वदा निवास करता है और भगवान् बिन्दुमाधव का दर्शन पाता है एवं इस आख्यान को सुन सकने में समर्थ होता है, वह संसार की गति को जीत सकता है ॥ २४५ ।

पंचनदतीर्थ की उत्पत्ति और बिन्दुमाधव की कथा ये दोनों ही बड़ी पवित्र हैं। उस पर पुण्यक्षेत्र काशीपुरी का वास, यह सब बड़े पुण्यवान् जन के ही भाग्य में घटता है ॥ २४६ ।

जो कोई काशी में बिन्दुमाधव के आगे अग्निबिन्दु की विरचित स्तुति का पाठ करेगा, वह यहाँ पर तो अपनी समस्त वासनाओं से समृद्ध होगा ही, अन्त में मोक्षलक्ष्मी कां भी भागी हो जायेगा ॥ २४७ ।

श्राद्धकाले सदा जप्यमिदमाख्यानमुत्तमम् ।
द्विजानां भुञ्जमानानां पुरस्तात् परतृप्तये ॥ २४८ ।
जप्तव्यमिदमाख्यानं पर्वकाले विशेषतः ।
पुण्ये पञ्चनदाभ्याशे पुण्यलक्ष्मीविवृद्धये ॥ २४९ ।
पठितव्यः प्रयत्नेन बिन्दुमाधवसंभवः ।
श्रोतव्यः परया भक्त्या भुक्तिमुक्तिसमृद्धये ॥ २५० ।
सम्प्राप्ते वासरे विष्णो रात्रौ जागरणान्वितः ।
श्रुत्वाख्यानमिदं पुण्यं वैकुण्ठे वसतिं लभेत् ॥ २५१ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे बिन्दुमाधवाविर्भावो माधवाग्निबिन्दुसंवादो वैष्णवतीर्थमाहात्म्यं च नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ।

श्राद्ध के समय जब ब्राह्मणगण भोजन करते हों, उन लोगों के सन्मुख उनके संतोष के लिये इस उत्तम उपाख्यान को अवश्य ही पढ़ना चाहिए ॥ २४८ ।

विशेष रूप से पर्व के दिन पवित्र पंचनदतीर्थ के समीप में पुण्यश्री की वृद्धि के लिये इस कथा को पढ़ना ही चाहिए ॥ २४९ ।

भोग तथा मोक्ष की समृद्धि के हेतु बिन्दुमाधव के प्रादुर्भाव का विवरण प्रयत्नपूर्वक पढ़ना चाहिए, एवं विपुल भक्ति के साथ सुनना भी उचित है ॥ २५० ।

विष्णुवासर एकादशी तिथि पड़ने पर रात्रि में जागरण कर इस पवित्र उपाख्यान के सुनने से वैकुंठलोक में वास मिलता है ॥ २५१ ।

जेहि नाम लिये सब पाप कटैं, पुनि अंतस मुक्ति घटै छन में ।
यहि लोकनि भोग मिलैं सब हीं, नहिं ताप रहैं तनिकौ तन में ॥
निज भक्तन के कलि-कल्मष को, वहि पंच नदीन के धारन में ।
निज माधव धोइ बहावत हैं, प्रणवौं उनके पद को मन में ॥ १ ।
हे माधव मायापते, करहु मोर कल्यान ।
तुव पदपंकज छाड़ि कै, कतहुँ न मोहिं ठिकान ॥ २ ।
नाथ ! दया उर में धरो, करो दीन पर नेह ।
भक्तिभाव दीजै हमैं, होय जन्म दुःख छेह ॥ ३ ।
माधवमाधव रैन-दिन, जपों बैठि तुव पास ।
जन्म कोटि के अघ कटैं, यही एक मम आस ॥ ४ ।
सुमिरन माधव नमवाँ, भागैं पाप ।
मिटत सकल कलेसवाँ, धन यह जाप ॥ ५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां वैष्णवतीर्थमाहात्म्य-मूर्तिभेदवर्णनं नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ।

॥ अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

श्रुत्वा स्कन्द न तृप्तोऽस्मि तव क्त्ररितां कथाम् ।
अत्याश्चर्यकरं प्रोक्तमाख्यानं बैन्दुमाधवम् ॥ १ ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि देवदेवसमागमम् ।
तार्क्ष्यात्त्र्यक्षः समाकर्ण्य दिवोदासस्य चेष्टितम् ॥ २ ।
विष्णुमायाप्रपञ्चं च किमाह गरुडध्वजम् ।
के के च शम्भुना सार्धं समीयुर्मन्दराद्गिरेः ॥ ३ ।
ब्रह्मणेशः कथं दृष्टस्त्रपाकुलितचक्षुषा ।
किमाह देवो ब्रह्माणं किमुक्तं भास्वताऽपि च ॥ ४ ।

द्वियुक्षष्टितमेऽध्याये सर्वाघौघविदारणः ।
प्रादुर्भावोऽतिरम्योऽयं वर्ण्यते वार्षभध्वजः ॥ १ ।

प्रविवेश महादेवः पुरीं वाराणसीं शुभामिति सप्तपञ्चाशत्तमेऽध्याये श्रुतं विश्वेश्वरकाशीप्रवेशं विस्तरेण श्रोतुं कथाश्रवणजनितं स्वात्मानन्दं दर्शयन् वृत्तानुवादपूर्वकं तमेव पृच्छति । श्रुत्वेत्यादिपञ्चभिः ॥ १ ।

(महादेव का काशी में प्रवेश और कपिलधारातीर्थ की कथा)

अगस्त्य ने कहा–

हे स्कन्द ! आपके मुख से निर्गत वचनामृत को सुनते हुए तो मेरी तृप्ति ही नहीं होती, आपने यह बिन्दुमाधव का उपाख्यान तो बड़ा ही अद्भुत वर्णन किया ॥ १ ।

पर अब मैं आपसे भगवान् महादेव के समागम की कथा सुना चाहता हूँ । त्रिलोचन शिव ने गरुड़ से राजा दिवोदास का तत्कालीन व्यवहार और भगवान् विष्णु के मायाजाल का प्रपंच सुनकर नारायण को क्या कहा था ? और कौन कौन-से लोग महेश्वर के साथ मन्दराचल से चलकर (काशी में) आये थे ? ॥ २-३ ।

फिर ब्रह्मा ने लज्जा से अधोदृष्टि होकर शंकर से किस प्रकार साक्षात्कार किया ? और शिव ने ब्रह्मा को क्या कहा ? यों ही सूर्यदेव ने अपने विषय में क्या कहा ? ॥ ४ ।

योगिनीभिः किमाख्यायि गणा ह्रीणाः किमब्रुवन्‌ ।
एतदाख्याहि मे स्कन्द महत्कौतूहलं मयि ॥ ५ ।
इमं प्रश्नं निशम्यैशिर्मुनेः कलशजन्मनः ।
प्रत्युवाच नमस्कृत्य शिवौ प्रणतसिद्धिदौ ॥ ६ ।

स्कन्द उवाच–

मुने शृणु कथामेतां सर्वपातकनाशिनीम्‌ ।
अशेषविघ्नशमनीं महाश्रेयोऽभिवर्धिनीम्‌ ॥ ७ ।
अथ देवोऽसुररिपुः श्रुत्वा शम्भुसमागमम्‌ ।
द्विजराजाय समुदा समदात्पारितोषिकम्‌ ॥ ८ ।
आयानं शंसते शम्भोरुपवाराणसिप्रियम्‌ ।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा ततश्चाभ्युद्ययौ हरिः ॥ ९ ।

इममिति व्यासवाक्यम्‌ ॥ ६ ।

स विष्णुः। द्विजराजाय गरुडाय शम्भोरायानमागमनं शंसते कथयते । मुदा पारितोषिकं परितोषे जाते देयं समदादित्यन्वयः ॥ ८

और पुनः योगिनियों ने अपने अपराध के लिये कैसे क्षमा की प्रार्थना की ? लज्जित प्रमथगणों ने क्या कहा ? हे षडानन ! यह सब मुझे बताइए । मुझे बड़ा ही कौतूहल हो रहा है ॥ ५ ।

शंकरनन्दन ने कुंभज मुनि के इस प्रश्न को सुन प्रणतजन के सिद्धिप्रद महादेव, पार्वती को नमस्कार कर इस भाँति से उत्तर दिया ॥ ६ ।

स्कन्द बोले–

हे मुने ! समस्त पाप और विघ्नों (तापों) की नाशिनी एवं परममंगलकारिणी इस कथा को श्रवण (गोचर) करो ॥ ७ ।

इसके अनन्तर दानवारि हरि ने शंकर के समागम का वृत्तान्त सुनते ही बड़े हर्ष से शिवागमनशंसी पक्षिराज गरुड़ को बड़ा पारितोषिक (इनाम) दिया ॥ ८ ।

तदनन्तर वाराणसी पुरी के समीप ही में अपने बड़े प्यारे प्रजापति को अगुआ (अग्रगामी) बनाकर अगवानी की ॥ ९ ।

विवस्वता समेतश्च तैर्गणैः परितो वृतः ।
योगिनीभिरनूद्यातो गणेशमुपसंस्थितः ॥ १० ।
अथ नेत्रातिथीकृत्य देवदेवं वृषध्वजम् ।
मंक्षु तार्क्ष्यादवारुह्य प्रणनाम श्रियःपतिः ॥ ११ ।
पितामहोऽपि स्थविरो भृशं नम्रशिरोधरः ।
प्रणतेनं मृडेनैव प्रणमन् विनिवारितः ॥ १२ ।
स्वस्त्यभ्युदितपाणिश्च रुद्रसूक्तैरमन्त्रयत् ।
अक्षतान्यथ सार्द्राणि दर्शयन् सफलान्यजः ॥ १३ ।
मौलिं पादाब्जयोः कृत्वा गणेशः सत्वरो नतः ।
मूर्ध्न्युपाजिघ्रयाञ्चक्रे हरो हर्षाद्गजाननम् ॥ १४ ।
अभ्युपावेशयच्चापि परिष्वज्य निजासने ।
सोमनन्दिप्रभृतयः प्रणेमुर्दण्डवद्गणाः ॥ १५ ।

अनूद्यातः अनुगम्यमान इत्यर्थः । परिवृत इति क्वचित् । गणेशमुपसंस्थितः गणेशेन सार्धं परस्परं गृहीतहस्त इत्यर्थः । गणेशेन च संवृत इत्यपि क्वचित् ॥ १० ।

मंक्षु द्रुतम् ॥ ११ ।

प्रणतेन नम्रेण । प्रणम्यैनमिति क्वचित्पाठः ॥ १२ ।

फिर सूर्यनारायण, गणपति, प्रमथगण और योगिनियों के सहित मिल-जुलकर कुछ काल तक वहीं पर ठहर भगवान् विष्णु अगोरते रहे (प्रतीक्षा करते रहे) ॥ १० ।

तदनन्तर वृषभध्वज महादेव को नेत्रगोचर करते (महादेव का दर्शन पाते) ही लक्ष्मीपति ने अपने वाहन गरुड़ से उतर कर प्रणाम किया ॥ ११ ।

फिर बूढ़े पितामह को बहुत ही झुककर प्रणाम करते हुए देख, स्वयं प्रणत हो, महादेव ने निषेध कर दिया ॥ १२ ।

तब तो प्रजापति ने दोनों हाथों को उठाकर स्वस्तिवाचन के साथ ओदे (आर्द्र) अक्षत और फलों को दिखलाकर रुद्रसूक्त का पाठ करते हुए अभिमंत्रित किया ॥ १३ ।

गणेश ने भी तुरत ही बड़ी नम्रता से उनके चरणों में अपना माथा नवाया । तदनंतर महादेव ने बड़े हर्ष से गणेश का मस्तक सूँघा ॥ १४ ।

और उनसे मिलकर अपने आसन पर बैठा लिया, सोम-नन्दी इत्यादि गणों ने दंडवत् प्रणाम किया ॥ १५ ।

योगिन्योऽपि प्रणम्येशं चक्रुर्मङ्गलगायनम् ।
तरणिः प्रणनामाऽथ प्रमथाधिपतिं हरम् ॥ १६ ।
खण्डेन्दुशेखरश्चाथ उपसिंहासनं हरिम् ।
समुपावेशयद्वामपार्श्वे मानपुरःसरम् ॥ १७ ।
ब्रह्माणं दक्षिणे भागे परिविश्राणितासनम् ।
दृष्ट्वा संभाविताः सर्वे शर्वेण प्रणता गणाः ॥ १८ ।
मौलिचालनमात्रेण योगिन्योऽपि प्रसादिताः ।
सन्तोषितो रविश्चापि विशेति करसंज्ञया ॥ १९ ।
अथ शम्भुं शतधृतिः प्रबद्धकरसम्पुटः ।
परिविज्ञापयाञ्चक्रे प्रसन्नवदनाम्बुजम् ॥ २० ।

ब्रह्मोवाच–

भगवन् देवदेवेश क्षन्तव्यं गिरिजापते ।
वाराणसीं समासाद्य यदहं नागतः पुनः ॥ २१ ।

उपसिंहासनं सिंहासनस्य समीपे ॥ १७

शतधृतिर्ब्रह्मा ॥ २० ।

योगिनियाँ भी शिव को प्रणाम करती हुईं मंगल गीतें गाने लगीं । भगवान् भास्कर ने भी प्रमथनाथ महादेव को प्रणाम किया ॥ १६ ।

इसके पीछे (पश्चात्) चन्द्रशेखर ने बड़े आदर के साथ अपने सिंहासन के पास ही में बायीं ओर वैकुंठनाथ को बैठाया ॥ १७ ।

आसन देकर दाहिने भाग में ब्रह्मा को बिठलाया, फिर सब विनीत गणों को भी प्रसन्न दृष्टि से संतुष्ट किया ॥ १८ ।

इसी रीति से मस्तक हिला योगिनियों को भी संमानित कर, हाथ के संकेत से बैठ जाने के लिये कहकर सूर्यदेव को भी प्रसादित (प्रसन्न) किया ॥ १९ ।

इसके अनन्तर ब्रह्मा ने हाथों को जोड़कर प्रसन्न मुखकमल शंभु से सविनय यह निवेदन किया ॥ २० ।

ब्रह्मा कहने लगे–

हे भगवन् ! देवदेवेश ! गिरिजापते ! मैं काशी में आकर फिर आपके पास नहीं लौट सका । मेरे इस बड़े अपराध को आप क्षमा करें ॥ २१ ।

प्रसङ्गतोऽपि कः काशीं प्राप्य चन्द्रविभूषण ।
किञ्चिद्विधातुं शक्तोऽपि त्यजेत् स्थविरतांदधत् ॥ २२ ।
स्वरूपतो ब्राह्मणत्वादपाकर्तुं न शक्यते ।
अथ शक्तोऽप्यपाकर्तुं कः पुण्ये संचिकीर्षति ॥ २३ ।
विभोरपि समाज्ञेयं धर्मवर्त्मानुसारिणि ।
नि किञ्चिदपकर्तव्यं जानता केनचित् क्वचित् ॥ २४ ।
कस्तादृशि महीजानौ पुण्यवर्त्मन्यतन्द्रिते ।
काशीपाले दिवोदासे मनागपि विरुद्धधीः ॥ २५ ।
निशम्येति वचस्तुष्टः श्रीकण्ठोऽतिविशुद्धधीः ।
हसन् प्रोवाच धातारं ब्रह्मन् सर्वमवैम्यहम् ॥ २६ ।

स्वरूपतः स्वभावतः । अपाकर्तुम् अपकारं कर्तुम् । सृष्टिकर्तुस्तव किमशक्य-मित्याशंक्याह । **अथेति** ॥ २३ ।

मयाज्ञयाकरणान्न दोष इति चेत्तत्राह । **विभोरपीति** ॥ २४ ।

तथाप्यस्मत्कार्यगौरवेण राजविरुद्धेन भाव्यमिति चेत्तत्राह । **क इति** ॥ २५ ।

हे चन्द्रभूषण ! कोई भी जराग्रस्त बूढ़ा कुछ करने के लिये समर्थ होने पर भी प्रसंगवश काशी में जाकर भला, उसे क्यों कर छोड़ सकता है ? ॥ २२ ।

और भी एक बात है, प्रकृत रूप से ब्राह्मण होने के कारण अपकार नहीं किया जा सकता है । फिर यदि अपकार करने में समर्थ होने पर भी कोई अच्छे के विषय में भला ऐसे काम करने की इच्छा कर सकता है ? ॥ २३ ।

इस पर स्वामी की भी यही आज्ञा हुई थी कि, जानबूझकर कोई भी कभी किसी धर्मपथावलम्बी के विषयं में कुछ भी अपकार न करे ॥२४ ।

तब फिर ऐसा कौन है, जो निरालस्य होकर काशी के रक्षक उस दिवोदास राजा के ऊपर कुछ भी अनिष्ट की बुद्धि (अनिष्ट का विचार भी) फेर सके ? ॥ २५ ।

इस वचन को सुन सन्तुष्ट होकर ज्ञाननिधि भगवान् शंकर ने हँस कर ब्रह्मा से कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं यह सब समझता हूँ ॥ २६ ।

देवदेव उवाच–

आदौ तावददोषं हि ब्रह्मत्वं ब्राह्मणस्य ते ।
वाजिमेधाध्वराणां च ततोऽपि दशकं कृतम् ॥ २७ ।
ततोऽपि विहितं ब्रह्मन् भवता परमं हितम् ।
अपराधसहस्राणि यल्लिङ्गं स्थापितं मम ॥ २८ ।
येनैकमपि मे लिङ्गं स्थापितं यत्र कुत्रचित् ।
तस्याऽपराधलेशोऽपि नास्ति सर्वापराधिनः ॥ २९ ।
अपराधसहस्रेऽपि ब्राह्मणं यो पराध्नुयात् ।
दिनैः कतिपयैरेव तस्यैश्वर्यं विनश्यति ॥ ३० ।
इति ब्रुवति देवेशऽप्यन्तरुच्छ्वसितं गणैः ।
समातृभिः समन्ताच्च विलोक्यास्यं परस्परम् ॥ ३१ ।
अर्कोऽप्यवसरं ज्ञात्वा शम्भुं नत्वा व्यजिज्ञपत् ।
प्रसन्नास्यमुमाकान्तं दृष्ट्वा दृष्टचराचरः ॥ ३२ ।

अपराधसहस्राणि कृत्वाऽपीति शेषः ॥ २८ ।

उच्छ्वसितमपराधजं भयं त्यक्तमित्यर्थः ॥ ३१ ।

महादेव कहने लगे–

पहले तो तुम्हारा कोई दोष ही नहीं हैं; क्योंकि ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व (करना) तो धर्म ही है, फिर तुमने इस काशीधाम में दश अश्वमेध यज्ञ भी कर डाले ॥ २७ ।

हे ब्रह्मन् ! इन सबसे बढ़कर तुमने एक बड़ा ही हितसंपादक यह काम किया जो मेरे लिंग की स्थापना भी कर दी, उससे सहस्रों ही अपराध दूर हो जाते हैं ॥ २८ ।

(क्योंकि) सब अपराधों से भरा हुआ भी यदि कोई कहीं पर मेरे एक भी लिंग की स्थापना कर देवे तो उस जन में तनिक भी अपराध का लेश नहीं रह जा सकता है ॥ २९ ।

फिर जो कोई सहस्रों दोषों से पूर्ण रहने पर भी ब्राह्मण को अपराधी बनावे, तो थोड़े ही दिनों के बीच उसका समस्त ऐश्वर्य बिगड़ (विनष्ट हो) जाता है ॥ ३० ।

भगवान् शिव के ऐसे मीठे उत्तर को सुनकर समस्त गणलोग और योगिनियाँ एक-दूसरे का मुख निहारती हुई भीतर ही भीतर आनन्दित होने लगीं ॥ ३१ ।

उसी समय अवसर देखकर चराचर के प्रकाशक सूर्य ने भी प्रणामपुरःसर प्रसन्न मुख उन उमाकान्त से यह निवेदन किया ॥ ३२ ।

अर्क उवाच–

नाथ काशीमितो गत्वा यथाशक्ति कृतोपधिः ।
अकिञ्चित्करतां प्राप्तः सहस्रकरवानपि ॥ ३३ ।
स्वधर्मपालके तस्मिन् दिवोदासे धरापतौ ।
निश्चितागमनं ज्ञात्वा देवस्याहमिह स्थितः ॥ ३४ ।
प्रतीक्षमाणो देवेश त्वदागमनमुत्तमम् ।
विभज्य बहुधात्मानं त्वदाराधनतत्परः ॥ ३५ ।
मनोरथद्रुमश्चाद्य फलितः श्रीमदीक्षणात् ।
किञ्चिद्भक्तिलवाम्भोभिः सिक्तो ध्यानेन पुष्पितः ॥ ३६ ।
इत्युदीरितमाकर्ण्य रवेर्वै रविलोचनः ।
प्रोवाच देवदेवेशो नापराध्यसि भास्कर ॥ ३७ ।
ममैव कार्यं विहितं त्वं यदत्र व्यवस्थितः ।
यस्यां सुरप्रवेशो न तस्मिन् राजनि शासति ॥ ३८ ।

इतस्त्वत्सकाशात् । कृत उपधिश्छलरूप उपायो येन सः । अकिञ्चिदिति विरुद्धालङ्कारः ॥ ३३ ।

सूर्य बोले–

हे नाथ ! मैं भी मन्दराचल से काशी में पहुँच यथाशक्ति उपद्रव करते हुए सहस्रकरधारी होने पर भी स्वधर्मपालक उस राजा दिवोदास के विषय में अकिंचित्कर ही रह गया। तब फिर स्वामी का आगमन निश्चित समझकर यहाँ ही ठहर गया ॥ ३३-३४ ।

और हे देवेश ! आपके अवाई की बाट जोहता हुआ (आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ) अपना अनेक रूप बनाकर (अनेक मूर्ति बनाकर) आपकी ही आराधना में लगा रहा ॥ ३५ ।

हे नाथ ! इतने दिनों से जो मेरा मनोरथरूप वृक्ष भक्तिरूप जल से सींचा था, आज वह वृक्ष ध्यानरूप पुष्प से शोभित होकर श्रीमान् के दर्शन से सफल हो गया ॥ ३६ ।

सूर्यनेत्र भगवान् चन्द्रमौलि सूर्य के इस वचन के कर्णगोचर होने पर कहने लगे कि, हे भास्कर ! तुम्हारा भी कोई दोष नहीं है ॥ ३७ ।

यहाँ ठहर जाने से तुमने मेरा कार्य सम्पादन किया; क्योंकि राजा दिवोदास के राज्यशासनकाल में कोई भी देव घुसने नहीं पाता था ॥ ३८ ।

इति सूरं समाश्वास्य देवदेवः कृपानिधिः ।
गणानाश्वासयामास व्रीडानम्रशिरोधरान् ॥ ३९ ।
योगिन्योऽपि सुदृष्ट्वाऽथ शम्भुना संप्रसादिताः ।
त्रपाभरसमाक्रान्तकन्धरा इव सङ्गताः[1] ॥ ४० ।
ततो व्यापारयाञ्चक्रे त्र्यक्षो नेत्राणि चक्रिणि ।
हरिर्न किञ्चिदप्यूचे सर्वज्ञाग्रे महामनाः ॥ ४१ ।
ईशोऽपि श्रुतवृत्तान्तस्तार्क्ष्याद्गणपशार्ङ्गिणोः ।
मनसैव प्रसन्नोऽभून्न किञ्चित्पर्यभाषत ॥ ४२ ।
एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता गोलोकात्पञ्चधेनवः ।
सुनन्दा सुमनाश्चापि सुशीला सुरभिस्तथा ॥ ४३ ।
पञ्चमी कपिला चापि सर्वाघौघविघट्टिनी ।
वात्सल्यदृष्ट्या गर्भस्य तासामूधांसि सुस्रुवुः ॥ ४४ ।

सूरं सूर्यम् ॥ ३९ ।
भर्गस्येश्वरस्य । गर्भस्येति पाठे गर्भस्य महादेववाहस्येति यावत् ॥ ४४ ।

कृपानिधान महेश्वरदेव इस प्रकार से सूर्यनारायण को आश्वासन देकर लज्जा से विनतकन्धर अपने प्रमथगणों को भी आश्वासित करने लगे ॥ ३९ ।

फिर योगिनियों की ओर भी कृपा की दृष्टि फेरकर (योगिनियों पर भी कृपा-दृष्टि डालकर) उन सब को भी,जो लज्जा के बोझ से बहुत दबी जा रही थीं, विश्वेश्वर बड़ी सान्त्वना प्रदान करने लगे ॥ ४० ।

इसके अनन्तर शंकर ने अपने नेत्रों को विष्णु के ऊपर डाला, पर उस महामनस्वी हरि ने भगवान् हर के आगे कुछ भी नहीं कहा ॥ ४१ ।

इधर महादेव भी पहले ही गरुड़ से गणेश और विष्णु का सब वृत्तान्त सुन चुके थे । अतः उस घड़ी मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए । पर प्रकटरूप से उन लोगों के विषय़ में कुछ नहीं बोले ॥ ४२ ।

उसी वेला पर गोलोक से सुनन्दा, सुमना, सुरति, सुशीला और कपिला नाम की पाँच गायें वहाँ पर आ पहुँचीं ॥ ४३ ।

उन सर्वपापनांशिनी गौओं के थन से महादेव की स्नेहमयी दृष्टि के पड़ते ही दूध की धारा बहने लगी ॥ ४४ ।

---

1. संस्थिता इत्यपि पाठः ।

ववर्षुः पयसां पूरैस्तदूधांसि पयोधराः ।
धारासारैरविच्छिन्नैस्तावद्यावद्ध्रदोऽभवत् ॥ ४५ ।
पयःपयोधिरिव स द्वितीयः प्रैक्षि पार्षदैः ।
देवेशसमधिष्ठानात्तत्तीर्थमभवत्परम् ॥ ४६ ।
कपिलाह्रद इत्याख्यां चक्रे तस्य महेश्वरः ।
ततो देवाज्ञया सर्वे स्नातास्तत्र दिवौकसः ॥ ४७ ।
आविरासुस्ततस्तीर्थादथ दिव्यपितामहाः ।
तान् दृष्ट्वा ते सुराः सर्वे तर्पयाञ्चक्रिरे मुदा ॥ ४८ ।
अग्निष्वात्ता बर्हिषद आज्यपाः सोमपास्तथा ।
इत्याद्या दिव्यपितरस्तृप्ताः शम्भुं व्यजिज्ञपन् ॥ ४९ ।
देवदेव जगन्नाथ भक्तानामभयप्रद ।
अस्मिंस्तीर्थे त्वभ्याशाज्जाता नस्तृप्तिरक्षया ॥ ५० ।
तस्माच्छम्भो वरं देहि प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
इति दिव्यपितॄणां स श्रुत्वा वाक्यं वृषध्वजः ॥ ५१ ।
शृण्वतां सर्वदेवानामिदं वचनमब्रवीत् ।
शर्वः सर्वपितॄणां वै परतृप्तिकरं परम् ॥ ५२ ।

तदूधांसि तासां क्षीराशयाः पयोधराश्च स्तनाः ऊधांसीति पञ्चम्यर्थे वा ॥ ४५ ।
स ह्रदः पयःपयोधिरिव क्षीराब्धिरिव प्रैक्षि दृष्टः ॥ ४६ ।

उन सबों के थन से निरंतर इतनी दूध की धारा बह चली कि वहाँ पर उसी (दूध) से एक बड़ा भारी अगाध पोखरा बन गया ॥ ४५ ।

उस ह्रद को देखकर महादेव के पार्षदलोग उसे दूसरे क्षीरसमुद्र ही के समान देखने लगे, फिर तो देव-देव के बैठने से वह ह्रद बड़ा भारी तीर्थ हो गया ॥ ४६ ।

अनन्तर भगवान् शिव ने उसका नाम कपिलाह्रद रखा (वर्त्तमान कपिलधारा तीर्थ) और उन्हीं के आदेश से समस्त स्वर्गवासी देवताओं ने उसमें स्नान किया ॥ ४७ ।

उसी समय उस तीर्थ के भीतर से दिव्य पितरलोग प्रकट हुए, उनको देखते ही देवताओं ने बड़े हर्ष से जलांजलि दी ॥ ४८ ।

तब अग्निष्वात्ता, सोमपा, आज्यपा और बर्हिषद् आदि पितृगण परम तृप्त होकर शिव से निवेदन करने लगे ॥ ४९ ।

हे भक्तों के अभयदाता ! जगदीश्वर ! देवदेव ! इस तीर्थ में आपके वर्तमान रहने से हमलोगों की अक्षय तृप्ति हो गई ॥ ५० ।

इस कारण हे शंभो ! आप प्रसन्नचित्त से हम सबको वरदान करें । महादेव इस भाँति से दिव्य पितरों के वाक्य को सुनकर सब देवताओं के सन्मुख अग्रोक्त कहने लगे, जिससे पितरलोगों को बड़ा ही सन्तोष प्राप्त हुआ ॥ ५१-५२ ।

श्रीदेवदेव उवाच–

शृणु विष्णो महाबाहो शृणु त्वं च पितामह ।
एतस्मिन् कापिले तीर्थे कापिलेयपयोभृते ॥ ५३ ।
ये पिण्डान्निर्वपिष्यन्ति श्रद्धया श्राद्धदानतः ।
तेषां पितॄणां संतृप्तिर्भविष्यति ममाज्ञया ॥ ५४ ।
अन्यं विशेषं वक्ष्यामि महातृप्तिकरं परम् ।
कुहूसोमसमायोगे दत्तं श्राद्धमिहाऽक्षयम् ॥ ५५ ।
संवर्तकाले संप्राप्ते जलराशिर्जलान्यपि ।
क्षीयन्ते न क्षयत्यत्र श्राद्धं सोमकुहूकृतम् ॥ ५६ ।
अमासोमसमायोगे श्राद्धं यद्यत्र लभ्यते ।
तीर्थे कापिलधारेऽस्मिन् गयया पुष्करेण किम् ॥ ५७ ।
गदाधर भवान् यत्र यत्र त्वं च पितामह ।
वृषध्वजोऽस्म्यहं यत्र फल्गुस्तत्र न संशयः ॥ ५८ ।

अमा अमावास्या ॥ ५७ ।

गयापुष्कराभ्यां कृत्याभावे हेतुमाह । गदाधरेति । फल्गुर्नदी ॥ ५८ ।

श्रीदेवदेव ने कहा–

हे महाबाहो ! विष्णो ! हे पितामह ! ब्रह्मन् ! सब लोग श्रवण करो, जो लोग कपिलाओं के दूध से भरे हुए इस कपिलतीर्थ में श्रद्धापूर्वक श्राद्ध-विधान से पिंडदान कर सकेंगे, मेरी आज्ञा के अनुसार उनके पितरलोगों की पूर्ण तृप्ति हो जावेगी ॥ ५३-५४ ।

अब मैं इन लोगों के परम सन्तोषकारक एक बात को कहता हूँ (एकाग्र चित्त से श्रवण करो)–सोमवार से युक्त अमावास्या तिथि में यहाँ पर श्राद्ध करने से अक्षय फल प्राप्त होता है ॥ ५५ ।

प्रलयकाल में समुद्र के भी जल सूख जाते हैं; परन्तु सोमवती में यहाँ पर अनुष्ठित श्राद्ध का कभी क्षय होता ही नहीं है ॥ ५६ ।

यदि सोमवती अमावास्या में इस कपिलधारा तीर्थ पर श्राद्ध किया जाय, तो गया क्षेत्र अथवा पुष्कर में श्राद्धानुष्ठान से कौन फल है ? ॥ ५७ ।

हे गदाधर ! जहाँ पर आप स्वयं विद्यमान हैं और हे पितामह ! आप भी यहाँ ही हैं, फिर वृषध्वज मैं भी वर्तमान ही हूँ, तो यहाँ पर फल्गुनदी के प्रकट होने में कौन सन्देह है ? ॥ ५८ ।

दिव्यन्तरिक्षभौमानि यानि तीर्थानि सर्वतः ।
तान्यत्र निवसिष्यन्ति दर्शे सोमदिनान्विते ॥ ५९ ।
कुरुक्षेत्रे नैमिषे च गङ्गासागरसङ्गमे ।
ग्रहणे श्राद्धतो यत्स्यात्तत्तीर्थे वार्षभध्वजे ॥ ६० ।
अस्य तीर्थस्य नामानि यानि दिव्यपितामहाः ।
तान्यहं कथयिष्यामि भवतां तृप्तिदान्यलम् ॥ ६१ ।
मधुस्रवेति प्रथममेषा पुष्करिणी स्मृता ।
कृतकृत्या ततो ज्ञेया ततोऽसौ क्षीरनीरधिः ॥ ६२ ।
वृषभध्वजतीर्थं च तीर्थं पैतामहं ततः ।
ततो गदाधराख्यं च पितृतीर्थं ततः परम् ॥ ६३ ।
ततः कापिलधारं वै सुधाखनिरियं पुनः ।
ततः शिवगयाख्यं च ज्ञेयं तीर्थमिदं शुभम् ॥ ६४ ।
एतानि दशनामानि तीर्थस्याऽस्य पितामहाः ।
भवतां तृप्तिकारीणि विनापि श्राद्धतर्पणैः ॥ ६५ ।

कृतं कृत्यं कार्यमात्रं यया सा कृतकृत्या । कृतकृत्येत्यत्र घृतकुल्येति क्वचित्, घृतकुल्यां निवापत इत्यग्रे दर्शनात् ॥ ६२ ।

बहुत क्या कहें, क्या स्वर्ग, क्या अन्तरिक्ष अथवा क्या भूमंडल-सर्वत्र ही के जितने तीर्थ हैं, वे सब सोमवती अमावास्या पर्व में यहाँ पर ही विराजमान रहेंगे ॥ ५९ ।

सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और गंगासागर के संगम में श्राद्ध करने से जो फल मिलता है, इस वृषभध्वजतीर्थ में भी वही पुण्य प्राप्त हो जाता है ॥ ६० ।

हे दिव्य पितरगण ! इस तीर्थ के वे नाम जो आपलोगों की बड़ी तृप्ति के कारण हैं, उनको मैं कहता हूँ ॥ ६१ ।

पहले यह पोखरा मधुस्रवा था, फिर कृतकृत्या हुआ, तब क्रम से क्षीरनिधि, वृषभध्वजतीर्थ, पैतामहतीर्थ, गदाधरतीर्थ, पितृतीर्थ, कपिलधारा, सुधाखनि और शिवगयातीर्थ हुआ है ॥ ६२-६४ ।

हे पितरगण ! इस तीर्थ के इन दशों नामों को श्राद्ध और तर्पण के बिना भी उच्चारण करने से आप लोगों की पूरी तृप्ति हो जावेगी ॥ ६५ ।

सूर्येन्दुसंगमे येऽत्र पितॄणां तृप्तिकामुकाः ।
ब्राह्मणान् भोजयिष्यन्ति तेषां श्राद्धमनन्तकम् ॥ ६६ ।
श्राद्धे पितॄणां सन्तृप्त्यै दास्यन्ति कपिलां शुभाम् ।
येऽत्र तेषां पितृगणो वसेत् क्षीरोदरोधसि ॥ ६७ ।
वृषोत्सर्गः कृतो यैस्तु तीर्थेऽस्मिन् वार्षभध्वजे ।
अश्वमेधपुरोडाशैः पितरस्तेन तर्पिताः ॥ ६८ ।
गयातोऽष्टगुणं पुण्यमस्मिंस्तीर्थे पितामहाः ।
अमायां सोमयुक्तायां श्राद्धं कापिलधारिके ॥ ६९ ।
येषां गर्भेऽभवत्स्रावो येऽदन्तजनना मृताः ।
तेषां तृप्तिर्भवेन्नूनं तीर्थे कापिलधारिके ॥ ७० ।
अदत्तमौञ्जीदाना ये ये चादारपरिग्रहाः ।
तेभ्यो निर्वापितं पिण्डमिह ह्यक्षयतां व्रजेत् ॥ ७१ ।
अग्निदाहमृता ये वै नाग्निदाहश्च येषु वै ।
ते सर्वे तृप्तिमायान्ति तीर्थे कापिलधारिके ॥ ७२ ।

रोधसि तीरे ॥ ६७ ।

जो लोग अमावास्या तिथि के दिन पितरों की तृप्ति की कामना से यहाँ पर ब्राह्मणों को भोजन करायेंगे, उनका किया हुआ श्राद्ध अनन्त फलदायक होगा ॥ ६६ ।

इस स्थान में जो लोग पितरों की तृप्ति के लिये श्राद्ध में उत्तम कपिला गौ का दान करेंगे, उनके पितरगण क्षीरोद के तीर पर वास करेंगे ॥ ६७ ।

जो लोग इस वृषभध्वजतीर्थ पर वृषोत्सर्ग करेंगे, उनके पितरगण अश्वमेध यज्ञ के पुरोडाशों से तर्पित होवेंगे ॥ ६८ ।

हे पितामहगण ! इस कपिलधारा तीर्थ पर सोमवती अमावास्या में श्राद्ध करने से गया श्राद्ध का अठगुना पुण्य होता है ॥ ६९ ।

जो जीव गर्भ के गिर जाने से अथवा दाँत निकलने के पहले ही मर जाते हैं, उन सबकी भी तृप्ति इसी कपिलधारातीर्थ में निश्चय हो जाती है ॥ ७० ।

यज्ञोपवीत और विवाह के पूर्व ही प्राणत्याग करनेवालों के लिये इस तीर्थ में पिंडा पारने से उन लोगों की अक्षय तृप्ति होती है ॥ ७१ ।

जो लोग अगलेही (आग लगने) से जर-मरे हों (जलकर मृत्यु को प्राप्त हुए हों) अथवा जिनका शवदाह न हुआ हो, वे भी इसी कपिलधारातीर्थ में तृप्त होते हैं ॥ ७२ ।

और्ध्वदैहिकहीना ये षोडशश्राद्धवर्जिताः ।
ते तृप्तिमधिगच्छन्ति घृतकुल्यां निवापतः ॥ ७३ ।
अपुत्राश्च मृता ये वै येषां नास्त्युदकप्रदः ।
तेऽपि तृप्तिं परां यान्ति मधुस्रवसि तर्पिताः ॥ ७४ ।
अपमृत्युमृता ये वै चोरविद्युज्जलादिभिः ।
तेषामिह कृतं श्राद्धं जायते सुगतिप्रदम् ॥ ७५ ।
आत्मघातेन निधनं येषामिह विकर्मणाम् ।
तेऽपि तृप्तिं लभन्तेऽत्र पिण्डैः शिवगयाकृतैः ॥ ७६ ।
पितृगोत्रे मृता ये वै मातृपक्षे च ये मृताः ।
तेषामत्र कृतः पिण्डो भवेदक्षयतृप्तिदः ॥ ७७ ।
पत्नीवर्गे मृता ये वै मित्रवर्गे च ये मृताः ।
ते सर्वे तृप्तिमायान्ति तर्पिता वार्षभध्वजे ॥ ७८ ।

घृतकुल्यामिति । घृतकुल्यायामित्यर्थः । निवापतः प्रदानात् पिण्डानामिति शेषः ॥ ७३ ।

जिन लोगों की अन्त्येष्टि क्रिया न हुई हो, किं वा षोडश श्राद्ध न किये गये हों, उनकी तृप्ति भी इसी घृतकुल्या तीर्थ में पिंड देने से हो सकती है ॥ ७३ ।

जो लोग अपुत्र ही मृत्यु को प्राप्त होवें, अथवा जिनका कोई भी पानी देने वाला न हो, उनकी परमतृप्ति इसी मधुस्रवातीर्थ में तर्पण करने ही से होती है ॥ ७४ ।

चोर, बिजुरी (विद्युत्पाताघात), जल इत्यादि से जिनका अपघात मरण हुआ हो, यहाँ पर उन लोगों का श्राद्ध कर देने से उनकी उत्तम गति हो जाती है ॥ ७५ ।

जिन पापियों ने (कुकर्मियों ने) आत्महत्या कर डाली हो—इस शिवगयातीर्थ में पिंडा पारने से वे भी तृप्त हो जाते हैं ॥ ७६ ।

पिता के गोत्र में अथवा माता के पक्ष में जो लोग मरे हों और उनका नाम ज्ञात न हो तो यहाँ पर पिंडदान कर देने से उन लोगों की भी अक्षय तृप्ति हो सकती है ॥ ७७ ।

पत्नी के वर्ग में किं वा मित्रमंडली में जो कोई मरे हों, इस तीर्थ में तर्पण करने से उन लोगों की भी तृप्ति हो जाती है ॥ ७८ ।

ब्रह्मक्षत्रविशां वंशे शूद्रवंशेऽन्त्यजेषु च ।
येषां नाम गृहीत्वाऽत्र दीयते ते समुद्धृताः ॥ ७९ ।
तिर्यग्योनिमृता ये वै ये पिशाचत्वमागताः ।
तेऽप्यूर्ध्वगतिमायान्ति तृप्ताः कापिलधारिके ॥ ८० ।
ये तु मानुषलोकेऽस्मिन् पितरो मर्त्ययोनयः ।
ते दिव्ययोनयः स्युर्वै मधुस्रवसि तर्पिताः ॥ ८१ ।
ये दिव्यलोके पितरः पुण्यैर्देवत्वमागताः ।
ते ब्रह्मलोके गच्छन्ति तृप्तास्तीर्थे वृषध्वजे ॥ ८२ ।
कृते क्षीरमयं तीर्थं त्रेतायां मधुमत्पुनः ।
द्वापरे सर्पिषा पूर्णं कलौ जलमयं भवेत् ॥ ८३ ।
सीमाबहिर्गतमपि ज्ञेयं तीर्थमिदं शुभम् ।
मध्येवाराणसि श्रेष्ठं मम सान्निध्यतो नरैः ॥ ८४ ।

वाराणस्या मध्ये मध्येवाराणसि । दीर्घान्तपाठे वाराणस्यां श्रेष्ठमित्यर्थः । मध्य इत्यर्थात्तस्या एव । नरैर्यतोऽदर्शीत्यन्वयः ॥ ८४ ।

क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, क्या वैश्य, क्या शूद्र, किं वा अन्त्यजों ही में कोई मरा हो, यहाँ पर जिसका भी नाम लेकर पिंडा दे दिया जावे, उसी का उद्धारं हो जाता है ॥ ७९ ।

जो लोग (मरने पर) पशु-पक्षी अथवा पिशाच की योनि में जा पड़े हों, इस कपिलधारातीर्थ में तृप्त होने पर वे भी ऊर्ध्वगति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ८० ।

इस मधुस्रवा तीर्थ में तर्पण करने से जो मर्त्य योनिवाले पितरलोग इस मनुष्यलोक में हैं, वे भी दिव्ययोनि के पितर हो जाते हैं ॥ ८१ ।

जो दिव्यलोक के पितृगण पुण्य के बल से देवत्व को प्राप्त हो जाते हैं, वे इस वृषभध्वजतीर्थ में तृप्त होने पर ब्रह्मलोक में चले जाते हैं ॥ ८२ ।

यह तीर्थ सत्ययुग में दुग्धमय, त्रेता में मधुमय, द्वापर में घृतमय और कलियुग में जलमय होगा ॥ ८३ ।

यह उत्तमतीर्थ यद्यपि वारांणसी की सीमा के बाहर है, तथापि लोगों को चाहिए कि मेरे सान्निध्य से इस प्रधानतीर्थ को वाराणसी के बीच ही में समझें ॥ ८४ ।

काशीस्थितैर्यतोऽदर्शि ध्वजो मे वृषलाञ्छनः ।
वृषध्वजेन नाम्नातः स्थास्याम्यत्र पितामहाः ॥ ८५ ।
पितामहेन सहितो गदाधरसमन्वितः ।
रविणा पार्षदैः सार्धं तुष्टये वः पितामहाः ॥ ८६ ।
इति यावद् वरं दत्ते पितृभ्यो वृषभध्वजः ।
तावन्नन्दी समागत्य प्रणम्येशं व्यजिज्ञपत् ॥ ८७ ।

नन्दिकेश्वर उवाच–

विहितः स्यन्दनः सज्जस्ततोऽस्तु विजयोदयः ।
अष्टौ कण्ठीरवा यत्र यत्रोक्ष्णामष्टकं शुभम् ॥ ८८ ।
यत्रेभाः परिभान्त्यष्टौ यत्राष्टौ जविनो हयाः ।
मनःसंयमनं यत्र कशापाणिव्यवस्थितम् ॥ ८९ ।

इतीति कुमारवाक्यम् ॥ ८७ ।

कण्ठीरवाः सिंहाः । ते चात्र प्रकृत्याद्याः । उक्ष्णां बलीवर्दानामष्टकम् । तच्च धातुतत्त्वं त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिशुक्राणीति धात्वष्टकम् ॥ ८८ ।

इभा दिग्गजाः । हया इत्यत्र चित्ताहङ्कारबुद्धिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि । यद्वा अन्तःकरणचतुष्टयमुपवेदचतुष्टयं च विवक्षितम् । कशा अश्वप्रचोदिनी मनोवृत्तिः, सा पाणौ यस्य तन्मनस्तथा । विवेक्यविवेकिभेदान्मनसोरपौनरुक्त्यं समष्टिव्यष्टिभेदाद्वा ॥ ८९ ।

हे पितामहगण ! काशीस्थ समस्त लोगों ने पहले यहीं पर वृषभ के चिह्न से युक्त मेरी ध्वजा को देखा है । इसलिये मैं इस स्थान पर वृषभध्वज नाम से सदा निवास करूँगा ॥ ८५ ।

हे पितरलोग ! आप लोगों के सन्तोषार्थ मैं यहाँ पर ब्रह्मा, नारायण, सूर्य और अपने पार्षदगणों के साथ रहूँगा ॥ ८६ ।

जब भगवान् शिव दिव्य पितरों को इस प्रकार से वरदान कर रहे थे, ठीक उसी समय नन्दी नामक प्रधान पार्षद ने महादेव को प्रणाम करके यह निवेदन किया ॥ ८७ ।

नन्दिकेश्वर बोले–

नाथ ! आपका विजयोदय हो, (आज्ञानुसार श्रीमान् का) रथ सुसज्जित कर दिया गया है । इसमें प्रकृतिरूप आठ सिंह, धातुरूप आठ बैल, दिग्गजरूप आठ हाथी एवं (चित्त, अहंकार, बुद्धि और पाँचों ज्ञानेन्द्रियरूप) आठ ही घोड़े भी जोते गये हैं । इस पर कशा (चाबुक) हाथ में लेकर सारथी बनकर मन विराजमान हो रहा है ॥ ८८-८९ ।

गङ्गायमुनयोरीषे चक्रे पवनदेवता ।
सायं प्रातर्मये चक्रे छत्रं [1]द्यौर्मण्डलं शुचि ॥ ९० ।
तारावलीमयाः कीला आहेया उपनायकाः ।
श्रुतयो मार्गदर्शिन्यः स्मृतयो रथगुप्तयः ॥ ९१ ।
दक्षिणा धूर्दृढा यत्र मखा यत्राभिरक्षकाः ।
आसनं प्रणवो यत्र गायत्रीपाठपीठभूः ॥ ९२ ।
साङ्गा व्याहृतयो यत्र शुभाः सोपानवीथिकाः ।
सूर्याचन्द्रमसौ यत्र सततं द्वाररक्षकौ ॥ ९३ ।
अग्निर्मकरतुण्डश्च रथभूः कौमुदीमयी ।
ध्वजदण्डो महामेरुः पताकाऽहस्करप्रभा ॥
स्वयं वाग्देवता यत्र चञ्चच्चामरधारिणी ॥ ९४ ।

गङ्गायमुनयोरीषे गङ्गायमुने रथस्य दण्डे इत्यर्थः । चक्रे प्रतिचक्रं पवन-देवताऽधिष्ठात्री देवतेत्यर्थः । चक्रयोः स्वरूपमाह । सायमिति ॥ ९० ।

अहीनां कुले जाता आहेयाः । उपनायका रथबन्धनानीत्यर्थः ॥ ९१ ।

धूर्यानमुखम् ॥ ९२ ।

अङ्गानि शिक्षादीनि ॥ ९३ ।

मकरतुण्डो मकराकारतुण्डः ॥ ९४ ।

फिर जिसमें गंगा और यमुना दंडस्वरूपा और पवन ही पहिया, अधिष्ठात्री देवता एवं सन्ध्या और प्रभातरूप दो चक्र तथा आकाशमंडल ही पवित्र छत्ररूप बना है ॥ ९० ।

उसमें तारागण कीलों के स्थानापन्न, रथबन्धनरूप सर्पगण, मार्गदर्शिनी (लालटेन) श्रुतियाँ, रथगुप्ति (टप्प) स्मृतियाँ, जिसकी दृढ़ धुरा दक्षिणा, अभिरक्षक (सईस) यज्ञगण, आसन (गद्दी) प्रणव, पैर रखने का स्थान (पावदान) गायत्री है ॥ ९१-९२ ।

उसमें अच्छी सीढ़ियाँ अंगों के सहित सातों व्याहृतियाँ और चन्द्र-सूर्य दोनों जन द्वाररक्षक हैं । ९३ ।

मकरतुंडरूप अग्निदेव, रथभूमि चन्द्रिका, ध्वजदंड महामेरु एवं पताका सूर्य की प्रभा है । उस पर साक्षात् वाग्देवता ही चंचल चामरधारिणी रूप में खड़ी हैं ॥ ९४ ।

---

1. द्योमण्डलमिति पाठोऽपेक्षित इति भाति ।

स्कन्द उवाच–

शैलादिनेति विज्ञप्तो देवदेव उमापतिः ॥ ९५ ॥
कृतनीराजनविधिरष्टभिर्देवमातृभिः ।
पिनाकपाणिरुत्तस्थौ दत्तहस्तोऽथ शार्ङ्गिणा ॥ ९६ ॥
निनादो दिव्यवाद्यानां रोदसी परिपूरयत् ।
गीतमङ्गलगीर्भिश्च चारणैरनुवर्धितः ॥ ९७ ॥
तेन दिव्यनिनादेन बधिरीकृतदिङ्मुखाः ।
आहूता इव आजग्मुर्विष्वग्भुवनवासिनः ॥ ९८ ॥
देवाः कोट्यस्त्रयस्त्रिंशद् गणाः कोट्ययुतद्वयम् ।
नव कोट्यस्तु चामुण्डाभैरव्यः कोटि संमिताः ॥ ९९ ॥

शैलादिनेति स्कन्दोक्तिः ॥ ९५ ॥

तदेव मातृभिः ब्रह्माणीत्यादिभिः । तथा च वक्ष्यति–

ब्रह्माणी वैष्णवी रौद्री वाराही नारसिंहिका ।
कौमारी अपि माहेन्द्री चामुण्डा चैव चण्डिका ॥ इति ।

जयेत्यादिभिर्वा । तथा च वासिष्ठे–

जया च विजया चैव जयन्ती चापराजिता ।
सिद्धा रक्तालम्बुषा च उत्पला चेति देवता ॥ इति ॥ ९६ ॥

कोट्ययुतद्वयं विंशतिसहस्रकोट्य इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

स्कन्द ने कहा–

नन्दिकेश्वर के यों कहने पर देवदेव शंकर पिनाक धनुष को हाथ में लिये हुए, भगवान् नारायण का हाथ पकड़ कर आठों देवमाताओं की आरती उतारने पर उठ खड़े हुए ॥ ९५-९६ ।

उस घड़ी चारणलोगों के मंगलगीतों की ध्वनि बढ़कर स्वर्ग-मर्त्य-लोकों के ऊपर पहुँचकर मध्यस्थल को भरपूर किये देती थी ॥ ९७ ।

उस दिव्यध्वनि के चारों दिशओं में भर जाने पर समस्त भुवनवासी लोग उसी से निमंत्रित लोगों की तरह काशी की ओर यात्रा करने लगे ॥ ९८ ।

उस वेला पर तैंतीस कोटि देवतागण, बीस सहस्र कोटि गणलोग, नव करोड़

षडाननाः कुमाराश्च मयूरवरवाहनाः ।
ममानुगाः समायाताः कोटयोऽष्टौ महाबलाः ॥ १०० ।
आययुः कोटयः सप्त स्फुरत्परशुपाणयः ।
पिचण्डिला महावेगा विघ्नविघ्ना गजाननाः ॥ १०१ ।
षडशीतिसहस्राणि मुनयो ब्रह्मवादिनः ।
तावन्तोऽपि समाजग्मुस्तत्रान्ये गृहमेधिनः ॥ १०२ ।
नागानां कोटयस्तिस्रः पातालतलवासिनाम् ।
दानवानां च दैत्यानां द्वे द्वे कोटी शिवात्मनाम् ॥ १०३ ।
गन्धर्वा नियुतान्यष्टौ कोट्यर्धं यक्षरक्षसाम् ।
विद्याधराणामयुतं नियुतद्वयसंयुतम् ॥ १०४ ।
तथा षष्टिसहस्राणि दिव्याश्चाप्सरसः शुभाः ।
गोमातरोऽष्टौ लक्षाणि सुपर्णान्ययुतानि षट् ॥ १०५ ।

नियुतानि लक्षाणि ॥ १०४ ।

शोभनानि पर्णानि येषां ते सुपर्णा गरुडवंशीया वा पक्षिण इत्यर्थः ॥ १०५ ।

चामुंडा, एक करोड़ भैरवी, आठ करोड़ बड़े बली मयूरवाहनारूढ़ षण्मुख, मेरे अनुचरवर्ग,साथी, कुमारगणथे ॥ ९९-१०० ।

सात कोटि चमकीले कुठार को हाथ में धारण किये हुए बड़े वेगवाले तोंदेले विघ्नविदारक गजमुखगण थे ॥ १०१ ।

उसमें छियासी सहस्र ब्रह्मवादी मुनिगण, उतनी ही संख्या के गृहस्थ-धर्मावलम्बी ऋषिलोग भी थे ॥ १०२ ।

तीन करोड़ पातालतलवासी नागगण, दो-दो करोड़ परमशैव दैत्य और दानवगण आकर उपस्थित हुए ॥ १०३ ।

आठ लाख गन्धर्वगण, पचास लाख यक्ष और राक्षसगण, दो लाख दस हजार विद्याधर, साठ हजार दिव्य अप्सराएँ, आठ लाख गोमाताओं का गण एवं साठ सहस्र गरुड़गण भी आ पहुँचे ॥ १०४-१०५ ।

सागराः सप्त संप्राप्ता नानारत्नोपदप्रदाः ।
सरितां च सहस्राणि त्रीणिपञ्चायुतानि च ॥ १०६ ।
गिरयोऽष्टौ सहस्राणि वनस्पतिशतत्रयम् ।
आजग्मुर्दिग्गजा अष्टौ यत्र देवः पिनाकधृक् ॥ १०७ ।
एतैः समेतः सन्तुष्टः परिष्टुत इतस्ततः ।
श्रीकण्ठो रथमारुह्य काशीं प्राविशदुत्तमाम् ॥ १०८ ।
स गिरीन्द्रसुतस्त्र्यक्षो मुदां धाम मुदां खनिः ।
काशीं प्रैक्षिष्ट संहृष्टस्त्रिविष्टपसमुत्कटाम् ॥ १०९ ।

स्कन्द उवाच—

श्रुत्वाख्यानमिदं पुण्यं कोटिजन्माघनाशनम् ।
पठित्वा पाठयित्वा च शिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥ ११० ।
श्राद्धकाले विशेषेण पठनीयं प्रयत्नतः ।
अक्षयं तद्भवेच्छ्राद्धं पितृतुष्टिकरं परम् ॥ १११ ।

नानारत्नोपदप्रदाः रत्नान्येव उपदीयन्त इत्युपदान्युपढौकनानि तत्प्रदाः। पञ्चायुतानि पञ्चाशत्सहस्राणि ॥ १०६ ।

मुदां मुदः परमार्थानन्दास्तासामित्यर्थः । त्रिविष्टपसमुत्कटां स्वर्गादप्युत्कटाम् ॥ १०७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ।

विविध रत्नों के उपहार देनेवाले सातों समुद्र, अस्सी सहस्र नदियाँ, आठ सहस्र पर्वतगण, तीन सौ वनस्पतिगण और आठों दिक्पाल, जहाँ पर भगवान् पिनाकपाणि विराजमान थे, वहाँ पर आ पहुँचे ॥ १०६-१०७ ।

इन सब लोगों के साथ परमसन्तुष्टचित्त से भगवान् विश्वेश्वर ने इधर-उधर लोगों की स्तुति को सुनते हुए उसी रथ पर चढ़कर अतिमनोहर काशीपुरी में प्रवेश किया ॥ १०८ ।

प्रवेश करते समय परमहर्षित त्रिलोचन शिव, भगवती गिरिजा देवी के साथ 'मुदमंगल की खानि' स्वर्ग से भी रमणीय वाराणसी पुरी को प्रहृष्ट होकर इधर-उधर देखने लगे ॥ १०९ ।

स्वामिकार्तिक ने कहा—

जो कोई करोड़ों जन्म के पापनाशक इस पुण्यमय उपाख्यान को पढ़ेगा अथवा पढ़वाएगा, वह शिवसायुज्य पद को पायेगा ॥ ११० ।

श्राद्ध के समय में विशेष करके इसे अवश्य पढ़ना चाहिए; क्योंकि इसके पाठ से वह श्राद्ध पितरों का परमतुष्टिकर और अक्षय हो जाता है ॥ १११ ।

वृषभध्वजमाहात्म्यं पठित्वा शिवसन्निधौ ।
प्रत्यहं वर्षमात्रं तु ह्यपुत्रः पुत्रवान् भवेत् ॥ ११२ ।
विश्वेशितुः संप्रवेशो यः काश्यां समुदाहृतः ।
परमानन्दकन्दस्य बीजमेतत्सुनिश्चितम् ॥ ११३ ।
पठित्वैतन्मुदाख्यानं प्रविशेद्यो नवं गृहम् ।
स सर्वसौख्यनिलयो भवेदेव न संशयः ॥ ११४ ।
त्रैलोक्यानन्दजनकमेतदाख्यानमुत्तमम् ।
अस्य श्रवणमात्रेण विश्वेशः संप्रसीदति ॥ ११५ ।
अलभ्यलाभो देवस्य जातोऽत्र हि यतः परः ।
ततः काशीप्रवेशाख्यं जप्यमाख्यानमुत्तमम् ॥ ११६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे वृषभध्वजप्रादुर्भावो[1] नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ।

एक वर्षभर प्रतिदिन शिव के समीप में इस वृषभध्वजमाहात्म्य का पाठ करने से पुत्रहीन जन भी पुत्रवान् होता है ॥ ११२ ।

मैंने तुमसे यह जो विश्वेश्वर के काशी में प्रवेश करने का वृत्तान्त वर्णन किया, वह परम आनन्द के कन्द का बीज है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ११३ ।

जो कोई हर्ष के साथ इस आख्यान को पढ़कर नये गृह में प्रवेश करेगा, वह सब प्रकार के सुख से परिपूर्ण रहेगा, यह बात निश्चित है ॥ ११४ ।

जबकि इसके श्रवणगोचर होने से स्वयं भगवान् विश्वनाथ ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, तब फिर समस्त विश्वभर के लोगों को यह हर्षदायक हो तो इसमें भला कौन सा सन्देह हो सकता है ? ॥ ११५ ।

इस कथा में भगवान् विश्वेश्वर के भी दुर्लभ काशीप्रवेश का वर्णन किया गया है । अतएव जो अभिलषित वस्तु बहुत ही दुर्घट समझ पड़े, तो उसको पाने के लिये इस उपाख्यान का निरन्तर पाठ करना चाहिए ॥ ११६ ।

तीर्थ कपिलधारा विदित, सोमवती के पर्व ।
गयाश्राद्ध फल लाभ हित करैं श्राद्ध तहँ सर्व ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां वृषभध्वज-प्रादुर्भावकपिलधारातीर्थवर्णनं विश्वेश्वरकाशीप्रवेशो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ।

---

1. काश्यां महोत्सवपूर्वकं प्रवेश इत्यर्थः ।

॥ अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

दृष्ट्वा काशीं दृगानन्दां तारकारे पुरारिणा ।
किमकारि समाचक्ष्व प्राप्तां बहुमनोरथैः ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

पतिव्रतापतेऽगस्त्य शृणु वक्ष्याम्यशेषतः ।
मृगाङ्कलक्ष्मणोत्कण्ठं काशी नेत्रातिथीकृता ॥ २ ।
अथ सर्वज्ञनाथेन भक्तवत्सलचेतसा ।
जैगीषव्यो मुनिश्रेष्ठो गुहान्तस्थो निरीक्षितः ॥ ३ ।
यमनेहं समारभ्य मन्दराद्रिं विनिर्ययौ ।
अद्रीन्द्रसुतया सार्धं रुद्रेणोक्षेन्द्रगामिना ॥ ४ ।

अथ त्रियुक्षष्टितमेऽध्याये परमपावनी ।
ज्येष्ठेशजैगीषव्यादिकथा प्रस्तूयतेऽद्भुता ॥ १ ।

निरीक्षितो ज्ञातः ॥ ३ ।

अनेहसं कालम् । ययौ यये । परस्मैपदमार्षम् ॥ ४ ।

(ज्येष्ठेश्वर और जैगीषव्येश्वर की कथा)

अगस्त्य ऋषि ने पूछा–

'हे तारकासुररिपो ! भगवान् त्रिपुरान्तक ने नयनानन्दकरी और समस्त मनोरथों की पूरक पुरी काशीपुरी को देखकर क्या किया ? उसे आप मुझको प्रकाश कीजिए (स्पष्ट-स्पष्ट बताइये) ॥ १ ।

स्कन्द ने उत्तर दिया–

हे पतिव्रतापते ! अगस्त्य ! भगवान् चन्द्रशेखर ने काशी को अपने नेत्रों की पाहुनी (अतिथि) बनाकर जो कुछ किया, वह सब मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २ ।

प्रथम तो परमभक्तवत्सलचित्त भगवान् सर्वज्ञनाथ ने गुफा के भीतर बैठे हुए जैगीषव्यनामक महामुनि को देखा ॥ ३ ।

जिस समय विश्वनाथ ने वृषभराज पर चढ़कर गिरिजादेवी के साथ (काशी

तं वासरं पुरस्कृत्य जग्राह नियमं दृढम् ।
जैगीषव्यो महामेधाः कुम्भयोने महाकृती ॥ ५ ।
विषमेक्षणपादाब्जं समीक्षिष्ये यदा पुनः ।
तदाम्बुविप्रुषमपि भक्षयिष्यामि चेत्यहो ॥ ६ ।
कुतश्चिद्धारणायोगादथवा शम्भ्वनुग्रहात् ।
अनश्नन्नपिबन्योगी जैगीषव्यः स्थितो मुने ॥ ७ ।
तं शम्भुरेव जानाति नाऽन्यो जानाति कश्चन ।
अत एव ततः प्राप्तः प्रथमं प्रमथाधिपः ॥ ८ ।
ज्येष्ठशुक्लचतुर्दश्यां सोमवारानुराधयोः ।
तत्पर्वणि महायात्रा कर्तव्या तत्र मानवैः ॥ ९ ।
ज्येष्ठस्थानं ततः काश्यां तदाभूदपि पुण्यदम् ।
तत्र लिङ्गं समभवत्स्वयं ज्येष्ठेश्वराभिधम् ॥ १० ।
तल्लिङ्गदर्शनात्पुंसां पापं जन्मशतार्जितम् ।
तमोऽर्कोदयमाप्येव तत्क्षणादेव नश्यति ॥ ११ ।

से) मन्दराचल के लिये पयान किया था, उसी दिन से लेकर इस महातपस्वी पुण्यात्मा जैगीषव्यमुनि ने यह परमकठिन नियम धारण किया था ॥ ४-५ ।

(वह कठिन नियम यह था कि) भगवान् विश्वेश्वर का चरणकमल जब फिर देख पाऊँगा, तभी जलबिन्दु भी पान करूँगा, नहीं तो कुछ भी न खाऊँ-पीऊँगा ॥ ६ ।

हे कुंभजमुने ! वे योगिराज जैगीषव्यऋषि चाहे किसी योग की धारणा के बल से अथवा शंभु के अनुग्रह ही से बिना कुछ खाये-पीये ही (जीते-जागते) वहाँ बैठे रहे ॥ ७ ।

इस घटना का समाचार केवल महादेव ही जानते थे, दूसरे किसी को कुछ भी परिज्ञात नहीं था। इसी कारण प्रथमतः प्रमथनाथ वहाँ पर ही चले गये ॥ ८ ।

ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष की चतुर्दशी तिथि, सोमवार, अनुराधा नक्षत्र, यह पर्व जब प्राप्त हो, तब उस स्थान की महायात्रा लोगों को अवश्यमेव करनी चाहिए ॥ ९ ।

उसी दिन से काशी में वह पुण्यमय ज्येष्ठस्थान प्रसिद्ध हुआ और वहाँ पर ज्येष्ठेश्वर नामक एक शिवलिंग आप से आप प्रकट हो गया ॥ १० ।

सूर्य के प्रकाश फैलने से जैसे अंधकार दूर हो जाता है, उसी भाँति उस लिंग के दर्शन होते ही लोगों के सैकड़ों जन्म के बटोरे हुए पाप क्षणभर में विलीन हो जाते हैं ॥ ११ ।

ज्येष्ठवाप्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा पितामहान् ।
ज्येष्ठेश्वरं समालोक्य न भूयो जायते भुवि ॥ १२ ।
आविरासीत्स्वयं तत्र ज्येष्ठेश्वरसमीपतः ।
सर्वसिद्धिप्रदा गौरी ज्येष्ठा श्रेष्ठा समन्ततः ॥ १३ ।
ज्येष्ठे मासि सिताष्टम्यां तत्र कार्यो महोत्सवः ।
रात्रौ जागरणं कार्यं सर्वसम्पत्समृद्धये ॥ १४ ।
ज्येष्ठां गौरीं नमस्कृत्य ज्येष्ठवापीपरिप्लुता ।
सौभाग्यभाजनं भूयाद्योषा सौभाग्यभागपि ॥ १५ ।
निवासं कृतवान् शम्भुस्तस्मिन् स्थाने यतः स्वयम् ।
निवासेश इति ख्यातं लिङ्गं तत्र परं ततः ॥ १६ ।
निवासेश्वरलिङ्गस्य सेवनात्सर्वसम्पदः ।
निवसन्ति गृहे नित्यं नित्यं प्रतिपदं पुनः ॥ १७ ।
कृत्वा श्राद्धं विधानेन ज्येष्ठस्थाने नरोत्तमः ।
ज्येष्ठां तृप्तिं ददात्येव पितृभ्यो मधुसर्पिषा ॥ १८ ।

नित्यं पदमित्यन्वयः ॥ १७ ।

जो कोई ज्येष्ठवापी में स्नान कर पितरों का तर्पण करने पर ज्येष्ठेश्वर का दर्शन करता है, उसे फिर भूमि पर उत्पन्न नहीं होना पड़ता ॥ १२ ।

उसी स्थान पर ज्येष्ठेश्वर के समीप ही में सर्वसिद्धिप्रदायिनी सबसे श्रेष्ठा ज्येष्ठा-गौरी स्वयं प्रकट हुईं ॥ १३ ।

ज्येष्ठ मास की शुक्ला अष्टमी को वहाँ पर महोत्सव और रात्रि में जागरण-संपत्ति की समस्त समृद्धियों (की प्राप्ति) के लिये करना चाहिए ॥ १४ ।

बड़ी ही हतभागिनी स्त्री भी ज्येष्ठा वापी में स्नान एवं ज्येष्ठा गौरी के दर्शन करने से परमसौभाग्यवती हो जाती है ॥ १५ ।

वहाँ महादेव के स्वयं वास करने के कारण निवासेश्वर नामक एक दूसरा भी लिंग उसी स्थान पर प्रसिद्ध हो गया है ॥ १६ ।

उस निवासेश्वर लिंग के सेवन (पूजा-अर्चा) से गृह में समस्त सम्पत्तियाँ प्रत्येक विषय में सर्वदैव निवास करती रहती हैं ॥ १७ ।

जो उत्तम नर ज्येष्ठेश्वर के समीप में घृत और मधु इत्यादि वस्तुओं के साथ विधानपूर्वक श्राद्ध करता है, वह पितरों को सर्वज्येष्ठ तृप्ति से सन्तुष्ट कर देता है ॥ १८ ।

ज्येष्ठतीर्थे नरः काश्यां दत्वा दानानि शक्तितः ।
ज्येष्ठान् स्वर्गानवाप्नोति नरो मोक्षं च गच्छति ॥ १९ ।
ज्येष्ठेश्वरोऽर्च्यः प्रथमं काश्यां श्रेयोऽर्थिभिर्नरैः ।
ज्येष्ठा गौरी ततोऽभ्यर्च्या सर्वज्येष्ठमभीप्सुभिः ॥ २० ।
अथ नन्दिनमाहूय धूर्जटिः स कृपानिधिः ।
शृण्वतां सर्वदेवानामिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ।

ईश्वर उवाच–

शैलादे प्रविशाशु त्वं गुहास्त्यत्र मनोहरा ।
तदन्तरेऽस्ति मे भक्तो जैगीषव्यस्तपोधनः ॥ २२ ।
महानियमवान्नन्दिंस्त्वगस्थिस्नायुशेषितः ।
तमिहानय मद्भक्तं मद्दर्शनदृढव्रतम् ॥ २३ ।
यदा प्रभृत्यगां काश्या मन्दरं सर्वसुन्दरम् ।
महानियमवानेष तदारभ्योज्झिताशनः ॥ २४ ।

काशी के ज्येष्ठतीर्थ पर शक्ति के अनुसार दान करने से मनुष्य उत्तम स्वर्गादि भोगों को भोगकर अन्त में मुक्त हो जाता है ॥ १९ ।

कल्याण चाहने वाले लोगों को सबसे पहले काशी में ज्येष्ठेश्वर की अर्चना, तदनन्तर ज्येष्ठा गौरी की पूजा करने से सबमें ज्येष्ठत्व पद की प्राप्ति होती है ॥ २० ।

इसके पश्चात् कृपानिधि भगवान् धूर्जटी ने सब देवताओं को सुनाते हुए नन्दी को पुकार कर एक बात कही थी ॥ २१ ।

ईश्वर ने कहा–

हे नन्दिन् ! यहाँ पर एक मनोहर गुहा है, उसमें तुम घुस जाओ, उसके भीतर मेरा एक भक्त जैगीषव्यनामा तपोधन है ॥ २२ ।

हे नन्दिन् ! वह बड़ा भारी नियमधारी होने से (मांसरहित) खाल, नस और हाड़ भर (चर्मास्थि मात्र) शेष रह गया है । तुम मेरे दर्शन के दृढ़व्रती उस मेरे भक्त को यहाँ उठा लाओ ॥ २३ ।

जब से मैं इस काशी से सर्वसुन्दर मन्दराचल पर चला गया, तब से इस ऋषि ने खान-पान छोड़कर यह कठोर नियम धारण किया है ॥ २४ ।

गृहाण लीलाकमलमिदं पीयूषपोषणम् ।
अनेन तस्य गात्राणि स्पृश सद्यः सुबृंहिणा ॥ २५ ।
ततो नन्दी समादाय तल्लीलाकमलं विभोः ।
प्रणम्य देवदेवेशमाविशद् गह्वरां गुहाम् ॥ २६ ।
नन्दी दृष्ट्वाऽथ तं तत्र धारणादृढमानसम् ।
तपोऽग्निपरिशुष्काङ्गं कमलेन समस्पृशत् ॥ २७ ।
तपान्ते वृष्टिसंयोगाच्छालूर इव कोटरे ।
उल्ललास स योगीन्द्रः स्पर्शमात्रात्तदब्जजात् ॥ २८ ।
अथ नन्दी समादाय सत्वरं मुनिपुङ्गवम् ।
देवदेवस्य पादाग्रे नमस्कृत्य न्यपातयत् ॥ २९ ।
जैगीषव्योऽथ संभ्रान्तः पुरतो वीक्ष्य शङ्करम् ।
वामाङ्गसन्निविष्टाद्रितनयं प्रणनाम ह ॥ ३० ।

सुबृंहिणा शोभनवृद्धिहेतुना ॥ २५ ।
शालूरो भेकः ॥ २८ ।

अतः तुम अमृत के समान पोषक इस लीलाकमल को ले लो और परमवृद्धि-कारक इसी (लीलाकमल) का अभी उसके समग्र शरीर में स्पर्श करा दो ॥ २५ ।

इसके अनन्तर नन्दी ने भगवान् से उस लीलाकमल को लेकर महादेव को प्रणाम करके उस गंभीर गुहा में प्रवेश किया ॥ २६ ।

फिर वहाँ जाकर तपरूप अग्नि से शुष्कांग और धारणा में दृढ़चित्त रहने के कारण बाह्यज्ञान से शून्य उस मुनि को देखते ही उन्होंने कमल से स्पर्श करा दिया ॥ २७ ।

(बस फिर क्या था) उस कमल के छू जाने मात्र से ही (गर्मी में) तप जाने के पीछे वृष्टि का संयोग होते ही खोंढर में जैसे मेढक़ फुदकने लगते हैं, वैसे ही वे मुनि भी उल्लसित होने लगे ॥ २८ ।

तब नन्दी ने मुनिराज को तुरत उठा लिया और देवदेव के चरणों के आगे प्रणाम करते हुए रख दिया ॥ २९ ।

इसके अनन्तर जैगीषव्य-मुनि घबड़ाहट के साथ सन्मुख ही वाम भाग में भगवती गिरिजा देवी के सहित शोभायमान श्री शंकर भगवान् को देखते ही प्रणाम करने लगे ॥ ३० ।

प्रणम्य दण्डवद् भूमौ परिलुठ्य समन्ततः ।
तुष्टाव परया भक्त्या स मुनिश्चन्द्रशेखरम् ॥ ३१ ।

जैगीषव्य उवाच–

नमः शिवाय शान्ताय सर्वज्ञाय शुभात्मने ।
जगदानन्दकन्दाय परमानन्दहेतवे ॥ ३२ ।
अरूपाय सरूपाय नानारूपधराय च ।
विरूपाक्षाय विधये विधिविष्णुस्तुताय च ॥ ३३ ।
स्थावराय नमस्तुभ्यं जङ्गमाय नमोऽस्तु ते ।
सर्वात्मने नमस्तुभ्यं नमस्ते परमात्मने ॥ ३४ ।

पद्यैः सार्धचतुस्त्रिशैः सोमं सोमं सोमकलाधरम् ।
अस्तौन्मुनिरुदारात्मा सगुणागुण भेदतः ॥ १ ।

शिवाय सुखरूपाय । शुभात्मने मङ्गलस्वरूपाय । शुभः आत्मा यस्मात्तस्मा इति वा । जगदानन्दकन्दाय जगति य आनन्दः सुखं तस्य कन्दाय मूलाय कारणायेत्येतत् । स एष परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रुतेः ॥ ३२ ।

विधये चतुराननाय भाग्यस्वरूपायेति वा ॥ ३३ ।

फिर तो वह मुनि भूमि पर लोटते हुए दंडवत् प्रणाम कर परम भक्ति के साथ चन्द्रशेखर की स्तुति करने में लग गये ॥ ३१ ।

जैगीषव्य बोले–

जो शिव, शान्त, सर्वज्ञ, शुभमय, जगत् के आनन्दकन्द, परम आनन्द के निधान हैं ॥ ३२ ।

वे रूपरहित होकर भी जो रूपवान् हैं, अनेक रूपधारी, विधिस्वरूप, ब्रह्मा और विष्णु के द्वारा स्तवनीय हैं, विरूपाक्ष हैं, मैं उनको बारंबार नमस्कार करता हूँ ॥ ३३ ।

हे नाथ ! आप ही स्थावर और जंगमरूप हैं, आपको नमस्कार है, आप ही सर्वात्मा और आप ही परमात्मा हैं, अतएव आपको नमस्कार है ॥ ३४ ।

नमस्त्रैलोक्यकाम्याय कामाङ्गदहनाय च ।
नमो शेषविशेषाय नमः शेषाङ्गदाय ते ॥ ३५ ।
श्रीकण्ठाय नमस्तुभ्यं विषकण्ठाय ते नमः ।
वैकुण्ठवन्द्यपादाय नमोऽकुण्ठितशक्तये ॥ ३६ ।
नमः शक्त्यर्धदेहाय विदेहाय सुदेहिने ।
सकृत्प्रणाममात्रेण देहिदेहनिवारिणे ॥ ३७ ।
कालाय कालकालाय काटकूटविषादिने ।
व्यालयज्ञोपवीताय व्यालभूषणधारिणे ॥ ३८ ।

त्रैलोक्यकाम्याय त्रैलोक्यानां काम्या यस्मात्तैर्वा काम्यत इति तथा तस्मै । **शेषाङ्गदाय** अनन्तवलयाय । शेषाङ्गदायिने इति पाठे अनन्तबाहुवलयम् अयितुं प्राप्तुं शीलं यस्य स तथा तस्मै ॥ ३५ ।

कालकालाय कालस्यापि मारकायेत्यर्थः । स कालकाल इति श्रुतेः । कालमूषक भक्षक इति स्मृतेश्च ॥ ३८ ।

आप ही त्रैलोक्य मात्र में कमनीय हैं, आप ही कामदेव को भस्म करनेवाले हैं आप शेष-विशेष से हीन और शेषनाग को अपना विजायठ (अंगद) बनाये रहते हैं, आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३५ ।

हे श्रीकंठ ! आपके कंठ में विष शोभित है, आपके चरणों की वन्दना स्वयं वैकुंठनाथ करते हैं और आपकी शक्ति कदापि कुंठित नहीं होती, मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ३६ ।

स्वयं शक्ति ही आपके वामार्ध देह में विराजमान है, आप देहविहीन होने पर भी सुन्दर देह को धारण करते हैं, जो देहधारी एक बार भी आपको प्रणाम करता है, फिर कभी उसे देह धारण नहीं करना पड़ता, अतएव आपको प्रणाम है ॥ ३७ ।

आप ही काल और काल के भी काल महाकाल है, आप ही ने (जगत् के हितार्थ) कालकूट विष का पान किया है, आप तो सर्पों को ही अपना भूषण और यज्ञोपवीत भी बनाये रहते हैं ॥ ३८ ।

नमस्ते खण्डपरशो नमः खण्डेन्दुधारिणे ।
खण्डिताशेषदुःखाय खड्गखेटकधारिणे ॥ ३९ ।
गीर्वाणगीतनाथाय गङ्गाकल्लोलमालिने ।
गौरीशाय गिरीशाय गिरिशाय गुहारणे ॥ ४० ।
चन्द्रार्धशुद्धभूषाय चन्द्रसूर्याग्निचक्षुषे ।
नमस्ते चर्मवसन नमो दिग्वसनाय ते ॥ ४१ ।
जगदीशाय जीर्णाय जराजन्महराय ते ।
जीवाय ते नमस्तुभ्यं जञ्जपूकादिहारिणे ॥ ४२ ।
नमो डमरुहस्ताय धनुर्हस्ताय ते नमः ।
त्रिनेत्राय नमस्तुभ्यं जगन्नेत्राय ते नमः ॥ ४३ ।
त्रिशूलव्यग्रहस्ताय नमस्त्रिपथगाधर ।
त्रिविष्टपाधिनाथाय त्रिवेदीपठिताय च ॥ ४४ ।

नारायणगात्रे खण्डितः कुण्ठितः परशुः कुठारो यस्य स तथा तत्सम्बोधनं हे खण्डपरशो । खेटकं चर्म ॥ ३९ ।

जीवयतीति जीव ईश्वरस्तस्मै क्षेत्रज्ञायेति वा । ते तुभ्यम् । जीवातव इति पाठे जीवनौषधाय । जञ्जपूकं पापं तदादिहारिणे । आदिशब्देनाज्ञानं गृह्यते । जञ्जपूकौघहारिण इति वा पाठः । जञ्जपूकाघेति पाठे जञ्जपूको जपनशीलः ॥ ४२ ।

हे खंडपरशो ! आप चन्द्र के खंड को धारण किये रहते हैं, आप ही समस्त दुःखों का खंडन करते हैं और खड्गी एवं खेटक (ढाल) धारी हैं, अतः मैं आप को प्रणाम करता हूँ ॥ ३९ ।

देवतालोग सर्वदैव आपका गुण गाते रहते हैं । आपके जटाजूट में गंगा के तरंगों की मालाएँ उठा करती हैं, आप ही गौरी के नाथ हैं, आप गिरिशायी, और गिरिगण के नायक हैं ॥ ४० ।

अर्धचन्द्र के शिरोभूषण होने पर भी (पूर्ण) चन्द्र, सूर्य और अग्नि, आपके तीनों ही नेत्र हैं । हे कृत्तिवास ! दिगम्बररूप आपको नमस्कार है ॥ ४१ ।

हे जगदीश ! आप पुराणपुरुष, और (भक्तों के) जराजन्महारी, पापान्तकारी एवं जीवरूपधारी (जीवात्मा) हैं ॥ ४२ ।

हे गंगाधर ! आप ही जगत् मात्र के नेत्र और स्वयं त्रिनेत्र हैं आपके हाथों में डमरू, (पिनाक) धनुष और त्रिशूल शोभित हैं, आप ही त्रिविष्टपवासी देवताओं के अधिनाथ हैं एवं तीनों वेदों में आप ही की महिमा कही गई है, अतएव आप को बारम्बार नमस्कार है ॥ ४३-४४ ।

त्रयीमयाय तुष्टाय भक्ततुष्टिप्रदाय च ।
दीक्षिताय नमस्तुभ्यं देवदेवाय ते नमः ॥ ४५ ।
दारिताशेषपापाय नमस्ते दीर्घदर्शिने ।
दूराय दूरवाप्याय दोषनिर्दलनाय च ॥ ४६ ।
दोषाकरकलाधारत्यक्तदोषागमाय च ।
नमो धूर्जटये तुभ्यं धत्तूरकुसुमप्रिय ॥ ४७ ।
नमो धीराय धर्माय धर्मपालाय ते नमः ।
नीलग्रीव नमस्तुभ्यं नमस्ते नीललोहित ॥ ४८ ।
नाममात्रस्मृतिकृतां त्रैलोक्यैश्वर्यपूरक[1] ।
नमः प्रमथनाथाय पिनाकोद्यतपाणये ॥ ४९ ।
पशुपाशविमोक्षाय पशूनां पतये नमः ।
नामोच्चारणमात्रेण महापातकहारिणे ॥ ५० ।

आप त्रयीमय हैं, परमसन्तुष्ट हैं, भक्तों के परमसन्तोषदाता हैं । आप ही दीक्षित और देवताओं के भी देवता हैं । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ४५ ।

हे दूरदर्शिन् ! आप ही समस्त पापों को दूर करते हैं और स्वयं सब से दूरवर्ती रहते हैं, आप ही दोषों का दलन करते हैं, फिर आप-सा दुर्लभ कौन है, अतएव आपको नमस्कार है ॥ ४६ ।

हे चन्द्रकलाधर ! आप समस्त दोषागमन से रहित हैं । हे धत्तूरपुष्पप्रिय ! धूर्जटे ! आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ४७ ।

हे नीलकंठ ! आप ही धीर, धर्म और धर्म के पालक हैं, अतएव हे नीललोहित ! मैं आप ही को बारंबार नमस्कार करता हूँ ॥ ४८ ।

आप तो अपने नाममात्र के स्मरण करनेवालों को त्रैलोक्य भर के ऐश्वर्य से भरपूर कर देते हैं; फिर आप ही पिनाकोद्यतपाणि प्रमथनाथ हैं । आपको नमस्कार हैं ॥ ४९ ।

आप ही पशुपाश के काटनेवाले पशुपति हैं, अपने नामोच्चारण करनेवालों के घोर पापों को आप ही हर लेते हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ५० ।

---

1. सूचकेत्यन्यत्र पाठः ।

परात्पराय पाराय परापरपराय च ।
नमोऽपारचरित्राय सुपवित्रकथाय च ॥ ५१ ।
वामदेवाय वामार्धधारिणे वृषगामिने ।
नमो गर्भाय भीमाय नतभीतिहराय च ॥ ५२ ।
भवाय भवनाशाय भूतानां पतये नमः ।
महादेव नमस्तुभ्यं महेश महसां पते ॥ ५३ ।
नमो मृडानीपतये नमो मृत्युञ्जयाय ते ।
यज्ञारये नमस्तुभ्यं यक्षराज प्रियाय च ॥ ५४ ।
यायजूकाय यज्ञाय यज्ञानां फलदायिने ।
रुद्राय रुद्रपतये कद्रुद्राय रमाय च ॥ ५५ ।

परादव्यक्तात् पराय तत्प्रवर्तकाय । पारयतीति पारः, तस्मै प्रलयावधिभूतायेति वा । परापराभ्यां कार्यकारणाभ्यां पराय भिन्नाय ॥ ५१ ।

यज्ञारये दक्षयज्ञहन्त्रे । दक्षयज्ञरक्षां कर्तुं मृगरूपं धृत्वा तत्रैव पालयतो विष्णोर्वा शत्रवे । यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः । यक्षराजः कुबेरः । यज्ञराजेति पाठे यज्ञराजोऽश्वमेधः ॥ ५४ ।

यायजूकाय याज्ञिकाय । कत्कुत्सितं रुद्रोदनं द्रावयतीति कद्रुद्रस्तस्मै । रमयतीति रमस्तस्मै । रमाप्रदेति वा पाठः ॥ ५५ ।

आप ही परात्पर और (संसारसागर के) पारस्वरूप हैं । आप तो पर और अपर से भी परे रहते हैं, आपका चरित्र अपार एवं कथा परम पवित्र है, अतएव आपको प्रणाम है ॥ ५१ ।

आप ही वामदेव, वामार्धधारी, वृषभगामी, भर्ग, भीम और प्रणतजनों के भीतिहारी हैं, आपको मेरा प्रणाम है ॥ ५२ ।

हे महादेव ! आप सब तेजों के स्वामी महेश्वर हैं, आप ही भव और भवनाशक भूतपति हैं, आपको नमस्कार है ॥ ५३ ।

आप पार्वती के पति और मृत्युंजय हैं, आप ही यक्ष के यज्ञविध्वंसक, यक्षराज कुबेर के परमप्रिय हैं, आपको प्रणाम है ॥ ५४ ।

आप ही यज्ञपुरुष, यज्ञकर्ता और यज्ञों के फलदाता हैं । आप ही रुद्र, रुद्रपति और कुत्सितरोदन के मिटानेवाले एवं सर्वसम्पत्तिदायक हैं ॥ ५५ ।

शूलिने शाश्वतेशाय श्मशानावनिचारिणे ।
शिवाप्रियाय शर्वाय सर्वज्ञाय नमोऽस्तु ते ॥ ५६ ।
हराय क्षान्तिरूपाय क्षेत्रज्ञाय क्षमाकर ।
क्षमाय क्षितिहर्त्रे च क्षीरगौराय ते नमः ॥ ५७ ।
अन्धकारे नमस्तुभ्यमाद्यन्तरहिताय च ।
इडाधाराय ईशाय उपेन्द्रेन्द्रस्तुताय च ॥ ५८ ।
उमाकान्ताय उग्राय नमस्ते ऊर्ध्वरेतसे ।
एकरूपाय चैकाय महदैश्वर्य[1]रूपिणे ॥ ५९ ।
अनन्तकारिणे तुभ्यमम्बिकापतये नमः ।
त्वमोङ्कारो वषट्कारो भूर्भुवः स्वस्त्वमेव हि ॥ ६० ।
दृश्यादृश्यं यदत्रासि तत्सर्वं त्वमुमाधव ।
स्तुतिं कर्तुं न जानामि स्तुतिकर्ता त्वमेव हि ॥ ६१ ।

शाश्वत हे शाश्वत । शाश्वतेशायेत्येकं पदं वा ॥ ५६।
इडा पृथ्वी ॥ ५८ ।

आप ही त्रिशूलधारी, शाश्वत ईश्वर, श्मशानभूमिचारी हैं, आप ही पार्वती के वल्लभ, शर्व और सर्वज्ञ हैं, आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ५६ ।

हे क्षमाकर ! आप ही हर, क्षमा की मूर्ति और क्षेत्रज्ञ हैं, आप ही (सब विषयों में) समर्थ, क्षतिहर्ता और क्षीर के समान गौरवर्ण हैं, आपको प्रणाम है ॥ ५७ ।

हे अंधकार सुरनाशक ! आप तो आदि, अन्त से रहित हैं, आप ही इडा (पृथ्वी, वाणी) के आधार और ईश एवं चन्द्र और उपेन्द्रादिदेवों से स्तुत हैं, आपको नमस्कार है ॥ ५८ ।

आप उमाकान्त, उग्र, ऊर्ध्वरेता, अकेले, एकरूप और बड़ी सम्पत्ति के दाता हैं, आपको प्रणाम है ॥ ५९ ।

आप अनन्त कार्यों को करते हैं । आप ही अम्बिकादेवी के स्वामी हैं, आप ही प्रणव, वषट्कार, भूः, भुवः और स्वः हैं, अतएव आप ही को नमस्कार है ॥ ६० ।

हे उमानाथ ! इस संसार में जो कुछ दृश्य अथवा अदृश्य पदार्थ हैं, वे सब आप ही हैं, (आप से भिन्न तो कुछ भी नहीं है) । हे प्रभो ! तब भला मैं भी आप की स्तुति कर सकूँ, यह सामर्थ्य (मुझमें) कहाँ है; क्योंकि स्तुतिकर्ता तो आप ही हैं ॥ ६१ ।

---

1. आत्वाभाव आर्षः ।

वाच्यस्त्वं वाचकस्त्वं हि वाक् च त्वं प्रणतोऽस्मि ते ।
नान्यं वेद्मि महादेव नान्यं स्तौमि महेश्वर ॥ ६२ ।
नान्यं नमामि गौरीश नान्याख्यामाददे शिव ।
मूकोऽन्यनामग्रहणे बधिरोऽन्यकथाश्रुतौ ॥ ६३ ।
पङ्गुरन्याभिगमनेऽस्म्यन्धोऽन्यपरिवीक्षणे ।
एक एव भवानीश एकः कर्ता त्वमेव हि ॥ ६४ ।
पाता हर्ता त्वमेवैको नानात्वं मूढकल्पना ।
अतस्त्वमेव शरणं भूयो भूयः पुनः पुनः ॥ ६५ ।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर महेश्वर ।
इति स्तुत्वा महेशानं जैगीषव्यो महामुनिः ॥ ६६ ।
वाचंयमोऽभवत्स्थाणोः पुरतः स्थाणुसन्निभः ।
इति स्तुतिं समाकर्ण्य मुनेश्चन्द्रविभूषणः ।
उवाच च प्रसंन्नात्मा वरं ब्रूहीति तं मुनिम् ॥ ६७ ।

पङ्गुः खञ्जः ॥ ६४ ।

उवाच चेति चकारेणादरः सूचितः ॥ ६७ ।

आप ही वाच्य और आप ही वाचक और आप ही वचन हैं, अतएव मैं आपको (केवल) प्रणाम कर रहा हूँ। हे महादेव ! मैं तो दूसरे किसी को जानता ही नहीं, हे महेश्वर ! फिर अन्य किसी की स्तुति कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ६२ ।

हे गौरीश ! दूसरे का तो प्रणाम भी नहीं करता। हे शिव ! न अन्य किसी का नाम ही लेता हूँ, मैं तो दूसरे का नाम कहने में गूँगा और अन्य की कथा सुनने में बहरा हूँ ॥ ६३ ।

दूसरे के पास जाने में पंगुल (लूला) एवं अन्य किसी को देखने में अंधा हो रहा हूँ। मेरे तो एक आप ही स्वामी और आप ही कर्ता हैं ॥ ६४ ।

आप ही हर्ता एवं पालयिता हैं, अनेकत्व तो मूढ़लोगों की कल्पना हैं, अतएव हे महेश्वर ! मैं बारंबार आप ही के शरणागत हूँ ॥ ६५ ।

मैं संसारसागर में डूब रहा हूँ, आप मेरा उद्धार करें, इस प्रकार से महामुनि जैगीषव्य ने महादेव की स्तुति की ॥ ६६ ।

तदनंतर स्थाणु भगवान् के आगे ठूँठे वृक्ष के समान खड़े होकर मौन (चुप) हो गये। तब चन्द्रभूषण ने उस मुनि की ऐसे स्तुति को सुनने से प्रसन्नचित्त होकर जैगीषव्य ऋषि से कहा—'वर माँगो' ॥ ६७ ।

जैगीषव्य उवाच–

यदि प्रसन्नो देवेश ततस्तव पदाम्बुजात् ।
मा भवानि भवानीश दूरं दूरपदप्रद ॥ ६८ ।
अपरश्च वरो नाथ देयोऽयमविचारतः ।
यन्मया स्थापितं लिङ्गं तत्र सान्निध्यमस्तु ते ॥ ६९ ।

ईश्वर उवाच–

जैगीषव्य महाभाग यदुक्तं भवताऽनघ ।
तदस्तु सर्वं तेऽभीष्टं वरमन्यं ददामि च ॥ ७० ।
योगशास्त्रं मया दत्तं तव निर्वाणसाधकम् ।
सर्वेषां योगिनां मध्ये योगाचार्योऽस्तु वै भवान् ॥ ७१ ।
रहस्यं योगविद्याया यथावत्त्वं तपोधन ।
संवेत्स्यसे प्रसादान्मे येन निर्वाणमाप्स्यसि ॥ ७२ ।
यथा नन्दी यथा भृङ्गी सोमनन्दी यथा तथा ।
त्वं भविष्यसि भक्तो मे जरामरणवर्जितः ॥ ७३ ।
सन्ति व्रतानि भूयांसि नियमाः सन्त्यनेकधा ।
तपांसि नाना सन्त्यत्र सन्ति दानान्यनेकशः ॥ ७४ ।

जैगीषव्य बोले–

हे परमपददायक ! भवानीश ! देवदेव ! यदि आप प्रसन्न हैं, तो (यह वर दीजिये कि) मैं आपके चरणकमल से (कभी) दूर न होने पाऊँ ॥ ६८ ।

एवं हे नाथ ! एक और भी वर मुझे बिना विचारे ही दे दीजिये । (वह यह है कि) मैंने आपका लिंगस्थापित किया है, उसमें आप सर्वदा वास करें॥ ६९ ।

ईश्वर ने कहा–

हे अनघ ! महाभाग ! जैगीषव्य ! तुमने जो कुछ कहा, वह सब तो होगा ही, पर मैं और भी एक वर (अपनी ओर से) देता हूँ ॥ ७० ।

मैं तुमको निर्वाण-साधक योगशास्त्र दान करता हूँ, तुम (आंज से) समस्त योगियों के मध्य में योगाचार्य होगे ॥ ७१ ।

हे तपोधन ! मेरे प्रसाद से तुम योगशास्त्र के संपूर्ण गूढ़ तत्त्वों को यथार्थ रीति से ऐसा समझ सकोगे, जिससे अन्त में निर्वाण को प्राप्त हो जाओगे ॥ ७२ ।

जैसे नन्दी, भृंगी और सोमनन्दी हैं, वैसे ही तुम भी जरा-मरण से रहित मेरे परम भक्त होगे ॥ ७३ ।

यद्यपि अनेक व्रत, अनेक नियम, बहुत से तप और नानाविधि के दान होते हैं, जो कल्याण के साधक और पाप के बाधक कहे जाते हैं ; परन्तु यह

श्रेयसां साधनान्यत्र पापघ्नान्यपि सर्वथा ।
परं हि परमश्चैष नियमो यस्त्वया कृतः ॥ ७५ ।
परो हि नियमश्चैष मां विलोक्य यदश्यते ।
मामनालोक्य यद्भुक्तं तद्भुक्तं केवलं त्वघम् ॥ ७६ ।
असमर्च्य च यो भुङ्क्ते पत्रपुष्पफलैरपि ।
रेतोभक्षी भवेन्मूढः स जन्म न्येकविंशतिम् ॥ ७७ ।
महतो नियमस्यास्य भवताऽनुष्ठितस्य वै ।
नार्हन्ति षोडशीं मात्रामप्यन्ये नियमा यमाः ॥ ७८ ।
अतो मच्चरणाभ्यासे त्वं निवत्स्यसि सर्वथा ।
अतो नैःश्रेयसीं लक्ष्मीं तत्रैव प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥ ७९ ।
जैगीषव्येश्वरं नाम लिङ्गं काश्यां सुदुर्लभम् ।
त्रीणि वर्षाणि संसेव्य लभेद्योगं न संशयः ॥ ८० ।
जैगीषव्यगुहां प्राप्य योगाभ्यसनतत्परः ।
षण्मासेन लभेत्सिद्धिं वाञ्छितां मदनुग्रहात् ॥ ८१ ।
तव लिङ्गमिदं भक्तैः पूजनीयं प्रयत्नतः ।
विलोक्य च गुहा रम्या परां सिद्धिमभीप्सुभिः ॥ ८२ ।

नियम जिसे तुमने किया है, बड़ा ही कठिन है ॥ ७४-७५ ।

मेरा दर्शन करके तभी भोजन करना यह बहुत उत्तम नियम है; क्योंकि मेरे दर्शन के बिना ही जो कुछ खाया जाता है, वह तो केवल पाप ही का भोजन है ॥ ७६ ।

जो मूढ़ पत्र, पुष्प, फल इत्यादि से मेरा पूजन किये बिना ही खा लेता है, वह इक्कीस जन्म तक रेतोभक्षी होता है ॥ ७७ ।

तुमने जिस बड़े नियम का अनुष्ठान किया, उसकी षोड़शी मात्रा को भी कोई नियम अथवा यम नहीं पहुँच सकते ॥ ७८ ।

अतएव तुम मेरे चरणों के समीप में सदैव वास करोगे और वहीं पर निःसन्देह तुमको अन्त में निर्वाणपद प्राप्त होगा ॥ ७९ ।

काशी में परमदुर्लभ इस जैगीषव्येश्वर नामक लिंग के तीन वर्षपर्यन्त सेवन करने से निश्चय ही योग प्राप्त हो जाता है ॥ ८० ।

जो कोई जैगीषव्य की गुहा में पहुँचकर योगाभ्यास करता है, वह मेरे अनुग्रह से छहः मास के भीतर ही अभीष्ट सिद्धि को पाता है ॥ ८१ ।

जो भक्त लोग बड़ी सिद्धि चाहते हों, उनको प्रयत्नपूर्वक तुम्हारे स्थापित इस लिंग की पूजा तथा इस रमणीय गुफा का दर्शन करना चाहिए ॥ ८२ ।

अत्र ज्येष्ठेश्वरक्षेत्रे त्वल्लिङ्गं सर्वसिद्धिदम् ।
नाशयेदघसंघानि दृष्टं स्पृष्टं समर्चितम् ॥ ८३ ।

अस्मिन् ज्येष्ठेश्वरक्षेत्रे संभोज्य शिवयोगिनः ।
कोटिभोज्यफलं सम्यगेकैकपरिसंख्यया ॥ ८४ ।

जैगीषव्येश्वरं लिङ्गं गोपनीयं प्रयत्नतः ।
कलौ कलुषबुद्धीनां पुरतश्च विशेषतः ॥ ८५ ।

करिष्याम्यत्र सान्निध्यमस्मिँल्लिङ्गे तपोधन ।
योगसिद्धिप्रदानाय साधकेभ्यः सदैव हि ॥ ८६ ।

ददे शृणु महाभाग जैगीषव्याऽपरं वरम् ।
त्वयेदं यत्कृतं स्तोत्रं योगसिद्धिकरं परम् ॥ ८७ ।

महापापौघशमनं महापुण्यप्रवर्धनम् ।
महाभीतिप्रशमनं महाभक्तिविवर्धनम् ॥ ८८ ।

एतत्स्तोत्रजपात्पुंसामसाध्यं नैव किञ्चन ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन जपनीयं सुसाधकैः ॥ ८९ ।

शिवयोगिनः शिवविष्णोरभेददर्शिनः ॥ ८४ ।

इस ज्येष्ठेश्वर क्षेत्र में यह शिवलिंग सब सिद्धियों का दाता है, इसके दर्शन स्पर्शन और पूजन करने से पापराशि भी विलाय (नष्ट हो) जाती है ॥ ८३ ।

इस ज्येष्ठेश्वर क्षेत्र में एक-एक शिवयोगियों के भोजन कराने से कोटि-कोटि जन के भोजन कराने का पूर्ण फल होता है ॥ ८४ ।

इस जैगीषव्येश्वरनामक लिंग को कलियुग में विशेष करके पापबुद्धि लोगों के आगे बड़े यत्न से गुप्त ही रखना चाहिए ॥ ८५ ।

हे तपोधन ! मैं साधक लोगों को योगसिद्धि के दान करने के लिये सदैव इस लिंग में बना रहूँगा ॥ ८६ ।

हे महाभाग ! जैगीषव्य ! मैं और भी एक वर देता हूँ । सुनो, तुमने जो यह स्तोत्र रचा है, वह परमयोगसिद्धिकारक, महापापविदारक, परमपुण्यवर्द्धक, महाभीतिनाशक और परमभक्तिदायक होगा ॥ ८७-८८ ।

इस स्तोत्र का पाठ करने से मनुष्यों को कुछ भी असाध्य नहीं रहेगा, अतएव बड़े-बड़े साधक लोगों को इसे प्रयत्नपूर्वक जपना चाहिए ॥ ८९ ।

इति दत्वा वरं तस्मै स्मरारिः स्मेरलोचनः ।
ददर्श ब्राह्मणांस्तत्र समेतान् क्षेत्रवासिनः ॥ ९० ।

स्कन्द उवाच–

निशम्याख्यानमतुलमेतत्प्राज्ञः प्रयत्नतः ।
निष्पापो जायते मर्त्यो नोपसर्गैः प्रबाध्यते ॥ ९१ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ज्येष्ठेशाख्यानं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ।

उपसर्गा आध्यात्मिकाद्युपद्रवाः ॥ ९१ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ।

प्रसन्नदृष्टि भगवान् कामरिपु ने जैगीषव्य-ऋषि को इस भाँति से वरदान देकर वहाँ पर (एक साथ होकर) आए हुए क्षेत्रवासी ब्राह्मणों को देखा ॥ ९० ।

स्कन्द ने कहा–

'जो विज्ञजन प्रयत्नपूर्वक इस अतुलनीय उपाख्यान को सुनेगा, वह नर निष्पाप हो जायेगा । वह किसी भाँति के उपद्रव से पीड़ित भी नहीं होने पायेगा ॥ ९१ ।

जैगीषव्य मुनीश की, गुफा एक अँधियार ।
योगेश्वर के पास में, है दिखलात अपार ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां ज्येष्ठेश्वर-जैगीषव्येश्वरकथावर्णनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ।

●

॥ अथ चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

दृष्ट्वा[1] भूदेवताः शम्भुं किमाचख्युः षडानन ।
कानि कानि च लिङ्गानि तत्र तान्यपि चक्ष्व मे ॥ १ ।
ज्येष्ठस्थाने महापुण्ये देवदेवस्य वल्लभे ।
आश्चर्यं किमभूत्तत्र तदाचक्ष्व षडानन ॥ २ ।

स्कन्द उवाच–

शृण्वगस्त्य यथाऽपृच्छि भवता तद्ब्रवीम्यहम् ।
मन्दराद्रिं यदा देवो गतवान् ब्रह्मगौरवात् ॥ ३ ।
तदा निराश्रया विप्राः क्षेत्रसंन्यासिनोऽनघाः ।
उपाकृताश्चाविरतं महाक्षेत्रप्रतिग्रहात् ॥ ४ ।

चतुःषष्टितमेऽध्याये काश्याः क्षेत्रनिवासिनाम् ।
पुरतः कथयामास रहस्यान्यद्रिजाधवः ॥ १ ।

ददर्श ब्राह्मणांस्तत्र समेतान् क्षेत्रवासिन इत्युक्त ज्येष्ठाशादिलिङ्गानि प्रादुर्भूतानीति चोक्तं तत्र तान् दृष्ट्वा भगवता किमपृच्छि, अन्यानि च कानि लिङ्गानि तत्राऽभवन्निति पृच्छति । दृष्ट्वेति । भूदेवताः ब्राह्मणान् ॥ १ ।

उपाकृता उपरताः । उपारता इति क्वचित्पाठः । अविरतं सन्ततम् ॥ ४ ।

(काशी का माहात्म्य और रहस्य-वर्णन)

अगस्त्य ने फिर पूछा–

हे षडानन ! भगवान् शंभु ने ब्राह्मणों को देखकर क्या कहा और वहाँ पर कौन-कौन से लिंग प्रकट हुए ? उनका भी वर्णन कीजिये ॥ १ ।

यह भी बताइए कि उस परम पवित्र, महादेव के अतिप्रिय, ज्येष्ठस्थान में कौन सी आश्चर्यजनक घटना हुई ? उसका भी मुझे ज्ञान कराइए ॥ २ ।

स्कन्द ने उत्तर दिया–

हे अगस्त्य ! तुमने मुझसे जो-जो बातें पूछी हैं, मैं उन सबको कहता हूँ, श्रवण करो । जब भगवान् शिव ने ब्रह्मा के अनुरोध से मन्दराचल को पयान किया था, तब उस निर्मल क्षेत्र के संन्यासधारी ब्राह्मणलोग निराश्रय होकर उस महाक्षेत्र के प्रतिग्रह लेने से एक बार ही रुक गये ॥ ३-४ ।

---

1. अत्र टीकानुरोधाद् दृष्ट्वा भूदेवताः शम्भुः किमाचक्षे षडाननेति पाठोऽपेक्षित इति भाति ।

खातं खातं च दण्डाग्रैर्भूमिं कन्दादिवृत्तयः ।
चक्रुः पुष्करिणीं रम्यां दण्डखाताभिधां मुने ॥ ५ ।
तत्तीर्थं परितः स्थाप्य महालिङ्गान्यनेकशः ।
महेशाराधनपरास्तपश्चक्रुः प्रयत्नतः ॥ ६ ।
विभूतिधारिणो नित्यं नित्यं रुद्राक्षधारिणः ।
लिङ्गपूजारता नित्यं शतरुद्रियजापिनः ॥ ७ ।
ते श्रुत्वा देवदेवस्य पुनरागमनं मुने ।
तपःकृशा अतितरामासुरानन्दमेदुराः ॥ ८ ।
द्विजाः पञ्चसहस्राणि चरन्तो विपुलं तपः ।
दण्डखातान् महातीर्थादाजग्मुर्देवदर्शने ॥ ९ ।
तीर्थान्मन्दाकिनीनाम्नो द्विजाः पाशुपतव्रताः ।
शिवैकाराधनपराः समेता अयुतोन्मिताः ॥ १० ।

खातं खातं खात्वा खात्वेत्यर्थः । खात्वा खात्वेति च क्वचित्पाठः ॥ ५ ।

स्थाप्य स्थापयित्वा ॥ ६ ।

"शतरुद्रियजापिनः" "नमस्ते रुद्रमन्यव" इत्यादिस्तोत्रजापिनः ॥ ७ ।

आसुर्बभूवुः । आनन्दमेदुराः आनन्दस्निग्धाः । आन्तरानन्दमेदुरा इति क्वचित् ॥ ८ ।

अयुतोन्मिताः दशसहस्राणि ॥ १० ।

और वे लोग डंडे के हूरे से (नीचे के कठोर, लोहादिजटित भाग से) भूमि को खन-खोदकर कन्द इत्यादि के भोजन से जीवननिर्वाह करने लगे । हे मुनिवर ! इस भाँति से वहाँ पर एक रमणीय देवखात नामक पुष्करिणी बन गई ॥ ५ ।

वे लोग उस तीर्थ के चारों ओर अनेक बड़े-बड़े लिंगों को स्थापित कर प्रयत्न-पूर्वक महेश की आराधना में तत्पर हो तपस्या करने लगे ॥ ६ ।

वे लोग नित्य ही अंगों में भस्मलेपन और रुद्राक्ष धारण करके निरन्तर शिवलिंग की पूजा और शतरुद्रिय का जप करते थे ॥ ७ ।

वे सब लोग तप करने से अत्यन्त कृश और घोर तपस्या में परमतत्पर पाँच सहस्र ब्राह्मणगण देवदेव के पुनरागमन का समाचार सुनकर परमानन्दित हो दर्शन के लिये दंडखात नामक तीर्थ से वहाँ पर आये थे ॥ ८-९ ।

वे मन्दाकिनी तीर्थ से पाशुपतव्रतधारी एकमात्र शिव की आराधना में परायण दशसहस्र ब्राह्मणगण वहाँ पर आकर उपस्थित हुए ॥ १० ।

हंसतीर्थात् परिप्राप्ता अयुतं त्रिशतोत्तरम् ।
शतं दुर्वाससस्तीर्थादेकादशशताधिकम् ॥ ११ ॥
मत्स्योदर्याः परापेतुः सहस्राणि षडेव हि ।
कपालमोचनात् सप्तशतान्यभ्यागता द्विजाः ॥ १२ ॥
ऋणमोचनतस्तीर्थात् सहस्रं द्विशताधिकम् ।
वैतरण्या अपि मुने द्विजानामयुतार्धकम् ॥ १३ ॥
ततः पृथूदकात्कुण्डात्पृथुना परिखानितात् ।
अयासिषुर्द्विजानां च शतान्येव त्रयोदश ॥ १४ ॥
तथैवाप्सरसः कुण्डान्मेनकाख्याच्छतद्वयम् ।
उर्वशीकुण्डतः प्राप्ताः सहस्रं द्विशताधिकम् ॥ १५ ॥
तथैरावतकुण्डाच्च ब्राह्मणास्त्रिशतानि च ।
गन्धर्वाप्सरसः सप्तशतानि द्विशतानि च ॥ १६ ॥
वृषेशतीर्थादाजग्मुर्नवतिः सशतत्रया ।
यक्षिणीकुण्डतः प्राप्ताः सहस्रं त्रिशतोत्तरम् ॥ १७ ॥
लक्ष्मीतीर्थात्परं जग्मुः षोडशैव शतानि च ।
पिशाचमोचनात्सप्तसहस्राणि द्विजोत्तमाः ॥ १८ ॥

एकादशशताधिकं शतं द्विशताधिकसहस्रमित्यर्थः ॥ ११ ।

अयुतार्धकं पञ्चसहस्राणि ॥ १३ ।

आयासिषुरागतवन्तः ॥ १४ ।

नवतिः सशतत्रया नवत्यधिका शतत्रयीत्यर्थः ॥ १७ ।

इसी प्रकार हंसतीर्थ से दश सहस्र तीन सौ, दुर्वासातीर्थ से बारह सौ, मत्स्योदरीतीर्थ से छः सहस्र, कपालमोचन तीर्थ से सात सौ, ऋणमोचनतीर्थ से बारह सौ, वैतरणीतीर्थ से पाँच सहस्र, महाराज पृथु के खोदवाये हुए पृथुतीर्थ से तेरह सौ ब्राह्मण वहाँ आये ॥ ११-१४ ।

अप्सराओं के तीर्थ मेनकाकुंड से भी दो सौ, उर्वशीकुंड से बारह सौ, ऐरावत-कुंड से तीन सौ, गन्धर्वकुंड से सात सौ, अप्सराकुंड से दो सौ द्विजगण आ गये ॥ १५-१६ ।

वृषभध्वजतीर्थ से तीन सौ नब्बे, यक्षिणीकुंड से तेरह सौ, लक्ष्मीकुंड से सोलह सौ, पिशाचमोचन तीर्थ से सात सहस्र, पितृकुंड से कुछ अधिक एक सौ, ध्रुवतीर्थ से छः

पितृकुण्डाच्छतं साग्रं ध्रुवतीर्थाच्छतानि षट् ।
मानसाख्याच्च सरसो द्विशती सशतत्रया ॥ १९ ।
ब्राह्मणा वासुकिह्रदात्सहस्राणि दशैव तु ।
तथैवाष्टशतं द्रष्टुं जानकीकुण्डतो द्विजाः ॥ २० ।
काशीनाथमनुप्राप्ताः परमानन्ददायिनम् ।
तथा गौतमकुण्डाच्च शतानि नव चागताः ॥ २१ ।
तीर्थाद्दुर्गतिसंहर्तुर्ब्राह्मणाः प्रतिपेदिरे ।
एकादशशतान्येव द्रष्टुं देवमुमापतिम् ॥ २२ ।
असीसंभेदमारभ्य गङ्गातीरस्थिता द्विजाः ।
आसङ्गमेश्वरात्तत्र परिप्राप्ता घटोद्भव ॥ २३ ।
अष्टादशसहस्राणि तथा पञ्चशतान्यपि ।
ब्राह्मणाः पञ्चपञ्चाशद् गङ्गातीरात्समागताः ॥ २४ ।
सार्द्रदूर्वाक्षतकरैः सपुष्पफलपाणिभिः ।
सुगन्धमाल्यहस्तैश्च ब्राह्मणैर्जयवादिभिः ॥ २५ ।
स्तुतो मङ्गलसूक्तैश्च प्रणतश्च पुनः पुनः ।
तेभ्यो दत्ताभयः शम्भुः पप्रच्छ कुशलं मुदा ॥ २६ ।

साग्रं शतं किञ्चिदधिकं शतमित्यर्थः । सपादशतं वा । द्विशती सशतत्रया पञ्चशतीत्यर्थः ॥ १९ ।

सार्द्रेति । ब्राह्मणैर्मङ्गलसूक्तैः पुनः पुनः स्तुतः प्रणतः तेभ्यो दत्ताभयः शम्भुः कुशलं पप्रच्छेति द्वितीयेनान्वयः । चतुर्भिर्विशेषणैर्ब्राह्मणान् विशिनष्टि सार्द्रेत्यादिना ॥ २५ ।

सौ, मानसरोवर से पाँच सौ, वासुकिह्रद से दश सहस्र, सीताकुंड से आठ सौ, गौतमकुंड से नव सौ ब्राह्मणगण आ उपस्थित हुए ॥ १७-२१ ।

दुर्गाकुंड से ग्यारह सौ, भूसुरकुलावतंस ब्राह्मणगण परमानन्ददायक भगवान् काशीनाथ उमापति देव के दर्शन करने को वहाँ पर आकर उपस्थित हुए ॥ २२ ।

हे घटोद्भव ! इसी प्रकार से असिसंगम से लेकर वरणासंगम के संगमेश्वर तक के गंगा के तीर पर रहने वाले अठारह सहस्र पाँच सौ पचास ब्राह्मण गंगातट से वहाँ पर हाथ में आर्द्र दूब, अक्षत, फल, सुगन्ध एवं माला लेकर, जय-जयकार मनाते हुए, बारंबार मंगलसूक्तों को कहते और प्रणाम करते हुए वहाँ आ पहुँचे । भगवान् शंकर ने उन लोगों को अभय देकर बड़े हर्ष से कुशल-प्रश्न किया ॥ २३-२६ ।

ततस्ते ब्राह्मणाः प्रोचुः प्रबद्धकरसम्पुटाः ।
क्षेत्रे निवसतां नाथ सदा नः कुशलोदयः ॥ २७ ।
विशेषतः कृतोऽस्माभिः साक्षान्नमनगोचरः ।
त्वं यत्स्वरूपं श्रुतयो न विदुः परमार्थतः ॥ २८ ।
सदैवाकुशलं तेषां ये त्वत्क्षेत्रपराङ्मुखाः ।
चतुर्दशापि वै लोकास्तेषां नित्यं पराङ्मुखाः ॥ २९ ।
येषां हृदि सदैवास्ते काशी त्वाशीविषाङ्गद ।
संसाराशीविषविषं न तेषां प्रभवेत्क्वचित् ॥ ३० ।
गर्भरक्षामणिर्मन्त्रः काशीवर्णद्वयात्मकः ।
यस्य कण्ठे सदा तिष्ठेत्तस्याकुशलता कुतः ॥ ३१ ।

नन्वक्षिसन्निकृष्टं वस्तु नयनगोचरं भवत्येव किमाश्चर्यं तत्राहुः । यत्स्वरूपं श्रुतयो न विदुरिति । परमार्थतो मुख्यया वृत्त्येत्यर्थः ॥ २८ ।

आशीविषाङ्गद सर्पबाहुवलय ॥ ३० ।

गर्भरक्षामणिर्गर्भनाशको मणिरित्यर्थः, मन्त्रश्च । यद्वा काशीति वर्णद्वयात्मको यो मन्त्रः, स गर्भरक्षामणिरित्यर्थः ॥ ३१ ।

तब उन ब्राह्मणों ने हाथ जोड़कर कहा—हे नाथ ! आपके इस क्षेत्र में निवास करने वालों का तो सर्वदैव कुशल ही है ॥ २७ ।

फिर जिसके स्वरूप को वेद भी नहीं जा सकते, आज हम लोग उन्हीं आपको साक्षात् नेत्रों से देख रहे हैं । (तो अब भी हमारे कुशल में कुछ सन्देह है ?) ॥ २८ ।

जो लोग आपके क्षेत्र से पराङ्मुख हैं, उन्हीं का अमंगल सर्वदा होता रहता है और चौदहों भुवन भी उनके विपरीत हो जाते हैं ॥ २९ ।

हे भुजंगभूषण ! जिनके हृदय में काशी सदैव विद्यमान रहती है, उनको संसाररूपी सर्प कभी नहीं डँस सकता ॥ ३० ।

"काशी" ऐसा दो अक्षर का मंत्र गर्भरक्षा की मणि है । जिसके कंठ में विराजमान है, तो फिर उसकी अकुशलता कहाँ है ? ॥ ३१ ।

सुधां पिबति यो नित्यं काशीवर्णद्वयात्मिकाम् ।
स नैर्जरीं दशां हित्वा सुधैव परिजायते ॥ ३२ ।
श्रुतं कर्णामृतं येन काशीत्यक्षरयुग्मकम् ।
न समाकर्णयत्येव स पुनर्गर्भजां कथाम् ॥ ३३ ।
काशीरजोऽपि यन्मूर्ध्नि पतेदप्यनिलाहतम् ।
चन्द्रशेखर तन्मूर्धा भवेच्चन्द्रकलाङ्कितः ॥ ३४ ।
प्रसङ्गतोऽपि यन्नेत्रपथमानन्दकाननम् ।
यातं तेऽत्र न जायन्ते नेक्षेरन् पितृकाननम् ॥ ३५ ।
गच्छता तिष्ठता वाऽपि स्वपता जाग्रताऽथवा ।
काशीत्येष महामन्त्रो येन जप्तः स निर्भयः ॥ ३६ ।
येन बीजाक्षरयुगं काशीति हृदि धारितम् ।
अबीजानि भवन्त्येव कर्मबीजानि तस्य वै ॥ ३७ ।
काशी काशीति काशीति जपतो यस्य संस्थितिः ।
अन्यत्रापि सततस्तस्य पुरो मुक्तिः प्रकाशते ॥ ३८ ।

निर्नितरां जरा यस्यां सा तथा निर्जरैव **नैर्जरी** । नैर्जरीत्युपलक्षणम् । षड्भावविकाररहितमित्यर्थः । सुधैवामृतावस्थैव मोक्षावस्थैवेति यावत् ॥ ३२ ।

बीजाक्षरयुगं तत्र ककारः कामबीजं शकारः श्रीबीजमिति विवेक्तव्यम् ॥ ३७ ।

जो कोई 'काशी' नामक दो अक्षरों का अमृत पी लेता है, वह निर्जरा अवस्था को त्यागकर अमृत ही हो जाता है ॥ ३२ ।

जिसने इन दो अक्षरों की काशी का नाम अपने कानों में डाल लिया, उसे फिर कभी गर्भविषयिणी वार्ता नहीं सुननी पड़ती ॥ ३३ ।

हे चन्द्रशेखर ! जिसके माथे पर एक बार भी दैवयोग से कहीं काशी की धूलि वायुवेग से उड़कर पड़ जावे तो उसका मस्तक भी चन्द्रकला से सुशोभित हो जाता है ॥ ३४ ।

प्रसंगवश भी एक बार यह आनन्दकानन जिनके नेत्र-पथ पर पड़ जाता है, वे न तो फिर संसार में उत्पन्न ही होते हैं और न श्मशान ही को देखते हैं ॥ ३५ ।

जो कोई उठते, बैठते, सोते और जागते अथवा किसी अवस्था में हो 'काशी' इस महामंत्र का जप करता है, वह भय से रहित हो जाता है ॥ ३६ ।

जिसने 'काशी' इस बीजमंत्र के दोनों अक्षरों को अपने हृदय में बैठा लिया, उसके सभी कर्मबीज निर्बीज हो जाते हैं ॥ ३७ ।

जो कोई 'काशी-काशी' ऐसा कहीं पर जपता रहता है, वह जहाँ भी रहता है, वहीं पर उसके आगे मुक्ति प्रकाशित होती है ॥ ३८ ।

क्षेममूर्तिरियं काशी क्षेममूर्तिर्भवान् भव ।
क्षेममूर्तिस्त्रिपथगा नान्यत्क्षेमत्रयं क्वचित् ॥ ३९ ।
ब्राह्मणानामिति वचः क्षेत्रभक्तिविबृंहितम् ।
निशम्य गिरिजाकान्तस्तुतोष नितरां हरः ॥ ४० ।
प्रोवाच च प्रसन्नात्मा धन्या यूयं द्विजर्षभाः ।
येषामिहेदृशी भक्तिर्मम क्षेत्रेऽतिपावने ॥ ४१ ।
जाने सत्त्वमया जाताः क्षेत्रस्यास्य निषेवणात् ।
नीरजस्कावितमसः संसारार्णवपारगाः ॥ ४२ ।
वाराणस्यास्तु ये भक्तास्ते भक्ता मम निश्चितम् ।
जीवन्मुक्ता हि ते नूनं मोक्षलक्ष्म्या कटाक्षिताः ॥ ४३ ।
यैश्च काशीस्थितो जन्तुरल्पकोऽपि विरोधितः ।
तैर्वै विश्वम्भरा सर्वा मया सह विरोधिता: ॥ ४४ ।

क्षेत्रभक्तिविबृंहितं क्षेत्रभक्त्या विशेषेण वर्द्धितं तत्प्रतिपादकमित्यर्थः ॥ ४० ।
न केवलं तुतोष प्रोवाच चेति चकारार्थः ॥ ४१ ।
विरोधितः विरोधं प्रापितः ॥ ४४ ।

हे भव ! यह काशी साक्षात् कल्याण की मूर्ति है और आप भी कल्याणस्वरूप ही हैं। फिर यहाँ कल्याणमयी गंगा भी बह रही है, तो ये सब तीनों ही क्षेमकर्ता अन्यत्र कहाँ हैं ? ॥ ३९ ।

पार्वतीनाथ भगवान् हर ब्राह्मणों की क्षेत्रभक्ति से परिपूर्ण वचन को सुनकर बहुत ही सन्तुष्ट हुए ॥ ४० ।

फिर परमप्रसन्न होकर कहने लगे—'हे द्विजोत्तमगण ! तुम लोग धन्य हो, जो तुम लोगों की ऐसी भक्ति मेरे इस परमपावन क्षेत्र पर बनी है ॥ ४१ ।

मैं जानता हूँ कि तुम लोग इस क्षेत्र के सेवन करने से ही रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर सत्त्वगुण से पूर्ण हो गये हो और इसी कारण से संसारसमुद्र के पार भी पहुँच चुके हो ॥ ४२ ।

जो लोग वाराणसी में (और वाराणसी से) भक्ति करते हैं, वे निःसन्देह मेरे ही भक्त हैं और वे सब मोक्षलक्ष्मी के कटाक्षपात करने से जीवन्मुक्त हो जाते हैं, यह ध्रुव सत्य है ॥ ४३ ।

जिन लोगों ने काशी के किसी क्षुद्रजन्तु से भी विरोध किया, वे समस्त पृथिवी के सहित मुझसे विरोध कर चुके (ऐसा समझना चाहिये) ॥ ४४ ।

वाराणस्याः स्तुतिमपि यो निशम्यानुमोदते ।
अपि ब्रह्माण्डमखिलं ध्रुवं तेनानुमोदितम् ॥ ४५ ।
निवसन्ति हि ये मर्त्या अस्मिन्नानन्दकानने ।
ममान्तःकरणे ते वै निवसेयुरकल्मषाः ॥ ४६ ।
निवसन्ति मम क्षेत्रे मम भक्तिं प्रकुर्वते ।
मम लिङ्गधरा ये तु तानेवोपदिशाम्यहम् ॥ ४७ ।
निवसन्ति मम क्षेत्रे मम भक्तिं न कुर्वते ।
मम लिङ्गधरा ये नो न तानुपदिशाम्यहम् ॥ ४८ ।
काशी निर्वाणनगरी येषां चित्ते प्रकाशते ।
ते मत्पुरः प्रकाशन्ते नैःश्रेयस्या श्रिया वृताः ॥ ४९ ।

निवसन्तीति भिन्नं भिन्नं वाक्यम् ॥ ४६ ।

मम लिङ्गधरा वैदिकत्रिपुण्ड्रादिधारिणः ॥ ४७ ।

उक्तमर्थं व्यतिरेकेण दर्शयति । निवसन्तीति । न निवसन्तीत्यग्रिमो नकारोऽनुषज्जते । एकवाक्यत्वे अभक्तेभ्योऽपि भक्तेभ्यः स्थितो मुक्तिं समादिशेति विष्णुप्रार्थनानन्तरं भक्तानामप्यभक्तानां पुण्यपापकृतामपि । मुक्तिं दास्यामि सर्वेषां भक्तानामेव सा नहीत्यादि विश्वेशवचनव्याकोपात् । कीटाद्यमुक्तिप्रसङ्गाच्च ॥ ४८ ।

जो कोई वाराणसी की बड़ाई सुनकर उसका अनुमोदन करता है, वह समस्त ब्रह्माण्डमण्डल का अनुमोदन कर चुका, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४५ ।

जो लोग इस आनन्दवन में रहते हैं, वे शुद्ध होकर मेरे हृदय में ही वास करते हैं ॥ ४६ ।

जो लोग मेरे क्षेत्र में वास, मुझ पर भक्ति और मेरा चिह्न (बाना) धारण करते हैं, मैं उन्हीं को उपदेश करता हूँ ।

बसहिं हमारे क्षेत्र में, करैं भक्ति जो मोर ।
धरहिं चिह्न जो मोर ही, उपदेशहुँ तेहि ओर ॥ ४७ ।

किन्तु जो लोग मेरे क्षेत्र में तो रहते हैं, पर मेरी भक्ति नहीं करते और न मेरे चिह्नों को ही धारण करते हैं, उनको मैं भी कभी उपदेश नहीं करता ॥ ४८ ।

जिनके मन में निर्वाणनगरी काशी प्रकाशित रहती है, वे लोग मेरे सन्मुख मोक्षलक्ष्मी के हाथ से जयमाल पहन कर प्रकाशमान हो जाते हैं ॥ ४९ ।

मोक्षलक्ष्मीरियं काशी न येभ्यः परिरोचते ।
स्वर्लक्ष्मीं काङ्क्षमाणेभ्यः पतितास्ते न संशयः ॥ ५० ।
काशीं संकाङ्क्षमाणानां पुरुषार्थचतुष्टयम् ।
पुरः किङ्करवत्तिष्ठेन्ममाऽनुग्रहतो द्विजाः ॥ ५१ ।
आनन्दकानने ह्यत्र ज्वलद्दावानलोऽस्म्यहम् ।
कर्मबीजानि जन्तूनां ज्वालये न प्ररोहये ॥ ५२ ।
वस्तव्यं सततं काश्यां यष्टव्योऽहं प्रयत्नतः ।
जेतव्यौ कलिकालौ च रन्तव्या मुक्तिरङ्गना ॥ ५३ ।
प्राप्याऽपि काशीं दुर्बुद्धिर्यो न मां परिसेवते ।
तस्य हस्तगताऽप्याशु कैवल्यश्रीः प्रणश्यति ॥ ५४ ।
धन्या मद्भक्तिलक्ष्माणो ब्राह्मणाः काशिवासिनः ।
यूयं यच्चेतसो वृत्तेर्न दूरेऽहं न काशिका ॥ ५५ ।

मोक्षलक्ष्मीरिति । येभ्यः स्वर्लक्ष्मीं काङ्क्षमाणेभ्य इत्युभयत्र रुचिधातु-योगात्षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । पतिताः संसारसागर इति शेषः । यद्वा पतिताः संकरजा इत्यर्थः ॥ ५० ।

प्राप्येति । भक्त्यभावे काशीत्यागप्रसक्तेर्मुक्तेरप्यभाव इत्यर्थः ॥ ५४ ।

धन्या इति । यदिति येषां युष्माकं चेतसो वृत्तेरन्तःकरणज्ञानादहं न दूरे काशिका च न दूरे इत्यर्थः । वृत्तैरिति क्वचित् ॥ ५५ ।

जिन लोगों को मोक्षलक्ष्मीरूपा यह काशी नहीं रुचती है और वे सब स्वर्गश्री के पाने की इच्छा करते रहते हैं, तो वे निःसन्देह पतित ही हैं ॥ ५० ।

हे द्विजगण ! काशी की आकांक्षा करनेवालों के आगे मेरे अनुग्रह से चारों ही पुरुषार्थ किंकर के समान खड़े रहते हैं ॥ ५१ ।

इस आनन्दकानन में मैं जलते हुए दावानल के समान रहता हूँ । जीवों के कर्मबीजों को मैं ऐसा जला डालता हूँ कि वे सब फिर कभी नहीं उगने पाते हैं ॥ ५२ ।

इस काशीपुरी में सर्वदा वास और प्रयत्नपूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिए, इसी से कलि और काल को जीतकर मुक्तिरूपा स्त्री के साथ विहार किया जा सकता है ॥ ५३ ।

जो दुर्बुद्धि काशी में पहुँचकर भी मेरी सेवा नहीं करता, मोक्षलक्ष्मी उसके हाथों में जाकर भी तुरंत ही निकल जाती है ॥ ५४ ।

हे ब्राह्मणगण ! मेरी भक्ति के चिह्नों को धारण कर काशी में वास करने से

दातव्यो वो वरः कोऽत्र व्रियतां मे यथारुचि ।
प्रेयांसो मे यतो यूयं क्षेत्रसंन्यासकारिणः ॥ ५६ ।
इति पीत्वा महेशानमुखक्षीराब्धिजां सुधाम् ।
परितृप्ता द्विजाः सर्वे वब्रुर्वरमनुत्तमम् ॥ ५७ ।

ब्राह्मणा ऊचुः—

उमापते महेशान सर्वज्ञ वर एष नः ।
काशी कदापि न त्याज्या भवता भवतापहृत् ॥ ५८ ।
वचनाद् ब्राह्मणानां तु शापो मा प्रभवत्विह ।
कदाचिदपि केषाञ्चित्काश्यां मोक्षान्तरायकः ॥ ५९ ।
तव पादाम्बुजद्वन्द्वे निर्द्वन्द्वा भक्तिरस्तु नः ।
आकलेवरपातं च काशीवासोऽस्तु नोऽनिशम् ॥ ६० ।
किमन्येन वरेणेश देय एष वरो हि नः ।
अवधे ह्यन्धकध्वंसिन् वरमन्यं वृणीमहे ॥ ६१ ।

भवतापहृदिति काशीविशेषणं विश्वेश्वरसम्बोधनं वा ॥ ५८ ।

तुम्हीं लोग धन्य हो। कारण यह है कि तुम लोगों की चित्तवृत्ति से ही न मैं दूर हो सकता हूँ और न यह काशी ही दूर है ॥ ५५ ।

तुम लोग अपनी इच्छा के अनुसार जो चाहो, वह वर मुझसे माँग लो; क्योंकि क्षेत्रसंन्यास लेने के कारण ही तुम सब मेरे परमप्रीति-पात्र हो ॥ ५६ ।

इस भाँति से महेश्वर के मुखनिःसृत वचनामृत को सुनकर अत्यंत सन्तुष्ट होकर वे सब ब्राह्मण उत्तम वर माँगने लगे ॥ ५७ ।

ब्राह्मणों ने कहा—

हे उमापते ! महेशान ! संसारतापनाशक ! सर्वज्ञ ! हम लोगों को यह वरदान दें कि, आप कभी इस काशीपुरी को नहीं छोड़ेंगे ॥ ५८ ।

और इस काशी में कभी किसी भी ब्राह्मण के कह देने से मोक्ष का रोकने वाला कोई भी शाप किसी पर न पड़ने पाये ॥ ५९ ।

एवं आपके दोनों चरणकमलों में हम सब की अचल भक्ति बनी रहे और जब तक शरीर न छूटे, सर्वदा इसी काशी में वास होता रहे ॥ ६० ।

हे ईश ! दूसरे वर का कुछ भी प्रयोजन नहीं है, हम लोगों को यही वर दिया जाय। हे अन्धकान्तक ! हम लोग एक और भी वर माँगते हैं, आप उसे भी सावधान होकर सुन लें ॥ ६१ ।

तव प्रतिनिधीकृत्याऽस्माभिस्त्वद्भक्तिभावितैः ।
प्रतिष्ठितेषु लिङ्गेषु सान्निध्यं भवतोऽस्त्विह ॥ ६२ ।
श्रुत्वेति तेषां वाक्यानि तथास्त्विति पिनाकिना ।
प्रोचेऽन्योऽपि वरो दत्तो ज्ञानं वश्च भविष्यति ॥ ६३ ।
पुनः प्रोवाच देवेशो निशामयत भो द्विजाः ।
हितं वः कथयाम्यत्र तदनुष्ठीयतां ध्रुवम् ॥ ६४ ।
सेव्योत्तरवहा नित्यं लिङ्गमर्च्यं प्रयत्नतः ।
दमो दानं दया नित्यं कर्तव्यं मुक्तिकाङ्क्षिभिः ॥ ६५ ।
इदमेव रहस्यं च कथितं क्षेत्रवासिनाम् ।
मतिः परहिता कार्या वाच्यं नोद्वेगकृद्वचः ॥ ६६ ।
मनसाऽपि न कर्तव्यमेनोऽत्र विजिगीषुणा ।
अत्यत्रमक्षयं यस्मात् सुकृतं सुकृतेतरम् ॥ ६७ ।

प्रतिनिधिः प्रतिरूपम् ॥ ६२ ।

दमो दानं दयेत्यत्र कर्तव्यमिति सामान्यनिर्देशः ॥ ६५ ।

हम लोगों ने आपकी भक्तिभावना से जो आपकी प्रतिमूर्तिरूप लिंगों की प्रतिष्ठा की है—उन सबों में आपका सान्निध्य सदैव बना रहे ॥ ६२ ।

उन लोगों की यह बात सुनकर भगवान् पिनाकी ने तथास्तु कहने के पश्चात् यह भी कहा कि (लो) एक और भी वर हम देते हैं—तुम लोगों को ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा ॥ ६३ ।

महादेव ने फिर कहा—हे द्विजगण ! सुनते जाओ, हम तुम लोगों के हित की बात कहते हैं, तुम लोग उसे अवश्य ही अनुष्ठित करो ॥ ६४ ।

मुक्ति चाहने वालों को नित्य ही उत्तरवाहिनी गंगा की सेवा, प्रयत्नपूर्वक लिंग की पूजा, इन्द्रियों का दमन, यथाशक्ति दान और समस्त जीवों पर दया सदैव करनी चाहिए ॥ ६५ ।

क्षेत्रवासी लोगों के लिये यही परम रहस्य कहा गया है कि, अपनी बुद्धि को तो दूसरे की हिताभिलाषिणी बनावें और घबड़ाहट करने वाली बात न बोलें ॥ ६६ ।

विजयेच्छु जन को यहाँ पर मन से भी कभी पाप नहीं करना चाहिए, क्योंकि यहाँ के किये हुए पुण्य और पाप दोनों ही अक्षय हो जाते हैं ॥ ६७ ।

अन्यत्र यत्कृतं पापं तत्काश्यां परिणश्यति ।
वाराणस्यां कृतं पापमन्तर्गेहे प्रणश्यति ॥ ६८ ।
अन्तर्गेहे कृतं पापं पैशाच्यनरकावहम् ।
पिशाचनरकप्राप्तिर्गच्छत्येव बहिर्यदि ॥ ६९ ।
न कल्पकोटिभिः काश्यां कृतं कर्म प्रमृज्यते ।
किन्तु रुद्रपिशाचत्वं जायतेऽत्राऽयुतत्रयम् ॥ ७० ।
वाराणस्यां स्थितो यो वै पातकेषु रतः सदा ।
योनिं प्राप्याऽपि पैशाचीं वर्षाणामयुतत्रयम् ॥ ७१ ।

अन्यत्र पुण्यक्षेत्रे । तदुक्तम्—

यत्र कुत्र कृतं पापं गङ्गातीरे विनश्यति ।
गङ्गातीरे कृतं पापं गंगायां च प्रणश्यति ॥
गङ्गायां च कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति ।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वाराणस्यां प्रणश्यति ॥

अन्यत् समानम् ॥ ६८ ।

पिशाचेति । यदि पैशाच्यनरकावहं पापं बहिरन्तर्गेहाद्बहिः काश्यां कृतं भवेत् तेन पापेन पैशाचनरकप्राप्तिरन्तर्गेहे गच्छत्येव न भवत्येवेत्यर्थः । एतेनोपपातकमेव काश्यां कृतमन्तर्गेहे नश्यति, न महापातकमिति निरस्तम् । यद्वा पिशाचनरकप्राप्तिः पुरुषः बहिः काश्या बहिर्गच्छत्येव पुनर्नायातीत्यर्थः । तदा काश्यां कृतं यत्पापं कल्पकोटिभिरपि तत्पापं तेन भुज्यते, न समाप्यते, तावता कालेनाऽपि तत्पापं न नश्यतीत्यर्थः । तद् बहिर्मृतविषयम् । यद्वा अन्तर्गेहे कृतपापो यदि बहिर्गच्छति, तदा तस्य पिशाचनरकप्राप्तिर्भवत्येव । कियत्कालं भवति तत्राह । न **कल्पेति** ॥ ६९ ।

तर्ह्यत्र स्थितस्य का गतिस्तत्राह । **किन्त्विति** । काश्यामन्तर्गेहे । तर्हि किमन्तर्गेहकृतपापानामिहान्यत्र तनुत्यजां पैशाचनरकप्राप्त्योः साम्यमेव नेत्याह । **अत्रेति** । अत्र काश्यां मृतानामिति शेषः । **अयुतत्रयं** त्रिंशत्सहस्रदिव्यवर्षाणि ॥ ७० ।

अन्य सब स्थानों के किये हुए पाप काशी में ही विनष्ट होते हैं और जो पाप काशी में होता है, वह अन्तर्गृह में जाकर विनष्ट होता है ॥ ६८ ।

अन्तर्गेह का अनुष्ठित पाप पिशाचनरक भोग का कारण होता है; पर यदि बाहर से पिशाचनरक की प्राप्ति हुई हो, तो वह अन्तर्गृह में अवश्य ही चली जाती है ॥ ६९ ।

काशी में किया हुआ कर्म कोटिकल्प में भी नहीं विनष्ट होता और यहाँ पर तीस सहस्र वर्ष तक रुद्रपिशाचत्व भोगना ही पड़ता है ॥ ७० ।

जो कोई काशी में रहकर सर्वदैव पातकों में तत्पर रहा करता है, वह तीस सहस्र वर्ष तक पिशाचयोनि को भोगता है ॥ ७१ ।

पुनरत्रैव निवसन् ज्ञानं प्राप्स्यत्यनुत्तमम् ।
तेन ज्ञानेऽथ सम्प्रान्ते मोक्षमाप्स्यत्यनुत्तमम् ॥ ७२ ।
दुष्कृतानि विधायेह बहिः पञ्चत्वमागताः ।
तेषां गतिं प्रवक्ष्यामि शृणु तद्द्विजसत्तमाः ॥ ७३ ।
यामाख्या मे गणाः सन्ति घोरा विकृतमूर्तयः ।
मूषायान्ते धमन्त्यादौ क्षेत्रदुष्कृतकारिणः ॥ ७४ ।
नयन्त्यनूपप्रायां च ततः प्राचीं दुरासदाम् ।
वर्षाकाले दुराचारान् पातयन्ति महाजले ॥ ७५ ।
जलौकाभिः सपक्षाभिर्दन्दशूकैर्जलोद्भवैः ।
दुर्निवारैश्च मशकैर्दश्यन्ते ते दिवानिशम् ॥ ७६ ।
ततो यामैर्हिमर्तौ तेऽद्रौ हिमालये ।
अशनावरणैर्हीनाः क्लेश्यन्ते ते दिवाऽनिशम् ॥ ७७ ।

अथ रुद्रपिशाचभोगानन्तरम् । तेन ज्ञानेन । संप्रान्ते सम्यग् भोगान्ते । तेन ज्ञानेऽथ सम्प्राप्ते इति क्वचित्पाठः ॥ ७२ ।

एवं काश्यां मृतानां पापिनां गतिमभिधायाऽन्यत्र मृतानां तेषां गतिमाह । दुष्कृतानीत्यारभ्य तस्मादित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ ७३ ।

अनूपप्रायां जलप्रायाम् ॥ ७५ ।

तदनन्तर पुनः इसी काशी का निवासी हो, अनुत्तम ज्ञान पाकर, अन्त में उसी ज्ञान से अनुत्तम मोक्ष को भी प्राप्त करता है ॥ ७२ ।

हे द्विजसत्तमगण ! जो लोग इस काशी में बहुत से दुष्कर्मों को कर कहीं बाहर जाकर मरते हैं, उनकी भी जो गति होती है, उसे कहता हूँ, सुनते जाओ ॥ ७३ ।

मेरे याम नामक विकटमूर्ति भयंकर गणलोग पहले उन पातकियों को कराह (कड़ाही) में चढ़ाकर टेघराते हैं (पिघलाते हैं) ॥ ७४ ।

तब वर्षाकाल में दुर्गम जलमयी पूर्व दिशा में ले जाकर उन दुराचारियों को अगाध जल में डुबा देते हैं ॥ ७५ ।

वहाँ पर रात्रि-दिन पंखोंवाली जोंकें और पनिहे डेड़हा आदि साँप एवं दुर्निवार मच्छरों से उनको डँसवाते हैं ॥ ७६ ।

तदनन्तर जाड़ा पड़ने पर उन सबको यामलोग हिमालय पहाड़ पर ले जाकर खाने-पहनने का बड़ा ही दुःख भोगाते हैं ॥ ७७ ।

मरुस्थले ततो ग्रीष्मे वारिवृक्षविवर्जिते ।
दिवाकरकरैस्तीव्रैस्ताप्यन्ते ते पिपासिताः ॥ ७८ ।
क्लेशितास्ते गणैरुग्रैर्यातनाभिः समन्ततः ।
इत्थं कालमसंख्यातमानीयन्ते ततस्त्विह ॥ ७९ ।
निवेदयन्ति ते यामाः कालराजान्तिके ततः ।
कालराजोऽपि तान् दृष्ट्वा कर्म संस्मार्य दुष्कृतम् ॥ ८० ।
विवस्त्रान् क्षुत्तृषार्तांश्च लग्नपृष्ठोदरत्वचः ।
अन्यै रुद्रपिशाचैश्व सह संयोजयत्यपि ॥ ८१ ।
ततो रुद्रपिशाचास्ते भैरवाऽनुचराः सदा ।
सहन्ते क्लममत्यर्थं क्षुत्तृष्णोग्रत्वसंभवम् ॥ ८२ ।
आहारं रुधिरोन्मिश्रं ते लभन्ते कदाचन ।
एवं त्र्ययुतसंख्याकं कालं तत्राऽतिदुःखिताः ॥ ८३ ।
श्मशानस्तम्भमभितो नीयन्ते कण्ठपाशिताः ।
पिपासिता अपि न तेऽम्बुस्पर्शमपि चाप्नुयुः ॥ ८४ ।

तदनन्तर गर्मी के दिनों में जल और वृक्ष से शून्य मरुस्थल में ले जाकर सूर्य के कड़ुए किरणों से मारे प्यास के उन सबों को अत्यंत सुखा डालते हैं ॥ ७८ ।

मेरे घोर गणलोग इसी चाल से (इसी भाँति) बहुत काल तक उन सबों को बड़ी-बड़ी पीड़ाओं से क्लेशित करके अन्त में फिर यहीं पर ले आते हैं ॥ ७९ ।

तदनन्तर वे यामलोग उन सबको कालराज के पास ले जाकर उपस्थित करते हैं। तब कालराज भी उन लोगों को देखते ही उनके दुष्कर्मों को स्मरण करते हैं ॥ ८० ।

वस्त्रहीन, क्षुधा-पिपासा से पूर्ण दुःखी और पीठ में पेट की चमड़ी लगाए हुए उन सबों को दूसरे रुद्रपिशाचों के साथ कर देते हैं ॥ ८१ ।

तदनन्तर वे सब रुद्रपिशाच लोग भैरव के अनुचर बनकर सदैव क्षुधा-तृषा की घोर पीड़ा सहा करते हैं ॥ ८२ ।

कभी-कभी कुछ थोड़ा बहुत रक्तमिश्रित भोजन उनको मिल जाता है, इसी रीति से तीस सहस्र वर्ष बड़े दुःखित होकर रहते हैं ॥ ८३ ।

तदनन्तर श्मशान के खंभे में गलफाँस से बँधे रहकर समय काटते हैं। वे बड़े ही प्यासे एक-एक बूँद भर जल के लिये तरसते रहते हैं ॥ ८४ ।

अथ संक्षीणपापास्ते कालभैरवदर्शनात् ।
इहैव देहिनो भूत्वा मुच्यन्ते ते ममाज्ञया ॥ ८५ ।
तस्मान्न कामयेताऽत्र वाङ्मनःकर्मणाऽप्यघम् ।
शुचौ पथि सदा स्थेयं महालाभमभीप्सुभिः ॥ ८६ ।
नाऽविमुक्ते मृतः कश्चिन्नरकं याति किल्बिषी ।
ममाऽनुग्रहमासाद्य गच्छत्येव परां गतिम् ॥ ८७ ।
अनाशनं यः कुरुते मद्भक्त इह सुव्रतः ।
न तस्य पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥ ८८ ।
अशाश्वतमिदं ज्ञात्वा मानुष्यं बहुकिल्बिषम् ।
अविमुक्तं सदा सेव्यं संसारभयमोचकम् ॥ ८९ ।
नान्यत्पश्यामि जन्तूनां मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम् ।
सर्वपापप्रशमनीं प्रायश्चित्तं कलौ युगे ॥ ९० ।

यस्मादेवं तस्मादित्युपसंहारः ॥ ८६ ।

नाविमुक्त इति । अविमुक्ते मृतः किल्बिषी यत्र कुत्रापीति शेषः । नरकं न याति । नर इति पाठे मरणपर्यन्तं निवसन्निति शेषः । तत्र हेतुमाह । गच्छत्येव परां गतिमित्युक्तक्रमेणेत्यर्थः ॥ ८७ ।

अशनमेव आशनं न आशनमनाशनम् । अनाशकमिति क्वचित्पाठः ॥ ८८ ।

इसके बाद कालभैरव के दर्शन से निष्पाप होकर इसी स्थान में फिर जन्म लेकर वे सब मेरी आज्ञा से मुक्त हो जाते हैं ॥ ८५ ।

अतएव जिन्हें बड़े फलों के पाने की लालसा हो, वे यहाँ पर मन, वचन और कर्म के द्वारा पाप करने की इच्छा न रखें और सदैव पवित्र मार्ग का अवलम्बन करें ॥ ८६ ।

इस अविमुक्तक्षेत्र में मरने से कोई भी पापी नरक में नहीं जाने पाता, मेरे अनुग्रह से परम गति को ही पा जाता है ॥ ८७ ।

यहाँ पर जो कोई मेरा भक्त अनशन व्रत करता है, सैंकड़ों करोड़ कल्प बीतने पर भी उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥ ८८ ।

इस पापमय मनुष्य जन्म को सर्वथा विनश्वर विचार कर, संसारभयमोचक अविमुक्तक्षेत्र का ही सेवन करना उचित है । मैं तो घोर कलियुग में सर्वपापविनाशिनी वाराणसी पुरी को छोड़कर प्राणियों का दूसरा प्रायश्चित ही नहीं देखता ॥ ८९-९० ।

जन्मान्तरसहस्रेषु यत्पापं समुपार्जितम् ।
अविमुक्तं प्रविष्टस्य तत्सर्वं व्रजति क्षयम् ॥ ९१ ।

जन्मान्तरसहस्रेषु युञ्जन्योगी यदाप्नुयात् ।
तदिहैव परो मोक्षो मरणादधिगम्यते ॥ ९२ ।

तिर्यग्योनिगताः सत्त्वा येऽविमुक्तकृतालयाः ।
कालेन निधनं प्राप्तास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ९३ ।

अविमुक्तं न सेवन्ते ये मूढास्तमसावृताः ।
विण्मूत्ररेतसां मध्ये ते वसन्ति पुनः पुनः ॥ ९४ ।

अविमुक्तं समासाद्य यो लिङ्गं स्थापयेत्सुधीः ।
कल्पकोटिशतैर्वापि नास्ति तस्य पुनर्भवः ॥ ९५ ।

ग्रहनक्षत्रताराणां कालेन पतनं ध्रुवम् ।
अविमुक्ते मृतानां तु पतनं नैव विद्यते ॥ ९६ ।

ब्रह्महत्यां नरः कृत्वा पश्चात्संयतमानसः ।
प्राणांस्त्यजति यः काश्यां स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ९७ ।

क्योंकि सहस्रों जन्म के बटोरे हुए पाप काशी में प्रवेश करने मात्र से क्षय को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ९१ ।

योगीजन सहस्रों जन्म में योगाभ्यास की रगड़ से जिस मुक्ति को पा सकते हैं, इस स्थान में मृत्यु हो जाने मात्र से ही वह परमपद (अनायास ही) प्राप्त हो जाता है ॥ ९२ ।

इस अविमुक्तक्षेत्र में तिर्यग्योनिवाले जीव भी जो वास करते हैं, वे सब भी कालानुसार मरने पर परमगति ही को प्राप्त होते हैं ॥ ९३ ।

जो मूढ़लोग मोहान्धकार में पड़कर अविमुक्तक्षेत्र की सेवा नहीं करते, वे बारम्बार मल-मूत्र और वीर्य के कीचड़ में सड़ा करते हैं ॥ ९४ ।

जो बुद्धिमान् जन काशी में लिंग की स्थापना कर देता है, सैकड़ों करोड़ कल्प बीत जाने पर भी फिर उसका जन्म नहीं होता ॥ ९५ ।

कालानुसार ग्रह, नक्षत्र और ताराओं का भी पतन अवश्य ही होता है; पर जो लोग इस अविमुक्तक्षेत्र में मरते हैं, उनका पतन कभी नहीं होता ॥ ९६ ।

जो मनुष्य ब्रह्महत्या करने पर भी पीछे से संयतचित्त होकर काशी में प्राणत्याग कर सके, तो वह भी निःसन्देह मुक्त हो जाता है ॥ ९७ ।

स्त्रियः पतिव्रता याश्च मम भक्तिसमाहिताः ।
अविमुक्ते मृता विप्रा यान्ति ताः परमां गतिम् ॥ ९८ ।
अत्रोत्क्रमणकालेऽहं स्वयमेव द्विजोत्तमाः ।
दिशामि तारकं ब्रह्म देही स्याद्येन तन्मयः ॥ ९९ ।
मन्मना मद्भक्तश्च मयि सर्वार्पितक्रियः ।
यथा मोक्षमिहाप्नोति न तथान्यत्र कुत्रचित् ॥ १०० ।
मरणं निश्चितं ज्ञात्वा गतिं चासुखरूपिणीम् ।
चलमागन्तुकं सर्वं ततः काशीं समाश्रयेत् ॥ १०१ ।
काशी समाश्रिता यैस्तु मनोवाक्कायकर्मभिः ।
तानत्र निर्मलधियो निर्वाणश्रीः समाश्रयेत् ॥ १०२ ।
काशीस्थितैकमपि यः प्रीणयेन्न्यायजैर्धनैः ।
तेन त्रैलोक्यमखिलं प्रीणितं तु मया सह ॥ १०३ ।

न्यायजैर्न्यायमार्गाज्जातैः । [1]पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः ॥ १०३ ।

हे विप्रगण ! जो पतिव्रता स्त्रियाँ मेरे भक्तिभाव से भरी रहकर अविमुक्त में मरती हैं, वे भी परमपद को प्राप्त होती हैं ॥ ९८ ।

हे द्विजोत्तमगण ! यहाँ पर प्राणत्याग करने के समय मैं आप ही तारक ब्रह्म का उपदेश करता हूँ, जिससे वह देही ब्रह्ममय हो जाता है ॥ ९९ ।

मेरा भक्त मुझमें मन लगाकर और समस्त कर्मों को मुझे ही समर्पण करके इस स्थान में जैसा मोक्ष पा सकता है, अन्यत्र कहीं पर वह (बात) नहीं हैं ॥ १०० ।

मृत्यु को निश्चित और संसार की गति को दुःखरूपिणी एवं समस्त आगन्तुक विषयों को चल समझकर काशी ही का आश्रयण करना चाहिए ॥ १०१ ।

जिन लोगों ने तन, मन, वचन से काशी का आश्रयण कर लिया, यहाँ पर उन निर्मल बुद्धिमानों को मोक्षलक्ष्मी आप ही से आ घेरती हैं ॥ १०२ ।

जो कोई न्यायोपार्जित धन से काशीवासी एक जन को भी प्रसन्न कर सके, वह मेरे साथ समस्त त्रैलोक्य को सन्तुष्ट कर चुका ॥ १०३ ।

---

1. मार्गजैर्धनैरिति ।

य: प्रीणयति पुण्यात्मा निर्वाणनगरी नरम् ।
पुमर्थेन स्थितेर्नित्यं ब्राह्मणाः प्रीणयामि तम् ॥ १०४ ।
दिवोदासोऽपि राजर्षिः काशीं धर्मेण पालयन् ।
सदेहो मत्पदं प्राप्तो यतो न पुनरागतिः ॥ १०५ ।
अत्र योगस्तथा ज्ञानं मुक्तिरेकेन जन्मना ।
अतोऽविमुक्तमासाद्य नान्यद्गच्छेत्तपोवनम् ॥ १०६ ।
मोक्षं सुदुर्लभं ज्ञात्वा संसारं चातिभीषणम् ।
अश्मना चरणौ हत्वा कालमत्र प्रतीक्षयेत् ॥ १०७ ।
अविमुक्तं परित्यज्य यदा यास्यन्ति दुर्धियः ।
हसिष्यन्ति तदा भूतान्यन्योन्यकरताडनैः ॥ १०८ ।
प्राप्य वाराणसीं पुण्यां सिद्धिक्षेत्रमनुत्तमम् ।
परिनिष्क्रान्तुमन्यत्र कस्य जन्तोर्मतिर्भवेत् ॥ १०९ ।

पुमर्थेन स्थितेर्हेतोः पुरुषार्थचतुष्टयेन स्थितेर्वसतेर्निमित्तत्वात् । ब्राह्मणा हे ब्राह्मणाः ॥ १०४ ।

अश्मना पाषाणेन ॥ १०७ ।

हे ब्राह्मणलोगों ! जो कोई पुण्यात्मा इस निर्वाणनगरी के निवासी नर को तुष्ट करता है, उसे मैं स्वयं चारों ही पुरुषार्थों से सदा प्रसन्न करता रहता हूँ ॥ १०४ ।

राजर्षि दिवोदास भी धर्मपूर्वक इस काशी का पालन करने ही से सदेह मेरे पद को प्राप्त हो गया, जहाँ से फिर उसे लौटना नहीं पड़ेगा ॥ १०५ ।

यहाँ पर एक ही जन्म में योगसिद्धि, ज्ञानप्राप्ति और मुक्तिलाभ हो जाता है, अतएव इस अविमुक्तक्षेत्र को छोड़कर तपस्या करने के लिये कहीं दूसरे तपोवन में नहीं जाना चाहिए ॥ १०६ ।

मोक्ष को बहुत ही दुर्लभ और संसार को बड़ा भयंकर समझकर, पत्थर से अपना पैर तोड़कर यहाँ पर काल की बाट जोहनी चाहिए ॥ १०७ ।

जब दुर्बुद्धि लोग काशी को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जाते हैं, तब मेरे भूतगण परस्पर करताली बजाकर हँसने लगते हैं ॥ १०८ ।

परमोत्तम सिद्धिक्षेत्र पवित्र काशीपुरी में रहकर फिर वहाँ से निकल जाने की इच्छा किस प्राणी को होती है ?

परम सिद्धिदा काशी में, जो कुछ दिन रहि जाय ।
ताहि छाड़ि कहुँ जान हित, केहिके मनहिं सोहाय ॥ १०९ ।

महादानेन चान्यत्र यत्फलं लभ्यते नरैः ।
अविमुक्ते तु काकिण्यां दत्तायां तदवाप्यते ॥ ११० ।
एकं समर्चयेल्लिङ्गं तपस्तप्येत चापरः ।
तयोर्मध्ये तु स श्रेष्ठो यो लिङ्गं पूजयेदिह ॥ १११ ।
तीर्थान्तरे गवां कोटिं विधिवद्यः प्रयच्छति ।
एकाहं यो वसेत्काश्यां काशीवासी तयोर्वरः ॥ ११२ ।
अन्यत्र ब्राह्मणानां तु कोटिं संभोज्य यत्फलम् ।
वाराणस्यां तु चैकेन भोजितेन तदाप्यते ॥ ११३ ।
सन्निहत्यां कुरुक्षेत्रे राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
तुलापुरुषदानेन [1]काशीभिक्षासमा भवेत् ॥ ११४ ।
ममेह परमं ज्योतिरापातालाद् व्यवस्थितम् ।
अतीत्य सप्तलोकादीननन्तं लिङ्गरूपधृक् ॥ ११५ ।
पृथिव्यन्तेऽपि ये लिङ्गमविमुक्तं स्मरन्ति मे ।
कलुषैस्ते विमुच्यन्ते महद्भिरिति निश्चितम् ॥ ११६ ।

काकिण्यां विंशतिवराटिकायाम् ॥ ११० ।

अन्य स्थल में महादान करने से जो फल लोगों को मिलता हैं, इस अविमुक्तक्षेत्र में केवल कौड़ी देने से वही फल प्राप्त होता है ॥ ११० ।

यहाँ पर एक मनुष्य यदि लिंगपूजन करे और दूसरा कोई तपस्या करे, तो उन दोनों में लिंगपूजक ही श्रेष्ठ गिना जाता है ॥ १११ ।

दूसरे तीर्थ में जो कोई विधिपूर्वक कोटि गोदान करे एवं यदि दूसरा कोई केवल एक ही दिन काशी में वास करे, तो दोनों के बीच में काशीवासी ही उत्तम होता है ॥ ११२ ।

अन्यत्र कहीं पर कोटि ब्राह्मणों के जिंवाने से (भोजन कराने से) जो पुण्य होता है, इस काशी में केवल एक ही ब्राह्मण को खिला देने से वही फल मिल जाता है ॥ ११३ ।

सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में तुलापुरुष दान करने के समान काशी में एक मुट्ठी भीख देने का फल होता है ॥ ११४ ।

यहाँ पर अनन्त लिंग का रूप धर कर मेरी परम ज्योति पाताल से लेकर सातों लोकों को अतिक्रमण करके बैठी रहती है ॥ ११५ ।

पृथिवी के प्रान्तभाग में भी रहकर जो लोग मेरे अविमुक्त लिंग को स्मरण करते हैं, उनके भी बड़े-बड़े पाप छूट ही जाते हैं—इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ११६।

---

1. काश्यामित्यपि पाठः ।

अस्मिन् क्षेत्रे तु येनाऽहं दृष्टः स्पृष्टः समर्चितः ।
संप्राप्य तारकं ज्ञानं न स भूयोऽभिजायते ॥ ११७ ।
यो मामिह समभ्यर्च्य म्रियतेऽन्यत्र कुत्रचित् ।
जन्मान्तरेऽपि मां प्राप्य स विमुक्तो भविष्यति ॥ ११८ ।
इत्युक्त्वा क्षेत्रमाहात्म्यं द्विजानामग्रतो हरः ।
पश्यतामेव तेषां तु तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ११९ ।
तेऽपि साक्षाद् विरूपाक्षं प्रत्यक्षीकृत्य बाडवाः ।
प्रहृष्टमनसोऽत्यन्तं प्रययुः स्वं स्वमाश्रमम् ॥ १२० ।
शम्भोर्वाक्यं विनिश्चित्य सर्वज्ञस्य कृपानिधेः ।
त्यक्त्वा कार्यान्तरं विप्रा लिङ्गान्येव समर्चिषुः ॥ १२१ ।

बाडवा ब्राह्मणाः ॥ १२० ।

समर्चिषुः सम्यगर्चयामासुः ॥ १२१ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ।

जो कोई इस क्षेत्र में मेरा दर्शन, स्पर्शन और पूजन करता है, वह तारक ज्ञान को पाकर फिर कभी जन्म नहीं लेता ॥ ११७ ।

जो मनुष्य यहाँ पर मेरा समर्चन करके किसी दूसरे स्थान में जाकर प्राण-त्याग करता है, वह जन्मान्तर में फिर मुझे पाकर अन्त में विमुक्त हो जाता है ॥ ११८ ।

भगवान् शंकर उन ब्राह्मणों के आगे इस भाँति से क्षेत्र की महिमा कहकर उनके देखते ही देखते अन्तर्द्धान हो गये ॥ ११९ ।

उन सब द्विजलोगों ने भी साक्षात् विरूपाक्ष को प्रत्यक्ष कर अत्यन्त हर्षित हृदय से अपने-अपने स्थान की ओर प्रस्थान किया ॥ १२० ।

फिर तो ब्राह्मणों ने कृपानिधान सर्वज्ञ भगवान् शंभु के वचन पर दृढ़ विश्वास कर और सब कामों को छोड़-छाड़ शिवलिंगों का ही पूजन आरंभ कर दिया ॥ १२१ ।

स्कन्द उवाच–

पठित्वा पाठयित्वा च रहस्याख्यानमुत्तमम् ।
श्रद्धालुः पातकैर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥ १२२ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे क्षेत्ररहस्यकथनं नाम चतुःष्षष्टितमोऽध्यायः॥ ६४ ।

स्कन्द ने कहा–

'जो कोई श्रद्धालु जन इस उत्तम रहस्याख्यान का पाठ करता है अथवा पढ़वाता है, वह सब पापों से छूटकर शिवलोक में पूजित होता है'॥ १२२ ।

काशी में बसिये सदा, कबहुँ न करिये पाप ।
पुण्य यथारुचि कीजिये, शंभु कहेउ जस आप ॥ १ ।
दया दान दम युत रहै, गंग नहावे जाय ।
विश्वनाथ दर्शन किये, मुक्ति मिलै तेहि धाय ॥ २ ।
है विचित्र काशीपुरी, संशय तनिकहु नाहिं ।
पाप पुण्य को टारि कै, मिलै मुक्ति एहि माहिं ॥ ३ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां काशीमाहात्म्य-रहस्य-वर्णनं नाम चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ।

॥ अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

ज्येष्ठेश्वरस्य परितो यानि लिङ्गानि कुम्भज ।
तानि पञ्चसहस्राणि मुनीनां सिद्धिदान्यलम् ॥ १ ।
पराशरेश्वरं लिङ्गं ज्येष्ठेशादुत्तरे महत् ।
तस्य दर्शनमात्रेण निर्मलं ज्ञानमाप्यते ॥ २ ।
तत्रैव सिद्धिदं लिङ्गं माण्डव्येश्वरसंज्ञितम् ।
न तस्य दर्शनाज्जातु दुर्बुद्धिं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३ ।
लिङ्गं च शङ्करेशाख्यं तत्रैव शुभदं सदा ।
भृगुनारायणस्तत्र भक्तानां सर्वसिद्धिदः ॥ ४ ।
जाबालीश्वरसंज्ञं च लिङ्गं तत्रातिसिद्धिदम् ।
तस्य संदर्शनाज्जातु न जन्तुर्दुर्गतिं व्रजेत् ॥ ५ ।
सुमन्तु मुनिना श्रेष्ठस्तत्रादित्यः प्रतिष्ठितः ।
तस्य संदर्शनादेव कुष्ठव्याधिः प्रशाम्यति ॥ ६ ।

पराशरेश्वरादीनां कन्दुकेशादिसंयुजाम् ।
पञ्चषष्टितमेऽध्याये महिमा वर्ण्यतेऽद्भुतः ॥ १ ।

(कन्दुकेश्वर और व्याघ्रेश्वर की कथा एवं अन्य बहुतेरे लिंगों का वर्णन)

स्कन्द ने कहा–

हे कुम्भसंभव ! ज्येष्ठेश्वर की चारों ओर पाँच सहस्र शिवलिंग हैं, वे सब मुनियों के बड़े ही सिद्धिदायक हैं ॥ १ ।

पराशरेश्वर नामक एक महालिंग ज्येष्ठेश्वर के उत्तर भाग में विराजमान है, उसके केवल दर्शन से ही निर्मल ज्ञान पाया जाता है ॥ २ ।

उसी स्थान पर एक माण्डव्येश्वर नामक दूसरा लिंग भी है, उसके दर्शन से मनुष्य को दुर्बुद्धि कभी नहीं होने पाती ॥ ३ ।

वहीं पर सदैव शुभदायक **शंकरेश्वर** लिंग है, जिसके समीप में ही भक्तों के सर्वसिद्धिदायक **भृगुनारायण** सुशोभित रहते हैं ॥ ४ ।

उसी स्थल में अतिसिद्धिप्रद एक **जाबालीश्वर** नामक लिंग है, उसके दर्शनमात्र से मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता ॥ ५ ।

वहीं सुमन्तु ऋषि द्वारा स्थापित एक प्रधान आदित्य भगवान् हैं, उनका दर्शन करते ही कुष्ठ की व्याधि का प्रशमन हो जाता है ॥ ६ ।

भैरवी भीषणा नाम तत्र भीषणरूपिणी ।
क्षेत्रस्य भीषणं सर्वं नाशयेद् भावतोऽर्चिता ॥ ७ ।
तत्रोपजंघने लिङ्गं कर्मबन्धविमोक्षणम् ।
नृभिः संसेवितं भक्त्या षण्मासात्सिद्धिदं परम् ॥ ८ ।
भारद्वाजेश्वरं लिङ्गं लिङ्गं माद्रीश्वरं वरम् ।
एकत्र संस्थिते द्वे तु द्रष्टव्ये सुकृतात्मना ॥ ९ ।
अरुणिस्थापितं लिङ्गं तत्रैव कलशोद्भव ।
तस्य लिङ्गस्य सेवातः सर्वामृद्धिमवाप्नुयात् ॥ १० ।
लिङ्गं वाजसनेयाख्यं तत्रास्त्यतिमनोहरम् ।
तस्य संदर्शनात्पुंसां वाजपेयफलं भवेत् ॥ ११ ।
कण्वेश्वरं शुभं लिङ्गं लिङ्गं कात्यायनेश्वरम् ।
वामदेवेश्वरं लिङ्गमौतथ्येश्वरमेव च ॥ १२ ।
हारीतेश्वरसंज्ञं च लिङ्गं वै गालवेश्वरम् ।
कुम्भेर्लिङ्गं महापुण्यं तथा वै कौसुमेश्वरम् ॥ १३ ।
अग्निवर्णेश्वरं चैव नैध्रुवेश्वरमेव च ।
वत्सेश्वरं महालिङ्गं पर्णादेश्वरमेव च ॥ १४ ।
सक्तुप्रस्थेश्वरं लिङ्गं कणादेशं तथैव च ।
अन्यत्तत्र महालिङ्गं माण्डूकाय निरूपितम् ॥ १५ ।

लिङ्गं माद्रीश्वरमिति । झिण्टीश्वरमिति क्वचित् । आदीश्वरमिति चान्यत्र ॥ ९ ।

निरूपितं स्थापितम् ॥ १५ ।

और वहीं पर भीषणरूपिणी भीषणा नाम भैरवी हैं । भक्तिभाव से उनकी पूजा करने से वह क्षेत्र के समस्त भय को दूर कर देती हैं ॥ ७ ।

उसी स्थान के समीप में ही एक कर्मबन्धविमोक्षक लिंग है, वह मनुष्यों के छः मास पर्यन्त सेवन करने ही से परमसिद्धि को दे देता है ॥ ८ ।

वहाँ एक ही स्थान में भरद्वाजेश्वर लिंग और माद्रीश्वर लिंग हैं । दोनों भी वहीं विद्यमान हैं, पुण्यात्मा जन को ही उनका दर्शन प्राप्त होता है ॥ ९ ।

हे अगस्त्य ! वहीं पर एक अरुण का स्थापित लिंग है, जिसकी सेवा से सब समृद्धियाँ मिल जाती हैं ॥ १० ।

वहाँ पर वाजसनेय नामक एक बड़ा ही मनोहर लिंग है, उसके दर्शन करने ही से लोगों को वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है ॥ ११ ।

यों ही कण्वेश्वर, कात्यायनेश्वर, वामदेवेश्वर, तथ्येश्वर, हारीतेश्वर, गालवेश्वर, कुंभेश्वर, कौसु(थु)मेश्वर, अग्निवर्णेश्वर, नैध्रुवेश्वर, वत्सेश्वर, पर्णादेश्वर, सक्तुप्रस्थेश्वर,

बाभ्रवेयेश्वरं लिङ्गं शिलावृत्तीश्वरं तथा ।
च्यवनेश्वर लिङ्गं च शालंकायनकेश्वरम् ॥ १६ ।
कलिन्दमेश्वरं लिङ्गं लिङ्गमक्रोधनेश्वरम् ।
लिङ्गं कपोतवृत्तीशं कङ्केशं कुन्तलेश्वरम् ॥ १७ ।
कण्ठेश्वरं कहोलेशं लिङ्गं तुम्बुरुपूजितम् ।
मतङ्गेशं मरुत्तेशं मगधेयेश्वरं तथा ॥ १८ ।
जातूकर्णेश्वरं लिङ्गं जम्बुकेश्वरमेव च ।
जारुधीशं जलेशं च जाल्मेशं जालकेश्वरम् ॥ १९ ।
एवमादीनि लिङ्गानि अयुतार्धानि कुम्भज ।
स्मरणाद्दर्शनात्स्पर्शादर्चनान्नमनात्स्तुतेः ॥ २० ।
न जातु जायते जन्तोः कलुषस्य समुद्भवः ।
एतेषां शुभलिङ्गानां ज्येष्ठस्थानेऽतिपावने ॥ २१ ।

स्कन्द उवाच—

एकदा तत्र यद्वृत्तं ज्येष्ठस्थाने महामुने ।
तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणुष्वाऽघविनाशनम् ॥ २२ ।

स्मरणादित्यादीनां पञ्चम्यन्तानामेतेषां शुभलिङ्गानामिति द्वितीयेनाऽन्वयः ॥ २० ।

कणादेश्वर, मांडूकेश्वर लिङ्ग हैं । वैसे ही बाभ्रवेश्वर, शिलावृत्तीश्वर, च्यवनेश्वर, शालंकायनेश्वर भी हैं ॥ ११-१६ ।

कलिंदमेश्वर, अक्रोधनेश्वर, कपोतवृत्तीश्वर, कंकेश्वर, कुन्तलेश्वर, कंठेश्वर, कहोलेश्वर, तुंबुर्वीश्वर, मतंगेश्वर, मरुत्तेश्वर, मगधेश्वर, जातूकर्णेश्वर, जंबुकेश्वर, जारुधीश्वर, जलेश्वर, जाल्मेश्वर, जालकेश्वर प्रभृति पाँच सहस्र शिव के लिंग विराजमान हैं । अत्यन्त पावन ज्येष्ठ स्थान में इन सब शुभप्रद लिंगों के दर्शन, स्पर्शन, पूजन, प्राणायाम, प्रणमन और स्तवन करने से पाप कदापि किसी प्राणी को नहीं छू सकता है ॥ १७-२१ ।

स्कन्द बोले—

हे कुंभज ! महर्षे ! परम पवित्र ज्येष्ठ स्थान में एक बार जो घटना हो गई थी, उसे मैं तुमसे कहता हूँ, उस पापनाशक चरित्र का श्रवण करो ॥ २२ ।

स्वैरं विहरतस्तत्र ज्येष्ठस्थाने महेशितुः ।
कौतुकेनैव चिक्रीड शिवा कन्दुकलीलया ॥ २३ ।
उदञ्चन्यञ्चदङ्गानां लाघवं परितन्वती ।
निःश्वासामोदमुदितभ्रमराकुलितेक्षणा ॥ २४ ।
भ्रश्यद्धम्मिल्लसन्माल्यस्थपुटीकृतभूमिका ।
स्विद्यत्कपोलपत्राली स्रवदम्बुकणोज्ज्वला ॥ २५ ।
फुटच्चोलांशुकपथनिर्यदङ्गप्रभावृता ।
उल्लसत्कन्दुकास्फालातिशोणितकराम्बुजा ॥ २६ ।

स्वैरमिति । महेशितुः शिवा शक्तिरूपा पार्वतीत्यर्थः । कन्दुकलीलया गेन्दुकक्रीडया । चिक्रीड विहृतवतीत्यर्थः ॥ २३ ।

किं कुर्वती ? उदूर्ध्वमञ्चंति गच्छन्तीत्युदञ्चन्ति अधोऽञ्चन्तीति न्यञ्चन्ति उदञ्चन्ति च तानि न्यञ्चन्ति चेत्युदञ्चन्न्यञ्चन्ति च तानि अङ्गानि चेति उदञ्चन्न्यञ्चदङ्गानि तेषां लाघवं लघुत्वं लघिमानं परितन्वती परितो विस्तारयन्ती । मृडानी विदलोत्पलाभ्यां दानवाभ्यां ददृशे इति पञ्चमेनाऽन्वयः । मृडानीं विशिनष्टि । **निःश्वासेति त्रयेण** । निःश्वासामोदेन मिलितैर्भ्रमरैराकुलिते ईक्षणे यस्याः सा ॥ २४ ।

भ्रश्यद्भिर्धम्मिल्लसन्माल्यैः स्थपुटीकृता आच्छादिता भूमिर्यया सा तथा । स्विद्यद्भ्यां स्वेदमुद्गिरद्भ्यां कपोलाभ्यां पत्राल्या स्रवद्भिरम्बुकणैरुज्ज्वला देदीप्यमाना ॥ २५ ।

स्फुटतोः संचलतोश्चोलांशुकयोः कञ्चुकपरिधानवस्त्रयोरत्यन्तं सूक्ष्मयोः पन्थानश्छिद्राणि तेषु निर्यन्त्यो निर्गच्छन्त्यो या अङ्गप्रभासताभिरावृता व्याप्ता । उल्लसत ऊर्ध्वं गच्छतः कन्दुकस्य य आस्फालः स्फालनं करे पतनं तेनातिशोणितं कराम्बुजं यस्याः सा तथा ॥ २६ ।

वहाँ पर भगवान् महेश्वर स्वेच्छानुसार विहार कर रहे थे, और भगवती पार्वती कन्दुक (गेंद) खेल रही थीं ॥ २३ ।

उस घड़ी भगवती फैलते और सिकुड़ते हुए अपने अंगों की बड़ी लघुता प्रकाश करती हुई, अपने निःस्वास वायु के सुगन्ध से मुदित होकर आते हुए भौंरों पर घबड़ाहट की दृष्टि डालती हुई, अपने खुलते हुए केशपाश में गुँथी गईं मालाओं से उस भूमि को ढाँपती हुईं, पसीजते हुए कपोल पर की पत्रावली से निकलते स्वेद-बिन्दुओं से परम शोभायमान (होती हुईं) फटती हुई चोलिया के कपड़े के मार्ग से निकलती हुई अंगों की प्रभा से घिरी हुई थीं तथा ऊपर को फेंके हुए गेंद के लोकने से अपने करकमलों को अत्यन्त रक्तवर्ण बना रही थीं ॥ २४-२६ ।

कन्दुकानुगसद्दृष्टनर्तितभ्रूलताञ्चला ।
मृडानी किल खेलन्ती ददृशे जगदम्बिका ॥ २७ ।
अन्तरिक्षचराभ्यां च दितिजाभ्यां मनोहरा ।
कटाक्षिताभ्यामिव वै समुपस्थितमृत्युना ॥ २८ ।
विदलोत्पलसंज्ञाभ्यां दृप्ताभ्यां परतो विधेः ।
तृणीकृतत्रिजगती पुरुषाभ्यां स्वदोर्बलात् ॥ २९ ।
देवीं परिजिहीर्षू तौ विषमेषुप्रपीडितौ ।
दिवोऽवतेरतुः क्षिप्रं मायां स्वीकृत्य शाम्बरीम् ॥ ३० ।
धृत्वा पारषदीं मूर्तिमायातावम्बिकान्तिकम् ।
तावत्यन्तं सुदुर्वृत्तावतिचञ्चलमानसौ ॥ ३१ ।
सर्वज्ञेन परिज्ञातौ चाञ्चल्याल्लोचनोद्भवात् ।
कटाक्षिताऽथ देवेन दुर्गा दुर्गारिघातिनी ॥ ३२ ।
विज्ञाय नेत्रसंज्ञां तु सर्वज्ञार्धशरीरिणी ।
तेनैव कन्दुकेनाऽथ युगपन्निजघान तौ ॥ ३३ ।

कन्दुकानुगाया सती दृष्टिस्तया नर्तितं भ्रूलताया अञ्चलं प्रान्तभागो यया सा ॥ २७ !

विषमेषुः कामः ॥ ३० ।

गेंदे पर दृष्टि डालते रहने के कारण अपनी भ्रूलता के कोनों को घुमाती हुईं जगज्जननी भगवती भवानी इसी रीति से खेलती हुई दिखलाई पड़ती थीं ॥ २७ ।

उसी समय पर ब्रह्मा के वरदान से त्रैलोक्य भर के पुरुषों को तृण के समान समझने वाले, अपने भुजबल से दर्पित, आकाशचारी, विदल और उत्पल नामक दो दैत्य मानो मृत्यु के उपस्थित हो जाने ही से परमसुन्दरी देवी को देखते ही कामबाण से पीड़ित होकर उनको हर ले जाने की इच्छा करते हुए शाम्बरी माया को धारण कर तुरन्त ही गगनमंडल से नीचे उतर पड़े ॥ २८-३० ।

और वे दोनों परमचंचलचित्त दुराचारी दानव पार्षदों का रूप बनाकर अम्बिका के पास चले गये ॥ ३१ ॥

तब सर्वज्ञ भगवान् ने उन दोनों को उनकी आँखों की चुलबुलाहट से ही पहचान कर दुर्गासुरघातिनी भगवती दुर्गा देवी को नेत्रों के ही फेरफार से समझा दिया ॥ ३२ ।

बंस फिर क्या था, सर्वज्ञ की अर्धांगिनी देवी ने भगवान् शिव की नेत्रचेष्टा को समझकर तुरन्त ही उसी गेंद से एक साथ ही उन दोनों दैत्यों को मारा ॥ ३३ ।

महाबलौ महादेव्या कन्दुकेन समाहतौ ।
परिभ्रम्य परिभ्रम्य तौ दुष्टौ विनिपेततुः ॥ ३४ ।
वृन्तादिव फले पक्वे तालादनिललोलिते ।
दम्भोलिना परिहते शृङ्गे इव महागिरेः ॥ ३५ ।
तौ निपात्य महादैत्यावकार्यकरणोद्यतौ ।
ततः परिणतिं यातो लिङ्गरूपेण कन्दुकः ॥ ३६ ।
कन्दुकेश्वरसंज्ञं च तल्लिङ्गमभवत्तदा ।
ज्येष्ठेश्वरसमीपे तु सर्वदुष्टनिवारणम् ॥ ३७ ।
कन्दुकेशसमुत्पत्तिं यः श्रोष्यति मुदान्वितः ।
पूजयिष्यति यो भक्तस्तस्य दुःखभयं कुतः ॥ ३८ ।
कन्दुकेश्वरभक्तानां मानवानां निरेनसाम् ।
योगक्षेमं सदा कुर्याद् भवानी भयनाशिनी ॥ ३९ ।
मृडानी तस्य लिङ्गस्य पूजां कुर्यात्सदैव हि ।
तत्रैव देव्याः सान्निध्यं पार्वत्या भक्तसिद्धिदम् ॥ ४० ।

वृन्तात्प्रसवबन्धनात् । फले तालफले । दम्भोलिना वज्रेण ॥ ३५ ।

महाबली महामाया के क्रीड़ा-कन्दुक की चोट से घायल होते ही वे दोनों दैत्य चक्कर खा-खाकर, डाली से पके हुए फल के समान और वायु के झोंके से ताड़ के फल की तरह एवं वज्र की चोट से टूटते हुए महापर्वत के श्रृंग के तुल्य गिर पड़े ॥ ३४-३५ ।

इसके अनंतर कुकर्म करने को उद्यत उन दोनों दुष्ट दैत्यों को मार कर वह गेंद लिंगरूप में परिणत हो गया ॥ ३६ ।

तब से ज्येष्ठेश्वर के समीप में समस्त दुष्टों का निवारक वह लिंग कन्दुकेश्वर नाम से प्रसिद्ध है ॥ ३७ ।

जो कोई कन्दुकेश्वर की इस उत्पत्ति को सुनेगा और प्रसन्न मन से उनका पूजन करेगा, उसे पुनः किसी भी दुःख का भय कहाँ है ? ॥ ३८ ।

समस्त भयनाशिनी स्वयं भवानी ही कन्दुकेश्वर के निष्पाप भक्तलोगों का सदैव योगक्षेम करती रहती हैं ॥ ३९ ।

पार्वती देवी प्रतिदिन उस लिंग की पूजा करती हैं और वहाँ पर वर्तमान रहकर भक्तलोगों को सिद्धि का दान करती हैं ? ॥ ४० ।

कन्दुकेशं महालिङ्गं काश्यां यैर्न समर्चितम् ।
कथं तेषां भवानीशौ स्यातां सर्वेप्सितप्रदौ ॥ ४१ ॥
द्रष्टव्यं च प्रयत्नेन तल्लिङ्गं कन्दुकेश्वरम् ।
सर्वोपसर्गसंघातविघातकरणं परम् ॥ ४२ ॥
कन्दुकेश्वरनामाऽपि श्रुत्वा वृजिनसन्ततिः ।
क्षिप्रं क्षयमवाप्नोति तमः प्राप्योष्णगुं यथा ॥ ४३ ॥

स्कन्द उवाच–

संशृणुष्व महाभाग ज्येष्ठेश्वरसमीपतः ।
यद्वृत्तान्तमभूद्विप्र परमाश्चर्यकृद्ध्रुवम् ॥ ४४ ॥
दण्डखाते महातीर्थे देवर्षिपितृतृप्तिदे ।
तप्यमानेषु विप्रेषु निष्कामं परमं तपः ॥ ४५ ॥
दैत्यो दुन्दुभिनिर्ह्रादो दुष्टः प्रह्लादमातुलः ।
देवाः कथं सुजेयाः स्युरित्युपायमचिन्तयत् ॥ ४६ ॥
किं बलाश्च किमाहाराः किमाधारा हि देवताः ।
विचार्य बहुशो दैत्यस्तत्त्वं विज्ञाय निश्चितम् ॥ ४७ ॥

दुन्दुभेरिव निर्ह्रादः शब्दो यस्य स दुन्दुभिनिर्ह्रादः, एतन्नामा ॥ ४६ ।

जिन लोगों ने कन्दुकेश्वर नामक महालिंग की यदि पूजा ही नहीं की, तो भला शिव और पार्वती उन सबके अभीष्ट फल को कैसे दे सकते हैं ॥ ४१ ।

समग्र उपसर्गों की राशि के परमविनाशक कन्दुकेश्वर लिंग का दर्शन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए ॥ ४२ ।

कन्दुकेश्वर का नाम सुनते ही पापपुंज ऐसे शीघ्र क्षय होने लगते हैं, जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार विलाय (विलीन हो) जाता है ॥ ४३ ।

स्कन्द ने कहा–

हे महाभाग ! विप्रवर ! ज्येष्ठेश्वर के पास में जो एक बड़ी ही आश्चर्यजनक घटना हो चुकी है, उसे सुनो ॥ ४४ ।

(पूर्व काल में) देवता, ऋषि और पितरों के तृप्तिप्रद दंडखात महातीर्थ पर एक समय ब्राह्मण लोग निष्काम होकर घोर तपस्या कर रहे थे ॥ ४५ ।

उस घड़ी (समय) प्रह्लाद का मामा, दुन्दुभिनिर्ह्राद नामक एक दुष्ट दैत्य मन ही मन यह उपाय सोचने लगा कि, देवता लोग कैसे जीते जा सकते हैं ॥ ४६ ।

उस सबको किसका बल है ? वे क्या भोजन करते हैं ? किसके आधार (सहारा) पर चलते हैं ? इस प्रकार से बहुत बार विचार करके उस दैत्य ने यही

अवश्यमग्रजन्मानो हेतवोऽत्र विचारतः ।
ब्राह्मणान् हन्तुमसकृत् कृतवानुद्यमं ततः ॥ ४८ ॥
यतः क्रतुभुजो देवाः क्रतवो वेदसम्भवाः ।
ते वेदा ब्राह्मणाधीनास्ततो देवबलं द्विजाः ॥ ४९ ॥
निश्चितं ब्राह्मणाधाराः सर्वे वेदाः सवासवाः ।
गीर्वाणा ब्राह्मणबला नात्र कार्या विचारणा ॥ ५० ॥
ब्राह्मणा यदि नष्टाः स्युर्वेदा नष्टास्ततः स्वयम् ।
आम्नायेषु प्रणष्टेषु विनष्टाः शततन्तवः ॥ ५१ ॥
यज्ञेषु नाशं गच्छत्सु हृताहारास्ततः सुराः ।
निर्बलाः सुखजेयाः स्युर्जितेषु त्रिदशेष्वथ ॥ ५२ ॥
अहमेव भविष्यामि मान्यस्त्रिजगतीपतिः ।
आहरिष्यामि देवानामक्षयाः सर्वसम्पदः ॥ ५३ ॥
निर्वेक्ष्यामि सुखान्येव राज्ये निहतकण्टके ।
इति निश्चित्य दुर्बुद्धिः पुनश्चिन्तितवान् मुने ॥ ५४ ॥

शततन्तवो यागाः ॥ ५१ ।

निश्चय किया कि विचार करने से तो ब्राह्मण लोग ही इन बातों के अवश्यमेव कारण हैं, फिर तो वह बारम्बार ब्राह्मणों के ही सर्वनाश करने का उद्योग करने लगा ॥ ४७-४८ ।

उसने सोचा कि देवताओं को भोजन यज्ञ से ही मिलता है, और सभी यज्ञ वेद से ही निकले हैं, फिर वेद भी इन्हीं ब्राह्मणों के ही अधीन हैं, अतएव देवताओं के बल केवल ब्राह्मणलोग ही हैं ॥ ४९ ।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि सब वेदों का आधार और इन्द्रादिक देवताओं का बल ब्राह्मणों को छोड़ दूसरा कोई नहीं हो सकता ॥ ५० ।

तब यदि ब्राह्मणों का नाश कर डालूँ तो वेद आप ही नहीं रह सकते एवं वेद के लुप्त होते ही समस्त यज्ञ विनष्ट हो जायेंगे ॥ ५१ ।

फिर जहाँ यज्ञों का होना बन्द हुआ, तहाँ तो आहारहीन हो जाने से निर्बल देवतालोग सुख से जीत लिये जा सकते हैं, फिर तो देवताओं को जीत लेने पर मैं ही त्रैलोक्य भर का स्वामी बनकर सब लोगों का मान्य हो जाऊँगा और देवताओ की अनन्त समग्र सम्पत्तियाँ भी लूट लाऊँगा ॥ ५२-५३ ।

फिर तो निष्कंटक राज्य में मैं ही सुखों का भोग करूँगा । हे मुने ! वह दुर्बुद्धि दैत्य, यों ही (मनमानी बातें) स्थिर करके फिर यह सोचने लगा ॥ ५४ ।

द्विजाः क्व सन्ति भूयांसो ब्रह्मतेजोऽतिबृंहिताः ।
श्रुत्यध्ययनसम्पन्नास्तपोबलसमन्विताः ॥ ५५ ।
भूयसां ब्राह्मणानां तु स्थानं वाराणसी भवेत् ।
तानादावुपसंहृत्य यामि तीर्थान्तरं ततः ॥ ५६ ।
यत्र यत्र हि तीर्थेषु यत्र यत्राश्रमेषु च ।
सन्ति सर्वेऽग्रजन्मानस्ते मयाद्याः समन्ततः ॥ ५७ ।
इति दुन्दुभिनिर्ह्लादो मतिं कृत्वा कुलोचिताम् ।
प्राप्याऽपि काशीं दुर्वृत्तो मायावी न्यवधीद्द्विजान् ॥ ५८ ।
समित्कुशान् समादातुं यत्र यान्ति द्विजोत्तमाः ।
अरण्ये तत्र तान् सर्वान् स भक्षयति दुर्मतिः ॥ ५९ ।
यथा कोऽपि न वेत्त्येव तथाच्छन्नोऽभवत्पुनः ।
वने वनेचरो भूत्वा यादोरूपी जलाशये ॥ ६० ।
अदृश्यरूपी मायावी देवानामप्यगोचरः ।
दिवा ध्यानपरस्तिष्ठेन्मुनिवन्मुनिमध्यगः ॥ ६१ ।

अद्या भक्ष्याः ॥ ५७ ।

इतीति । काशीं प्राप्य सर्वभूतरक्षैवोचिताऽयं तु काशीं प्राप्याऽपि द्विजानवधी-दित्यपिशब्दार्थः । तत्र हेतुद्वयमाह । मतिं कृत्वा कुलोचितां दुर्वृत्त इति च ॥ ५८ ।

यादोरूपी कुम्भीरादिरूपी ॥ ६० ।

उसने विचारा कि ब्रह्मतेज से परिपूर्ण वेद के अध्ययन में तत्पर और तपोबलशाली बहुत से ब्राह्मण कहाँ रहते हैं ? ॥ ५५ ।

जान पड़ता है, वाराणसी बहुतेरे ब्राह्मणों के रहने का स्थान है । अतः पहले वहीं के ब्राह्मणों का संहार करके तब दूसरे तीर्थ में चलूँ ॥ ५६ ।

जिन-जिन तीर्थों में अथवा जिन-जिन आश्रमों में ब्राह्मण हों, उन सब को मैं चारों ओर से खा डालूँ ॥ ५७ ।

इस भाँति से वह दुराचारी और मायावी दुन्दुभिनिर्ह्लाद अपने कुलोचित बुद्धि को दृढ़ करके काशी में पहुँचकर ब्राह्मणों को मारने लगा ॥ ५८ ।

ब्राह्मणलोग समिधा और कुश लाने के लिये जहाँ जंगल में गये, वहीं पर वह दुष्ट उन सबको खा डालता था ॥ ५९ ।

जिसमें कोई भी उसे जान न सके, ऐसा छिपकर वन में वनचर और जलाशय में जलचर बनकर, वह मायावी अदृश्यरूपी होकर देवताओं से भी गुप्त रहता था । वह दिन में मुनियों के बीच में रहकर उन्हीं लोगों की तरह ध्याननिष्ठ बन बैठता था ॥ ६०-६१ ।

प्रवेशमुटजानां च निर्गमं च विलोकयन् ।
यामिन्यां व्याघ्ररूपेण ब्राह्मणान् भक्षयेद् बहून् ॥ ६२ ।
निःशब्दमेव नयति न त्यजेदपि कीकसम् ।
इत्थं निपातिता विप्रास्तेन दुष्टेन भूरिशः ॥ ६३ ।
एकदा शिवरात्रौ तु भक्तस्त्वेको निजोटजे ।
सपर्यां देवदेवस्य कृत्वा ध्यानस्थितोऽभवत् ॥ ६४ ।
स च दुन्दुभिनिर्ह्रादो दैत्येन्द्रो बलदर्पितः ।
व्याघ्ररूपं समास्थाय तमादातुं मतिं दधे ॥ ६५ ।
तं भक्तं ध्यानमापन्नं दृढचित्तं शिवेक्षणे ।
कृतास्त्रमन्त्रविन्यासं तं क्रान्तुमशकन्न सः ॥ ६६ ।
अथ सर्वगतः शम्भुर्ज्ञात्वा तस्याशयं हरः ।
दैत्यस्य दुष्टरूपस्य वधाय विदधे धियम् ॥ ६७ ।

प्रवेशं निर्गमं च स्वात्मनः । उटजानां चेति चकारेण मठादयो गृह्यन्ते ॥ ६२ ।

कीकसम् अस्थि ॥ ६३ ।

एको मुख्यः ॥ ६४ ।

कृतोऽस्त्रमन्त्रेण "अस्त्राय फट्" इति मन्त्रेण अस्त्ररूपेण मन्त्रेण वा न्यासो येन तं कृतास्त्रमन्त्रविन्यासम् ॥ ६६ ।

पर रात में उनकी कुटियों से निकलने-पैठने के मार्ग को देखता हुआ बाघ का रूप बनाकर बहुत से ब्राह्मणों को खा डालता था ॥ ६२ ।

वह गुपचुप ऐसा चबा लेता कि हड्डी तक भी नहीं छोड़ता था । इस प्रकार उस दुष्ट ने बहुतेरे विप्रों को मार डाला ॥ ६३ ।

एक बार कोई एक भक्त शिवरात्रि को अपनी पर्णकुटी में महादेव की पूजा करके ध्यान लगाकर बैठ गया ॥ ६४ ।

इसी में वह बलदर्पित दानवराज दुन्दुभिनिर्ह्राद बाघ का रूप धरकर उसे धर दबाने की इच्छा करने लगा ॥ ६५ ।

पर शिवदर्शन में दृढ़चित्त ध्याननिष्ठ उस भक्त को अस्त्ररूप मंत्र के विन्यास कर रखने से वह उस पर आक्रमण नहीं कर सका ॥ ६६ ।

इसके अनन्तर जगत् मात्र के रक्षामणि और भक्त की रक्षा करने में दक्षबुद्धि भगवान् त्रिलोचन शंभु ने सर्वान्तर्यामी होने से उस दुष्ट दैत्य के अभिप्राय को

यावदादित्सति व्याघ्रस्तावदाविरभूद्धरः ।
जगद्रक्षामणिस्त्र्यक्षो भक्तरक्षणदक्षधीः ॥ ६८ ।
रुद्रमायान्तमालोक्य तद्भक्तार्चितलिङ्गतः ।
दैत्यस्तेनैव रूपेण ववृधे भूधरोपमः ॥ ६९ ।
सावज्ञमथ सर्वज्ञं यावत्पश्यति दानवः ।
तावदायान्तमादाय कक्षायन्त्रे न्यपीडयत् ॥ ७० ।
पञ्चास्यः त्वथ पञ्चास्यं मुष्ट्या मूर्धन्यताडयत् ।
स च तेनैव रूपेण कक्षानिष्पेषणेन च ॥ ७१ ।
अत्यार्तमरटद् व्याघ्रो रोदसी परिपूरयन् ।
तेन नादेन सहसा सम्प्रवेपितमानसाः ॥ ७२ ।
तपोधनाः समाजग्मुर्निशि शब्दानुसारतः ।
तत्रेश्वरं समालोक्य कक्षीकृतमृगेश्वरम् ॥ ७३ ।

आदित्सति आदातुमिच्छति भक्तमिति शेषः ॥ ६८ ।

पञ्चास्यं व्याघ्रं मुखवत्करचरणा अप्यस्य नरतुरगादिविदारणसमर्था इति तैः सह पञ्चास्य इति व्युत्पत्तेः । स च तेनैव रूपेण व्याघ्ररूपेण अत्यार्तं यथा स्यात्तथा अरटच्छब्दं कृतवानित्यन्वयः । स तेन मुष्टिघातेनेति क्वचित् ॥ ७१ ।

समझकर उसका विनाश कर डालने की इच्छा से ज्यों ही वह बाघ उस भक्त को धरने (पकड़ने) के लिये लपका, त्यों ही भगवान् हर प्रकट हो गये ॥ ६७-६८ ।

तब तो उस भक्त के पूजित लिंग से निकलकर आते हुए रुद्रदेव को देखते ही वह दैत्य उसी व्याघ्ररूप से पर्वत के समान बढ़ चला ॥ ६९ ।

फिर तो ज्यों ही वह दानव अवज्ञापूर्वक सर्वज्ञ को देखने लगा, त्यों ही महादेव ने आते हुए उसे पकड़ अपनी काँख में दबाकर पीस डाला ॥ ७० ।

और फिर भगवान् पंचानन ने उस पंचानन के शिर पर एक ऐसा मुक्का मारा कि उसने उसी रूप से काँख में पिस जाने के कारण बड़े आर्तस्वर से (चिग्घार मारकर) आकाश और भूमंडल को भरपूर कर दिया । तब सहसा उस (भयंकर) चीत्कार के सुनने से कंपित-हृदय होकर, तपोधन लोग रात्रिकाल में उसी शब्द का अनुसरण करते हुए वहाँ जा पहुँचे और काँख में व्याघ्र (दुन्दुभिनिर्ह्राद दैत्य)को दबाये हुए परमेश्वर को देखा ॥ ७१-७३ ।

तुष्टुवुः प्रणताः सर्वे शर्वं जयजयाक्षरैः ।
परित्राता जगत्त्रातः प्रत्यूहाद्दारुणादितः ॥ ७४ ।
अनुग्रहं कुरुष्वेश तिष्ठाऽत्रैव जगद्गुरो ।
अनेनैव हि रूपेण व्याघ्रेश इति नामतः ॥ ७५ ।
कुरु रक्षां महादेव ज्येष्ठस्थानस्य सर्वदा ।
अन्येभ्योऽप्युपसर्गेभ्यो रक्ष नस्तीर्थवासिनः ॥ ७६ ।
इति श्रुत्वा वचस्तेषां देवश्चन्द्रविभूषणः ।
तथेत्युक्त्वा पुनः प्राह शृणुध्वं द्विजपुङ्गवाः ॥ ७७ ।
यो मामनेन रूपेण द्रक्ष्यति श्रद्धयाऽत्र वै ।
तस्योपसर्गसंघातं घातयिष्याम्यसंशयम् ॥ ७८ ।
एतल्लिङ्गं समभ्यर्च्य यो याति पथि मानवः ।
चौरव्याघ्रादिसंभूतं भयं तस्य कुतो भवेत् ॥ ७९ ।
मच्चरित्रमिदं श्रुत्वां स्मृत्वा लिङ्गमिदं हृदि ।
संग्रामे प्रविशन्मर्त्यो जयमाप्नोति नाऽन्यथा ॥ ८० ।

प्रत्यूहान्मृत्योः ॥ ७४ ।
नोऽस्मान् ॥ ७६ ।

तब सब लोग प्रणामपूर्वक भगवान् पंचानन की जयजयकार के साथ स्तुति करते हुए कहने लगे—हे जगरक्षक ! आप ही ने इस दारुण दुःख से हम लोगों को बचाया है ॥ ७४ ।

हे नाथ ! आप अनुग्रह करें, हे जगद्गुरो ! इसी रूप से आप यहाँ पर निवास करें और हे महादेव ! आप व्याघ्रेश्वर नाम से इस ज्येष्ठस्थान की सर्वदा रक्षा करते रहें । दूसरे और सब विघ्नों से भी हम सब तीर्थवासियों को बचावें ॥ ७५-७६ ।

चन्द्रभूषण महादेव ने उन लोगों की बात सुनकर तथास्तु कहा और पुनः बोले—हे द्विजोत्तम लोग ! सुनो ॥ ७७ ।

जो कोई यहाँ पर श्रद्धापूर्वक इसी रूप का दर्शन करेगा, निःसन्देह मैं उसके समस्त उपद्रवों को दूर करूँगा ॥ ७८ ।

जो मनुष्य इस लिंग का पूजन करके यात्रा करेगा, उसे मार्ग में चोर अथवा बाघ इत्यादि से कभी डर नहीं रहेगा ॥ ७९ ।

जो पुरुष मेरे इस चरित्र को सुनकर और हृदय में मेरे इस लिंग को सुमिर कर (स्मरण करते हुए) संग्राम में प्रवेश करेगा, उसे विजय प्राप्त होगी—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ८० ।

इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तस्मिँल्लिङ्गे लयं ययौ ।
सविस्मयास्ततो विप्राः प्रातर्याता यथागतम् ॥ ८१ ।

स्कन्द उवाच–

तदाप्रभृति कुम्भोत्थ लिङ्गं व्याघ्रेश्वराभिधम् ।
ज्येष्ठेशादुत्तरे भागे दृष्टं स्पृष्टं भयापहम् ॥ ८२ ।
व्याघ्रेश्वरस्य ये भक्तास्तेभ्यो बिभ्यति किङ्कराः ।
यामा अपि महाक्रूरा जय जीवेतिवादिनः ॥ ८३ ।
पराशरेश्वरादीनां लिङ्गानामिह संभवम् ।
श्रुत्वा नरो न लिप्येत महापातककर्दमैः ॥ ८४ ।
कन्दुकेशसमुत्पत्तिं व्याघ्रेशाविर्भवं तथा ।
समाकर्ण्य नरो जातु नोपसर्गैः प्रदूयते ॥ ८५ ।

किङ्करा यमदूताः । यामा देवविशेषा गणा वा ॥ ८३ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ।

ऐसा कहने के अनन्तर महादेव उसी लिंग में लीन हो गये । ब्राह्मणलोग प्रातःकाल अपने-अपने स्थान को चले गये ॥ ८१ ।

स्कन्द ने कहा–

हे अगस्त्य ! तभी से वह लिंग **व्याघ्रेश्वर** नाम से विख्यात हुआ, ज्येष्ठेश्वर के उत्तरभाग में उसके दर्शन और स्पर्शन करने से सब भय छूट जाते हैं ॥ ८२ ।

जो लोग व्याघ्रेश्वर के भक्त हैं, उनसे यमराज के बड़े क्रूर किंकर लोग भी जयजीव कहते हुए डरते ही रहते हैं ॥ ८३ ।

इन सब **पराशरेश्वर** इत्यादि लिंगों की कथा सुनने से कोई मनुष्य महापापरूप कीचड़ में नहीं लिपटता ॥ ८४ ।

कन्दुकेश्वर की उत्पत्ति और **व्याघ्रेश्वर** का अविर्भाव सुनने से मानव कभी किसी भी उपद्रव में नहीं पड़ता ॥ ८५ ।

उटजेश्वरलिङ्गं तु व्याघ्रेशात् पश्चिमे स्थितम् ।
भक्तरक्षार्थमुद्भूतं स्यात्समभ्यर्च्य निर्भयः ॥ ८६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे पराशरेश्वरादिकन्दुकेशव्याघ्रेश्वरादि-लिङ्गसम्भवो नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ।

व्याघ्रेश्वर के पश्चिम ओर उटजेश्वर नामक लिंग विराजमान है, जो भक्तों की रक्षा के लिये प्रकट हुआ था । उसकी पूजा करने से कोई भय नहीं रह जाता ॥ ८६ ।

एक बाघ पाषान को, टूटे फूटे रूप ।
है गुफा के पास में, बघवा वीर अनूप ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां कन्दुकेश्वर-व्याघ्रेश्वरादिलिङ्गवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ।

॥ अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच—

ज्येष्ठेश्वरस्य परितो लिङ्गान्यन्यानि यानि तु ।
तानि ते कथयिष्यामि शृणु वातापितापन ॥ १ ।
ज्येष्ठेशाद्दक्षिणे भागे लिङ्गमप्सरसां शुभम् ।
तत्रैवाऽप्सरसः कूपः सौभाग्योदकसंज्ञकः ॥ २ ।
तत्कूपजलसुस्नातो विलोक्याऽप्सरसेश्वरम् ।
न दौर्भाग्यमवाप्नोति नारी वा पुरुषोऽथ वा ॥ ३ ।
तत्रैव कुक्कुटेशाख्यं लिङ्गं वापीसमीपगम् ।
तस्य पूजनतः पुंसां कुटुम्बं परिवर्धते ॥ ४ ।

षड्भिः षष्टितमेऽध्याये सर्वाश्चर्यमनोहरे ।
शैलेश्वरादिलिङ्गानां निर्णीतिर्वर्ण्यते स्फुटा ॥ १ ।

ज्येष्ठेश्वरस्य परितो यानि लिङ्गानीत्युक्तं तत्राऽतीते अध्याये कानिचिदुक्त्वा अवशिष्टानि वक्तुं प्रक्रमते । ज्येष्ठेश्वरेति ॥ २।

अप्सरसेश्वरमित्यदन्तत्वमार्षम् ॥ ३ ।

(शैलेश्वरादि लिंगों की कथा)

स्कन्द कहने लगे—

हे वातापिनाशन ! ज्येष्ठेश्वर की चारों ओर जो-जो लिंग हैं, मैं उनको बताता हूँ, श्रवण करो ॥ १ ।

ज्येष्ठेश्वर के दक्षिण भाग में अप्सरालोगों द्वारा स्थापित एक उत्तम शिवलिंग है और वहाँ पर सौभाग्योदक नामक अप्सराकूप भी विद्यमान है ॥ २ ।

नर हो चाहे नारी हो, उस कूप में स्नान कर अप्सरेश्वर का दर्शन कर ले तो कभी दुर्भाग्य नहीं होने पाता ॥ ३ ।

उसी स्थान पर बावली के समीप ही में कुक्कुटेश्वर नामक लिंग विराजमान है, उसके पूजन से लोगों का कुटुम्ब बढ़ता है ।

दुष्ट स्वप्न फल मेटनहारे । कुक्कुटनाथ एक हैं न्यारे ।
दुर्गाकुंड समीप विराजैं । ग्रंथ प्रमाण बहुतविध छाजैं ॥ १ ।

यथा वा—

'वाराणस्यां दक्षिणे भागे कुक्कुटो नाम वै द्विजः ।
तस्य स्मरणमात्रेण दुःस्वप्नः सुस्वप्नो भवेत्' ॥ ४ ।

पितामहेश्वरं लिङ्गं ज्येष्ठवापीतटे शुभम् ।
तत्र श्राद्धं नरः कृत्वा पितृणां मुदमर्पयेत् ॥ ५ ।
पितामहेशान्नैर्ऋत्यां पूजनीयं प्रयत्नतः ।
गदाधरेश्वरं लिङ्गं पितृणां परितृप्तिदम् ॥ ६ ।
दिशि पुण्यजनाख्यायां लिङ्गाज्ज्येष्ठेश्वरान्मुने ।
वासुकीश्वरसंज्ञं च लिङ्गमर्च्यं समन्ततः ॥ ७ ।
तत्र वासुकिकुण्डे च स्नानदानादिकाः क्रियाः ।
सर्पभीतिहराः पुंसां वासुकीशप्रभावतः ॥ ८ ।
यः स्नातो नागपञ्चम्यां कुण्डे वासुकिसंज्ञिते ।
न तस्य विषसंसर्गो भवेत्सर्पसमुद्भवः ॥ ९ ।
कर्तव्या नागपञ्चम्यां यात्रा वर्षासु तत्र वै ।
नागाः प्रसन्ना जायन्ते कुले तस्यापि सर्वदा ॥ १० ।
तत्कुण्डात्पश्चिमे भागे लिङ्गं वै तक्षकेश्वरम् ।
पूजनीयं प्रयत्नेन भक्तानां सर्वसिद्धिदम् ॥ ११ ।
मुने तस्योत्तरे भागे कुण्डं तक्षकसंज्ञितम् ।
कृतोदकक्रियस्तत्र न सर्पैरभिभूयते ॥ १२ ।

ज्येष्ठ वापी के तट पर ही पितामहेश्वर नामक एक शुभप्रद लिंग है, मनुष्य वहाँ पर श्राद्ध करके पितरों को बड़ा ही हर्षित कर सकता है ॥ ५ ।

पितामहेश्वर से नैर्ऋत्य कोण पर गदाधरेश्वर नामक लिंग जो पितरों को बड़ा ही तृप्तिप्रद है, वह प्रयत्नपूर्वक पूजनीय है ॥ ६ ।

हे मुनिवर ! ज्येष्ठेश्वर लिंग की दक्षिण-दिशा में दूसरा एक वासुकीश्वर संज्ञक लिंग है, उसके दर्शन करने से तथा वहीं पर वासुकीकुंड में स्नान-दानादिक क्रिया संपादन करने से वासुकीश्वर के प्रभाव से लोगों का सर्पभयं दूर हो जाता है ॥ ७-८ ।

नागपंचमी के दिन वहाँ की यात्रा अवश्य करनी चाहिए; क्योंकि उस यात्रा के करने से नागलोग उसके कुल पर सर्वदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ९ ।

हे अगस्त्य ! उस नागकुंड की पश्चिम ओर भक्तों का सर्वसिद्धिप्रद तक्षकेश्वर लिंग भी परमपूजनीय हैं ॥ १० ।

जो कोई नागपंचमी के दिन वासुकिकुंड में नहाता, उसे है कभी साँप का विष नहीं चढ़ता ॥ ११ ।

एवं उस लिंग के उत्तरभाग में तक्षककुंड है, जहाँ पर उदकक्रिया के करने से सर्पभय नहीं रहता ॥ १२ ।

तत्कुण्डादुत्तरे भागे क्षेत्रक्षेमकरः सदा ।
भक्तानां साध्वसध्वंसी कपाली नाम भैरवः ॥ १३ ।
भैरवस्य महाक्षेत्रं तद्वै साधकसिद्धिदम् ।
तत्र संसाधिता विद्या षण्मासात्सिद्धिमाप्नुयुः ॥ १४ ।
तत्र चण्डी महामुण्डा भक्तविघ्नोपशान्तिदा ।
बलिपूजोपहाराद्यैः पूज्या स्वाभीष्टसिद्धये ॥ १५ ।
तस्या यात्रां तु यः कुर्यान्महाष्टम्यां नरोत्तमः ।
यशश्वी पुत्रपौत्राढ्यो लक्ष्मीवाँश्चापि जायते ॥ १६ ।
महामुण्डा प्रतीच्यां तु चतुःसागरवापिका ।
तस्यां स्नातो भवेत्स्नातः सागरेषु चतुर्ष्वपि ॥ १७ ।

महन्मुण्डं यस्याः सा । महातुण्डेति क्वचित् ॥ १५ ।

जैतपुरा के पास में, नागकुआँ है ख्यात[1] ।
नागपँचैयाँ पर्व पर, मेला तहँ लगि जात ॥
काशी के विद्वान् सब, नागकूप पर जाय ।
करैं सर्व शास्त्रार्थ तहँ, नागपंचमी पाय ॥ १२ ।

उस कुंड के उत्तरभाग में सदा क्षेत्र के क्षेमकर्ता और भक्तलोगों के भयहर्ता कपाली नाम भैरव विराजमान हैं ॥ १३ ।

वह भैरव का महाक्षेत्र साधक लोगों के लिये बड़ा ही सिद्धिप्रद है । यहाँ पर जो भी विद्या-मंत्र का साधन करे, वही एक मास में सिद्ध हो जाता है ॥ १४ ।

वहीं पर भक्तविघ्ननिवारिणी महामुंडा नाम चंडिका हैं । अपनी अभीष्टसिद्धि के लिये विविध बलि-पूजा आदि उपहारों से उनकी पूजा करनी चाहिए ॥ १५ ।

जो उत्तमजन महाष्टमी को वहाँ की यात्रा करता है, वह यशस्वी, पुत्र-पौत्र से पूर्ण तो होता ही है, साथ ही लक्ष्मीवान् भी होता है ॥ १६ ।

महामुंडा के पश्चिमप्रान्त में चतुःसागर वापी है, उसमें स्नान करने से चारों समुद्रों में स्नान करने का फल होता है ॥ १७ ।

---

1. किंवदन्ती के अनुसार यहीं पटान्तरित रहकर शेषावतार महर्षि पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' नामक व्याकरण-ग्रन्थ का निर्माण किया था ।

महाप्रसिद्धं तत्स्थानं चतुःसागरसंज्ञितम् ।
चत्वारि तत्र लिङ्गानि सागरैः स्थापितानि च ॥ १८ ।
तस्या वाप्याश्चतुर्दिक्षु पूजितानि दहन्त्यघम् ।
तदुत्तरे महालिङ्गं वृषभेश्वरसंज्ञितम् ॥ १९ ।
हरस्य वृषभेणैव स्थापितं तत्स्वभक्तितः ।
तस्य दर्शनतः पुंसां षण्मासान्मुक्तिरुद्भवेत् ॥ २० ।
वृषेश्वरादुदीच्यां तु गन्धर्वेश्वरसंज्ञितम् ।
गन्धर्वकुण्डं तत्प्राच्यां तत्र स्नात्वा नरोत्तमः ॥ २१ ।
गन्धेर्वेश्वरमभ्यर्च्य दत्वा दानानि शक्तितः ।
सन्तर्प्य पितृदेवांश्च गन्धर्वैः सह मोदते ॥ २२ ।
कर्कोटनामा नागोऽस्ति गन्धर्वेश्वरपूर्वतः ।
तत्र कर्कोटवापी च लिङ्गं कर्कोटकेश्वरम् ॥ २३ ।
तस्यां वाप्यां नरः स्नात्वा कर्कोटेशं समर्च्य च ।
कर्कोटनागमाराध्य नागलोके महीयते ॥ २४ ।
कर्कोटनागो यैर्दृष्टस्तद्वाप्यां विहितोदकैः ।
क्रमते न विषं तेषां देहे स्थावरजङ्गमम् ॥ २५ ।

वह स्थान चतुःसागर नाम से बड़ा ही प्रसिद्ध है और वहाँ पर चारों समुद्रों के स्थापित चार लिंग हैं ॥ १८ ।

उस बावली के चारों ओर उन चारों लिंगों की पूजा करने से वे सब समस्त पापों को भस्म कर डालते हैं। उससे भी उत्तर जाकर वृषभेश्वर नामक महालिंग है ॥ १९ ।

महादेव के ही वृषभ ने अपनी भक्ति से उसे स्थापित किया है, उसके दर्शन से लोगों को छः मास में ही मुक्तिलाभः हो जाता है ॥ २० ।

वृषभेश्वर से भी उत्तरभाग में गन्धर्वेश्वर लिंग है। उसके पूर्व में गन्धर्वकुंड है, जो न,रोत्तम उसमें नहाकर गन्धर्वेश्वर की पूजा करता है और शक्ति के अनुसार दान देता है एवं देवता-पितरों का तर्पण करता है, वह गन्धर्वलोगों के साथ आनन्द लूटता है ॥ २१-२२ ।

गन्धर्वेश्वर की पूर्व ओर कर्कोटक नाम नाग, कर्कोट वापी और कर्कोटकेश्वर लिंग विराजमान हैं ॥ २३ ।

जो मनुष्य उस वापी में स्नान, कर्कोटकेश्वर का पूजन और कर्कोटक नाग की आराधना करता है, वह नागलोक में पूजित होता है ॥ २४ ।

जो लोग उस बावली में स्नानादि क्रियाओं को कर कर्कोट नाग का दर्शन करते हैं, उनके शरीर में स्थावर अथवा जंगम कोई भी विष नहीं चढ़ता ॥ २५ ।

कर्कोटेशात्प्रतीच्यां तु धुन्धुमारीश्वराभिधम् ।
तल्लिङ्गाभ्यर्चनात्पुंसां न भवेद्वैरिजं भयम् ॥ २६ ।
पुरूरवेश्वरं लिङ्गं तदुदीच्यां व्यवस्थितम् ।
द्रष्टव्यं तत्प्रयत्नेन चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥ २७ ।
दिग्गजेनार्चितं लिङ्गं सुप्रतीकेन तत्पुरः ।
सुप्रतीकेश्वरं नाम्ना यशोबलविवर्धनम् ॥ २८ ।
सरश्च सुप्रतीकाख्यं तत्पुरो भासते महत् ।
तत्र स्नात्वा च तल्लिङ्गं दृष्ट्वा दिक्पतितां लभेत् ॥ २९ ।
तत्राऽस्त्येका महागौरी नाम्ना विजयभैरवी ।
रक्षार्थमुत्तरद्वारि स्थिता पूज्येष्टसिद्धये ॥ ३० ।
वरणायास्तटे रम्ये गणौ हुण्डनमुण्डनौ ।
क्षेत्ररक्षां विधत्तस्तौ विघ्नस्तम्भनकारकौ ॥ ३१ ।
तौ द्रष्टव्यौ प्रयत्नेन क्षेत्रनिर्विघ्नहेतवे ।
हुण्डनेशं मुण्डनेशं तत्र दृष्ट्वा सुखी भवेत् ॥ ३२ ।

पुरूरवेश्वरमिति सलोप आर्षः ॥ २७ ।

पूज्येष्टसिद्धये पूज्या पूजिता सती इष्टसिद्धये भवतीत्यर्थः ॥ ३० ।

हुण्डनेत्यत्र कुण्डनेति क्वचित् । विधत्तः कुरुत इत्यर्थः ॥ ३१ ।

कर्कोटकेश्वर के पश्चिम धुन्धुमारीश्वर लिंग है, जिसके पूजन से लोगों को शत्रु का भय नहीं रह जाता ॥ २६ ।

उसके उत्तर भाग में पुरूरवेश्वर नामक लिंग है । प्रयत्नपूर्वक दर्शन करने से वह चतुर्वर्ग का फल देता है ॥ २७ ।

उसके आगे सुप्रतीक नामा दिग्गज का प्रतिष्ठित यश और बल को बढ़ाने वाला सुप्रतीकेश्वर नामक लिंग है ॥ २८ ।

उसके सन्मुख ही सुप्रतीक नाम से एक बड़ा सरोवर सुशोभित है, उसमें स्नान और उस लिंग का दर्शन करने से दिक्पति का पद प्राप्त होता है ॥ २९ ।

वहीं पर उत्तर के द्वार की रक्षा के लिये विजयभैरवी नाम की एक महागौरी अवस्थित हैं । उनकी पूजा करने से इष्ट की सिद्धि होती है ॥ ३० ।

वरणा के रमणीय तट पर विघ्नविध्वंसक हुंडन और मुंडन नामक दो गण क्षेत्र की रक्षा करते रहते हैं ॥ ३१ ।

क्षेत्रसम्बन्धी विघ्नों का निवारण करने के लिये उन दोनों गणों का दर्शन अवश्य करना चाहिए और वहीं पर हुंडनेश्वर और मुंडनेश्वर लिंगों के दर्शन करने से मनुष्य सुखी होता है ॥ ३२ ।

स्कन्द उवाच–

इल्वलारे कथामेकां शृणुष्वावहितो भव ।
वरणायास्तटे रम्ये यद्वृत्तं पूर्वमुत्तमम् ॥ ३३ ।
एकदाद्रीन्द्रमालोक्य मेना संहृष्टमानसम् ।
उमां संस्मृत्य निःश्वस्य प्रोवाचेति पतिव्रता ॥ ३४ ।

मेनोवाच–

आर्यपुत्र न जानामि प्रवृत्तिमपि काञ्चन ।
विवाहसमयादूर्ध्वं तस्या गौर्या गिरीश्वर ॥ ३५ ।
स वृषेन्द्रगतिर्देवो भस्मोरगविभूषणः ।
महापितृवनावासो दिग्वासाः क्वाऽस्ति सम्प्रति ॥ ३६ ।
अष्टौ या मातरो दृष्टा ब्राह्मीप्रभृतयः प्रिय ।
स्वस्वरूपास्ता मन्येऽहं बालिकाकष्टहेतवः ॥ ३७ ।

शैलेशोत्पत्तिं कथयिष्यन् अगस्तिं सावधानयति । इल्वलेति ॥ ३३ ।

अद्रीन्द्रं हिमवन्तम् । मेना पितॄणां मानसी कन्या हिमवतो भार्या । तथा च हरिवंशे सनातनलोकस्थान् पितृगणानुपक्रम्य–"एतेषां मानसी कन्या मेना मम महागिरेः । पत्नी हिमवतः श्रेष्ठा यस्यां मैनाक उच्यते" इति ॥ ३४ ।

यद्वा[1] अष्टौ या मातरो मया दृष्टास्ता बालिकाया गौर्याः कष्टहेतव इत्यहं मन्ये । तत्र हेतुः । सुखरूपाः अतीवरूपवत्यः । तद्रूपधर्षितः शङ्कर उमां नाद्रियेतेति शङ्कार्थः । दुराधर्षा इति क्वचित्पाठः ॥ ३७ ।

स्कन्द कहने लगे–

हे इल्वलरिपो अगस्त्य ! पूर्वकाल में वरुणा के मनोहर तट पर जो एक अद्भुत घटना हुई थी, उसका वृत्तान्त कहता हूँ । सावधान होकर सुनो ॥ ३३ ।

एक बार पतिव्रता मेना गिरिराज हिमवान् को प्रसन्नचित्त देखकर उमा को स्मरण कर उसाँसें लेती हुई यह बोली ॥ ३४ ।

मेना कहने लगी–

हे आर्यपुत्र ! गिरिराज ! विवाह हो जाने के अनन्तर काल से उस गौरी का कुछ भी समाचार नहीं जानती हूँ ॥ ३५ ।

भस्म और सर्प के भूषणधारी, महाश्मशानवासी, दिगम्बर, वृषभवाहन, महादेव इस घड़ी कहाँ हैं ? यह भी मुझे ज्ञात नहीं है ॥ ३६ ।

हे प्रिय ! ब्राह्मी इत्यादि आठों मातालोग सुख की स्वरूप दृष्ट होने पर भी मेरी समझ में लड़की के कष्ट की ये ही कारण हैं ॥ ३७ ।

---

1. यद्वेत्यस्य स्थाने पाठान्तरे इत्यपेक्षितमिति भाति । अन्यथा बालिकाया गौर्याः कष्टेत्यादिकमग्रे च सुखस्वरूपा अत्यन्तरूपवत्य इति च व्याख्यानमयुक्तं स्यात् । तच्च पाठान्तरं सुस्वरूपास्ता मन्येऽहं बालिकाकष्टहेतव इति ज्ञेयम् ।

तस्यैकस्य न कोऽप्यन्योऽस्त्यद्वितीयस्य शूलिनः ।
तदुदन्तप्रवृत्त्यै च क्रियतामुद्यमो विभो ॥ ३८ ।
तस्याः प्रियाया वाक्येन तदपत्यप्रियो गिरिः ।
उवाच वचनं सास्रमुमावात्सल्यसन्नगीः ॥ ३९ ।

गिरिराज उवाच—

अहमेव गमिष्यामि तस्या मेने गवेषणे ।
नितरां बाधते प्रेम तददृष्ट्यग्निदूषितम् ॥ ४० ।

गौरीविरहसन्तापेनाह । **अष्टौ या इति** । हे प्रिय स्वामिन् अष्टौ या ब्राह्मीप्रभृतयो ब्राह्मीप्रमुखा मातरो दृष्टाः । ताश्च वक्ष्यति—

ब्रह्माणी वैष्णवी रौद्री वाराही नारसिंहिका ।
कौमारी चापि माहेन्द्री चामुण्डा चैव चण्डिका ॥ इति

स्वस्वरूपाः स्वः सुखं स्वरूपं यासां ताः । सुखस्वरूपिण्य इत्यर्थः । इत्यहं मन्ये । अन्या बालिकाः कन्यकास्ताः पित्रादीनां दुःखहेतवो दुःखदा इत्यर्थः । तथा च प्राकृतं वाक्यम्—

जातेति कन्या प्रथमेऽतिशोकः कस्मै ददामीति महान् वितर्कः ।
दत्ता यदा तद्गमनेऽतिकष्टं कन्या पितॄणां खलु दुःखहेतुः ॥ इति ।

प्रकृताया उमाया दुःखहेतुत्वं प्रकटयन्ती अर्थाज्जगदीश्वरं स्तौत्यर्धेन । तस्य शूलिनः कोऽप्यन्यो नास्तीत्यन्वयः । अनेन संजातीयभेदाभावो ध्वनितः । एकस्येति विजातीयभेदाभावः । अद्वितीयस्येति स्वगतभेदाभावश्च । तथा च श्रुति—'**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'इति । पक्षान्तरेऽन्यो नास्तीत्यत्र हेतुमाह । **एकस्येति** । अस्मिन् ग्रामे एक एव पुरुष इतिवदेकशब्दस्य मुख्यार्थत्वमित्याशङ्कायामाह । **अद्वितीयस्येति** । तदुदन्तप्रवृत्त्यै तस्य शूलिनो जामातुर्ज्ञानाय । जामातुर्वृत्तान्तज्ञाने कन्यकाया अपि वृत्तान्तो ज्ञात एवेत्याशयः ॥ ३८ ।

सास्रमस्रसहितं यथा भवति तथा साक्रन्दमित्येतत् । उमावात्सल्यसन्नगीः । उमाया वात्सल्येन स्नेहेन सन्ना अवरुद्धा गद्गदा गिरा यस्य स तथा ॥ ३९ ।

प्रेमस्नेहो बाधते मामिति शेषः । कथंभूतं माम् ? तददृष्ट्यग्निदूषितं तस्या उमाया अदृष्टिरदर्शनं सैवाग्निस्तेन दूषितं सन्तापितम् ॥ ४० ।

हे विभो ! उस अद्वितीय (अकेले) त्रिशूली का दूसरा कोई भी नहीं है । अतएव उसके वृत्तान्त जानने का भी उद्योग कीजिये ॥ ३८ ।

सन्तान-प्रिय हिमाचल अपनी प्यारी पत्नी के उमा के प्रति वात्सल्यपूर्ण गद्गद वचन सुनते ही अश्रुपूर्णनेत्र होकर कहने लगे ॥ ३९ ।

गिरिराज बोले—

हे मेने ! मैं आज ही उसका अनुसन्धान (खोज) लेने को जाता हूँ । उसके न देखने के कारण विरहानल से दूषित प्रेम मुझे बहुत ही बाधित कर रहा है ॥ ४० ।

यदा प्रभृति सा गौरी निर्गता मम सद्मतः ।
मन्ये मेने तदारभ्य पद्मसद्मा विनिर्ययौ ॥ ४१ ।
तदालापामृतधयौ न मे शब्दग्रहौ प्रिये ।
प्राणेश्वरि तदारभ्य स्यातां शब्दान्तरग्रहौ ॥ ४२ ।
जैवातृकी यतोऽह्नः स्याद्दूरीभूता दृशोर्मम ।
अहो जैवातृकी ज्योत्स्ना ततोऽह्नोऽतिदुनोति माम् ॥ ४३ ।
इत्युक्त्वादाय रत्नानि वासांसि विविधानि च ।
धराधरेन्द्रो निर्यातः शुभलग्नबलोदये ॥ ४४ ।

अगस्त्य उवाच--

कानि कानि च रत्नानि कियन्त्यपि च षण्मुख ।
यान्यादाय प्रतस्थे स तानि मे ब्रूहि पृच्छतः ॥ ४५ ।

पद्मसद्मा लक्ष्मीः । सद्मः पद्मेति क्वचित्पाठः । सद्मः पद्मापि निर्ययाविति पाठे अपिशब्दाद् गृहसौख्यमपि गतमित्यर्थः ॥ ४१ ।

तदिति । हे प्रिये हे प्राणेश्वरि ! तदारभ्य तस्या उमाया गमनमारभ्य मम मे शब्दग्रहौ श्रोत्रेन्द्रिये शब्दान्तरग्रहौ नेत्यन्वयः । कथंभूतौ ? तदालापामृतधयौ उमावाक्यसुधां पिबन्तौ ।

अयम्भावः--यथा पीतामृतस्यान्यपानेनेच्छोदेति, तथा पीतद्वाक्यामृतस्य मम शब्दान्तरे नेच्छोल्लसतीत्यर्थः ॥ ४२ ।

जैवेति । अहो इति खेदे । यतोऽह्नो यस्माद्दिवसादारभ्य **जैवातृकश्चन्द्रः**, तस्येयं जैवातृकी चन्द्रज्योत्स्ना तत्तुल्या गौरी मम दृशोर्नेत्रयोर्दूरीभूता स्यादभवत्ततोऽह्नस्तस्माद्दिनादारभ्य जैवातृकी ज्योत्स्ना चान्द्रमसी कौमुदी माममतिदुनोत्युपतापयतीत्यर्थः । सुखदाऽपि चन्द्रिका उमाविश्लेषान्मम दुःखदा भातीत्यर्थः ॥ ४३ ।

शुभलग्नबलोदये शुभलग्नबलस्योदये सतीत्यर्थः ॥ ४४ ।

इत्युक्त्वादाय रत्नानीत्युक्तं तत्र पृच्छति । **कानि कानि चेति** । कानि कानीति संख्येयजातिविषये प्रश्नः । कियन्तीति संख्यानविषये ॥ ४५ ।

जब से गौरी मेरे घर से गई, तब से मेरी समझ से लक्ष्मी ही मेरे यहाँ से निकल गई ॥ ४१ ।

हे प्रिये ! मेरे दोनों ही कर्ण जिस दिन से उमा के वचनामृतपान से वंचित हुए हैं, हे प्राणेश्वरि ! उस दिन से दूसरे किसी शब्द को भीतर घुसने ही नहीं देते ॥ ४२ ।

(हाय !) दिन की चन्द्रिका, बेटी जब से मेरी आँखों से दूर हुई, तब से रात की चाँदनी भी मुझे बहुत ही तपाती रहती है ॥ ४३ ।

गिरिराज हिमालय ने इस प्रकार से कहा-सुनी कर विविध भाँति के रत्न और वस्त्र लेकर शुभ लग्न के बलोदय होने पर यात्रा की ॥ ४४ ।

अगस्त्य ने पूछा--

हे षण्मुख ! वे किन-किन रत्नों को कितना-कितना साथ लेकर वहाँ से प्रस्थित हुए, यह तथ्य मैं जानने के लिये पूछता हूँ, आप बता दें ॥ ४५ ।

स्कन्द उवाच–

तुला मुक्ताफलानां तु कोटिद्वयपरीमिताः ।
तथा वारितराणां च हीरकाणां तुलाशतम् ॥ ४६ ।
नवलक्षाधिकं विप्र षडस्राणां सुतेजसाम् ।
लक्षद्वयं विदूराणां तुला विमलवर्चसाम् ॥ ४७ ।
कोटयः पद्म रागाणां पञ्चावैहि तुला मुने ।
पुष्परागतुलालक्षं गुणितं नवसंख्यया ॥ ४८ ।
तथा गोमेदरत्नानां तुलालक्षमिता मुने ।
इन्द्रनीलमणीनां च तुलाः कोट्यर्धसंमिताः ॥ ४९ ।
गरुडोद्गाररत्नानां तुलाः प्रयुतसंमिताः ।
शुद्धविद्रुमरत्नानां तुलाश्च नवकोटयः ॥ ५० ।

तदुभयं दर्शयति । तुलेति । तुला पलशतम् । यदाहाऽमरः–"तुला स्त्रियां पलशतम्" इति । मुक्ताफलानां मौक्तिकफलानाम् । यदाहाऽमरः–"अथ मौक्तिकं मुक्तेति" । हीरकाणां वज्राणां हीरा इति लोके प्रसिद्धानाम् । कथम्भूतानाम् ? वारितराणां वार्षु इतः प्राप्तोरः प्रकाशो यैस्ते वारितरास्तेषां जलोद्भवत्वेन अतिशुभ्राणां श्वेतानामित्यर्थः । यद्वा वारिषु तरन्ति प्लवन्तीति वारितराः ॥ ४६ ।

नवलक्षाधिकं तुलाशतमित्यन्वयः । षडस्राणां षट्कोणानाम् । सुतेजसामिति षडस्राणां विशेषणम् । विदूराणां विशेषणं च विमलवर्चसामिति । पद्मरागानां शोणरत्नानाम् । यदाहाऽमरः–शोणरत्नं लोहितकं पद्मरागः" इति ॥ ४७ ।

पुष्परागतुलालक्षं रत्नविशेषाणां पलशतसहस्रम् ॥ ४८ ।

गोमेदरत्नानां पीतवर्णरत्नानामित्यर्थः ॥ ४९ ।

गरुडोद्गाररत्नानां गारुत्मतानां हरिन्मणीनामिति यावत् । यदाहाऽमरः–"गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः" इति । शुद्धविद्रुमरत्नानां निर्मलप्रवालरत्नाना - मित्यर्थः ॥ ५० ।

स्कन्द ने उत्तर दिया–

दो करोड़ तुला (४०० तोले की एक तुला) परिमाण मोती और सौ तुला वारितर (आवदार) हीरा, हे विप्र ! नव लाख से कुछ अधिक बड़े चमकीले छकोने हीरे एवं दो लाख तुला बड़े कान्तिमान् (रँगदार) विदूरमणि, हे मुने ! पाँच करोड़ तुला पद्मराग (माणिक) और नवलक्ष तुला परिमित पुष्पराग (पोखराज) एवं एक लाख तुला गोमेदमणि, पचास लाख तुला इन्द्रनीलमणि (नीलम), दशलक्ष

अष्टाङ्गाभरणानां च संख्या कर्तुं न शक्यते ।
वाससां च विचित्राणां कोमलानां तथा मुने ॥ ५१ ।
चामराणि च भूयांसि द्रव्याण्यामोदवन्ति च ।
सुवर्णदासदास्यादीन्यसंख्यातानि वै मुने ॥ ५२ ।
सर्वाण्यपि समादाय प्रतस्थे भूधरेश्वरः ।
आगत्य वरणातीरं दूरात्काशीमलोकयत् ॥ ५३ ।
अनेकरत्ननिचयैः खचिताऽखिलभूमिकाम् ।
नाना प्रासादमाणिक्यज्योतिस्ततततताम्बराम् ॥ ५४ ।
सौधाग्रविविधस्वर्णकलशोज्ज्वलदिङ्मुखाम् ।
जयन्तीवैजयन्तीनां निकरैस्त्रिदिवस्थलीम् ॥ ५५ ।
महासिद्ध्यष्टकस्यापि क्रीडाभवनमद्भुतम् ।
जितकल्पद्रुमवनां वनैः सर्वफलावनैः ॥ ५६ ।
इति काशीसमृद्धिं स विलोक्याऽभूद् विलज्जितः ।
उवाच च मनस्येव भूधरेन्द्र इदं वचः ॥ ५७ ।

अष्टाङ्गाभरणानां शिरोललाटघ्राणश्रोत्रग्रीवाहस्तकटिचरणदेयानाम् ॥ ५१ ।

काशीं विशिनष्टि । अनेकेति त्रिभिः । खचिताऽखिलभूमिकां व्याप्ताऽखिल-स्थानकाम् । नानेति । अनेकप्रासादमाणिक्यज्योतिभिस्ततं व्याप्तं ततं विभु अम्बरमाकाशं यया ताम् ॥ ५४ ।

सौधानामग्रे उपरि विविधा ये स्वर्णकलशास्तैरुज्ज्वलमतिप्रकाशमानं दिशां मुखं यस्यां ताम् । जयन्ती-वैजयन्तीनां तत्तन्नामपताकाविशेषाणां निकरैः कृत्वा त्रिदिवस्थलीमिवेति लुप्तोपमा ॥ ५५ ।

महासिद्ध्यष्टकं अणिमादि पद्मादि वा । सर्वफलानामवनं पालनं येषु तैर्वनैः सर्वफलसमृद्धैरित्यर्थः ॥ ५६।

तुला पन्ना, नव करोड़ तुला उत्तम मूँगा और हे मुनिराज ! आठों अंगों के विचित्र आभरण एवं कोमल वस्त्रों की गिनती नहीं की जा सकती है। हे मुनिवर ! उनके साथ में जो बहुत से चमर और अनेक सुगन्ध द्रव्य एवं सुवर्ण, दास और दासी इत्यादि अगण्य थे ॥ ४६-५२ ।

इन वस्तुओं को संग लेकर गिरिराज हिमालय वहाँ से चलकर वरणा के तट पर पहुँचते ही दूर से काशी को देखने लगे ॥ ५३ ।

जिस काशी की समस्त भूमि अनेक प्रकार के रत्नसमूहों से खचित है, जिसकी ऊँची-ऊँची अटारियों के माणिक की ज्योति से विस्तृत आकाशमंडल भर रहा है, उत्तम भवनों के ऊपर लगे हुए विविध सुवर्ण की कलसियों से जो दिशाओं के

प्रासादेषु प्रतोलीषु प्राकारेषु गृहेषु च ।
गोपुरेषु विचित्रेषु कपाटेषु तटेष्वपि ॥ ५८ ।
मणिमाणिक्यरत्नानामुच्छलच्चारुरोचिषाम् ।
ज्योतिर्जालैर्जटिलितं यथेदमवलोक्यते ॥ ५९ ।
द्यावाभूम्योरन्तरालं तथेति समवैम्यहम् ।
ईदृक्सम्पत्तिसंभारः कुबेरस्यापि नो गृहे ॥ ६० ।
अपि वैकुण्ठभवने नेतरस्येह का कथा ।
इति यावद् गिरीन्द्रोऽसौ संभावयति चेतसि ॥ ६१ ।
तावत्कार्पटिकः कश्चित्तल्लोचनपथं गतः ।
आहूय बहुमानं तमपृच्छच्चाचलेश्वरः ॥ ६२ ।

तटेषूच्चप्रदेशेषु गङ्गातीरेष्विति वा ॥ ५८ ।

उच्छलत् प्रस्फुरच्चारु सुन्दरं च रोचिर्दीप्तिर्येषां तेषाम् । जटिलितं संवलितम् ॥ ५९ ।

अपि वैकुण्ठभवने तत्रापि न इतरस्य भवने का कथा ? तादृक् समृद्धिर्नास्तीति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ६१ ।

कार्पटिकः काषायवस्त्रधारी सच्छूद्रविशेषः ॥ ६२ ।

मुख को उज्ज्वल कर रही है, जो अपनी उड़ती हुई पताकाओं से देवताओं की अमरावती को भी जीत लेती है, जो आठों सिद्धियों की अद्भुत केलि-मन्दिर-स्वरूपा है और सब फलों से समृद्ध वनों से कल्पद्रुम के वनों को भी जीतने वाली है, (तब तो) ऐसी काशी की समृद्धि को देखते ही गिरिराज हिमालय अपने मन में लज्जित होकर यह बात कहने लगे—देव-मन्दिर, गलियाँ, घेरा, गृह, पुर, द्वार, विचित्र किंवाड़, और तटों के घाटों पर सुन्दर चमकीले मणि-माणिक्य इत्यादि रत्नों की समुज्ज्वल ज्योतिजालों से यह स्थान बड़ा ही जटिल दीखता है ॥ ५४-५९ ।

ऐसा तो भूलोक और स्वर्ग के बीच में कोई भी स्थान मेरी समझ में नहीं है । दूसरे की कौन बात है, ऐसी सम्पत्तियों की भरमार तो कुबेर के भवन अथवा वैकुंठलोक में भी नहीं है । गिरिराज मन ही मन जब यह बात सोच रहे थे, उसी समय एक भिखारी उनकी आँखों के आगे आ गया, तब तो हिमाचल ने उसे बड़े आदर के साथ बुलाकर पूछा ॥ ६०-६२ ।

हिमवानुवाच—

हंहो कार्पटिकश्रेष्ठ अध्यास्वैतदिहासनम् ।
स्वपुरोदन्तमाख्याहि किमपूर्वमिहाऽध्वग ॥ ६३ ।
कोऽत्र संप्रत्यधिष्ठाता किमधिष्ठातृचेष्टितम् ।
यदि जानासि तत्सर्वमिहाचक्ष्व ममाग्रतः ॥ ६४ ।
सोऽपि कार्पटिकस्तस्य गिरिराजस्य भाषितम् ।
समाकर्ण्य समाचष्टुं मुने समुपचक्रमे ॥ ६५ ।

कार्पटिक उवाच—

आचक्षे शृणु राजेन्द्र यत्पृष्टोऽस्मि त्वयाऽखिलम् ।
अहानि पञ्चषाण्येव व्यतिक्रान्तानि मानद ॥ ६६ ।
समायाते जगन्नाथे पर्वतेन्द्रसुतापतौ ।
सुन्दरान्मन्दरादद्रेर्दिवोदासे गते दिवि ॥ ६७ ।

हंहो इत्यव्ययं सम्बोधने । अध्यास्व अधितिष्ठ । स्वपुरोदन्तं स्वसम्बन्धिपुरमविमुक्तं तस्योदन्तं वृत्तान्तमाख्याहि कथय । इह स्वपुरे अपूर्वं च किं तदप्याख्याहीत्यर्थः । किमपूर्वमिति स्वपुरेत्यस्य विशेषणं वा ॥ ६३ ।

समुपचक्रमे उपक्रान्तवान् ॥ ६५ ।

अहानीति । मन्दराज्जगन्नाथे विश्वनाथे समायाते सति पञ्चषाणि पञ्च वा षड्वाऽहानि दिनान्येव व्यतिक्रान्तानि व्यतीतानीति द्वयोरन्वयः ॥ ६६ ।

ननु ब्रह्मणो वरदानाद्दिवोदासे धर्मेण राज्यं शासति सति कथं काश्यां विश्वेशागमनं तत्राह । **दिवोदासे गते दिवीति** ॥ ६७ ।

हिमवान् ने कहा—

हे कार्पटिकश्रेष्ठ ! यहाँ इस आसन पर बैठ जाओ, हे पथिक ! अपने नगर का जो कुछ अपूर्व वृत्तान्त हो, मुझसे कहो ॥ ६३ ।

सम्प्रति इसका अधिष्ठाता कौन है ? और उस (स्वामी) का व्यवहार कैसा है ? ये सब बातें यदि तुमको ज्ञात हो तो मुझसे कहो ॥ ६४ ।

हे ऋषे ! उस भिक्षुक ने भी गिरिराज का कहना सुनकर उत्तर देने का उपक्रम किया ॥ ६५ ।

कार्पटिक बोला—

हे राजेन्द्र ! आपने जो कुछ मुझसे पूछा है, उन सब बातों को मैं बताता हूँ, आप श्रवण कीजिये । हे मानप्रद ! राजा दिवोदास के स्वर्गगामी होने पर अभी पाँच-छः दिन ही बीते हैं कि भगवान् गिरिजापति विश्वनाथ सुन्दर मन्दराचल से यहाँ पर पधारे हैं ॥ ६६-६७ ।

यो वै जगदधिष्ठाता सोऽधिष्ठाताऽत्र सर्वगः ।
सर्वदृक्सर्वदः शर्वः कथं न ज्ञायते विभो ॥ ६८ ।
मन्ये दृषत्स्वरूपोऽसि दृषदोऽपि कठोरधीः ।
यतो विश्वेश्वरं काश्यां न वेत्सि गिरिजापतिम् ॥ ६९ ।
स्वभावकठिनात्माऽपि स वरं हिमवान् गिरिः ।
प्राणाधिकसुतादानाद्योऽधिनोद्विश्वनायकम् ॥ ७० ।
बिभ्रत्सहजकाठिन्यं जातो गौरीगुरुर्गुरुः ।
शम्भुं प्रपूज्य सुतया स्रजा विश्वगुरोरपि ॥ ७१ ।

यत्पृष्टं कोऽत्र संप्रत्यधिष्ठातेति तत्रोत्तरमाह । **यो वा इति** । **वैशब्दः** प्रसिद्धिद्योतनार्थः । अत्र काश्याम् । ननु परिच्छिन्नस्य कथं जगदधिष्ठातृत्वं तत्राह । **स्वर्ग इति** । व्यापक इत्यर्थः । सर्वदिगिति पृथग् वाक्यम् । अतः सर्वग इत्यनेन नपौनरुक्त्यम्। सर्व इति पाठे सर्वस्वरूप इत्यर्थः । **ब्रह्मैवेदं सर्वमित्यादिश्रुतेः** ॥ ६८ ।

दृषत्स्वरूपः पाषाणतुल्यः । दृषदुपमाऽपि तव न्यूनेत्याह । **दृषदोऽपीति** । तत्र हेतुमाह । **यत इति** ॥ ६९ ।

एतद्विवृणोति । **स्वभावकठिनात्मेति द्वाभ्याम्** । अधिनोत् अप्रीयत तोषयामासेत्यर्थः ॥ ७० ।

विश्वेशप्रीणनफलमाह । **बिभ्रदिति** । **स्रजा** शिरोधार्यया । विश्वगुरोर्ब्रह्मणः ॥ ७१ ।

हे विभो ! जो त्रैलोक्य के स्वामी हैं, वही यहाँ के अधिष्ठाता हैं, उन सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वदाता, भगवान् शर्व को क्या आप नहीं जानते ? ॥ ६८ ।

मैं समझता हूँ, आप पत्थर के स्वरूप हैं, पर आपकी बुद्धि तो पत्थर से भी अधिक कठोर है, इसी से आप काशी के अधिष्ठाता पार्वतीपति विश्वनाथ को नहीं जानते ॥ ६९ ।

गिरिराज हिमवान् स्वाभाविक कठिनात्मा (प्रस्तरात्मा) होने पर भी (आप से) अच्छे हैं, जिनने अपनी प्राणाधिक कन्या को देकर विश्वनाथ को प्रसन्न किया ॥ ७० ।

गौरी से पिता सहज कठिन होने पर भी कन्यारूप माला से शंभु की पूजा कर जगद्गुरु से भी बड़े हो गये ॥ ७१ ।

चेष्टितं तस्य को वेद वेदवेद्यस्य चेशितुः ।
मनागिति च जानेऽहं तच्चेष्टितमिदं जगत् ॥ ७२ ।
अधिष्ठाता मयाख्यातस्तथाऽधिष्ठातृचेष्टितम् ।
अपूर्वं यत्त्वया पृष्टं तदाख्यामि च तच्छृणु ॥ ७३ ।
शुभे ज्येष्ठेश्वरस्थाने साम्प्रतं स उमापतिः ।
काशीं प्राप्य मुदा तिष्ठेद् गिरिराजाङ्गजासखः ॥ ७४ ।

स्कन्द उवाच–

यदा यदा स गिरिजामृदुनामाक्षरामृतम् ।
आविष्करोति पथिकोऽद्रीन्द्रो हृष्येत्तदा तदा ॥ ७५ ।
उमानामामृतं पीतं येनेह जगतीतले ।
न जातु जननीस्तन्यं स पिबेत् कुम्भसम्भव ॥ ७६ ।

यत्पृष्टं किमधिष्ठातृचेष्टितमिति तत्रोत्तरमाह । **चेष्टितमिति** । च एवार्थे । वेदवेद्यस्य वेदान्तैकवेद्यस्येत्यर्थः ॥ ७२ ।

यत्पृष्टं किमपूर्वमिहाध्वगेति तस्योत्तरं पूर्वोक्तानुवादपूर्वकमाह । **अधिष्ठातेति** ॥ ७३ ।

तिष्ठेत्तिष्ठति गिरिराजाङ्गजा पार्वती सखी जाया सखा सहायो वा यस्य स तथा ॥ ७४ ।

हर्षे हेतुमाह । **उमानामामृतमिति** द्वाभ्याम् ॥ ७६ ।

वेदवेद्य उन ईश्वर का व्यवहार भला कोई जान सकता हैं ? तब इतना ही भर मैं जानता हूँ कि यह समस्त जगत् उन्हीं का कार्य है ॥ ७२ ।

यह मैंने (आपसे) यहाँ के अधिष्ठाता और उनकी चेष्टा बतायी । आपने यहाँ की जो अपूर्वता पूछी है, उसे भी कहता हूँ, सुन लीजिये ॥ ७३ ।

इसी घड़ी भगवान् उमापति गिरिजादेवी के सहित इस काशीपुरी में आकर बड़े हर्ष से शुभप्रद ज्येष्ठेश्वर स्थान में विराजमान हैं ॥ ७४ ।

स्कन्द ने कहा–

हे कुंभजमुने ! वह पथिक जब-जब गिरिजा के सुधासम कोमल नामाक्षर को कहता था, तब-तब गिरिराज (भीतर ही भीतर) बड़े प्रसन्न होने लगते थे ॥ ७५ ।

जो कोई इस भूतल में उमा के नामरूपी अमृत को पीता है, वह फिर कभी माता के स्तन का दूध नहीं पीने पाता ॥ ७६ ।

उमेति द्व्यक्षरं मन्त्रं योऽहर्निशमनुस्मरेत् ।
न स्मरेच्चित्रगुप्तस्तं कृतपापमपि द्विज ॥ ७७ ।
पुनः शुश्राव हिमवान् हृष्टः कार्पटिकोदितम् ।

कार्पटिक उवाच—

राजन् विश्वेश्वरार्थे यः प्रासादो विश्वकर्मणा ॥ ७८ ।
निर्मीयते सुनिर्माणो जन्मिनिर्वाणदायिनः ।
तदपूर्वं न कर्णाभ्यामप्याकर्णितवानहम् ॥ ७९ ।
यत्रातिमित्रतेजोभिः शलाकाभिः समन्ततः ।
मणिमाणिक्यरत्नानां प्रासादे भित्तयः कृताः ॥ ८० ।
यत्र सन्ति शतं स्तम्भा भास्वन्तो द्वादशोत्तराः ।
एकैकं भुवनं धर्तुमष्टाष्टाविति कल्पिताः ॥ ८१ ।

राजन्निति । विश्वेश्वरस्यार्थे यः प्रासादो विश्वकर्मणा निर्मीयते तदन्यदपूर्वमिति द्वितीयेनान्वयः ॥ ७८ ।

किम्भूतः प्रासादः ? सुशोभनं निर्माणं यस्य । कथम्भूतस्य विश्वेश्वरस्य ? जन्मिनिर्वाणदायिनः प्राणिमात्रस्य मोक्षदायिनः समासनिविष्टस्यापि विशेषणं छान्दसम् । अपूर्वत्वे हेतुमाह । न कर्णाभ्यामिति ॥ ७९ ।

प्रासादं विशिनष्टि । यत्रेत्यादि कथं तं त्वमित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । यत्र प्रासाद इत्यन्वयः । मित्रं सूर्यमतिक्रान्तानि तेजांसि यासां शलाकानां ताभिरतिमित्रतेजोभिः ॥ ८० ।

अष्टाष्टाविति पृथक्पदे । वलोपश्छान्दसः ॥ ८१ ।

हे द्विज ! जो मनुष्य, उमा इस दो अक्षर के मंत्र को रात्रि-दिन सुमिरन करता रहता है, पापपरायण होने पर भी उसे चित्रगुप्त भूल ही जाते हैं ॥ ७७ ।

हिमवान् प्रहृष्ट होकर फिर उस कार्पटिक की बात सुनने लगे ।

भिक्षुक बोला—

हे राजन् ! प्राणियों के मुक्तिदाता विश्वेश्वर के लिये विश्वकर्मा जो बड़े निर्माण (बड़ी कारीगरी) का राजमन्दिर बना रहे हैं, वह बड़ा ही अपूर्व है, मैंने तो अपने कानों से वैसा कहीं नहीं सुना है[1] । ७८-७९ ।

उस मन्दिर में चारों ओर की भीतें, मणि-माणिक्य और रत्नों की सूर्य से भी बढ़कर चमकीली शलाकाओं (मुट्ठों) से बनाई गई हैं ॥ ८० ।

जिसमें भासमान एक सौ बारह खंभे मानो प्रत्येक भुवनों के स्तंभन के निमित्त आठ-आठ के हिसाब से लगाये गये हैं ॥ ८१ ।

---

1. ऐसा लगता है कि अतिप्राचीनकाल में राजा दिवोदास के निधन के पश्चात् काशी का विश्वनाथ-मन्दिर बना था, उसकी विभूति का यह वर्णन है । (सम्पादक)

चतुर्दशसु या शोभा विष्टपेषु समन्ततः ।
तस्मिन् विमाने सास्तीह शतकोटिगुणोत्तरा ॥ ८२ ।
चन्द्रकान्तमणीनां च स्तम्भाधारशिलाश्च याः ।
चित्ररत्नमयैः स्तम्भैः स्तम्भितास्तत्प्रभाभराः ॥ ८३ ।
पद्मरागेन्द्रनीलानां शालीनाः शालभञ्जिकाः ।
नीराजयन्त्यहोरात्रं यत्र रत्नप्रदीपकैः ॥ ८४ ।
स्फुरत्स्फटिकनिर्माणश्लक्ष्णपद्मशिलातले ।
अनेकरत्नरूपाणि विचित्राणि समन्ततः ॥ ८५ ।
आरक्तपीतमञ्जिष्ठनीलकिर्मीरवर्णकैः ।
विन्यस्तानीव भासन्ते चित्रे चित्रकृता यतः ॥ ८६ ।

विष्टपेषु भुवनेषु । विमाने प्रासादे ॥ ८२ ।

स्तम्भिता आक्रान्ताः । तत्प्रभाभरास्तेषां चित्ररत्नमयस्तम्भानां प्रभा बिभ्रतीति तथा । तत्प्रभान्तरा इति क्वचित् ॥ ८३ ।

शालीनाः शोभनाः शालभञ्जिकाः पुत्तलिकाः । नीराजयन्ति नीराजनां कुर्वन्ति ॥ ८४ ।

किर्मीरः कल्माषः । चित्रकृता चित्रकारेण ॥ ८६ ।

चौदहों भुवनों में जो कुछ शोभा है, उस प्रासाद में चारों ओर उससे सौ करोड़ गुना अधिक वर्तमान है ॥ ८२ ।

चन्द्रकान्तमणियों की जो स्तंभाधार शिला है, वे विचित्र रत्न के खंभों से लगी हुई एवं उन खंभों की प्रभा से भरपूर (लदी) हैं ॥ ८३ ।

पद्मराग, इन्द्रनील आदि रत्नों की सुहावन पुतलियाँ रात-दिन रत्न के दीपों से उसमें आरती करती रहती हैं ॥ ८४ ।

रक्त (लाल),पीले, काले, नीले और चितकबरे रंगों से चमकीले स्फटिकमणि के बने हुए चिकने पद्मवाले शिलातल पर, चारों ओर के अनेक रत्नों का प्रतिबिम्ब ऐसा विचित्र पड़ता है, जो चित्र में चितेरे का जड़ा हुआ सा भासित होता है ॥ ८५-८६ ।

दृक्पिच्छिला विलोक्यन्ते माणिक्यस्तम्भराजयः ।
यतोऽविमुक्ते स्वक्षेत्रे मोक्षलक्ष्म्यङ्कुरा इव ॥ ८७ ।
रत्नाकरेभ्यः सर्वेभ्यो गणा रत्नोच्चयान् बहून् ।
राशींश्चक्रुः समानीय यत्राऽद्रिशिखरोपमान् ॥ ८८ ।
यत्र पातालतलतो नागानां कोशवेश्मतः ।
गणैर्मणिगणाः सर्वे समाहृत्य गिरीकृताः ॥ ८९ ।
शिवभक्तः स्वयं यत्र पौलस्त्यः स्वद्रिकूटतः ।
कोटिहाटककूटानि आनयामास राक्षसैः ॥ ९० ।
प्रासादनिर्मितिं श्रुत्वा भक्ता द्वीपान्तरस्थिताः ।
माणिक्यानि समाजह्रुर्यथासंख्यान्यहो नृप ॥ ९१ ।
चिन्तामणिः स्वयं यत्र कर्मणे विश्वकर्मणे ।
विश्राणयेदहोरात्रं विचित्रांश्चिन्तितान्मणीन् ॥ ९२ ।

दृक्पिच्छिला नेत्रदृष्टिप्रतिबन्धकाः । यतो यत्र प्रासादे । यत्राऽविमुक्ते इति पाठे पूर्वं यतो यत्र प्रासाद इति व्याख्येयम् ॥ ८७ ।

रत्नोच्चयान् रत्नसमूहान् ॥ ८८ ।

पौलस्त्यः कुबेरः । स्वद्रिकूटतः शोभनाद्रिशृङ्गेभ्यः । चित्रकूटत इति क्वचित् । कोटिहाटककूटानि असंख्यातस्वर्णराशीन् आनयामास । कारयामासेति क्वचित् ॥ ९० ।

यथासंख्यानि समानानि । यद्वा यथा यथावंदसंख्यातानीत्यर्थः ॥ ९१ ।

उसमें आँखों को फिसला देनेवाले माणिक के खंभों की पंक्तियाँ अविमुक्त नामक अपने क्षेत्र (खेत) में मोक्षलक्ष्मी के अँखुआ-सी (अंकुर-सी) दिखाई पड़ती हैं ॥ ८७ ।

वहाँ पर शिव के अनुचर लोग, सब समुद्रों से बहुतेरे रत्नों को लाकर पर्वत-शृंग के समान ढेर लगा रखे हैं ॥ ८८ ।

एवं गणों ने पातालतल के नागलोकों के कोशागार से अनेक मणियों को लाकर पहाड़ ही बना दिये हैं ॥ ८९ ।

उस मन्दिर के लिये परम शिवभक्त रावण, अपने त्रिकूटाचल से करोड़ों सोने के शृंग राक्षसों से ढुलवा लाया है ॥ ९० ।

हे नरनाथ ! इस मन्दिर के बनने का समाचार सुनकर कितने ही दूसरे-दूसरे द्वीपों के निवासी भक्तगण असंख्य रत्न लिवा लाये हैं ॥ ९१ ।

यहाँ पर चिन्तामणि आप ही विश्वकर्मा को काम के लिये इच्छित विचित्र मणियों को अहोरात्र देता रहता है ॥ ९२ ।

नानावर्णपताकाश्च यत्र कल्पमहीरुहः ।
अनल्पाः कल्पयन्त्येव नित्यं भक्तिसमन्विताः ॥ ९३ ।
अब्धयो यत्र सततं दधिक्षीरेक्षुसर्पिषाम् ।
पञ्चामृतानां कलशैः स्नपयन्ति दिने दिने ॥ ९४ ।
यत्र कामदुघा नित्यं स्नपयेन्मधुधारया ।
स्वदुग्धया स्वयं भक्त्या विश्वेशं लिङ्गरूपिणम् ॥ ९५ ।
गन्धसाररसैर्यं च सेवते मलयाचलः ।
कर्पूररम्भाकर्पूरपूरैर्भक्त्या निषेवते ॥ ९६ ।
इत्याद्यपूर्वं यत्राऽस्ति प्रत्यहं शङ्करालये ।
कथं तं त्वमुमाकान्तं न वेत्सि कठिनाशय ॥ ९७ ।
इति तस्य समृद्धिं तां दृष्ट्वा जामातुरद्रिराट् ।
त्रपया परिभूतोऽभून्नितरां कुम्भसम्भव ॥ ९८ ।

कामदुघा कामधेनुः ॥ ९५ ।
गन्धसाररसैश्चन्दनरसैः । कर्पूररम्भा कर्पूरोत्पादिका कदली । पूरैः समूहैः ॥ ९६ ।
त्रपया लज्जया ॥ ९८ ।

कल्पवृक्षगण भी भक्ति से परिपूर्ण होकर नित्य ही जिस प्रासाद में बहुत ही बड़ी अनेक वर्ण की पताकाओं को लगाते रहते हैं ॥ ९३ ।

दधि, दुग्ध, इक्षु और घृत के सागर भी प्रतिदिन जहाँ पर पंचामृत के कलशों से निरन्तर स्नान कराते रहते हैं ॥ ९४ ।

कामधेनु भी बड़ी भक्ति के साथ अपने मधुधारामय दुग्ध से जहाँ पर लिंगस्वरूप विश्वेश्वर को अभिषेक करा रही हैं ॥ ९५ ।

जिसे मलयाचल अपने गन्धसार के रसों से और कपूरवाले केले अपने कपूर के ढ़ेरों से भक्तिपूर्वक सेवते रहते हैं ॥ ९६ ।

ये ही सब अपूर्व व्यापार यहाँ पर शिवालय में दिन-प्रतिदिन होते रहते हैं। हे कठिनाशय ! फिर उन उमाकान्त को आप क्यों नहीं जान सके[1] ? ॥ ९७ ।

हे कुंभजमुने ! गिरिराज अपने जामाता की इतनी समृद्धि देखकर बहुत ही लज्जित हो गये ॥ ९८ ।

---

1. इस वर्णन से तत्कालीन काशीस्थ विश्वनाथ की पूजा और पूजा-सामग्री का आभास मिल जाता है। कितने संभार के साथ उन दिनों विश्वनाथ-पूजन निष्पन्न होता था।

(संपादक)

तस्मै कार्पटिकायाऽथ स दत्वा पारितोषिकम् ।
पुनश्चिन्तापरो जातोऽद्रिराट् कार्पटिके गते ॥ ९९ ।
उवाचेति मनस्येव विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
अहो भद्रमिदं जातं यत्त्वयाऽश्रावि शर्मभाक् ॥ १०० ।
यावत्सम्पत्तिसम्भारः श्रूयते दृश्यतेऽत्र वै ।
जामातुरत्र सदने लीला त्रिजगतीपतेः ॥ १०१ ।
ततः प्राभृतकस्तुच्छो नितरां प्रतिभाति मे ।
कन्यार्थं यो मयानीतो जामातुः परितोषकृत् ॥ १०२ ।
अहं मन्ये तथैवाऽसौ यथाऽदर्शि मया पुरा ।
वृद्धोक्षमात्रसम्पत्तिः सर्वकर्मपराङ्मुखः ॥ १०३ ।
नैनं कोऽपि विजानीयान्नान्वयोऽस्य कदाचन ।
नामाऽपि यस्य नैकं च किं देशीयश्च नोह्यते ॥ १०४ ।

पारितोषिकं परितोषेण देयम् ॥ ९९ ।

प्राभृतक उपस्कारः ॥ १०२ ।

वृद्धोक्षमात्रसम्पत्तिर्जर्जरवृषमात्रसम्भारः ॥ १०३ ।

अन्वयो वंशः । उह्यते प्राप्यते ज्ञायत इत्यर्थः ॥ १०४ ।

इसके पश्चात् उन्होंने उस कार्पटिक को बड़ा पारितोषिक देकर बिदा किया। फिर उस भिखारी के चले जाने पर विचारा ॥ ९९ ।

और वे मन ही मन आश्चर्य से प्रफुल्ल नेत्र होकर कहने लगे कि अहो ! यह तो बहुत ही भला हुआ जो तुमने बड़ी अच्छी बात सुन ली ॥ १०० ।

लीला से ही त्रैलोक्यनायक जामाता के घर में यहाँ पर ये सम्पत्तियाँ सुनाई देतीं और दिखलाई पड़ती हैं ॥ १०१ ।

इसके सामने तो यह सब भेंट मैं लाया हूँ, बहुत ही तुच्छ-सा जँचता है। भला इससे कन्या और जमाई का कौन सन्तोष हो सकता है ? ॥ १०२ ।

मैंने तो यही समझा था कि, पहले ये जैसे थे, अब भी वैसे ही होंगे। वे सब कामों से पराङ्मुख थे और केवल एक बूढ़ा बैल भर ही उनकी सम्पत्ति थी ॥ १०३ ।

न तो कोई उनको जानता, न उनके वंश ही का कोई ठिकाना , न उनका एक ही कोई नाम, न यही जान पड़े कि वे किस देश के हैं ? ॥ १०४ ।

किं वृत्तश्च किमाचारो नाममात्रेण चेश्वरः ।
ऐश्वर्यसूचकं वस्तु यस्य किञ्चिन्न लक्ष्यते ॥ १०५ ।
सोऽसौ निर्वाणसम्पत्तिं रङ्कायाऽपि ददात्यहो ।
सुमुखः सर्वकर्माणि फलवन्ति करोति सः ॥ १०६ ।
वेदवेद्यो हि सर्वज्ञो यत्सन्तानोऽखिलं जगत् ।
यं न कोऽपि हि वेदादौ वेदवेद्यः स एष वै ॥ १०७ ।
योऽनभिज्ञः सदा ज्ञातः स सर्वज्ञोऽयमेव हि ।
यस्यैकमपि नो नाम पुंसा ज्ञेयं न केनचित् ॥ १०८ ।
सर्वेषां सर्वनामानि यस्य नामानि निश्चितम् ।
सोऽसौ हि सर्वदेशीयः सर्वेभ्यः सर्वसिद्धिदः ॥ १०९ ।
यस्य देशो न विदितो यस्तु वृत्तिपराङ्मुखः ।
आचारहीनमिव यं पुराऽपश्यं कठोरधीः ॥ ११० ।
श्रुतिस्मृती यतः सर्वमाचारं वित्त एव हि ।
नाममात्रेण नियतं यमज्ञासिषमीश्वरम् ॥ १११ ।

अपश्यं ज्ञातवान् ॥ ११० ।

यत ईश्वरात् । वित्तो जानीतः । नियतं यथा स्यात् ॥ १११ ।

अथवा कौन सी उनकी वृत्ति है ? कि वा कैसा आचार है ? (इत्यादि) तब नाममात्र से तो वे ईश्वर हैं । पर उनके पास ऐश्वर्य-सूचक कोई भी वस्तु नहीं दीख पड़ती थी ॥ १०५ ।

(पर अब तो देखता हूँ) कि ये मेरे वे ही जामाता रंक को भी सब सम्पत्तियाँ दे देते हैं । सुमुख (प्रसन्न) होने पर, सब कर्मों को सफल कर डालते हैं ॥ १०६ ।

वे वेदवेद्य (सर्वज्ञाता) और सर्वान्तर्यामी हैं, यह समस्त संसार उन्हीं का बाल-बच्चा है । आदि में जिसे कोई भी नहीं जान सका था, आज वेदवेदनीय हो रहे हैं ॥ १०७ ।

जो सदैव अनभिज्ञ समझे जाते थे; अब वे ही सर्वज्ञ हो गये हैं, पहले कोई उस पुरुष का एक भी नाम नहीं जानता था ॥ १०८ ।

पर अब, इस घड़ी सब किसी के सभी नाम निश्चय रूप से उन्हीं के नाम हो रहे हैं और वे ही सब देश के बन गये हैं एवं सब लोगों को सभी सिद्धियाँ भी दे रहे हैं ॥ १०९ ।

मैं कठोरबुद्धि होने से ही उनको पहले देशहीन, वृत्तिपराङ्मुख और आचारशून्य देखता था । आज समझता हूँ कि उन्हीं से श्रुति और स्मृतियों ने भी

साक्षादीश्वर एवैष सोऽन्येष्वैश्वर्यसूचकः ।
अपि सर्वगुणाधारो गुणातीतः परापरः ॥ ११२ ।
अर्वाचीन इहाऽप्येष पराचीनः परात्परः ।
भूधराणामहं नाथो विश्वनाथ उमापतिः ॥ ११३ ।
अहं प्रमितसम्पत्तिरप्रमेयधनो ह्यसौ ।
तुच्छप्राभृतकस्तस्मान्नेदानीमस्य दर्शनम् ॥ ११४ ।
करिष्येऽथ करिष्यामि व्यावृत्त्यागत्य कर्हिचित् ।
संप्रधार्येति मनसि सायं स च गिरीश्वरः ॥ ११५ ।
आहूय सर्वाननुगान् पार्वतीयान् महाबलान् ।
आदिष्टवानिदं वाक्यं सर्वे यूयं बलाधिकाः ॥ ११६ ।
कुर्वन्त्वेकं ममादेशं यावन्नोद्यति भानुमान् ।
तावच्छिवालयं चैकं विदधत्वत्र सत्वरम् ॥ ११७ ।
यस्मिन् कृते कृतार्थः स्यामिह लोके परत्र च ।
समागत्येह काश्यां यः कुर्यादेकं शिवालयम् ॥ ११८ ।

परापरः कार्यकारणस्वरूपः । महेश्वर इति क्वचित्पाठः ॥ ११२ ।

परादव्याकृतात् ॥ ११३ ।

सब आचार सीखे हैं । वे नाममात्र के नहीं, वरन् वास्तव में ईश्वर हैं ॥ ११०-१११ ।

अहो ! मेरे वही जामाता साक्षात् ईश्वर हैं; क्योंकि वे ही सब के ऐश्वर्यदाता हैं और सभी गुणों के आधार होने पर भी वे ही गुणों से अतीत और परों के भी परे हैं । मैं तो केवल पर्वतों का नाथ हूँ, पर ये उमापति विश्वभर के अधिनाथ हैं ॥ ११२-११३ ।

मैं तो परिमित सम्पत्तिशाली हूँ, पर वे तो अमित धनवाले हैं । अतएव यह मेरी लायी हुई भेंट तो उनके दिखाने योग्य नहीं है ॥ ११४ ।

इसी कारण से इस समय उनसे मिलना ठीक नहीं, फिर कभी आकर मिलूँगा । हिमवान् ने सायंकाल में यही सिद्धान्त मन ही मन स्थिर किया ॥ ११५ ।

बड़े बली अपने समस्त पर्वतवासी अनुचरों को बुलाकर यह बात कहने लगे– 'तुम सब बड़े ही बलशाली हो ॥ ११६ ।

अतएव सूर्य के उदय होने से पहले ही झटपट एक शिपालय बना दो, बस एक यही मेरा आदेश है ॥ ११७ ।

क्योंकि शिवालय बन जाने से मैं इस लोक और परलोक उभयत्र कृतार्थ हो जाऊँगा । जो कोई इस काशी धाम में आकर एक शिवालय बना सके, उसे त्रैलोक्यमात्र के गृहवासी कर देने का फल होता है । वह विधिपूर्वक सब दानों को

येन त्रैलोक्यमखिलं सालयं कृतमेव हि ।
तेन दत्तानि दानानि महान्ति विधिपूर्वकम् ॥ ११९ ।
सुपर्वणि सुपात्राय सुतीर्थे श्रद्धयाऽधिकम् ।
येन स्ववित्तमानेन धर्मोपार्जितवित्ततः ॥ १२० ।
कृतं शम्भोर्महासद्म न तं पद्मा त्यजेत्क्वचित् ।
तपांसि तेन तप्तानि शीर्णपर्णाशनान्यपि ॥ १२१ ।
वाराणसीं समासाद्य येनाऽकारि शिवालयः ।
अशेषाः सुविशेषाढ्या इष्टास्तेन महामखाः ॥ १२२ ।
आनन्दकानने येन देवदेवालयः कृतः ।
इति तस्य समादेशं समाकर्ण्याऽनुगास्ततः ॥ १२३ ।
चक्रुर्देवालयं श्रेष्ठं यावद् व्युष्टा न यामिनी ।
तावच्छैलेश्वरं लिङ्गं शैलेशेन प्रतिष्ठितम् ॥
चन्द्रकान्तमणेश्चञ्चत्कान्तिश्वेतितमण्डपम् ॥ १२४ ।
अलेखयत्प्रशस्तिं च प्रशस्ताक्षरमालिनीम् ।
व्याचक्षाणां निजां सर्वगोत्रेभ्योऽप्यधिकोन्नतिम् ॥ १२५ ।

सुपर्वणि रविग्रहे ॥ १२० ।

व्युष्टा प्रभाता ॥ १२४ ।

प्रशस्तिं प्रासादकर्तृसूचिकां पत्रीम् ॥ १२५ ।

बड़ी श्रद्धा से उत्तम पर्व पर प्रशस्त तीर्थों में जाकर सुपात्र को दे चुका। उसने धर्मोपार्जित धन से अपने विभव के अनुसार यहाँ पर महादेव का मन्दिर बनवा दिया। ऐसे पुरुष को कमलादेवी कभी नहीं त्याग सकतीं। जिस किसी ने वाराणसी में पहुँचकर शिवालय बनवा दिया, उसने सूखे पत्तों के भोजन इत्यादि बड़े-बड़े तपों का अनुष्ठान कर लिया। इस आनन्दकानन में जो कोई देवदेव शिव का मन्दिर निर्माण करा सका, उसे बड़े धूमधाम से किये गये बड़े-बड़े यज्ञों का पूर्ण फल प्राप्त होता है। इस प्रकार से गिरिराज की आज्ञा पाकर उनके अनुचर लोगों ने रात्रि भर में ही एक बहुत ही अच्छा देवालय प्रस्तुत कर दिया और हिमवान् ने भी प्रभात होने से पूर्व ही चन्द्रकान्तमणि की चमकीली कान्ति से मंडप को श्वेत कर देने वाले **शैलेश्वर** नामक उत्तम शिवलिंग को स्थापित कर दिया ॥ ११८-१२४ ।

फिर उन्होंने अन्य सब पर्वतों से अपनी प्रधानता-सूचक प्रशस्त अक्षरपंक्ति की एक प्रशस्ति लिखवाकर वहाँ पर लगा दी ॥ १२५ ।

ततोऽरुणोदये जाते स्नात्वा पञ्चनदे ह्रदे ।
शैलराजः कालराजं नमस्कृत्य समर्च्य च ॥ १२६ ।
तत्र[1] राशिं समुत्सृज्य परितस्त्वरितो ययौ ।
पार्वतीयैरनुगतः सर्वैरपि निजालयम् ॥ १२७ ।
ततः प्रातः समालोक्य गणौ हुण्डनमुण्डनौ ।
हृष्टौ देवालयं रम्यं वरणायास्तटे शुभे ॥ १२८ ।
अदृष्टपूर्वं देवाय निवेदयितुमागतौ ।
तौ तु दृष्ट्वा महादेवमुमादर्शितदर्पणम् ॥ १२९ ।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ कृताञ्जलिपुटौ गणौ ।
कृताभ्यनुज्ञौ भ्रूक्षेपाद् विज्ञप्तिमथ चक्रतुः ॥ १३० ।
देवदेव न जानीवः केनचिद्दृढभक्तिना ।
अतीवरम्यः प्रासादो निर्मितो वरणातटे ॥ १३१ ।
आ सायं नैक्षि चावाभ्यां दृष्टोऽद्यैव प्रगे विभो ।
गणोदितमितीशानो निशम्याह गिरीन्द्रजाम् ॥ १३२ ।

राशिं रत्नानामिति शेषः ॥ १२७ ।

नैक्षि न दृष्टः । प्रगे प्रातःकाले ॥ १३२ ।

तत्पश्चात् गिरिराज ने अरुणोदय होने पर पंचनदह्रद में स्नान एवं कालभैरव का दर्शन और पूजन किया ॥ १२६ ।

तत्पश्चात् वहीं पर सब रत्नों की राशि को रख अपने समस्त पर्वतवासी अनुचरों के साथ उसी समय अपने घर को चल दिये ॥ १२७ ।

इसके अनन्तर प्रातःकाल होने पर हुंडन और मुंडन नामक शिव के दोनों गण सुहावने वरणा के तट पर रमणीय शिवालय देख प्रसन्न हो गये ॥ १२८ ।

उस अदृष्टपूर्व मन्दिर का समाचार भगवान् से निवेदन करने के लिये भगवान् शिव के समीप जा पहुँचे । वहीं पर भगवती उमादेवी स्वयं महादेव को दर्पण दिखा रही थीं ॥ १२९ ।

उन दोनों ने हाथों को जोड़कर भूतल पर दंडवत् प्रणाम किया । फिर भ्रूभंग के द्वारा आज्ञा पाकर यों निवेदन किया ॥ १३० ।

हे देवदेव ! हम लोग नहीं जानते कि, किस बड़े भक्तिमान् ने वरणा के तट पर बड़ा ही सुन्दर मन्दिर प्रस्तुत किया है ॥ १३१ ।

हे विभो ! संध्यासमय तक तो वहाँ कुछ नहीं दीख पड़ा था, पर आज प्रातः-काल ही (एकाएक) वह मन्दिर दिखाई पड़ा है । गणों की बात सुनकर सब

---

1. रत्नराशिमिति वा पाठः ।

विज्ञातसर्ववृत्तान्तः सर्वज्ञोऽप्यनभिज्ञवत् ।
अचलेन्द्राङ्गजे यावस्तत्प्रासादविलोकने ॥ १३३ ।
इत्युक्त्वेशः सगिरिजो निरगात्सगणो मुने ।
महास्यन्दनमारुह्य प्रासादं द्रष्टुमुत्सुकः ॥ १३४ ।
अथाऽऽलुलोके गिरिशः प्रासादं वरणातटे ।
अतीवरम्यरचनं यामिनीमात्रनिर्मितम् ॥ १३५ ।
स्यन्दनादवरुह्याऽथ गर्भागारमवीविशत् ।
ददर्श च महालिङ्गं चन्द्रकान्तशिलामयम् ॥ १३६ ।
देदीप्यमानं महसा मोक्षलक्ष्म्यङ्कुराकृति ।
दृष्टिप्रसादजननं पुनर्जननशातनम् ॥ १३७ ।
केनेदं स्थापितं लिङ्गं यावज्जिज्ञासतीश्वरः ।
तावद्ददर्श पुरतः प्रशस्तिं कर्तृसूचिकाम् ॥ १३८ ।
वाचयित्वेव च मनाङ्मनस्येव मनोजहृत् ।
उवाच देवीं दिष्ट्येति प्रेक्ष स्वात्मपितुः कृतिम् ॥ १३९ ।

आलुलोके ददर्श ॥ १३५ ।
शातनं नाशकम् ॥ १३७ ।
जिज्ञासति जिज्ञासते विचारयतीत्यर्थः ॥ १३८ ।
करामलकवत्सर्वदर्शित्वादिवशब्दः । वाचयित्वैवेति वा पाठः । मनोजहृत् कामनाशकृत् । दिष्ट्या भद्रम् । पोषकादिव्यावृत्त्यर्थमात्मपदम् ॥ १३९ ।

वृत्तान्त विदित हो जाने पर भी सर्वज्ञ भगवान् महेश्वर ने पार्वतीदेवी से अनभिज्ञ की तरह कहा– 'अयि शैलेन्द्रनन्दिनि ! चलो हम तुम दोनों ही जन उस मन्दिर को देखने चलें' ॥ १३२-१३३ ।

हे मुने ! यह कहकर महेश्वर पार्वती और गणों के सहित बड़े रथ पर चढ़ उस मन्दिर को देखने को उत्कंठित होकर वहाँ से निकल पड़े ॥ १३४ ।

फिर तो महादेव ने वरणा के तीर पर एक ही रात के बने हुए बड़ी सुन्दर रचना से पूर्ण उस मन्दिर को देखा ॥ १३५ ।

उसे देखते ही रथ पर से उतर कर उसके भीतर प्रवेश किया । वहाँ पर तेज से देदीप्यमान, मोक्षलक्ष्मी के अंकुर समान, नयनानन्दकर और पुनर्जन्म-दुःखनाशक, चन्द्रकान्तशिला के महालिंग को देखा ॥ १३६-१३७ ।

इसी में परमेश्वर ने ज्यों ही यह पूछना चाहा कि इस लिंग को किसने स्थापित किया है, त्यों ही कर्तृसूचक प्रशस्ति सामने दीख पड़ी ॥ १३८ ।

अनन्तर कन्दर्पदर्पहारी हर ने मन ही में कुछ बाँचकर पार्वती से कहा कि देवि ! (अरे) अपने पिता की कीर्ति तो देखो ॥ १३९ ।

उमा श्रुत्वेति संहृष्टा कदम्बकुसुमश्रियम् ।
आनन्दाङ्कुरलक्ष्मीवदङ्गेषु परिबिभ्रती ॥ १४० ।
ततो व्यजिज्ञपद्देवं देवी पादौ प्रणम्य च ।
अस्मिँल्लिङ्गवरे नाथ त्वया स्थेयमहर्निशम् ॥ १४१ ।
अस्य लिङ्गस्य ये भक्ताः शैलेशस्य महेशितुः ।
तेभ्यस्त्वं महतीमृद्धिं दास्यसीह परत्र च ॥ १४२ ।
तथेति देव उक्त्वा तां पार्वतीं पुनरब्रवीत् ।
वरणायां कृतस्नानैः शैलेशो यैः समर्चितः ॥ १४३ ।
पितॄन् सन्तर्प्य च मुदा दत्वा दानानि शक्तितः ।
न तेषां पुनरावृत्तिरत्र संसारवर्त्मनि ॥ १४४ ।
शैलेश्वरे महालिङ्गे नित्यं स्थास्याम्यहं शुभे ।
प्रदास्यामि परां मुक्तिमेतल्लिङ्गार्चके जने ॥ १४५ ।
शैलेश्वरं ये द्रक्ष्यन्ति वरणायाः सुरोधसि ।
तेषां काश्यां निवसतां दुःखं नाभिभविष्यति ॥ १४६ ।

उमेति । कदम्बकुसुमश्रियं बिभ्रती उमा ततस्तदनन्तरं देवं व्यजिज्ञपद् विज्ञापितवतीति द्वितीयेनाऽन्वयः ॥ १४० ।

सुरोधसि शोभने तीरे ॥ १४६ ।

यह सुनकर अत्यन्त आनन्दित होने से हर्ष के अँखुआ की शोभा की तरह समस्त अंगों में कदम के फूल की छटा को धारण करती हुई उमा (माता) रोमांचित हो गईं ॥ १४० ।

देवी ने महादेव के चरणों पर गिर कर यह निवेदन किया 'हे–नाथ ! इस उत्तम लिंग में आपको अहर्निश रहना चाहिए ॥ १४१ ।

और जो लोग इस शैलेश्वर महालिंग के भक्त होंवें, उन सबको आप इस लोक और परलोक में भी पूर्ण समृद्धि दिया करें' ॥ १४२ ।

तब महादेव "ऐसा ही होगा" कहकर पार्वती से फिर कहने लगे–'जो लोग वरणा में स्नान करने के उपरान्त शैलेश्वर का पूजन करेंगे एवं पितरों का तर्पण कर प्रसन्न मन से यथाशक्ति दान देंगे, उन सबको फिर इस संसारमार्ग में घूमना नहीं पड़ेगा ॥ १४३-१४४ ।

मैं इस शुभप्रद शैलेश्वर लिंग में सदैव वास करूँगा और इस लिंग के पूजने वाले को उत्तम मोक्षपद देता रहूँगा ॥ १४५ ।

वरणा के सुन्दर तीर पर जो लोग शैलेश्वर का दर्शन करेंगे, उन काशी-वासियों को किसी भी दुःख से पीड़ित नहीं होना पड़ेगा' ॥ १४६ ।

उमयाऽपि वरो दत्तस्तत्र लिङ्गे घटोद्भव ।
शैलेश्वरस्य ये भक्तास्ते मे पुत्रा न संशयः ॥ १४७ ।

स्कन्द उवाच–

इति शैलेश्वरं लिङ्गं कथितं ते महामुने ।
इदानीं कथयिष्यामि रत्नेश्वरसमुद्भवम् ॥ १४८ ।
श्रुत्वा शैलेशमाहात्म्यं श्रद्धया परया नरः ।
पापकञ्चुकमुत्सृज्य शिवलोकमवाप्नुयात् ॥ १४९ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे शैलेशादिलिङ्गनिर्णयो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः॥ ६६ ।

पापकञ्चुकं पापमेव कञ्चुकं निर्मोकम् ॥ १४९ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षट्षष्टितमोऽध्यायः॥ ६६ ।

हे कुंभज ! इसके पीछे (पश्चात्) उमा देवी ने भी यह वरदान किया कि जो लोग शैलेश्वर के भक्त होंगे, वे निःसन्देह मेरे भी पुत्र के समान प्यारे होंगे ॥ १४७ ।

स्कन्द ने कहा–

हे महामुने ! यह तो मैंने तुमसे शैलेश्वर लिंग का वर्णन किया । अब रत्नेश्वर के प्रादुर्भाव की कथा कहता हूँ ॥ १४८ ।

परमश्रद्धापूर्वक शैलेश्वर के इस माहात्म्य को सुनने से मनुष्य पाप का कंचुक उतार कर शिवलोक में सुख से निवास करता है ॥ १४९ ।

प्रथम शैलपुत्री जहाँ, तहँ शैलेश्वर नाथ ।
वरणा पै छाजैं दोऊ, करैं सुमंगल साथ[1] ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां शैलेश्वरादिलिङ्गवर्णनं नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ।

---

1. यहाँ यह सूचना अनुवादक ने दी है कि शैलेश्वर लिङ्ग शैलपुत्री मन्दिर के पास है । वह वरणा नदी के तट पर है । अधिकांश लोग मंदिर से अपरिचित हैं ।

॥ अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच—

रत्नेश्वरसमुत्पत्तिं कथयस्व षडानन ।
रत्नभूतं महालिङ्गं यत्काश्यां परिवर्ण्यते ॥ १ ।
कोऽस्य लिङ्गस्य महिमा केनैतच्च प्रतिष्ठितम् ।
एतं विस्तरतो ब्रूहि गौरीहृदयनन्दन ॥ २ ।

स्कन्द उवाच—

रत्नेश्वरस्य माहात्म्यं कथयिष्यामि ते मुने ।
यथा च तस्य लिङ्गस्य प्रादुर्भावोऽभवद् भुवि ॥ ३ ।
श्रुतं नामाऽपि लिङ्गस्य यस्य जन्मत्रयार्जितम् ।
वृजिनं नाशयेत्तस्य प्रादुर्भावं ब्रुवे मुने ॥ ४ ।

सप्तषष्टितमेऽध्याये रत्नेशस्य महेशितुः ।
प्रशंसा वर्ण्यते तावत्सर्वपापप्रणाशिनी ॥ १ ।

इदानीं कथयिष्यामि रत्नेश्वरसमुद्भवमित्युक्तं तत्र प्रश्नं करोति । **रत्नेश्वरेति** ॥ १ ।

पुनः प्रश्नद्वयमाह । **कोऽस्येति** । एतम् एतत् । यत्सर्वं पृष्टमित्यर्थः । एतं महिमानमिति वा ॥ २ ।

त्रयाणां पृष्टत्वेऽप्यनादिसिद्धत्वेन प्रतिष्ठितत्वाभावात्तं विहाय द्वयोरनुवादमाह । **रत्नेश्वरस्येति** ॥ ३ ।

ब्रुवे स्पष्टं कथयामि । ब्रवीमि ते इति क्वचित् ॥ ४ ।

(रत्नेश्वर की प्रशंसा और कथा)

अगस्त्य बोले—

हे षडानन ! संप्रति आप रत्नेश्वर की उत्पत्ति का वर्णन कीजिये । इसका कारण है, वह महालिंग काशी में रत्नभूत कहा जाता है ॥ १ ।

हे गौरीहृदयनन्दन ! उस लिंग की कैसी महिमा है ? और किसने उसकी प्रतिष्ठा की है ? इन बातों को आप विस्तारपूर्वक वर्णन करें ॥ २ ।

स्कन्द ने कहा—

हे मुनिवर ! मैं तुमसे रत्नेश्वर का माहात्म्य और जैसे वह लिंग भूतल में प्रकट हुआ, यह बताता हूँ ॥ ३ ।

हे ऋषे ! जिस लिंग का एक नाम भी सुनाई पड़ जाने से तीन जन्म के बटोरे हुए (संचित) पाप का नाश हो जाता है, मैं उसी का प्रादुर्भाव-वर्णन करता हूँ ॥४।

शैलराजेन रत्नानि यानि पुञ्जीकृतान्यहो ।
उत्तरे कालराजस्य तानि तस्य गिरेर्वृषात् ॥ ५ ।
सर्वरत्नमयं लिङ्गं जातं तत्सुकृतात्मनः ।
शक्रचापसमच्छायं सर्वरत्नद्युतिप्रभम् ॥ ६ ।
तल्लिङ्गदर्शनादेव ज्ञानरत्नमवाप्यते ।
शैलेश्वरं समालोक्य शिवौ तत्र समागतौ ॥ ७ ।
यत्र रत्नमयं लिङ्गमाविर्भूतं स्वयं मुने ।
तस्य स्फुरत्प्रभाजालैस्ततमम्बरमण्डलम् ॥ ८ ।
तत्र दृष्ट्वा शुभं लिङ्गं सर्वरत्नसमुद्भवम् ।
भवान्यदृष्टपूर्वा हि परिपप्रच्छ शङ्करम् ॥ ९ ।
देवदेव जगन्नाथ सर्वभक्ताभयप्रद ।
कुतस्त्यमेतल्लिङ्गं हि सप्तपातालमूलवत् ॥ १० ।

कालराजस्य कालभैरवस्य । वृषाद्धर्मात् ॥ ५ ।

तत् प्रसिद्धम् । हीति क्वचित् । सुकृतं पुण्यमात्मनि यस्य स सुकृतात्मा तस्य । शक्रचापसमच्छायमिन्द्रधनुःसदृशकान्ति ॥ ६ ।

ततं व्याप्तम् ॥ ८ ।

सर्वरत्नानां समुद्भवो यस्मात् सर्वरत्नैः समुद्भवो वा यस्य तत्सर्वरत्नसमुद्भवं तत् । अदृष्टपूर्वा न दृष्टं पूर्वमर्थाल्लिङ्गं यया सा तथा ॥ ९ ।

सप्तपातालमूलवत् सप्तपातालपर्यन्तं मूलं यस्यास्ति तत्तथा ॥ १० ।

शैलराज हिमालय ने कालभैरव के उत्तरभाग में जो रत्नों की ढेर लगा दी थी, वह सब रत्न उस पुण्यात्मा पर्वतेश्वर के धर्मबल से इन्द्रधनुष के समवर्ण और सब रत्नों की प्रभा से भासित, समस्त रत्नमय एक लिंग का स्वरूप हो गया ॥ ५-६ ।

उस लिंग के दर्शन ही से ज्ञानरत्न प्राप्त होता है । शैलेश्वर को देखकर महादेव और पार्वती वहाँ आये ॥ ७ ।

वहाँ रत्नमय लिंग आप से आप ही प्रकट हुआ था । हे मुने ! उस लिंग के प्रभाजाल से आकाशमंडल भर गया था ॥ ८ ।

वहाँ पर परमोत्तम सब रत्नों से उत्पन्न अदृष्टपूर्व लिंग को देखकर भवानी शंकर से पूछने लगीं ॥ ९ ।

'हे देवाधिदेव ! जगन्नायक ! सर्वभक्ताभयप्रद ! सातवें पाताल में बद्धमूल-सा यह लिंग कहाँ से निकला है ? ॥ १० ।

ज्वालाजटिलिताकाशं प्रभाभासितदिङ्मुखम् ।
किमाख्यं किं स्वरूपं च किं प्रभावं भवान्तक ॥ ११ ।
यस्य संवीक्षणादेव मनो मेऽतीव हृष्टवत् ।
इहैव रमते नाथ कथयैतत्प्रसादतः ॥ १२ ।

देवदेव उवाच–

शृण्वपर्णे समाख्यामि यत्त्वयाऽपृच्छि पार्वति ।
स्वरूपमेतल्लिङ्गस्य सर्वतेजोनिधेः परम् ॥ १३ ।
तव पित्रा हिमवता गिरिराजेन भामिनि ।
त्वामुद्दिश्य महारत्नसम्भारोऽत्राऽप्यनायि हि ॥ १४ ।
अत्र तानि च रत्नानि राशीकृत्य हिमाद्रिणा ।
सुकृतोपार्जितान्येव ययौ स्वसदनं पुनः ॥ १५ ।
तवार्थं वा ममार्थं वा श्रद्धया यत्समर्प्यते ।
काश्यां तस्य परीपाको भवेदीदृग्विधोऽनघे ॥ १६ ।

ज्वालाजटिलिताकाशं ज्वालाभिर्जटिलितं जटाव्याप्तमिव कृतमाकाशं येन तत्तथा ॥ ११ ।

महारत्नसंभारः तद्रूपः पारिबर्हः, महारत्नानां समूह इति वा ॥ १४ ।

इसकी ज्वाला से आकाश जटिलित और प्रभा से दिङ्मंडल उद्भासित हो रहा है। हे भवान्तक ! उसका क्या नाम है ? कैसा स्वरूप है ? और कौन सा प्रभाव है ? ॥ ११ ।

इसके देखने ही से मेरा मन बहुत ही हृष्ट-सा होकर यहीं पर रम रहा है, हे नाथ ! आप कृपा करके इन सब बातों को कहें ॥ १२ ।

महादेव कहने लगे–

हे अपर्णे ! तुमने जो पूछा है, मैं इस तेजोनिधि परम लिंग का स्वरूप इत्यादि कहता हूँ। हे पार्वति ! श्रवण करो ॥ १३ ।

हे भामिनि ! तुम्हारे पिता गिरिराज हिमवान् तुम्हारे लिये बहुत-से रत्नों की राशियाँ यहाँ ले आये थे ॥ १४ ।

हिमाचल ने सुकृतोपार्जित उन सब रत्नों को यहीं पर ढ़ेर लगाकर फिर अपने स्थान को प्रस्थान किया ॥ १५ ।

हे अनघे ! श्रद्धापूर्वक तुम्हारे निमित्त अथवा मेरे लिये काशी में जो कुछ समर्पण किया जाता है, उसका ऐसा ही परिपाक होता है ॥ १६ ।

लिङ्गं रत्नेश्वराख्यं वै मत्स्वरूपं हि केवलम् ।
अस्य प्रभावो हिमवान् वाराणस्यामुमे ध्रुवम् ॥ १७ ।
सर्वेषामिह लिङ्गानां रत्नभूतमिदं परम् ।
अतो रत्नेश्वरं नाम परं निर्वाणरत्नदम् ॥ १८ ।
अनेनैव सुवर्णेन पित्रा राशीकृतेन च ।
प्रासादमस्य लिङ्गस्य विधापय महेश्वरि ॥ १९ ।
लिङ्गप्रासादकरणात् खण्डस्फुटितसंस्कृतेः ।
लिङ्गस्थापनजं पुण्यं हेलयैवेह लभ्यते ॥ २० ।
तथेति भगवत्योक्त्वा गणाः प्रासादनिर्मितौ ।
सोमनन्दिप्रभृतयोऽसंख्या व्यापारिता मुने ॥ २१ ।
गणैश्च काञ्चनमयो नानाकौतुकचित्रितः ।
निर्ममे याममात्रेण प्रासादो मेरुशृङ्गवत् ॥ २२ ।

उमे हे भवानि । भवेदिति क्वचित् ॥ १७ ।

विधापय कारय । १९ ।

ननु प्रासादकरणे किं फलमिति पृच्छायामाह । लिङ्गप्रासादेति ॥ २० ।

व्यापारिता नियुक्ताः ॥ २१ ।

हे उमे ! यह रत्नेश्वर नामक लिंग केवल मेरा ही स्वरूप है और वाराणसी में इसका बड़ा ही प्रभाव है ॥ १७ ।

यहाँ के सब लिंगों के मध्य में यह परमरत्नभूत है, अतएव निर्वाणरूप रत्न का दाता यह उत्तम लिंग रत्नेश्वर नाम से उत्पन्न हुआ है ॥ १८ ।

हे महेश्वरि ! तुम अपने पिता के बटोरे हुए इसी सुवर्ण के ढेर से इस लिंग का (सुन्दर) मन्दिर बनवा दो ॥ १९ ।

जो लिंग का शिवालय बनवाता अथवा टूटे-फूटे का संस्कार (मरम्मत) करा देता है, उसे अनायास ही लिंग के स्थापन करने का पुण्य मिल जाता है ॥ २० ।

हे मुने ! भगवती ने तुरन्त ही 'बहुत अच्छा' कहकर सोमनन्दी इत्यादि असंख्य गणों को मन्दिर बनाने में लगा दिया ॥ २१ ।

उन गणों ने एक ही पहर के भीतर अनेक कौतुकमय चित्रों से पूर्ण सुमेरु के शृंग सा सुवर्ण का मन्दिर बना दिया ॥ २२ ।

देवी प्रहृष्टवदना दृष्ट्वा प्रासादनिर्मितिम् ।
गणेभ्यो व्यतरद् भूरि सम्मानं पारितोषिकम् ॥ २३ ।
पुनश्च देवी पप्रच्छ प्रणिपातपुरःसरम् ।
महिमानं महादेवं लिङ्गस्याऽस्य महामुने ॥ २४ ।

देवदेव उवाच–

लिङ्गं त्वनादिसंसिद्धमेतद्देवि शुभप्रदम् ।
आविर्भूतमिदानीं च त्वत्पितुः पुण्यगौरवात् ॥ २५ ।
गुह्यानां परमं गुह्यं क्षेत्रेऽस्मिंश्चिन्तितप्रदम् ।
कलौ कलुषबुद्धीनां गोपनीयं प्रयत्नतः ॥ २६ ।
यथा रत्नं गृहे गुप्तं न कैश्चिज्ज्ञायते परैः ।
अविमुक्ते तथा लिङ्गं रत्नभूतं गृहे मम ॥ २७ ।
यानि ब्रह्माण्डमध्येऽत्र सन्ति लिङ्गानि पार्वति ।
तैरर्चितानि सर्वाणि रत्नेशो यैः समर्चितः ॥ २८ ।
प्रमादेनाऽपि यैर्गौरि लिङ्गं रत्नेशमर्चितम् ।
ते भवन्त्येव नियतं सप्तद्वीपेश्वरा नृपाः ॥ २९ ।

देवी ने उस प्रासाद की रचना को देखकर अत्यन्त प्रसन्नमुख हो उन गणलोगों को बहुत-सा पारितोषिक दिया ॥ २३ ।

हे मुनिवर ! इसके पीछे भगवती प्रणामपूर्वक फिर महादेव से उस लिंग की महिमा पूछने लगीं ॥ २४ ।

शंकर ने कहा–

हे देवि ! यह शुभदायक लिंग तो अनादिसिद्ध है, पर इस घड़ी (इस समय) तुम्हारे पिता के पुण्य-गौरव से प्रकट हुआ है ॥ २५ ।

इस क्षेत्र में मनोवांछित फल का दाता और गोपनीय वस्तुओं में परमगोप्य इस रत्नेश्वर लिंग को कलियुग में विशेष करके पापबुद्धि लोगों से प्रयत्नपूर्वक छिपाये ही रखना चाहिए ॥ २६ ।

जैसे घर में भी रत्न छिपा कर ही रखा जाता है, जिससे कि उसे कोई दूसरे लोग न जान सकें, वैसे ही मेरे अविमुक्तनामक गृह में रत्नभूत यह लिंग भी गुप्त रखा हुआ है ॥ २७ ।

हे पार्वति ! ब्रह्माण्डमण्डल में जितने ही लिंग हैं, उन सबके पूजन करने का फल इस एक ही रत्नेश्वर लिंग की पूजा से प्राप्त हो जाता है ॥ २८ ।

हे गौरि ! जो लोग प्रमादवश भी रत्नेश्वर का समर्चन कर सके हैं, वे अवश्य ही सातों द्वीपों के स्वामी महाराज होते हैं ॥ २९ ।

त्रैलोक्ये यानि वस्तूनि रत्नभूतानि तानि तु ।
रत्नेश्वरं समभ्यर्च्य सकृत्प्राप्नोति मानवः ॥ ३० ।
पूजयिष्यन्ति ये लिङ्गं रत्नेशं कामवर्जिताः ।
ते सर्वे मद्गणा भूत्वा प्रान्ते द्रक्ष्यन्ति मामिह ॥ ३१ ।
रुद्राणां कोटिजप्येन यत्फलं परिकीर्तितम् ।
तत्फलं लभ्यते देवि रत्नेशस्य समर्चनात् ॥ ३२ ।
लिङ्गे चानादिसंसिद्धे यद्वृत्तं तद्ब्रवीमि ते ।
इतिहासं महाश्चर्यं सर्वपापनिकृन्तनम् ॥ ३३ ।
पुरेह नर्तकी काचिदासीन्नाट्यार्थकोविदा ।
सैकदा फाल्गुने मासि शिवरात्र्यां कलावती ॥ ३४ ।
ननर्त जागरं प्राप्य जगौ गीतं च पेशलम् ।
स्वयं च वादयामास नानावाद्यानि वाद्यवित् ॥ ३५ ।
तेन तौर्यत्रिकेणाऽपि प्रीणयित्वाऽथ सा नटी ।
रत्नेश्वरं महालिङ्गं देशमिष्टं जगाम ह ॥ ३६ ।

कामवर्जिता निष्कामाः ॥ ३१ ।
किं तद्वृत्तं तदाह । इतिहासमिति ॥ ३३ ।
नाट्यार्थकोविदा नृत्यकरणे पण्डिता ॥ ३४ ।
पेशलं मनोहरम् ॥ ३५ ।
तौर्यत्रिकेण नृत्यवाद्यगीतेन । यदाहाऽमरः—"तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यम्" इति ॥ ३६ ।

मनुष्य एक बार भी रत्नेश्वर की अर्चना करने से त्रिभुवन भर के सभी रत्नोपम वस्तुओं के पाने का अधिकारी हो जाता है ॥ ३० ।

जो लोग कामनारहित होकर रत्नेश्वर की पूजा करते हैं, वे सब मेरे गण होकर अन्त में यहाँ मेरा दर्शन पाते हैं ॥ ३१ ।

कोटिशः रुद्री जपने में (कोटिरुद्रीय पाठ से) जो फल होता है, हे देवि ! रत्नेश्वर के पूजन करने से भी वही फल-लाभ होता है ॥ ३२ ।

इस अनादिसिद्ध शिवलिंग के विषय में एक बड़ी ही आश्चर्यकर और सर्वपापनाशक घटना हुई है, उसका इतिहास तुमसे कहता हूँ ॥ ३३ ।

पूर्वकाल में नाचने-गाने में निपुण एक कलावती नामक नर्तकी इसी नगर में रहती थी । वह एक बार फाल्गुन मास की शिवरात्रि के पर्व पर रात्रिभर जागरण कर उत्तम गीत गाती हुई आप ही अनेक प्रकार के बाजे बजाने लगी ॥ ३४-३५ ।

इसके अनन्तर वह वाद्यदक्षा नटी अपने नाचने-गाने और बजाने से रत्नेश्वर महालिंग को प्रसन्न कर अपने इष्ट देश को चली गई ॥ ३६ ।

कालधर्मवशं याता तत्र सा वरनर्तकी ।
सुता गन्धर्वराजस्य वसुभूतेर्बभूव ह ॥ ३७ ।
सङ्गीतस्य सवाद्यस्य तस्य लास्यस्य पुण्यतः ।
तत्रेशाग्रे कृतस्येह जागरे शिवरात्रिजे ॥ ३८ ।
रम्या रत्नावली नाम रूपलावण्यशालिनी ।
कलाकलापकुशला मधुरालापवादिनी ॥ ३९ ।
पितुरानन्दकृन्नित्यं वसुभूतेर्घटोद्भव ।
सर्वगान्धर्वकुशला गुणरत्नमहाखनिः ॥ ४० ।
मुने सखीत्रयं तस्याश्चारुचातुर्यभाजनम् ।
शशिलेखाऽनङ्गलेखा चित्रलेखेति नामतः ॥ ४१ ।
तिसृभिस्ताभिरेकत्र वाग्देवी परिशीलिता ।
ताभ्यः सर्वाः कलाः प्रादात् परिप्रीता सरस्वती ॥ ४२ ।
प्राप्य रत्नावली गौरि सा जन्मान्तरवासनाम् ।
रत्नेश्वरस्य लिङ्गस्य जग्राह नियमं शुभम् ॥ ४३ ।

लास्यस्य नृत्यस्य । यदाहाऽमरः–'लास्यं नृत्यं च नर्तनम्' इति ॥ ३८ ।

कलानां चतुःषष्टीनां कलापः समूहस्तत्र कुशलाः ॥ ३९ ।

मुने इत्यगस्त्यसम्बोधनं कार्तिकेयकृतम् ॥ ४१ ।

वाग्देवी सरस्वती तिसृभिस्ताभिः सहितया रत्नावल्येत्यर्थः ॥ ४२ ।

नियमं व्रतम् ॥ ४३ ।

वह उत्तम नर्तकी वहीं पर कालधर्म के वश होकर गन्धर्वराज वसुभूति की कन्या हुई ॥ ३७ ।

शिवरात्रि पर्व में जागरण एवं बजाने और नाचने के पुण्यबल से, जो यहाँ पर रत्नेश्वर के सन्मुख उसने किया था, वह रूपलावण्यशालिनी, कलाकलाप में कुशला, मधुरालापवादिनी, पिता की आनन्दवर्द्धिनी, समस्त गान्धर्वशास्त्र में दक्ष और गुणरत्नों की बड़ी खानि वह सुन्दरी कन्या रत्नावली (नाम) से प्रसिद्ध हुई । हे कुंभज ! हे मुने ! उसकी शशिलेखा, अनंगलेखा और चित्रलेखा नामक तीन सखियाँ बड़ी ही चतुर थीं ॥ ३८-४१ ।

उन तीनों ने एक साथ हीं मिल-जुलकर वाग्देवी की आराधना की, परम-प्रसन्न होकर सरस्वती ने उन सबों को चौंसठों कलाओं में निपुणता दी ॥ ४२ ।

हे गौरि ! उस रत्नावली ने जन्मान्तर की वासना के कारण उस रत्नेश्वर लिंग का एक उत्तम नियम धारण किया था ॥ ४३ ।

रत्नभूतस्य लिङ्गस्य काश्यां रत्नेश्वरस्य वै ।
नित्यं संदर्शनं प्राप्य वक्ष्याम्यपि वचो मुखे ॥ ४४ ।
इत्थं नियमवत्यासीत् सा गन्धर्वसुतोत्तमा ।
ताभिः सखीभिः सहिता नित्यं लिङ्गं च पश्यति ॥ ४५ ।
एकदाऽऽराध्य रत्नेशं ममैतल्लिङ्गमुत्तमम् ।
समानर्च च सा बाला रम्यया गीतमालया ॥ ४६ ।
सख्यः प्रदक्षिणीकर्तुं लिङ्गं तिस्रोऽप्युमे गताः ।
तस्या गीतेन तुष्टोऽहं लिङ्गस्थो वरदोऽभवम् ॥ ४७ ।
यस्त्वया रंस्यते रात्रावद्य गन्धर्वकन्यके ।
तव नामसमानाख्यः स ते भर्ता भविष्यति ॥ ४८ ।
इति लिङ्गाम्बुधेर्जातां परिपीय वचःसुधाम् ।
बभूवाऽऽनन्दसन्दोहमन्थरातीव ह्रीमती ॥ ४९ ।

वचो वक्ष्यामि वचनं वदिष्यामि । अपिशब्देन भोजनादिकं संगृह्यते ॥ ४४।

समानर्च पूजयामास । चः समुच्चये । गीतमालया गीतसमूहेन ॥ ४६ ।

अभवम् जातः ॥ ४७ ।

तव नामसमानाख्यो रत्नचूड इत्यर्थः ॥ ४८ ।

आनन्दसन्दोहमन्थरा सुखसमूहेन व्याप्ता स्तब्धेति वा ॥ ४९ ।

(उसका नियम था कि) काशी में रत्नभूत रत्नेश्वर लिंग का प्रतिदिन जब तक दर्शन न कर लूँगी, तब तक मुँह से एक बात भी न बोलूँगी ॥ ४४ ।

वह उत्तम गन्धर्वकन्या उन अपनी सखियों के साथ इस व्रत की नियमवती होकर प्रतिदिन लिंग का दर्शन करने लगी ॥ ४५ ।

एक बार मेरे इसी उत्तम रत्नेश्वर लिंग की आराधना करती हुई वह बाला सुहावनी गीतावलियों से मुझे प्रसन्न करने लगी ॥ ४६ ।

हे उमे ! उस घड़ी उसकी तीनों ही सखियाँ लिंग की प्रदक्षिणा करती थीं, इसी से उसके गीत से प्रसन्न होकर मैं वरदान देने को प्रवृत्त हुआ ॥ ४७ ।

(मैंने वरदान दिया कि) हे गन्धर्वकन्ये ! आज की रात में जो तेरे ही ऐसा नामवाला तेरे साथ विहार करेगा, वही तेरा भर्ता होगा ॥ ४८ ।

वह रत्नावली, लिंगरूपी समुद्र से निकले हुए वचनामृत को पीकर आनन्दसन्दोह से मंथर और बड़ी ही लज्जित हो गई ॥ ४९ ।

गताऽथ व्योममार्गेण सखीभिः स्वपितुर्गृहम् ।
कथयन्ती निजोदन्तं तमालीनां पुरो मुदा ॥ ५० ।
ताभिर्दिष्ट्येति दिष्ट्येति सखीभिः परिनन्दिता ।
अद्य ते वाञ्छितं भावि रत्नेशस्य समर्चनात् ॥ ५१ ।
यद्यायाति स ते रात्रावद्य कौमारहारकः ।
चोरो बाहुलतापाशैः पाशितव्योऽतियत्नतः ॥ ५२ ।
गोचरीक्रियतेऽस्माभिर्यथा स सुकृतैकभूः ।
प्रातरेव तव प्रेयान् रत्नेशादिष्ट इष्टकृत् ॥ ५३ ।
याता स्वस्मासु हृष्टासु भवती पुण्यगौरवात् ।
अहो रत्नेश्वरं लिङ्गं प्रत्यक्षीकृतवंत्यसि ॥ ५४ ।

निजोदन्तं स्ववृत्तान्तं तं रत्नेशोक्तं यस्त्वयेत्यादिरूपम् । निजोद्देशमिति पाठेऽपि स एवार्थः । आलीनां सखीनाम् । यदाहाऽमरः—"आलिः सखा वयस्या च" इति ॥ ५० ।

परिनन्दिता हर्षिता । भावि भवितृ ॥ ५१ ।

बाहुलतापाशैः बाहू एव लतारूपाः पाशास्तैः पाशितव्यो बद्धव्यः ॥ ५२ ।

सुकृतैकभूः पुण्यैकस्थानम् । प्रातरिति । भवत्याः पुण्यस्य गौरवाद् गुरोर्भावो गौरवं तस्मादस्मासु हृष्टासु यातासु सतीषु अस्माकमग्रे भाविहर्षनिमित्तं रत्नेशेनादिष्टस्तव प्रेयान् प्रियतमो भर्ता प्रातःकाल एव इष्टकृद् भविष्यतीत्यर्थः ॥ ५३ ।

तस्या भाग्यमभिनन्दन्ति । अहो इति सार्धेन । अहो इत्याश्चर्ये हर्षे वा ॥ ५४ ।

फिर सखियों के साथ अपने पिता के घर को जाती हुई उसने अपनी सखियों से अपना वृत्तान्त हर्षपूर्वक कह सुनाया ॥ ५० ।

उन सब ने धन्य ! धन्य (बाह बाह) ! कहकर उसे सन्तुष्ट किया (और कहा कि) आज रत्नेश्वर के पूजन से तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ ॥ ५१ ।

यदि आज की रात्रि में तुम्हारा कौमारहर चोर आवे, तो तुम्हें बड़े प्रयत्न से उसे बाहुलता की फाँस में बाँध रखना चाहिए ॥ ५२ ।

जिससे हम लोग भी सबेरा होते ही रत्नेश्वर के निर्दिष्ट इष्टकारी सुकृताली, तुम्हारे प्यारे को देख सकें ॥ ५३ ।"

भाई ! तुम्हारा कैसा पुण्य है ! अहा हा ! हम लोगों के हृष्ट होकर चले जाने पर तुमने अपने पुण्य के बल से भगवान् रत्नेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन पायाहै ॥ ५४ ।

अहो भाग्योदयो नृणामहो पुण्य समुच्छ्रयः ।
एकस्यैव भवेत्सिद्धिर्यदेकत्राऽपि तिष्ठताम् ॥ ५५ ।
सत्यं वदन्ति नासत्यं दैवप्राधान्यवादिनः ।
दैवमेव फलेदेकं नोद्यमो नापरं बलम् ॥ ५६ ।
भवत्या अपि चास्माकमेक एव हि चोद्यमः ।
परं दैवं फलत्येकं यथा तव न नः पुरः॥ ५७ ।
लोकानां व्यवहारोऽयमालि प्रोक्तः प्रसङ्गतः ।
परं मनोरथावाप्तिस्तव या सैव नः स्फुटम् ॥ ५८ ।
इति संव्याहरन्तीनामनन्तोऽध्वातितुच्छवत् ।
क्षणात्तासां व्यतिक्रान्तः प्राप्ताश्च स्वं स्वमालयम् ॥ ५९ ।

उच्छ्रयः उद्रेकः ॥ ५५ ।

तत्र दैवमेव केवलं कारणमिति दैवप्राधान्यवादिवाक्यमनुवादपूर्वकमुदाहरन्ति । सत्यं वदन्तीति ॥ ५६ ।

तदेव वाक्यं स्वस्मिन् योजयन्ति । भवत्या अपीति । दैक्म् अदृष्टम् । फलति फलनिष्पत्तिं करोति ॥ ५७ ।

ननु तर्हि भवतीनां मां प्रतीर्ष्या जाता नेत्याहुर्लोकानामिति । आलि हे सखि ॥ ५८ ।

अतितुच्छवदत्यल्पवत् ॥ ५९ ।

अहा ! (देखो) लोगों के भाग्य की कैसी महिमा है, कैसा पुण्य का उदय है, जो एक साथ रहने पर भी एक ही की सिद्धि होती है ॥ ५५ ।

दैव की ही प्रधानता कहने वाले (जो यह कहते हैं कि) एक दैव ही फलता है और उद्यम अथवा दूसरे बल से कुछ नहीं हो सकता, सोई (वही) ठीक है, इसमें कुछ भी झूठ नहीं है ॥ ५६ ।

देखो—तुम और हम लोग एक ही उद्यम में लगी थीं, पर तुम्हारे अदृष्ट में जैसा फल लगा, हम सब के आगे वैसा नहीं है ॥ ५७ ।

हे सखि ! यह तो प्रसंग पड़ने से लोगों का व्यवहार कहा (जाता) है, पर वास्तव में जो तुम्हारे मनोरथ की प्राप्ति है, वह तो हम लोगों की है, यह बात स्पष्ट ही है ॥ ५८ ।

वे सब यों ही बातचीत करती हुई क्षणभर में लम्बा मार्ग बहुत थोड़े समय में बिताकर अपने-अपने घर पर जा पहुँचीं ॥ ५९ ।

अथ प्रातः समुत्थाय पुनरेकत्र संगताः।
सा च मौनवती ताभिः परिभुक्तेव लक्षिता ॥ ६० ।
तूष्णीं प्राप्याऽथ काशीं सा स्नात्वा मन्दाकिनीजले ।
सखीभिः सहिताऽपश्यल्लिङ्गं रत्नेश्वरं मम ॥ ६१ ।
निर्वर्त्य नियमं साऽथ लज्जामुकुलितेक्षणा ।
निर्बन्धेन वयस्याभिः परिपृष्टा जगाद ह ॥ ६२ ।

रत्नावल्युवाच–

अथ रत्नेशयात्रायाः प्रयातासु स्वमन्दिरम् ।
भवतीषु स्मरन्त्येव तद्रत्नेशवचोऽमृतम् ॥ ६३ ।
सविशेषाङ्गसंस्काराऽविशं संवेशमन्दिरम् ।
निद्रादरिद्रनयना तद्विलोकनलालसा ॥ ६४ ।
बलात्स्वप्नदशां प्राप्ता भाविनोऽर्थस्य गौरवात् ।
आत्मविस्मरणे हेतू ततो द्वौ मे बभूवतुः ॥ ६५ ।

निर्वर्त्य समाप्य ॥ ६२ ।

संवेशमन्दिरं निद्रागृहम् । शयनमन्दिरमिति क्वचित् ॥ ६४ ।

फिर सबेरा होने पर जब वे सब उठकर इकट्ठा हुईं, तो रत्नावली को मौन देखकर संभुक्ता-सी समझने लगीं ॥ ६० ।

अनन्तर वह उसी भाँति चुपचाप काशी में आय (आकर) मन्दाकिनी के जल में नहाय (नहाकर) सखियों के साथ मेरे (इसी) रत्नेश्वर लिंग का दर्शन करने लगी ॥ ६१ ।

फिर नित्यनियम समाप्त करने पर सखियों के हठपूर्वक पूछने से मारे लज्जा के आँखें झिंपाए हुई वह कहने लगी ॥ ६२ ।

रत्नावली बोली–

सखियों ! रत्नेश्वर की यात्रा से लौटने पर जब तुम लोग अपने-अपने घर को चली गयी, तब मैं रत्नेश्वर के वचनामृत को स्मरण करती हुई विशेषरूप से अंगरागादि संस्कारों को कर शयनागार में चली गई, पर उसके दर्शन की लालसा से नेत्र तो निद्रा के दरिद्री ही बने रहे ॥ ६३-६४ ।

किन्तु होनहारवश अचानक मेरी स्वप्नावस्था हो गई, फिर तो मैं इन दो कारणों से अपने ही को भूल गई ॥ ६५ ।

तन्द्री तदङ्गसंस्पर्शौ मम बोधापहारकौ ।
तन्द्रया परवशा चासं ततस्तत्स्पर्शनेन च ॥ ६६ ।
न जाने त्वथ किं वृत्तं काऽहं क्वाऽहं स चाऽथ कः ।
तं निर्जिगमिषुं सख्यो यावद्धर्तुं प्रसारितः ॥ ६७ ।
दोः कङ्कणेन रिपुणा क्वणितं तावदुत्कटम् ।
महता सिञ्जितेनाऽहं तेनाल्पं परिबोधिता ॥ ६८ ।
सुखसन्तानपीयूषह्रदे परिनिमज्ज्य वै ।
क्षणेन तद्वियोगाग्निकीलासु पतिता बलात् ॥ ६९ ।
किं कुलीयः स नो वेद्मि किं देशीयः किमाख्यकः ।
दुनोति नितरां सख्यस्तद्विश्लेषानलो महान् ॥ ७० ।

तन्द्री तन्द्रा आलस्यमिति यावत् ॥ ६६ ।

दोः हस्तः । कङ्कणेन बाहुवलयेन क्वणितं शब्दितम् । उत्कटमुद्भटं महदिति यावत् । तेन सिञ्जितेन क्वणितेन ॥ ६८ ।

सुखेति । सुखसन्तानः सुखविस्तार एव पीयूषह्रदस्तस्मिन् परिनिमज्ज्य मंक्त्वा क्षणेन क्षणमात्रेण तद्वियोगाग्निकीलासु तद्विरहाग्निज्वालासु पतिताऽस्मि । यदाहाऽमरः–"वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ" इति । बतेति खेदे । अबलेति क्वचित्पाठः ॥ ६९ ।

किं कुलीयः कस्मिन् कुले भवः । नो निषेधे । किमाख्यकः का आख्या यस्य स तथा । दुनोति उपतापयति ॥ ७० ।

एक तो तन्द्रा, दूसरे उसके अगों का स्पर्श–इन दोनों से मेरी ज्ञानशक्ति जाती रही, फिर मैं तन्द्रा और उसके अंगस्पर्श के वशीभूत होकर यही नहीं जानती कि क्या हुआ ? मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? और वह कौन है ? हे सखियों ! फिर जब वे घर से निकलकर जाने लगे तो मैंने ज्यों ही पकड़ने के लिये हाथ फैलाया, त्यों ही हाथ का कंकण शत्रु बनकर बड़े वेग से बड़ी उत्कट चिल्लाहट मचाने लगा, उसकी चिल्लाहट से मैं तुरन्त जाग पड़ी ॥ ६६-६८ ।

उस घड़ी मैं सुखमय अमृत-ह्रद में डुबकी मारकर क्षण भर ही में उसके वियोगानल की ज्वाला में गिर पड़ी ॥ ६९ ।

(प्यारी) सखियों ! उसका कौन देश ? किस कुल में जन्म ? और क्या नाम हैं ? यह सब कुछ भी नहीं जानती । पर उसका दारुण विरहानल मुझे बहुत ही जला रहा है ॥ ७० ।

अनल्पोत्कलितं चेतः पुनस्तत्संगमाशया ।
प्राणानां मे यियासूनामेकमेव महौषधम् ॥ ७१ ।
वयस्या निशि भुक्तस्य तस्यैव पुनरीक्षणम् ।
भवतीनामधीनं च तत्पुनर्दर्शनं मम॥ ७२ ।
काऽलीकमालयो वक्ति स्निग्धमुग्धे सखीजने ।
तद्दर्शनेन स्थास्यन्ति प्राणा यास्यन्ति चाऽन्यथा ॥ ७३ ।
दशम्यवस्था सन्नह्येद् बाधितुं माऽधुना भृशम् ।
इति तस्या गिरः श्रुत्वा दूनाया नितरां च ताः ॥ ७४ ।
प्रवेपमानहृदयाः प्रोचुः वीक्ष्य परस्परम् ॥ ७५ ।

सख्य ऊचुः—

यस्य ग्रामो न नो नाम नाऽन्वयो नाऽपि बुध्यते ।
स कथं प्राप्यते भद्रे क उपायो विधीयताम् ॥ ७६ ।

अनल्पोत्कलितं महदुत्कण्ठितम् । **अनल्पोत्कल्पितमिति** पाठेऽपि **स एवार्थः** । **अनल्पोत्कम्पितमिति** चान्यत्र । **यियासूनां** गन्तुमिच्छूनाम् ॥ ७१ ।

वयस्या हे सख्यः । तर्हि तस्य पुनर्दर्शनं कथं स्यात्तत्राह । **भवतीनामिति** ॥ ७२ ।

अलीकं कपटम् । **आलयो** हे सख्यः । स्निग्धश्चासौ मुग्धः सुन्दरश्चेति तथा तस्मिन् सखीजने का वक्ति न कापीत्यर्थः । किं तन्निष्कपटं वाक्यं तदाह । **तद्दर्शनेनेति** ॥ ७३ ।

कुत इत्याकाङ्क्षायामाह । **दशमीति** । **दशम्यवस्था** मरणावस्थेत्यर्थः । **सन्नह्येत्** प्रवर्तेत । **दूनाया** उपतापितायाः । **ताः** सख्यः ॥ ७४ ।

नोऽस्माभिः ॥ ७६ ।

हे सखियों ! रात में भोग करने वाले के पुनर्वार संगम की आशा से चित्त बहुत ही उत्कंठित हो रहा है और निकलते हुए मेरे प्राणों का महौषध एकमात्र फिर उनका दर्शन ही है, वह पुनर्दर्शन तुम लोगों के अधीन है ॥ ७१-७२ ।

मेरी सखियों ! भला अपनी प्यारी सुन्दर आलियों से भी कोई झूठ कहता है ? केवल उनके दर्शन पाने ही से ये प्राण ठहर सकते हैं, नहीं तो निकल ही भागेंगे ॥ ७३ ।

अभी ही मरणावस्था मेरे लिये सन्नद्ध है । इस भाँति से अत्यन्त कातर रत्नावली की बातें सुनकर वे सब कंपित-हृदय होकर परस्पर (एक-दूसरे को) देखती हुईं (आपस में) कहने लगीं ॥ ७४-७५ ।

सखियाँ बोलीं—

हे भद्रे ! जिसका नाम गाँव और घराना कुछ भी नहीं जान पड़ा, भला उसके मिलने का कौन-सा उपाय किया जावे ? ॥ ७६ ।

इति रत्नावली श्रुत्वा ससन्देहां च तद्गिरम् ।
वयस्या तदवाप्तौ मे यूयं कुण्ठि मुमूर्छ ह ॥ ७७ ।
इत्यर्धोक्तेन सा बाला यूयं कुण्ठितशक्तयः ।
यद्वक्तव्यं त्विति तया यूयं कुण्ठीति भाषितम् ॥ ७८ ।
ततस्तास्त्वरिताः सख्यः परितापोपहारकान् ।
बहुशः शीतलोपायान् व्यधुर्मोहप्रशान्तये ॥ ७९ ।
व्यपैति न यदा मूर्च्छा तत्तच्छीतोपचारतः ।
तस्यास्तदैकयानीतं रत्नेशस्नपनोदकम् ॥ ८० ।
तदुक्षणात्क्षणादेव तन्मूर्च्छा विरराम ह ।
सुप्तोत्थितेव साऽवादीन् मुहुः शिव शिवेति च ॥ ८१ ।

इतीति । इत्येवं प्रकारां तद्गिरं तासां वाचं श्रुत्वा हे वयस्या ! मे मम तदवाप्तौ स्वप्नदृष्टस्य प्राणनाथस्यावाप्तिनिमित्तं यूयं कुण्ठिता इत्यर्धोक्तेन सा बाला मुमूर्छ मोहं प्राप्तवती । हेति पादपूरणे प्रसिद्धार्थे वा ॥ ७७ ।

इत्यर्द्धोक्तेनेत्यस्यार्थं स्पष्टयति । **कुण्ठितशक्तय** इति । यूयं कुण्ठिशक्तय इति यत्तया वक्तव्यं तु पुनस्तद्यूयं कुण्ठीति भाषितमित्यर्थः ॥ ७८ ।

व्यधुः चक्रुः ॥ ७९ ।

उपचारतः प्रयोगतः ॥ ८० ।

उक्षणात् सेचनात् ॥ ८१ ।

रत्नावली सखियों की ऐसी सन्देहभरी (दुभिधा की) बातें सुनकर (यह कहने लगी कि) "सखियों ! उनके मिलाने में तुम लोग भी कुंठि" कह मूर्च्छित हो गई ॥ ७७ ।

उस गन्धर्वकन्या का अभिप्राय—तुम लोग भी कुंठित शक्ति हो गई—कहने का था, पर 'तुम लोग कुंठि' यही आधी बात कहकर रह गई ॥ ७८ ।

तब सखियों ने झटपट (विरहाग्नि की) मूर्च्छा दूर करने के लिये बहुत से सन्तापनाशक शीतल उपायों को आरंभ किया ॥ ७९ ।

पर बहुतेरे ठंढे उपायों के करने पर भी जब उसकी मूर्च्छा किसी प्रकार से नहीं हटी, तब उसकी एक सखी रत्नेश्वर का स्नान-जल ले आई ॥ ८० ।

उस जल के छिड़कते ही क्षणमात्र में उसकी मूर्च्छा शान्त हो गई । ऐसा लगा कि वह सोकर उठी हुई है । पुनः वह बारम्बार 'शिव-शिव' कहने लगी ॥ ८१ ।

स्कन्द उवाच–

श्रद्धावतां स्वभक्तानामुपसर्गे महत्यपि ।
नोपायान्तरमस्त्येव विनेशचरणोदकम् ॥ ८२ ।
ये व्याधयोऽपि दुःसाध्या बहिरन्तःशरीरगाः ।
श्रद्धयेशोदकस्पर्शात्ते नश्यन्त्येव नान्यथा ॥ ८३ ।
सेवितं येन सततं भगवच्चरणोदकम् ।
तं बाह्याभ्यन्तरशुचिं नोपसर्पति दुर्गतिः ॥ ८४ ।
आधिभौतिकतापं च तापं चाप्याधिदैविकम् ।
आध्यात्मिकं तथा तापं हरेच्छ्रीचरणोदकम् ॥ ८५ ।
व्यपेतसंज्वरा चाथ गन्धर्वतनया मुने ।
उचितज्ञेति होवाच ताः सखीः स्निग्धधीरधीः ॥ ८६ ।

प्रसङ्गात् स्नपनोदकमाहात्म्यमाह ; **'श्रद्धेत्यादिचतुर्भिः'** । उपसर्गे पीडायां व्याधाविति यावत् । स्नपनोदकमेव पादद्वारेण निःसृतत्वाच्चरणोदकमित्युच्यते ॥ ८२ ।

उचितं जानातीति उचितज्ञा । इति वक्ष्यमाणं वचनम् । हेति प्रसिद्धौ पादपूरणे वा । **स्निग्धधीरधीः** स्निग्धा कोमला धीरा अर्थोपायविवेचने समर्था धीर्बुद्धि[1]र्यासां ताः ॥ ८६ ।

स्कन्द ने कहा–

श्रद्धावान् भक्तों के ऊपर बड़ा भारी संकट पड़ने पर ईश के चरणामृत को छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है ॥ ८२ ।

शरीर के भीतर और बाहर की सभी दुःसाध्य व्याधियाँ श्रद्धापूर्वक शिव के चरणोदक का स्पर्श होते ही नष्ट हो जाती हैं–इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ८३ ।

जिस किसी ने भगवान् के चरणामृत का सेवन किया, उस पर भीतर और बाहर से शुद्ध हो जाने के कारण कोई भी दुर्गति नहीं हो सकती ॥ ८४ ।

श्री चरणोदक (अपने सेवन करने वालों के) आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक–इन त्रिविध तापों को दूर कर देता है ॥ ८५ ।

हे मुने ! इसके अनन्तर वह गन्धर्वकन्या चैतन्य होने पर अतिकोमल धीर-बुद्धि सखियों से उचित रीति से यह कहने लगी ॥ ८६ ।

---

1. मूले धीरित्यत्रेयङभाव आर्षः । गन्धर्वतनयाविशेषणत्वे तु सरलमेव ।

रत्नावल्युवाच—

शशिलेखेऽनङ्गलेखे चित्रलेखे मदीहिते ।
यूयं कुण्ठितसामर्थ्याः कुतो वस्ताः कलाः क्व वा ॥ ८७ ।
मत्प्रियप्राप्तये सम्यगुपायोऽस्ति मयेक्षितः ।
रत्नेश्वरानुग्रहतोऽनुतिष्ठत हितं हिताः ॥ ८८ ।
शशिलेखेऽभिलषितप्राप्त्यै लेखांस्त्वमालिख ।
संलिखानङ्गलेखे त्वं यूनः सर्वावनीचरान् ॥ ८९ ।
चित्रज्ञे चित्रलेखे त्वं पातालतलशायिनः ।
किञ्चिदाविर्भवच्चारुतारुण्यालङ्कृतीन् लिख ॥ ९० ।

कुतः कस्मात् । वो युष्माकं ताः । कला वा क्वेत्यन्वयः ॥ ८७ ।

भवथ यूयं यथा तथा किन्तु रत्नेशानुग्रहान्मम कान्तलब्धये मया सम्यगुपायो दृष्टस्तं सध्रीचीनमुपायमनुतिष्ठत कुरुत । हि यस्माद्यूयं मम हिताः हितकारिण्य इति ॥ ८८ ।

लेखान् देवान् । यदाहाऽमरः—"आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः" इति । यून-स्तरुणान् ॥ ८९ ।

पातालतलशायिनो नागादीन् । कथंभूतान् ? आविर्भवदुच्चरद्रम्यं तारुण्यमेव अलङ्कृतिरलङ्करणं येषां ते तथा तान् ॥ ९० ।

रत्नावली बोली—

हे शशिलेखे ! और अनंगलेखे ! एवं चित्रलेखे ! तुम लोग मेरे इष्टसाधन में क्यों सामर्थ्यहीन हो गई हो ? और तुम लोगों की वे सब कलायें कहाँ हैं ? ॥ ८७ ।

हे हितकारिणियों ! भगवान् रत्नेश्वर के अनुग्रह से अपने प्राणनाथ के पाने का एक अच्छा उपाय मुझे सुझाई पड़ा है । अब तुम लोग मेरा हितसाधन करो ॥ ८८ ।

हे शशिलेखे ! तुम तो मेरी अभिलाषा पूरी करने के लिये सब देवतओं को लिखो और हे अनंगलेखे ! तुम समस्त भूतलवासी जवानों को लिख डालो ॥ ८९ ।

एवं हे चित्राभिज्ञे ! चित्रलेखे ! तुम पातालवासी उमड़ती हुई तरुणाई की लुनाईवाले युवकों को लिखो (अर्थात् सबका चित्रांकन कर डालो) ॥ ९० ।

अथाकर्ण्येति ताः सख्यस्तच्चातुर्यं प्रवर्ण्य च ।
लिलिखुः क्रमशः सख्यो यूनो यौवनशेवधीन् ॥ ९१ ॥
निर्यत्कौमारलक्ष्मीकान् पुंवत्त्वश्रीसमावृतान् ।
प्रातःसन्ध्येव गन्धर्वी नृपाद्यांस्तानवेक्षत ॥ ९२ ॥
सर्वान् सुरनिकायान् सा व्यलोकत शुभेक्षणा ।
न चाञ्चल्यं जहावक्ष्णोस्तेषु स्वर्लोकवासिषु ॥ ९३ ॥
ततो मध्यमलोकस्थान् मुनिराजकुमारकान् ।
विलोक्याऽपि न सा प्रीतिं क्वाप्याप प्रेमनिर्भरा ॥ ९४ ॥
अथ रत्नावली बाला कर्णाभ्यर्णविलोचना ।
दृशौ व्यापारयामास बलिसद्मयुवस्वपि ॥ ९५ ॥

प्रवर्ण्य प्रशस्य । यौवनशेवधीन् यौवनमेव शेवधिर्येषां तान्, तारुण्यैकधनानित्यर्थः ॥ ९१ ॥

निर्यत्कौमारलक्ष्मीकान् निर्निःशेषेण यन्ती गच्छन्ती कौमारलक्ष्मीः कौमारसम्पद् येषां तान् । शेषाद्विभाषेति कप्प्रत्ययः । पुंवत्त्वश्रीसमावृतान् पुंवत्त्वश्रीः पुंस्त्वशोभा, तया समावृतानलङ्कृतान् ॥ ९२ ॥

निकायान् समूहान् । व्यलोकत अपश्यत् ॥ ९३ ॥

प्रेमनिर्भरा स्नेहपरिपूर्णा ॥ ९४ ॥

कर्णाभ्यर्णविलोचना कर्णयोरभ्यर्णं निकटं व्याप्य विशिष्टे लोचने यस्याः सा तया । बलिसद्मयुवसु सुतलस्थतरुणेषु ॥ ९५ ॥

यह सुन, सखियों ने उसकी चुतराई की बड़ाई कर, क्रमशः समस्त यौवनसम्पन्न, कुमारावस्था के ऊपर चढ़ते हुए, रेखभिज्ञान तरुणों को लिख डाला, और रत्नावली प्रातःसन्ध्या की तरह उन चित्रलिखित राजा इत्यादि को देखने लगी ॥ ९१-९२ ॥

उस मृगनयनी ने समग्र सुरवृन्द को देखकर भी फिर उन स्वर्गवासियों पर से अपनी आँखों की चुलबुलाहट को नहीं हटाया ॥ ९३ ॥

तब मध्यमलोकवासी मुनिकुमार और राजकुमारों को भी देखा । पर प्रेम से परिपूर्ण होकर कहीं भी प्रसन्नता को नहीं प्राप्त हुई ॥ ९४ ॥

तदनन्तर विशालनेत्री रत्नावली बाला, अपनी दृष्टि को पाताल के युवकों पर फेरने लगी ॥ ९५ ॥

दितिजान् दनुजान् वीक्ष्य सा गन्धर्वी कुमारकान् ।
रतिं बबन्ध न क्वापि तापिता मान्मथैः शरैः ॥ ९६ ।
सुधाकरकरस्पृष्टाऽप्यतिदूनाङ्गयष्टिका ।
पश्यन्ती नागयूनः सा किञ्चिदुच्छ्वसिताऽभवत् ॥ ९७ ।
भोगिनस्तान् विलोक्याऽपि चित्रं चित्रगतानथ ।
मनाक् संभुक्तभोगेव क्षणमासीत्कुमारिका ॥ ९८ ।
यूनः प्रत्येकमद्राक्षीदशेषान् शेषवंशजान् ।
तक्षकान्वयगांस्तद्वदथ वासुकिगोत्रजान् ॥ ९९ ।
पुलीकानन्तकर्कोटभद्रसन्तानगानपि ।
दृष्ट्वानागकुमारांस्तान् शंखचूडमथैक्षत ॥ १०० ।
शंखचूडेक्षणादेव परां लज्जां बभार सा ।
उद्भिन्नपुलकाऽप्यासीदङ्गप्रत्यङ्गसन्धिषु ॥ १०१ ।

मान्मथैः कामसम्बन्धिभिः ॥ ९६ ।

अतिदूनाङ्गयष्टिकाऽतिव्यथितशरीरयष्टिका । उच्छ्वसिता उल्लसिता ॥ ९७ ।

भोगिनो नागान् ॥ ९८ ॥

शेषोऽनन्तः ॥ ९९ ।

पुलीकानन्तेति । अनन्तनामा कश्चिदपरः । सन्तानो वंशः ॥ १०० ।

बभार धृतवती । अङ्गप्रत्यङ्गसन्धिषु अङ्गेषु सर्वाङ्गसन्धिषु चेत्यर्थः ॥ १०१ ।

कामबाणों से बिंधकर वह गन्धर्वकन्या, दैत्य और दानवों के कुमारों को देखकर कहीं भी प्रसन्न नहीं हुई ॥ ९६ ।

चन्द्रमा के किरणस्पर्श से अत्यन्त व्यथित शरीर होने पर भी नागकुमारों की ओर दृष्टि पड़ते ही कुछ-कुछ उसाँसे लेने लगी ॥ ९७ ।

क्या ही आश्चर्य है ! कि वह कुमारिका उन चित्रलिखित भोगियों को देखते ही क्षण भर कुछ (एक) मुक्तभोगा की तरह हो गयी ॥ ९८ ।

फिर तो वह शेष, तक्षक, वासुकी, पुलीक, अनन्त, कर्कोटक और भद्र इत्यादि के वंश में उत्पन्न समग्र नवजवान नागकुमारों को देखती हुई रत्नचूड़ को देखने लगी ॥ ९९-१०० ।

(बस फिर क्या था) शंखचूड़ पुत्र रत्नचूड़ पर दृष्टि पड़ते ही मारे लज्जा के भर गई और उसके अंग-प्रत्यंग की सन्धियों में रोमांच हो आया ॥ १०१ ।

तत्त्रपाभरतोऽज्ञायि तत्कौमारहरो वरः ।
तथा वैदग्ध्यवरया क्षणतश्चित्रलेखया ॥ १०२ ।
अथ चित्रपटीं चित्रलेखा चित्रपटाञ्चलम् ।
परिक्षिप्याऽवृणोत्तूर्णं परिहासैकपेशला ॥ १०३ ।
रत्नावली चित्रलेखां ह्रियमौनावलम्बिनी ।
दृशा कुटिलयाऽद्राक्षीत्प्रस्फुरद्दशनाम्बरा ॥ १०४ ।
कटाक्षिताऽनङ्गलेखा तयाऽथ शशिलेखया ।
चित्रलेखापरिक्षिप्तपटाञ्चलमपाकरोत् ॥ १०५ ।
वसुभूतिसुता साऽथ कन्या रत्नावली शुभा ।
शंखचूडान्ववाये तं रत्नचूडमवैक्षत ॥ १०६ ।

वरो भर्ता ॥ १०२ ।

चित्रपटाञ्चलं चित्रवस्त्राग्रभागम् । पेशला कुशला ॥ १०३ ।

ह्रिया लज्जया । कुटिलया वक्रया । प्रस्फुरच्चञ्चद्दशनेन दन्तेनम्बरं वस्त्रं यस्याः सा तथा । प्रस्फुरद्दशनाम्बरमोष्ठो यस्याः सेति वा ॥ १०४ ।

कटाक्षिता कटाक्षेण प्रेरिता । अपाकरोद् दूरीचकार ॥ १०५ ।

रत्ना रत्नावली । "भामा सत्यभामा भीमो सेनः" इतिवत् । आवनीशुभा आ समन्ततः अवनौ पृथिव्यां शोभते राजते इति तथा । अवनीशुभेत्येवमेव वा । रत्नावलीति वा पाठः ॥ १०६ ।

तब तो उसके लज्जाभाव ही से अतिचतुर चित्रलेखा ने क्षणमात्र में उसके कौमारहर वर को समझ लिया ॥ १०२ ।

इसके पीछे परिहासरसिका चित्रलेखा ने चित्रपट पर अपने विचित्र वस्त्र के अंचल को डालकर तुरन्त ढ़ाँप दिया ॥ १०३ ।

अब तो रत्नावली मारे लज्जा से चुप रहकर ओठ फुरफुराती हुई (कँपकँपाती हुई) चित्रलेखा की ओर कुटिलदृष्टि से ताकने लगी ॥ १०४ ।

इसके अनन्तर अनंगलेखा ने शशिलेखा के कटाक्ष की चेष्टा से चित्रलेखा के डाले हुए कपड़ा का अँचरा (आँचल) हटा दिया ॥ १०५ ।

वसुभूति की कन्या, रत्नावली शंखचूड़ के पुत्र रत्नचूड़ को (फिर) देखने लगी ॥ १०६ ।

तदीक्षणक्षणाद्दृष्टिरानन्दाश्रुभिरावृता ।
कपोलभित्तिरभवत् स्वेदोदकणिकाञ्चिता ॥ १०७ ॥
चकम्पे गात्रलतिका धृतरोमाञ्चकञ्चुका ।
चित्रन्यस्तेव तस्तम्भ क्षणं मुकुलितानना ॥ १०८ ॥
ततः सा चित्रलेखा तामेत्याश्वासयदातुराम् ।
मौत्सुक्यं व्रज गन्धर्वि सिद्धस्तेऽद्य मनोरथः ॥ १०९ ॥
एतस्यावगतं सर्वं देशनामाऽन्वयादिकम् ।
मा विषीदाऽऽलि सुलभस्त्वेष रत्नेश्वरार्पितः ॥ ११० ॥
अहो सदृग्वरावाप्त्या रत्नेशेनासि तोषिता ।
उत्तिष्ठ यामः सदनं रत्नेशः सर्वदो हि नः ॥ १११ ॥

तदीक्षणक्षणात्तस्य रत्नचूडस्य ईक्षणेन जातो यः क्षणोऽवसरं उत्सवो वा । "क्षण उद्धव उत्सवः" इत्यमरः । तस्मादिति । स्वेदोदकणिकाञ्चिता घर्माऽम्बुकण-व्याप्ता ॥ १०७ ॥

धृतं रोमाञ्चरूपं कञ्चुकं यया सा तथा । तस्तम्भ स्थितवती ॥ १०८ ।

औत्सुक्यमौत्कण्ठ्यं मा व्रज मा गच्छ । सौत्सुक्यमिति पाठे सा त्वमित्यर्थः । कुत इत्यत आह । सिद्ध इति ॥ १०९ ।

सिद्धिरेव कुतस्तत्राह । एतस्येति । एतावता कथं सुलभत्वमित्याशङ्कायामाह । मा विषीदेति । एष सुलभो यतो रत्नेश्वरेणार्पितः ॥ ११० ।

सदृग्वरावाप्त्या सदृशभर्तृप्राप्त्या ॥ १११ ।

उसके देखने के ही क्षण से रत्नावली की आँखों में प्रेमाश्रु और कपोलों पर स्वेद-बिन्दु भर आये ॥ १०७ ।

रोमांच की चोलियाँ पहनी हुई उसकी शरीरलता काँपने लगी । क्षणभर के लिये आँखों को मूँद करके वह भी चित्रलिखित-सी हो गई ॥ १०८ ।

तदनन्तर चित्रलेखा उसके पास आकर उसे आतुरता से कहने लगी– 'हे गन्धर्वसुते ! अधीर मत होओ, आज तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ ॥ १०९ ।

इस पुरुष का देश और नाम इत्यादि सब कुछ ज्ञात हो गया । अतएव हे सखि ! कुछ भी विषाद मत करो । यह रत्नेश्वर का प्रसाद तुमको अनायास ही प्राप्त होगा ॥ ११० ।

अहो ! भाग्यवश रत्नेश्वर ने तुमको अनुरूप वर का वरदान कर सन्तुष्ट किया है । अतएव उठो, चलें, हम लोगों के सर्वस्वदाता भगवान् रत्नेश्वर ही हैं ॥ १११ ।

अथ दैववशाद्यान्त्यस्ता दृष्टा गगनाध्वगाः ।
सुबाहुना दानवेन पातालतलवासिना ॥ ११२ ।
गृहीत्वा ताश्चतस्रोऽपि निरगाद्दानवो गृहम् ।
हरिर्विकटदंष्ट्रास्यः प्रान्तरे हरिणीरिव ॥ ११३ ।
तास्तं विलोक्य गन्धर्व्यो दंष्ट्र विकटिताननम् ।
रुधिरारुणनेत्रं च जाता वेपथुभूमयः ॥ ११४ ।
हा मातर्हा पितस्त्राहि हा विधे मा विधेहि तत् ।
यदेतत्कर्तुमारब्धमनाथास्वतिनिष्ठुरम् ॥ ११५ ।
हा दैव मन्दभाग्याभिः किमस्माभिरनुष्ठितम् ।
सुकृतेतरवार्ताऽपि नो चित्ते व्याहृता क्वचित् ॥ ११६ ।
शिशुक्रीडनकं हित्वा हित्वा रत्नेश्वरार्चनम् ।
पित्रोः स्वाधीनसच्चेष्टा इष्टं विद्मो न किञ्चन ॥ ११७ ।

हरिः सिंहः । विकटदंष्ट्रास्य इत्युभयोर्विशेषणम् ॥ ११३ ।

वेपथुभूमयः कम्पस्थानानि ॥ ११४ ।

तन्मा विधेहि मा कुरु । किं तदाह । यदेतदिति । हा विधेहीति पाठेऽकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम् ॥ ११५ ।

सुकृतेतरवार्ता पापवार्ता ॥ ११६ ।

स्वाधीनाः सच्चेष्टाः स्वात्तोत्तमक्रियाश्च हित्वा किञ्चनान्यदिष्टं न विद्म इत्यर्थः । दुष्टमिति क्वचित्पाठः ॥ ११७ ।

इन बातों के अनन्तर वे चारों ही सखियाँ आकाशमार्ग से घर को चल पड़ीं । इसी बीच में दैववश पातालतलवासी सुबाहु दानव ने उन सबों को देख लिया ॥ ११२ ।

विकटदंष्ट्रामुख सिंह जैसे हरिणी पर टूटता है, वैसे ही वह दानव उन चारों ही को पकड़कर अपने घर की ओर ले चला ॥ ११३ ।

सब गन्धर्वकुमारियाँ बड़े-बड़े दांतों से विकट मुख और रुधिर के समान अरुणनेत्र, उस दानव को देखकर मारे भय के थर-थर काँपने लगीं ॥ ११४ ।

हा मातः ! हा पितः ! हा विधे ! बचाओ, हम लोगों को अनाथा देखकर दुष्ट दानव जो निष्ठुर कर्म किया चाहता है, उससे बचा लो ॥ ११५ ।

हाय रे दैव ! हम सब अभागिनियों ने ऐसा क्या किया ? (अरे) चित्त में भी तो कभी पाप की बात नहीं करती थीं ॥ ११६ ।

हम लोग तो लड़िकखेलवा (बालक्रीड़ा) और रत्नेश्वर की पूजा एवं माता-पिता के उपदिष्ट कार्य को छोड़कर और तो कुछ जानती ही नहीं ॥ ११७ ।

अधोभुवनगा दीना हीनानाथेन कोऽत्र नः ।
त्राति त्राणार्थिनीर्बालाः शम्भो रत्नेश सर्वग ॥ ११८ ।
इत्थं गन्धर्वतनया विलपन्तीः कृपातुरम् ।
शुश्राव नागराजोऽसौ रत्नचूडो महामनाः ॥ ११९ ।
कोऽसौ मत्स्वामनो नाम रत्नेशस्य महेशितुः ।
लिङ्गराजस्य गृह्णाति कर्मबन्धनभेदिनः ॥ १२० ।
पुनरप्यार्तरावं स श्रुत्वा बालामुखेरितम् ।
रत्नेश रक्ष रक्षेति गृहीतास्त्रो विनिर्ययौ ॥ १२१ ।
तं वसासवपानेन महामांसनिषेवणात् ।
अत्यन्तोन्मत्तदुश्चेष्टं रत्नचूडो निरैक्षत ॥ १२२ ।
अध्याक्षिपच्च रे दुष्ट शिष्टकन्यापहारक ।
मद्दृष्टिगोचरं यातः क्व यास्यस्यद्य रेऽधम ॥ १२३ ।
मम बाणहतप्राणः प्रयाणं कुरु दुर्मते ।
आर्तत्राणोद्यतमतेर्वैवस्वतपुरं प्रति ॥ १२४ ।

रत्नेश्वर रक्ष रक्षेत्यार्तएवं श्रुत्वेत्यन्वयः ॥ १२१ ।

वसा हृन्मेदः स एव रसस्तस्य पानेन । वसासवपानेनेति पाठे वसैवासवो मद्यं वसा चासवश्चेति वा तस्य पानेनेति व्याख्यातव्यम् । निरैक्षत दृष्टवान् ॥ १२२ ।

अध्याक्षिपत् आक्षिप्तवान् । चः समुच्चये ॥ १२३ ।

हे सर्वव्यापिन् ! शंभो ! रत्नेश्वर ! इस पातालतल में पतित और अनाथ एवं शरणार्थिनी कन्याओं को आपके विना कौन बचा सकता है ? ॥ ११८ ।

इसी बीच में महामना नागराज रत्नचूड़ ने उन गन्धर्वकन्याओं का कातरविलाप सुना ॥ ११९ ।

फिर सोचने लगा, (हाय) यह कौन मेरे स्वामी कर्मबन्धन के काटने वाले महेश्वर रत्नेश्वर लिंग का नाम ले रहा है ? ॥ १२० ।

फिर भी "हे रत्नेश्वर ! रक्षा करो, रक्षा करो" बालिकाओं के मुख से निकले हुए इस आर्तनाद को सुन वह अस्त्र-शस्त्र लेकर घर से निकल पड़ा ॥ १२१ ।

तब तो रत्नचूड़ ने वसा और मद्यपान तथा अत्यन्त मांसभोजन से परम उन्मत्त उस दुष्टचेष्टित दानव को देख लिया ॥ १२२ ।

तुरन्त ललकार कर कहा–'अरे दुष्ट ! शिष्टकन्यापहारक ! अधम ! दानव ! अब आज मेरे नेत्रपथ पर पहुँचकर तू कहाँ भाग सकता है ? ॥ १२३ ।

रे दुर्मते ! मैं विपन्नजन को बचाने के लिये दृढ़ हूँ । अब तू मेरे बाणों की चोट से प्राण गवाँकर यमपुरी की यात्रा कर ॥ १२४ ।

रत्नेश्वरस्य यैर्नाम प्रलयापद्यपि स्फुटम् ।
गृहीतं न भवादृग्भ्यस्तेषु भीतिर्भयात्मसु ॥ १२५ ॥
रत्नेश्वरमहानाम कृतत्राणास्तु ये नराः ।
तेषां जन्मजराव्याधिकलिकालभयं कुतः ॥ १२६ ॥
इत्युक्त्वा ता भयत्रस्तास्तन्मुखप्रहितेक्षणाः ।
व्याघ्रघ्राता इव मृगीर्मा भैषिष्टेत्युवाच सः ॥ १२७ ॥
इत्याश्वास्याऽथ गन्धर्वीः स वै भुजगराजजः ।
आकर्णपूर्णमाकृष्य कोदण्डं प्राहिणोच्छरम् ॥ १२८ ॥
सोऽपि क्रुद्धो दनुजराट् पदास्पृष्टभुजङ्गवत् ।
आविद्ध्य कालदण्डाभं परिघं व्यसृजन् महत् ॥ १२९ ॥

रत्नेश्वरस्येति । रत्नेश्वरस्य नाम यैर्गृहीतं तेषु भवादृशेभ्यः स्फुटं निश्चितं प्रलयापद्यपि भीतिर्नेत्यन्वयः । भयात्मसु भयं भीतिरात्मस्वन्तःकरणेषु भययुक्ता आत्मानो वा येषां ते तथा तेषु ॥ १२५ ।

तन्मुखेत्यत्र तच्छब्दो रत्नचूडविषयः । व्याघ्रघ्राता व्याघ्रेण गृहीताः ॥ १२७ ।

कोदण्डं धनुः ॥ १२८ ।

सोऽपीत्यत्र षष्ठाक्षरस्य लघुत्वं छान्दसम् । परिघं मुसलम् ॥ १२९ ।

जो लोग प्रलयकाल और आपत्ति पड़ने पर भी रत्नेश्वर का नाम लेते हैं, उन भयग्रस्तों पर तेरे ऐसों से तनिक भी भय नहीं हो सकता, यहं निश्चय है ॥ १२५ ।

जो लोग रत्नेश्वर के महानाम से परिरक्षित होते हैं, उन लोगों को जन्म, जरा, व्याधि, कलि और काल का भी भय कहाँ होता है ? ॥ १२६ ।

नागराजकुमार रत्नचूड़, भयग्रस्त उन गन्धर्वकन्याओं को बाघ की सूँघी हुई हरिनी के समान अपने मुख की ओर ताकती हुई देखकर, "तुम लोग तनिक भी मत डरो" यह कहता हुआ, आश्वासनपूर्वक कर्णपर्यन्त धनुष को खींचकर बाण चलाने लगा ॥ १२७-१२८ ।

अब तो उस दानवेन्द्र ने भी पददलित सर्प के समान क्रुद्ध होकर, कालदंड की तरह एक मुसल को घुमाकर (रत्नचूड़) पर फेंका ॥ १२९ ।

हृदि रत्नेश्वरं लिङ्गं यस्य सम्यग् विजृम्भते ।
अलातदण्जवत्तस्मिन् कालदण्डोऽपि जायते ॥ १३० ।
अन्तरेव स चिच्छेद परिघं स्वमदेषुभिः ।
दुर्वृत्तस्य यथेहायुर्विच्छिद्येतान्तरैव हि ॥ १३१ ।
ततोऽस्य बाणं चिक्षेप कालानलसमप्रभम् ।
स बाणस्तस्य हृदयं प्रविश्य प्रगवेष्य च ॥ १३२ ।
प्राणानस्य विनिर्यात्य स्वयं तूणमगात् पुनः ।
हृदिस्थं तस्य दौरात्म्यं सर्वं विज्ञाय तत्त्वतः ॥ १३३ ।
दिगङ्गनापुरः ख्यातुमिव नागाशुगो गतः ॥ १३४ ।
अन्यायोपार्जितैर्द्रव्यैर्यः सुखं भोक्तुमिच्छति ।
तानि द्रव्याणि यान्त्येव सप्राणानि कुतः सुखम् ॥ १३५ ।

रत्नचूडं प्रति शङ्कमानं सूतं प्रत्याह । **हृदीति** । भ्रमेण क्रीडार्थं ज्वलत्तृणादिनिर्मितोऽलातदण्डः ॥ १३० ।

अन्तर्मध्ये ॥ १३१ ।

कालानलसमं प्रलयानलसदृशम् । **प्रगवेष्य** सम्यगन्विष्य ॥ १३२ ।

अस्य सुबाहोः । विनिर्यात्य निःसार्य बहिः कृत्वेति यावत् । तूणमिषुधिम् । दूरमिति पाठः । तच्छरीरं लक्ष्यं भित्वा दूरमगादित्यर्थः । तत्रोत्प्रेक्षामाह । **हृदिस्थमिति** ॥ १३३ ।

नागाशुगो रत्नचूडशरः ॥ १३४ ।

अधर्मोपार्जितवित्तानामनर्थकरत्वं कैमुत्यन्यायेनाह । **अन्यायेति** । यान्त्येव तस्येत्यर्थः । यदिति पाठे यत्सुखं तानि तत्सुखसम्बन्धीनीति यत्तच्छब्दार्थावुन्नेयाविति ॥ १३५ ।

जिसके हृदय में रत्नेश्वरलिंग पूर्णतया जागरूक रहता है, उसके ऊपर घोर कालदंड भी छोटे से लुक्क (उल्का=चिनगारी) के समान हो जाता है ॥ १३० ।

रत्नचूड़ ने बीच (मार्ग) ही में अपने बाणों से उसके मुसल को काट गिराया। फिर जिससे उस दुष्ट का प्राणान्त हो जाय, ऐसा कालानल के तुल्य एक बाण उस पर चलाया, जो उसका वक्षःस्थल ढूँढ़कर घुस गया ॥ १३१-१३२ ।

और उसके प्राणों को निकाल कर स्वयं अपने तरकस में चला आया । रत्नचूड़ का बाण दिगंगनाओं के आगे उस दानव के हृदयस्थित सब दौरात्म्य के तत्त्वपूर्वक समझकर कहने ही के लिये मानो लौट आया था ॥ १३३-१३४ ।

जो कोई अन्यायपूर्वक उपार्जित द्रव्यों से सुख भोगने की इच्छा करता है, वह प्राण के सहित उन द्रव्यों को विनष्ट कर देता है । फिर उसे सुख कहाँ है ? ॥ १३५ ।

इति तं दानवं हत्वा नागराजो महाबली ।
प्रत्युवाचाऽथ ताः कन्याः का यूयं कस्य चात्मजाः ॥ १३६ ।
दुरात्मना कुतोऽनेन सङ्गता दनुजन्मना ।
क्व वा रत्नेश्वरं लिङ्गं भवतीभिर्विलोकितम् ॥ १३७ ।
यस्य नामाक्षरोच्चाराद् व्यपेतपरमापदः ।
यूयमाशु तदाख्यात येन जानामि तत्त्वतः ॥ १३८ ।
इति श्रुत्वा गिरस्तस्य नितरां प्रेमनिर्भराः ।
परस्परं मुखं वीक्ष्य कोऽसौ स्याद्दृष्टपूर्ववत् ॥ १३९ ।
अकारणसखा कोऽसौ प्रान्तरे समुपस्थितः ।
निजप्राणाम् पणीकृत्य येन त्राताः स्म बालिकाः ॥ १४० ।
अस्य सन्दर्शनादेव स्वभावचपलान्यपि ।
मन्थराणीन्द्रियाणि स्युः परिपीय सुधामिव ॥ १४१ ।

आख्यात कथयत ॥ १३८ ।

इति श्रुत्वा गिरस्तस्येत्यादीनामिति ब्रुवन्त्य इत्यग्रिमेणाऽन्वयः । प्रेमनिर्भराः स्नेहगर्भाः । दृष्टपूर्ववत् पूर्वदृष्ट इव ॥ १३९ ।

प्रान्तरे मध्यमार्गे । पणीकृत्य ग्लहं कृत्वा । स्मेति विस्मये ॥ १४० ।

मन्थराणि स्तब्धानि ॥ १४१ ।

इसके अनन्तर उस महाबली नागराज ने दानव को मारकर उन कन्याओं से कहा—'तुम लोग कौन हो ! और किसकी बेटी हो ? ॥ १३६ ।

एवं इस दुरात्मा दानव से कहाँ भेंट हुई और तुम सबों ने रत्नेश्वर लिंग कहाँ देखा ? ॥ १३७ ।

जिसके नाम लेते ही तुम सब आपत्ति से तुरन्त छूट गई, इन बातों को यथार्थ रीति से कहो, जिसमें मैं सब बातें ठीक-ठीक समझ सकूँ' ॥ १३८ ।

वे सब उसकी इन बातों को सुनकर प्रेम से अत्यन्त परिपूर्ण होकर परस्पर एक-दूसरी का मुख देखती हुईं यह कहने लगीं—'यह कौन हैं' ? जैसे स्यात् पहले भी कभी इनको देखा हो, ऐसा जान पड़ता है ॥ १३९ ।

ये कहाँ से अकारण-मित्र इस दुःख के समय पर यहाँ आ गये, जिन्होंने अपने प्राणों को पण लगाकर हम सब बालिकाओं को बचाया है ? ॥ १४० ।

इनके दर्शन से ही हम सब की इन्द्रियाँ स्वभावतः चंचल होने पर भी मानो अमृत पीकर मन्थर हो गई हैं ॥ १४१ ।

यातुमन्यत्र नो नेत्रे प्रोत्सहेते यथा तथा ।
अन्यद्वस्त्वन्तरं प्रेक्ष्य रमणीयतरं त्वपि ॥ १४२ ।
वचःपीयूषमाधुर्यं नितरां प्राप्य नः श्रुती ।
शब्दान्तरग्रहापेक्षां न कुर्वाते खजन्मनः ॥ १४३ ।
आप्नुतः पङ्गुतामेतौ पादौ नश्चञ्चलावपि ।
अमुं युवानमालोक्य चोरं नः सन्मनो मणेः ॥ १४४ ।
इति ब्रुवन्त्यस्ता बालाः परस्परमनुल्बणम् ।
दृष्ट्वाऽपि चित्रमध्यस्थं विविदुस्तन्न बालिकाः ॥ १४५ ।
अतीवभीषणाकारदनुजस्यातिसाध्वसात् ।
अन्धीभूतेक्षणास्तं नाज्ञासिषुर्हरिणीक्षणाः ॥ १४६ ।
ऊचुश्च तं युवानं ता निजजीवितरक्षिणम् ।
यदङ्ग भवता पृष्टं स्नेहनिर्भरचेतसा ॥ १४७ ।

इन्द्रियाणां स्तब्धतामेवाहुर्यातुमित्यादिना । यथा तथा याथातथ्येन । नेत्रे चक्षुषी ॥ १४२ ।

श्रुती श्रवणेन्द्रिये । खजन्मनः आकाशस्य ॥ १४३ ।

आप्नुतः प्राप्नुतः । नोऽस्माकम् । सन्मन एव मणिस्तस्य चोरं तस्करम् ॥ १४४ ।

अनुल्बणमनुद्भटं सुकुमाराङ्गमित्यर्थः ॥ १४५ ।

अज्ञाने कारणमाहातीवेति । नाज्ञासिषुर्न ज्ञातवत्यः ॥ १४६ ।

वयस्याः सख्यः ॥ १४७ ।

हमारे दोनों ही नेत्र, इस परमरमणीयतर को देख फिर दूसरी वस्तु के देखने कहीं अन्यत्र जाने की इच्छा ही नहीं करते ॥ १४२ ।

एवं दोनों ही कान भी वचनामृत की मधुरता पीकर अपर शब्दों के श्रवण में निरपेक्ष हो गये हैं ॥ १४३ ।

हम सब के मनरूपी मणि के चोर इन जवान को देख, हमारे ये पैर चंचल होने पर भी पंगु-से हो गये हैं ॥ १४४ ।

वे सब बालिकायें (आपस में) परस्पर इसी भाँति से धीरे-धीरे बात करती हुई चित्र में देखने पर भी उसको नहीं पहचान सकीं ॥ १४५ ।

क्योंकि अत्यन्त भीषणाकार उस दानव के भय से आँखों के अन्धी हो जाने से वे मृगनयनियाँ उसे किसी प्रकार से नहीं पहचान पायीं ॥ १४६ ।

फिर उस जीवनरक्षक युवक से वे सब कहने लगीं—हे जीव ! आपने जो स्नेहपूर्ण हृदय से पूछा, वह सब कुछ हम लोग बताती हैं। आप क्षणभर सावधान

तदाचक्षामहे सर्वमवधेहि क्षणं मनः ।
इयं गन्धर्वराजस्य वसुभूतेस्तनूद्भवा ॥ १४८ ।
कन्या रत्नावली नाम गुणरत्नमहाखनिः ।
वयं वयस्या एतस्याश्छायेवानुगताः सदा ॥ १४९ ।
आरभ्य बाल्यमप्येषा लिङ्गं रत्नेश्वराभिधम् ।
याति पित्राऽप्यनुज्ञाता काश्यामर्चयितुं सदा ॥ १५० ।
वरोऽपि दत्तस्तेनाऽस्यै प्रसन्नेनाऽथ शम्भुना ।
हरिष्यतीति यः स्वप्ने कौमारं ते कुमारिके ॥ १५१ ।
तव नामसमानाख्यः स ते भर्ता भविष्यति ।
युवानं स्वप्नभोक्तारं प्राप्याऽप्येषा सुदुःखिता ॥ १५२ ।
पुनस्तद्विरहोत्थेन वह्निनाऽतीवतापिता ।
कलाकौशल्यतोऽस्माभिः सोऽपि चित्रे प्रदर्शितः ॥ १५३ ।
यस्य न ग्रामनामाऽपि नाऽन्वयोऽप्यवबुध्यते ।
तं दृष्ट्वा चित्रलिखितमप्येषा जीविता पुनः ॥ १५४ ।

अवधेहि स्थिरीकुरु ॥ १४८ ।

हरिष्यतीति शब्दस्य भविष्यतीत्यनेन सम्बन्धः ॥ १५१ ।

कलाकौशल्यतः विद्यानैपुण्यात् ॥ १५३ ।

हो जाँय । यह गन्धर्वराज वसुभूति की बेटी है ॥ १४७-१४८ ।

इसका नाम रत्नावली है, यह गुणरत्नों की बड़ी खानि है । हम लोग इनकी सखियाँ हैं और छाया की तरह सर्वदा इनकी अनुगामिनी बनी रहती हैं ॥ १४९ ।

ये लड़कपन ही से पिता की आज्ञानुसार "प्रतिदिन काशी में रत्नेश्वर नामक लिंग की पूजा करने को जाती हैं ॥ १५० ।

भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर इनको यह वरदान भी दिया है कि हे कुमारिके ! जो युवक स्वप्न में तेरी कुमारता हरण करेगा और तुम्हारे नाम के समान नामी होगा, वही तुम्हारा भर्ता होगा, फिर यह स्वप्न के भोक्ता उस जवान के नहीं पाने से बहुत दुःखित हुईं ॥ १५१-१५२ ।

फिर जब उसके विरहानल से अत्यन्त तापित हुईं, तो हम लोगों ने कला कौशल करके उसे चित्र में इनको दिखलाया ॥ १५३ ।

जिसका नाम, धाम, वंश, कुछ भी नहीं ज्ञात है, उसे चित्र में लिखित होने पर भी देखते ही यह जी उठीं ॥ १५४ ।

ततो रत्नेश्वरं नत्वा स्वगृहायोत्सुकाऽभवत् ।
यान्तीस्ततोऽनया सार्धं प्रान्तरे गगनाध्वनि ॥ १५५ ।
अतर्किताागमश्चास्मान् धृत्वा पातालमाविशत् ।
अनन्तरं भवानेव तं वेत्ति दनुजाधमम् ॥ १५६ ।
अङ्ग इत्येव वृत्तान्तो निजोऽस्माभिरुदीरितः ।
प्रसादं कुरु चास्माकं पुरः कोऽसि कृपानिधे ॥ १५७ ।
यदा प्रभृति चास्माभिः स दृष्टो दुष्टदानवः ।
तदा प्रभृति नो नेत्रे विद्युतेव हतप्रभे ॥ १५८ ।
कांदिशीका भयत्रातर्न विद्मः किञ्चिदेव हि ।
क्व वयं का वयं कस्त्वं किं जातं किं भविष्यति ॥ १५९ ।
निशम्येति स पुण्यात्मा नागराजकुमारकः ।
आश्वास्य ता भयत्रस्ताः प्रोवाचेदं च पुण्यधीः ॥ १६० ।
मया सह समायात रत्नेशं दर्शयामि वः ।
इत्याहूय स ता निन्ये क्रीडावापीं सुखोदकाम् ॥ १६१ ।

पुरोऽग्रतः ॥ १५७ ।

कांदिशीका भयद्रुताः । किञ्चिदित्यस्य विवरणं क्वेति ॥ १५९ ।

फिर रत्नेश्वर को प्रणाम करके अपने घर जाने को उत्कंठित हुईं । इसी बीच में आकाशमार्ग से इनके साथ जाती हुई हम लोगों को पकड़कर अतर्कित भाव से आया हुआ यह दानव पाताल में हमें ले गया । इसके अनन्तर इस दानवाधम के विषय में जो कुछ हुआ, वह आपको भलीभाँति से विदित ही है ॥ १५५-१५६ ।

महाशय ! यह तो अपना सब वृत्तान्त हम लोगों ने आपसे कह दिया । हे कृपानिधान ! अब आप भी प्रसन्न होकर यह बता दें कि आप कौन हैं ? ॥ १५७ ।

हे भयत्रांतः ! जब से हम लोगों ने इस दुष्टदानव को देखा है, तब से हमारी आँखें मानों बिजुरी (विद्युत् चमक से) चौंधिया गई हैं ॥ १५८ ।

हम सब किधर जावें ? कहाँ हैं ? कौन हैं ? आप ही कौन हैं ? एवं क्या हो गया ? अथवा क्या होगा ? यह सब कुछ भी नहीं जानती हैं ॥ १५९ ।

शुद्धबुद्धि, पुण्यात्मा, नागराज के कुमार उस रत्नचूड़ ने भय से विह्वल उन गन्धर्वकन्याओं की बात सुन, आश्वासन देकर कहा ॥ १६० ।

रत्नचूड़ बोला—'तुम लोग मेरे साथ चली आओ, मैं तुम सब को रत्नेश्वर का दर्शन कराता हूँ' । रत्नचूड़ यही कहकर उन सबों को सुखोदका नाम की क्रीड़ावापी पर ले गया ॥ १६१ ।

विचित्रमणिसोपानां हंसकोककृता रवाम् ।
कवीनां वासितव्याजात् स्वागतं कुर्वतामिव ॥ १६२ ।
तत्र तेनाऽभ्यनुज्ञाताः क्रीडावाप्यां निमज्ज्य ताः ।
सचैलपुष्पाभरणाः प्रोन्ममज्जुस्ततः पुनः ॥ १६३ ।
बहिर्निर्गत्य गन्धर्व्यः पश्यन्त्यः स्थगिता इव ।
रत्नेशालयमालोक्य कालराजसमीपतः ॥ १६४ ।
परस्परं ततः प्रोचुर्गन्धर्व्यो विस्मिता इव ।
स्वप्नोऽयं किं नु वा सत्यं खेलो रत्नेश्वरस्य वा ॥ १६५ ।
वयमेव हि वा भ्रान्ता गन्धर्व्यो न वयं किमु ।
किमेतन्नैव जानीम ऐन्द्रजालिकखेलवत् ॥ १६६ ।
एषोत्तरवहा गङ्गा स्फुटमेव भवेदिह ।
शंखचूडस्य वाऽप्येषा शंखचूडालयस्त्वसौ ॥ १६७ ।

विचित्रमणिसोपानं नानामणिसम्बद्धघट्टामित्यर्थः । कवीनां वासितव्याजाज्जलपक्षिणां शब्दच्छलात् ॥ १६२ ।

निमज्ज्य जलाशयं गत्वा प्रोन्ममज्जुः शिरोभिः सम्यङ्मज्जनं चक्रुः ॥ १६३ ।

स्थगिता इव जृम्भिता इव ॥ १६४ ।

खेलः क्रीडा ॥ १६५ ।

जो बावली विचित्र मणियों की सीढ़ियों से सुशोभित और हंस और कोक की मधुरध्वनि से पूर्ण एवं जलपक्षियों की बोली के व्याज से मानो स्वागत कर रही थी ॥ १६२ ।

उसकी आज्ञा के अनुसार वे सब उस क्रीड़ावापी में स्नान कर फिर वस्त्र और पुष्पाभरणादि के सहित उसमें डुबकी मारने लगीं ॥ १६३ ।

तुरन्त ही स्नान कर वापी से बाहर आकर वे सब गन्धर्वकन्यायें अपने को कालभैरव के पास में रत्नेश्वर के समीप देखते ही आश्चर्य से पूर्ण हो गयीं ॥ १६४ ।

तब वे सब परस्पर चकित होकर यह कहने लगीं कि क्या यह स्वप्न है अथवा सत्य है ? या रत्नेश्वर ही का कोई खिलवाड़ है ॥ १६५ ।

स्यात् हमी लोगों की बुद्धि चकरा गई है ? किं वा हम लोग गन्धर्वकन्यायें नहीं हैं ? जो हो, पर यहाँ तो गंगा उत्तरवाहिनी स्पष्ट ही हैं । यही शंखचूड़ की वापी है, वही शंखचूड़ का घर है ॥ १६६-१६७ ।

एतत्पञ्चनदं तीर्थमेष वागीश्वरालयः ।
यस्य सन्दर्शनादेव वाग्विभूतिर्विजृम्भते ॥ १६८ ।
शंखचूडेश्वरश्चैष शंखचूडप्रतिष्ठितः ।
यस्य संदर्शनात्पुंसां न भयं कालसर्पजम् ॥ १६९ ।
एषा मन्दाकिनी नाम दीर्घिका पुण्यतोयभूः ।
यस्यां कृतोदका मर्त्या मर्त्यलोके विशन्ति न ॥ १७० ।
असावाशापुरीदेवी या स्तुता त्रिपुरारिणा ।
त्रिपुरं जेतुकामेन मन्दाकिन्यास्तटे शुभे ॥ १७१ ।
याऽद्यापि पूजिता मर्त्यैराशां पूरयतेऽर्थिनाम् ।
मन्दाकिन्याः प्रतीच्यां तु एष सिद्धचष्टकेश्वरः ॥ १७२ ।
भवेद्यस्य सपर्यातो गृहे सिद्धचष्टकं स्फुटम् ।
कुण्डं सिद्धचष्टकाख्यं च तत्रैव विरजोदकम् ॥ १७३ ।

कालरूपः सर्पः कालसर्पस्तस्मात्कालश्च सर्पश्चं ताभ्यां वा जातं कालसर्पजम् ॥ १६९ ।

आशापुरीनाम्ना ॥ १७१ ।

आशापुरी नाम निर्वक्ति । याऽद्यापीति ॥ १७२ ।

सपर्यातः पूजातः । सिद्धचष्टकमणिमादिकं पद्मादिकं वा । विरजोदकमित्यत्र सन्धिरार्षः ॥ १७३ ।

यह पंचनद तीर्थ है, यह वागीश्वर(री) का मन्दिर है, जिसके दर्शन ही से वाग्विभूति खुल जाती है ॥ १६८ ।

यह शंखचूड़ेश्वर है, जिनके दर्शन करने से लोगों को कालसर्प का भी भय नहीं रह जाने पाता ॥ १६९ ।

यही तो पवित्र जल की भूमि मन्दाकिनी नामक बावली है, जिसमें जलक्रिया करने से मनुष्य को फिर मर्त्यलोक में प्रवेश नहीं करना पड़ता ॥ १७० ।

यह आशापूरी नामक देवी हैं; जो मन्दाकिनी के सुन्दर तट पर, त्रिपुरासुर के जीतने की इच्छा से त्रिपुरारि के द्वारा स्तुति की गई हैं ॥ १७१ ।

आज भी इनकी पूजा करने से अर्थी लोगों की आशा पूर्ण हो जाती है । मन्दाकिनी के पश्चिम ओर यह सिद्धचष्टकेश्वर हैं ॥ १७२ ।

जिनके पूजन से घर में आठों ही सिद्धियाँ प्रकट स्फुट होकर रहती हैं और वहीं पर निर्मलजल वाला एक सिद्धचष्टक नामक कुंड है ॥ १७३ ।

यत्र स्नात्वा कृतश्राद्धो विरजस्को दिवं व्रजेत् ।
मूर्त्यस्ताः सिद्धयश्चाष्टौ याः काश्यां सर्वसिद्धिदाः ॥ १७४ ।
सर्वसिद्धिप्रदश्चासौ महाराजविनायकः ।
विनायकाः प्रणश्यन्ति यस्मै प्रणमतां नृणाम् ॥ १७५ ।
असौ सिद्धेश्वरस्योच्चैः प्रासादः काञ्चनोज्ज्वलः ।
रत्नध्वजपताकाश्च सिद्धिः स्याद्यद्विलोकनात् ॥ १७६ ।
क्षेत्रस्य मध्यमे भागे मध्यमेश्वर एष वै ।
मध्याऽधोलोकयोर्मध्ये न वसेद्यस्य वीक्षणात् ॥ १७७ ।
मध्यमेशं समभ्यर्च्य नरो मध्यमविष्टपे ।
आसमुद्रक्षितीन्द्रः स्यात्ततो मोक्षं च विन्दति ॥ १७८ ।

सिद्धचष्टकं भवेदित्युक्तं तत्किं मूर्तिमदमूर्तिमद्वेति पृच्छायामाह । मूर्त्यो मूर्तिमत्य इत्यर्थः ॥ १७४ ।

विनायका विघ्नाः ॥ १७५ ।

अतः असौ अत्रेति वा पाठः । चः समुच्चये ॥ १७६ ।

मध्यमविष्टपे भूर्लोके ॥ १७८ ।

इस कुण्ड में स्नान और श्राद्ध करने से मनुष्य विरज होकर स्वर्ग में चला जाता है और वहीं पास में ही आठों सिद्धियों की मूर्तियाँ है, जो काशी में सब सिद्धियों को देती हैं ॥ १७४ ।

और ये ही तो सर्वसिद्धियों के दाता महाराज विनायक (बड़े गणेश)[1] हैं । उन्हें प्रणाम करने वाले लोगों के सब विघ्न आप ही विनष्ट हो जाते हैं ॥ १७५ ।

यह **सिद्धेश्वर** का ऊँचा मन्दिर है । इस पर सोना चढ़ा हुआ है और रत्नों की ध्वजा और पताकायें फहरा रही हैं । इसके दर्शन ही से सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १७६ ।

वागीश्वर के पास में, सिद्धेश्वर महराज ।
आप विराजत हैं जहाँ, ज्वरहर ईश्वर आज ॥

ये क्षेत्र के मध्यभाग में **मध्यमेश्वर**[2] हैं, जिनके दर्शन से मध्यलोक और पाताललोक में वास नहीं होता ॥ १७७ ।

मनुष्य इसी **मध्यमेश्वर** की पूजा करने से भूलोक में समुद्रान्त भूमि का अधीश्वर होकर अन्त में मोक्ष पाता है ॥ १७८ ।

---

1. सिद्धिविनायक या विनायक (बड़े गणेश) की मूर्त्ति और मंदिर वर्तमान लोहटिया बाजार में है । (सम्पादक)
2. **मध्यमेश्वर** महादेव का बड़ा महत्त्व है । कहा जाता है कि उनको धुरी मानकर रेखा की परिधि बनायी जाय, तो काशी वाराणसी की सीमा का ज्ञान हो जायगा । (सम्पादक)

ऐरावतेश्वरं लिङ्गं तत्प्राच्यामिष्टसिद्धिकृत् ।
दृश्यते यत्पताकायां रम्य ऐरावतो गजः ॥ १७९ ।
वृद्धकालेश्वरस्यैष प्रासादो रत्ननिर्मितः ।
प्रतिदर्शं वसेद्यत्र रात्रौ चन्द्रः सतारकः ॥ १८० ।
यस्य सन्दर्शनान्नृणां न कालः प्रभवेद् भवे ।
न कलिः प्रभवेत्सत्यं न च कल्मषराशयः ॥ १८१ ।
इति यावत्कथां चक्रुः संभ्रान्ता इव बालिकाः ।
तावद् वसुविभूतिः स गन्धर्वत्वरया ययौ ॥ १८२ ।
नारदाच्छ्रुतवृत्तान्तः सुबाहुदनुजन्मनः ।
रत्नावली सुता प्रीता ससखीका यथा हृता ॥ १८३ ।
रत्नेश्वरात् समायान्ति शून्ये गगनवर्त्मनि ।
यथा न यच्च पातालं यथा युद्धमभूत्पुनः ॥ १८४ ।
यथा रत्नेशभक्तेन रत्नचूडेन घातितः ।
स सुबाहुर्दनुजनुर्महेष्वासेन चेषुणा ॥ १८५ ।

प्रतिदर्शं प्रत्यमावास्यायाम् ॥ १८० ।

भवे संसारे ॥ १८१ ।

सुबाहुदनुजन्मनः । दनोर्दक्षदुहितुः कश्यपपत्न्या जन्म यस्य स दनुजन्मा सुबाहुश्चासौ दनुजन्मा चेति तथा तस्य । वृत्तान्तमेव संक्षेपतो दर्शयति । प्रीता रत्नेश्वरदानेन प्रीता स्निग्धेति वा ॥ १८३ ।

दनुजनुर्दनुजन्मा । महदिष्वासं धनुर्यस्य स तथा तेन ॥ १८५ ।

उसके पूर्वभाग में ऐरावतेश्वर नामक लिंग है, जो इष्टसिद्धियों को पूर्ण कर देता है और जिसकी पताका में सोहावन (सुहावना) ऐरावत गज बना है ॥ १७९ ।

यही तो वृद्धकालेश्वर का जड़ाऊ वाला मन्दिर है । इस पर प्रति अमावास्या की रात्रि में भी मानो ताराओं के साथ चन्द्रमा शोभायमान रहता है ॥ १८० ।

जिसके दर्शन ही से निःसन्देह संसार में कलिकाल और कल्मषराशियाँ कुछ भी नहीं कर सकतीं ॥ १८१ ।

वे सब गन्धर्वकन्यायें जब घबड़ाई हुई-सी इन बातों को कह रही थीं, उसी घड़ी गन्धर्वराज वसुभूति बड़ी शीघ्रता से वहाँ आ पहुँचे ॥ १८२ ।

देव-ऋषि नारद के मुख से सखियों के सहित दुलरुई (दुलारी=वात्सल्य-प्रेमभागिनी) बेटी रत्नावली का रत्नेश्वर के दर्शन के अनन्तर लौटती वेला शून्य

यथा च पृष्टवृत्तान्तो वापीमार्गेण चानयत् ।
शंखचूडस्य वापीं तां पातालेषु प्रवर्तिनीम् ॥ १८६ ।
यथा च प्राप्य निर्याताः काशीं दृष्ट्वाऽपि बालिकाः ।
भृशं संभ्रान्तिमापन्नाः पश्यन्त्योऽपि समुत्सुकाः ॥ १८७ ।
दृष्ट्वा गन्धर्वराजस्तां पुनर्जातामिवात्मजाम् ।
सवयस्या मनम्लानमुखपङ्कजसुश्रियम् ॥ १८८ ।
परिष्वज्य समाघ्राय ललाटफलकं मुहुः ।
अङ्कमारोप्य पप्रच्छ सर्वं वृत्तान्तमादरात् ॥ १८९ ।
अथ सा कथयामास दनुजापहृतेः कथाम् ।
रत्नेश्वरवराऽवाप्तिं स्वप्नावस्थां विहाय च ॥ १९० ।
रत्नावलीमनोवृत्तिं विज्ञायाऽथ मुखेङ्गितैः ।
शशिलेखा समाचष्ट स्पष्टवर्णैः सविस्तरम् ॥ १९१ ।

त्रासादनम्लानाम्लाना । "द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः" इति न्यायात् । मुखपङ्कजे सुशोभना श्रीः कान्तिर्यस्याः सा तथा ताम् ॥ १८८ ।

दनुजापहृतेर्दानवापहरणस्य ॥ १९० ।

आकाशमार्ग में सुबाहु दानव से हरा जाना और उसके पाताल में ले जाने पर वहाँ युद्ध का होना और फिर रत्नेश्वर के भक्त बड़े धनुर्धर रत्नचूड़ से उस सुबाहु दानव का बाण के द्वारा मारा जाना, फिर वृत्तान्त पूछ लेने पर रत्नचूड़ का उन सबों को बावली के मार्ग से पहुँचा देना और उन सबों का शंखचूड़ की पातालवाली बावली तक पहुँचाना-सब वृत्तान्त सुना ॥ १८३-१८६ ।

यह भी जाना कि उक्त वापी में स्नानार्थ प्रविष्ट होने के बाद उनका काशी में जा निकलना और काशी को देखकर उन गन्धर्वकन्याओं का बहुत घबड़ाना एवं बारम्बार उत्कंठित होकर (इधर-उधर) देखना भी जान गये ॥ १८७ ।

इन सब तथा अन्य बातों को सुनकर गन्धर्वराज वहाँ जाकर अपनी कन्या को सखियों के सहित प्रफुल्ल मुखकमल की शोभा के द्वारा पूर्ण रहने से फिर उत्पन्न हुई-सी देखकर बारंबार उसे आलिंगन करते और उसका ललाटतल सूँघते हुए गोद में बैठा कर आदर के साथ सब समाचार पूछने लगे ॥ १८८-१८९ ।

इसके पीछे रत्नावली ने, स्वप्नावस्था की बात छोड़कर रत्नेश्वर का वरदान और दानव के अपहरण करने का सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १९० ।

अनन्तर रत्नावली के मुख की चेष्टा से उसकी मनोवृत्ति को समझ कर शशिलेखा ने स्पष्ट अक्षरों में सब समाचार सविस्तर वर्णन किया ॥ १९१ ।

तुतोष नितरां सोऽथ गन्धर्वाधिपतिः कृती ।
प्रभावं वर्णयामास मुदा रत्नेश्वरस्य च ॥ १९२ ।

स्कन्द उवाच–

आकर्णय मुनिश्रेष्ठ विन्ध्यवृद्धिविवर्धन ।
प्रत्यहं रत्नचूडोऽपि वापीमार्गेण संयमी ॥ १९३ ।
नागलोकात् समागत्य स्नात्वा मन्दाकिनीजले ।
रत्नेश्वरं समभ्यर्च्य रत्नाञ्जल्यष्टकेन वै ॥ १९४ ।
सुवर्णपङ्कजान्यष्टौ समर्पयति हृष्टवत् ।
एकदा स्वप्नसमये रत्नेशो लिङ्गरूपधृक् ॥ १९५ ।
रत्नचूडमुवाचेदं निजभक्तं दृढव्रतम् ।
दानवेन हृतां कन्यां मोचयिष्यति यां भवान् ॥ १९६ ।
तं दानवं रणे जित्वा सा ते पत्नी भविष्यति ।
इति स्मरन् वरं सोऽथ नागराजो महामनाः ॥ १९७ ।
तां कन्यां दानवं हत्वा विमोच्य निजवीर्यतः ।
वापीमार्गेण पातालादानिनाय पुनर्महीम् ॥ १९८ ।

कृती विद्वान् ॥ १९२ ।

एवं रत्नावल्या वृत्तान्तमुक्त्वा रत्नचूडवृत्तान्तं प्रस्तावयति । आकर्णयेति विशेषेण वर्धयति छेदयतीति विवर्धनस्तत्सम्बोधनं तथा । वृधु च्छेदन इति धातुः । निबर्हणेति क्वचित्पाठः ॥ १९३ ।

तब वे सुकृती गन्धर्वराज बहुत ही सन्तुष्ट हुए । बड़े हर्ष के साथ वे रत्नेश्वर का प्रभाव वर्णन करने लगे ॥ १९२ ।

स्कन्द ने कहा–

'हे विन्ध्यवृद्धिनिबन्धक ! मुनिश्रेष्ठ ! सुनो, संयमी रत्नचूड़ भी प्रतिदिन उसी बावली के मार्ग से अपने नागलोक से वहाँ आकर मन्दाकिनी के जल में स्नान कर रत्नेश्वर की पूजा के उपरान्त आठ अँजुरी रत्न और आठ ही सोने के बने हुए कमल के पुष्पों को बड़ी प्रसन्नता से चढ़ाता था । एक बार स्वप्न के समय लिंगरूप होकर रत्नेश्वर ने दृढ़व्रती अपने भक्त रत्नचूड़ से यह कहा कि, "युद्ध में जिस दानव को जीतकर उसकी हरण की हुई कन्या को तुम छुड़ाओगे, वही तुम्हारी पत्नी होगी ।" फिर वह महामनस्वी नागराज इस वरदान को स्मरण करता हुआ अपने शौर्य के बल से सुबाहु दानव को मार, उस गन्धर्वकन्या को उससे छुड़ाकर वापी के मार्ग से फिर महीतल पर पहुँच गया ॥ १९३-१९८ ।

स्वयं च साधयाञ्चक्रे प्रत्यहं नियमं सुधीः ।
लिङ्गं समर्चयित्वाऽथ कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥ १९९ ।
यावद्बहिः समागच्छेद्रम्याद्रत्नेशमण्डपात् ।
तावद् गन्धर्वराजाय ताभिः स वसुभूतये ॥ २०० ।
सोऽयं सोऽयं युवा धन्यस्तर्जन्यग्रेण दर्शितः ।
गन्धर्वराजस्तं दृष्ट्वा नागराजकुमारकम् ॥ २०१ ।
अतीवस्मेरनयनः संप्रहृष्टतनूरुहः ।
मनस्येनं च संवर्ण्य तद्रूपं सवयोऽन्वयम् ॥ २०२ ।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि रत्नेशेन वरार्पणात् ।
कन्या धन्यतरा चेयमनुरूपोऽस्ति यत्पतिः ॥ २०३ ।
संप्रधार्येति हृद्येनं समाकार्य च सुन्दरम् ।
पृष्ट्वा तन्नाम गोत्रं च गणयित्वा बलाबलम् ॥ २०४ ।
रत्नेश्वरस्य पुरतस्तस्मै कन्यां ददौ मुदा ।
नीत्वा गन्धर्वलोकं च कृतकौतुकमङ्गलम् ॥ २०५ ।

नियमं रत्नाञ्जल्यष्टकेन पूजनं सुवर्णपङ्कजाष्टकसमर्पणरूपं व्रतम् ॥ १९९ ।
सवयोऽन्वयं वयोऽन्वयाभ्यां सहितं तद्रूपं च ॥ २०२ ।
वरार्पणात् जामात्रर्पणात् । यद्यस्याः यस्मादिति वा ॥ २०३ ।
समाकार्य आकारयित्वा । अवधाय चेति क्वचित्पाठः ॥ २०४ ।

और वह बुद्धिमान् प्रतिदिन का अपना नियम भी साधने लगा । जब रत्नेश्वर का पूजन और परिक्रमा करके सुहावने रत्नेश्वर के मंडप से वह बाहर निकला, तब वह सब बालिका गन्धर्वराज वसुभूति को "यही तो वह धन्य युवा है" कहती हुई तर्जनी के अग्रभाग से दिखाने लगीं । तब तो (उस) नागराज के कुमार को देखते ही गन्धर्वराज के नेत्र बहुत ही प्रफुल्ल और शरीर रोमांचित हो उठा और वे मन ही मन उसके रूप, यौवन और कुल की प्रशंसा करने लगे ॥ १९९-२०२ ।

(एवं सोचने लगे कि) रत्नेश्वर ने वरदान करके मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया, अतएव मैं धन्य हूँ और यह कन्या तो परमधन्य हो गई, जो इसको अनुरूप पति मिल गया ॥ २०३ ।

वसुभूति ने इन बातों को मन ही में सोच-विचार उस सुन्दर युवा को बुलाया और उसका नाम और गोत्र पूछकर बलाबल की गणना मिलाकर रत्नेश्वर के सन्मुख ही बड़े हर्ष से उसे अपनी कन्या को दे दिया । फिर विवाह के कौतुक-मंगल करने पर रत्नचूड़ को अपने गन्धर्वलोग में लिवा ले गया ॥ २०४-२०५ ।

मधुपर्केण सम्पूज्य पाणिमग्राहयत्ततः ।
वैवाहिकेन विधिना ददौ रत्नान्यनेकशः ॥ २०६ ।
शशिलेखाऽनङ्गलेखा चित्रलेखाऽपि कुम्भज ।
विज्ञाप्य स्वजनेतारं वरयामास तं पतिम् ॥ २०७ ।
उपयम्य चतस्रोऽपि स गन्धर्वसुताः शुभाः ।
रत्नचूडो जगामाऽथ ताभिः स्वपितृमन्दिरम् ॥ २०८ ।
यथा चतसृभिः सार्धं श्रुतिभिः प्रणवः शिवम् ।
स्वपित्रोश्चरणौ नत्वा नवोढाभिः स नागराट् ॥ २०९ ।
विनिवेदितवृत्तान्तो रत्नेशानुग्रहस्य च ।
उवास ताभिः ससुखं पितृभ्यामभिनन्दितः ॥ २१० ।

ईश्वर उवाच–

रत्नेश्वरस्य लिङ्गस्य मम स्थावररूपिणः ।
सर्वेषां सर्वदस्याऽस्य प्रभावो गिरिजेऽतुलः ॥ २११ ।

उपयम्य विवाह्य ॥ २०८ ।

प्रणव ओंकारः । शिवं विश्वेश्वरं यथा गच्छति तद्वदित्यर्थः । नवोढाभिः सूर्याभिर्नूतनविवाहिताभिरिति यावत् ॥ २०९ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ।

विवाह की विधि के अनुसार मधुपर्क से पूजन कर पाणिग्रहण करा दिया और बहुत से रत्नों को भी दिया ॥ २०६ ।

हे कुंभज ! मुने ! शशिलेखा, अनंगलेखा और चित्रलेखा ने भी, अपने-अपने पिता को जनाकर रत्नचूड़ को ही पति बनाना चाहा ॥ २०७ ।

इसके अनन्तर वह नागकुमार उन चारों सुन्दर गन्धर्वकन्याओं का विवाह कर उन सबों के साथ अपने पिता के घर चला गया ॥ २०८ ।

चारों श्रुतियों के सहित प्रणव जैसे शिव के पास पहुँचता है, वैसे ही वह नागराज उन चारों नवोढ़ाओं के साथ जाकर अपने माता-पिता के चरणों पर गिर पड़ा ॥ २०९ ।

और रत्नेश्वर की अनुकम्पा का सब वृत्तान्त निवेदन करके माता-पिता से अभिनन्दित होने पर वह उन सबों के साथ सुखपूर्वक वास करने लगा ॥ २१० ।

शंकर ने कहा–

हे गिरिजे ! सब लोगों को सब कुछ देने वाले स्थावररूप इस रत्नेश्वर लिंग के प्रभाव की तुलना नहीं है ॥ २११ ।

अस्मिँल्लिङ्गे परां सिद्धिं प्राप्ताः सिद्धाः सहस्रशः ।
गुप्तमासीदिदं लिङ्गमद्य यावत्सुमध्यमे ॥ २१२ ।
तव पित्रा हिमवता मम भक्तेन सर्वथा ।
पुण्यार्जितैर्महारत्नै रत्नेशः प्रकटीकृतः ॥ २१३ ।
अस्मिँल्लिङ्गे मम प्रीतिर्नितरामद्रिराजजे ।
वाराणस्यामिदं लिङ्गं पूजनीयं प्रयत्नतः ॥ २१४ ।
नानारत्नानि लभ्यन्ते रत्नेशानुग्रहादुमे ।
स्त्रीरत्नपुत्ररत्नादिस्वर्गमोक्षावपि प्रिये ॥ २१५ ।
योऽत्र रत्नेश्वरं नत्वा मृतो देशान्तरेष्वपि ।
न स स्वर्गादिहागच्छेत्कल्पकोटिशतैरपि ॥ २१६ ।
असितायां चतुर्दश्यामुपोष्य निशि जागरात् ।
रत्नेशसन्निधौ देवि मम सान्निध्यमाप्नुयात् ॥ २१७ ।
अस्य लिङ्गस्य पूर्वेण त्वया जन्मान्तरे प्रिये ।
दाक्षायणीश्वरं लिङ्गं मद्भक्त्यात्र प्रतिष्ठितम् ॥ २१८ ।
तस्य सन्दर्शनादेव न नरो याति दुर्गतिम् ।
अम्बिका नाम गौरी त्वं तत्राऽहं चाऽम्बिकेश्वरः ॥ २१९ ।
मूर्तः षडाननस्तत्र तव पुत्रः सुमध्यमे ।
एतत्त्रयं नरो दृष्ट्वा न गर्भं प्रविशेदुमे ॥ २२० ।

हे सुमध्यमे ! इस लिंग में सहस्रों सिद्ध लोगों ने बड़ी सिद्धि पायी है । यह लिंग आज तक गुप्त ही रहा ॥ २१२ ।

पर मेरे परम भक्त तुम्हारे पिता हिमवान् ने अपने पुण्यार्जित महारत्नों से रत्नेश्वर को (आज) प्रकट कर दिया ॥ २१३ ।

हे गिरिराजसुते ! इस लिंग पर मेरी बड़ी ही प्रीति है । अतएव वाराणसी क्षेत्र में बड़े परिश्रम से इस लिंग का पूजन करना चाहिए ॥ २१४ ।

हे प्रिये ! उमे ! रत्नेश्वर की कृपा से नानाप्रकार के रत्नजात, स्त्रीरत्न, पुत्ररत्न, स्वर्ग और मोक्ष इत्यादि सब कुछ पाया जाता है ॥ २१५ ।

जो कोई यहाँ पर रत्नेश्वर को प्रणाम करके परदेश में भी प्राणत्याग करे, उसे सौ करोड़ कल्प तक फिर इस मर्त्यलोक में लौटना नहीं पड़ता ॥ २१६ ।

हे देवि ! रत्नेश्वर के समीप कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन उपवास रहकर रात्रि में जागरण करने से मेरा सान्निध्य प्राप्त होता है ॥ २१७ ।

हे प्रिये ! इसी रत्नेश्वर के पूर्वभाग में तुमने अपने पूर्वजन्म में दाक्षायणीश्वर नामक लिंग को मेरी भक्ति से स्थापित किया था ॥ २१८ ।

उसके दर्शन करने ही से मनुष्य दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है । हे सुमध्यमे ! यहीं पर तुम अम्बिका गौरी हो और मैं अम्बिकेश्वर नामक हूँ । तुम्हारा पुत्र षडानन

रत्नेश्वरस्य माहात्म्यं मया ते समुदीरितम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन कलिकल्मषचेतसाम् ॥ २२१ ।
इदं रत्नेश्वराख्यानं यः पठिष्यति सर्वदा ।
स पुत्रपौत्रपशुभिर्न वियुज्येत कर्हिचित् ॥ २२२ ।
श्रुत्वा रत्नेश्वरोत्पत्तिं सेतिहासां नरोत्तमः ।
अनूढो लभते सत्यं कन्यारत्नं कुलोचितम् ॥ २२३ ।
कन्याऽपीमं समाकर्ण्य त्वितिहासं मनोरमम् ।
श्रद्धया सत्पतिं प्राप्य भविष्यति पतिव्रता ॥ २२४ ।
इतिहासमिमं श्रुत्वा नारी वा पुरुषोऽपि वा ।
न जात्विष्टवियोगाग्नितापेन परितप्यते ॥ २२५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे रत्नेश्वरप्रशंसनं
नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ।

भी यहाँ मूर्तिमान् है । हे उमे ! इन तीनों ही का दर्शन करने से मनुष्य फिर गर्भ में प्रवेश नहीं करता ॥ २१९-२२० ।

यह रत्नेश्वर का माहात्म्य मैंने तुमसे वर्णन किया, कलियुग के पापियों से इसे सदैव पूर्णरीति से छिपाना (गोपनीय रखना) ही चाहिए ॥ २२१ ।

जो कोई नित्य ही इस रत्नेश्वर के उपाख्यान का पाठ करेगा, उसे कभी पुत्र, पौत्र और पालित पशुओं का वियोग नहीं सुनना पड़ेगा ॥ २२२ ।

जो कोई पुरुष इतिहास के साथ रत्नेश्वर के प्रादुर्भाव की कथा को सुनेगा, वह अविवाहित होने पर निश्चय ही वंश के अनुरूप कन्यारूपी रत्न को पावेगा ॥ २२३ ।

इसी भाँति यदि कोई कन्या भी इस मनोरम इतिहास को श्रद्धापूर्वक सुनेगी, तो वह भी सज्जन पति को पाकर परमपतिव्रता होगी ॥ २२४ ।

इस इतिहास के सुनने से चाहे पुरुष हो अथवा स्त्री हो, कभी अपने प्रिय के विरहानल में संतप्त नहीं होता ॥ २२५ ।

रत्नचूड़ रत्नावली, दोउन को इतिहास ।
पढ़े सुने मनकामना, पुरवहि यह दृढ़ आस ॥ १ ।
रत्नेश्वर को धाम, वृद्धकाल के पास है ।
सधैं जगत् के काम, तेहि दरसन पूजन किये ॥ २ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां रत्नेश्वर-
प्रशंसावर्णनं नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ।

॥ अथाष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

अन्यच्च शृणु विप्रेन्द्र वृत्तान्तं तत्र सम्भवम् ।
महाश्चर्यप्रजननं महापातकहारि च ॥ १ ॥
इत्थं कथां प्रकुर्वाणे रत्नेशस्य महेश्वरे ।
कोलाहलो महानासीत्त्रात त्रातेति सर्वतः ॥ २ ॥
महिषासुरपुत्रोऽसौ समायाति गजासुरः ।
प्रमथन्प्रमथान्सर्वान्निजवीर्यमदोद्धतः ॥ ३ ॥
यत्र यत्र धरायां स चरणं प्रमिणोति हि ।
अचलोल्लोलयाञ्चक्रे तत्र तत्रास्य भारतः ॥ ४ ॥

अष्टषष्टितमेऽध्याये वर्ण्यतेऽतिसुपेशलम् ।
गजासुरवधाख्यानं महाश्चर्यप्रदं नृणाम् ॥ १ ॥

कृत्तिवासेश्वरोत्पत्तिं कथयितुं गजासुराख्यानं प्रस्तावयति ।

अन्यच्चेति । सम्यग् भवतीति संभवम् ॥ १ ॥

कोलाहलः कलकलः बहुभिः कृतोऽव्यक्तशब्द इत्यर्थः । यदाहाऽमरः–"**कोलाहलः कलकलः**" इति ॥ २ ॥

प्रमिणोति प्रक्षिपति । अचलाप्युल्लोलयाञ्चक्रे आन्दोलयाञ्चक्रे इत्यर्थः ॥ ४ ॥

(गजासुर का वध और कृत्तिवासेश्वर का प्रादुर्भाव)

स्कन्द बोले–

हे विप्रेन्द्र ! वहाँ का एक और भी महापातक-नाशक और परमाश्चर्यकारक वृत्तान्त श्रवण करो ॥ १ ॥

महेश्वर, रत्नेश्वर के विषय में जब यह कथा कह रहे थे, उसी समय पर चारों ओर से "बचाओ-बचाओ" का बड़ा भारी कोलाहल मचने लगा ॥ २ ॥

(यह सुनाई पड़ा कि) अपने वीर्य के अहंकार से उद्धत, महिषासुर का पुत्र गजासुर अशेष प्रमथगणों को मथता हुआ यहीं चला आ रहा है ॥ ३ ॥

वह जिस-जिस स्थान पर अपना चरण रखता है, वहाँ-वहाँ की पृथिवी उसके बोझ से काँपने लगती है ॥ ४ ॥

ऊरुवेगेन तरवः पतन्ति शिखरैः सह ।
यस्य दोर्दण्डघातेन चूर्णाः स्युश्च शिलोच्चयाः ॥ ५ ।
यस्य मौलिजसंघर्षाद् घना व्योम त्यजन्त्यपि ।
नीलिमानं न चाद्यापि जहुः तत्केशसंगजम् ॥ ६ ।
यस्य निःश्वाससंभारैरुत्तरङ्गा महाब्धयः ।
नद्योऽप्यमन्दकल्लोला भवन्ति तिमिभिः सह ॥ ७ ।
योजनानां सहस्राणि नव यस्य समुच्छ्रयः ।
तावानेव हि विस्तारस्तनोर्मायाविनोऽस्य हि ॥ ८ ।
यन्नेत्रयोः पिङ्गलिमा तथा तरलिमा पुनः ।
विद्युता नोज्झ्यतेऽद्यापि सोऽयमायाति सत्वरः ॥ ९ ।
यां यां दिशं समभ्येति सोऽयं दुःसहदानवः ।
सा सा समीभवेदस्य साध्वसादिव दिग्ध्रुवम् ॥ १० ।

शिखरैः सह शिलोच्चयाः पर्वताश्चूर्णाः स्युरित्यन्वयः ॥ ५ ।

मौलिजसंघर्षात्केशसंमर्दनात् ॥ ६ ।

निःश्वासंभारैः श्वाससमूहैः । उत्तरङ्गा उच्चोर्मयः । तिमिभिर्जलचरैः ॥ ७ ।

पिङ्गलिमा पिङ्गलता । तरलिमा तरलता । नोज्झ्यते न त्यज्यते ॥ ९ ।

समीभवेदुच्चनीचादिकं परित्यज्य समः भवेदित्यर्थः ॥ १० ।

उसके तीव्र वेग से वृक्ष गिर पड़ते हैं और मुंड के टक्कर से शिखरों के साथ पर्वत चूर्ण हो जाते हैं तथा उसके केशों के संघर्षण से मेघगण आकाश छोड़ देते हैं और उसके केश की रगड़ की नीलिमा आज तक उनमें बनी हुई है ॥ ५-६ ।

जिसके श्वास के फुफकार से महासमुद्रों में भी ऊँची-ऊँची लहरें उठने लगती हैं और नदियाँ भी बड़े-बड़े जलचरों के साथ हिंडोल उठती हैं ॥ ७ ।

उसी मायावी के शरीर की लंबाई और चौड़ाई नवसहस्र योजन में फैली हुई है ॥ ८ ।

उसके नेत्रों की पीली चमक और चंचलता आज तक बिजुरी (विद्युत्) में बनी है । वही दुष्ट बड़े वेग से चला आ रहा है ॥ ९ ।

यह दुस्सह दानव जिस-जिस दिशा में जाता है, मानो उसे निश्चय ही समथर (समस्तल) किये जा रहा है ॥ १० ।

ब्रह्मलब्धवरश्चाऽयं तृणीकृतजगत्त्रयः ।
अवध्योऽहं भवामीति स्त्रीपुंसैः कामनिर्जितैः ॥ ११ ।
ततस्त्रिशूलहेतिस्तमायान्तं दैत्यपुङ्गवम् ।
विज्ञायाऽवध्यमन्येन शूलेनाभिजघान तम् ॥ १२ ।
प्रोतस्तेन त्रिशूलेन स च दैत्यो गजासुरः ।
छत्रीकृतमिवात्मानं मन्यमानो जगौ हरम् ॥ १३ ।

गजासुर उवाच–

त्रिशूलंपाणे देवेश जाने त्वां स्मरहारिणम् ।
तव हस्ते मम वधः श्रेयानेव पुरान्तकः ॥ १४ ।
किञ्चिद्विज्ञप्तुमिच्छामि अवधेहि ममेरितम् ।
सत्यं ब्रवीमि नासत्यं मृत्युञ्जय विचारय ॥ १५ ।

ब्रह्मलब्धवरस्वरूपमेवाह । अवध्योऽहमिति ॥ ११ ।

त्रिशूलं हेतिरस्त्रं यस्य स तथा ॥ १२ ।

प्रोतो ग्रथितः । तत इति क्वचित् । जगौ उक्तवान् ॥ १३ ।

पुरान्तक त्रिपुरान्तक ॥ १४ ।

अवधेहि शृणु ॥ १५ ।

यह तो ब्रह्मा के वरदान से काम से हारे हुए स्त्री और पुरुषों से अपने को अवध्य मानकर तीनों ही जगत् को तृण के समान समझता है ॥ ११ ।

इसके उपरान्त त्रिशूलधारी महादेव ने उस दैत्यराज को दूसरे किसी से अवध्य जानकर आते ही अपने त्रिशूल से मारा ॥ १२ ।

और उस गजासुर दैत्य को त्रिशूल में गोद करके उठा लिया । तब तो अपने को छाते के समान मानकर उसने शिव से कहा ॥ १३ ।

गजासुर बोला–

हे त्रिशूलपाणे ! देवेश ! आपने कामदेव का संहार किया है, आपको मैं भलीभाँति से जानता हूँ; परन्तु हे त्रिपुरान्तक ! आपके हाथ से मारे जाने में मेरा कल्याण ही है ॥ १४ ।

हे मृत्युंजय ! इस घड़ी मैं आपसे कुछ विनती किया चाहता हूँ । आप (ध्यान देकर) सुनें और विचारें कि मैं सत्य कहता हूँ अथवा असत्य कहता हूँ ॥ १५ ।

त्वमेको जगतां वन्द्यो विश्वस्योपरिसंस्थितः ।
अहं त्वदुपरिष्टाच्च स्थितोऽस्मीति जितं मया ॥ १६ ।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि त्वत्त्रिशूलाग्रसंस्थितः ।
कालेन सर्वैः मन्तव्यं श्रेयसे मृत्युरीदृशः ॥ १७ ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा देवदेवः कृपानिधिः ।
प्रोवाच प्रहसन् शम्भुर्घटोद्भव गजासुरम् ॥ १८ ।

ईश्वर उवाच–

गजासुर प्रसन्नोऽस्मि महापौरुषशेवधे ।
स्वानुकूलं वरं ब्रूहि ददामि सुमतेऽसुर ॥ १९ ।

गजासुर उवाच–

इत्याकर्ण्य स दैत्येन्द्रः प्रत्युवाच महेश्वरम् ।
यदि प्रसन्नो दिग्वासस्तदा नित्यं वसान मे ॥ २० ।

महापौरुषशेवधे महापुरुषकाराश्रय ॥ १९ ।

दिग्वासः हे दिग्वसन वसान आच्छादय परिधेहीत्यर्थः ॥ २० ।

हे देव, एक आप ही त्रैलोक्य भर के वन्दनीय और सब किसी के ऊपर रहने वाले हैं, पर आज तो मैं त्रिशूल में विद्ध होकर आपके भी ऊपर विराजमान हूँ । तब फिर मैं ही आपके अनुग्रह से धन्य हूँ और मेरी ही जीत हुई, क्योंकि कालधर्म के अनुसार (एक दिन तो) सभी को मरना है, तब ऐसी ही मृत्यु श्रेयस्कर है । (इसमें कौन सन्देह है) ॥ १६-१७ ।

हे घटोद्भव ! परमकारुणिक देवाधिदेव शंभु उसके इस वचन को सुनकर हँसते हुए गजासुर से कहने लगे ॥ १८ ।

ईश्वर ने कहा–

'हे महापुरुषार्थिन् ! गजासुर ! तुम्हारी सुबुद्धि से मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ । हे दानव ! तुम अपने अनुकूल वर माँग लो, मैं देने को प्रस्तुत हूँ' ॥ १९ ।

गजासुर बोला–

वह दैत्यन्द्र शिव का यह वचन सुनकर उनसे कहने लगा–'हे दिगम्बर ! यदि आप प्रसन्न हैं तो हे विरूपाक्ष ! मेरे इस लम्बे-चौड़े सुखस्पर्श (कोमल)

इमां कृत्तिं विरूपाक्ष त्वत्त्रिशूलाग्निपाविताम् ।
स्वप्रमाणां सुखस्पर्शां रणाङ्गणपणीकृताम् ॥ २१ ।
इष्टगन्धिः सदैवाऽस्तु सदैवाऽस्त्वतिकोमला ।
सदैव निर्मला चाऽस्तु सदैवाऽस्त्वतिमण्डनम् ॥ २२ ।
महातपोऽनलज्वालाः प्राप्याऽपि सुचिरं विभो ।
न दग्धा कृत्तिरेषा मे पुण्यगन्धनिधिस्ततः ॥ २३ ।
यदि पुण्यवती नैषा मम कृत्तिर्दिगम्बर ।
तदा त्वदङ्गसङ्गोऽस्याः कथं जातो रणाङ्गणे ॥ २४ ।
अन्यं च मेवरं देहि यदि तुष्टोऽसि शङ्कर ।
नामाऽस्तु कृत्तिवासास्ते प्रारभ्याऽद्यतनं दिनम् ॥ २५ ।

कृत्तिं चर्म । यदाहाऽमरः—'अजिनं चर्म कृत्तिस्त्रीति' । दिगम्बरस्य वस्त्रपरिग्रहस्यैवाऽनुचितत्वान्मदीयं चर्म गृहाणेत्यर्थः। स्वप्रमाणां स्वपरिमिताम् । सुप्रमाणामिति पाठे स एवाऽर्थः । रणाङ्गणपणीकृतां रणभूमौ ग्लहत्वेन दत्तामित्यर्थः ॥ २१ ।

वरान्तरं प्रार्थयते । इष्टगन्धिरिति । इष्टोऽभिप्रेतो गन्धो यस्याः सा इष्टगन्धिः । अतिमण्डनम् अतिशयविभूषणम् ॥ २२ ।

महातप एव अनलज्वालाः । यद्वा महातपश्च तदुत्थोऽग्निर्लक्ष्यते । अनलश्च अनलनेत्रत्वादीश्वरस्य तयोर्ज्वालाः प्राप्याऽपि यत एषा त्वक् भस्मसान्न जाता, ततस्तस्मात्पुण्यगन्धनिधिः पुण्यगन्धयोराश्रयोऽस्त्वित्यर्थः । पाठान्तरे[1] अदन्तत्वमार्षम् ॥ २३ ।

पुण्यनिधित्वमेव तर्केणोपपादयति । यदीति ॥ २४ ।

तृतीयं वरं प्रार्थयति । अन्यच्चेति ॥ २५ ।

रणांगण के दाँव से जीते हुए और त्रिशूल की आग से सिझाये गये चमड़े को सदैव पहना करें ॥ २०-२१ ।

यह कृत्ति (खाल) आपकी कृपा से सदैव उत्तम गन्ध से युक्त अत्यन्त कोमल एवं निर्मल और (आपका) परम विभूषण हो ॥ २२ ।

हे प्रभो ! यह कृत्ति बहुत काल तक बड़ी भारी तपस्यारूप अग्निज्वाला में पड़ने पर भी नहीं जली । अतएव पवित्रता और सुगन्ध का आश्रय हो ॥ २३ ।

हे नाथ ! यदि मेरी यह कृत्ति (खाल) बड़े पुण्य से पूर्ण न होती, तो हे दिगम्बर ! युद्धक्षेत्र में इससे आपके अंगों का संसर्ग कैसे हो जाता ? ॥ २४ ।

हे शंकर ! यदि आप सन्तुष्ट हों तो एक और भी वर दें । वह वर यही कि आज के दिन से आपका नाम कृत्तिवासा पड़े ॥ २५ ।

---

1. महातपानलेति ।

इति तस्य वचः श्रुत्वा तथेत्युक्त्वा च शङ्करः ।
पुनः प्रोवाच तं दैत्यं भक्तिनिर्मलमानसम् ॥ २६ ।

ईश्वर उवाच–

शृणु पुण्यनिधे दैत्य वरमन्यं सुदुर्लभम् ।
अविमुक्ते महाक्षेत्रे रणत्यक्तकलेवर ॥ २७ ।
इदं पुण्यशरीरं ते क्षेत्रेऽस्मिन् मुक्तिसाधने ।
मम लिङ्गं भवत्वत्र सर्वेषां मुक्तिदायकम् ॥ २८ ।
कृत्तिवासेश्वरं नाम महापातकनाशनम् ।
सर्वेषामेव लिङ्गानां शिरोभूतमिदं वरम् ॥ २९ ।
यावन्ति सन्ति लिङ्गानि वाराणस्यां महान्त्यपि ।
उत्तमं तावतामेतदुत्तमाङ्गवदुत्तमम् ॥ ३० ।
मानवानां हितायाऽत्र स्थास्येऽहं सपरिग्रहः ।
इष्टेनाऽनेन लिङ्गेन पूजितेन स्तुतेन च ।
कृतकृत्यो भवेन्मर्त्यः संसारं न विशेत्पुनः ॥ ३१ ।

उत्तमाङ्गवच्छिरोवत् ॥ ३० ।

सपरिग्रहः-उमा-गजाननादिसहितः ॥ ३१ ।

उसके इस वचन को सुनते ही 'तथास्तु' कहकर भगवान् शंकर भक्ति से निर्मल चित्त, उस दैत्य से फिर कहने लगे ॥ २६ ।

महेश्वर ने कहा–

'हे पुण्यनिधे ! दैत्य ! एक और भी बड़ा दुर्लभ वरदान सुनो । तुमने मुक्ति के साधन इस अविमुक्त नामक महाक्षेत्र में युद्ध करके अपना शरीर-त्याग किया है । इसलिये तुम्हारा यह पवित्र शरीर इस क्षेत्र में मेरा लिंग होकर यहाँ पर सब किसी का मुक्तिदायक होगा ॥ २७-२८ ।

इसका नाम कृत्तिवासेश्वर पड़ेगा और यह महापापभंजन होने से सब लिंगों के बीच में प्रधान मस्तकरूप लिंग होगा ॥ २९ ।

वाराणसी में जितने ही बड़े-बड़े लिंग हैं, उन सभी में यह लिंग जैसे सब अंगों में उत्तमांग (शिर) उत्तम होता है, वैसे ही उत्तम होगा ॥ ३० ।

मानवों के हित के लिये मैं इस लिंग में अपने परिवार-वर्ग के साथ अवस्थान करूँगा । मनुष्य इस लिंग के दर्शन, पूजन और स्तुति-पाठ करने से कृतकृत्य होकर फिर संसार में प्रवेश नहीं करेगा ॥ ३१ ।

रुद्राः पाशुपताः सिद्धा ऋषयस्तत्त्वचिन्तकाः ।
शान्ता दान्ता जितक्रोधा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥ ३२ ।
अविमुक्ते स्थिता ये तु मम भक्ता मुमुक्षवः ।
मानापमानयोस्तुल्याः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः ॥ ३३ ।
कृत्तिवासेश्वरे लिङ्गे स्थास्येऽहं तदनुग्रहे ।
दशकोटिसहस्राणि तीर्थानि प्रतिवासरम् ॥ ३४ ।
त्रिकालमागमिष्यन्ति कृत्तिवासे न संशयः ।
कलिद्वापरसंभूता नराः कल्मषबुद्धयः ॥ ३५ ।
सदाचारविनिर्मुक्ताः सत्यशौचपराङ्मुखाः ।
मायया दम्भलोभाभ्यां मोहाहङ्कृतिसंयुताः ॥ ३६ ।
शूद्रान्नसेविनो विप्रा जिह्वाला अतिलालसाः ।
सन्ध्यास्नानजपेज्यासु दूरीकृतमनोधियः ॥ ३७ ।
कृत्तिवासेश्वरं प्राप्य सर्वपापविवर्जिताः ।
सुखेन मोक्षमेष्यन्ति यथा सुकृतिनस्तथा ॥ ३८ ।
कृत्तिवासेश्वरं लिङ्गं सेव्यं काश्यां ततो नरैः ।
जन्मान्तरसहस्रेषु मोक्षोऽन्यत्र सुदुर्लभः ॥ ३९ ।

रुद्रा इत्यादीनां तदनुग्रह इत्यनेनाऽन्वयः । या एते रुद्रादयस्तेषामनुग्रहे निमित्ते कृत्तिवासेश्वरे स्थास्यामीत्यर्थः । तदनुग्रहादिति वा पाठः ॥ ३२ ।

जिह्वालाः लोलुपाः । जिह्वालौल्यातिलालसा इति क्वचित्पाठः ॥ ३७ ।

शान्त, दान्त, क्रोधहीन, निर्द्वन्द्व, निष्परिग्रह, जो रुद्र, पाशुपत, सिद्ध, ऋषि, तत्त्वचिंतक, मान और अपमान में तुल्यबुद्धि और ईंटा, पत्थर (प्रस्तर) और सोने को समान समझनेवाले मेरे भक्तलोग मोक्ष की इच्छा से अविमुक्त क्षेत्र में रहते हैं, उन सभी पर अनुग्रह करने के लिये मैं इस कृत्तिवासेश्वर लिंग में रहा करूँगा । प्रतिदिन दशकोटि सहस्र तीर्थ, तीनों वेला इस कृत्तिवासेश्वर पर अवश्य आया करेंगे । कलियुग और द्वापर में उत्पन्न लोग पापबुद्धि, सदाचार से हीन, सत्य और शौच से पराङ्मुख, माया, दंभ, लोभ, मोह और अहंकार से पूर्ण एवं ब्राह्मण लोग शूद्रों के अन्न से भी, जिभचटाक (जिह्वालोलुप), अतिलालची, स्नान, सन्ध्या, जप और यज्ञादिक से दूर भागनेवाले होंगे ॥ ३२-३७ ।

(परन्तु) वे सब भी कृत्तिवासेश्वर में पहुँच सब पापों से छूटकर पुण्यात्मा लोगों की तरह सुख से मोक्षपद को प्राप्त होंगे ॥ ३८ ।

इसी कारण से काशी में लोगों को कृत्तिवासेश्वर लिंग का सेवन करना चाहिए; क्योंकि दूसरे स्थान में जो मोक्ष सहस्रों जन्मान्तरों में भी बड़ा ही दुर्लभ है, वह

कृत्तिवासेश्वरे लिङ्गे लभ्यस्त्वेकेन जन्मना ।
पूर्वजन्मकृतं पापं तपोदानादिभिः शनैः ॥
नश्येत्सद्यो विनश्येत कृत्तिवासेश्वरेक्षणात् ॥ ४० ।
कृत्तिवासेश्वरं लिङ्गं येऽर्चयिष्यन्ति मानवाः ।
प्रविष्टास्ते शरीरे मे तेषां नास्ति पुनर्भवः ॥ ४१ ।
अविमुक्तेऽत्र वस्तव्यं जप्तव्यं शतरुद्रियम् ।
कृत्तिवासेश्वरो देवो द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः ॥ ४२ ।
सप्तकोटिमहारुद्रैः सुजप्तैर्यत्फलं भवेत् ।
तत्फलं लभ्यते काश्यां पूजनात्कृत्तिवाससः ॥ ४३ ।
माघकृष्णचतुर्दश्यामुपोष्य निशि जागृयात् ।
कृत्तिवासेशमभ्यर्च्य यः स यायात्परां गतिम् ॥ ४४ ।
शुक्लायां पञ्चदश्यां यश्चैत्र्यां कर्ता महोत्सवम् ।
कृत्तिवासेश्वरे लिङ्गे न स गर्भं प्रवेक्ष्यते ॥ ४५ ।

अविमुक्ते अत्रेति व्यधिकरणसप्तम्यौ । अत्र कृत्तिवाससः समीपे ॥ ४२ ।

जागृयाज्जागरणं कुर्यात् । जागरादिति क्वचित् ॥ ४४ ।

पञ्चदश्यां पौर्णमास्याम् । कर्ता करिष्यति । प्रवेक्ष्यते प्रवेक्ष्यतीत्यर्थः ॥ ४५ ।

कृत्तिवासेश्वर लिंग के स्थान में अनायास एक ही जन्म में मिल जाता है । यद्यपि पूर्वजन्म का किया हुआ पाप तपस्या और दान इत्यादि से भी धीरे-धीरे दूर होता है; परन्तु कृत्तिवासेश्वर के दर्शन करने से तो तुरन्त ही विनष्ट हो जाता है ॥ ३९-४० ।

जो लोग कृत्तिवासेश्वर का पूजन करेंगे, वे नर मेरे ही शरीर में प्रविष्ट हो जायेंगे और उनका फिर जन्म नहीं होगा ॥ ४१ ।

सभी लोगों को अविमुक्तक्षेत्र में रहना और शतरुद्रिय का जप करना एवं बारंबार भगवान् कृत्तिवासेश्वर का दर्शन करना चाहिए ॥ ४२ ।

सात करोड़ महारुद्र मंत्र के जपने से जो फल मिलता है, काशी में केवल कृत्तिवासेश्वर के पूजन करने से भी वही फल प्राप्त होता है ॥ ४३ ।

माघ वदी चतुर्दशी (संभवतः फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी=महाशिवरात्रि) को उपवास और रात्रि में जागरण करके कृत्तिवासेश्वर की पूजा करने से परमगति प्राप्त होती है ॥ ४४ ।

और जो चैत्र मास की पूर्णिमा के दिन कृत्तिवासेश्वर लिंग पर बड़ा उत्सव करता है, वह गर्भ में कभी नहीं पैठता (जन्म-मरण से उसे मुक्ति मिल जाती है) ॥ ४५ ।

कथयित्वेति देवेशस्तत्कृत्तिं परिगृह्य च ।
गजासुरस्य महतीं प्रावृणोद्धरिदम्बरः ॥ ४६ ।
महामहोत्सवो जातस्तस्मिन्नहनि कुम्भज ।
कृत्तिवासत्वमापेदे यस्मिन्देवो दिगम्बरः ॥ ४७ ।
यत्र च्छत्रीकृतो दैत्यः शूलमारोप्य भूतले ।
तच्छूलोत्पाटनाज्जातं तत्र कुण्डं महत्तरम् ॥ ४८ ।
तस्मिन्कुण्डे नरः स्नात्वा कृत्वा च पितृतर्पणम् ।
कृत्तिवासेश्वरं दृष्ट्वा कृतकृत्यो नरो भवेत् ॥ ४९ ।

स्कन्द उवाच—

तस्मिंस्तीर्थे तु यद्वृत्तं तदगस्ते निशामय ।
काका हंसत्वमापन्नाः तत्तीर्थस्य प्रभावतः ॥ ५० ।

प्रावृणोत् पर्यधात् । हरिदम्बरो दिगम्बरः ! स दिगम्बर इति पाठे स प्रसिद्धः ॥ ४६ ।

कृत्तिवासत्वं कृत्तिवासस्त्वमित्यर्थः ॥ ४७ ।

एतस्य कुण्डस्य हंसतीर्थनामेति वक्तुमाख्यायिकामवतारयति । तस्मिन्निति ॥ ५० ।

देवेश्वर ने यह कहकर गजासुर की बड़ी भारी कृत्ति (खाल) को लेकर अपने नग्न शरीर में लपेट लिया ॥ ४६ ।

हे कुंभज ! मुने ! जिस दिन भगवान् दिगम्बर देव कृत्तिवासा हुए, उस दिन (वहाँ) बहुत भारी महोत्सव मनाया गया ॥ ४७ ।

एवं जहाँ पर त्रिशूल में गोद गजासुर को छाता की तरह बनाकर भूतल में गाड़ दिया था, वहीं पर त्रिशूल के उखाड़ लेने से एक बहुत बड़ा कुंड हो गया ॥ ४८ ।

मनुष्य उस कुंड में स्नान और पितरों का तर्पण करके कृत्तिवासेश्वर का दर्शन करे, तो कृतकृत्य हो जाता है ॥ ४९ ।

स्कन्द बोले—

हे अगस्त्य ! अब उस तीर्थ में जो घटना हुई थी, उसे भी सुन लो, जिस घटना के कारण उस तीर्थ के प्रभाव से काकगण हंस के स्वरूप हो गये थे ॥ ५० ।

एकदा कृत्तिवासे तु चैत्र्यां यात्राऽभवत्पुरा ।
अन्नं राशीकृतं तत्र ह्युपहारसमुद्भवम् ॥ ५१ ।
बहुदेवलकैर्विप्र तं दृष्ट्वा पक्षिणोऽमिलन् ।
परस्परं तदन्नार्थं युद्ध्यन्तो व्योमवर्त्मनि ॥ ५२ ।
बलिपुष्टैरपुष्टाङ्गा रटन्तः करटाः कटु ।
बलिभिश्चातिपुष्टाङ्गैरबलाश्चञ्चुभिर्हताः ॥ ५३ ।
ते हन्यमाना न्यपतंस्तस्मिन् कुण्डे नभोऽङ्गणात् ।
आयुःशेषेण संत्राता हंसीभूतास्तु वायसाः ॥ ५४ ।
आश्चर्यवन्तस्तत्रत्या यात्रायां मिलिता जनाः ।
ऊचुरङ्गुलिनिर्देशैरहो पश्यत पश्यत ॥ ५५ ।

चैत्र्यां पौर्णमास्यामिति शेषः । उपहारसमुद्भवं बलिभिः समुपजातम् ॥ ५१ ।

बहुदेवलकैरनेकैर्देवपूजकैः । तमन्नराशिम् । अमिलन् मिलिता बभूवुः ॥ ५२ ।

बलिपुष्टैः काकैः । कटु तीक्ष्णं यथा स्यात्तथा शब्दं कुर्वन्तः । करटाः काकाः । यदाहाऽमरः—"काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजा" इति । बलिभिः समर्थैः । अबलाः दुर्बलाः । बलिभिश्चञ्चुभिरिति पाठे चञ्चुविशेषणम्[1] । उपहारैः पुष्टाङ्गैश्चञ्चुभिस्तुण्डैः ॥ ५३ ।

पूर्व में एक बार चैत्र की पूर्णिमा के दिन कृत्तिवासेश्वर की यात्रा थी । वहाँ पर बहुतेरे देवलों (पुजारियों) ने पूजा में चढ़े हुए बहुत से अन्न की ढेर लगा दी थी । हे विप्र ! उस ढेर को देखकर बहुतेरी चिड़ियाँ (पक्षीगण) मँडराने लगीं और उस अन्न के लिये आकाशमार्ग में परस्पर लड़ने लगीं ॥ ५१-५२ ।

फिर तो कगवर खाकर हृष्ट-पुष्ट और बड़े मोटे काका-कौओं ने काँव-काँव करते हुए दुबले और निर्बल कौओं को चोंचों से मार गिराया ॥ ५३ ।

वे कौवे चोट खाकर आकाश से (लड़खड़ाते हुए) उसी कुंड में गिर पड़े और आयुष्य शेष रहने के कारण, वे सब बच गये । तदनन्तर तुरत ही कौवा से वे हंस हो गये ॥ ५४ ।

तब जो लोग उस यात्रा में बटुरे (एकत्र) हुए थे, वे बड़े आश्चर्य में आकर अँगुली दिखाकर कहने लगे—'ओह ! देखो-देखो ! कैसी विचित्र बात है कि हम

---

1. बलिशब्दस्य पुंस्त्वमार्षम् ।

अस्मासु वीक्षमाणेषु काकाः कुण्डेऽत्र येऽपतन् ।
धार्तराष्ट्रास्तु ते जातास्तीर्थस्याऽस्य प्रभावतः ॥ ५६ ।
हंसतीर्थं तदारभ्य कृत्तिवाससमीपतः ।
नाम्ना ख्यातमभूल्लोके तत्कुण्डं कलशोद्भव ॥ ५७ ।
अतीवमलिनात्मानो महामलिनकर्मभिः ।
क्षणान्निर्मलतां यान्ति हंसतीर्थकृतोदकाः ॥ ५८ ।
काश्यां सदैव वस्तव्यं स्नातव्यं हंसतीर्थके ।
द्रष्टव्यः कृत्तिवासेशः प्राप्तव्यं परमं पदम् ॥ ५९ ।
काश्यां लिङ्गान्यनेकानि मुने सन्ति पदे पदे ।
कृत्तिवासेश्वरं लिङ्गं सर्वलिङ्गशिरः स्मृतम् ॥ ६० ।
कृत्तिवासं समाराध्य भक्तियुक्तेन चेतसा ।
सर्वलिङ्गाराधनजं फलं काश्यामवाप्यते ॥ ६१ ।

धार्तराष्ट्राः कृष्णचञ्चुचरणैरुपलक्षिता हंसाः । यदाहाऽमरः—"धार्तराष्ट्राः सितेतरैः" इति ॥ ५६ ।

कृत्तिवाससमीपत इत्यत्र विसर्गलोप आर्षः । कृत्तिवासेत्यकारान्तो वाऽत्र पाठः । एवमुत्तरत्राऽपि ॥ ५७ ।

कृत्तिवासं कृत्तिवाससम् ॥ ६१ ।

लोगों के देखते-देखते जो कौवे इस कुंड में गिरे, वे सब के सब इस तीर्थ के प्रभाव से काले चोंच और (लाल) चरण के हंस हो गये हैं ॥ ५५-५६ ।

("मर्ज्जन फल पेखिय ततकाला । काक होहिं पिक बकउ मराला" ।)

'हे कलशोद्भव ! तभी से वह कुंड इस लोक में कृत्तिवासेश्वर के पास में **हंसतीर्थ** के नाम से विख्यात हुआ ॥ ५७ ।

अत्यन्त मलिन कर्मों से जो लोग बड़े ही मलिन आत्मावाले हो गये हैं, वे भी **हंसतीर्थ** में स्नानादि जलक्रियाओं के करने से क्षणमात्र में निर्मल हो जाते हैं ॥ ५८ ।

सदैव काशी में वास और **हंसतीर्थ** में स्नान एवं **कृत्तिवासेश्वर** का दर्शन करना चाहिए । इसी से परमपद की प्राप्ति होती है ॥ ५९ ।

हे मुने ! काशी में तो पद-पद पर अनेक लिंग विद्यमान हैं; परन्तु कृत्तिवासेश्वर लिंग सब लिंगों का मस्तक स्वरूप है ॥ ६० ।

काशी में भक्तियुक्त चित्त से एक **कृत्तिवासेश्वर** की ही सेवा करने से समग्र लिंगों की आराधना करने का फल पाया जाता है ॥ ६१ ।

जपो दानं तपो होमस्तर्पणं देवतार्चनम् ।
समीपे कृत्तिवासस्य कृतं सर्वमनन्तकम् ॥ ६२ ।
तीर्थं त्वनादिसंसिद्धमेतत् कलशसम्भव ।
पुनर्देवस्य सान्निध्यादाविरासीन्महेशितुः ॥ ६३ ।
एतानि सिद्धलिङ्गानि छन्नानि स्युर्युगे युगे ।
अवाप्य शम्भुसान्निध्यं पुनराविर्भवन्ति हि ॥ ६४ ।
हंसतीर्थस्य परितो लिङ्गानामयुतं मुने ।
प्रतिष्ठितं मुनिवरैरत्राऽस्ति द्विशतोत्तरम् ॥ ६५ ।
एकैकं सिद्धिदं नृणामविमुक्तनिवासिनाम् ।
लिङ्गं कात्यायनेशादि च्यवनेशान्तमेव हि ॥ ६६ ।
लोमशेशं महालिङ्गं लोमशेन प्रतिष्ठितम् ।
कृत्तिवासः प्रतीच्यां तु तद्दृष्ट्वा क्वाऽन्तकाद्भयम् ॥ ६७ ।
मालतीशं शुभं लिङ्गं कृत्तिवासोत्तरे महत् ।
सपर्ययित्वा तल्लिङ्गं राजा गजपतिर्भवेत् ॥ ६८ ।

सपर्ययित्वा पूजयित्वा ॥ ६८ ।

कृत्तिवासेश्वर के समीप में तपस्या, जप, दान, होम, तर्पण और देवतापूजन आदि जो कुछ किया जाय, वह सब अनन्त हो जाता है ॥ ६२ ।

हे कलशसंभव ! यह तीर्थ तो अनादिसिद्ध है; परन्तु भगवान् महेश्वर के सान्निध्य से फिर प्रकट हुआ है ॥ ६३ ।

यह सब सिद्धलिंग युग-युग में छिप जाया करते हैं और फिर से महादेव का सान्निध्य पाकर प्रकट हो जाते हैं ॥ ६४ ।

हे मुने ! हंसतीर्थ के चारों ओर बड़े-बड़े मुनियों के स्थापित दश सहस्र दो सौ लिंग वर्तमान हैं ॥ ६५ ।

उन सभी में एक-एक लिंग जो कात्यायनेश्वर से लेकर च्यवनेश्वर पर्यन्त विद्यमान हैं, काशीवासी लोगों के वे परमसिद्धिदायक हैं ॥ ६६ ।

कृत्तिवासेश्वर के पश्चिम ओर लोमश मुनि का प्रतिष्ठित लोमशेश्वर नामक महालिंग है, उसके दर्शन करने पर फिर यमराज का भय कहाँ है ? ॥ ६७ ।

यों ही कृत्तिवासेश्वर के उत्तर बड़ा शुभप्रद मालतीश्वर लिंग है, उसकी पूजा करने वाला गजान्त ऐश्वर्यशाली राजा होता है ॥ ६८ ।

अन्तकेश्वरसंज्ञं च लिङ्गं तद्रुद्रदिक्स्थितम् ।
अतिपापोऽपि निष्पापो जायते तद्विलोकनात् ॥ ६९ ।
जनकेशं महालिङ्गं तत्पार्श्वे ज्ञानदं परम् ।
तल्लिङ्गवरिवस्यातो ब्रह्मज्ञानमवाप्यते ॥ ७० ।
तदुत्तरे महामूर्तिरसिताङ्गोऽस्ति भैरवः ।
तस्य दर्शनतः पुंसां न भवेद्यमदर्शनम् ॥ ७१ ।
शुष्कोदरी च तत्राऽस्ति देवी विकटलोचना ।
कृत्तिवासादुदीच्यां तु काशीप्रत्यूहभक्षिणी ॥ ७२ ।
अग्निजिह्वोऽस्ति वेतालस्तस्या देव्यास्तु नैर्ऋते ।
ददाति वाञ्छितां सिद्धिं सोऽर्चितो भौमवासरे ॥ ७३ ।
वेतालकुण्डं तत्रास्ति सर्वव्याधिविघातकृत् ।
तत्कुण्डोदकसंस्पर्शाद् व्रणविस्फोटरुग्व्रजेत् ॥ ७४ ।

रुद्रदिक्स्थितमैशान्यां दिशि स्थितम् । रुद्रदेशितमिति पाठेऽप्ययमेवाऽर्थः ॥ ६९ ।

वरिवस्यातः पूजातः ॥ ७० ।

कृत्तिवासात् कृत्तिवाससः ॥ ७२ ।

वेतालो भूतविशेषः ॥ ७३ ।

कृत्तिवासेश्वर से ईशानकोण पर अवस्थित **अन्तकेश्वरसंज्ञक** लिंग है, जिसके दर्शन से बड़ा पापी मनुष्य भी निष्पाप हो जाता है ॥ ६९ ।

उसके पास ही में परमज्ञानप्रद **जनकेश्वर** लिंग है, उसके पूजन से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है ॥ ७० ।

उससे उत्तर प्रान्त में बड़े विशालमूर्ति **असितांग-भैरव** हैं, उनके दर्शन करने से यमराज का दर्शन नहीं मिलता ॥ ७१ ।

वहीं पर **कृत्तिवासेश्वर** से उत्तरदिशा में **विकटलोचना शुष्कोदरी देवी** हैं, वे सदा काशीवासियों के विघ्नों का भक्षण किया करती हैं ॥ ७२ ।

उस देवी के नैर्ऋत्यकोण पर '**अग्निजिह्व**' नामक एक वेताल रहता है, मंगल के दिन पूजा करने से वह वांछित सिद्धि देता है ॥ ७३ ।

वहीं पर सब व्याधियों का विघातक **वेतालकुंड** है । उस कुंड का जलस्पर्श करने से ही घाव और फोड़ा-फुन्सी आदि रोग दूर हो जाते हैं ॥ ७४ ।

वेतालकुण्डे सुस्नातो वेतालं प्रणिपत्य च ।
लभेत वाञ्छितां सिद्धिं दुर्लभां सर्वदेहिभिः ॥ ७५ ।

गणोऽस्ति तत्र द्विभुजश्चतुष्पात् पञ्चशीर्षकः ।
तस्य संवीक्षणादेव पापं याति सहस्रधा ॥ ७६ ।

तदुत्तरे मुने रुद्रश्चतुःशृङ्गोऽस्ति भीषणः ।
त्रिपादस्तु द्विशीर्षा च हस्ताःस्युः सप्त एव हि ॥ ७७ ।

तदुत्तर इति । हे मुने ! तस्य गणस्योत्तरे रुद्रोऽस्तीत्यन्वयः । कीदृशः ? वृषाकारो[1] धर्मरूपो मन्त्रोक्तयज्ञरूपपरमेश्वर इत्यर्थः । चत्वारो वेदाः शृङ्गाणि यस्य सः । वाय्वादीन् भीषयतीति भीषणः । तथा च श्रुतिः—**"भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः"** इति । त्रीणि सवनानि पादा यस्य सः । प्रायणीयोदयनीये द्वे शीर्षणी मस्तके यस्य सः । यस्य सप्तच्छन्दांसि हस्ताः स्युः सः । रोरूयते पुनः पुनरत्यर्थं वा रौतीत्यर्थः । रो रवणं सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः । यदेनमृग्भिः संशन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्तीति । त्रिधा बद्धो मन्त्र-ब्राह्मण-कल्पैर्बद्ध इत्यर्थः । तथा च मन्त्रः—

**"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश" ॥ इति ॥ ७७ ।**

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ।

जो कोई वेतालकुंड में नहाकर वेताल को प्रणाम करता है, वह सब प्राणियों से दुर्लभ मनोवांछित सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ७५ ।

वहीं पर एक गण है, जिसे दो भुजायें, चार पैर और पाँच शीश हैं, उसके दर्शनमात्र से पाप सहस्रों टुकड़े हो जाते हैं ॥ ७६ ।

हे मुने ! उसके उत्तरभाग में चार सींग, तीन पाद, दो शीर्ष के सात हाथ वाले अत्यन्त भीषण (वृषाकार) रुद्र हैं ॥ ७७ ।

---

1. अस्य शृङ्गादीनां वर्ण्यमानत्वात् सामान्यस्वरूपं बोधयितुमग्रिमं विशेषमादावुपात्तम् ।

रोरूयते वृषाकारस्त्रिधा बद्धः स कुम्भज ।
काशीविघ्नकरा ये च ये काश्यां पापबुद्धयः ॥ ७८ ।
तेषां च संछिदां कर्तुमहं धृतकुठारकः ।
ये काश्यां विघ्नहर्तारो ये काश्यां धर्मबुद्धयः ॥ ७९ ।
सुधाघटकरश्चाऽहं तद्वंशपरिषेककृत् ।
तं दृष्ट्वा वृषरुद्रं वै पूजयित्वा तु भक्तितः ॥ ८० ।
महामहोपचारैश्च न विघ्नैरभिभूयते ।
मणिप्रदीपो नागोऽस्ति तस्माद्रुद्रादुदग्दिशि ॥ ८१ ।
मणिकुण्डं तदग्रे तु विषव्याधिहरं परम् ।
तस्मिन् कुण्डे कृतस्नानस्तं नागं परिवीक्ष्य च ॥ ८२ ।
मणिमाणिक्यसम्पूर्णगजाश्वरथसंकुलम् ।
स्त्रीरत्नपुत्ररत्नैश्च समृद्धं राज्यमाप्नुयात् ॥ ८३ ।
कृत्तिवासेश्वरं लिङ्गं काश्यां यैर्न विलोकितम् ।
ते मर्त्यलोके भाराय भुवो भूता न संशयः ॥ ८४ ।

हे कुंभजमुने ! वह त्रिधाबद्ध होकर, जो लोग काशी में विघ्न करते हैं और पापबुद्धि होते हैं, उन लोगों को काटने के लिये कुठारधारी बनकर चिल्लाया करता है और जो काशी में विघ्नों को दूर करते और धर्म ही में बुद्धि रखते हैं, उन लोगों के वंश को वह अमृत के घड़े से नहलाता रहता है। जो मनुष्य उस वृषरूपी रुद्र का दर्शन करके फिर भक्तिपूर्वक विविध भाँति के उत्तम उपचारों से पूजा करता है, उस पर कभी किसी प्रकार के विघ्न आक्रमण नहीं करते। उक्त रुद्रदेव के उत्तरभाग में **मणिप्रदीप** नामक एक नाग है ॥ ७८-८१ ।

उसके सन्मुख ही बड़े विषों की व्याधियों का हरने वाला **मणिकुंड** है। उस कुंड में नहाकर उस नाग का दर्शन करने से मणिमाणिक्य से पूर्ण और हस्ती, अश्व और रथादि से भरपूर स्त्रीरत्न और पुत्ररत्नों से समृद्ध राज्य प्राप्त होता है ॥ ८२-८३ ।

जो लोग काशीपुरी में कृत्तिवासेश्वर लिंग का दर्शन नहीं करते, वे सब मर्त्यलोक में निःसन्देह भूमि के भार ही हो रहते हैं ॥ ८४ ।

स्कन्द उवाच–

कृत्तिवासःसमुत्पत्तिं ये श्रोष्यन्तीह मानवाः ।
तल्लिङ्गदर्शनाच्छ्रेयो लप्स्यन्ते नाऽत्र संशयः ॥ ८५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे कृत्तिवासःसमुद्भवो नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ।

स्कन्द ने कहा–

जो लोग इस संसार में कृत्तिवासेश्वर की उत्पत्तिकथा को सुनेंगे, वे इस लिंग के दर्शन से भी अधिक पुण्यभागी होंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ८५ ।

महादेव थे पूर्व में जो दिगम्बर । बने वे स्वयं कृत्तिवासा जहाँ पर ।
कहाता वहीं हंसतीरथ सरोवर । हुए हंस कौवे वहाँ पर नहा कर ॥ १ ।

श्री कृत्तिवासेश्वर मन्दिरं तत्, यत् त्रोटयित्वा यवनाधिपेन ।
"औरंगजेबेन" कृताऽस्ति मसजिद्, साद्यापि तत्रैव विलोकनीया ॥ २ ।

श्रीकृत्तिवासेश्वरमन्दिरं नवं श्रीहंसतीर्थस्य तटे विराजते ।
लिङ्गं विशालं हि परं पुरातनम् आकर्ण्यते ख्यातिरियं समन्ततः ॥ ३ ।

(विशेष–कृत्तिवासेश्वर मन्दिर के स्थान पर बादशाह औरंगजेब ने मस्जिद बनवाई है । आज भी वह मस्जिद है । नया बना कृत्तिवासेश्वर मंदिर अब हंसतीर्थक तट पर है–इति अनुवादक ।)

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां गजासुरवधान्त-कृत्तिवासेश्वरप्रादुर्भाववर्णनं नामाऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ।

॥ अथैकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

शृण्वगस्त्य तपोराशे काश्यां लिङ्गानि यानि वै ।
सेवितानि नृणां मुक्त्यै भवेयुर्भावितात्मनाम् ॥ १ ।
कृत्तिप्रावरणं यत्र कृतं देवेन लीलया।
रुद्रावास इति ख्यातं तत्स्थानं सर्वसिद्धिदम् ॥ २ ।
स्थिते तत्रोमया सार्धं स्वेच्छया कृत्तिवाससि ।
आगत्य नन्दी विज्ञप्तिं चक्रे प्रणतिपूर्वकम् ॥ ३ ।
देवदेवेश विश्वेश प्रासादाः सुमनोहराः ।
सर्वरत्नमया रम्याः साष्टा षष्टिरभूदिह ॥ ४ ।

एकोनसप्ततितमेऽध्याये गर्भनिवासहृत् ←।
अष्टषष्टेश्च क्षेत्राणां वर्ण्यतेऽत्र समागमः ←॥ १ ।

अष्टषष्ट्यायतनानां काश्यामागमनं वक्तुं तेषां महत्त्वाख्यापनपूर्वकं श्रोतारमभिमुखीकरोति । शृण्वगस्त्येति ॥ १ ।

कृत्तिवासः पीठस्य रुद्रेणावास्यत्वाद्रुद्रावास इति नामवृत्तमित्याह । कृत्तीति ॥ २ ।

स्थितस्तत्रेति पाठे कृत्तिवाससीति पीठविशेषणम् ॥ ३ ।

साष्टा अष्टभिः सह वर्तमाना । साष्टषष्टिरिति वा पाठः ॥ ४ ।

(अड़सठ क्षेत्रों का समागम और लिंगों का विवरण)

स्कन्द कहने लगे–

हे तपोराशे ! अगस्त्य ! काशी में जिन लिंगों का सेवन करने से पवित्रात्मा लोगों की मुक्ति होती है, उन सब का श्रवण करो ॥ १ ।

जिस स्थान पर महादेव ने गजासुर की कृत्ति (खाल) को लीला करके पहना था, उस सर्वसिद्धिप्रद स्थान का नाम रुद्रावास प्रसिद्ध हुआ ॥ २ ।

वहाँ पर उमा देवी के साथ भगवान् कृत्तिवासेश्वर के (टिके) रह जाने पर (एक दिन) नन्दी ने आकर उनसे प्रणतिपुरस्सर यह निवेदन किया ॥ ३ ।

हे देवदेवेश ! विश्वेश्वर ! यहाँ पर अभी सब रत्नों से शोभित, सुरम्य और बड़े ही मनोहर अड़सठ (६८) शिवालय बन गयें हैं ॥ ४ ।

भूर्भुवः स्वस्तले यानि शुभान्यायतना हि ।
मुक्तिदान्यपि तानीह मयानीतानि सर्वतः ॥ ५ ॥
यतो यच्च समानीतं यत्र यच्च कृतास्पदम् ।
कथयिष्याम्यहं नाथ क्षणं तदवधार्यताम् ॥ ६ ॥
स्थाणुर्नाम महालिङ्गं देवदेवस्य मोक्षदम् ।
कुरुक्षेत्रादिहोद्भूतं कलाशेषोऽस्ति तत्र वै ॥ ७ ॥
तदग्रे सन्निहत्याख्या महापुष्करणी शुभा ।
लोलार्कपश्चिमे भागे कुरुक्षेत्रस्थली तु सा ॥ ८ ॥
तत्र स्नातं हुतं जप्तं तप्तं दत्तं शुभार्थिभिः ।
कुरुक्षेत्राद् भवेत्सत्यं कोटिकोटिगुणाधिकम् ॥ ९ ॥
नैमिषाद्देवदेवोऽत्र ब्रह्मावर्तेन संयुतः ।
तत्रांशमात्रं संस्थाप्य काश्यामाविरभूद् विभो ॥ १० ॥

अवधार्यतां श्रूयताम् ॥ ६ ।

ब्रह्मावर्तेन तन्नाम्ना कूपेन ॥ १० ।

भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक में जो-जो मुक्तिदायक उत्तम-उत्तम आयतन हैं, उन सब को मैं चारों ओर से यहाँ पर ले आया हूँ ॥ ५ ।

हे नाथ ! जो जहाँ से लाया गया है और जहाँ पर स्थापित किया गया है, उसे मैं कहता हूँ । क्षणभर अवहितचित्त होकर आप श्रवण करें ॥ ६ ।

कुरुक्षेत्र से देवदेव का मोक्षप्रद स्थाणुनामक महालिंग यहाँ पर समुद्भूत हुआ है और अपने स्थान पर कलामात्र शेष रह गया है ॥ ७ ।

उसके आगे ही लोलार्क से पश्चिम ओर संनिहती नामक शुभदायिनी बड़ी भारी पोखरी है और वहीं कुरुक्षेत्र की भूमि भी है ॥ ८ ।

शुभाकांक्षी लोग वहाँ पर जो कुछ स्नान, दान, जप, होम और तपस्या इत्यादि करते हैं, वह सब कुरुक्षेत्र की अपेक्षा कोटिगुण अधिक (फलदायक) होता है, यह सत्य है ॥ ९ ।

हे विभो ! देवदेव नामक महालिंग (देवदेव महालिंग) ब्रह्मावर्त नामक कूप के सहित नैमिषारण्य में अपना अंशमात्र छोड़कर यहाँ प्रकट हुआ है ॥ १० ।

दुण्ढिराजोत्तरे भागे सिद्धिदं साधकस्य वै ।
लिङ्गं वै देवदेवाख्यं तदग्रे कूप उत्तमः ॥ ११ ॥
ब्रह्मावर्त इति ख्यातः पुनरावृत्तिहन्नृणाम् ।
तत्कूपाद्भिः कृतस्नानो देवदेवं समर्च्य च ॥ १२ ॥
तत्पुण्यं नैमिषारण्यात् कोटिकोटिगुणं स्मृतम् ।
गोकर्णायतनादत्र स्वयमाविरभून्महत् ॥ १३ ॥
लिङ्गं महाबलं नाम साम्बादित्यसपीपतः ।
दर्शनात्स्पर्शनाद्यस्य क्षणादेनो महाबलम् ॥ १४ ॥
वाताहतस्तूलराशिरिव विद्राति दूरतः ।
कपालंमोचनपुरो दृष्ट्वा लिङ्गं महाबलम् ॥ १५ ॥
महाबलमवाप्नोति निर्वाणनगरं व्रजेत् ।
ऋणमोचनतः प्राच्यां प्रभासात्क्षेत्रसत्तमात् ॥ १६ ॥
शशिभूषणसंज्ञं तु लिङ्गमत्र प्रतिष्ठितम् ।
तल्लिङ्गसेवनान्मर्त्यः शशिभूषणतां व्रजेत् ॥ १७ ॥

नृणां प्राणिमात्राणाम् ॥ १२ ।

एनः पापम् । कथम्भूतम् ? महाबलं महापातकमपीत्यर्थः ॥ १४ ।

विद्राति विशेषेण द्राति गच्छतीत्यर्थः । दूरतः दूरे ॥ १५ ।

निर्वाणनगरं कैवल्यस्थानं च ॥ १६ ।

ढुंढिराज के उत्तरभाग में साधक लोगों का सिद्धिदायक **देवदेवसंज्ञक** लिंग है और उसी के आगे ब्रह्मावर्त नामक कूप है, जो लोगों का पुनर्जन्म निवारण करता है। उस कूप के जल से स्नान कर **देवदेव** नामक लिंग की पूजा करने से नैमिषारण्य की अपेक्षा कोटि-कोटि गुण अधिक पुण्य होता है। इस काशी में गोकर्णक्षेत्र से (आकर) साम्बादित्य के समीप ही **महाबल** नामक **महालिंग** आप से आप प्रकट हुआ है। उसके दर्शन और स्पर्शन करने से पाप का महाबल भी वायु के वेग से उड़ाई हुई रूई की ढेर (पहल) की तरह बहुत दूर पर उधिरा जाता है। **कपालमोचन** के आगे ही **महाबल लिंग** के दर्शन करने से महाबल को प्राप्त होकर निर्वाणनगर को चला जाता है, ऋणमोचन से पूर्व प्रभास नामक महाक्षेत्र से भी लिङ्ग यहाँ आया है ॥ ११-१६ ।

शशिभूषण नामक लिंग यहाँ प्रतिष्ठित हुआ है। उस लिंग के सेवन से मनुष्य भी शशिभूषण हो जाता है ॥ १७ ।

प्रभासक्षेत्रयात्रायाः पुण्यं प्राप्नोति [1]कोटिकृत् ।
उज्जयिन्या महाकालः स्वयमत्रागतो विभुः ॥ १८ ।
यन्नामस्मरणादेव न भयं कलिकालतः ।
प्रणवाख्यान्महालिङ्गात्प्राच्यां कल्मषनाशनम् ॥ १९ ।
महाकालाभिधं लिङ्गं दर्शनान्मोक्षदं परम् ।
अयोगन्धेश्वरं लिङ्गं पुष्करात्तीर्थसत्तमात् ॥ २० ।
आविरासीदिह महत्पुष्करेण सहैव तु ।
मत्स्योदर्युत्तरे भागे दृष्ट्वाऽयोगन्धमीश्वरम् ॥ २१ ।
स्नात्वाऽयोगन्धकुण्डे तु भवात्तारयते पितॄन् ।
महानादेश्वरं लिङ्गमट्टहासादिहागतम् ॥ २२ ।
त्रिलोचनादुदीच्यां तद्दृष्टं मुक्तये मतम् ।
महोत्कटेश्वरं लिङ्गं मरुत्कोटादिहागतम् ।
कामेश्वरोत्तरे भागे दृष्टं विमलसिद्धिदम् ॥ २३ ।

उज्जयिन्याः अवन्त्याः ॥ १८ ।

कलिकालतः कलिकालाभ्यामित्यर्थः ॥ १९ ।

अट्टहासात्क्षेत्रविशेषात् ॥ २२ ।

मरुत्कोटात् आयतनविशेषात् ॥ २३ ।

और प्रभासक्षेत्र की यात्रा का कोटिगुण फल पाता है। उज्जयिनी के भगवान् महाकाल स्वयमेव यहाँ आये हैं ॥ १८ ।

जिनके केवल स्मरण ही से कलि और काल का भय नहीं होता। ओंकारेश्वर नामक महालिंग के पूर्व ओर कल्मषनाशक और दर्शन ही से परम मोक्षप्रद, महाकालेश्वर का लिंग विराजमान हुआ है। अयोगन्धेश्वरलिंग पुष्कर महातीर्थ से आया है ॥ १९-२० ।

वह महालिङ्ग यहाँ आकर पुष्कर के सहित आप ही से प्रकट हुआ है। मत्स्योदरी (मछोदरी) के उत्तर अयोगन्धेश्वर का दर्शन और अयोगन्ध कुंड में स्नान करने से मनुष्य अपने पितरों को भवसागर से पार उतार देता है। अट्टहास क्षेत्र से महानादेश्वर लिंग भी यहाँ आया है ॥ २१-२२ ।

त्रिलोचन से उत्तर उस लिंग का दर्शन करने से मुक्तिलाभ होता है। मरुत्कोट नामक आयतन से महोत्कटेश्वर नामक लिंग यहाँ आया है, जो कामेश्वर के उत्तरभाग में दर्शन ही से निर्मल सिद्धि को दे देता है ॥ २३ ।

---

1. कोटिगुणितमित्यर्थः ।

विश्वस्थानादिहायातं लिङ्गं वै विमलेश्वरम् ।
स्वर्लीनात्पश्चिमे भागे दृष्टं विमलसिद्धिदम् ॥ २४ ।
महाव्रतं महालिङ्गं महेन्द्रादिह संस्थितम् ।
स्कन्देश्वरसमीपे तु महाव्रतफलप्रदम् ॥ २५ ।
वृन्दारर्षिवृन्दानां स्तुवतां प्रथमे युगे ।
उत्पन्नं यन्महालिङ्गं भूमिं भित्त्वा सुदुर्भिदाम् ॥ २६ ।
महादेवेति तैरुक्तं यन्मनोरथपूरणात् ।
वाराणस्यां महादेवस्तदारभ्याऽभवच्च यत् ॥ २७ ।
मुक्तिक्षेत्रं कृतं येन महालिङ्गेन काशिका ।
अविमुक्ते महादेवं यो द्रक्ष्यत्यत्र मानवः ॥ २८ ।
शम्भुलोके गमस्तस्य यत्र तत्र मृतस्य हि ।
अविमुक्ते प्रयत्नेन तत्संसेव्यं मुमुक्षुभिः ॥ २९ ।

विश्वस्थानात्स्थलविशेषात् ॥ २४ ।

महेन्द्राद् गिरेः ॥ २५ ।

महाव्रतस्य नामान्तरमाह । वृन्दारकेति । देवर्षिसमूहानामित्यर्थः । प्रथमे युगे आदौ कृतयुगे ॥ २६ ।

यन्मनोरथपूरणाद्येषां मनोरथसम्पादनात् ॥ २७ ।

महादेवनाम्नि कारणान्तरमाह । मुक्तिक्षेत्रमिति ॥ २८ ।

शम्भुलोके गमो गमनं भवतीति शेषः ॥ २९ ।

विश्वस्थान से **विमलेश्वरसंज्ञक** लिंग यहाँ आ पुहँचा है । वह **स्वर्लीनेश्वर** के पश्चिमभाग में दर्शन करने से विमल सिद्धि को देता है ॥ २४ ।

महेन्द्रपर्वत से **महाव्रत** नामक महालिंग यहाँ आ विराजे हैं । वे **स्कन्देश्वर** के समीप में ही महाव्रतों के फलों का दान करते हैं ॥ २५ ।

सत्ययुग में देवता और मुनिवृन्दों की स्तुति करने पर बड़ी दुर्भेद्य भूमि को भेद (फोड़) कर जो महालिंग उत्पन्न हुआ और मनोरथ के पूरण करने से जिसे **महादेव** कहा गया है, वही लिंग तब से वाराणसी में **महादेव** नाम से विख्यात है ॥ २६-२७ ।

उसी महालिंग ने काशी को मुक्तिक्षेत्र बनाया है । अतएव इस अविमुक्तक्षेत्र में जो मनुष्य महादेव का दर्शन करेगा, वह चाहे कहीं भी क्यों न मरे, पर अन्त को शिवलोक में चला ही जायगा । इसलिये मोक्षार्थी लोगों को अविमुक्तक्षेत्र में उसी महालिंग का सेवन बड़े प्रयत्न से करना चाहिए ॥ २८-२९ ।

कल्पान्तरेऽपि न त्यक्तं कदाप्यानन्दकाननम् ।
येन लिङ्गस्वरूपेण महादेवेन सर्वथा ॥ ३० ।
तत्प्रासादोऽयमतुलः सर्वरत्नमयः शुभः ।
हिरण्यगर्भतीर्थाच्च प्रतीच्यां क्षेत्ररक्षकम् ॥ ३१ ।
वाराणस्यामधिष्ठात्री देवता साऽभिलाषदा ।
महादेवेति संज्ञा वै सर्वलिङ्गस्वरूपिणी ॥ ३२ ।
वाराणस्या महादेवो दृष्टो यैर्लिङ्गरूपधृक् ।
तेन त्रैलोक्यलिङ्गानि दृष्टानीह न संशयः ॥ ३३ ।
वाराणस्यां महादेवं समभ्यर्च्य सकृन्नरः ।
आभूतसंप्लवं यावच्छिवलोके वसेन्मुदा ॥ ३४ ।
पवित्रपर्वणि सदा श्रावणे मासि यत्नतः ।
लिङ्गे पवित्रमारोप्य महादेवेन गर्भभाक् ॥ ३५ ।

आभूतसंप्लवं प्रलयम् ॥ ३४ ।

पवित्रपर्वणि शुक्लचतुर्दश्याम् । पवित्रं सूत्रम् ॥ ३५ ।

सर्वथा जिस लिंगस्वरूप महादेव ने कल्पान्तर में कभी भी आनन्दवन को नहीं छोड़ा, यह उन्हीं का अनुपम और अनेक रत्नों से भूषित उत्तम शिवालय है । अभिलाषदात्री, वाराणसी की अधिष्ठात्री, सर्वलिंगस्वरूपा महादेवदेवता ही हिरण्यगर्भ तीर्थ से पश्चिम दिशा में क्षेत्र की रक्षा करती हैं ॥ ३०-३१ ।

सबै लिंग जग में विदित, महादेव के नाम ।
यहि कारन परधान है, महादेव एहि धाम ॥ ३२ ।

जिस किसी ने वाराणसी क्षेत्र में लिंगरूपधारी महादेव का दर्शन किया, निःसन्देह वह त्रैलोक्य भर के समस्त लिंगों का दर्शन यहीं पर कर चुका ॥ ३३ ।

वह महाप्रलय तक शिवलोक में बड़े हर्ष से वास करता है । जो मनुष्य काशी में एक बार भी महादेव का पूजन कर सका (उसने सब लिङ्गों का दर्शन कर लिया) ॥ ३४ ।

जो कोई श्रावण मास के पवित्र पर्व में (अर्थात् शुक्ला चतुर्दशी के दिन) प्रयत्नपूर्वक महादेवलिंग पर पवित्रारोपण करता (जनेऊ चढ़ाता) है, वह गर्भभागी नहीं होता ॥ ३५ ।

पितामहेश्वरं लिङ्गं गयातीर्थादिहागतम् ।
फल्गुप्रभृतिभिस्तीर्थैः सार्धकोट्यष्टसंमितैः ॥ ३६ ।
धर्मेण यत्र वै तप्तं युगानामयुतं शतम् ।
साक्षीकृत्य महालिङ्गं श्रीमद्धर्मेश्वराभिधम् ॥ ३७ ।
पितामहेश्वरं लिङ्गं तत्राऽभ्यर्च्य नरो मुदा ।
त्रिःसप्तकुलसंयुक्तो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ३८ ।
प्रयागात्तीर्थराजाच्च शूलटङ्को महेश्वरः ।
तीर्थराजेन सहितः स्थित आगत्य वै स्वयम् ॥ ३९ ।
निर्वाणमण्डपाद्रम्यादवाच्यामतिनिर्मलः ।
प्रासादो मेरुणा यस्य स्पर्धते काञ्चनोज्ज्वलः ॥ ४० ।
देवेनैव वरो दत्तो यत्र पूर्वं युगान्तरे ।
पूज्यो महेश्वरः काश्यां प्रथमं कलुषापहः ॥ ४१ ।

पवित्रपर्वणि शुक्लचतुर्दश्याम् । पवित्रं सूत्रम् ॥ ३६ ।

अयुतं शतं दशलक्षमित्यर्थः ॥ ३७ ।

महेश्वरः शूलटङ्क एव ॥ ३९ ।

महेश्वरः स एव ॥ ४१ ।

(हे प्रभो !) पितामहेश्वर नामक लिंग, फल्गु इत्यादि साढ़े आठ करोड़ तीर्थों के सहित गयातीर्थ से यहाँ पर आया है ॥ ३६ ।

वहाँ पर धर्म ने दश लाख युग तक श्रीमद्धर्मेश्वर नामक महालिंग को साक्षी करके (बड़ी) तपस्या की थी ॥ ३७ ।

काशी में वहीं पर पितामहेश्वर नामक लिंग की सहर्ष पूजा करने से इक्कीस कुलों के साथ मनुष्य निःसन्देह मुक्त हो जाता है ॥ ३८ ।

तीर्थराज प्रयाग से स्वयं आकर शूलटंकेश्वर नामक लिंग तीर्थराज के साथ यहाँ विराज रहा है ॥ ३९ ।

सुन्दर निर्वाणमंडप के दक्षिण उसका अत्यन्त निर्मल और सुवर्ण सा उज्ज्वल मन्दिर सुमेरुपर्वत से स्पर्धा कर रहा है ॥ ४० ।

हे देव ! आप ही ने पूर्वयुग में जहाँ पर वरदान किया था कि काशी में प्रथम ही पापनाशी शूलटंकेश्वर का पूजन करना चाहिए ॥ ४१ ।

यः प्रयाग इह स्नातो नमस्यति महेश्वरम् ।
समभ्यर्च्य विधानेन महासंभारविस्तरैः ॥ ४२ ।
प्रयागस्नानजात्पुण्याच्छूलटङ्कविलोकनात् ।
स प्राप्नुयान्न सन्देहः पुण्यं कोटिगुणोत्तरम् ॥ ४३ ।
शङ्कुकर्णान्महाक्षेत्रान्महातेज इतीरितम् ।
लिङ्गमाविरभूदत्र महातेजोविवृद्धिदम् ॥ ४४ ।
महातेजोनिधिस्तस्य प्रासादोऽतीवनिर्मलः ।
ज्वालाजटिलिताकाशो माणिक्यैरेव निर्मितः ॥ ४५ ।
तल्लिङ्गदर्शनात्स्पर्शात्स्तवनाच्च समर्चनात् ।
प्राप्यते तत्परं धाम यत्र गत्वा न शोचते ॥ ४६ ।
विनायकेश्वरात्पूर्वं महातेजसमर्चनात् ।
तेजोमयेन यानेन याति माहेश्वरं पदम् ॥ ४७ ।
रुद्रकोटिसमाख्याताત्तीर्थात्परमपावनात् ।
महायोगीश्वरं लिङ्गमाविश्चक्रे स्वयं परम् ॥ ४८ ।

महेश्वरं तमेव ॥ ४२ ।

ज्वालाजटिलिताकाशो दीप्त्यावृतगगनः ॥ ४५ ।

धाम स्थानम् ॥ ४६ ।

जो कोई यहाँ के प्रयागतीर्थ में स्नान कर विधिपूर्वक प्रचुर सामग्री से उनका पूजन करने पर प्रणाम करेगा, उसे शूलटंकेश्वर के दर्शन से प्रयाग में स्नान करने से करोड़ गुणा पुण्य प्राप्त होगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ४३ ।

शंकुकर्ण नामक बड़े तीर्थ से तेज का बड़ा बढ़ाने वाला महातेजसंज्ञक लिंग यहाँ पर आविर्भूत हुआ है ॥ ४४ ।

उस लिंग का महातेजोनिधि और केवल मानिक (चुन्नी) का बना हुआ अतीव निर्मल मन्दिर अपनी ज्वाला से आकाश में व्याप्त हो रहा है ॥ ४५ ।

उस लिंग के दर्शन, स्पर्शन, स्तवन और पूजन करने से परम धाम मिलता है । वहाँ जाकर फिर कुछ भी नहीं सोचना पड़ता ॥ ४६ ।

विनायकेश्वर से पूर्व महातेजलिंग की पूजा करने से तेजोमय यान पर चढ़कर शिवलोक में गमन होता है ॥ ४७ ।

परम पावन रुद्रकोटि नामक तीर्थ से महायोगीश्वर नामक लिंग आप से आप प्रकट हुआ है ॥ ४८ ।

पार्वतीश्वरलिङ्गस्य समीपे सर्वसिद्धिकृत् ।
तल्लिङ्ग[1]दर्शनात्पुंसां कोटिलिङ्गफलं भवेत् ॥ ४९ ।
तत्प्रासादस्य परितो रुद्राणां कोटिसंमिताः ।
प्रासादा रम्यसंस्थाना निर्मिता रुद्रमूर्तिभिः ॥ ५० ।
काश्यां रुद्रस्थली सा तु पठ्यते वेदवादिभिः ।
रुद्रस्थल्यां मृता ये वै कृमिकीटपतङ्गकाः ॥ ५१ ।
पशुपक्षिमृगा मर्त्या म्लेच्छा वाऽप्यथ दीक्षिताः ।
तेषां तु रुद्रीभूतानां पुनरावृत्तिरत्र न ॥ ५२ ।
जन्मान्तरसहस्रेषु यत्पापं समुपार्जितम् ।
रुद्रस्थलीं प्रविष्टस्य सर्वं व्रजति क्षयम् ॥ ५३ ।
अकामो वा सकामो वा तिर्यग्योनिगतोऽपि वा ।
रुद्रस्थल्यां त्यजन्प्राणान् परं निर्वाणमाप्नुयात् ॥ ५४ ।
स्वयमेकाम्बरात्क्षेत्रात्कृत्तिवासा इहागतः ।
कृत्तिवाससि लिङ्गेऽत्र स्वयमेव व्यवस्थितः ॥ ५५ ।

एकाम्बराद् भुवनेश्वरात् । कृत्तिवाससीत्यादि सार्धं पद्यं स्कन्दोक्तिः । कृत्तिवासाभिधे इति क्वचित्पाठः । उभयत्र भवानित्यध्याहारेण नन्द्युक्तमेव वा ॥ ५५ ।

पार्वतीश्वर के पास में ही सब सिद्धियों के कर्ता उस लिंग का दर्शन करने से मनुष्यों को करोड़ लिगों के दर्शन करने का फल होता है ॥ ४९ ।

इस महायोगीश्वर के मन्दिर से चारों ओर करोड़ों रुद्रमूर्तियों के बनाये हुए एक करोड़ रमणीय रचना के शिवालय शोभायमान हैं ॥ ५० ।

वेदवादी लोग काशी में उस स्थल को रुद्रस्थली कहते है । वहाँ पर क्या कृमि, क्या कीट, क्या पतंग, क्या पशु, क्या पक्षी, क्या मृग, क्या म्लेच्छ, क्या दीक्षित, चाहे जो हो, वह यहाँ मरने से रुद्रस्वरूप हो जाने के कारण संसार में उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती है ॥ ५१-५२ ।

सहस्रों जन्मान्तर का उपार्जित पाप, रुद्रस्थली में प्रवेश करते ही सब क्षय हो जाता है ॥ ५३ ।

निष्काम हो, चाहे सकाम हो, अथवा तिर्यग् योनि में प्राप्त हो, पर जो कोई रुद्रस्थली में मरा, वह परमपद को पा चुका ॥ ५४ ।

एकांबर क्षेत्र से भगवान् कृत्तिवासा यहाँ आकर इसी कृत्तिवासेश्वर लिंग में स्वयं प्रकाशमान हुए हैं ॥ ५५ ।

---

1. यज्ञेत्यपि क्वचित्पाठः ।

अस्मिन्स्थाने स्वभक्तानां साम्बः सर्षिगणो विभुः ।
स्वयं चोपदिशेद् ब्रह्म श्रुतौ श्रुतिभिरीडितम् ॥ ५६ ।
क्षेत्रेऽत्र सिद्धिदे प्राप्तश्चण्डीशो मरुजाङ्गलात् ।
प्रचण्डपापसंघातं खण्डयेच्छतधेक्षणात् ॥ ५७ ।
पाशपाणिगणाध्यक्षसमीपे यः प्रपश्यति ।
चण्डीश्वरं महालिङ्गं स याति परमां गतिम् ॥ ५८ ।
कालञ्जरान्नीलकण्ठस्तिष्ठेदत्र स्वयं विभुः ।
गणेशाद्दन्तकूटाख्यात्समीपे भवनाशनः ॥ ५९ ।
नीलकण्ठेश्वरं लिङ्गं काश्यां यैः परिपूजितम् ।
नीलकण्ठास्त एव स्युस्त एव शशिभूषणाः ॥ ६० ।
काश्मीरादिह सम्प्राप्तं लिङ्गं विजयसंज्ञितम् ।
सदा विजयदं पुंसां प्राच्यां शालकटङ्कटात् ॥ ६१ ।

साम्बः अम्बया सहितः ॥ ५६ ।

मरुजाङ्गलात्क्षेत्रविशेषात् । मत्तजाङ्गलादिति क्वचित्पाठः ॥ ५७ ।

कालञ्जरात्पर्वतात् ॥ ५९ ।

इस स्थान पर जगदम्बा, ऋषि और गणों के सहित स्वयं भगवान् अपने भक्तों के कान में वेदविहित ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ ५६ ।

सिद्धिदायक इस (काशी) क्षेत्र में मरुजांगल तीर्थ से चंडीश्वर आये हैं, वे केवल दर्शन मात्र से प्रचंड पापों की डेढ़ (समूह को) ? सैकड़ों टुकड़े कर डालते हैं ॥ ५७ ।

पाशपाणि गणेश के पास में जो कोई इस चंडीश्वर महालिंग का दर्शन करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है ॥ ५८ ।

दन्तकूट गणेश के समीप ही भवनाशक भगवान् नीलकंठ कालंजर पर्वत से स्वयं आकर यहाँ पर विराजमान हुए हैं ॥ ५९ ।

जो लोग काशी धाम में नीलकंठेश्वर लिंग की पूजा करते हैं, वे स्वयं नीलकण्ठ और चन्द्रभूषण हो जाते हैं ॥ ६० ।

काश्मीर से यहाँ पर विजयेश्वर नामक लिंग स्वयं आये हैं, वह शालकटङ्कट गणेश के पूर्व में रह कर सदा लोगों को विजय देता है ॥ ६१ ।

रणे राजकुले द्यूते विवादे सर्वदैव हि ।
विजयो जायते पुंसां विजयेशसमर्चनात् ॥ ६२ ।
ऊर्ध्वरेतास्त्रिदण्डायाः सम्प्राप्तोऽत्र स्वयं विभुः ।
कूष्माण्डकं गणाध्यक्षं पुरस्कृत्य व्यवस्थितः ॥ ६३ ।
ऊर्ध्वां गतिमवाप्नोति वीक्षणादूर्ध्वरेतसः ।
ऊर्ध्वरेतसि ये भक्ता न हि तेषामधोगतिः ॥ ६४ ।
मण्डलेश्वरतः क्षेत्राल्लिङ्गं श्रीकण्ठसंज्ञितम् ।
विनायकान्मण्डसंज्ञादुत्तरस्यां व्यवस्थितम् ॥ ६५ ।
श्रीकण्ठस्य च ये भक्ताः श्रीकण्ठा एव ते नराः ।
नेह श्रिया वियुज्यन्ते ते न परत्र कदाचन ॥ ६६ ।
छागलाण्डान्महातीर्थात्कपर्दीश्वरसंज्ञितः ।
पिशाचमोचने तीर्थे स्वयमाविरभूद्विभुः ॥ ६७ ।
कपर्दीशं समभ्यर्च्य न नरो निरयं व्रजेत् ।
न पिशाचत्वमाप्नोति कृत्वाऽत्राप्यघमुत्तमम् ॥ ६८ ।

त्रिदण्डायाः पुर्याः ॥ ६३ ।

विजयेश्वर के पूजन करने से युद्ध, राजद्वार, द्यूत और विवाद में सर्वत्र ही सदैव लोगों का विजय होता है ॥ ६२ ।

त्रिदंडातीर्थ से भगवान् **ऊर्ध्वरेता** नामक महालिंग स्वयं यहाँ आकर **कूष्मांड-गणेश** के सन्मुख अवस्थित हैं ॥ ६३ ।

ऊर्ध्वरेता के दर्शन करने से ऊर्ध्वगति मिलती है। जो लोग इस लिंग के भक्त हैं, उनकी कभी अधोगति होती ही नहीं ॥ ६४ ।

मंडलेश्वर क्षेत्र से **श्रीकंठ संज्ञक** लिंग (श्रीकण्ठेश्वर लिंग) यहाँ आकर **मंडविनायक** से उत्तर ओर स्थित हैं ॥ ६५ ।

जो लोग श्रीकंठ के भक्त हैं, वे सब श्रीकंठ ही होते हैं, वे इस लोक और परलोक में कहीं भी श्रीहीन नहीं रहने पाते ॥ ६६ ।

छागलाण्ड नामक महातीर्थ से भगवान् **कपर्दीश्वर** संज्ञक लिंग **पिशाचमोचन तीर्थ** पर आप से आप प्रकट हुए हैं ॥ ६७ ।

कपर्दीश्वर का पूजन करने से मनुष्य नरकगामी नहीं होता और घोर पाप करने पर भी यहाँ पिशाच नहीं होने पाता है ॥ ६८ ।

आम्रातकेश्वरात् क्षेत्राल्लिङ्गं सूक्ष्मेशसंज्ञितम् ।
स्वयमभ्यागतं चाऽत्र क्षेत्रे वै श्रेयसां पदे ॥ ६९ ।
विकटद्विजसंज्ञस्य गणेशस्य समीपतः ।
दृष्ट्वा सूक्ष्मेश्वरं लिङ्गं गतिं सूक्ष्मामवाप्नुयात् ॥ ७० ।
सम्प्राप्तमिह देवेशं जयन्तं मधुकेश्वरात् ।
लम्बोदराद् गणपतेः पुरस्तात्तदवस्थितम् ॥ ७१ ।
जयन्तेश्वरमालोक्य स्नात्वा गङ्गाजले शुभे ।
प्राप्नुयाद् वाञ्छितां सिद्धिं सर्वत्र विजयी भवेत् ॥ ७२ ।
प्रादुश्चकार देवेशः श्रीशैलात्त्रिपुरान्तकः ।
श्रीशैलशिखरं दृष्ट्वा यत्फलं समुदीरितम् ॥ ७३ ।
त्रिपुरान्तकमालोक्य तत्फलं हेलयाप्यते ।
विश्वेशात्पश्चिमे भागे त्रिपुरान्तकमीश्वरम् ॥ ७४ ।
सम्पूज्य परया भक्त्या न नरो गर्भमाविशेत् ।
सौम्यस्थानादिहायातो भगवान् कुक्कुटेश्वरः ॥ ७५ ।

मधुकेश्वरात्क्षेत्रादिति शेषः ॥ ७१ ।
प्रादुश्चकार आविर्बभूव ॥ ७३ ।
सौम्यस्थानात्क्षेत्रविशेषात् ॥ ७५ ।

सूक्ष्मेश्वर लिंग, आम्रातकेश्वर क्षेत्र से इस कल्याणास्पद क्षेत्र में स्वयमेव उपस्थित हुए हैं ॥ ६९ ।

विकटदन्त गणेश के समीप में सूक्ष्मेश्वर लिंग के दर्शन करने से सूक्ष्मगति मिलती है ॥ ७० ।

जयन्तेश्वर नामक लिंग मधुकेश्वर तीर्थ से आकर लंबोदर गणेश के आगे विराजमान हैं ॥ ७१ ।

जो कोई भागीरथी गंगा के पवित्र जल में नहाकर जयन्तेश्वर का दर्शन करता है, वह अपनी वांछित सिद्धि को पाता है और सर्वत्र विजयी होता है ॥ ७२ ।

श्रीशैल आयतन से देवाधिदेव त्रिपुरान्तक यहाँ प्रादुर्भूत हुए हैं । श्रीशैल शिखर के दर्शन का जो फल कहा गया है, त्रिपुरान्तक के दर्शन करने से वह फल अनायास ही मिल जाता है । विश्वेश्वर के पश्चिम भाग में त्रिपुरान्तकेश्वर लिंग का स्थान है ॥ ७३-७४ ।

उनका पूजन जो मनुष्य बड़ी भक्ति से करता है, वह गर्भ में नहीं पैठता (जरा-मरण के भय से मुक्त हो जाता है) । सौम्य स्थान से भगवान् कुक्कुटेश्वर यहाँ आये हैं ॥ ७५ ।

वक्रतुण्डगणाध्यक्ष समीपे सोपतिष्ठते ।
तद्दर्शनादर्चनाच्च करस्थाः सर्वसिद्धयः ॥ ७६ ।
जालेश्वरात्त्रिशूली च स्वयमीशः समागतः ।
कूटदन्ताद् गणपतेः पुरस्तात्सर्वसिद्धिदः ॥ ७७ ।
रामेश्वरान्महाक्षेत्राज्जटीदेवः समागतः ।
एकदन्तोत्तरे भागे सोऽर्चितः सर्वकामदः ॥ ७८ ।
त्रिसन्ध्यात्क्षेत्रतो देवस्त्र्यम्बकोऽस्ति समागतः ।
त्रिमुखात्पूर्वदिग्भागे पूजितस्त्र्यम्बकत्वकृत् ॥ ७९ ।
हरेश्वरो हरिश्चन्द्रात्क्षेत्रादत्र समागतः ।
हरिश्चन्द्रेश्वरपुरः पूजितो जयदः सदा ॥ ८० ।
इह शर्वः समायातः स्थानान्मध्यमकेश्वरात् ।
चतुर्वेदेश्वरं लिङ्गं पुरोधाय व्यवस्थितम् ॥ ८१ ।

जालेश्वरात्क्षेत्रादिति शेषः ॥ ७७ ।

रामेश्वरात्सेतुबन्धात् ॥ ७८ ।

पुरोधाय अग्रेकृत्वा ॥ ८१ ।

और वे वक्रतुंड गणेश के पास में व्यवस्थित हैं। उनके दर्शन और पूजन से सब सिद्धियाँ करतलगत हो जाती हैं ॥ ७६ ।

जालेश्वरतीर्थ से सर्वसिद्धिदाता त्रिशूली नामक लिंग आप ही से कूटदन्त गणेश के आगे आ गये हैं ॥ ७७ ।

(सेतुबन्ध) रामेश्वर महाक्षेत्र से जटी देव यहाँ आये हैं। वे एकदन्त गणेश के उत्तरभाग में हैं। उनका पूजन करने से वे सभी कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं ॥ ७८ ।

त्रिसंध्यतीर्थ से भगवान् त्र्यम्बक (त्र्यम्बकेश्वर) आये हैं। वे त्रिमुख गणेश के पूर्वभाग में पूजा करने से त्र्यम्बक बना देते हैं ॥ ७९ ।

हरिश्चन्द्र क्षेत्र से हरेश्वर लिंग यहाँ आये हैं। वे हरिश्चन्द्रेश्वर के आगे पूजित होने से सदैव विजय देते हैं ॥ ८० ।

मध्यमकेश्वर तीर्थ से शर्वनामक लिंग इस काशी में आये हैं। वे चतुर्वेदेश्वर लिंग को आगे करके स्थित हैं ॥ ८१ ।

शर्वं लिङ्गं समभ्यर्च्य काश्यां परमसिद्धिकृत् ।
न जातु जन्तुपदवीं प्राप्नुयात्क्वाऽपि मानवः ॥ ८२ ।
स्थलेश्वरान्महालिङ्गं प्रादुर्भूतं परं त्विह ।
यत्र यज्ञेश्वरं लिङ्गं सर्वलिङ्गफलप्रदम् ॥ ८३ ।
महालिङ्गं समभ्यर्च्य महाश्रद्धासमन्वितः ।
महतीं श्रियमाप्नोति लोकेऽत्र च परत्र च ॥ ८४ ।
इह लिङ्गं सहस्राक्षं सुवर्णाख्यात्समागतम् ।
यस्य सन्दर्शनात्पुंसां ज्ञानचक्षुः प्रजायते ॥ ८५ ।
शैलेश्वरादवाच्यां तु सहस्राक्षेश्वरं विभुम् ।
दृष्ट्वा जन्मसहस्राणां शतानां पातकं त्यजेत् ॥ ८६ ।
हर्षिताद्धर्षितं चाऽत्र प्रादुरासीत्तमोहरम् ।
लिङ्गं हर्षप्रदं पुंसां दर्शनात्स्पर्शनादपि ॥ ८७ ।

स्थलेश्वरात्स्थानेश्वरात्क्षेत्रादिति शेषः । यत्र स्थेलश्वरे क्षेत्रे यज्ञेश्वरं महालिङ्गं लिङ्गान्तरं महालिङ्गमेव वा ॥ ८३ ।

सुवर्णाख्यात्क्षेत्रादिति शेषः ॥ ८५ ।

अवाच्यां दक्षिणस्याम् ॥ ८६ ।

हर्षितात्क्षेत्रादिति शेषः ॥ ८७ ।

कोई भी मनुष्य परमसिद्धिदायक शर्वसंज्ञक लिंग की पूजा यदि काशी में कर सके, तो वह कहीं भी जन्तु की पदवी को नहीं पा सकता ॥ ८२ ।

जहाँ पर सब यज्ञों का फलदाता **यज्ञेश्वर लिंग** है, वहाँ पर ही **स्थानेश्वरतीर्थ** से आकर **महालिंग** प्रकट हुए हैं ॥ ८३ ।

बड़ी श्रद्धा से महालिंग का पूजन करने पर इस लोक और परलोक में प्रचुर श्री प्राप्त होती है ॥ ८४ ।

सुवर्णनामक तीर्थ से **सहस्राक्ष** संज्ञक लिंग यहाँ आये हैं । उनके दर्शन से लोगों को ज्ञानचक्षु हो जाता है ॥ ८५ ।

शैलेश्वर से दक्षिण ओर भगवान् **सहस्राक्षेश्वर** का दर्शन करने से सैकड़ों सहस्र जन्म के पातक छूट जाते हैं ॥ ८६ ।

हर्षित क्षेत्र से **हर्षितेश्वर** नामक तमोनाशक लिंग यहाँ आये, जो दर्शन और स्पर्शन करने से लोगों को बड़े हर्षदायक होते हैं ॥ ८७ ।

मन्त्रेश्वरसमीपे तु प्रासादो हर्षितेशितुः ।
तद्विलोकनतः पुंसां नित्यं हर्षपरम्परा ॥ ८८ ।
इह स्वयं समायातो रुद्रो रुद्रमहालयात् ।
यस्य सन्दर्शनतो यान्ति रुद्रलोके नराः स्फुटम् ॥ ८९ ।
यैस्तु रुद्रेश्वरं लिङ्गं काश्यामत्र समर्चितम् ।
ते रुद्ररूपिणो मर्त्या विज्ञेया नाऽत्र संशयः ॥ ९० ।
त्रिपुरेशसमीपे तु दृष्ट्वा रुद्रेश्वरं विभुम् ।
रुद्रास्त इव विज्ञेया जीवन्तोऽपि मृता अपि ॥ ९१ ।
आगादिह महादेवो वृषेशो वृषभध्वजात् ।
बाणेश्वरस्य लिङ्गस्य समीपे वृषदः सदा ॥ ९२ ।
इहागतं तु केदारादीशानेश्वरसंज्ञितम् ।
तद्द्रष्टव्यं प्रतीच्यां च लिङ्गं प्रह्लादकेशवात् ॥ ९३ ।

रुद्रमहालयात्क्षेत्रादिति शेषः ॥ ८९ ।

इव एव । अयमेव वा पाठः ॥ ९१ ।

वृषभध्वजात् क्षेत्रादिति शेषः ॥ ९२ ।

केदारात् क्षेत्रादिति शेषः ॥ ९३ ।

मंत्रेश्वर के समीप ही में हर्षितेश्वर शिवालय है। उसके दर्शन से ही लोगों की हर्षपरम्परा नित्य ही बढ़ती रहती है ॥ ८८ ।

रुद्रमहालय से रुद्रेश्वर नामक लिंग यहाँ आये हैं, लोग उनके दर्शन से अवश्य ही रुद्रलोक में चले जाते हैं ॥ ८९ ।

जो लोग इस काशीपुरी में रुद्रेश्वर लिंग की पूजा कर सके हैं, वे मनुष्य होने पर भी रुद्र के रूप ही जानने के योग्य हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ९० ।

त्रिपुरेश्वर के समीप में भगवान् रुद्रेश्वर का दर्शन पा जावे, तो उसे जीते जी अथवा मर जाने पर भी रुद्र ही समझना चाहिए ॥ ९१ ।

धर्मप्रद वृषेश्वर, वृषभध्वजतीर्थ से यहाँ आकर बाणेश्वर महादेव के समीप में सदैव शोभायमान रहते हैं ॥ ९२ ।

केदारतीर्थ से ईशानेश्वर यहाँ आ विराजे हैं। प्रह्लादकेशव के पश्चिम भाग में उस लिंग का दर्शन करना चाहिए ॥ ९३ ।

ईशानेशं समभ्यर्च्य स्नात्वोत्तरवहाम्भसि ।
वसेदीशाननगरे ईशानसदृशप्रभः ॥ ९४ ।
भैरवाद् भैरवीमूर्तिरत्रायाता मनोहरा ।
संहारभैरवो नाम द्रष्टव्यः स प्रयत्नतः ॥ ९५ ।
पूजनात्सर्वसिद्ध्यै स प्राच्यां खर्वविनायकात् ।
संहारभैरवः काश्यां संहरेदघसन्ततिम् ॥ ९६ ।
उग्रः कनखलात्तीर्थादाविरासेह सिद्धिदः ।
तद्विलोकनतो नृणामुग्रं पापं प्रणश्यति ॥ ९७ ।
उग्रं लिङ्गं सदा सेव्यं प्राच्यामर्कविनायकात् ।
अत्युग्रा अपि नश्येयुरुपसर्गास्तदर्चनात् ॥ ९८ ।
वस्त्रापथान्महाक्षेत्राद् भवो नाम स्वयं विभुः ।
भीमचण्डीसमीपे तु प्रादुरासीदिह प्रभो ॥ ९९ ।
भवेश्वरं समभ्यर्च्य भवेनाविर्भवेन्नरः ।
प्रभुर्भवति सर्वेषां राज्ञामाज्ञाकृतामिह ॥ १०० ।

उग्रः प्रचण्डः ॥ ९७ ।
भवे संसारे ॥ १०० ।

उत्तरवाहिनी की धारा में स्नान कर जो कोई ईशानेश्वर का दर्शन करेगा, वह ईशान ही के समान प्रभावान् होकर ईशानलोक में वास पायेगा ॥ ९४ ।

भैरव क्षेत्र से मनोहर भैरव मूर्ति यहाँ आई है, जिसका नाम संहारभैरव है, उनका दर्शन प्रयत्नपूर्वक करना आवश्यक है ॥ ९५ ।

खर्वविनायक से पूर्व उनकी पूजा से सब सिद्धियाँ होती हैं । काशी में संहारभैरव ही सब पापों का संहार करते हैं ॥ ९६ ।

कनखलतीर्थ से आकर सिद्धिप्रद उग्रनामक लिंग यहाँ प्रकट हुआ है, उसके दर्शन से मनुष्यों का उग्र पाप भी नष्ट हो जाता है ॥ ९७ ।

अर्कविनायक से पूर्व उग्रेश्वर नामक लिंग का सदैव सेवन करना चाहिए।उनके पूजन करने से बड़े उग्र उपसर्ग भी शान्त हो जाते हैं ॥ ९८ ।

हे प्रभो ! वस्त्रापथ महाक्षेत्र से भगवान् भव स्वयमेव भीमचंडी के समीप में यहाँ पर आविर्भूत हुए हैं ॥ ९९ ।

मनुष्य इस भवेश्वर लिंग के समर्चन करने से फिर भवसागर में नहीं पड़ता और इस लोक में आज्ञाकारी सब राजाओं का भी प्रभु हो जाता है ॥ १०० ।

देवदारुवनाद्दण्डी दण्डयन् पातकावलीः ।
वाराणस्यां समागत्य स्थितो लिङ्गाकृतिर्विभुः ॥ १०१ ॥
प्राच्यां दण्डीश्वरः पूज्यः सदेहलिविनायकात् ।
तस्याऽर्चनेन मर्त्यानां न पुनर्भव ईक्ष्यते ॥ १०२ ॥
भद्रकर्णह्लदादत्र भद्रकर्णह्लदान्वितः ।
शिवः साक्षादिहायातः सर्वेषां शिवदोऽर्चितः ॥ १०३ ॥
उद्दण्डाख्याद् गणपतेः प्राच्यां तत्तीर्थमुत्तमम् ।
भद्रकर्णह्लदे स्नात्वाऽभ्यर्च्य लिङ्गं शिवाह्वयम् ॥ १०४ ॥
सर्वत्र शिवमाप्नोति भद्रकर्णेशपूजनात् ।
शृणुयात्सर्वभूतानां भद्रं पश्यति चाक्षभिः ॥ १०५ ॥
शङ्करश्च हरिश्चन्द्रात्त्वत्पुरः प्रतिभासते ।
तत्पूजनाज्जनानां न जननीजठरे जनिः ॥ १०६ ॥

पातकावलीः पापपङ्क्तीः ॥ १०१ ॥

भद्रकर्णेशपूजनाद् भद्रकर्णे ह्लदे स्थित ईशो भद्रकर्णेशस्तस्य पूजनात् । भद्रकर्णेभिरुत्तममिति पाठे कर्णेभिः कर्णैरित्यर्थः । तथा च मन्त्रः – **"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः"** इत्यादि । अक्षभिर्नेत्रैः ॥ १०५ ॥

त्वत् त्वत्तः हरिश्चन्द्रशिवाह्वयात् । तदिति पाठेऽपि स एवार्थः । जनिः जन्म ॥ १०६ ॥

पातकावली के दण्डकर्ता भगवान् **दण्डीश्वर** भी **देवदारुवन** से वाराणसी में आकर लिंगाकार में स्थित हैं ॥ १०१ ॥

देहलीविनायक से पूर्व **दण्डीश्वर** का पूजन करना चाहिए । उनके पूजन करने से मनुष्यों का पुनर्जन्म नहीं होता ॥ १०२ ॥

भद्रकर्णह्लद से काशी में भगवान् शिव **भद्रकर्णह्लद** के सहित आये हैं, वे पूजित होने पर सभी लोगों का कल्याण करते हैं ॥ १०३ ॥

उद्दण्डगणेश की पूर्व ओर **भद्रकर्ण** नामक ह्लद है। वह परम तीर्थ कहा जाता है । उसमें स्नान और शिवलिंग के पूजन करने से सर्वत्र ही कल्याण होता है और **भद्रकर्णेश्वर** की पूजा से समस्त प्राणियों को भद्र (मंगल) बात सुनाई पड़ती है और सभी का मंगल आंखों से दिखाई पड़ता है ॥ १०४-१०५ ।

हरिश्चन्द्रेश्वर के आगे **शंकर** नामक लिंग है । इनके समर्चन से मनुष्यों को फिर माता के गर्भ में नहीं जन्मना पड़ता ॥ १०६ ।

यमलिङ्गान्महातीर्थात्काललिङ्गमिह स्थितम् ।
कलशेश इति ख्यातं चन्द्रेशात्पश्चिमेन च ॥ १०७ ।
यमतीर्थे नरः स्नात्वा मित्रावरुणदक्षिणे ।
काललिङ्गं समालोक्य कलिकालभयं कुतः ॥ १०८ ।
तत्र भौमचतुर्दश्यां यस्तु यात्रां करिष्यति ।
अपि पातकयुक्तः स यमयात्रां न यास्यति ॥ १०९ ।
नैपालाच्च महाक्षेत्रादायात् पशुपतिस्त्विह ।
यत्र पाशुपतो योग उपदिष्टः पिनाकिना ॥ ११० ।
भवता देवदेवेन ब्रह्मादिभ्यो विमुक्तये ।
तस्य सन्दर्शनादेव पशुपाशैर्वियुज्यते ॥ १११ ।
करवीरकतीर्थाच्च कपालीश इहागतः ।
कपालमोचने तीर्थे द्रष्टव्यः स प्रयत्नतः ॥ ११२ ।
तद्विलोकनमात्रेण ब्रह्महत्या विलीयते ।
उमापतिर्देविकाया इहागत्य व्यवस्थितः ॥ ११३ ।

पश्चिमेनेति न तृतीया; किन्तु पश्चिमायां दिशीत्यस्मिन्नर्थे तद्धितोऽयं प्रत्ययोऽव्यय-संज्ञः । पश्चिमेन पश्चिमायां दिशीत्यर्थः ॥ १०७ ।

देविकायाः पुर्या इति शेषः ॥ ११३ ।

यमलिंग नामक महातीर्थ से काललिंग यहाँ आ गये हैं। वे चन्द्रेश्वर के पश्चिम भाग में कलशेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ १०७ ।

मित्रावरुण के दक्षिण प्रान्त में स्थित यमतीर्थ में नहाकर जो मनुष्य काललिंग का दर्शन कर सके, उसे कलि और काल का भय कहाँ है ? ॥ १०८ ।

वहाँ पर मंगलवारयुक्त चतुर्दशी तिथि के दिन जो कोई यात्रा करे, वह पातकी होने पर भी कभी यमयात्रा में नहीं जा सकता ॥ १०९ ।

नेपाल महाक्षेत्र से पशुपति(नाथ) यहाँ आये हैं। यहाँ पर पिनाकपाणि देवदेव ने अपने पाशुपतयोग का उपदेश ब्रह्मादि देवताओं को मुक्ति के लिये दिया था। उनके दर्शन ही से लोग पशुपाश से छूट जाते हैं ॥ ११०-१११ ।

करवीरक तीर्थ से कपालीश्वर यहाँ आकर कपालमोचन तीर्थ पर जा विराजे हैं, प्रयत्नपूर्वक उनका दर्शन करना उचित है ॥ ११२ ।

क्योंकि उनके दर्शन से ब्रह्महत्या भी विलीन हो जाती है। देविकातीर्थ से आकर उमापति भी यहाँ ही स्थित हैं ॥ ११३ ।

दृष्टः पशुपतिः प्राच्यां हरेत्पापं चिरार्जितम् ।
लिङ्गं महेश्वरक्षेत्रादिह दीप्तेशसंज्ञितम् ॥ ११४ ।
उपोमापति तिष्ठेत दीप्त्यै चेह परत्र च ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं लिङ्गं दीप्तेशं काशिमध्यगम् ॥ ११५ ।
कायारोहणतः क्षेत्रादाचार्यो नकुलीश्वरः ।
शिष्यैः परिवृतस्तिष्ठेन्महापाशुपतव्रतैः ॥ ११६ ।
दक्षिणे हि महादेवाद्दृष्टो ज्ञानं प्रयच्छति ।
अज्ञानं नाशयेत्क्षिप्रं गर्भसंसृतिहेतुकम् ॥ ११७ ।
गङ्गासागरतश्चायादमरेश इतीरितम् ।
लिङ्गं यद्दर्शनादेव नाऽमरत्वं हि दुर्लभम् ॥ ११८ ।
सप्तगोदावरीतीर्थाद्देवो भीमेश्वरः प्रभुः ।
प्रकाशते लिङ्गरूपी भुक्त्यै मुक्त्यै नृणामिह ॥ ११९ ।
नकुलीशात्पुरोभागे दृष्ट्वा भीमेश्वरं प्रभुम् ।
महाभीमानि पापानि प्रणश्यन्ति हि तत्क्षणात् ॥ १२० ।

महेश्वरक्षेत्रात्कैलासात् ॥ ११४ ।

उपोमापति उमापतेः समीपे ॥ ११५ ।

नकुलीत्यत्र लकुलीति क्वचित् । नकुलीश्वरस्य दक्षिणे भाग इत्यर्थः ॥ ११६ ।

उनके दर्शन से भी बहुत दिनों का बटोरा हुआ (संचित) पाप दूर हो जाता है। महेश्वरक्षेत्र से दीप्तेश्वरनामक लिंग उमापति के समीप में ही व्यवस्थित है। काशी के मध्य में स्थित यह दीप्तेश्वरलिंग इस लोक और परलोक में भी अन्धकार को दूर कर भोग और मोक्ष को देता है ॥ ११४-११५ ।

कायारोहण तीर्थ से आचार्य नकुलीश्वर लिंगरूप होकर महापाशुपतव्रतधारी शिष्यों के साथ महादेव के दक्षिणभाग में विराज रहे हैं। वे दर्शन करने से ज्ञान देते हैं एवं तुरंत ही गर्भ और संसारविषयक अज्ञान को नाश कर डालते हैं ११६-११७ ।

गंगासागर तीर्थ से अमरेश्वरसंज्ञक लिंग यहाँ आये हैं। उनके दर्शन से ही दुर्लभ अमरत्व प्राप्त होता है ॥ ११८ ।

सप्तगोदावरी तीर्थ से भगवान् भीमेश्वर प्रभु यहाँ मनुष्य लोगों के भोग और मोक्ष के लिये लिंगरूप से प्रकाशमान हैं ॥ ११९ ।

नकुलीश्वर के पूर्वभाग में भीमेश्वर प्रभु के दर्शन करने से बड़े भयंकर पाप भी तुरंत विनष्ट हो जाते हैं ॥ १२० ।

भूतेश्वराद् भस्मगात्रं प्रादुरासीदिह स्वयम् ।
भीमेशाद्दक्षिणे भागे तदभ्यर्च्य प्रयत्नतः ॥ १२१ ।
सम्यक् पाशुपताद्योगादभ्यस्ताच्च समाः शतम् ।
यत्प्राप्यते फलं तत्स्याद् भस्मगात्रविलोकनात् ॥ १२२ ।
नकुलीश्वरतो देवः स्वयम्भूरिति विश्रुतः ।
आत्मना प्रकटीभूतः काश्यां लिङ्गाकृतिर्हरः ॥ १२३ ।
स्वयम्भुलिङ्गं सम्पूज्य स्नात्वा सिद्धिह्रदे नरः ।
महालक्ष्मीश्वरपुरो न भूयो जन्मभाग्भवेत् ॥ १२४ ।
प्रयागतीर्थनिकषा प्रासादो विद्रुमप्रभः ।
वाराहस्य महानेष धरणीनाम्न एव हि ॥ १२५ ।
विन्ध्यपर्वततः प्राप्तो देवं श्रुत्वा समागतम् ।
सगणं सर्षिदेवं च मन्दराद्रत्नकन्दरात् ॥ १२६ ।
काश्यां धरणिवाराहो द्रष्टव्यः सप्रयत्नतः ।
आपत्समुद्रसंमग्नमुद्धरेच्छरणागतम् ॥ १२७ ।

प्रयागतीर्थनिकषा प्रयागतीर्थसमीपे । वाराहस्य सूकराकृतेः । वाराणस्यामिति क्वचित्पाठः ॥ १२५ ।

मन्दरात् समागतं श्रुत्वेत्यन्वयः ॥ १२६ ।

भूतेश्वरक्षेत्र से स्वयं भस्मगात्रनामक लिंग प्रकट हुआ है । वह भीमेश्वर के दक्षिण में शोभित है । प्रयत्नपूर्वक उसके पूजन करने से वही फल प्राप्त होता है, जो पुण्य पूर्ण रीति से सैकड़ों वर्ष पाशुपतयोग के अभ्यास करने से हो सकता है, अतएव भस्मगात्रलिंग का दर्शन करना उचित है ॥ १२१-१२२ ।

स्वयंभू नामक विख्यात लिंग नकुलीश्वर तीर्थ से आकर काशी में आप से आप प्रकट हो गया है ॥ १२३ ।

महालक्ष्मीश्वर के सन्मुख ही सिद्धिह्रद में स्नान कर जो मनुष्य स्वयंभूलिंग की पूजा करता है, वह फिर कभी जन्मभागी नहीं होता ॥ १२४ ।

प्रयागतीर्थ के समीप ही में मूँगा के समान प्रभाशाली धरणिवाराह का बड़ा शिवालय (मन्दिर) है ॥ १२५ ।

गण, ऋषि, देवमंडल के सहित रत्नकन्दर मन्दराचल से आप हीं उन्हें यहाँ आये हुए सुनकर ये विन्ध्याचल से चले आये हैं ॥ १२६ ।

काशी में धरणिवाराह का दर्शन बड़े प्रयत्न से करना चाहिए; । क्योंकि ये आपत्तिरूप समुद्र में डूबते हुए भी अपने शरणागत जन का निस्तार कर देते हैं ॥ १२७ ।

कर्णिकाराद् गणाध्यक्षः कर्णिकारप्रसूनरुक् ।
समर्च्योऽयं गदाहस्त उपसर्गसहस्रहृत् ॥ १२८ ।
तस्माद्धरणिवाराहात्प्रतीच्यां दिशि संस्थितम् ।
पूजयित्वा गणाध्यक्षं गाणपत्यपदं लभेत् ॥ १२९ ।
हेमकूटाद्विरूपाक्षं लिङ्गमत्राविरास ह ।
महेश्वरादवाच्यां च दृष्टं संसारतारकम् ॥ १३० ।
गङ्गाद्वाराद्धिमस्थेशं लिङ्गं हिमसमप्रभम् ।
ब्रह्मनालात्प्रतीच्यां च द्रष्टव्यमिह सिद्धिदम् ॥ १३१ ।
गणाधिपश्च कैलासाद् गणा अन्ये महाबलाः ।
कैलासाद्रेः समायाताः सप्तकोटिमिताः प्रभो ॥ १३२ ।
दुर्गाणि तैः कृतानीह सप्तस्वर्गसमानि च ।
सद्वाराणि सयन्त्राणि कपाटविकटानि च ॥ १३३ ।

कर्णिकारप्रसूनरुक् द्रुमोत्पलपुष्पकान्तिः ॥ १२८ ।

हेमकूटात्पर्वतात् ॥ १३० ।

सयन्त्राणि औषधिप्रयुक्तनिक्षिप्यमानशिलाद्यस्त्रविशेषसहितानि । कपाटविकटानि कपाटैर्विषमाणि सकपाटविटानि चेति पाठे विटाः पाषाणगुडकाः ॥ १३३ ।

कर्णिकार तीर्थ से करना के फूल ऐसे कान्तिमान् और सहस्रों उपसर्ग के नाशक एवं हाथ में गदा लिये हुए गणाध्यक्ष भी आ गये हैं ॥ १२८ ।

उक्त धराणिवाराह से पश्चिम दिशा में स्थित इस गणेश का पूजन करने से गणपति का पद प्राप्त होता है ॥ १२९ ।

विरूपाक्षनामक लिंग हेमकूट क्षेत्र से आकर यहाँ पर महेश्वर के दक्षिण अवस्थित रूप से व्यवस्थित है । उनके दर्शन से संसार से निस्तार हो जाता है ॥ १३० ।

गंगा (हर) द्वारपुरी (गंगाद्वार=हरद्वार=हरिद्वार) से हिम के समान प्रभावशाली हिमस्थेश्वर आये हैं । वे ब्रह्मनाल की पश्चिम ओर दर्शन से समस्त सिद्धियाँ देते हैं ॥ १३१ ।

हे प्रभो ! कैलासपर्वत से सात करोड़ बड़े बलशाली गणलोग और स्वयं गणाधिप भी आ विराजे हैं ॥ १३२ ।

उन लोगों ने सप्तस्वर्ग के समान द्वार और सिकरी, अग़री इत्यादि यंत्रों से युक्त और दृढ़ द्वारों से पूर्ण बड़े-बड़े कोट इस काशी में बनाये हैं ॥ १३३ ।

कोटिकोटिभटाट्यानि सर्वर्द्धिसहितान्यपि ।
सुवर्णरूप्यताम्रैश्च कांस्यरीतिकसीसकैः ॥ १३४ ।
अयस्कान्तेन कान्तानि दृढान्यभ्रंलिहान्यपि ।
ततः शैलं महादुर्गं तैः काशीपरितः कृतम् ॥ १३५ ।
परिखाऽपि कृता निम्ना मत्स्योदर्या जलाविला ।
मत्स्योदरी द्विधा जाता बहिरन्तश्चरा पुनः ॥ १३६ ।
तच्च तीर्थं महत्ख्यातं मिलितं गाङ्गवारिभिः ।
यदा संहारमार्गेण गङ्गाम्भः प्रसरेदिह ॥ १३७ ।
तदा मत्स्योदरीतीर्थं लभ्यते पुण्यगौरवात् ।
सूर्याचन्द्रमसोः पर्व तदा कोटिगुणं शतम् ॥ १३८ ।
सर्वपर्वाणि तत्रैव सर्वतीर्थानि तत्र वै ।
तत्रैव सर्वलिङ्गानि गङ्गामत्स्योदरी यतः ॥ १३९ ।

कोटिकोटिभटानामपरिमितयोधानामाट्यमटनं येषु तानि, तथा । भटाढ्यानीति क्वचित् । कांस्यरीतिकसीसकैः कांस्यानि च प्रसिद्धानि रीतिकाश्च आरकूटाः । स्वार्थे कः । पित्तलानीति यावत् । यदाहाऽमरः–"रीतिस्स्त्रियामारकूटो न स्त्रियाम्" इति । सीसकानि नागाः ।यदाहाऽमरः–'नागसीसकयोगेष्टप्रधानानीति तैः' ॥ १३४ ।

संहारमार्गेण प्रतिलोमवर्त्मना दक्षिणप्रवाहेणेत्यर्थः । इह मत्स्योदर्याम् ॥ १३६ ।

सूर्याचन्द्रमसोः । देवताद्वन्द्वे चेति दीर्घत्वम् । एवं मित्रावरुणदक्षिणे इत्यादिष्वपि ॥ १३८ ।

गङ्गया सह मत्स्योदरी गङ्गामत्स्योदरी । यतो यदा ॥ १३९ ।

उन कोटों में करोड़ों भट घूम सकते हैं और सब प्रकार की समृद्धियाँ भरी रहती हैं । वे सब सोना, चाँदी, (रूपा) तामा, कांसा, पीतल और सीसा के बने हुए हैं ॥ १३४ ।

अयस्कान्त के समान रमणीय और गगनस्पर्शी हैं । उनसे काशी के चारों ओर शैल के समान बड़ी कोट बन गई है ॥ १३५ ।

उस कोट में खाई भी नीचे ही नीचे मछोदरी से जल ले जाकर बना दी है । इसी से मछोदरी भीतरी और बाहरी दो प्रकार की हो गई है ॥ १३६ ।

वह गंगा में मिलने से बड़ी भारी तीर्थ हो गयी है । जब (वर्षा ऋतु में) गंगा का जल बढ़ने से यहाँ पर उलटी धारा चलने लगती है, तब अपने बड़े पुण्य बल से ही मत्स्योदरी तीर्थ मिलता है । उस काल में सूर्य और चन्द्र के ग्रहण से सैकड़ों करोड़ गुना पर्व वहाँ लग जाता है ॥ १३७-१३८ ।

जब गंगा का जल मत्स्योदरी में चला आता है, तब समस्त पर्व, समस्त तीर्थ और समस्त लिंग वहीं पर जा विराजते हैं ॥ १३९ ।

मत्स्योदर्यां हि ये स्नाता यत्र कुत्रापि मानवाः ।
कृतपिण्डप्रदानास्ते न मातुरुदरेशयाः ॥ १४० ।
अविमुक्तमिदं क्षेत्रं मत्स्याकारत्वमाप्नुयात् ।
परितः स्वर्धुनीवारि संसारि परिवीक्ष्यते ॥ १४१ ।
मत्स्योदर्यां कृतस्नाना ये नरास्ते नरोत्तमाः ।
कृत्वाऽपि बहुपापानि नेक्षन्ते भास्करेः पुरीम् ॥ १४२ ।
किं स्नात्वा बहुतीर्थेषु किं तप्त्वा दुष्करं तपः ।
यदि मत्स्योदरी स्नाता कुतो गर्भभयं ततः ॥ १४३ ।
यत्र यत्र हि लिङ्गानि नृदेवर्षिकृतान्यपि ।
तत्र मत्स्योदरीं प्राप्य सुस्नातो मोक्षभाजनम् ॥ १४४ ।

यत्र कुत्रापि यदा कदाऽपीत्यर्थः ॥ १४० ।

अविमुक्तमिति । मत्स्याकारत्वमाप्नुयात् । कदेत्याकाङ्क्षायामाह । परित इति । संसारि संसरणशीलम् ॥ १४१ ।

ततः तदा ॥ १४३ ।

तत्रेत्यत्र वीप्सा ज्ञेया ॥ १४४ ।

जो मनुष्य जहाँ कहीं हो सके मत्स्योदरी में स्नान कर पिंडदान कर सकें, वे कभी माता के उदर में शयन नहीं कर पाते हैं ॥ १४० ।

जब कि जाह्नवी का जल मत्स्योदरी में आ जाता है, तब यह अविमुक्त क्षेत्र मत्स्याकार दिखने लगता है ॥ १४१ ।

इसी वेला में जो लोग मत्स्योदरी में नहा लेते हैं, वे सब मनुष्यों में उत्तम समझे जाते हैं और बहुतेरे पापों के करने पर भी यमपुरी को नहीं देखने पाते ॥ १४२ ।

(कहाँ तक कहें) बहुत से तीर्थों में स्नान और अनेक कठोर तपस्या करने से कौन फल है, यदि मत्स्योदरी में एक बार भी स्नान कर पाते, तो फिर गर्भ का भय कहाँ है ? ॥ १४३ ।

जहाँ-जहाँ देवता, ऋषि और मनुष्यों के प्रतिष्ठित लिंग हैं, मत्स्योदरी में जाकर वहाँ पर नहा लेने से मोक्ष का पात्र हो जाता है[1] ॥ १४४ ।

---

1. (मत्स्योदरी=मछोदरी) के समीप आज भी 'हरतीरथ'=हरतीर्थ और विसेसरगंज (विश्वेश्वरगंज) महाल हैं। वे काशी में विश्वेश्वर की पुरातन महिमा का आज भी उद्घोष कर रहे हैं। पुराकाल में वहाँ चारों ओर शत-शत शिवलिङ्ग थे। (सम्पादक)

सन्ति तीर्थान्यनेकानि भूर्भुवःस्वर्गतान्यपि ।
न समानि परं तानि कोट्यंशेनाऽपि निश्चितम् ॥ १४५ ।
इत्थं तीर्थं कृतं तेन विभो कैलासवासिना ।
गणाधिपेन सुमहत्सुमहोदारकर्मणा ॥ १४६ ।
भूर्भुवःसंज्ञकं लिङ्गं पर्वताद् गन्धमादनात् ।
स्वयमाविरभूदत्र तस्मात्प्राच्यां गणाधिपात् ॥ १४७ ।
विलोक्य भूर्भुवं लिङ्गं भूर्भुवःस्वर्महःपरे ।
निवसन्ति जनाः पुण्याः सुचिरं दिव्यभोगिनः ॥ १४८ ।
हाटकेशं महालिङ्गं भोगवत्या समायुतम् ।
सप्तपातालतलत इहायातं स्वयं विभो ॥ १४९ ।
शेषवासुकिमुख्यैश्च तत्प्रासादो महानिह ।
मणिमाणिक्यरत्नौघैर्निरमायि प्रयत्नतः ॥ १५० ।

गणाधिपेन सप्तकोटिपेन ॥ १४६ ।

भूर्भुवःस्वर्महःपरे भूरादीनां लोकानामुपरि ॥ १४८ ।

भोगवत्या पातालगङ्गया ॥ १४९ ।

निरमायि निर्मितः ॥ १५० ।

यद्यपि स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में अनेक तीर्थ हैं परन्तु वे सब इसके कोटि अंश के भी समान नहीं हैं, यह बात निश्चित है ॥ १४५ ।

हे विभो ! बड़े उदारकर्मा कैलासवासी गणाधिपति ने इसी भाँति से इस तीर्थ को बहुत बड़ा बना दिया है ॥ १४६ ।

उक्त गणाधिपति के पूर्व भाग में गन्धमादन पर्वत से 'भूर्भुवः' संज्ञक लिंग आप ही यहाँ आये हैं ॥ १४७ ।

पुण्यशाली लोग भूर्भुवः लिंग का दर्शन करके भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक और महर्लोक के ऊपर जाकर बहुत समय तक दिव्य भोगों को भोगते हुए निवास करते हैं ॥ १४८ ।

हे नाथ ! हाटकेश्वर नामक महालिंग भोगवती (पातालगंगा) के सहित सातवें पाताल के तल से निकलकर यहाँ चला आया है ॥ १४९ ।

और शेष वासुकि प्रभृति मुख्य-मुख्य नागों ने मणि-माणिक्य आदि रत्नों के समूह से प्रयत्नपूर्वक उस लिंग का बड़ा भारी मन्दिर काशी में बनाया है ॥ १५० ।

तल्लिङ्गं हाटकमयं रत्नमालाभिरर्चितम् ।
ईशानेश्वरतः प्राच्यां पूजनीयं प्रयत्नतः ॥ १५१ ॥
भक्तितोऽभ्यर्च्य तल्लिङ्गं नरः सर्वसमृद्धिमान् ।
भुक्त्वा भोगानसंख्यातानन्ते निर्वाणमृच्छति ॥ १५२ ॥
आकाशात्तारकाल्लिङ्गं ज्योतीरूपमिहागतम् ।
ज्ञानवाप्याः पुरोभागे तल्लिङ्गं तारकेश्वरम् ॥ १५३ ॥
तारकं ज्ञानमाप्येत तल्लिङ्गस्य समर्चनात् ।
ज्ञानवाप्यां नरः स्नात्वा तारकेशं विलोक्य च ॥ १५४ ॥
कृतसन्ध्यादिनियमः परितर्प्य पितामहान् ।
धृतमौनव्रतो धीमान् यावल्लिङ्गविलोकनम् ॥ १५५ ॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यः पुण्यं प्राप्नोति शाश्वतम् ।
प्रान्ते च तारकं ज्ञानं यस्माज्ज्ञानाद्विमुच्यते ॥ १५६ ॥

तारकात्तारालोकात् ॥ १५३ ।

यावल्लिङ्गविलोकनं करोतीति शेषः । तावत्सर्वपापेभ्यो मुच्यते ॥ १५५ ।

यस्माज्ज्ञानान्मुच्यते तंत्तारकं ज्ञानं प्रान्ते अन्तकाले प्राप्नोति ॥ १५६ ।

यह लिंग सच्चे सोने का है, पर अनेक रत्नों की माला से भी अर्चित रहता है। ईशानेश्वर के पूर्व उस लिंग की पूजा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥ १५१ ।

मनुष्य भक्तिपूर्वक उस लिंग के पूजन करने से सब समृद्धियों से पूर्ण हो और अगणित भोगों को भोगकर अन्त में निर्वाणपद को पाता है ॥ १५२ ।

तारालोक आकाश से ज्योतीरूप तारकेश्वर नामक लिंग यहाँ पर ज्ञानवापी के सन्मुख ही आ विराजा है ॥ १५३ ।

उस लिंग के समर्चन से तारक ज्ञान प्राप्त होता है। धीमान् मनुष्य ज्ञानवापी में नहाय (नहाकर) सन्ध्यावन्दन आदि नित्यनियम और पितरों का तर्पण कर मौनव्रती हो तारकेश्वर लिंग का दर्शन करे, तो सब पापों से छूट कर अनन्तपुण्य को प्राप्त करता है । वह स्वयं अन्तसमय में तारकज्ञान ('तारक'-मन्त्रोपदेश ज्ञानात्मक मंत्रोपदेश) को पाता है । उसे पाकर वह विमुक्त हो जाता है ॥ १५४-१५६ ।

किराताच्च किरातेश इह चाविर्बभूव ह ।
किरातरूपो भगवान् यत्र देवोऽभवत्पुरा ॥ १५७ ।
तत्किरातेश्वरं लिङ्गं भारभूतेश्वरादनु ।
नमस्कृत्य नरो जातु न मातुरुदरे शयः ॥ १५८ ।
लङ्कापुर्याः समागच्छन् मरुकेश्वरसंज्ञकम् ।
लिङ्गं यदर्चनात्पुंसां न भयं रक्षसां भवेत् ॥ १५९ ।
नैर्ऋत्यां दिशि तल्लिङ्गं नैर्ऋतेश्वरसंज्ञकम् ।
पौलस्त्यराघवात्पश्चात्पूजितं सर्वदुष्टहृत् ॥ १६० ।
पुण्यं जलप्रियं लिङ्गं जललिङ्गं स्थलादपि ।
आयातं तच्च गङ्गाया जलमध्ये व्यवस्थितम् ॥ १६१ ।
तत्प्रासादोऽद्भुततरो मध्येगङ्गं निरीक्ष्यते ।
सर्वधातुमयः श्रेष्ठः सर्वरत्नमयः शुभः ॥ १६२ ।

किरातात्तीर्थादिति शेषः । देशाद्वा । किं तत्किरातं तदाह । किरातरूप इति ॥ १५७ ।

पौलस्त्यराघवात्पौलस्त्यो विभीषणस्तेन स्थापितो राघवः पौलस्त्यराघवो रामचन्द्रस्तस्मादिति ॥ १६० ।

स्थलात्स्थललिङ्गात् ॥ १६१ ।

मध्येगङ्गं गङ्गाया मध्ये ॥ १६२ ।

पूर्व में आप ने जहाँ पर किरात का रूप धारण किया था, उसी किरात तीर्थ से भगवान् किरातेश्वर यहाँ प्रकट हुए हैं ॥ १५७ ।

भारभूतेश्वर के पिछवाड़े (पीछे) उस किरातेश्वर लिंग को नमस्कार करने से मनुष्य फिर जननीजठरशायी नहीं होने पाता ॥ १५८ ।

लंकापुरी से मरुकेश्वर नामक लिंग यहाँ आया है। उसके पूजन से लोगों को राक्षसादि का भय नहीं होता ॥ १५९ ।

नैर्ऋत्य दिशा में रहने से वह लिंग नैर्ऋतेश्वर नाम से विभीषण के स्थापित पौलस्त्यराघव के पीछे की ओर पूजित होने पर सब दुष्टों का संहारक प्रसिद्ध है ॥ १६० ।

पवित्र जलप्रिय लिंग जललिंग स्थान से आकर यहाँ गंगा के जल में अवस्थित है ॥ १६१ ।

उस लिंग का अत्यन्त विचित्र, सब धातु और रत्नों से पूर्ण शिवालय गंगा के बीच में दिखाई पड़ रहा है ॥ १६२ ।

अद्याऽपि दृश्यते कैश्चित्पुण्यसंभारगौरवात् ।
श्रेष्ठं लिङ्गमिहायातं तीर्थात्कोटीश्वरादपि ॥ १६३ ।
कोटिलिङ्गेक्षणे पुण्यं तल्लिङ्गस्य निरीक्षणात् ।
श्रेष्ठं ज्येष्ठेश्वरात्पश्चाच्छ्रेष्ठसिद्धिप्रदायकम् ॥ १६४ ।
वडवा स्यात् समुद्भूतं लिङ्गमत्रानलेश्वरम् ।
नलेश्वरपुरोभागे पूजितं सर्वसिद्धिदम् ॥ १६५ ।
आगत्य विरजस्तीर्थाद्देवदेवस्त्रिलोचनः ।
लिङ्गे त्वनादिसंसिद्धे ह्यवतस्थे त्रिविष्टपे ॥ १६६ ।
पुण्ये पिलिपिलातीर्थे सर्वेषां तारकप्रदे ।
आविश्चक्रे स्वयं देव ओङ्कारोऽमरकण्टकात् ॥ १६७ ।
तदाद्यं तारकक्षेत्रं यदा गङ्गा न चागता ।
यदैवाविरभूत्काशी त्रैलोक्योद्धरणाय वै ॥ १६८ ।

कोटीश्वरात्स्थानादिति शेषः ॥ १६३ ।
वडवा स्यात् वडवानला स्यादित्यर्थः ॥ १६५ ।
विरजस्तीर्थं जाजपुरस्थनाभिगयास्थं यत्र विरजाख्या चण्डिका तस्मात् ॥ १६६ ।
अमरकण्टकात् मालवदेशान्तर्गतरेवतीरस्थात् ॥ १६७ ।
किं तत्स्वरूपं कदा वा प्रादुर्बभूव तदाह । तदाद्यं लिङ्गम् । कथंभूतम् ? तारकक्षेत्रं तारकः प्रणवः, स एव क्षेत्रम् उपलब्धिस्थानं यस्य तत्तथा ॥ १६८ ।

आज तक भी किसी-किसी को बड़ा पुण्यभार होने से उसका दर्शन हो जाता है। कोटेश्वर नामक तीर्थ से श्रेष्ठेश्वर लिंग यहाँ आकर अवस्थित हैं ॥ १६३ ।

उनके दर्शन करने से करोड़ लिंगों के दर्शन करने का पुण्यलाभ होता है। वह श्रेष्ठ सिद्धियों का दाता श्रेष्ठेश्वर लिंग ज्येष्ठेश्वर के पिछवाड़े वर्तमान है ॥ १६४ ।

बड़वानल से उत्पन्न अनलेश्वर नामक लिंग यहाँ पर नलेश्वर के आगे की ओर विराजमान है। उसकी पूजा करने से सब सिद्धयाँ प्राप्त होती हैं ॥ १६५ ।

विरजातीर्थ से आकर देवदेव भगवान् त्रिलोचन, अनादिसिद्ध त्रिविष्टप लिंग में व्यवस्थित हुए हैं ॥ १६६ ।

सब जीवों के ज्ञानदायक पवित्र पिलपिला तीर्थ पर अमरकंटक तीर्थ से आकर भगवान् ओंकारेश्वर[1] आप से आप आविर्भूत हुए हैं ॥ १६७ ।

जब कि, पहले-पहल काशी ही त्रैलोक्य के उद्धारार्थ प्रकट हुई थी, तभी से

---

1. अलईपुर मुहाल में 'ओंकारेश्वर' का मंदिर है । वाराणसी का यह उत्तरी भाग 'ओंकारेश्वरखण्ड' भी कहा जाता है। लोक में ओंकारेश्वर के मन्दिर को हुक्कालेसन का मंदिर कहते हैं। आज उस मंदिर की दशा शोभनीय नहीं है। चारों ओर से 'कबरिस्तान' से वह घिरा हुआ है। (संपादक)

तदोङ्कृतिमहल्लिङ्गं स्वयमाविरभूत्ततः ।
महिमानं न तस्याऽन्यः परिवेत्ति विभोर्ऋते ॥ १६९ ।
एतान्यायतनानीश आनिनाय महान्ति च ।
शेषयित्वांशमात्रं च तस्मिन्क्षेत्रे निजे निजे ॥ १७० ।
इहायातानि पुण्यानि सर्वभावेन नान्यथा ।
प्रासादाः सर्वतश्चैषां रम्या अभ्रंलिहा विभो ॥ १७१ ।
बहुधातुमयाश्चित्राः सर्वरत्नसमुज्ज्वलाः ।
येषां कलशमात्रस्य दर्शनान्मुक्तिराप्यते ॥ १७२ ।
श्रुत्वाऽपि नाम चैतेषां लिङ्गानां सुरसत्तम ।
अपि जन्मसहस्रोत्थाः क्षीयन्ते पापराशयः ॥ १७३ ।
इदानीं को निदेशोऽत्र मयाऽनुष्ठेय ईशितः ।
प्रसादीक्रियतां सोऽपि सिद्धो मन्तव्य एव हि ॥ १७४ ।

तदोङ्कृति प्रणवाकृति । ततस्तदा तदाकृतीति क्वचित् । यत्तदाद्यं प्रणवाद्यं तारकक्षेत्रमविमुक्तं तदाकृति क्षेत्राकृतीति तदा व्याकर्तव्यम् ॥ १६९ ।.

आयतनानि स्थानानि आनिनायेत्यहमानीतवानित्यर्थः । आगतानीति क्वचित्पाठः । स च पौनरुक्त्याद्धेयः । तस्मिन्नित्यत्र वीप्सा ज्ञातव्या ॥ १७० ।

वह तारकक्षेत्र हुआ है । गंगा तो वहाँ पर बहुत पीछे से आई हैं ॥ १६८ ।

वहीं पर वह ओंकारस्वरूप महालिंग स्वयं प्रकट हुए हैं और उस लिंग की महिमा आपको छोड़कर दूसरा कोई भी नहीं जान सकता ॥ १६९ ।

हे भगवन् ! अपने-अपने स्थानों पर अंशमात्र रखकर ये सब बड़े-बड़े पवित्र आयतन इस काशीक्षेत्र में संपूर्णभाव से लाये गये हैं । इसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है । हे नाथ ! इन सब शिवलिंगों के ये सब चारों ओर रमणीय और गगनस्पर्शी शिवालय शोभायमान हैं ॥ १७०-१७१ ।

ये सब मन्दिर विचित्र और धातुओं के बने एवं समस्त रत्नों से समुज्ज्वल हैं । इनके कलश का भी स्पर्श करने से मुक्ति मिल सकती है ॥ १७२ ।

हे सुरसत्तम ! इन लिंगों का नाम भी सुन लेने से सहस्रों जन्म की संचित पाप की राशियाँ क्षय हो जाती हैं ॥ १७३ ।

हे स्वामिन् ! अब मुझे कौन आज्ञा मिलती है, मैं उसे करूँ, अनुग्रह किया जावे तो उन सबको सिद्ध ही समझना चाहिए ॥ १७४ ।

स्कन्द उवाच—

श्रुत्वेति नन्दिनो वाक्यं देवदेवेश्वरो हरः।
श्रद्धाप्रसाद्यशैलादिमिदं प्रोवाच कुम्भज ॥ १७५ ।

श्रीदेवदेव उवाच—

साधूकृतं त्वया नन्दिन् सदानन्दविधायक ।
विधेहि मे निदेशं च चण्डीर्व्यापारयाऽधुना ॥ १७६ ।
नवकोट्यस्तु चामुण्डा या यत्र निवसन्ति हि ।
स्वदेवताभिः सहिता भूतवेतालभैरवैः ॥ १७७ ।
ताः पुरीरक्षणार्थाय सवाहनबलायुधाः ।
प्रतिदुर्गं दुर्गरूपाः परितः परिवासय ॥ १७८ ।

स्कन्द उवाच—

नन्दिनं संनिदेश्येति मृडान्या सहितो मृडः ।
ययौ त्रैविष्टपं क्षेत्रं मुक्तिबीजप्ररोहणम् ॥ १७९ ।
शिलादतनयोऽप्यैशीं मूर्द्धन्याज्ञां विधाय च ।
आहूय सर्वतो दुर्गाः प्रतिदुर्गं न्यवेशयत् ॥ १८० ।

श्रद्धाप्रसाद्यशैलादिं श्रद्धया प्रसाद्यः श्रद्धाप्रसाद्यः, स चासौ शैलादिश्च तम् । मुदा प्रसाद्येति क्वचित्पाठस्तदा स्पष्ट एवार्थः ॥ १७५ ।

ऐशीम् ईशसम्बन्धिनीम् ॥ १८० ।

स्कन्द ने कहा—

'हे कुंभज़ ! देवदेव महेश्वर नन्दी का ऐसा वचन सुनकर प्रसन्न हो, कहने लगे ॥ १७५ ।

श्री देवदेव ने कहा—

हे आनन्दविधायक नन्दिन् ! तुमने बहुत ही अच्छा काम किया, अब मेरी आज्ञा से तुम नव करोड़ चंडिकाओं को, जो-जो जहाँ-जहाँ भूत, वेताल, भैरव और अपने देवताओं के साथ रहती है, उन सबको वाहन, सेना और अस्त्र-शस्त्रों के सहित इस नगरी की रक्षा करने को ले आओ और सबको प्रत्येक दुर्गों में दुर्गारूप से चारों ओर टिका दो' ॥ १७६-१७८ ।

स्कन्द ने कहा—

भगवती पार्वती के सहित भगवान् शंकर नन्दी को यही आदेश देकर मुक्तिबीज के अंकुरस्वरूप त्रिविष्टप क्षेत्र में चले गये ॥ १७९ ।

इधर शिलाद के पुत्र नन्दी ने भी शिव की आज्ञा को शिर पर रख चारों ओर की दुर्गाओं को बुलाकर प्रत्येक दुर्गों (कोटों) में सन्निवेशित कर दिया ॥ १८० ।

निशम्याऽध्यायमेतं च पुण्यायतनगर्भिणम् ।
नरः स्वर्गापवर्गौ च प्राप्नुयाच्छ्रद्धया क्रमात् ॥ १८१ ।
श्रुत्वाऽष्टषष्टिमेतां वै महायतनसंश्रयाम् ।
न जातु प्रविशेन्मर्त्यो जनन्या जाठरीं दरीम् ॥ १८२ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डेऽष्टषष्ट्यायतनसमागमो नामैकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ।

दरीं कन्दराम् ॥ १८२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतयां काशीखण्डटीकायामेकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ।

यदि मनुष्य, श्रद्धापूर्वक पुण्य आयतनों की कथाओं से भरे हुए इस अध्याय को क्रम से सुने तो स्वर्ग और मोक्ष का भी अधिकारी होता है ॥ १८१ ।

इन अड़सठ लिंगों के विवरण से परिपूर्ण इस कथा के श्रवण करने से कोई भी प्राणी कभी माता के उदर रूप कन्दरा में प्रवेश नहीं करता ॥ १८२ ।

अड़सठ लिंगन की कथा, कही गई एहि माँहि ।
सुने पढ़े सुख देत ये, स्वर्ग मोक्ष मनचाहि ॥ १ ॥
कहे कोट जे सात हैं, वे नहिं कतहुं लखात ।
अहै मछोदरि के परे, फुटही कोट विखात ॥ २ ॥
औरहु जे टीला कइक, कतहुं कतहुं पर बाय ।
वे सब वर्णन जोग नहिं, देखिय मनहि बुझाय ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायामष्टषष्ट्यायतन-समागमो नामैकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ।

॥ अथ सप्ततितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

कात्यायनेय कथय नन्दिना विश्वनन्दिना ।
यथा व्यापारितो देव्यो देवदेवनिदेशतः ॥ १ ।
अविमुक्तस्य रक्षार्थं यत्र या देवताः स्थिताः ।
प्रसादं कुरु मे देव ताः समाचक्ष्व तत्त्वतः ॥ २ ।
इत्यगस्त्युदितं श्रुत्वा महादेवतनूद्भवः ।
कथयामास या यत्र स्थिताऽऽनन्दवने मुदा ॥ ३ ।

स्कन्द उवाच–

वाराणस्यां विशालाक्षी क्षेत्रस्य परमेष्टदा ।
विशालतीर्थं गङ्गायां कृत्वा पृष्ठे व्यवस्थिता ॥ ४ ।

अध्याये सप्ततितमे महापापापहे नृणाम् ।
देवतानामधिष्ठानं वर्ण्यतेऽतिसुखावहम् ॥ १ ॥

साधूकृतं त्वया नन्दिन्नित्यादिना विश्वेशेन चण्डीः परिवासयेत्युक्तमतस्तासां परिवसतिं श्रोतुं कार्तिकियमभ्यर्थयति । **कात्यायनेयेति** । कात्यायनी भवानी, तस्या अपत्यं कात्यायनेयस्तत्सम्बोधनं तथा ॥ १ ॥

अगस्तिशब्दोऽप्यस्ति ॥ ३ ॥

अगस्त्य ने कहा–

'हे पार्वतीनन्दन ! महादेव की आज्ञा से विश्वभर के आनन्ददाता नन्दी ने देवियों को जैसे-जैसे व्यापारित किया, उसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

हे देव ! काशीक्षेत्र की रक्षा के लिये जहाँ-जहाँ पर जो-जो देवियाँ स्थापित की गईं, कृपा करके उन सबको यथार्थ रीति पर मुझसे कहिये' ॥ २ ॥

शकंरसुवन, अगस्त्य की बात सुनकर आनन्दवन में जो-जो देवियाँ जहाँ-जहाँ पर आनन्द से विराजमान थीं, उनका वर्णन करने लगे ॥ ३ ॥

स्कन्द ने कहा–

वाराणसीपुरी में क्षेत्रमात्र की परम इष्टदात्री भगवती **विशालाक्षी** देवी अपने पिछवाड़े गंगा में **विशालनामक** तीर्थ को बनाकर व्यवस्थित हैं ॥ ४ ॥

स्नात्वा विशालतीर्थे वै विशालाक्षीं प्रणम्य च ।
विशालां लभते लक्ष्मीं परत्रेह च शर्मदाम् ॥ ५ ।
भाद्रकृष्णतृतीयायामुपोषणपरैर्नृभिः ।
कृत्वा जागरणं रात्रौ विशालाक्षीसमीपतः ॥ ६ ।
प्रातर्भोज्याः प्रयत्नेन चतुर्दशकुमारिकाः ।
अलङ्कृता यथाशक्त्या स्रगम्बरविभूषणैः ॥ ७ ।
विधाय पारणं पश्चात्पुत्रभृत्यसमन्वितैः ।
सम्यग्वाराणसीवासफलं लभ्येत कुम्भज ॥ ८ ।
तस्यां तिथौ महायात्रा कार्या क्षेत्रनिवासिभिः ।
उपसर्गप्रशान्त्यर्थं निर्वाणकमलाप्तये ॥ ९ ।
वाराणस्यां विशालाक्षी पूजनीया प्रयत्नतः ।
धूपैर्दीपैः शुभैर्माल्यैरुपहारैर्मनोहरैः ॥ १० ।
मणिमुक्ताद्यलङ्कारैर्विचित्रोल्लोचचामरैः ।
शुभैरनुपभुक्तैश्च दुकूलैर्गन्धवासितैः ॥ ११ ।

समन्वितैः सहितैः ॥ ८ ।

वाराणस्यां विशालाक्षीति । तदुक्तं मात्स्ये–

वाराणस्यां विशालाक्षी विमला पुरुषोत्तमे ।

रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने ॥इति ।

उपहारैर्बलिभिर्नैवेद्यैरित्यर्थः । उल्लोचो वितानं चन्द्रातप इति यावत् । दुकूलैः क्षौमैः ॥ ११ ।

उक्त विशालतीर्थ में स्नान कर विशालाक्षी देवी को प्रणाम करने ही से उभयलोक में मंगल देनेवाली विशाल लक्ष्मी का लाभ होता है ॥ ५ ॥

हे कुंभज ! जो लोग भादों वदी तीज को व्रत करते और रात्रि में विशालाक्षी के समीप ही जागरण करते एवं प्रातःकाल में चौदह कुमारियों को यथाशक्ति माला, वस्त्र, भूषण आदि से सुसज्जित कर प्रयत्नपूर्वक भोजन कराते हैं, फिर पीछे से अपने पुत्र, सेवक इत्यादि के साथ पारण करते हैं, वे ही पूर्ण रीति से काशीवास का फल पा सकते हैं ॥ ६-८ ।

सभी काशीवासियों को उपद्रवों के शान्त रहने और मोक्षलक्ष्मी के पाने की इच्छा से उक्त तिथि पर (अर्थात् कजरी=कजली=भाद्रकृष्णतृतीया के दिन) विशालाक्षी देवी की महायात्रा करनी चाहिए ॥ ९ ।

कहीं के भी रहने वाले विदेशियों को भी धूप, दीप, उत्तम माल्य, मनोहर उपहार, मणि, मुक्ता आदि अलंकार, विचित चँदवा, चामर तथा सुगन्ध से वासित नवीन वस्त्रादिक वस्तुओं से प्रयत्न उठाकर विशालाक्षी देवी का पूजन करना

मोक्षलक्ष्मीसमृद्ध्यर्थं यत्र कुत्र निवासिभिः ।
अत्यल्पमपि यद्दत्तं विशालाक्ष्यै नरोत्तमैः ॥ १२ ।
तदानन्त्याय जायेत मुन लोकद्वयेऽपि हि ।
विशालाक्षीमहापीठे दत्तं जप्तं हुतं स्तुतम् ॥ १३ ।
मोक्षस्तस्य परीपाको नाऽत्र कार्या विचारणा ।
विशालाक्षीसमर्चातो रूपसम्पत्तियुक्पतिः ॥ १४ ।
प्राप्यतेऽत्र कुमारीभिर्गुणशीलाद्यलङ्कृतः ।
गुर्विणीभिः सुतनयो वन्ध्याभिर्गर्भसम्भवः ॥ १५ ।
असौ भाग्यवतीभिश्च सौभाग्यं महदाप्यते ।
विधवाभिर्न वैधव्यं पुनर्जन्मान्तरे क्वचित् ॥ १६ ।
सीमन्तिनीभिः पुंभिर्वा परं निर्वाणमिच्छुभिः ।
श्रुता दृष्टाऽर्चिता काश्यां विशालक्ष्यभिलाषदा ॥ १७ ।
ततोऽन्यल्ललितातीर्थं गङ्गाकेशवसन्निधौ ।
तत्राऽस्ति ललिता देवी क्षेत्ररक्षाकरी परा ॥ १८ ।

अत्यल्पमपीत्यत्र पूर्वाऽपिशब्दस्य पूर्वेण सम्बन्धः ॥ १२ ।

पीठं स्थानम् ॥ १३ ।

परीपाकः फलम् ॥ १४ ।

अत्र काश्याम् । जगतीति वा । शीलम् आचारः ॥ १५ ।

चाहिए । हे मुनिवर ! उत्तम लोग मोक्षलक्ष्मी के सिद्ध्यर्थ विशालाक्षी के निमित्त जो बहुत-थोड़ा भी (चढ़ा) देते हैं, वह दोनों ही लोकों में अनन्त हो जाता है, उस विशालाक्षी महापीठ में जो कुछ दान, जप, हवन और स्तवन किया जाता है, उसका परिपाक मोक्ष ही होता है , इसमें तनिक भी विचार नहीं करना चाहिए । विशालाक्षी के पूजन करने से कुमारियों को गुण और शील इत्यादि से विभूषित रूपसम्पत्तिमान् पति मिलता है और गुर्विणियों को उत्तम पुत्ररत्न एवं वन्ध्याओं को भी गर्भ संभव होता है ॥ १०-१५ ।

जो स्त्रियाँ असौभाग्यवती हैं, वे बड़ी ही सौभाग्यशाली हो जाती हैं और विधवाएँ भी फिर दूसरे जन्म में कहीं भी वैधव्य दुःख को नहीं पाती हैं ॥ १६ ।

(बहुत कहाँ तक कहें) पुरुष हो अथवा स्त्री हो, जिस किसी को मुक्ति की चाह हो, काशी में विशालाक्षी के श्रवण, पूजन और दर्शन करने से उसकी सब अभिलाषाएँ सिद्ध होती हैं ॥ १७ ।

उसी के पास गंगाकेशव के समीप ही में एक ललितातीर्थ (घाट) है, जहाँ पर क्षेत्र की परम रक्षा करने वाली ललिता देवी विराजमान हैं ॥ १८ ।

सा च पूज्या प्रयत्नेन सर्वसम्पत्समृद्धये ।
ललितापूजकानां च जातु विघ्नो न जायते ॥ १९ ।
इषे कृष्णद्वितीयायां ललितां परिपूज्य वै ।
नारी वा पुरुषो वाऽपि लभते वाञ्छितं पदम् ॥ २० ।
स्नात्वा च ललितातीर्थे ललितां प्रणिपत्य वै ।
लभेत्सर्वत्र लालित्यं यद्वा तद्वाऽनुलाप्य च ॥ २१ ।
मुने विश्वभुजा गौरी विशालाक्षीपुरःस्थिता ।
संहरन्ती महाविघ्नं क्षेत्रभक्तिजुषां सदा ॥ २२ ।
शारदं नवरात्रं च कार्या यात्रा प्रयत्नतः ।
देव्या विश्वभुजाया वै सर्वकामसमृद्धये ॥ २३ ।
यो न विश्वभुजां देवीं वाराणस्यां नमेन्नरः ।
कुतो महोपसर्गेभ्यस्तस्य शान्तिर्दुरात्मनः ॥ २४ ।

इषे आश्विने ॥ २०।

लालित्यं सौभाग्यम् । यद्वा तद्वा अनुलप्य च यत्किञ्चित्स्तुत्वेत्यर्थः । यत्र तत्र स्थितोऽपि चेति क्वचित् ॥ २१ ।

शारदं शरत्सम्बन्धि । सादरमिति क्वचित् । नवरात्रं शुक्लप्रतिपदमारभ्य नवमीपर्यन्तमित्यर्थः ॥ २३ ।

सब सम्पत्तियों के समृद्ध्यर्थ बड़े प्रयत्न से उनकी पूजा करनी चाहिए; क्योंकि ललिता के पूजकों पर कभी कोई भी विघ्न नहीं पड़ सकता ॥ १९ ।

आश्विन मास की कृष्णा द्वितीया पर ललिता देवी का पूजन करने से क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभी अपने वांछित फल को पा जाते हैं ॥ २० ।

ललिताघाट पर नहाकर, ललिता देवी को प्रणाम कर जो कुछ बन पड़े स्तुति करने से सर्वत्र ही लालित्यलाभ किया जा सकता है ॥ २१ ।

हे ऋषिवर ! विशालाक्षी के सन्मुख ही विश्वभुजा गौरी स्थित हैं, जो क्षेत्र के भक्तिमान् लोगों के बड़े-बड़े विघ्नों का सदैव संहार करती रहती हैं ॥ २२ ।

आश्विन के (शादर) नवरात्र भर उनकी यात्रा बड़े परिश्रम से करनी चाहिए; क्योंकि विश्वभुजा देवी ही सब कामनाओं को सम्पन्न करती हैं ॥ २३ ।

जो मनुष्य काशी में विश्वभुजा देवी को प्रणाम नहीं करता, भला उस दुरात्मा के बड़े भारी उपद्रवों की शान्ति कैसे हो सकती है ॥ २४ ।

यैस्तु विश्वभुजा देवी वाराणस्यां स्तुताऽर्चिता ।
न हि तान् विघ्नसंघातो बाधते सुकृतात्मनः ॥ २५ ॥
अन्याऽस्ति काश्यां वाराही क्रतुवाराहसन्निधौ ।
तां प्रणम्य नरो भक्त्या विपदब्धौ न मज्जति ॥ २६ ॥
शिवदूती तु तत्रैव द्रष्टव्याऽऽपद्विनाशिनी ।
आनन्दवनरक्षार्थमुद्यच्छूलारितर्जनी ॥ २७ ॥
वज्र हस्ता तथा चैन्द्री गजराजरथास्थिता ।
इन्द्रेशाद्दक्षिणे भागेऽर्चिता सम्पत्करी सदा ॥ २८ ॥
स्कन्देश्वरसमीपे तु कौमारी बर्हियानगा ।
प्रेक्षणीया प्रयत्नेन महाफलसमृद्धये ॥ २९ ॥
महेश्वराद्दक्षिणतो देवी माहेश्वरी नरैः ।
वृषयानवती पूज्या महावृषसमृद्धिदा ॥ ३० ॥

अरितर्जनी शत्रुभर्त्सनी ॥ २७ ।

गजराजरथास्थिता गजराज ऐरावतः स एव रथस्तत्रास्थिता ॥ २८ ।

बर्हियानगा मयूररथगा । प्रेक्षणीया द्रष्टव्या । अर्चनीयेति क्वचित् ॥ २९ ।

महेश्वरादित्यत्र महेशाच्चेति क्वचित् । महावृषो महाधर्मस्तत्समृद्धिदा अनेक गोवृषसमृद्धिदा वा ॥ ३० ।

जो पुण्यात्मा जन वाराणसी पुरी में विश्वभुजा देवी की स्तुति और पूजा कर सकते हैं, उनको (कभी भी) विघ्नसमूह कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते ॥ २५ ।

काशी में यज्ञवाराह के सन्निकट एक दूसरी ही वाराही देवी हैं । मनुष्य भक्तिपूर्वक उनको प्रणाम करने ही से कभी विपत्तिसागर में नहीं डूबता ॥ २६ ।

उसी स्थान पर आपत्तिनाशिनी शिवदूती देवी का भी दर्शन करना उचित है । वे आनन्दवन की रक्षा के लिये त्रिशूल उठाकर शत्रुओं को चपेटा (डराया-धमकाया) करती हैं ॥ २७ ।

इन्द्रेश्वर से दक्षिण ओर गजराज के रथ पर आरूढ़ और हाथ में वज्र धारण किये हुए ऐन्द्री देवी हैं । वे पूजन करने ही से सदैव सम्पत्तियों को दिया करती हैं ॥ २८ ।

स्कन्देश्वर के समीप में मयूरवाहना कौमारी देवी हैं । बड़े फललाभ के लिये प्रयत्नपूर्वक उनका दर्शन करना चाहिए ॥ २९ ।

महेश्वर से दक्षिण भाग में माहेश्वरी देवी हैं, जो वृषभ के यान पर आरूढ़ रहती हैं । उनके पूजन से लोगों को परमधर्म की समृद्धि होती है ॥ ३० ।

निर्वाणनरसिंहस्य समीपे मोक्षकाङ्क्षिभिः ।
नारसिंही समर्च्या च समुद्यच्चक्ररम्यदोः ॥ ३१ ।
हंसयानवती ब्राह्मी ब्रह्मेशात्पश्चिमे स्थिता ।
गलत्कमण्डलुजलचुलका ताडिताहिता ॥ ३२ ।
ब्रह्मविद्याप्रबोधार्थं काश्यां पूज्या दिने दिने ।
ब्राह्मणैर्यतिभिर्नित्यं निजतत्त्वावबोधिभिः ॥ ३३ ।
शार्ङ्गचापविनिर्मुक्तमहेषुभिरितस्ततः ।
उत्सादयन्ती प्रत्यूहान् काश्यां नारायणीं श्रयेत् ॥ ३४ ।
प्रतीच्यां गोपिगोविन्दाद् भ्राम्यच्चक्रोच्चतर्जनीम् ।
नारायणीं यः प्रणमेत्तस्य काश्यां महोदयः ॥ ३५ ।

समुद्यच्चक्ररम्यदोः सम्यगुच्चलत्सुदर्शनमनोहरहस्ता ॥ ३१ ।

गलत्कमण्डलुजलचुलका ताडिताहिता क्षरत्कुण्डीवारिगण्डूषपातितविपक्षा ॥ ३२ ।

निजतत्त्वं ब्रह्मात्मतत्त्वम् ॥ ३३ ।

भ्राम्यच्चक्रोच्चतर्जनीं भ्राम्यच्चक्रं यस्या उच्चं तर्जनं दुष्टान् प्रति यस्याः, सा च सा च भ्राम्यच्चक्रेण उच्चा तर्जनी तर्जन्याख्या अङ्गुलिर्यस्याः, सा. तथेति वा ॥ ३५ ।

मोक्ष की आकांक्षा रखने वालों को निर्वाणनरसिंह के पास ही में उठाए हुए चक्र से सुशोभित हस्त नारसिंही देवी की अर्चना करनी उचित है ॥ ३१ ।

ब्रह्मेश्वर के पश्चिम ओर हंसयान पर आसीन ब्राह्मी देवी हैं । वे गिरते हुए कमंडलु के जल को चिल्लू में लेकर (उसी से) शत्रुओं का ताड़न करती रहती हैं ॥ ३२ ।

ब्रह्मविद्या के प्रबोधार्थ काशीपुरी में ब्राह्मण, संन्यासी और आत्मतत्त्वावबोधी लोगों को प्रतिदिन उनकी पूजा करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

काशीधाम में शार्ङ्गधनुष पर बड़े तीखे बाणों को चढ़ाकर विघ्नों को इधर-उधर फेंकनेवाली नारायणी देवी का आश्रय लेवे ॥ ३४ ।

गोपीगोविन्द से पश्चिम तर्जनी अंगुली को ऊँची करके उसमें चक्र घुमाती रहनेवाली नारायणी को जो कोई काशी में प्रणाम करता है, उसकी बड़ी ही उन्नति होती है ॥ ३५ ।

ततो गौरी विरूपाक्षीं देवयान्या उदग्दिशि ।
पूजयित्वा नरो भक्त्या वाञ्छितां लभते श्रियम् ॥ ३६ ।
शैलेश्वरी समभ्यर्च्या शैलेश्वरसमीपगा ।
तर्जयन्ती च तर्जन्या संसर्गमुपसर्गजम् ॥ ३७ ।
चित्रकूपे नरः स्नात्वा विचित्रफलदे नृणाम् ।
चित्रगुप्तेश्वरं वीक्ष्य चित्रघण्टां प्रपूज्य च ॥ ३८ ।
बहुपातकयुक्तोऽपि त्यक्तधर्मपथोऽपि वा ।
न चित्रगुप्तलेख्यः स्याच्चित्रघण्टाऽर्चको नरः ॥ ३९ ।
योषिद्वा पुरुषो वाऽपि चित्रघण्टां न योऽर्चयेत् ।
काश्यां विघ्नसहस्राणि तं सेवन्ते पदे पदे ॥ ४० ।
चैत्रशुक्लतृतीयायां कार्या यात्रा प्रयत्नतः ।
महामहोत्सवः कार्यो निशि जागरणं तथा ॥ ४१ ।

देवयानी काव्यसुता ॥ ३६ ।

संसर्गं दोषम् । उपसर्गजं उत्पातजम् ॥ ३७ ।

लेख्यो लेखनविषयः ॥ ३९ ।

तदनन्तर देवयानी के उत्तर दिशा में विरूपाक्षी गौरी की भक्तिपूर्वक पूजा करने से मनुष्य वांछित सम्पत्ति को पाता है ॥ ३६ ।

शैलेश्वर के समीप में स्थित शैलेश्वरी देवी का पूजन अवश्य ही करना चाहिए, वह अपनी तर्जनी अंगुरी (अंगुलि) से (भक्तों के) उत्पातजनित संसर्गदोष का तर्जन करती (डांटती) रहती हैं ॥ ३७ ।

जो मनुष्य विचित्र फलदायक चित्रकूप में स्नान, चित्रगुप्तेश्वर का दर्शन और चित्रघंटा देवी का पूजन कर लेता है, वह चाहे बहुतेरे पातकों से पूर्ण हो अथवा धर्ममार्ग का त्याग कर दिया हो; पर चित्रघंटा के पूजन करने से कभी चित्रगुप्त के लिखने योग्य नहीं होता (अर्थात् यमयातना में नहीं पड़ता) ॥ ३८-३९ ।

क्या नर, क्या नारी, चाहे जो हो, चित्रघंटा का पूजन न करे तो काशी में सहस्रों ही विघ्न उसे पद-पद पर धर दबाते हैं ॥ ४० ।

चैत्र मास की शुक्ला तृतीया को प्रयत्नपूर्वक उनकी यात्रा और बहुत भारी (धूमधाम से) महोत्सव एवं रात में जागरण करना चाहिए ॥ ४१ ।

महापूजोपकरणैश्चित्रघण्टां समर्च्य च ।
शृणोति नाऽन्तकस्येह घण्टां महिषकण्ठगाम् ॥ ४२ ।
चित्राङ्गदेश्वरप्राच्यां चित्रग्रीवां प्रणम्य च ।
न जातु जन्तुर्वीक्षेत विचित्रां यमयातनाम् ॥ ४३ ।
भद्रकालीं नरो दृष्ट्वा नाऽभद्रं पश्यति क्वचित् ।
भद्रनागस्य पुरतो भद्रवाप्यां कृतोदकः ॥ ४४ ।
हरसिद्धिं प्रयत्नेन पूजयित्वा नरोत्तमः ।
महासिद्धिमवाप्नोति प्राच्यां सिद्धिविनायकात् ॥ ४५ ।
विधिं सम्पूज्य विधिवद्विविधैरुपहारकैः ।
विविधां लभते सिद्धिं विधीश्वरसमीपगाम् ॥ ४६ ।
प्रयागतीर्थे सुस्नातो जनो निगडभञ्जनीम् ।
सभाजयित्वा नो जातु निगडैः परिबाध्यते ॥ ४७ ।
भौमवारे सदा पूज्या देवी निगडभञ्जनी ।
कृत्वैकभुक्तं भक्त्याऽत्र बन्दीमोक्षणकाम्यया ॥ ४८ ।

निगडो लोहशृंखलम् । सभाजयित्वा पूजयित्वा ॥ ४६ ।

एकभुक्तमेकभोजनम् । एकभक्तमिति पाठे एकान्नमित्यर्थः । बन्दी बद्धस्तस्य

और अनेक प्रकार के उपचारों से बड़ी विशाल पूजा के द्वारा **चित्रघंटा** का समर्चन करने से कोई भी यमराज के वाहन महिष के गलघंटा को नहीं सुनने पाता ॥ ४२ ।

चित्रांगदेश्वर के पूर्व ओर **चित्रग्रीवा देवी** को प्रणाम करने से कोई भी प्राणी विचित्र यमयातना को कभी नहीं देखता है ॥ ४३ ।

जो कोई **भद्रवापी** में स्नानादि कर्मों को कर **भद्रनाम** की सन्मुखवर्तिनी भगवती **भद्रकाली** का दर्शन करता है, उसे कहीं पर अभद्र का मुख नहीं देखना पड़ता ॥ ४४ ।

सिद्धिविनायक से पूर्व ओर **हरसिद्धि देवी** का पूजन जो सज्जन प्रयत्नपूर्वक करता है, उसे महासिद्धि मिलती है ॥ ४५ ।

विधीश्वर की समीपवासिनी **विधिदेवी** का विविध उपहारों से विधिपूर्वक पूजन करे, तो विविध भाँति की सिद्धि को पाता है ॥ ४६ ।

प्रयाग घाट पर स्नान कर जो कोई **निगडभंजनी बन्दीदेवी** का समर्चन कर लेता है, वह मनुष्य कदापि (लोहे की) बेड़ियों से नहीं बाँधा जाता, उसे बन्दी नहीं बनना पड़ता ॥ ४७ ।

(बन्धुआ, कैदी) मनुष्य के छुटकारा पाने की इच्छा से प्रत्येक मंगलवार को भक्तिपूर्वक केवल एक ही बार भोजन करके काशी में **निगडभंजनी** देवी का पूजन करना उचित है ॥ ४८ ।

संसारबन्धविच्छित्तिमपि यच्छति सार्चिता ।
गणनाशृङ्खलादीनां का च तस्याः समर्चनात् ॥ ४९ ।
दूरस्थोऽपि हि यो बन्धुः सोऽपि क्षिप्रं समेष्यति ।
बन्दीपदजुषां पुंसो श्रद्धया नाऽत्र संशयः ॥ ५० ।
किञ्चिन्नियममालम्ब्य यदि सा परिषेविता ।
कामान् पूरयति क्षिप्रं काशीसन्देहहारिणी ॥ ५१ ।
घनटङ्ककरा देवी भक्तबन्धनभेदिनी ।
कं कं न पूरयेत्कामं तीर्थराजसमीपगा ॥ ५२ ।
देवी पशुपतेः पश्चादमृतेश्वरसन्निधौ ।
स्नात्वा चैवाऽमृते कूपे नमनीया प्रयत्नतः ॥ ५३ ।

मोक्षणकाम्यया । यद्वा बन्दीति तस्या नाम । अत एव वक्ष्यति–बन्दीपदजुषामिति ॥ ४८ ।

काशीसन्देहहारिणी सन्देहः संशयः काशीमरणेन मुक्तिर्भवति न वेत्यादिरूपः । संदंशेति पाठे संदंश इव संदंशो विघ्नस्तद्धारिणी ॥ ५१ ।

घनटङ्ककरा मुद्गरटङ्कहस्ता । टङ्कं टाकीति प्रसिद्धम् । तीर्थराजः प्रयागः ॥ ५२ ।

क्योंकि वह देवी पूजित हो जाने पर संसार के बन्धनों को भी काट डालती हैं, फिर उनके पूजन से बेड़ी आदि की कौन गिनती है ? ॥ ४९ ।

काशी में जो लोग श्रद्धापूर्वक बन्दीदेवी के चरणसेवक हैं, उनका कोई बन्धु परदेश में बन्दी हो गया हो तो वह भी निःसन्देह छूट जाता है ॥ ५० ।

यदि कुछ भी नियम धारण करके काशी में सन्देह को दूर करने वाली बन्दी-देवी का सेवन किया जाय, तो वह सभी मनोरथों को परिपूर्ण कर देती हैं ॥ ५१ ।

हाथों में घन (मुद्गर) और टाँकी को धारण किये हुई और भक्त लोगों के बन्धन को काटनेवाली एवं तीर्थराज की समीपवासिनी भगवती बन्दीदेवी किन-किन कामनाओं को नहीं पूर्ण करतीं ? ॥ ५२ ।

यैर्वन्द्यते बन्दिपदारविन्दममन्दवृन्दारकवृन्दवन्द्यम् ।
तवाम्ब ! ते बन्धत मा भवन्ति कुलेश्वरि ! त्वामहमद्य वन्दे ॥ १ ॥

पशुपतीश्वर के पीछे अमृतेश्वर के पास अमृतेश्वरी देवी हैं, परिश्रम उठाकर अमृतकूप में नहाने पर उनका दर्शन करना चाहिये ॥ ५३ ।

पूजयित्वा नरो भक्त्या देवताममृतेश्वरीम् ।
अमृतत्वं भजेदेव तत्पादाम्बुजसेवनात् ॥ ५४ ।
धारयन्तीं महामायाममृतस्य कमण्डलुम् ।
दक्षिणेऽभयदां वामे ध्यात्वा को नाऽमृतत्वभाक् ॥ ५५ ।
सिद्धलक्ष्मी जगद्धात्री प्रतीच्याममृतेश्वरात् ।
प्रपितामहलिङ्गस्य पुरतः सिद्धिदाऽर्चिता ॥ ५६ ।
प्रासादं सिद्धलक्ष्म्याश्च विलोक्य कमलाकृतिम् ।
लक्ष्मीविलाससंज्ञं च को न लक्ष्मीं समाप्नुयात् ॥ ५७ ।
ततः कुब्जा जगन्माता नलकूबरलिङ्गतः ।
पूजनीया पुरोभागे प्रपितामहपश्चिमे ॥ ५८ ।
उपसर्गानशेषांश्च कुब्जा हरति पूजिता ।
तस्मात्कुब्जा प्रयत्नेन पूज्या काश्यां शुभार्थिभिः ॥ ५९ ।

दक्षिणे वामे हस्ते इति शेषः । अभयदामिति च्छेदः ॥ ५५ ।

सिद्धलक्ष्मीत्यत्र सिद्धिलक्ष्मीति क्वचित् ॥ ५६ ।

उपसर्गान् उत्पातान् ॥ ५९ ।

जो पुरुष भक्तिभाव से **अमृतेश्वरी** देवी का पूजन तथा उनके चरणारविन्द का सेवन करता है, उसे अवश्य ही अमृतत्वप्राप्त हो जाता है ॥ ५४ ।

दाहिने हाथ में अमृत का घड़ा धारण करने वाली तथा बायें हाथ से अभय देने वाली उस महामाया का ध्यान करने से कौन अमृतत्व का भागी नहीं होता ? ॥ ५५ ।

उसी **अमृतेश्वर** से पश्चिम ओर **प्रपितामहेश्वर** लिंग के आगे ही जगन्माता **सिद्धिलक्ष्मी** देवी विराजमान हैं, पूजन करने से वे सब सिद्धियों को देती हैं ॥ ५६ ।

सिद्धिलक्ष्मी का कमल के आकार का **लक्ष्मीविलास** नामक मन्दिर है । उसके देखने ही से किसे नहीं लक्ष्मी मिलती ? ॥ ५७ ।

प्रपितामहेश्वर के पश्चिम ओर नलकूबरेश्वर के सन्मुख ही जगज्जननी **कुब्जा देवी** का पूजन करना चाहिए ॥ ५८ ।

क्योंकि पूजा करने से **कुब्जा देवी** समस्त उत्पातों को दूर भगा देती हैं । इसलिये कल्याण चाहने वालों को काशी में बड़े यत्न से कुब्जा देवी की अर्चना करनी योग्य है ॥ ५९ ।

कुब्जाम्बरेश्वरं लिङ्गं नलकूबरपश्चिमे ।
त्रिलोकसुन्दरी गौरी तत्राऽर्च्याऽभीष्टदायिनी ॥ ६० ॥
त्रिलोकसुन्दरी सिद्धिं दद्यात्त्रैलोक्यसुन्दरीम् ।
वैधव्यं नाऽऽप्यते क्वाऽपि तस्या देव्याः समर्चनात् ॥ ६१ ॥
दीप्ता नाम महाशक्तिः साम्बादित्यसमीपगा ।
देदीप्यमानलक्ष्मीका जायन्ते तत्समर्चनात् ॥ ६२ ॥
श्रीकण्ठसन्निधौ देवी महालक्ष्मीर्जगज्जनिः ।
स्नात्वा श्रीकुण्डतीर्थे तु समर्च्या जगदम्बिका ॥ ६३ ॥
पितॄन् सन्तर्प्य विधिवत्तीर्थे श्रीकुण्डसंज्ञिते ।
दत्वा दानानि विधिवन्न लक्ष्म्या परिमुच्यते ॥ ६४ ॥
लक्ष्मीक्षेत्रं महापीठं साधकस्यैव सिद्धिदम् ।
साधकस्तत्र मन्त्रांश्च[1] नरः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ६५ ॥
सन्ति पीठान्यनेकानि काश्यां सिद्धिकराण्यपि ।
महालक्ष्मीपीठसमं नान्यल्लक्ष्मीकरं परम् ॥ ६६ ॥

देदीप्यमानलक्ष्मीका अतिशयप्रकाशमानकान्तयः ॥ ६२ ॥

नलकूबरेश्वर से पश्चिम **कुब्जांबरेश्वर** नामक लिंग है, उसी स्थान पर अभीष्टदायिनी **त्रैलोक्यसुन्दरी गौरी** परमपूजनीय हैं ॥ ६० ॥

त्रैलोक्यसुन्दरी देवी त्रैलोक्य भर की सुन्दर सिद्धियों को देती हैं। उस देवी की पूजा करने से कभी वैधव्य नहीं होने पाता है ॥ ६१ ॥

साम्बादित्य के पास में (सूर्यकुंड पर) दीप्तानाम महाशक्ति हैं, उनके पूजन से लोग लक्ष्मी की ओर से देदीप्यमान हो जाते हैं ॥ ६२ ॥

श्रीकंठेश्वर के निकट में जगद्धात्री **महालक्ष्मी** देवी हैं, लक्ष्मीकुंड नामक (उनके) तीर्थ में नहाकर उन जगदम्बिका का पूजन करना चाहिए ॥ ६३ ॥

उस **लक्ष्मीकुंड** नामक तीर्थ में विधिपूर्वक पितरों का तर्पण और विविध दानों के करने से मनुष्य सदैव लक्ष्मीवान् बना रहता है ॥ ६४ ॥

साधकों का परमसिद्धिप्रद **लक्ष्मीक्षेत्रनामक महापीठ है**, जो मनुष्य वहाँ पर मंत्रों की साधना करता है, वह अनायास ही सिद्धि को पा जाता है ॥ ६५ ॥

यद्यपि काशीपुरी में सिद्धि देने वाले अनेक पीठ हैं, पर महालक्ष्मीपीठ के समान परमलक्ष्मीकारक दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ६६ ॥

---

1. मन्त्रस्येति क्वचित्पाठः ।

महालक्ष्म्यष्टमीं प्राप्य तत्र यात्राकृतां नृणाम् ।
सम्पूजितेह विधिवत् पद्मा सद्म न मुञ्चति ॥ ६७ ।
उत्तरे तु महालक्ष्म्या हयकण्ठी कुठारधृक् ।
काशीविघ्नमहावृक्षांश्छिनत्ति प्रतिवासरम् ॥ ६८ ।
कौर्मीशक्तिर्महालक्ष्मीर्दक्षिणे पाशपाणिका ।
बध्नाति विघ्नसंघातं क्षेत्रस्याऽस्य प्रतिक्षणम् ॥ ६९ ।
सा पूजिता स्तुता मर्त्यैः क्षेत्रसिद्धिं प्रयच्छति ।
वायव्यां च शिखीचण्डी क्षेत्ररक्षाकरी परा ॥ ७० ।
खादन्ती विघ्नसंघातं शिखीशब्दं करोति च ।
तस्याः सन्दर्शनात्पुंसां नश्यन्ति व्याधयोऽखिलाः ॥ ७१ ।
भीमचण्ड्युत्तरद्वारं सदा रक्षेदतन्द्रिता ।
भीमेश्वरस्य पुरतः पाशमुद्‌गरधारिणीम् ॥ ७२ ।
भीमचण्डीं नरो दृष्ट्वा भीमकुण्डे कृतोदकः ।
भीमाकृतीन्न वै पश्येद्याम्यान् दूतान् क्वचित्कृती ॥ ७३ ।
छागवक्त्रेश्वरी देवी दक्षिणे वृषभध्वजात् ।
अहर्निशं भक्षयति विघ्नौघतरुपल्लवान् ॥ ७४ ।

पल्लवान् पत्राणि क्षुद्रशाखा वा ॥ ७४ ।

(कुआर वदी) महालक्ष्मी की अष्टमी पर वहाँ की यात्रां करने वालों के घर को विधिवत् पूजित होने से महालक्ष्मी देवी काशी में कभी नहीं छोड़ती हैं ॥ ६७ ।

महालक्ष्मी के उत्तर ओर कुठारधारिणी **ह्यकंटी** देवी हैं । वे प्रतिदिन काशी में विघ्नरूपी बड़े-बड़े पेड़ों को काटती ही रहती हैं और दक्षिण में **कौर्मीशक्ति महालक्ष्मी** हाथ में पाश धारण की हुई विराजमान हैं तथा प्रतिक्षण इस क्षेत्र के विघ्न वर्ग को (उसी से) बाँधा करती हैं ॥ ६८-६९ ।

मनुष्यगण उनका पूजन करने से क्षेत्र की सिद्धि को पाते हैं । यों ही क्षेत्र की परमरक्षा करंने वाली **शिखिचंडी देवी** वायव्यकोण में रहती हैं । ७० ।

वे मोर की तरह पिहिकती हुई विघ्न (रूपी सर्पों) के झुंड को खाती रहती हैं । उनके दर्शन से लोगों की समस्त व्याधियाँ विनष्ट हो जाती हैं ॥ ७१ ।

भीमेश्वर के सन्मुख ही पाश और मुद्‌गर को धारण कर **भगवती भीमचंडी देवी** निरालसतापूर्वक (क्षेत्र के) उत्तरद्धार की सदैव रक्षा करती रहती हैं ॥ ७२ ।

जो मानव **भीमकुंड** में स्नानादि कर्मों को कर **भीमचंडी** देवी का दर्शन करता है, वह पुण्यात्मा भीमाकार यमराज के दूतों को कभी नहीं देखने पाता ॥ ७३ ।

वृषभध्वज के दक्षिण भाग में **छागवक्त्रेश्वरी देवी** हैं । वे विघ्नौघरूपी तरुपल्लवों को चबाती रहती हैं ॥ ७४

तस्या देव्याः प्रसादेन काशीवासः प्रलभ्यते ।
अतश्छागेश्वरीं देवीं महाष्टम्यां प्रपूजयेत् ॥ ७५ ।
तालजङ्घेश्वरी देवी तालवृक्षकृतायुधा ।
उत्सादयति विघ्नौघानानन्दवनमध्यगान् ॥ ७६ ।
सङ्गमेश्वरलिङ्गस्य दक्षिणे विकटाननाम् ।
तालजङ्घेश्वरीं नत्वा न विघ्नैरभिभूयते ॥ ७७ ।
उद्दालकेश्वराल्लिङ्गात्तीर्थे उद्दालकाऽभिधे ।
याम्यां च यमदंष्ट्राख्या चर्वयेद्विघ्नसंहतिम् ॥ ७८ ।
प्रणता यमदंष्ट्रा यैस्तीर्थे चोद्दालकाऽभिधे ।
कृत्वाऽपि पापसंघातं न यमाद्‌बिभ्यतीह ते ॥ ७९ ।
दारुकेश्वरतीर्थे तु दारुकेशसमीपतः ।
पातालतालुवदनामाकाशोष्ठीं धराधराम् ॥ ८० ।
कपालकर्त्रीहस्तां च ब्रह्माण्डकवलप्रियाम् ।
शुष्कोदरीं स्नायुबद्धां चर्ममुण्डेति विश्रुताम् ॥ ८१ ।

महाष्टम्यामाश्विनशुक्लायाम् ॥ ७५ ।

विघ्नसंहतिं विघ्नसमूहम् ॥ ७८ ।

आकाशोष्ठीमाकाशोर्ध्वोष्ठीमित्यर्थः । धराधरां पृथ्व्यधरोष्ठामित्यर्थः ॥ ८० ।

कर्त्री छुरिका । स्नायुनद्धां स्नाय्वावसयामांसप्रभवधातुविशेषेणेति यावत् । नद्धां

उन्हीं देवी की प्रसन्नता से काशी में वास मिल सकता है । अतएव (कुआर सुदी=आश्विनशुक्ल) महाष्टमी को उन्हीं का पूजन करना चाहिए ॥ ७५ ।

संगमेश्वर के दक्षिणभाग में विकटानना और ताड़ के पेड़ का शस्त्र धारण किये हुए, तालजंघेश्वरी देवी हैं । वे आनन्दवन के बीच में रहनेवाले विघ्नरूप वृक्षसमूहों को उखाड़ डालती हैं । उस तालजंघेश्वरी को प्रणाम करने से किसी प्रकार के विघ्नों से दबना नहीं पड़ता ॥ ७६-७७ ।

उद्दालक तीर्थ पर उद्दालकेश्वर लिंग के दक्षिण ओर यमदंष्ट्रा नाम देवी हैं । वे विघ्नराशि को चबा डालती हैं ॥ ७८ ।

उद्दालक तीर्थ पर जिन लोगों ने यमदंष्ट्रा देवी को प्रणाम किया, वे बड़े से बड़े पापों के करने पर भी यहाँ पर यमराज से तनिक भी नहीं डरते हैं ॥ ७९ ।

दारुकेश्वर तीर्थ पर दारुकेश्वर के समीप ही में चर्ममुंडानाम्नी प्रसिद्ध देवी हैं । उनका तालु और मुख तो पाताल में एवं ऊपर का ओठ आकाश में और अधर पृथिवी में अवस्थित है । वह ब्रह्माण्डमात्र को कवर भर में=एक ग्रास में(खा

क्षेत्रस्य पूर्वदिग्भागं रक्षन्ती विघ्नसंघतः ।
लसत्सहस्रदोर्दण्डां ज्वलत्केकरवीक्षणाम् ॥ ८२ ।
पारावारप्रसृमरहस्तन्यस्तारिमोदकाम् ।
द्वीपिकृत्तिपरीधानां कटुकाट्टाट्टहासिनीम् ॥ ८३ ।
मृणालनालवत्तीव्रं चर्वन्तीमस्थि पापिनः ।
शूलाग्रप्रोतदुर्वृत्तक्षेत्रद्रोहिकलेवराम् ॥ ८४ ।
कपालमालाभरणां महाभीषणरूपिणीम् ।
चर्ममुण्डां नरो नत्वा क्षेत्रविघ्नैर्न बाध्यते ॥ ८५ ।
यथैव चर्ममुण्डैषा महारुण्डाऽपि तादृशी ।
एतावानेव भेदोऽस्या रुण्डस्रग्भूषणा त्वियम् ॥ ८६ ।
क्षेत्ररक्षां प्रकुरुत उभे देव्यौ महाबले ।
हसन्त्यौ करतालीभिरन्योऽन्यं दोः प्रसारणात् ॥ ८७ ।

बद्धाम् । दुष्टानां मांसादिभक्षणेन तेन व्याप्तामित्यर्थः ॥ ८१ ।

लसन्तः सहस्रमपरिमिता दोर्दण्डा यस्यास्ताम् । ज्वलन्ति केकराणि तिर्यग्गतानि वीक्षणानि नेत्राणि यस्यास्ताम् । ऐकपद्यपाठे कर्मधारयः ॥ ८२ ।

मुण्डस्रग्भूषणा कबन्धमालाभरणा । यदाहाऽमरः—"कबन्धो रुण्डमस्त्रियाम्" इति ॥ ८६ ।

दोः प्रसरणाद्धस्तप्रसरणात् ॥ ८७ ।

लिया) चाहती हैं। उनका पेट सुखठा और वसाओं से देह भरी हुई है। वह क्षेत्र के पूर्वभाग को विघ्नों के समूह से बचाया करती हैं। उनके हाथों में खोपड़ी और छूरी (कतरनी) रहती है। सहस्रों भुजाओं से जाज्वल्यमान और तिरछी आँखों से शोभायमान हैं ॥ ८०-८२ ।

वह समुद्र तक फैलने वाले अपने हाथों में शत्रुरूप मोदक (लड्डुआ) रखे रहती हैं और उनका पहनावा बाघ के चमड़े का रहता है एवं वह बड़ा कठोर अट्टहास करती रहती हैं ॥ ८३ ।

त्रिशूल के अग्रभाग में गोदे हुए दुरात्मा क्षेत्रद्रोहियों का शरीर और पापियों की हड्डी को वह मृणाल के नाल की तरह (सुख से) चबाया करती हैं ॥ ८४ ।

उनका भूषण मुंडमाला और स्वरूप बड़ा ही भयंकर है। उक्त **चर्ममुंडा देवी** को प्रणाम करने से मनुष्य क्षेत्र के विघ्नों से पीड़ित नहीं होने पाता ॥ ८५ ।

जैसी यह **चर्ममुंडा देवी** हैं, वैसी ही एक **महारुण्डा देवी** भी हैं। इनमें इतना ही भेद है कि यह तो मुंडमालाधारी हैं और यह रुण्ड (धड़) की माला से विभूषित रहती हैं ॥ ८६ ।

ये दोनों ही परमबलशालिनी देवियाँ परस्पर अपने हाथों को फैलाकर करतालियों से हँसती हुई क्षेत्र की रक्षा करती रहती हैं ॥ ८७ ।

हयग्रीवेश्वरे तीर्थे लोलार्कादुत्तरे सदा ।
महारुण्डा प्रचण्डाऽऽस्या तिष्ठते भक्तविघ्नहृत् ॥ ८८ ।
चर्ममुण्डा महारुण्डा कथिते ये तु देवते ।
तयोरन्तरतस्तिष्ठेच्चामुण्डा मुण्डरूपिणी ॥ ८९ ।
एतास्तिस्रः प्रयत्नेन पूज्या क्षेत्रनिवासिभिः ।
धनधान्यप्रदाश्चैताः पुत्रपौत्रप्रदा इमाः ॥ ९० ।
उपसर्गा न मूर्ध्नन्ति दद्युर्नैःश्रेयसीं श्रियम् ।
स्मृता दृष्टा नताः स्पृष्टाः पूजिताः श्रद्धया नरैः ॥ ९१ ।
महारुण्डाप्रतीच्यां च देवी स्वप्नेश्वरी शुभा ।
भविष्यं कथयेत्स्वप्ने भक्तस्याऽग्रे शुभाऽशुभम् ॥ ९२ ।
तत्र स्वप्नेश्वरं लिङ्गं देवीं स्वप्नेश्वरीं तथा ।
स्नात्वाऽसिसङ्गमे पुण्ये यस्मिन्कस्मिंस्तिथावपि ॥ ९३ ।
उपोषणपरो धीमान्नारी वा पुरुषोऽपि वा ।
सम्पूज्य स्थण्डिलशयः स्वप्ने भावि विलोकयेत् ॥ ९४ ।
अद्याऽपि प्रत्ययस्तत्र कार्य एष विजानता ।
भूतं भावि भवत्सर्वं वदेत्स्वप्नेश्वरी निशि ॥ ९५ ।

मुण्डैः कृत्वा रूपं वर्तते यस्याः सा मुण्डरूपिणी । चण्डरूपिणीति क्वचित् ॥ ८९ ।
अमूः इमाः । नैःश्रेयसीं कैवल्याख्याम् ॥ ९१ ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ।

हयग्रीवेश्वर तीर्थ पर लोलार्क से उत्तर ओर भक्तविघ्नहारिणी प्रचण्डानना महारुण्डा देवी सदैव वास करती हैं ॥ ८८ ।

ये दोनों चर्ममुण्डा और महारुण्डा नाम की जो देवियाँ कही गई हैं, इन्हीं दोनों के बीच में मुण्डरूपिणी एक चामुण्डा देवी भी हैं ॥ ८९ ।

क्षेत्रनिवासियों को उचित है कि, इन तीनों ही देवियों का पूजन प्रयत्नपूर्वक करें; क्योंकि ये ही तीनों धन, धान्य और पुत्र-पौत्रों को देती हैं ॥ ९० ।

ये सब देवियाँ लोगों के श्रद्धापूर्वक पूजन, दर्शन,स्पर्शन, नमन और स्मरण करने ही से उपद्रवों का नाश और मुक्तिश्री का दान करती हैं ॥ ९१ ।

पूर्वोक्त महारुण्डा देवी की पश्चिम ओर एक शुभमयी स्वप्नेश्वरी देवी हैं, जो स्वप्नावस्था में भक्त के सन्मुख भविष्य के शुभाशुभ को कह देती हैं ॥ ९२ ।

चाहे जिस दिन हो, पवित्र असिसंगम पर नहाकर स्वप्नेश्वरी देवी और वहीं पर स्वप्नेश्वर लिंग का पूजन करके पुरुष हो अथवा स्त्री हो, उपवास धारणपूर्वक स्थंडिल में (भूमि पर) शयन करे, तो वह बुद्धिमान् होने वाली बातों को स्वप्न में देखता है ॥ ९३-९४ ।

जानकार जन को आज तक भी इस विषय में विश्वास ही करना चाहिए कि, रात में स्वप्नेश्वरी देवी भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ कह देती हैं ॥ ९५ ।

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां नवम्यां निशि वा दिवा ।
प्रयत्नतः समर्च्या सा काश्यां ज्ञानार्थिभिर्नरैः ॥ ९६ ।
स्वप्नेश्वर्याश्च वारुण्यां दुर्गादेवी व्यवस्थिता ।
क्षेत्रस्य दक्षिणं भागं सा सदैवाऽभिरक्षति ॥ ९७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे देवताऽधिष्ठानं नाम सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

काशीपुरी में ज्ञानार्थी लोगों को अष्टमी, चतुर्दशी और नवमी के दिन अथवा रात में उस देवी की प्रयत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिए ॥ ९६ ।

उसी स्वप्नेश्वरी देवी के पश्चिम भाग में दुर्गा देवी विराजमान हैं । वे सदैव क्षेत्र के दक्षिण भाग की रक्षा करती रहती हैं ॥ ९७ ।

इन देविन में मुख्य जो, अन्नपूरना मात ।
तेहिकर नाम मिल्यो नहीं, बुद्धि मोर चकरात ॥ १ ॥
पंडितजन यहि विषय को, ढूंढैं भले विचार ।
काशी को "अन्नपूरना छत्र" नाम उँजियार ॥ २ ॥
महारानी अनपूरना, विश्वनाथ महराज ।
काशी के ये मुख्य हैं, ढुंढिराज-युवराज ॥ ३ ॥
कासों कारन पूछिये, कौन कहै समुझाय ? ।
रहत पार में व्यास जी, ओहु न देत बताय ॥ ४ ॥
वालमीक ने नहिं कहयो, "रामचन्द्र" अस नाम ।
व्यासहु की ओही दशा, कहे न "राधा" श्याम ॥ ५ ॥
तैसहि काशीखंड में, अन्नपूरना नाम ।
कतहुं देखाई पड़त नहिं, कारन जानै राम ॥ ६ ॥
अन्नपूरना देत हैं, सबको भोजन खोज ।
है प्रसिद्ध यहि कासि में, होत छत्र में भोज ॥ ७ ॥
"स्वयं पंचाननः पुत्रौ गजाननषडाननौ ।
दिगंबरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद्गृहे ?" ॥ ८ ॥

[प्राचामुक्तिः]

"पंचानन शिव के सुवन, षण्मुख गजमुख नाम" ।
होति न घर अनपूरना, सरत कवन विधि काम" ॥ ९ ॥
विनु वस्तर नग्न सदाहि रहैं, विष व्याल कपाल धरे विचरैं ।
नित भंग उड़ावत पंच मुखै, सगरो जग घूमत नांचि फिरैं ।
षटआनन और गजानन जू, सुत दोउन को निज संग धरैं ।
वृष वाहन जीयत कौन विधी ? अनपूरना जो नहिं होति घरैं ॥ १० ॥

(श्लोकानुवाद)

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां देवीस्थानवर्णनं नाम सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ।

॥ अथैकसप्ततितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

कथं दुर्गेति वै नाम देव्या जातमुमासुत ।
कथं च काश्यां सा सेव्या समाचक्ष्वेति मामिह ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

कथयामि महाबुद्धे यथा कलशसम्भव ।
दुर्गा नामाऽभवद्देव्या यथा सेव्या च साधकैः ॥ २ ।
दुर्गो नाम महादैत्यो रुरुदैत्यां गजोऽभवत् ।
यश्च तप्त्वा तपस्तीव्रं पुंभ्यो जेयत्वमाप्तवान् ॥ ३ ।
ततस्तेनाऽखिला लोका भूर्भुवः स्वर्मुखा अपि ।
स्वसात्कृता विनिर्ज्जित्य रणे स्वभुजसारतः ॥ ४ ।

अथैकसप्ततितमेऽध्यायेऽत्यन्तमनोरमे ।
दुर्गनाम्नोऽसुरेन्द्रस्य वर्ण्यतेऽतिपराक्रमः॥ १ ।

पूर्वाऽध्यायान्ते दुर्गादेवी व्यवस्थितेत्युक्तं तत्र पृच्छति । **कथं दुर्गेतीति** ॥ १ ।

यश्चेत्यत्र यत इति पाठे प्रथमान्तात्तसिल् ॥ ३ ।

स्वसात्कृता आत्माधीनाः कृताः । **स्वभुजसारतः** स्वीयहस्तबलेन ॥ ४ ।

(दुर्गासुर और देवी का युद्ध)

अगस्त्य ने पूछा–

हे उमानन्दन ! देवी का दुर्गा नाम क्यों पड़ा ? और काशी में उनका सेवन कैसे करना चाहिए ? इन बातों को मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ।

स्कन्द ने उत्तर दिया–

हे महामते ! कुंभयोने ! जैसे देवी का दुर्गा नाम पड़ा और साधक लोगों को जैसे उनका सेवन करना उचित है, वह (सब) कहता हूँ ॥ २ ।

रुरुदैत्य के पुत्र, दुर्गनामक महादैत्य ने कठोर तपस्या करके पुरुषों से ('नर' जाति से–वह चाहे मनुष्य हो, देव-गन्धर्व-चक्षादि हो या नाग आदि हो) अजेय होने का वरदान प्राप्त किया ॥ ३ ।

फिर तो उसने अपनी भुजाओं के पराक्रम से संग्राम में जीतकर भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्ग आदि लोकों को अपने आधीनं कर लिया ॥ ४ ।

स्वयमिन्द्रः स्वयं वायुः स्वयं चन्द्रः स्वयं यमः ।
स्वयमग्निः स्वयं पाशी धनदोऽभूत्स्वयं बली ॥ ५ ॥
स्वयमीशानरुद्रार्कवसूनां पदमाददे ।
तत्साध्वसाद्विमुक्तानि तपांस्यतितपस्विभिः ॥ ६ ॥
न वेदाध्ययनं चक्रुर्ब्राह्मणास्तद्भयार्दिताः ।
यज्ञवाटा विनिर्ध्वस्तास्तद्भटैरतिदुःसहैः ॥ ७ ॥
विध्वस्ता बहुशः साध्व्यस्तैरमार्गकृतास्पदैः ।
प्रसभं च परस्वानि अपहृत्य दुरासदाः ॥ ८ ॥
अभोक्षिषुर्दुराचाराः क्रूरकर्मपरिग्रहाः ।
नद्यो विमार्गगा आसन् ज्वलन्ति न तथाऽग्नयः ॥ ९ ॥
ज्योतींषि न प्रदीप्यन्ति तद्भयाकुलितान्यहो ।
दिग्वधूवसनान्यासन् विच्छायानि समन्ततः ॥ १० ॥

स्वयमीशानेत्यत्र तथा निर्ऋतीति क्वचित् । तपांस्यतीत्यत्र तपांस्यपीति क्वचित् ॥ ६ ।

यज्ञवाटा यज्ञस्थानानि ॥ ७ ।

अमार्गकृतास्पदैः पाखण्डमार्गकृताश्रयैः । अमार्गकृतादरैरिति क्वचित् । प्रसभं बलात्कारेण । दुरासदा दुर्गम्याः ॥ ८ ।

अभोक्षिषुर्बुभुजुः । अरिक्षिषुरिति वा पाठः । क्रूरकर्माणः परिग्रहा भृत्याद्याः । क्रूरकर्मणां वा परिग्रहो येषां ते तथा ॥ ९ ।

वसनानि वस्त्राणि । वदनानीति क्वचित् । विच्छायानि विगतकान्तीनि ॥ १० ।

उस महाबली दैत्य ने आप ही इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण, यम, अग्नि, कुबेर, ईशान, रुद्र, सूर्य और वसुगण का पदाधिकार ले लिया (और वही सब का काम करने लगा) । उसके डर से बड़े-बड़े तपस्वियों ने भी तपस्या करना छोड़ दिया ॥ ५-६ ।

ब्राह्मणों ने भी उसी के भय से वेदाध्ययन त्याग दिया । उसके अत्यन्त दुःसह भटों ने यज्ञस्थानों को गिरा-पड़ा दिया ॥ ७ ।

और उन सब कुमार्गगामियों ने कितनी ही सती स्त्रियों को बिगाड़ दिया । यों ही वे सब दुरासद क्रूरकर्मकारी दुराचारी दैत्यगण बलपूर्वक दूसरे के धनादिक छीनकर (मनमाना) भोग करने लगे । उस वेला में नदियाँ विमार्गगामिनी हो गईं, अग्नि ने जलना ही छोड़ दिया ॥ ८-९ ।

उसी के भय से व्याकुल-सी होकर और सब ज्योतियाँ भी प्रभाहीन हो गईं । चारों ओर से दिगंगनाओं के मुख भी खिसियाने से हो गये (थे) ॥ १० ।

धर्मक्रिया विलुप्ताश्च प्रवृत्ताः सुकृतेतराः ।
त एव जलदीभूय ववृषुर्निजलीलया ॥ ११ ।
सस्यानि तद्भयात् सूते त्वनुप्तापि वसुन्धरा ।
सदैव फलिनो जातास्तरवोऽप्यवकेशिनः ॥ १२ ।
बन्दीकृताः सुरर्षीणां पत्न्यस्तेनाऽतिदर्पिण ।
दिवौकसः कृतास्तेन समस्ताः काननौकसः ॥ १३ ।
मर्त्या अमर्त्यान् स्वगृहं प्राप्तानपि भयार्दिताः ।
अपि संभाषमात्रेण नार्चयन्ति विपज्जुषः ॥ १४ ।

स्कन्द उवाच–

न कौलीन्यं न सद्वृत्तं महत्त्वाय प्रकल्पते ।
एकमेव पदं श्रेयः पदभ्रंशो हि लाघवम् ॥ १५ ।

सुकृतेतरा अधमाः ॥ ११ ।

अनुप्ताऽवापितापि । अवकेशिनो वन्ध्या अफला अपि । यदाहाऽमरः–

'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी' इति ॥ १२ ।

विपज्जुषो विपत्सेविनः ॥ १४ ।

ननु कुलीनत्वात् सदाचारत्वाच्च महान्तस्तावद्देवा अतः किमिति तान् गृहागतान् भयपीडिता अपि सूनृतयाऽपि वाचा न पूजितवन्तस्तत्राह । न कौलीन्यमिति । किं तर्हि महत्त्वाय कल्पते तदाह । एकमिति । पदं स्थानं स्वीयमैश्वर्यमित्यर्थः । श्रेयः श्रेयो हेतुर्महत्त्वकारणमित्यर्थः । लाघवं लघुत्वममहत्त्वकारणमित्यर्थः ॥ १५ ।

धर्म-कर्म का लोप होकर पापाचार का प्रचार बढ़ने लगा । वे ही सब असुर अपनी (माया की) लीला से मेघ बनकर वृष्टि करने लगे ॥ ११ ।

और वसुन्धरा भी बिना (जोते) बोये ही उसके भय के मारे सब अन्नों को उपजाने लगी । सदैव के बाँझे पेंडों में भी फल निकलने लगे ॥ १२ ।

उस महादर्पशाली दैत्य ने देवता और ऋषियों की स्त्रियों को बन्दी और सब स्वर्गवासियों को वनवासी बना दिया ॥ १३ ।

उसी के डर से व्याकुल होकर मनुष्य लोग भी विपत्ति में पड़े हुए देवताओं को अपने घर में स्वयं चले आने पर एक बात पूछने का भी सत्कार नहीं करते थे ॥ १४ ।

स्कन्द कहने लगे–

(हे मुने !) कुलीन और सच्चरित्र होने ही से बड़प्पन नहीं हो सकता; क्योंकि पदाधिकार ही से बड़ाई और पदभ्रंश ही से छोटाई होती है ॥ १५ ।

विपद्यपि हि ते धन्या न ये दैन्यप्रणोदिताः ।
धनैर्मलिनचित्तानामालभन्तेऽङ्गणं क्वचित् ॥ १६ ।
पञ्चत्वमेव हि वरं लोके लाघववर्जितम् ।
नामरत्वमपि श्रेयो लाघवेन समन्वितम् ॥ १७ ।
त एव लोके जीवन्ति पुण्यभाजस्त एव वै ।
विपद्यपि न गांभीर्यं यच्चेतोऽब्धिः परित्यजेत् ॥ १८ ।
कदाचित्सम्पदुदयः कदाचिद्विपदुद्गमः ।
दैवाद्द्वयमपि प्राप्य धीरो धैर्यं न हापयेत् ॥ १९ ।
उदयानुदयौ प्राज्ञैर्द्रष्टव्यौ पुष्पवन्तयोः ।
सदैकरूपताऽत्याज्या हर्षाहर्षौ ततोऽध्रुवौ ॥ २० ।

तस्माद्विपद्यपि आपत्कालेऽपि ये दैन्यप्रेरिता धनैर्मलिनचित्तानाम् अङ्गणं प्राङ्गणं क्वचित्कदाचिदपि ये नालभन्ते न प्राप्नुवन्ति, ते धन्या इति ॥ १६ ।

'तर्हि मरणमेव प्राप्तं तत्राह । पञ्चत्वमेवेति ॥ १७ ।

किञ्च त एवेति ॥ १८ ।

किञ्च सम्पद्विपदुद्गमयोः कादाचित्कत्वात् तदुभयं लब्ध्वा स्थिरतां न त्यजेदित्याह । कदाचिदिति ॥ १९ ।

तत्र दृष्टान्तमाह । उदयानुदयाविति । पुष्पवन्तयोश्चन्द्रसूर्ययोः । अतस्तयोरिव एकरूपताऽत्याज्या न त्याज्या । ततो हर्षाहर्षौ अध्रुवौ निष्फलावित्यर्थः ॥ २० ।

जो लोग विपत्ति पड़ने पर भी दीनता के वश होकर धनगर्व से मलिन चित्त लोगों के आँगन में कभी नहीं जाते, वे ही धन्य हैं ।

विपति परे जे दीन ह्वै, धन दर्पित के द्वार ।
कबहुँ न जावैं धन्य ते, होंहि जगत् उजियार ॥ १६ ।

संसार में लघुता से हीन होकर मर जाना भी बहुत भला है, पर छोटाई के साथ अमरता भी मिले तो वह अच्छी नहीं है ॥ १७ ।

जिन लोगों का मनरूपी समुद्र आपत्काल में भी गंभीरता को नहीं छोड़ता, वास्तव में वे ही पुण्यशाली लोग इस जगत् में जीते (जागते) हैं ॥ १८ ।

कभी-कभी सम्पत्ति मिल जाने अथवा विपत्ति पड़ने से धीर जन दोनों ही को अदृष्टाधीन समझकर अपनी धीरता को नहीं छोड़ते ॥ १९ ।

पंडित जन चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त का समय देखकर सदैव एकरूपता को न छोड़ें; क्योंकि हर्ष और विषाद ये दोनों ही निष्फल हैं ।

उदय अस्त शशि सूर को, लखहिं सुलच्छन लोग ।
तजहिं न एक सरूपता, करहिं न हरष न सोग ॥ २० ।

यस्त्वापदं समासाद्य दैन्यग्रस्तो विपद्यते ।
तस्य लोकद्वयं नष्टं तस्माद्दैन्यं विवर्जयेत् ॥ २१ ।
आपद्यपि हि ये धीरा इह लोके परत्र च ।
न तान् पुनः स्पृशेदापत्तद्धैर्येणावधीरिता ॥ २२ ।
भ्रष्टराज्याश्च विबुधा महेशं शरणं गताः ।
सर्वज्ञेन ततो देवी प्रेरिताऽसुरमर्दने ॥ २३ ।
माहेश्वरीं समासाद्य भवान्याज्ञां प्रहृष्टवत् ।
अमर्त्यायाऽभयं दत्वा समरायोपचक्रमे ॥ २४ ।
कालरात्रीं समाहूय कान्त्या त्रैलोक्यसुन्दरीम् ।
प्रेषयामास रुद्राणीं तमाह्वातुं सुरद्रुहम् ॥ २५ ।
कालरात्री समासाद्य तं दैत्यं दुष्टचेष्टितम् ।
उवाच दैत्याधिपते त्यज त्रैलोक्यसम्पदम् ॥ २६ ।

आपदि दैत्यान् मरणे दोषमाह । यस्त्विति । उपसंहरति । तस्मादिति ॥ २१ ।

किञ्च आपदीति । तद्धैर्येणेत्यत्र तच्छब्दो धीरविषयः । अवधीरिता त्यक्ता दूरीकृतेत्यर्थः ॥ २२ ।

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमनुवर्णयति । भ्रष्टराज्या इति । सर्वज्ञेन पुरुषेभ्योऽवध्योऽयमिति जानतेत्यर्थः ॥ २३ ।

माहेश्वरीमाज्ञामित्यन्वयः । अमर्त्याय देवाय । जातावेकवचनम् । अमर्त्येभ्य इति क्वचित्पाठः ॥ २४ ।

जो कोई विपत्ति पड़ने पर दीन होकर मर जाता है, उसके दोनों ही लोक बिगड़ जाते हैं, इसलिये दीनता को सर्वथा छोड़ ही देना उचित है ॥ २१ ।

जो लोग आपत्ति के समय में भी धैर्य ही को धरे रहते हैं, उन धीरों की धीरता ही से अवधीरित होकर विपत्ति फिर उन सब को इस लोक अथवा परलोक में भी (कभी) नहीं छू सकती ॥ २२ ।

इधर देवतालोग राज्यादि सम्पत्तियों से विहीन होकर भगवान् महेश्वर के शरणागत हुए, तब सर्वज्ञ शिव ने भी असुरों को मारने के लिये देवी को प्रेरणा दी ॥ २३ ।

तदनन्तर भवानी बड़ी प्रसन्नता से महादेव की आज्ञा पाते ही देवताओं को अभय देकर समर का उद्योग करने लगीं ॥ २४ ।

रुद्राणी देवी ने तुरत ही लावण्य-शोभा से त्रैलोक्य मात्र को मोहने वाली कालरात्री को बुलाकर उस दुर्गासुर के पास आह्वान के लिये भेज दिया ॥ २५ ।

फिर तो कालरात्री देवी उस दुष्टचित्त दैत्य के समीप जाकर कहने लगी— 'हे दैत्यराज, तुम त्रैलोक्य की सम्पत्ति को छोड़ दो ॥ २६ ।

त्रिलोकीं लभतामिन्द्रस्त्वं तु याहि रसातलम् ।
प्रवर्तन्तां क्रियाः सर्वा वेदोक्ता वेदवादिनाम् ॥ २७ ।
अथ चेद् गर्वलेशोऽस्ति तदा याहि समाजये ।
अथवा जीविताकाङ्क्षी तदिन्द्रं शरणं व्रज ॥ २८ ।
इति वक्तुं महादेव्या महामङ्गलरूपया ।
त्वदन्तिकं प्रेषिताऽहं मृत्युस्ते तदुपेक्षया ॥ २९ ।
अतो यदुचितं कर्त्तुं तद्विधेहि महासुर ।
परं हितं चेच्छृणुयाज्जीवग्राहं ततो व्रज ॥ ३० ।
इत्याकर्ण्यवचो देव्या महाकाल्याः स दैत्यराट् ।
प्रजज्वाल तदा क्रोधाद् गृह्यतां गृह्यतामियम् ॥ ३१ ।

समाजये सम्यग्युद्धाय । रणाय वा इति क्वचित् ॥ २८ ।

रूपयेत्यत्र पूरयेति क्वचित् । तदुपेक्षया तस्या वचस उपेक्षया । मृत्युस्ते तत्पादाब्जजेति पाठे अहं विशेषणम् । मृत्युर्मृत्युहेतुरित्यर्थः । तु इति पाठे ते इत्यर्थात् ॥ २९ ।

जीवग्राहं जीवनग्रहणं यथा भवति तथा व्रज विश्वेश्वर्याः शरणापन्नो भवेत्यर्थः । हितमित्यस्य विशेषणं वा ॥ ३० ।

महाकाल्याः कालरात्र्याः ॥ ३१ ।

और तुम स्वयं रसातल में चले जाओ,(जिसमें) इस त्रिभुवन (के राज्य) को इन्द्र फिर से पावें और वेदवादियों की सब वेदोक्त क्रियाएँ पूर्ववत् होने लगें ॥ २७ ।

और यदि चेत् इस विषय में तुमको कुछ अहंकार हो, तो युद्ध करनें के लिये (ललकारती हूँ) तुम आओ, पर जो जीने की आकांक्षा हो तो देवराज के शरणागत होओ ॥ २८ ।

महामंगलस्वरूपिणी महेश्वरी देवी ने तुमसे यही कहने के लिये मुझको तुम्हारे पास भेजा है । (यह तुम निश्चय समझ लो कि) उनकी बातों की उपेक्षा करने ही से तुम्हारी मृत्यु है ॥ २९ ।

अतएव हे महासुर ! अब जो कुछ उचित हो, उसे करो, पर जो मेरा कहना सुनो (मान लो) तो जीव लेकर (सीधे) चले जाओ" ॥ ३० ।

इस प्रकार से महाकाली देवी की बातें सुनकर, वह दैत्यराज क्रोध से प्रज्वलित होकर बोला—"पकड़ो पकड़ो, इसे पकड़ लो" ॥ ३१ ।

त्रैलोक्यमोहिनी ह्येषा प्राप्ता मद्भाग्यगौरवैः ।
त्रैलोक्यराज्यसम्पत्तिवल्ल्याः फलमिदं महत् ॥ ३२ ।
एतदर्थं हि देवर्षिनृपा बन्दीकृता मया ।
अनायासेन मे प्राप्ता गृहमेषा शुभोदयात् ॥ ३३ ।
अवश्यं यस्य योग्यं यत्तत्तस्येहोपतिष्ठते ।
अरण्ये वा गृहे वाऽपि यतो भाग्यस्य गौरवात् ॥ ३४ ।
अन्तःपुरचरा एतां नयन्त्वन्तःपुरं महत् ।
अनया सदलङ्कृत्या मम राष्ट्रमलङ्कृतम् ॥ ३५ ।
अहो महोदयश्चाद्य जातो मम महामतेः ।
केवलं न ममैकस्य सर्वदैत्यान्वयस्य च ॥ ३६ ।
नृत्यन्तु पितरश्चाद्य मोदन्तां बान्धवाः सुखम् ।
मृत्युः कालोऽन्तको देवाः प्राप्नुवन्त्वद्य मे भयम् ॥ ३७ ।

गौरवैर्महत्त्वैः । वल्ली लता ॥ ३२ ।

गृहं गृहे गृहणीति वा । शुभोदयात् पुण्योत्कर्षात् । शुभोदयेति क्वचित् ॥ ३३ ।

गौरवात् गौरवं गुरुत्वं तस्मादित्यर्थः । यद्वा गौरवमत्तीति गौरवात् । प्रथमान्तं यदित्यस्य विशेषणम् । भाग्यस्य गौरवाधीनत्वमित्यर्थः ॥ ३४ ।

सती अलङ्कृतिर्यस्यास्तया ॥ ३५ ।

महामतेरुदारचित्तस्य ॥ ३६ ।

यह त्रैलोक्यमोहिनी (आज) मेरे ही भाग्य के गौरव से यहाँ चली आई है। यही तो त्रैलोक्य भर के राज्य की सम्पत्तिरूपी लता का बड़ा भारी फल है ॥ ३२ ।

मैंने इसी के लिये देवता, ऋषि और राजाओं को बन्दी किया था; पर आज यह अनायास मेरे शुभकर्मों के उदय होने ही से मेरे पास चली आई है ॥ ३३ ।

जो वस्तु जिसके योग्य है, वह वन में रहे, चाहे घर में रहे, पर भाग्य के बल से उसके पास अवश्य ही पहुँच जाती है ॥ ३४ ।

अब तो मेरे अन्तःपुरचारी लोग इसे बड़े अन्तःपुर में ले जाँय । आज इस स्त्रीरत्न से मेरा राज्य ही विभूषित हो गया ॥ ३५ ।

(अहा हा !) मुझ उदारचित्त का आज ही महान् उदय हुआ और केवल अकेले मेरा ही क्यों, वरन् समस्त दैत्यवंश का आज उदय हो गया है ॥ ३६ ।

आज मेरे पूर्वपुरुष नृत्य करें और बान्धवगण सुख से आनन्द मनायें एवं मृत्यु, काल, अन्तक और देवतालोग मेरी ओर से भयभीत हों ॥ ३७ ।

इति यावत्समायातास्तां नेतुं सौविदल्लकाः ।
तावत्तया कालरात्र्या प्रत्युक्तो दैत्यपुङ्गवः ॥ ३८ ।

कालरात्र्युवाच–

दैत्यराज महाप्राज्ञ नैतद्युक्तं भवादृशाम् ।
वयं दूत्यः परवशा राजनीतिविदुत्तम ॥ ३९ ।
अल्पोऽपि दूतसम्बाधां न विदध्यात् कदाचन ।
किं पुनर्ये भवादृक्षा महान्तो बलिनोऽधिपाः ॥ ४० ।
दूतीषु कोऽनुरागोऽयं महाराजाल्पिकास्विह ।
अनायासेन च वयमायास्यामस्तदागमात् ॥ ४१ ।
विजित्य समरे तान्तु स्वामिनीं मम दैत्यप ।
मादृशीनां सहस्राणि परिभुङ्क्ष्व यथेच्छया ॥ ४२ ।
अद्यैव ते महासौख्यं भावितस्याविलोकनात् ।
बान्धवानां सुखं तेऽद्य भविता सह पूर्वजैः ॥ ४३ ।

इति एवं दैत्येन्द्रे ब्रुवति सौविदल्लकाः कञ्चुकिनोऽन्तःपुररक्षका इत्यर्थः । यदाहाऽमरः–"सौविदल्लाः कञ्चुकिनः स्थापत्याः सौविदाश्च ते" इति । स्वार्थे कः । पुङ्गवः श्रेष्ठः ॥ ३८ ।

दूत्यः सञ्चारिकाः । यदाहाऽमरः–"दूती सञ्चारिके समे" इति । यद्वा दूत्यः दूत्यकर्मकर्त्र्यः । राजनीतिविदुत्तम राजनीतिविदां मध्ये श्रेष्ठ ॥ ३९ ।

अल्पोऽपि जनः । भवादृक्षा भवत्सदृशाः । तदागमात् महादेव्यागमात् ॥ ४१ ।

इसी बीच में कंचुकी लोग देवी को अन्तःपुर में ले जाने के लिये वहाँ पर आ पहुँचे । तब तो कालरात्री ने दानवराज से फिर कहा ॥ ३८ ।

कालरात्री बोलीं–

'हे महाप्राज्ञ ! दैत्यराज ! आप ऐसे लोगों को यह उचित नहीं है । हे राजनीतिज्ञाताओं में श्रेष्ठ ! (आप तो जानते ही हैं) हम लोग दूती हैं, सुतरां पराधीन (रहती) हैं ॥ ३९ ।

कोई छोटा जन भी दूतों के साथ किसी प्रकार का असद्व्यवहार (हरकत) नहीं करता, फिर आपके ऐसे बड़े बलवन्त महाराजों की कौन बात है ? ॥ ४० ।

हे महाराज ! भला नीच दूतियों पर (आपका) ऐसा अनुराग क्यों हो रहा है ? स्वामिनी के आने से हम सब अनायास ही यहाँ चली आयेंगी ॥ ४१ ।

हे दैत्यपते ! आप संग्राम में मेरी स्वामिनी देवी को जीतकर मेरी जैसी सहस्रों ही रमणियों का यथेच्छ भोग कर सकते हैं ॥ ४२ ।

आज ही उनके देख लेने से आपको और पूर्वजों के सहित आपके बान्धव लोगों को बड़ा ही सुख प्राप्त होगा ॥ ४३ ।

सम्पत्स्यन्तेऽद्य ते कामाः सर्वे ये चिरचिन्तिताः ।
अबला सा च मुग्धा च तस्यास्त्राता न कश्चन ॥ ४४ ।
सर्वरूपमयी चैव तां भवान् द्रष्टुमर्हति ।
अहं हि दर्शयिष्यामि यत्र साऽस्ति जगत्खनिः ॥ ४५ ।
धृतायामपि चैकस्यां कस्ते कामो भविष्यति ।
अहं ते सन्निधिं नैव त्यक्ष्याम्यद्य दिनावधि ॥ ४६ ।
ततो निवारयैतान् मामादित्सून् सौविदल्लकान् ।
इति श्रुत्वा वचस्तस्याः स कामक्रोधमोहितः ॥ ४७ ।
तामेव बह्वमंस्तैकां दूतीं मृत्योरिवासुरः ।
शुद्धान्तरक्षिणश्चैतां शुद्धान्तं प्रापयं त्वरम् ॥ ४८ ।
इति तेन समादिष्टाः सर्वे वर्षवरा मुने ।
तां धर्तुमुद्यमं चक्रुर्बलेन बलवत्तराः ॥ ४९ ।

अबला बलहीना स्त्रीति यावत् । वस्तुतस्त्वस्य विष्णोरिव बलं यस्याः । न विद्यते बलं यस्याः सर्वातिशयबलेत्यर्थ इति वा । मुग्धा मूढा वस्तुतस्तु सुन्दरी ॥ ४४ ।

आदित्सूनग्रहीतुकामान् । तां दृष्ट्वा कामः त्रिलोकीं लभतामिन्द्र इत्यादि सापेक्षवचनात् क्रोधस्ताभ्यां मोहितः संक्षुब्धः ॥ ४७ ।

मृत्युमिति वक्तव्ये षष्ठी द्वितीयार्थे । बह्वमंस्त बहु यथा स्यात्तथाऽमन्यत ।

आज ही आपके चिरचिन्तित सकल मनोरथ सफल हो जायँगे; क्योंकि एक तो वह मुग्धा (अनजान, मुग्धानायिकावस्था वाली किशोरी) अबला हैं, दूसरे उनका कोई रक्षक भी नहीं है ॥ ४४ ।

फिर वह सर्वरूपमयी हैं, अतएव आप उन्हें एक बार देख तो लें । मैं स्वयं जहाँ पर वह जगत् की खानि हैं (ले चलकर) आपको दिखला दूँगी ॥ ४५ ।

अकेले मुझी को पकड़ लेने से आपका कौन-सा काम हो सकेगा ? मैं तो स्वयं आज के दिन से कभी आपका साथ नहीं छोड़ूँगी ॥ ४६ ।

इसलिये मेरे धरने वाले इन सब (चिंबिल्ले) सौविदल्लों को हटा दीजिये' । इस प्रकार से कालरात्रि की बातें सुनकर काम और क्रोध से मोहित वह दुर्गासुर मृत्यु की दूती के समान उस अकेली कालरात्रि को ही बहुत समझने लगा, (और बोला कि) अन्तःपुर के रक्षक लोग अभी इसे शुद्धान्त में (भीतर) पहुँचा दें ॥ ४७-४८ ।

हे मुने ! उसकी ऐसी आज्ञा पाते ही वे सब बड़े बली नपुंसकलोग बलपूर्वक उसको पकड़ने का उद्योग करने लगे ॥ ४९ ।

सा तान् भस्मीचकाराऽऽशु हुङ्कारजनिताऽग्निना ।
ततो दैत्यपतिः क्रुद्धो दृष्ट्वा तान् भस्मसात्कृतान् ॥ ५० ।
क्षणेनैव तया दूत्या दैत्यांस्त्र्ययुतसंमितान् ।
दृशा व्यापारयामास दुर्धरं दुर्मुखं खरम् ॥ ५१ ।
सीरपाणिं पाशपाणिं सुरेन्द्रदमनं हनुम् ।
यज्ञारिं खड्गलोमानमुग्रास्यं देवकम्पनम् ॥ ५२ ।
बद्ध्वा पाशैरिमां दुष्टामानयन्त्वाऽऽशु दानवाः ।
विध्वस्तकेशवेशां च विस्रस्ताम्बरभूषणाम् ॥ ५३ ।
इति दैत्याधिपादेशाद्दुर्धरप्रमुखास्ततः ।
पाशासिमुद्गरधरास्तामादातुं कृतोद्यमाः ॥ ५४ ।
गिरीन्द्रगुरुवर्ष्माणः शस्त्रास्त्रोद्यतपाणयः ।
दिगन्तं ते परिप्राप्तास्तदुच्छ्वासानिलाहताः ॥ ५५ ।

शुद्धान्तरक्षिणोऽन्तःपुरपालिनः । यदाहाऽमरः—"स्त्र्यगारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम् । शुद्धान्तश्चावरोधश्चेति" । अरम् अलम् । वर्षवराः षण्ढाः छिन्नवृषणा इति यावत् । यदाहाऽमरः—"षण्ढो वर्षवरः" इति ॥ ४९ ।

त्र्ययुतसंमितान् त्रिंशत्सहस्रसंख्याकान् । दृशा नेत्रेण कटाक्षेणेति यावत् । तेषां मध्ये केषाञ्चिन्नामानि दर्शयति । दुर्धरमिति पादेन ॥ ५१ ।

एवमापाततो दृशा ज्ञाप्य पश्चाद्वचनेनाऽप्याज्ञापयति । बद्ध्वा पाशैरिति श्लोकेन । विस्रस्तकेशवेशामुन्मुक्तकबराम् । यदाहाऽमरः—"कबरी केशवेशोऽथेति" । केशपाशामिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ५३ ।

वर्ष्म शरीरम् । शस्त्राणि खड्गादीनि अस्त्राणि क्षेपणीयानि भल्लादीनि तैरुद्यता उद्युक्ताः पाणयो येषां ते तथा ॥ ५५ ।

(तब तो) कालरात्री ने हुंकार से उत्पादित अंग्नि के द्वारा उन सबों को तुरत ही भस्म कर डाला। तदनन्तर दैत्यराज क्षणमात्र में उस दूती के द्वारा भस्म किये गये उन सब तीस सहस्र दैत्यों को देखकर बड़ा ही क्रुद्ध हुआ और दुर्धर, दुर्मुख, खर, सीरपाणि, पाशपाणि, सुरेन्द्रदमन, हनु, यज्ञशत्रु, खड्गलोमा, उग्रास्य और देवकंपन की ओर दृष्टि फेरकर कहने लगा कि—दानव लोग अभी इस दुष्टा दूती को गहना, कपड़ा उतार झोंटा पकड़ कर पाशों से बाँध लायें ॥ ५०-५३ ।

फिर तो दैत्याधिपति के आदेशानुसार वे सब पर्वतोपम दीर्घकाय दुर्धर इत्यादि दानवगण पाश, असि और मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्रों को हाथ में लेकर उसके पकड़ लाने का उद्यम करने लगे; परन्तु उसके उसाँस लेने के वायु का धक्का लगते ही (न जाने कहाँ) दिग्-दिगन्तर में उधिरा गये ॥ ५४-५५ ।

तेषूड्डीनेषु दैत्येषु शतकोटिमितेषु च ।
निर्जगाम ततः सा तु कालरात्रिर्नभोऽध्वगा ॥ ५६ ।
ततस्तां तु विनिर्यान्तीमनुजग्मुर्महासुराः ।
कोटिकोटिसहस्राणि पूरयित्वा तु रोदसी ॥ ५७ ।
दुर्गो नाम महादैत्यः शतकोटिरथावृतः ।
गजानामर्बुदशतद्वयेन परिवारितः ॥ ५८ ।
कोट्यर्बुदेन सहितो हयानां वातरंहसाम् ।
पदातिभिरसंख्यातैः पच्चूर्णितशिलोच्चयैः ॥ ५९ ।
उदायुधैर्महाभीमैः कृतत्रिजगतीभयैः ।
समेतः स महादैत्यो दुर्गः क्रुद्धो विनिर्ययौ ॥ ६० ।
अथ दृष्ट्वा महादेवीं विन्ध्याचलकृतालयाम् ।
आगत्य कालरात्र्या च निवेदिततदागसम् ॥ ६१ ।

रोदसी द्यावाभूम्योरन्तरम् ॥ ५७ ।

दुर्ग इति । दुर्गो नाम यो महादैत्यः स क्रुद्धः सन् विनिर्ययाविति तृतीयेनाऽन्वयः । तं पञ्चभिर्विशेषणैर्विशिनष्टि । शतकोटीत्यादिना । अर्बुदशतद्वयो न दशकोट्य एकमर्बुदं तस्य शतद्वयेन खर्वद्वयेनेत्यर्थः ॥ ५८ ।

कोट्यर्बुदेन परार्धसंख्यामितेन । पच्चूर्णितशिलोच्चयैः पादपिष्टपर्वतैः ॥ ५९ ।

उदायुधैरुद्यतशस्त्रास्त्रैः । स महादैत्यः । महादैत्यैः सह वर्तमानः ॥ ६० ।

अथेति । अथाऽनन्तरं महादेवीं दृष्ट्वा दैत्यश्रेष्ठो महासेनापतीनादिष्टवानिति षष्ठेनाऽन्वयः । द्वादशभिर्विशेषणैस्तां विशिनष्टि । विन्ध्याचलेत्यादिना । निवेदितं कथितं तदागः, दुर्गाऽपराधो यस्यै ताम् । तदागमामिति क्वचित् ॥ ६१ ।

इस प्रकार से उन सब सौ करोड़ दैत्यों के उड़ जाने पर वह कालरात्री देवी भी आकाशमार्गगामिनी होकर वहाँ से निकल पड़ी ॥ ५६ ।

फिर तो उनको निकली और चली जाती हुई देखकर, करोड़ों-करोड़ सहस्र महा-असुरगण आकाश और भूमंडल को भरकर उड़ते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे ॥ ५७ ।

तदनन्तर दैत्यनायक दुर्गासुर, सौ करोड़ रथी, दो खर्व गजारोही, कोटिं अर्बुद संख्यक असवार और असंख्य पैरों से पर्वत को चकनाचूर कर देने वाले आयुधधारी, महाभयंकर और त्रैलोक्य मात्र के भयभीतिकर्त्ता पैदल दैत्यों को अपने साथ लेकर बड़ा ही क्रोधित हो, वहाँ से निकल पड़ा ॥ ५८-६० ।

इसके अनन्तर कालरात्री देवी ने पहुँचकर विंध्याचलवासिनी महादेवी से दुर्गासुर के अपराध की सब बातें निवेदित कर दीं ॥ ६१ ।

महाभुजसहस्राढ्यां महातेजोऽभिबृंहिताम् ।
तत्तद्घोरप्रहरणां रणकौतुकसादराम् ॥ ६२ ॥
प्रोद्यच्चन्द्रसहस्रांशुनिर्मार्जितशुभाननाम् ।
लावण्यवार्धिनिर्गच्छच्चञ्चच्चन्द्रैकचन्द्रिकाम् ॥ ६३ ॥
महामाणिक्यनिचयरोचिःखचितविग्रहाम् ।
त्रैलोक्यरम्यनगरीसुप्रकाशप्रदीपिकाम् ॥ ६४ ॥
हरनेत्राग्निनिर्दग्धकामबीजा तु वीरुधम् ।
लसत्सौन्दर्यसम्भारजगन्मोहमहौषधिम् ॥ ६५ ॥
विषमेषुशरैर्भिन्नहृदयो दैत्यपुङ्गवः ।
आदिष्टवान् महासैन्यनायकानुग्रशासनः ॥ ६६ ॥

तत्तदित्यत्र उद्यदिति क्वचित् ॥ ६२ ॥

प्रोद्यदिति । उल्लसन् सुधांश्वपरिमितकिरणनिर्मिष्टोत्तमास्याम् । लावण्येति । सौन्दर्यसमुद्रनिःसरदुच्छलच्चन्द्रमुख्यज्योत्स्नाम् ॥ ६३ ॥

महेति । अनेकमाणिक्यसमूहदीप्तिव्याप्तशरीराम् ॥ ६४ ॥

हरेति । महादेवनयनानलभस्मीभूतमदनजीवनौषधलताम् । यदाहाऽमरः— "जीवातुर्जीवनौषधमिति" । सम्भारः समूहः सामग्री वा । महौषधीं महौषधरूपाम् ॥ ६५ ॥

विषमेषुः कामः ॥ ६६ ॥

(अब तो वह दुर्गासुर) रणकौतुकप्रिया, परमतेजस्वती, भीषण आयुधों से सुसज्जित सहस्र भुजाओं से पूर्ण उस देवी को देखा ॥ ६२ ॥

उस देवी का सुन्दर मुख मानो उगते हुए चन्द्रमा की सहस्रों किरणों से पोंछ दिया गया था । वह देवी लावण्य-समुद्र से निकलते हुए चंचल चन्द्र की चन्द्रिका-सी चमक रही थी ॥ ६३ ॥

उसका समग्र शरीर ही अनुपम माणिक्य-समूह की दीप्ति से व्याप्त-सा हो रहा था । वह त्रिभुवनरूप रमणीय नगरी में प्रकाशपूर्ण दीपशिखा-सी चल रही थी । ("छविगृह दीपशिखा जनु बरई । तु. रा.") ॥ ६४ ॥

वह महादेव के नेत्रानल से जले हुए कामदेव के (जिला लेने) के लिये संजीवनी लता-सी बन रही थी और जो उत्तम सुन्दरता की सामग्री से जगत् भर के मोह लेने की बहुत बड़ी औषधि हो रही थी ॥ ६५ ॥

उसे देखते ही (दुर्गासुर) कामदेव के बाणों से भिन्न-हृदय हो गया । अनन्तर उस उग्रशासन दैत्यराज ने अपने बड़े-बड़े सेनापतियों से यह कहा ॥ ६६ ॥

अयि जम्भ महाजम्भ कुजम्भ विकटानन ।
लम्बोदर महाकाय महादंष्ट्र महाहनो ॥ ६७ ।
पिङ्गाक्ष महिषग्रीव महोग्रात्युग्रविग्रह ।
क्रूराक्ष क्रोधनाक्रन्द संक्रन्दन महाभय ॥ ६८ ।
जितान्तक महाबाहो महावक्त्र महीधर ।
दुन्दुभे दुन्दुभिख महादुन्दुभिनासिक ॥ ६९ ।
उग्रास्य दीर्घदशन मेघकेश वृकानन ।
सिंहास्य सूकरमुख शिवाराव महोत्कट ॥ ७० ।
शुकतुण्ड प्रचण्डास्य भीमाक्ष क्षुद्रमानस ।
उलूकनेत्र कङ्कास्य काकतुण्ड करालवाक् ॥ ७१ ।
दीर्घग्रीव महाजङ्घ क्रमेलकशिरोधर ।
रक्तबिन्दो जपानेत्र विद्युज्जिह्वाग्नितापन ॥ ७२ ।
धूम्राक्ष धूमनिःश्वास चण्ड चण्डांशुतापन ।
महाभीषणमुख्याश्च शृण्वन्त्वाज्ञां ममादरात् ॥ ७३ ।
भवत्स्वेतेषु चान्येषु य एतां विन्ध्यवासिनीम् ।
धृत्याऽऽनेष्यति बुद्ध्या वा बलेनापि छलेन वा ॥ ७४ ।

अयि जम्भेत्यादिनेत्याकर्ण्येत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ ६७ ।

धृत्या धैर्येण साम्नेति यावत् । बुद्ध्या दाक्षिण्येन दानेन वा बलेन दण्डेन छलेन भेदेन । सामदामदण्डभेदोपायचतुष्टयेनेत्यर्थः । धृत्वानेष्यतीति क्वचित् ॥ ७४ ।

दैत्यराज ने कहा—

हे जम्भ ! महाजंभ ! कुंभज ! विकटानन ! लम्बोदर ! महाकाय ! महादंष्ट्र ! महाहनो ! पिंगाक्ष ! महिषग्रीव ! महोग्र ! अत्युग्रविग्रह ! क्रूराक्ष ! क्रोधन ! आक्रन्दन ! संक्रन्दन ! महाभय ! जितान्तक ! महाबाहो ! महावक्त्र ! महीधर ! दुन्दुभे ! दुन्दुभिख ! महादुन्दुभिनासिक ! उग्रास्य ! दीर्घदशन ! मेघकेश ! वृकानन ! सिंहास्य ! सूकरमुख ! शिवाराव ! महोत्कट ! शुकतुंड ! प्रचंडास्य ! भीमाक्ष ! क्षुद्रमानस ! उलूकनेत्र ! कंकास्य ! काकतुंड ! करालवाक् ! दीर्घग्रीव ! महाजंघ ! उष्ट्रकन्धर ! रक्तबिन्दो ! जपानेत्र ! विद्युज्जिह्व ! अग्नितापन ! धूम्राक्ष ! धूमनिःश्वास ! चण्ड ! चण्डांशुतापन ! एवं महाभीषण आदि दैत्यगण ! तुम लोग आदर के साथ मेरी आज्ञा को सुनो ॥ ६७-७३ ।

तुम लोगों के मध्य से अथवा अन्य दैत्यों के बीच से जो कोई बल से किं वा छल से, चतुरता से चाहे धीरता से इस विन्ध्यवासिनी को पकड़ लायेगा, आज

तस्याऽहमिन्द्रपदवीमद्य दास्याम्यसंशयम् ।
दृष्ट्वैतां सुन्दरीमद्य मनो मे व्याकुलं भवेत् ॥ ७५ ।
यान्तु ऽक्षिप्रं न यावन्मे पञ्चेषुशरपीडितम् ।
मनो विह्वलतां गच्छेदेतत्प्राप्तेरभावतः ॥ ७६ ।
इत्याकर्ण्य वचस्तस्य दुर्गस्य दनुजेशितुः ।
प्रोचुः सर्वे तदा दैत्याः प्रबद्धकरसम्पुटाः ॥ ७७ ।
अवधेहि महाराज किमेतत्कर्म दुष्करम् ।
अनाथायास्तथैकस्या अबलाया विशेषतः ॥ ७८ ।
अस्या आनयने कोऽयं महायत्नविधिः प्रभो ।
कोऽस्मान् प्रलयकालाग्निमहाज्वालावलीसमान् ॥ ७९ ।

अवधेहि शृणु । एतत्कर्म दुष्करं किं काक्वा दुष्करमेवेति वास्तवोऽर्थः । दुष्करत्वमेवाह । अनाथायाः 'अः' विष्णुर्नाथो यस्यास्तथा न विद्यते नाथो यस्यास्तस्या इति वा स्वतन्त्राया इत्यर्थः । एकस्या मुख्याया अद्वितीयाया वेत्यर्थः । विशेषतः अस्य विष्णोरिव बलं यस्यास्तस्या इति । कृपणाया इति पाठे कृपणवद्वर्तमानाया इत्यर्थः ॥ ७८ ।

कोऽयं महायत्नविधिः अक इति पदच्छेदे अयमत्यन्तप्रयत्नप्रकारः 'अकः' न कोऽपीत्यर्थः । प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् ॥ ७९ ।

अवश्य ही मैं उसे इन्द्र बना दूँगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है; क्योंकि इस सुन्दरी को देखकर आज मेरा मन बहुत ही व्याकुल हो रहा है ॥ ७४-७५ ।

अतएव इस रमणी के नहीं मिलने से जब तक मेरा चित्त कामदेव के बाणों से पीड़ित होकर विह्वल नहीं हो जाता, तब तक तुम लोग शीघ्रता से चले जाओ ॥ ७६ ।

उस घड़ी (समय) दनुजेश्वर दुर्ग का ऐसा वचन सुनकर सभी दैत्यलोग हाथ जोड़ कर कहने लगे—हे महाराज ! भला सुनिये तो, यह कौन बड़ा दुष्कर काम है? एक तो यह अबला है, उस पर विशेषता यह है कि इसका कोई भी सहायक नहीं है ॥ ७७-७८ ।

हे प्रभो ! इस अनाथा स्त्री को ले आने के लिये इतने बड़े प्रयत्न उठाने का कौन सा प्रयोजन है ? हे नाथ ! त्रैलोक्य भर में ऐसा कौन है, जो प्रलयकाल की अग्नि की महाज्वालावली के तुल्य हम लोगों को आपके प्रसाद से उद्योग करने पर सह सके ? यदि आपकी आज्ञा पावें तो आज ही अन्तःपुर और

सहेत त्रिषु लोकेषु त्वत्प्रसादात् कृतोद्यमान् ।
यद्यादेशो भवेदद्य तदेन्द्रं समरुद्गणम् ॥ ८० ।
सान्तःपुरं समानीय क्षिप्नुमस्त्वत्पदाग्रतः ।
भूर्भुवः स्वरिदं सर्वं त्वदाज्ञावशवर्तितम् ॥ ८१ ।
महर्जनस्तपःसत्यलोकास्त्वदधिकारिणः ।
तत्राप्यसाध्यं नाऽस्माकं त्वन्निदेशान्महासुर ॥ ८२ ।
वैकुण्ठनायको नित्यं त्वदाज्ञापरिपालकः ।
यानि रम्याणि रत्नानि तानि सम्प्रेषयन्मुदा ॥ ८३ ।
अस्माभिरेव संत्यक्तः कैलासाधिपतिः स वै ।
विषाशी चातिनिःस्वत्वाद् भस्मकृत्त्यहिभूषणः ॥ ८४ ।

वैकुण्ठनायकः विकुण्ठा शुभ्रस्य पत्नी तस्यामुत्पन्नो वैकुण्ठस्तेन निर्मितो लोकोऽपि वैकुण्ठस्तस्य नायको विष्णुरित्यर्थः । तदुक्तं भागवते—

पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः ।
तस्यां सकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम् ।
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥ इति ।

स यानि उत्कृष्टानि रत्नानि मुदा सम्प्रेषयंस्त्वदाज्ञया अपरिपालकः त्वदाज्ञां न करोतीत्यर्थः ॥ ८३ ।

यः कैलासेश्वरः शिवः सोऽप्यस्माभिः सन्त्यक्त उपेक्षितः किम् । स्वयमेव सर्वेषामवध्य इत्यर्थः । यश्च लोकानामतिनिःस्वत्वादतिकार्पण्याददतिकरुणया विषाशी विषभक्षकोऽभूत् । यो लीलार्थं भस्मचर्म-सर्पभूषणः ॥ ८४ ।

देवताओं के सहित इन्द्र को भी लाकर आपके चरणों के आगे फेंक दें । भू, भुव, स्वर्ग, मह, जन, तप और सत्य आदि सभी लोक आपकी ही आज्ञा के वशवर्ती होकर आपके अधिकार में पड़े हैं । हे महासुर ! आपकी आज्ञा पा जाने पर इन सब लोकों में हम लोगों को कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ७९-८२ ।

(और की कौन बात है ! स्वयं) वैकुंठनाथ ही सदैव आपकी आज्ञाओं का प्रतिपालन करते रहते हैं और जो कुछ उत्तम रत्न उनके यहाँ हैं, आपके पास बड़े हर्ष से भेजा करते हैं ॥ ८३ ।

और कैलासनाथ को भी तो हमी लोगों ने (आप से ही) छोड़ दिया है; क्योंकि वह विषभोजी, परमदरिद्र, भस्म और भुजंगों से भूषित और चमड़ा को पहने रहते हैं ॥ ८४ ।

अर्धाङ्गेनाऽस्मद्भयतो योषिदेका निगूहिता ।
तस्य ग्रामेऽपि सकले द्वितीयो न चतुष्पदः ॥ ८५ ।
एकोऽजरद्गवः सोऽपि नान्यस्मात् परिजीवति ।
श्मशानवासिनः सर्वे सर्वे कौपीनवाससः ॥ ८६ ।
सर्वे विभूतिधवलाः सर्वेऽप्येककपर्दिनः ।
समस्ते नगरे तस्य वसन्त्येवंविधा गणाः ॥ ८७ ।
तेषां गणानां किं कुर्मो दरिद्राणां वयं विभो ।
समुद्रा रत्नसंभारं प्रत्यहं प्रेषयन्ति च ॥ ८८ ।
नागा वराकाश्चाऽस्माकं सायं सायं स्वयं प्रभो ।
प्रदीपयन्ति सततं फणारत्नप्रदीपकान् ॥ ८९ ।
कल्पद्रुमः कामगवी चिन्तामणिगणा बहु ।
तव प्रसादादस्माकमपि तिष्ठन्ति वेश्मसु ॥ ९० ।

अस्मद्भयेन तेन एकाऽनुपमा स्त्री अर्धाङ्गेन निगूहिता संवृता किम् ; अपि तु न संवृतेत्यर्थः । तस्य सकलेऽपि ग्रामेऽशेषेऽपि जगति द्वितीयोऽन्यश्चतुष्पदो वृषो नास्ति किन्त्वेकोऽनुपमोऽजरद्गवस्तरुणो वाहनो गोवृषोऽस्ति, सोऽपि किमन्यस्मात् परिजीवति; अपि तु नेत्यर्थ इत्यन्वयः । तस्य गणा अप्यवधीरितभोगा ईश्वरा एव तेषु वयमकिञ्चित्करा एवेत्याहुः । श्मशानेति द्वयेन[1] ॥ ८६ ।

अदरिद्राणामीश्वराणाम् । पक्षान्तरे यथाश्रुत एव स्पष्टोऽर्थः ॥ ८७ ।

किन्तु समुद्रा इति ॥ ८८ ।

कामगवी कामधेनुः ॥ ९० ।

वे तो हमी लोगों के डर से (अपनी) एक स्त्री को अर्धांग में छिपाये रहते हैं। उनके समग्र गाँव में एक से भिन्न दूसरा चौपाया नहीं है ॥ ८५ ।

केवल एक ही तो बूढ़ा बैल है, जो दूसरे के यहाँ (कभी) नहीं जी सकता । यों ही उनके नगर में जो गणलोग रहते हैं, वे सब श्मशान पर बैठे, कौपीन पहने, भभूत पोते और एक-एक जटा बाँधे पड़े रहते हैं ॥ ८६-८७ ।

सुतरां हे प्रभो ! उन सब परम दरिद्रगणों का हम लोग क्या करें ? आपके लिये सभी समुद्र प्रतिदिन रत्नों का बोझ भेजते ही रहते हैं ॥ ८८ ।

दयापात्र (बेचारे) नागलोग प्रतिदिन सन्ध्या समय आप ही अपने फन की मणियों का दीपक सदैव हम लोगों के यहाँ जलाते फिरते हैं ॥ ८९ ।

हे नाथ ! आपके ही प्रसाद से हम लोगों के घरों में भी बहुतेरे कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणियों की ढेरें पड़ी रहती हैं ॥ ९० ।

---

1. अर्धचतुष्टयेनेत्यर्थः ।

वायुर्व्यजनतां यातस्त्वां सेवेत प्रयत्नतः ।
स्वच्छान्यम्बूनि वरुणः प्रत्यहं पूरयत्यहो ॥ ९१ ॥
वासांसि क्षालयेदग्निश्चन्द्रश्छत्रधरः स्वयम् ।
सूर्यः प्रकाशयेन्नित्यं क्रीडावाप्यम्बुजानि च ॥ ९२ ॥
कस्त्वत्प्रसादं नेक्षेत मर्त्याऽमर्त्योरगेषु च ।
सर्वे त्वामुपजीवन्ति सुराऽसुरखगादयः ॥ ९३ ॥
पश्य नः पौरुषं राजन्नानयामो बलादिमाम् ।
इत्युक्त्वा युगपत्सर्वे क्षुब्धास्तोयधयो यथा ॥ ९४ ॥
संवर्तकालमासाद्य प्लावितुं जगतीमिमाम् ।
रणतूर्यनिनादश्च समुत्तस्थौ समन्ततः ॥ ९५ ॥
रोमाञ्चिता यच्छ्रवणात्कातरा अप्यकातराः ।
ततो देवा भयत्रस्ताश्चकम्पे च वसुन्धरा ॥ ९६ ॥

पूरयति स्वर्णादिकलशेष्विति शेषः ॥ ९१ ॥

क्षुब्धास्तां बलाद्धर्तुं संचलिताः । प्रलयकालं प्राप्य समुद्रा यथा क्षुब्धा भवन्ति, तद्वदित्यर्थः ॥ ९४ ॥

स्वयं पवन भी व्यजन (पंखा) रूप से प्रयत्नपूर्वक आपकी सेवा करता है और वरुण भी प्रतिदिन स्वच्छ जल भर जाता है ॥ ९१ ॥

यों ही अग्नि भी कपड़ों को धो (कचार) जाता है और चन्द्र भी अपने से ही छाता लगाता फिरता है । सूर्य नित्य ही क्रीड़ा-वापी के कमलों को खिला देता है ॥९२ ।

देवता, मनुष्य और सर्पों में ऐसा कौन है, जो आपकी प्रसन्नता की अपेक्षा न करता हो ? सुर, असुर और खगादिक सभी तो आपके आश्रित हो रहे हैं ॥ ९३ ।

हे राजन् ! अब आप हम लोगों के पौरुष को देखिये । हम सब अभी इस अबला को बलपूर्वक उठा लाते हैं । यह कहकर वे सब दैत्यगण प्रलयकाल में समस्त संसार को बहा देने के लिये सातों समुद्रों की तरह एक साथ ही भयंकररूप हो गये । उस घड़ी चारों ओर से लड़ाई का डंका बजने लगा ॥ ९४-९५ ।

उसे सुनने ही से क्या कातर क्या शूरवीर सभी को रोमांच होने लगा, तब तो देवतालोग भयभीत हो गये और वसुन्धरा काँपने लगी ॥ ९६ ।

क्षुब्धा अम्बुधयः सर्वे पेतुर्नक्षत्रमालिकाः ।
रोदसीमण्डलं व्याप्तं तेन तूर्यरवेण वै ॥ ९७ ।
ततो भगवती देवी स्वशरीरसमुद्भवाः ।
शक्तीरुत्पादयामास शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ९८ ।
ताभिः शक्तिभिरेतेषां बलिनां दितिजन्मनाम् ।
प्रत्येकं परितो रुद्ध उद्वेलः सैन्यसागरः ॥ ९९ ।
शस्त्रास्त्राणि महादैत्यैर्यान्युत्सृष्टानि सङ्गरे ।
ताभिः शक्तिभिरुग्राणि तृणीकृत्योज्झितान्यरम् ॥ १०० ।
ततोऽतिकोपपूर्णास्ते जम्भमुख्याः सुरारयः ।
असिचक्रभुशुण्डीभिर्गदामुद्गरतोमरैः ॥ १०१ ।

नक्षत्रमालिकाः ऋक्षसमूहाः । रोदसीमण्डलं द्यावाभूम्योरन्तरम् ॥ ९७ ।

शक्तीरंशरूपा मूर्तीः ॥ ९८ ।

रुद्ध आवृतो निवारित इति यावत् । उद्वेलो लङ्घितमर्यादः ॥ ९९ ।

सङ्गरे संग्रामे । तृणीकृत्य तुच्छीकृत्योज्झितानि त्यक्तानि नाशितानीत्यर्थः । अरं शीघ्रम् ॥ १०० ।

असिः खड्गः । भुशुण्डी सर्वत्र लोहकण्टकव्याप्ता क्रमात्स्थूला च । तदुक्तम्—"भुशुण्डी सर्वतो लोहकण्टकानुक्रमोन्नता" इति । मुद्गरो द्रुघ्नः । यदाहामरः—"द्रुघने मुद्गरघनौ" इति । तोमरः शर्वला शेल इति यावत् । यदाहाऽमरः—सर्वला तोमरोऽस्त्रियामिति ॥ १०१ ।

सभी समुद्र क्षुब्ध हो गये, आकाश से तारागणों की ढेर की ढेर गिरने लगीं और उस तूर्य ध्वनि से समस्त आकाश और भूमण्डल भर गया ॥ ९७ ।

तब भगवती विन्ध्यवासिनी ने अपने ही शरीर से सैकड़ों, सहस्रों शक्तियाँ उत्पन्न कर दीं ॥ ९८ ।

वे सब शक्तियाँ उन सब परम बलशाली दैत्यों के सेनारूपी बेमेड़ के प्रत्येक समुद्र को चारों ओर से रोकने लगीं ॥ ९९ ।

उस रणक्षेत्र में उन सब महा असुरों ने जिन-जिन बड़े तेज अस्त्र-शस्त्रों को चलाया, उन शक्तियों ने उन सब को तृण के समान दूर फेंक दिया ॥ १०० ।

तब फिर जंभ आदिक सुरारिगण अत्यंत क्रोध से परिपूर्ण होकर मेघों की जलवृष्टि के समान देवी के ऊपर एक साथ ही तलवार, चक्र, भुशुंडी, गदा, मुद्गर, तोमर, भिन्दिपाल, परिघ, कुन्त, शल्य, शक्ति, अर्धचन्द्र, क्षुरप्र, नाराच,

भिन्दिपालैश्च परिघैः कुन्तैः शल्यैश्च शक्तिभिः ।
अर्धचन्द्रैः क्षुरप्रैश्च नाराचैश्च शिलीमुखैः ॥ १०२ ।
महाभल्लैः परशुभिर्भिदुरैर्मर्मभेदिभिः ।
वृक्षोपलमहावर्षैर्ववृषुर्जलदा इव ॥ १०३ ।
अथ सा विन्ध्यनिलया महामाया महेश्वरी ।
आदायोद्दण्डकोदण्डं वायव्यास्त्रेण हेलया ॥ १०४ ।
दैत्यास्त्रशस्त्रजालानि परिचिक्षेप दूरतः ।
ततो महासुरो दुर्गो वीक्ष्य सैन्यं निरायुधम् ॥ १०५ ।
ज्वलन्तीं शक्तिमादाय तां देवीं प्रति सोऽक्षिपत् ।
तां तु शक्तिं समायान्तीं महावेगवतीं रणे ॥ १०६ ।
निजचापविनिर्मुक्तैर्बाणैश्चूर्णीचकार सा ।
भग्नां शक्तिं समालोक्य ततो दुर्गो महासुरः ॥ १०७ ।

भिन्दिपालैः सृगैः लोहबद्धदण्डैरिति यावत् । यदाहाऽमरः—"भिन्दिपालः सृगस्तुल्याविति" । परिघैः परिघातनैर्हस्तप्रमाणकाण्डैरिति यावत् । यदाहाऽमरः—परिघः परिघातनः' इति । कुन्तैः प्रासैः । यदाहाऽमरः—"प्रासस्तु कुन्तः" इति । शल्यैः शङ्कुभिः सर्वलीति ख्यातैरित्यर्थः । यदाहाऽमरः—"वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्नेतिः" । शक्तिर्लोहकण्टक-व्याप्ता चतुर्हस्तप्रमाणा शतघ्नी । तदुक्तम्—"शतघ्नी तु चतुर्हस्ता लोहकण्टकसंचितेति" । नाराचैः प्रक्ष्वेडनैः । यदाहाऽमरः—"प्रक्ष्वेडनास्तु नाराचाः" इति ॥ १०२ ।

परशुभिः कुठारैः । यदाहाऽमरः—"द्वयोः कुठारः स्वधितिः परशुश्च परश्वधः" इति । शेषा अस्त्रविशेषाः । भिदुरैर्भेदनशीलैः । उपलः पाषाणः ॥ १०३ ।

उद्दण्डकोदण्डं महद्धनुः ॥ १०४ ।

शिलीमुख, महाभल्ला, परशु, भिदुर इत्यादि मर्मभेदी शस्त्र और वृक्ष एवं पाषाणों की बड़ी भारी वर्षा करने लगे ॥ १०१-१०३ ।

इसके अनन्तर महामाया विन्ध्यवासिनी महेश्वरी ने भीषण धनुष धारण करके वायव्यास्त्र से अनायास ही दैत्यों के चलाये हुए अस्त्र-शस्त्रों के जाल को बहुत दूर फेंक दिया । तब तो उस महासुर दुर्ग ने अपने सैन्य को निरायुध देखकर देवी के ऊपर एक जलती हुई शक्ति फेंकी । भगवती ने भी रणक्षेत्र में बड़े वेग से आती हुई उस शक्ति को अपने धनुष से छूटे हुए बाणों के द्वारा टुकड़े-टुकड़े कर दिया । अब दुर्गासुर ने अपनी शक्ति को भग्न होती हुई देखा ॥ १०४-१०७ ।

चक्रं च प्रेषयामास दैत्यचक्रातिहर्षदम् ।
तच्च देव्या शरशतैरन्तरैवाण्डवत्कृतम् ॥ १०८ ।
ततः शार्ङ्गं समादाय धनुः शक्रधनुर्यथा ।
हृदि विव्याध बाणेन तां देवीममरार्दनः ॥ १०९ ।
स च बाणस्तया देव्या निजबाणैर्महाजवैः ।
निवारितोऽपि वेगेन तां देवीमभ्यगान्मुने ॥ ११० ।
ततः कोदण्डदण्डेन आशुगेन तमाशुगम् ।
हत्वा निवारयामास कालदण्डमिवापरम् ॥ १११ ।
तस्मिन् विमुखतां याते मार्गणे दुर्गमासुरः ।
क्रुद्धः शूलं समादाय संवर्तानलसुप्रभम् ॥ ११२ ।
महावेगेन चिक्षेप तां देवीमभि दैत्यपः ।
परापतच्च तच्छूलं निजशूलेन चण्डिका ॥ ११३ ।
अन्तरैव प्रचिच्छेद सह दैत्यजयाशया ।
तस्मिन्नपि महाशूले देवीशूलावहेलिते ॥ ११४ ।

शृङ्गैर्निर्मितं शार्ङ्गधनुः ॥ १०९ ।

परापतत् आगच्छत् ॥ ११३ ।

अन्तरा मध्ये । अवहेलितेऽवज्ञाते छिन्ने इति यावत् ॥ ११४

(शक्ति को टुकड़े होते हुए देखकर) दैत्यगण के परम हर्षप्रद चक्र को चलाया; पर देवी ने उसे भी अपने सैकड़ों बाणों से बीच ही में कण-कण (टुकड़े-टुकड़े) कर डाला ॥ १०८ ।

तत्पश्चात् सुरमर्दक दुर्ग ने इन्द्रधनुष के समान सींग के बने हुए धनुष को लेकर देवी के हृदय पर मारना चाहा और उसने ऐसा एक बाण चलाया कि बड़े वेगवाले देवी के बाणों से रोके जाने पर भी हे मुने ! वह देवी के आगे चला ही गया ॥ १०९-११० ।

फिर तो भगवती ने दूसरे यमदंड के समान उस तेजबाण को धनुर्दण्ड से मारकर गिरा दिया ॥ १११ ।

अनन्तर उस दुर्दय दानवराज ने अपने बाण को व्यर्थ जाते हुए देख बड़ा ही क्रुद्ध हो, प्रलयानल के तुल्य प्रभावाले त्रिशूल को लेकर देवी को ही लक्ष्य करके बड़े वेग से उनकी ओर फेंका, पर चण्डिका देवी ने अपने त्रिशूल से गिरते हुए उस त्रिशूल को भी अर्द्धमार्ग में ही दैत्यों की जयाशा के सहित काट गिराया, तब वह महाशूल भी देवी के त्रिशूल से व्यर्थ पड़ गया ॥ ११२-११४ ।

गदामादाय दैत्येन्द्रः सहसाऽभिपपात ह ।
आजघान च तां देवीं भुजमूले महाबलः ॥ ११५ ।
साऽपि देवी भुजं प्राप्य गिरीन्द्रशिखराकृतिः ।
गदाशु परिपुस्फोट शतधा च सहस्रधा ॥ ११६ ।
तदा देव्या स दैत्येन्द्रो वामपादतलेन हि ।
आताडितः पपातोर्व्यां हृदि गाढं प्रपीडितः ॥ ११७ ।
तत्क्षणादेव दैत्येन्द्रः पतित्वा पुनरुत्थितः ।
बभूव सहसाऽदृश्यो दीपो वातहतो यथा ॥ ११८ ।
तावज्जगज्जनन्या ताः प्रेरिता निजशक्तयः ।
विचेरुर्दैत्यसैन्येषु संवर्ते मृत्युसैन्यवत् ॥ ११९ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दुर्गपराक्रमो नामैकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ।

परिपुस्फोट बभञ्जेत्यर्थः ॥ ११६ ।
गाढं यथा स्यात् ॥ ११७ ।
संवर्ते प्रलयकाले ॥ ११९ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ।

तब महाबली दैत्येन्द्र गदा लेकर सहसा (एकाएक) टूट पड़ा और देवी के भुजमूल पर आघात कर ही बैठा ॥ ११५ ।

पर गिरीन्द्र के श्रृंग ऐसी वह गदा देवी के बाहु पर लगते ही तुरंत सैकड़ों-सहस्रों टुकड़े होकर टूट गई ॥ ११६ ।

फिर तो भगवती ने उस दैत्येश्वर को वाम चरण के तलवे से मारकर भूमि पर गिरा दिया और उसकी छाती पर बड़े वेग से जा दबाया ॥ ११७ ।

पर वह दैत्येन्द्र दुर्ग गिरने पर तुरन्त उठ खड़ा हुआ और वाताहत दीप की तरह सहसा अदृश्य हो गया ॥ ११८ ।

तब तक जगज्जननी ने अपनी उन सब शक्तियों को, दैत्यों की सेना में भेज दिया, जो प्रलयकाल में मृत्यु की सेना के समान वहाँ पर विचरण करने लगीं ॥ ११९ ।

दुर्गासुर के सैन्य में, घुसीं शक्ति सब जाय ।
करन लगीं विध्वंस तब, मत्त असुर कुल पाय ॥ १ ।
लागे उल्टन दैत्यगण, पटापट्ट तहँ धाय ।
जनु वहि सेना में महा-मारी फैली आय ॥ २ ।
है "चुनार" के पास ही, "दुर्गाखोह" प्रसिद्ध ।
विंध्यवासिनी हैं वहाँ, दुर्गा सेवहिं सिद्ध ॥ ३ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां दुर्गासुरदेवीयुद्धवर्णनं नामैकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ।

॥ अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच—

पार्वतीहृदयानन्द स्कन्द सर्वज्ञनन्दन ।
काः कास्तु शक्तयस्ता वै तासां नामानि मे वद ॥ १ ॥

स्कन्द उवाच—

तासां परमशक्तीनामुमावयवसम्भवाम् ।
आख्याम्याख्यां शृणु मुने कुम्भसम्भव तत्त्वतः ॥ २ ॥
त्रैलोक्यविजया तारा क्षमा त्रैलोक्यसुन्दरी ।
त्रिपुरा त्रिजगन्माता भीमा त्रिपुरभैरवी ॥ ३ ॥
कामाख्या कमलाक्षी च धृतिस्त्रिपुरतापनी ।
जया जयन्ती विजया जलेशी चाऽपराजिता ॥ ४ ॥
शंखिनी गजवक्त्रा च महिषघ्नी रणप्रिया ।
शुभानन्दा कोटराक्षी विद्युज्जिह्वा शिवारवा ॥ ५ ॥
त्रिनेत्रा च त्रिवक्त्रा च त्रिपदा सर्वमङ्गला ।
हुङ्कारहेतिस्तालेशी सर्पास्या सर्वसुन्दरी ॥ ६ ॥

द्व्यधिके सप्ततितमेऽध्याये तावद्धि वर्ण्यते ।
दुर्गाया विजयो विश्वजनन्याः परमाद्भुतः ॥ १ ॥

जगज्जनन्या शक्तयः प्रेरिता इत्युक्तं तत्र पृच्छति । पार्वतीति ॥ १ ॥
तारेत्यत्र आधारेति पाठे एकं नाम ॥ ३ ॥
जलेशीत्यत्र जलदेति क्वचित् ॥ ४ ॥
हुङ्कारहेतिः हुङ्कारास्त्रा । तालेशी तृणराजदण्डप्रयोक्त्री ॥ ६ ॥

(श्री दुर्गादेवी की विजय और वज्रपंजर स्तोत्र)

अगस्त्य ने पूछा—

"हे पार्वतीहृदयानन्द ! सर्वज्ञनन्दन ! स्कन्द ! वे सब कौन-कौन सी शक्तियाँ हैं ? आप उनके नामों को भी मुझे बता दें" ॥ १ ॥

स्कन्द कहने लगे—

हे कुंभसंभव ! मुने ! महेश्वरी के शरीर से उत्पन्न उन सब महाशक्तियों के नामों को मैं ठीक-ठीक कहता हूँ, तुम सुनो ॥ २ ॥

त्रैलोक्यविजया, तारा, क्षमा, त्रैलोक्यसुन्दरी, त्रिपुरा, त्रिजगन्माता, भीमा, त्रिपुरभैरवी, कामाख्या, कमलाक्षी, धृति, त्रिपुरतापनी, जया, जयन्ती, विजया, जलेशी, अपराजिता, शंखिनी, गजवक्त्रा, महिषघ्नी, रणप्रिया, शुभानन्दा, कोटराक्षी, विद्युज्जिह्वा, शिवारवा, त्रिनेत्रा, त्रिवक्त्रा, त्रिपदा, सर्वमंगला, हुंकारहेति,

सिद्धिर्बुद्धिः स्वधा स्वाहा महानिद्रा शरासना ।
पाशपाणिः खरमुखी वज्रतारा षडानना ॥ ७ ।
मयूरवदना काकी शुकी मासी गरुत्मती ।
पद्मावती पद्मकेशी पद्मास्या पद्मवासिनी ॥ ८ ।
अक्षरा त्र्यक्षरा तन्तुः प्रणवेशी स्वरात्मिका ।
त्रिवर्गा गर्वरहिता अजपा जपहारिणी ॥ ९ ।
जपसिद्धिस्तपःसिद्धिर्योगसिद्धिः पराऽमृता ।
मैत्रीकृन्मित्रनेत्रा च रक्षोघ्नी दैत्यतापनी ॥ १० ।
स्तम्भनी मोहनी माया बहुमाया बलोत्कटा ।
उच्चाटनी महोल्कास्या दनुजेन्द्रक्षयङ्करी ॥ ११ ।
क्षेमङ्करी सिद्धिकरी छिन्नमस्ता शुभानना ।
शाकम्भरी मोक्षलक्ष्मीस्त्रिवर्गफलदायिनी ॥ १२ ।
वार्ताली जम्भली क्लिन्ना अश्वारूढा सुरेश्वरी ।
ज्वालामुखीप्रभृतयो नवकोट्यो महाबलाः ॥ १३ ।

शराशना बाणभक्षणा । पाठान्तरे शरक्षेपणा । वज्रतारा वज्रकनीनिका ॥ ७ ।

तन्तुः तन्तुवत् सूक्ष्मा ॥ ९ ।

परामृता चेति नामद्वयं वा ॥ १० ।

वार्तालीति । वार्तानामावलिः पङ्क्तिर्यस्यां सा वार्ताली । जम्भं तन्नामानमसुरं लाति युद्धायादत्त इति जम्भली । ऐन्द्रीशक्तिरित्यर्थः । अन्यासामपि यथासम्भवं व्युत्पत्तिरूहनीया ॥ १३ ।

तालेशी, सर्पास्या, सर्वसुन्दरी, सिद्धि, बुद्धि, स्वधा, स्वाहा, महानिद्रा, शरासना, पाशपाणि, खरमुखी, वज्रतारा, षडानना, मयूरवदना, काकी, शुकी, मासी, गरुत्मती, पद्मावती, पद्मकेशी, पद्मास्या, पद्मवासिनी, अक्षरा, त्र्यक्षरा, तन्तु, प्रणवेशी, स्वरात्मिका, त्रिवर्गा, गर्वरहिता, अजपा, जपहारिणी, जपसिद्धि, तपःसिद्धि, योगसिद्धि, परामृता, मैत्रीकृत्, मित्रनेत्रा, रक्षोघ्नी, दैत्यतापनी, स्तंभनी, मोहनी, माया, बहुमाया, बलोत्कटा, उच्चाटनी, महोल्कास्या, दनुजेन्द्रक्षयंकरी, क्षेमकरी, सिद्धिकरी, छिन्नमस्ता, शुभानना, शाकंभरी, मोक्षलक्ष्मी, त्रिवर्गफलदायिनी, वार्ताली, जंभली, क्लिन्ना, अश्वारूढ़ा, सुरेश्वरी और ज्वालामुखी आदि महाबलशालिनी नवकोटि शक्तियाँ थीं ॥ ३-१३ ।

बलानि बलिनां ताभिर्दानवानां स्वलीलया ।
संक्षिप्तानि जगन्तीव प्रलयानलहेतिभिः ॥ १४ ।
तावत् स दुर्गो दैत्येन्द्रः पयोदान्तरतो बली ।
चकार करकावृष्टिं वात्या वेगवतीं बहु ॥ १५ ।
ततो भगवती देवी शोषणास्त्रप्रयोगतः ।
वृष्टिं निवारयामास वर्षोपलमयीं क्षणात् ॥ १६ ।
योषिन्मनोरथवती षण्ढं प्राप्य यथाऽफला ।
सा दैत्यकरकावृष्टिर्देवीं प्राप्य तथाऽभवत् ॥ १७ ।
अथ दैतेयराजेन बाहुसंकर्षकोपतः ।
उत्पाट्य शैलशिखरं परिक्षिप्तं नभोऽङ्गणात् ॥ १८ ।
अद्रेः शृङ्गं सुविस्तीर्णमापतत्परिवीक्ष्य सा ।
शतकोटिप्रहारेण कोटिशः शकलं व्यधात् ॥ १९ ।

संक्षिप्तानि नाशितानि । हेतिभिः शिखाभिः । यदाहाऽमरः—"वह्नेर्द्वयोर्ज्वाल-कीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियामिति" ॥ १४ ।

करकावृष्टिं वर्षपाषाणवृष्टिम् । यदाहाऽमरः "वर्षोपलस्तु करकेति" । वात्या वातमण्डली ॥ १५ ।

षण्ढं वर्षवरं छिन्नाण्डकोशमिति यावत् ॥ १७ ।

बाहुसंकर्षकोपतः बाहुस्फालनपूर्वककोपात् । राह्विति पाठे राहुसंकर्षकोपतः स्वर्भानुसदृशकोपात् । बहुधामर्षेति क्वचित् ॥ १८ ।

शतकोटिर्वज्रम् । शकलं खण्डम् ॥ १९ ।

वे सब अपनी लीला ही से बड़ी पराक्रमी दानवों की सेनाओं को प्रलयकाल की अग्निशिखा जैसे समस्त जगत् का संहार करती है, वैसे ही विनाश करने लगीं ॥ १४ ।

उसी घड़ी दानवाधिपति दुर्ग घनघटा के भीतर से बनौरी (हिमकण=करका) की वर्षा करने लगा । वह वायु के झटके से बड़े वेग के साथ बढ़ने लगी ॥ १५ ।

तब तो भगवती देवी ने शोषणास्त्र के प्रयोग से उस बनौरी की वृष्टि को क्षण भर में दूर हटा दिया ॥ १६ ।

अब तो रमणाभिलाषिणी रमणी नपुंसक के पास जाकर जैसे विफल हो जाती है, वैसे ही वह दैत्यों की करका (बनौरी) वृष्टि देवी के पास पहुँच कर व्यर्थ हो गई ॥ १७ ।

इसके पश्चात् दैत्यराज ने क्रोधातुरता से ताली ठोंककर एक पर्वत का शिखर उखाड़कर गगनमंडल से फेंक दिया ॥ १८ ।

देवी ने उस बड़े भारी पर्वत के शृंग को गिरता हुआ देखकर वज्र की चोट से उसके करोड़ों टुकड़े कर डाले ॥ १९ ।

आन्दोल्य मौलिमसकृत्कुण्डलाभ्यां विराजितम् ।
गजीभूयाऽऽशु दुद्राव तां देवीं समरेऽसुरः ॥ २० ॥
शैलाकारं तमायान्तं दृष्ट्वा भगवती गजम् ।
बद्ध्वा पाशेन जवतः खड्गेन करमच्छिनत् ॥ २१ ॥
ततोऽत्यन्तं स चीत्कृत्य देव्या कृत्तकरः करी ।
अकिञ्चित्करतां प्राप्य माहिषं वपुराददे ॥ २२ ॥
अचलां सचलां सर्वां स चक्रे खुरघाततः ।
शिलोच्चयांश्च बहुशः शृङ्गाभ्यां सोऽक्षिपद्बली ॥ २३ ॥
निःश्वासवातनिहताः पेतुरुर्व्यां महाद्रुमाः ।
उद्वेलिताः समभवन् सप्तापि जलराशयः ॥ २४ ॥
महामहिषरूपेण तेन त्रैलोक्यमण्डपः ।
आन्दोलितोऽतिबलिना युगान्ते वात्यया यथा ॥ २५ ॥
ब्रह्माण्डमप्यकाण्डेन तद्भयेन समाकुलम् ।
दृष्ट्वा भगवती क्रुद्धा त्रिशूलेन जघान तम् ॥ २६ ॥

चीत्कृत्य गजजातिशब्दं कृत्वा । अकिञ्चित्करतां किञ्चित्कर्तुमशक्तताम् ॥ २२ ।
अकाण्डेनाऽनवसरेण ॥ २६ ।

तब तो वह दैत्य हाथी बनकर कुंडलों से सुशोभित मस्तक को बारंबार झुकाता हुआ रणक्षेत्र में देवी की ओर दौड़ने लगा ॥ २० ।

भगवती ने पर्वताकार उस हस्ती को (अपनी ओर) दौड़ कर आते देख तुरन्त पाश से बाँधकर खड्ग से उसका सूँड़ काट लिया ॥ २१ ।

फिर, तो देवी के सूँड काट लेने पर वह हस्ती (स्वरूप दानव) घोरतर चिग्घार मारने लगा और कुछ भी करने में असमर्थ होकर भैंसे का रूप बन गया ॥ २२ ।

फिर वह बलशाली दैत्य अपने खुरों के आघात से पृथिवी को कँपाने और सींघों से बहुतेरे पर्वतों को (उठाकर) फेंकने लगा ॥ २३ ।

उस वेला में उसके साँस लेने से बड़े-बड़े पेड़ भूमि पर गिरने लगे और सातों समुद्र अपने-अपने वेला (तट) को लाँघ चले ॥ २४ ।

(अधिक क्या कहें) प्रलयवायु के समान, वह महाबली दानव भयंकर महिषरूप से समस्त त्रैलोक्य को डगमगाने लगा ॥ २५ ।

और सभी ब्रह्माण्डवासी लोग अकस्मात् उसके भय से व्याकुल हो गये, यह देख भगवती ने क्रुद्ध होकर उसे त्रिशूल से मारा ॥ २६ ।

त्रिशूलघातविभ्रान्तः पतित्वा पुनरुत्थितः ।
तं त्यक्त्वा माहिषं वेषमभूद्बाहुसहस्रभृत् ॥ २७ ।
स दुर्गो नितरां दुर्गो विबभौ समराजिरे ।
आयुधानां सहस्राणि बिभ्रत्कालान्तकोपमः ॥ २८ ।
अथ तूर्णं स दैत्येन्द्रस्तां देवीं रणकोविदाम् ।
महाबलः प्रगृह्याऽऽशु नीतवान् गगनाङ्गणम् ॥ २९ ।
ततो नभोऽङ्गणाद्दूरात्क्षिप्त्वा स जगदम्बिकाम् ।
क्षणात्कलम्बजालेन च्छादयामास वेगवान् ॥ ३० ।
अथाऽन्तरिक्षगा देवी तस्य मार्गणमध्यगा ।
विद्युन्मालेव विबभौ महाऽभ्रपटलीधृता ॥ ३१ ।
तं विधूय शरव्रातं निजेषुनिकरैरलम् ।
महेषुणाऽथ विव्याध सा तं दैत्यजनेश्वरम् ॥ ३२ ।
हृदि विद्धस्तया देव्या स च तेन महेषुणा ।
व्याघूर्णमाननयनः क्षितिमापाऽतिविह्वलः ॥ ३३ ।

वेषम् आकारम् ॥ २७ ।

समराजिरे संग्रामभूमौ । कालश्चान्तकश्च तदुपमः ॥ २८ ।

कलम्बजालेन शरसमूहेन । कलम्बीशाकभेदे स्यात् । कदम्बशरयोः पुमानिति मेदिनीकारः । बाणौघजालेनेति क्वचित् । तत्र जालमानायः ॥ ३० ।

महाभ्रपटलीधृता महामेघपङ्क्तौ स्थिता । वृतेति क्वचित् ॥ ३१ ।

उस त्रिशूल के आघात से वह चक्कर खाकर गिर पड़ा, पर तुरन्त ही उठकर महिष रूप को छोड़ एक सहस्रबाहुधारी योद्धा बन गया ॥ २७ ।

उस वेला में समरांगण में वह परम दुर्दम्य दुर्गासुर सहस्रों (हाथों में) आयुधों को धारण करने से कालान्तक के समान भासमान होने लगा ॥ २८ ।

इसके अनन्तर वह महाबलशाली दानववीर झटपट समरनिपुणा भगवती को पकड़कर आकाशमंडल में उठा ले गया ॥ २९ ।

फिर तो उसने जगदम्बा देवी को गगनमंडल में बहुत दूर से फेंककर बड़े वेग से क्षणमात्र में बाणों के जाल से छा दिया ॥ ३० ।

उस समय गगनमंडलस्था भगवती उसके बाणों के मध्य में (छिपकर) गहरी बदली के बीच में घिरी हुई विद्युत्प्रभा-सी चमकने लगीं ॥ ३१ ।

तब उन्होंने अपने बाणों से उसके शरजाल को हटाकर एक बड़े तीक्ष्ण बाण से उस दैत्येन्द्र को मारा ॥ ३२ ।

फिर तो देवी के उस महाबाण से हृदय में विद्ध होने पर वह दैत्य नेत्रों को घूर्णित करता हुआ बड़ा ही विह्वल होकर भूतल पर गिर पड़ा ॥ ३३ ।

महारुधिरधाराभिः स्रवन्तीं च प्रवर्तयन् ।
तस्मिन्निपतिते दुर्गे महादुर्गपराक्रमे ॥ ३४ ।
देवदुन्दुभयो नेदुः प्रहृष्टानि जगन्ति च ।
सूर्याचन्द्रमसौ साग्नी तेजो निजमवापतुः ॥ ३५ ।
पुष्पवृष्टिं प्रकुर्वन्तः प्राप्ता देवा महर्षिभिः ।
तुष्टुवुश्च महादेवीं महास्तुतिभिरादरात् ॥ ३६ ।

देवा ऊचुः—

नमो देवि जगद्धात्रि जगत्त्रयमहारणे ।
महेश्वरमहाशक्ते दैत्यद्रुमकुठारिके ॥ ३७ ।
त्रैलोक्यव्यापिनि शिवे शङ्खचक्रगदाधरि ।
स्वशार्ङ्गव्यग्रहस्ताग्रे नमो विष्णुस्वरूपिणि ॥ ३८ ।

स्रवन्तीं नदीम् ॥ ३४ ।

एकोनत्रिंशता पद्यैर्दुर्गां दुर्गविमर्दिनीम् । ।
प्रणतास्त्रिदशाः सर्वे तुष्टुवुर्जगदम्बिकाम् ॥

तत्र प्रथमतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरशक्तिरूपेण प्रणमन्ति । नम इति त्रयेण । हे देवि नमस्तुभ्यमिति शेषः । नमस्कारे हेतुः । जगद्धात्रि हे विश्वपोष्ट्रि । अनेन विष्णोः सा च प्रधाना स्थितिशक्तिरुक्ता । जगत्त्रयमहारणे हे जगत्त्रितयमहोत्पत्तिस्थानरूपे । अनेन ब्रह्मणो रजःप्रधाना सृष्टिशक्तिरुक्ता । महेश्वरमहाशक्ते हे विश्वनाथमहाशक्ते । अनेन कालाग्निरुद्रात्मनो विश्वेश्वरस्य सर्वसंहारपटीयसी तमःप्रधाना शक्तिरुक्ता । अत एव दैत्यद्रुमकुठारिके हे दानवरूपवृक्षपरश्वधे छेत्रीत्यर्थः ॥ ३७ ।

विष्णुशक्तिं दर्शयन्तो नमन्ति । त्रैलोक्येति । धरि धात्रि । धरे इति क्वचित् । स्वशार्ङ्गेत्यत्र सुशार्ङ्गेति क्वचित् ॥ ३८ ।

उसकी रुधिर-धारा से नदी बह चली, इस प्रकार से उस परम पराक्रमशाली दुर्गासुर के मारे जाने पर देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगीं, समस्त संसार प्रहृष्ट हो गया और सूर्य, चन्द्र और अग्नि अपने-अपने तेज को प्राप्त हुए ॥ ३४-३५ ।

तब महर्षियों के सहित देवतागण पुष्प की वृष्टि करते हुए वहाँ पहुँच कर बड़े आदर के साथ उत्तमोत्तम स्तुतियों से महादेवी की स्तुति करने लगे ॥ ३६ ।

देवताओं ने कहा—

"हे जगद्धात्रि ! महेश्वरमहाशक्ते ! देवि ! आप ही त्रैलोक्य में घोर संग्राम करने वाली और दानवरूप वृक्षों के (काटने को) कुल्हाड़ी रूप हैं, आपको नमस्कार है ॥ ३७ ।

हे त्रैलोक्यव्यापिनि ! शिवे ! शंख-चक्र-गदाधारिणि विष्णुरूपिणि ! आप (दुष्टों के दलनार्थ) धनुष खींचने में निरन्तर हस्ताग्र को लगाये ही रहती हैं, आपको नमस्कार है ॥ ३८ ।

हंसयाने नमस्तुभ्यं सर्वसृष्टिविधायिनि ।
प्राचां वाचां जन्मभूमे चतुराननरूपिणि ॥ ३९ ।
त्वमैन्द्री त्वं च कौबेरी वायवी त्वं त्वमम्बुपा ।
त्वं यामी नैऋती त्वं च त्वमैशी त्वं च पावकी ॥ ४० ।
शशाङ्ककौमुदी त्वं च सौरीशक्तिस्त्वमेव च ।
सर्वदेवमयी शक्तिस्त्वमेव परमेश्वरी ॥ ४१ ।
त्वं गौरी त्वं च सावित्री त्वं गायत्री सरस्वती ।
प्रकृतिस्त्वं मतिस्त्वं च त्वमहङ्कृतिरूपिणी ॥ ४२ ।
चेतःस्वरूपिणी त्वं वै त्वं सर्वेन्द्रियरूपिणी ।
पञ्चतन्मात्ररूपा त्वं महाभूतात्मिकेऽम्बिके ॥ ४३ ।

ब्रह्मशक्तिं कथयन्तो नमस्यन्ति । **हंसयान** इति । प्राचां प्राचीनानामनादिसिद्धानाम् ॥ ३९ ।

सर्वस्वरूपत्वं दर्शयन्तः परमात्मत्वेन स्तुवन्ति। **त्वमैन्द्रीत्यादि** । मातस्त्वयेत्यन्तेन । तत्राष्टलोकपालचन्द्रसवितृशक्तित्वेन स्तुवन्ति सार्धेन । कौबेरीत्यत्र कौमारीति पाठः, स चिन्त्यः, अम्बुपा वारुणीशक्तिः ॥ ४० ।

सौरी सूर्यप्रभाशक्तिरिति सर्वत्र सम्बध्यते । किञ्च बहुनेत्याहुः । **सर्वदेवेति** ॥ ४१ ।

सर्वदेवशक्तित्वमेव संक्षेपेण दर्शयन्ति। **त्वमित्यर्धेन** । चतुर्विंशतितत्त्वरूपेण स्तुवन्ति । प्रकृतिस्त्वमिति सार्धेन । **प्रकृतिः प्रधानम्** । मतिर्महत्तत्त्वं हैरण्यगर्भीबुद्धिरिति यावत् ॥ ४२ ।

चेतोऽन्तरिन्द्रियम् । सर्वेन्द्रियेत्यत्र सर्वशब्दो ज्ञानकर्मविषयः । क्रमोऽत्र न विवक्षितः । पञ्चतन्मात्ररूपा अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतस्वरूपेत्यर्थः । महाभूतात्मिके स्थूलपञ्चमहाभूतस्वरूपे इत्यर्थः ॥ ४३ ।

हे सर्वसृष्टिविधायिनि ! हंसवाहिनि ! ब्रह्मस्वरूपिणि ! आप ही वेदवचनों की जन्मभूमि हैं, आपको नमस्कार है ॥ ३९ ।

हे देवि ! आप ही इन्द्रशक्ति, आप ही कुबेरशक्ति, आप ही वायुशक्ति, आप ही वरुणशक्ति, आप ही यमशक्ति, आप ही निर्ऋति शक्ति, आप ही ईशानशक्ति, आप ही अग्निशक्ति हैं। (आपको नमस्कार है।) ॥ ४० ।

आप ही चन्द्रमाकी कौमुदी शक्ति, आप ही सूर्य की (प्रभा) शक्ति और आप ही सर्वदेवमयी परमेश्वरी शक्ति हैं ॥ ४१ ।

आप ही गौरी, सावित्री, गायत्री, सरस्वती, प्रकृति, मति और अहंकृति स्वरूपा हैं ॥ ४२ ।

हे अम्बिके ! आप ही चेतःस्वरूपा, आप ही सर्वेन्द्रियमूर्ति और आप ही पंचतन्मात्ररूपा महाभूतात्मिका हैं ॥ ४३ ।

शब्दादिरूपिणी त्वं वै करणानुग्रहा त्वमु ।
ब्रह्माण्डकर्त्री त्वं देवि ब्रह्माण्डान्तस्त्वमेव हि ॥ ४४ ।
त्वं पराऽसि महादेवि त्वं च देवि पराऽपरा ।
पराऽपराणां परमा परमात्मस्वरूपिणी ॥ ४५ ।
सर्वरूपा त्वमीशानि त्वमरूपाऽसि सर्वगे ।
त्वं चिच्छक्तिर्महामाये त्वं स्वाहा त्वं स्वधाऽमृते ॥ ४६ ।
वषड्वौषट्स्वरूपाऽसि त्वमेव प्रणवात्मिका ।
सर्वमन्त्रमयी त्वं वै ब्रह्माद्यास्त्वत्समुद्भवाः ॥ ४७ ।

पञ्चभूतगुणत्वेन इन्द्रियाधिष्ठातृदेवतारूपेण च स्तुवन्ति । **शब्दादीत्यर्धेन** । आदिशब्देन स्पर्शरूपरसगन्धा गृह्यन्ते । करणमिन्द्रियमनुगृह्णातीति करणानुग्रहा इन्द्रियाधिष्ठातृदेवतारूपेत्यर्थः । सर्वकर्तृत्वेन सर्वस्वरूपत्वेन च स्तुवन्ति । **ब्रह्माण्डेत्यर्धेन** । अन्तशब्दोऽत्र स्वरूपवचनः ॥ ४४ ।

ननु हिरण्यगर्भो ब्रह्माण्डं सृजति, ब्रह्माण्डं महदादिकार्यं भौतिकमेव किमत्राहं तत्राहुः । **त्वमिति** । त्वं परा ईश्वरी असि । हिरण्यगर्भं सृष्ट्वा तद्द्वारा त्वमेव ब्रह्माण्डं सृजसीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः–"**यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्**" इति । परं महदादि अपरं तत्कार्यं ते पराऽपरे तद्रूपा पराऽपरा । अतस्त्वमेव ब्रह्माण्डरूपेत्यर्थः । उपसंहरति । **पराऽपराणामिति** ॥ ४५ ।

ननु पराऽपररूपत्वे कथं परमात्मस्वरूपत्वं तत्राहुः । **मायया सर्वरूपत्वमिति** । वस्तुतोऽरूपाऽसि । अरूपत्वे हेतुस्त्वं चिच्छक्तिरिति । ज्ञानैकस्वरूपेत्यर्थः । सर्वरूपत्वं संक्षेपेण दर्शयन्ति । **त्वं स्वाहेति** ॥ ४६ ।

वैदिकमन्त्ररूपेण स्तुवन्ति । **वषडिति** । किञ्च किं बहुनेत्याहुः । **सर्वमन्त्रेति** । सर्वकारणत्वेन स्तुवन्ति । **ब्रह्मेति** । सर्वस्वरूपत्वमुपसंहरन्ति । **ब्रह्मेतीति** वा ॥४७।

हे देवि ! शब्द (स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) आदि का स्वरूप आप ही हैं, इन्द्रियों की अधिष्ठातृ देवता भी आप ही हैं । ब्रह्माण्ड की करने वाली (कर्त्री) आप ही हैं और ब्रह्माण्डरूपिणी भी आप ही हैं ॥ ४४ ।

हे देवि ! आप ही परा (ईश्वरी) हैं और आप ही पर और अपर की मूर्ति हैं । आप ही परापर के मध्य में परमा (सर्वोत्कृष्टा) हैं । फिर आप ही (साक्षात्) परमात्मस्वरूपिणी हैं ॥ ४५ ।

हे ईशानि ! सर्वत्र व्यापिनि ! आप रूप से रहित होने पर भी सर्वस्वरूपा हैं, हे अमृतस्वरूपिणि ! महामाये ! आप ही चित्शक्ति, आप ही स्वाहा और आप ही स्वधा हैं ॥ ४६ ।

आप ही वषट् और वौषट् की मूर्ति एवं प्रणवात्मिका हैं, आप तो सर्वमंत्रमयी हैं और ब्रह्मादिक भी आप ही से उत्पन्न हुए हैं ॥ ४७ ।

चतुर्वर्गात्मिका त्वं वै चतुर्वर्गफलोदये ।
त्वत्तः सर्वमिदं विश्वं त्वयि सर्वं जगन्निधे ॥ ४८ ।
यद्दृश्यं यददृश्यं स्थूलसूक्ष्मस्वरूपतः ।
तत्र त्वं शक्तिरूपेण किञ्चिन्न त्वदृते क्वचित् ॥ ४९ ।

मातस्त्वयाऽद्य विनिहत्य महासुरेन्द्रं
दुर्गं निसर्गविबुधार्पितदैत्यसैन्यम् ।
त्राताः स्म देवि सततं नमतां शरण्ये
त्वत्तोऽपरः क इह यं शरणं व्रजामः ॥ ५० ।

चतुवर्गात्मकत्वेन तद्दातृत्वेन च स्तुवन्ति । **चतुर्वर्गेति** । चतुर्वर्गफलस्य पुरुषार्थ-चतुष्टयफलस्योदयो यस्यास्तत्सम्बोधनं चतुर्वर्गफलोदये । उपसंहरति । **त्वत्त इति** । निमित्तकारणमात्रतां व्यावर्तयन्ति । त्वयीति । प्रलयकाले सर्वजगन्निधीयतेऽस्यामिति तत्सम्बोधनं तथा । जगन्मये इति क्वचित्' । **यदिति** । स्थूलसूक्ष्मस्वरूपतः स्थूलसूक्ष्म-स्वरूपं यद्दृश्यं पृथिव्यादि यददृश्यमाकाशादि तत्र त्वं शक्तिरूपेण वर्तसे । तत्तच्छक्तिरूपायां त्वयि तत्तद्वस्तुग्रथितम् इत्यर्थः । अतस्त्वां विना किञ्चिन्नाऽत्राऽस्तीति ॥ ४८-४९ ।

ननु ब्रह्मादीन् विहाय किमिति मां शरणं प्राप्तास्तत्राहुः । **मातरिति** । निसर्गविबुधा आजानसिद्धा देवा ब्रह्माद्याः पुंभ्योऽजेयत्वात्तेषु अर्पितं दैत्यसैन्यं येन दुर्गेण तं विनिहत्य ॥ ५० ।

हे चतुर्वर्गफलदायिनि ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की भी आप ही मूर्ति हैं । हे जगत्कर्त्री ! यह समस्त संसार आप ही से उत्पन्न हुआ और आप ही में प्रतिष्ठित है ॥ ४८ ।

स्थूल अथवा सूक्ष्मरूप से जो कुछ (वस्तु) वर्तमान है, वह दृश्य हो, किं वा अदृश्य हो, पर उस सबमें आप ही शक्तिरूप से विराजमान हैं, कहीं भी कोई वस्तु आप से भिन्न (पृथक्) नहीं है ॥ ४९ ।

हे मातः ! जिस दुर्गासुर ने स्वभावतः देवताओं के लिये दैत्यसेना का विस्तार किया था, उस महासुरेन्द्र को मारकर आपने हम लोगों का परित्राण किया । अतएव हे देवि ! प्रणतपालिनि ! आपको छोड़कर दूसरे किसके शरण में हम लोग जा सकते हैं?॥ ५० ।

लोके त एव धनधान्यसमृद्धिभाज-
स्ते पुत्रपौत्रसुकलत्रसुमित्रवन्तः ।
तेषां यशः प्रसरचन्द्रकरावदातं
विश्वं भवेद्भवसि येषु सुदृक् त्वमीशे ॥ ५१ ।
त्वद्भक्तचेतसि जने न विपत्तिलेशः
क्लेशः क्व वाऽनु भवतीनतिकृत्सु पुंसु ।
त्वन्नामसंस्मृतिजुषां सकलायुषां क्व
भूयः पुनर्जनिरिह त्रिपुरारिपत्नि ॥ ५२ ।
चित्रं यदत्र समरे स हि दुर्गदैत्य-
स्त्वद्दृष्टिपातमधिगम्य सुधानिधानम् ।
मृत्योर्वशत्वमगमद्विदितं भवानि
दुष्टोऽपि ते दृशि गतः कुगतिं न याति ॥ ५३ ।

विश्वं व्याप्येति शेषः । सुदृक् शोभनदृष्टिः ॥ ५१ ।

ननु निश्चितम् । भवतीनतिकृत्सु त्वत्प्रणामकर्तृषु । सकलायुषां सम्पूर्णायुषाम् । सफलायुषमिति वा पाठः ॥ ५२ ।

हे ईश्वरि ! आप जिन पर कृपाकटाक्ष फेर देती हैं, इस लोक में वे ही लोग धन, धान्य, समृद्धि, पुत्र, पौत्र, सुन्दर कलत्र और उत्तम मित्र से परिपूर्ण होते हैं, और उन्हीं लोगों के चन्द्रकिरणों के समान फैलते हुए शुभ्र यश से संसार भर जाता है ॥ ५१ ।

हे त्रिपुरारिपत्नि ! जिन लोगों के चित्त में आपकी भक्ति भरी है, उनको तो विपत्ति का लेश भी नहीं रह जाता और जो लोग आपको प्रणाम करनेवाले हैं, उन्हें भला क्लेश कहाँ से अनुभव हो सकता है ? यों ही जो लोग जन्म भर आप ही का नाम सुमिरन करते रहते हैं, इस संसार में फिर उनका जन्म कहाँ हो सकता है ? ॥ ५२ ।

हे भवानि ! यह तो सभी को विदित है कि, कोई कैसा ही दुष्ट क्यों न हो, पर आपके दृष्टिपथ पर पड़ जाने ही से कभी अधोगति को नहीं प्राप्त होता; परन्तु हम लोगों को तो यही बड़ा आश्चर्य है कि यह दुर्गासुर युद्ध में आपके अमृतोपम दृष्टिपात को पाकर भी मृत्यु के वशीभूत हो गया ॥ ५३ ।

त्वच्छस्त्रवह्निशलभत्वमिता अपीह
दैत्याः पतङ्गरुचिमाप्य दिवं व्रजन्ति ।
सन्तः खलेष्वपि न दुष्टधियो यतः स्युः
साधुष्विव प्रणयिनः स्वपथं दिशन्ति ॥ ५४ ।
प्राच्यां मृडानि परिपाहि सदा नतान्नो
याम्यामव प्रतिपदं विपदो भवानि ।
प्रत्यग्दिशि त्रिपुरतापनपत्नि रक्ष
त्वं पाह्युदीचि निजभक्तजनान् महेशि ॥५५।
ब्रह्माणि रक्ष सततं नतमौलिदेशं
त्वं वैष्णवि प्रतिकुलं परिपालयाऽधः ।
रुद्राग्निनैर्ऋति सदागति दिक्षु पान्तु
मृत्युञ्जय त्रिनयना त्रिपुरारिशक्त्यः ॥ ५६ ।

शलभत्वं पतङ्गत्वम् । यदाहाऽमरः-"समौ पतङ्गशलभौ" इति । पतङ्गरुचिं प्राप्य सूर्यमण्डलं भित्त्वेत्यर्थः । यदाहाऽमरः—"पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ चेति" ॥ ५४ ।

अव रक्ष । प्रतिपदं प्रतिक्षणम् । विपदो विपत्तेः । प्रतिपदमित्यत्र प्रतिकुलमिति पाठे प्रतिभक्तकुलमित्यर्थः ॥ ५५ ।

हे देवि ! दैत्यलोग भी आपके शस्त्रानल में यहाँ पर पतंग बनकर पतंग (सूर्य) मंडल को भेदते हुए स्वर्ग में चले जा रहे हैं । यही कारण है कि प्रणयशील सज्जनलोग दुष्टों पर भी साधुओं की तरह नीच बुद्धि न करके अपने ही पथ का उपदेश देते हैं ॥ ५४ ।

हे मृडानि ! हम सब आपको प्रणाम करते हैं । हे त्रिपुरान्तकमहिषि ! महेशि ! भवानि ! अपने भक्त हम लोगों को आप प्रतिपद में विपत्तियों से बचाकर पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण दिशाओं में सदैव रक्षा करती रहें ।

सँरच्छ मृडानि ! हमैं तुम पूरब, दक्खिन में विपदों से बँचाओं ।
मात! भवानि! सदा करु मो पर, छोंह यही विनती मन लाओ ॥
हे त्रिपुरारिपियारि ! सुनो, तुम पच्छिम ओर के दुःख भगाओ।
हौं तुम भक्त महेशि ! हमैं तुम, उत्तर में करुणा दरसाओ ॥ ५५ ।

हे ब्रह्माणि ! आप मेरे ऊपर के भाग का और हे वैष्णवि ! आप अधःप्रदेश का प्रतिपालन करें । हे देवि ! आप मृत्युंजयारूप से ईशानकोण, त्रिनयनारूप से अग्निकोण, त्रिपुरारूप से नैर्ऋत्यकोण और त्रिशक्तिरूप से वायुकोण में सदा रक्षा करें ॥ ५६ ।

पातु त्रिशूलममले तव मौलिजान्नो
भालस्थलं शशिकलाभृदुमा भ्रुवौ च ।
नेत्रे त्रिलोचनवधूर्गिरिजा च नासा-
मोष्ठं जया च विजया त्वधरप्रदेशम् ॥ ५७ ।
श्रोत्रद्वयं श्रुतिरवा दशनावलिं श्री-
श्चण्डी कपोलयुगलं रसनां च वाणी ।
पायात् सदैव चिबुकं जयमङ्गला नः
कात्यायनी वदनमण्डलमेव सर्वम् ॥ ५८ ।
कण्ठप्रदेशमवतादिह नीलकण्ठी
भूदारशक्तिरनिशं च कृकाटिकायाम् ।
कौर्म्यं सदेशमनिशं भुजदण्डमैन्द्री
पद्मा च पाणिफलकं नतिकारिणां नः ॥ ५९ ।
हस्ताङ्गुलीः कमलजा विरजा नखांश्च
कक्षान्तरं तरणिमण्डलगा तमोघ्नी ।
वक्षःस्थलं स्थलचरी हृदयं धरित्री
कुक्षिद्वयं त्ववतु नः क्षणदाचरघ्नी ॥ ६० ।

भालं ललाटम् ॥ ५७ ।

चिबुकम् ओष्ठाधरयोरधःप्रदेशम् ॥ ५८ ।

भूदारशक्तिर्वाराही । कृकाटिकायामवटौ द्वितीयार्थे सप्तमी । ग्रीवा शिरः सन्धेः पश्चात्पृष्ठवंशोपरिभागे इत्यर्थः । यदाहाऽमरः-"वटुर्घाटा कृकाटिकेति" । पाणिफलकं हस्तखण्डकम् ॥ ५९ ।

हे अमले ! आपका यह त्रिशूल हम लोगों के केशों की रक्षा करे, (हे मातः) चन्द्रकलावतंसा हमारे भालस्थल, उमादेवी दोनों भ्रू, त्रिलोचनवधू दोनों नेत्र, गिरिजा नासिका, जया ओष्ठ, विजया अधर देश की रक्षा करें ॥ ५७ ।

श्रुतिस्वना दोनों कान, श्रीदेवी दन्तपंक्ति, चंडिका दोनों गाल, वाणी जिह्वा, जयमंगला ठुड्ढी, कात्यायनी समस्त मुखमंडल का पालन करें ॥ ५८ ।

नीलकंठी कंठप्रदेश, वाराही गले की घंटी, कूर्मशक्ति स्कन्ध, ऐन्द्री भुजदंड, पद्मा पाणिफलक, कमला हस्तांगुली, विरजा नखश्रेणी, सूर्यमंडलस्था तमोनाशिनी सौरी शक्ति कक्षान्तर, स्थलचरी वक्षःस्थल, धरित्री हृदय, क्षणदाचरघ्नी दोनों कोख, जगदीश्वरी उदरदरी, नभोगति नाभि, अजादेवी पृष्ठदेश, विकटा कटिभाग, परमा

अव्यात् सदोदरदरीं जगदीश्वरी नो
नाभिं नभोगतिरजा त्वथ पृष्ठदेशम् ।
पायात् कटिं च विकटा परमा स्फिचौ नो
गुह्यं गुहारणिरपानमपायहन्त्री ॥ ६१ ।
ऊरुद्वयं च विपुला ललिता च जानू
जङ्घे जवाऽवतु कठोरतराऽत्र गुल्फौ ।
पादौ रसातलचराऽङ्गुलिदेशमुग्रा
चान्द्री नखान् पदतलं तलवासिनी च ॥ ६२ ।
गृहं रक्षतु नो लक्ष्मीः क्षेत्रं क्षेमकरी सदा ।
पातु पुत्रान् प्रियकरी पायादायुः सनातनी ॥ ६३ ।
यशः पातु महादेवी धर्मं पातु धनुर्धरी ।
कुलदेवी कुलं पातु सद्गतिं सद्गतिप्रदा ॥ ६४ ।
रणे राजकुले द्यूते संग्रामे शत्रुसङ्कटे ।
गृहे वने जलादौ च सर्वाणी सर्वतोऽवतु ॥ ६५ ।

उदरदरीं जठरगुहाम् । कटिं श्रोणिम् । स्फिचौ प्रोथौ । यदाहाऽमरः–"स्त्रियां स्फिचौ कटि प्रोथाविति" । गुह्यं गुह्येन्द्रियं शिश्नमिति यावत् । अपानमपानेन्द्रियं गुदमित्यर्थः ॥ ६१ ।

जानू जानुनी ऊरुपर्वणी इत्यर्थः । यदाहाऽमरः–"जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियामिति" । जङ्घे प्रसृते जानुनोरधोभागौ । गुल्फौ पादग्रन्थी । चान्द्री चन्द्रशक्तिः रोहिणी वा ॥ ६२ ।

नितम्बतल, गुहारणि गुह्यदेश, अपायहन्त्री पायुस्थान, विपुला ऊरुद्वय, ललिता दोनों घुटना, जयादेवी दोनों जंघा, कठोरता पैर की दोनों घुट्टी, रसातलचरा दोनों पाद, उग्रा पैर की अंगुली, चान्द्री पैर के नख और तलवासिनी देवी हम लोगों के तलवा की सदैव रक्षा करें ॥ ५९-६२ ।

लक्ष्मी देवी सर्वदा हम लोगों के गृह की, क्षेमकरी क्षेत्र की, प्रियकरी पुत्रों की और सनातनी आयुष्य की रक्षा करें ॥ ६३ ।

महादेवी यश की, धनुर्धरी धर्म की, कुलदेवी कुल की, सद्गतिप्रदा सद्गति की रक्षा करें ॥ ६४ ।

शर्वाणी देवी रण, राजकुल, द्यूत, संग्राम, शत्रुसंकट, गृह, वन और जलादिक में सर्वत्र ही बँचावें॥ ६५ ।

इति स्तुत्वा जगद्धात्रीं प्रणेमुश्च पुनः पुनः ।
सर्वे सवासवा देवाः सर्षिगन्धर्वचारणाः ॥ ६६ ।
ततस्तुष्टा जगन्माता तानाह सुरसत्तमान् ।
स्वाधिकारान् सुराः सर्वे शासतु प्राग् यथा यथा ॥ ६७ ।
तुष्टाऽहमनया स्तुत्या नितरां तु यथार्थया ।
वरमन्यं प्रदास्यामि तच्छृणुध्वं सुरोत्तमाः ॥ ६८ ।

दुर्गोवाच–

यः स्तोष्यति तु मां भक्त्या नरः स्तुत्याऽनया शुचिः ।
तस्याऽहं नाशयिष्यामि विपदं च पदे पदे ॥ ६९ ।
एतत्स्तोत्रस्य कवचं परिधास्यति यो नरः ।
तस्य क्वचिद्भयं नास्ति वज्रपञ्जरगस्य हि ॥ ७० ।
अद्य प्रभृति मे नाम दुर्गेति ख्यातिमेष्यति ।
दुर्गदैत्यस्य समरे पातनादतिदुर्गमात् ॥ ७१ ।

यथार्थया स्वान्वयया । यथा तथेति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ६८ ।

दुर्गेति दुर्गनामानं दैत्यं हन्तीति दुर्गा । घ्नेत्यस्याऽश्रवणमार्षम् । यद्वा दुर्गामति-दुर्गमं दुर्गदैत्यस्य हननं घातनमस्या अस्तीति दुर्गा । अर्श आदिभ्योऽच् । तदेतदाह–, दुर्गदैत्यस्येति ॥ ७१ ।

इस प्रकार से महर्षि, गन्धर्व और चारणों के सहित इन्द्रादिदेवगण स्तुति करके बारंबार जगज्जननी को प्रणाम करने लगे ॥ ६६ ।

तदनन्तर जगद्धात्री ने संतुष्ट होकर उन सब सुरोत्तमों से कहा कि– हे देवतागण ! तुम लोग पूर्ववत् अपने-अपने अधिकारों का शासन करते जाओ ॥ ६७ ।

हे सुरोत्तमगण ! मैं तुम लोगों की इस यथार्थ स्तुति से बहुत ही प्रसन्न हूँ, अतएव एक और भी वरदान करती हूँ, श्रवण करो ॥ ६८ ।

दुर्गादेवी बोलीं–

'जो मनुष्य पवित्र होकर भक्तिपूर्वक इस स्तोत्र के द्वारा मेरी स्तुति करेगा, मैं पद-पद में उसकी (सब) विपत्तियों का विनाश कर दूँगी ॥ ६९ ।

इस वज्रपंजर स्तोत्र के मध्यवर्ती कवच को जो मनुष्य धारण करेगा, उसे कहीं पर कोई भी भय नहीं होगा ॥ ७० ।

रणक्षेत्र में परम दुर्गम दुर्गासुर के मारने के कारण आज से मेरा दुर्गा नाम प्रसिद्ध होगा ॥ ७१ ।

ये मां दुर्गां शरणगा न तेषां दुर्गतिः क्वचित् ।
दुर्गास्तुतिरियं पुण्या वज्रपंञ्जरसंज्ञिका ॥ ७२ ।
अनया कवचं कृत्वा मा बिभेतु यमादपि ।
भूतप्रेतपिशाचाश्च शाकिनी-डाकिनीगणाः ॥ ७३ ।
झोटिङ्गा राक्षसाः क्रूरा विषसर्पाग्निदस्यवः ।
वेतालाश्चापि कङ्कालग्रहा बालग्रहा अपि ॥ ७४ ।
वातपित्तादिजनितास्तथा च विषमज्वराः ।
दूरादेव पलायन्ते श्रुत्वा स्तुतिमिमां शुभाम् ॥ ७५ ।
वज्रपञ्जरनामैतत्स्तोत्रं दुर्गाप्रशंसनम् ।
एतत्स्तोत्रकृतत्राणे वज्रादपि भयं न हि ॥ ७६ ।
अष्टजप्तेन चाऽनेन योऽभिमन्त्र्य जलं पिबेत् ।
तस्योदरगता पीडा क्वापि नो संभविष्यति ॥ ७७ ।
गर्भपीडा तु नो जातु भविष्यत्यभिमन्त्रणात् ।
बालानां परमा शान्तिरेतत्स्तोत्राम्बुपानतः ॥ ७८ ।

मा बिभेतु भयं मा करोतु । शाकिनीडाकिन्यौ दुष्टग्रहविशेषौ ॥ ७३ ।

झोटिङ्गाः पिशाचाः । झटिङ्गा इति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । वेताला भूतविशेषाः । कङ्कालाः पिशाचभेदाः ॥ ७४ ।

जो लोग मुझ दुर्गा के शरणागत होंगे, उनको कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ेगी । यह वज्रपंजर नामक प्रमम पवित्र दुर्गा कीं स्तुति है ॥ ७२ ।

इसको कवचरूप में धारण करने से यमराज का भी भय नहीं हो सकता । भूत, प्रेत, पिशाच, शाकिनी, डाकिनी आदि का भी भय नहीं होगा । झोटिंग, राक्षस, क्रूरगण, विषधर सर्प, अग्नि, चोर, वेताल, कंकाल, ग्रहगण, बालग्रह से भी रक्षा होगी ॥ ७३-७४ ।

वातपित्तादि से उत्पन्न तथा विषमज्वर इत्यादि इस उत्तम स्तोत्र के सुनने ही से बहुत दूर भाग जाते हैं ॥ ७५ ।

यह 'वज्रपंजर नामक स्तोत्र' दुर्गा की महिमा का प्रकाशक है । इस स्तोत्र के द्वारा रक्षित जन को वज्र से भी कुछ भय नहीं होता ॥ ७६ ।

जो कोई इस स्तोत्र से आठ बार अभिमंत्रित करके जल पियेगा, उसे कभी उदरपीड़ा नहीं होगी ॥ ७७ ।

और भी, इस स्तोत्र से अभिमंत्रित जल को पीने से गर्भ की पीड़ा दूर होगी । लड़कों के लिये तो और भी परमशान्तिकारक होगा ॥ ७८ ।

यत्र सान्निध्यमेतस्य स्तवस्येह भविष्यति ।
एतास्तु शक्तयः सर्वाः सर्वत्र सहिता मया ॥ ७९ ।
रक्षां परिकरिष्यन्ति मद्भक्तानां ममाज्ञया ।
इति दत्वा वरान् देवी देवेभ्योऽन्तर्हिता तदा ।
तेऽपि स्वर्गौकसः सर्वे स्वं स्वं स्वर्गं ययुर्मदा ॥ ८० ।

स्कन्द उवाच–

इत्थं दुर्गाऽभवन्नाम तया देव्या महामुने ।
काश्यां सेव्या यथा सा च तच्छृणुष्व वदामि ते ॥ ८१ ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां भौमवारे विशेषतः ।
सम्पूज्या सततं काश्यां दुर्गा दुर्गतिनाशिनी ॥ ८२ ।
नवरात्रं प्रयत्नेन प्रत्यहं सा समर्चिता ।
नाशयिष्यति विघ्नौघान् सुमतिं च प्रदास्यति ॥ ८३ ।
महापूजोपहारैश्च महाबलिनिवेदनैः ।
दास्यत्यभीष्टदा सिद्धिं दुर्गा काश्यां न संशयः ॥ ८४ ।

रक्षामिति । परि परितः सर्वतोभावेनेत्यर्थः ॥ ८० ।
तया तस्या इत्यर्थः । तस्या इति वा पाठः ॥ ८१ ।
नवरात्रम् आश्विनशुक्लपक्षीयम् । सुमतिं ज्ञानम् । सद्गतिमिति क्वचित् ॥ ८३।
महाबलिरित्यत्र बलिशब्देन पक्वान्नानि गृह्यन्ते ॥ ८४ ।

जगत् में जहाँ कहीं यह स्तोत्र विद्यमान रहेगा, वहाँ पर ये सब शक्तियाँ मेरे साथ रहेंगी ॥ ७९ ।

वे शक्तियाँ मेरी ही आज्ञा से मेरे भक्तलोगों की पूर्ण रक्षा करेंगी"। इस प्रकार से देवताओं को वर देकर भगवती अन्तर्धान हो गईं और उन देवताओं ने भी बड़े हर्ष से अपने-अपने स्थान को प्रस्थान किया ॥ ८० ।

स्कन्द ने कहा–

हे महर्षे ! इस प्रकार से उन देवी का दुर्गा नाम पड़ा । अब जैसे काशी में उनका सेवन करना चाहिए, सो भी तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ८१ ।

अष्टमी, चतुर्दशी और विशेषकरके मंगलवार को काशी में दुर्गतिहारिणी दुर्गा देवी का निरन्तर पूजन करना चाहिए ॥ ८२ ।

प्रयत्नपूर्वक नवरात्र भर प्रतिदिन पूजन करने से वह विघ्नराशियों का नाश करती और सुमति को देती हैं ॥ ८३ ।

विविध उपचारों से पूजन और महाबलिप्रदान करने से दुर्गादेवी काशी में निःसन्देह अभीष्टसिद्धि को देती हैं ॥ ८४ ।

प्रतिसंवत्सरं तस्याः कार्या यात्रा प्रयत्नतः ।
शारदं नवरात्रं च सकुटुम्बैः शुभार्थिभिः ॥ ८५ ।
यो न सांवत्सरीं यात्रां दुर्गायाः कुरुते कुधीः ।
काश्यां विघ्नसहस्राणि तस्य स्युश्च पदे पदे ॥ ८६ ।
दुर्गाकुण्डे नरः स्नात्वा सर्वदुर्गार्तिहारिणीम् ।
दुर्गां सम्पूज्य विधिवन्नवजन्माघमुत्सृजेत् ॥ ८७ ।
सा दुर्गा शक्तिभिः सार्धं काशीं रक्षति सर्वतः ।
ताः प्रयत्नेन सम्पूज्याः कालरात्रिमुखा नरैः ॥ ८८ ।
रक्षन्ति क्षेत्रमेतद्वै तथाऽन्या नवशक्तयः ।
उपसर्गसहस्रेभ्यस्ता वै दिग्देवताः क्रमात् ॥ ८९ ।
शतनेत्रा सहस्रास्या तथाऽयुतभुजा परा ।
अश्वारूढा गजास्या च त्वरिता शववाहिनी ॥ ९० ।
विश्वा सौभाग्यगौरी च सृष्टाः प्राच्यादिमध्यतः ।
एता यत्नेन सम्पूज्याः क्षेत्ररक्षणदेवताः ॥ ९१ ।

शारदं तदेव ॥ ८५ ।

कालरात्रिमुखाः कालरात्रिप्रधानाः ॥ ८८ ।

त्वरिता वेगवत्तरा ॥ ९० ।

सृष्टानि सृष्टा नियुक्ता इति यावत् । देव्या इति शेषः । सृष्ट्येति पाठे सृष्टिमार्गेणेत्यर्थः । प्राच्यादिमध्यतः प्राच्यादिषु दिक्षु मध्ये चेत्यर्थः ॥ ९१ ।

शुभार्थी लोगों को कुटुम्ब के साथ प्रयत्नपूर्वक प्रतिवर्ष चैत्र और कुआर के नवरात्र में उनकी यात्रा करनी चाहिए ॥ ८५ ।

जो दुर्बुद्धिजन प्रतिसंवत्सर दुर्गादेवी की यात्रा नहीं करता, काशी में उसे पद-पद पर सहस्रों ही विघ्न उपस्थित होते हैं ॥ ८६ ।

जो मनुष्य (नवरात्र भर) दुर्गाकुंड में स्नान और सर्वविध दुर्गार्तिहारिणी भगवती दुर्गादेवी का विधिपूर्वक पूजन करता है, वह नव जन्म के संचित पापों से छूट जाता है ॥ ८७ ।

भगवती दुर्गादेवी कालरात्रिप्रभृति शक्तियों के साथ चारों ओर से काशीपुरी की रक्षा करती रहती हैं । अतएव लोगों को उन सब का पूजन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए ॥ ८८ ।

इनसे भिन्न और भी दिशाओं की अधिष्ठात्री देवता नव शक्तियाँ हैं । वे भी क्रम से इस अविमुक्तक्षेत्र में सहस्रों उपद्रवों से रक्षा किया करती हैं ॥ ८९ ।

शतनेत्रा, सहस्रास्या, अयुतभुजा, अश्वारूढ़ा, गजास्या, त्वरिता, शववाहिनी, विश्वागौरी और **सौभाग्यगौरी** इन नवों क्षेत्ररक्षक देवियों का पूर्वादि आठों दिशाओं में और (एक) मध्य में बड़े यत्न से पूजन करना चाहिए ॥ ९०-९१ ।

तथैव भैरवाश्चाष्टौ दिक्ष्वष्टासु प्रतिष्ठिताः ।
रक्षन्ति सततं काशीं निर्वाणश्रीनिकेतनम् ॥ ९२ ।
रुरुश्चण्डोऽसिताङ्गश्च कपाली क्रोधनस्तथा ।
उन्मत्तभैरवस्तद्वत् क्रमात्संहारभीषणौ ॥ ९३ ।
चतुःषष्टिस्तु वेताला महाभीषणमूर्तयः ।
रुण्डमुण्डस्रजः सर्वे कर्त्रीखर्परपाणयः ॥ ९४ ।
श्ववाहना रक्तमुखा महादंष्ट्रा महाभुजाः ।
नग्ना विमुक्तकेशाश्च प्रमत्ता रुधिरासवैः ॥ ९५ ।
नानारूपधराः सर्वे नानाशस्त्रास्त्रपाणयः ।
तदाकारैश्च तद्भृत्यैः कोटिशः परिवारिताः ॥ ९६ ।
विद्युज्जिह्वो ललज्जिह्वः क्रूरास्यः क्रूरलोचनः ।
उग्रो विकटदंष्ट्रश्च वक्रास्यो वक्रनासिकः ॥ ९७ ।
जम्भको जृम्भणमुखो ज्वालानेत्रो वृकोदरः ।
गर्तनेत्रो महानेत्रस्तुच्छनेत्रोऽन्त्रमण्डनः ॥ ९८ ।

निवार्णश्रीनिकेतनं कैवल्यस्य रम्यं स्थानं कैवल्यलक्ष्म्या निकेतनमिति वा ॥ ९२ ।

क्रमात् प्राच्यादिक्रमात् ॥ ९३ ।

रुण्डमुण्डस्रजः कबन्धशिरोमालाः ॥ ९४ ।

रुधिरासवैः रुधिराण्येव आसवा मद्यानि तैः ॥ ९५ ।

कोटिशो रुधिराशना इति क्वचित् । कोटिशोऽपरिमिताः ॥ ९६ ।

तेषु चतुःषष्ट्यां कांश्चिद्वेतालान् दर्शयति । विद्युज्जिह्व इति त्रयेण ॥ ९७ ।

इसी रीति से आठ भैरव आठों दिशाओं में नियुक्त हैं, वे सब निर्वाणलक्ष्मी के स्थान काशीक्षेत्र कीं निरन्तर रक्षा करते रहते है ॥ ९२ ।

उनके ये नाम हैं, रुरु, चंड, असितांग, कपाली, क्रोधन, उन्मत्त, संहार और भीषण भैरव ॥ ९३ ।

इसी भाँति से महाभयंकरमूर्ति, रुंड और मुंड की माला से सुसज्जित कर्तनी और ख़प्पर हाथ में लिये हुए, कुत्ता को वाहन बनाये, रक्तमुख, विशालदंष्ट्रा, दीर्घबाहु, नग्नदेह, शिर के बालों को खोले, रुधिर और मद्य के पीने से प्रमत्त नानाविध रूप धरने वाले, विविध अस्त्र-शस्त्रों के धारणकर्त्ता और अपने ही समान करोड़ो अनुचरों से वेष्टित, विद्युज्जिह्व, ललज्जिह्व, क्रूरास्य, क्रूरलोचन, उग्र,

ज्वलत्केशः कम्बुशिराः खर्वग्रीवो महाहनुः ।
महानासो लम्बकर्णः कर्णप्रावरणोऽनसः ॥ ९९ ।
इत्यादयो मुने क्षेत्रं दुर्वृत्तरुधिरप्रियाः ।
त्रासयन्तो दुराचारान् रक्षन्ति परितः सदा ॥ १०० ।
त्रैलोक्यविजयाद्याश्च ज्वालामुख्यन्तगाश्च याः ।
शक्तयोऽत्र मया ख्याता मुने कलशसंभव ॥ १०१ ।
ताः काशीं परिरक्षन्ति चतुर्दिक्षूद्यतायुधाः ।
ताः समर्च्याः प्रयत्नेन महाविघ्नप्रशान्तये ॥ १०२ ।
भैरवा रुरुमुख्याश्च महाभयनिवारकाः ।
सम्पूज्याः सर्वदा काश्यां सर्वसम्पत्तिहेतवः ॥ १०३ ।
विद्युज्जिह्वप्रभृतयो वेताला उग्ररूपिणः ।
अत्युग्रानपि विघ्नौघान् हरिष्यन्त्यर्चिता इह ॥ १०४ ।
तथा भूतावली चात्र नानाभीषणरूपिणी ।
उदायुधाऽवति पुरीं शतकोटिमिता मुने ॥ १०५ ।

भूतावली भूतपङ्क्तिर्भूतसमूह इत्यर्थः । अवति रक्षति ॥ १०५ ।

विकटदंष्ट्र, वक्रमुख, वक्रनासिक, जंभक, जृंभणमुख, ज्वालानेत्र, वृकोदर, गर्तनेत्र, महानेत्र, तुच्छनेत्र, अंत्रमंडन, ज्वलत्केश, कंबुशिरा, खर्वग्रीव, महाहनु, महानास, लंबकर्ण, कर्णप्रावरण और अनस—इत्यादि दुर्वृत्त और रुधिरप्रिय चौंसठ वेताल, दुराचारी लोगों को त्रासित करते हुए चारों ओर से सदैव क्षेत्र को सुरक्षित रखते हैं ॥ ९४-१०० ।

हे कुंभज-मुने ! मैंने पूर्व में जो त्रैलोक्यविजया से लेकर ज्वालामुखीपर्यन्त शक्तियों का वर्णन किया है; वे सब चारों ही दिशाओं में आयुधों से सुसज्जित होकर काशीपुरी का रक्षण किया करती हैं । बड़े-बड़े विघ्नों की शान्ति के लिये उन सबका प्रयत्नपूर्वक पूजन करना उचित है ॥ १०१-१०२ ।

यों ही पूर्वोक्त रुरु आदि भैरवों की भी सदा पूजा करनी चाहिए; क्योंकि वे सब भी काशी में बड़े से बड़े भयों के दूरकर्ता और सब सम्पत्तियों के प्रधान कारण हैं ॥ १०३ ।

और विद्युज्जिह्वप्रभृति उग्रवेताल लोग भी काशी में पूजा पाने पर बड़े ही भयंकर विघ्नवृन्दों को हर लेते हैं ॥ १०४ ।

यहाँ पर नानाभाँति की भीषण मूर्तिवाले अस्त्र-शस्त्रों से भूषित एक करोड़ भूतगण भी इस पुरी की रक्षा में लगे रहते हैं ॥ १०५ ।

निर्वाणलक्ष्मीक्षेत्रस्य पालयित्री पदे पदे ।
एता वै देवताः पूज्याः काश्यां निर्वाणकाङ्क्षिभिः ॥ १०६ ।
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं नरो दुर्गजयाऽभिधम् ।
नानाशक्तिसमायुक्तं दुर्गमाशु तरिष्यति ॥ १०७ ।
य एते भैरवाः प्रोक्ता ये वेताला उदाहृताः ।
तेषां नामानि चाकर्ण्य नरो विघ्नैर्न दूयते ॥ १०८ ।
अदृष्टा अपि ते भूता एतदाख्यानपाठकम् ।
रक्षिष्यन्ति प्रयत्नेन सह श्रोतृजनेन च ॥ १०९ ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन काशीभक्तिपरैर्नरैः ।
श्रोतव्यमिदमाख्यानं महाविघ्ननिवारणम् ॥ ११० ।
गृहेऽपि यस्य लिखितमेतत्स्थास्यति पूजितम् ।
तस्याऽऽपदां सहस्राणि नाशयिष्यन्ति देवताः ॥ १११ ।

पदे पदे क्षणे क्षणे ॥ १०६ ।

दुर्गं सङ्कटम् ॥ १०७ ।

सहेति । श्रोतारमपि रक्षिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १०९ ।

अहंबुद्धिगृहीतानां रक्षणं प्रार्थयित्वा ममबुद्धिगृहीतानामपि तत्प्रार्थयति । गृहेऽपीति ॥ १११ ।

ये सब भी पद-पद पर निर्वाणलक्ष्मीक्षेत्र के पालक हैं । अतएव काशी में मोक्षार्थी लोगों को इन सब देवताओं का पूजन अवश्य करना चाहिए ॥ १०६ ।

दुर्गाविजय नामक अनेक शक्तियों (की कथा) से भरे हुए इस पुण्य अध्याय के श्रवण करने से मनुष्य शीघ्र ही आपत्ति से पार हो जाता है ॥ १०७ ।

ये सब जो भैरव कहे गये हैं और वेतालों का वर्णन हुआ है, उनके केवल नाम भी सुन लेने से मनुष्य (कभी) विघ्नों से नहीं पीड़ित होने पाता ॥ १०८ ।

उक्त भूतगण दृष्टिगोचर न होने पर भी इस कथा के पढ़ने वाले और सुनने वाले लोगों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं ॥ १०९ ।

इसलिये जिन लोगों की काशी पर (दृढ़) भक्ति हो, उनको तो महाविघ्न-निवारक इस आख्यान को अवश्य सुनना उचित है ॥ ११० ।

जिसके घर में यह उपाख्यान लिखकर सादर रखा भी रहेगा, देवता लोग उसकी सहस्रों ही आपत्तियों का नाश कर देंगे ॥ १११ ।

काश्यां यस्याऽस्ति वै प्रेम तेन कृत्वाऽऽदरं गुरुम् ।
श्रोतव्यमिदमाख्यानं वज्रपञ्जरसंनिभम् ॥ ११२ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दुर्गाविजयो नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

गुरुं महान्तम् ॥ ११.२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

जिसका काशी पर अटल प्रेम हो, उसे बड़े आदर के साथ इस 'वज्रपंजर' नामक उपाख्यान को सुनना चाहिए ॥ ११२ ।

सकल देवग्रह शक्ति विशाला, भैरव भूत प्रेत अरु काला ।
दुर्गा भजे करहिं सब रच्छा, शक्तिमान जग सब से अच्छा ॥ १ ॥
होत सबै कछु शक्ति ते, शक्तिहीन कछु नाँहि ।
देखिय शक्तिप्रभाव जग, शक्ति बिना केहि माँहि ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां दुर्गाविजयो नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

॥ अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

त्रिलोचनं समासाद्य देवदेवः षडानन ।
जगदम्बिकया युक्तः किं चकाराऽऽशु तद्वद ॥ १ ॥

स्कन्द उवाच–

मुने कलशजाऽऽख्यामि यत्पृष्टं तन्निशामय ।
विरजःसंज्ञकं पीठं यत्प्रोक्तं सर्वसिद्धिदम् ॥ २ ॥
तत्पीठदर्शनादेव विरजा जायते नरः ।
यत्रास्ति तन्महालिङ्गं वाराणस्यां त्रिलोचनम् ॥ ३ ॥
तीर्थं पिलिपिलाख्यं तद्द्युनद्यम्भसि विश्रुतम् ।
सर्वतीर्थमयं तीर्थं तत्काश्यां परिगीयते ॥ ४ ॥

त्रिसप्ततितमेऽध्याये श्रीमदोङ्कारवर्णनम् ।
क्रियतेऽतीव पापघ्नं महाश्चर्यप्रदं नृणाम् ॥ १ ॥
नन्दिनं सन्निदेश्येति मृडान्या सहितो मृडः ।
ययौ त्रैविष्टपं क्षेत्रं मुक्तिबीजप्ररोहणम् ॥

इत्युक्तमतः पृच्छति । त्रिलोचनमिति ॥ १ ॥
पिलिपिलेति लक्ष्म्या एव नामान्तरम् ॥ ४ ॥

(ओङ्कारेश्वर का माहात्म्य-वर्णन)

अगस्त्य ने पूछा–

'हे षडानन ! भगवान् महेश्वर ने जगदम्बा के साथ त्रिलोचन लिंग के समीप जाकर क्या किया ? आप उसे शीघ्रता से बता दें' ॥ १ ॥

स्कन्द ने कहा–

हे घटयोने ! मुने ! तुमने जो-जो पूछा है, उसे मैं कहता हूँ, श्रवण करो । विरजनामक पीठ सर्वसिद्धियों का दाता कहा गया है ॥ २ ॥

उस पीठ के दर्शन से ही मनुष्य रजोगुण से रहित हो जाता है । यह (सिद्धपीठ) वाराणसी पुरी में जहाँ पर त्रिलोचन महालिंग है, वहीं पर पिलपिलातीर्थ के नाम से गंगा के जल में प्रसिद्ध है । काशी में यह तीर्थ 'सर्वतीर्थमय कहा जाता है ॥ ३-४ ॥

विष्टपत्रितयान्तर्ये देवर्षिमनुजोरगाः ।
ससरित्पर्वतारण्याः सन्ति ते तत्र यन्मुने ॥ ५ ।
तदारभ्य च तत्तीर्थं तच्च लिङ्गं त्रिलोचनम् ।
त्रिविष्टपमिति ख्यातमतो हेतोर्महत्तरम् ॥ ६ ।
त्रिविष्टपस्य लिङ्गस्य महिमोक्तः पिनाकिना ।
जगज्जनन्याः पुरतो यथा वच्मि तथा मुने ॥ ७ ।

देव्युवाच--

देवदेव जगन्नाथ शर्व सर्वद सर्वग ।
सर्वदृक् सर्वजनक किञ्चित् पृच्छामि तद्वद ॥ ८ ।
इदं तव प्रियं क्षेत्रं कर्मबीजमहौषधम् ।
नैःश्रेयस्याः श्रियो गेहं ममाऽपि प्रीतिदं महत् ॥ ९ ।

तीर्थलिङ्गयोस्त्रिविष्टपं नाम त्रिविष्टपनामनिरुक्त्या दर्शयति । **विष्टपेति** । विष्टपत्रितये भुवनत्रयमध्ये । तत्रेति तीर्थलिङ्गयोर्निरुक्तिः । **यद्यतः** ॥ ५ ।

महत्तरं श्रेष्ठतमं च । पाठान्तरं[1] स्पष्टम् ॥ ६ ।

सर्वोपकारार्थमत्रैव पृच्छति । **देवदेवेति** नवभिः । देवदेवेति सम्बोधनानि भक्त्युद्रेकख्यापकानि । सर्वद सर्वगेत्यत्र सर्वसमर्चितेति क्वचित् ॥ ८ ।

हे मुनिवर ! उसका कारण यही है कि, तीनों लोक में जितने देवता, ऋषि, मनुष्य, नाग, नदी, पर्वत और अरण्य हैं, वे सब वहाँ पर विराजमान रहते हैं ॥ ५ ।

इसी कारण से वह तीर्थ और त्रिलोचनलिंग दोनों ही त्रिविष्टप नाम से आज तक विख्यात और सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ ६ ।

हे मुने ! भगवान् पिनाकी ने जगज्जननी के आगे त्रिलोचन-लिंग की जैसी महिमा कही थी, वैसी ही मैं भी तुमसे कहता हूँ ॥ ७ ।

देवी ने कहा--

हे देवदेव ! जगन्नाथ ! सर्वप्रद ! सर्वव्यापक ! समदर्शिन् ! सर्वजनक ! शर्व ! मैं कुछ पूछती हूँ, आप उसे बतायें ॥ ८ ।

यह काशी-क्षेत्र कर्मबीज का महौषध है और मोक्षलक्ष्मी का मन्दिर है, फिर यह आपको जैसे प्यारा है, मुझे भी बहुत ही प्रीतिदायक है ॥ ९ ।

---

1. अतो हेतोस्त्रिविष्टपे इति पाठः ।

यत्क्षेत्ररजसोऽप्यग्रे त्रिलोक्यपि तृणायते ।
तस्याऽखिलस्य महिमा विष्वक्केनाऽवगम्यते ॥ १० ॥
यानीह सन्ति लिङ्गानि तानि सर्वाण्यसंशयम् ।
निर्वाणकारणान्येव स्वयंभून्यपि तान्यपि ॥ ११ ॥
यद्यप्येवं तथापीश विशेषं वक्तुमर्हसि ।
काश्यामनादिसिद्धानि कानि लिङ्गानि शङ्कर ॥ १२ ॥
यत्र देवः सदा तिष्ठेत् संवर्तेऽपि सवल्लभः ।
यैरियं प्रथितिं प्राप्ता काशी मुक्तिपुरीति च ॥ १३ ॥
येषां स्मरणतोऽप्यत्र भवेत्पापस्य संक्षयः ।
दर्शनस्पर्शनाभ्यां च स्यातां स्वर्गापवर्गकौ ॥ १४ ॥
येषां समर्चनादेव मध्ये जन्म सकृद् विभो ।
लिङ्गानि पूजितानि स्युः काश्यां सर्वाणि निश्चितम् ॥ १५ ॥

विष्वक् सर्वव्यापीत्यर्थः । केन ब्रह्मणा येन केनाऽपि वाऽवगम्यते काक्वा नाऽवगम्यत एवेत्यर्थः ॥ १० ।

स्वयंभून्यपि इत्यत्र स्वभूमिष्ठानीति पाठे स्वस्थानस्थितानि । स्वयंभूस्थापितानीति पाठे स्वयंभूनि स्थापितानीत्यर्थः ॥ ११ ।

यत्र काश्याम् । सवल्लभः सशक्तिकः ॥ १३ ।

जन्मनो मध्ये मध्ये जन्म सकृत् समर्चनादित्यन्वयः ॥ १५ ।

जिस क्षेत्र की धूल के आगे समस्त त्रैलोक्य भी तृण के समान हो जाता है, उसकी पूरी-पूरी महिमा यथार्थतः कौन जान सकता है ? ॥ १० ।

यहाँ पर जितने लिङ्ग हैं, वे चाहे स्वयं प्रकट हुए हों अथवा स्थापित किये गये हों, निःसन्देह सभी निर्वाण के कारण होते हैं ॥ ११ ।

हे शंकर ! यद्यपि यह बात तो ऐसी ही है, पर इस काशी में कौन-कौन से अनादिसिद्ध लिंग हैं, हे ईश ! इसे विशेषरूप से वर्णन कीजिये ॥ १२ ।

जहाँ पर आप शक्ति के सहित प्रलयकाल में भी सदा रहते हैं और जिन लिंगों के (विराजमान) रहने ही से यह काशी मुक्तिपुरी नाम से प्रसिद्ध हुई है— उन्हें बताइए ॥ १३ ।

यहाँ पर जिनके स्मरण मात्र से पाप का क्षय हो जाता है और दर्शन और स्पर्शन करने से स्वर्ग एवं मोक्ष मिलता है ॥ १४ ।

फिर जन्म भर के बीच में एक बार भी जिनका पूजन करने से काशी के समस्त लिंगों की पूजा हो जाती है । हे करुणामृतसागर ! शंभो ! मुझ पर अनुग्रह

विधाय मय्यनुक्रोशं कारुण्यामृतसागर ।
एतदाचक्ष्व मे शम्भो पादयोः प्रणतास्म्यहम् ॥ १६ ।
इत्याकर्ण्य महेशानस्तस्या देव्याः सुभाषितम् ।
कथयामास विन्ध्यारे महालिङ्गानि सत्तम ॥ १७ ।
यन्नामाकर्णनादेव क्षीयन्ते पापराशयः ।
प्राप्यते पुण्यसंभारः काश्यां निर्वाणकारणम् ॥ १८ ।

देवदेव उवाच–

शृणु देवि परं गुह्यं क्षेत्रेऽस्मिन् मुक्तिकारणम् ।
इदं विदन्ति नैवाऽपि ब्रह्मनारायणादयः ॥ १९ ।
असंख्यातानि लिङ्गानि पार्वत्यानन्दकानने ।
स्थूलान्यपि च सूक्ष्माणि नानारत्नमयानि च ॥ २० ।
नानाधातुमयानीशे दार्षदान्यप्यनेकशः ।
स्वयम्भून्यप्यनेकानि देवर्षिस्थापितान्यहो ॥ २१ ।
सिद्धचारणगन्धर्वयक्षरक्षोऽर्चितान्यपि ।
असुरोरगमर्त्यैश्च दानवैरप्सरोगणैः ॥ २२ ।

अगस्त्यस्य विन्ध्याऽरित्वं तद्वृद्धिविघातकत्वाज्ज्ञेयम् ॥ १७ ।
असंख्यातानि लिङ्गानीत्यादीनां पूज्यानीति षष्ठेनाऽन्वयः ॥ २० ।

करके आप यह बता देवें, मैं आपके चरणों पर प्रणत हूँ ॥ १५-१६ ।

हे विन्ध्यरिपो ! मुनिसत्तम ! महादेव इस प्रकार से देवी के सुभाषित को सुनकर, जिनके नाम सुनने ही से पापों की राशियाँ क्षय हो जाती हैं और पुण्य की ढेरें बढ़ने लगती हैं, काशी के उन सब मुक्ति के हेतु (रूप) महालिंगों को कहने लगे ॥ १७-१८ ।

देवादिदेव ने कहा–

हे देवि ! इस क्षेत्र के परमगुप्त मुक्ति के कारण को सुनो, इस बात को ब्रह्मा एवं विष्णु इत्यादि भी नहीं जानते हैं ॥ १९ ।

हे पार्वति ! इस आनन्दवन में बड़े और छोटे असंख्य लिंग हैं, जो नानाविध रत्न, अनेक धातु और बहुतेरे पाषाण के बने हैं । कितने ही तो स्वयंभू लिंग हैं और बहुत से देवता और ऋषियों के स्थापित हैं ॥ २०-२१ ।

कितने ही सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसों के पूजित हैं एवं असुर, नाग, मनुष्य, दानव, अप्सरागण, दिग्गज, पर्वत, तीर्थ, ऋक्ष, वानर, किन्नर और पक्षी इत्यादि के द्वारा निज नाम से अंकित करके स्थापित किये गये हैं । हे देवि !

दिग्गजैर्गिरिभिस्तीर्थैर्ऋक्षवानरकिन्नरैः ।
पतत्रिप्रमुखैर्देवि स्वस्वनामाङ्कितानि वै ॥ २३ ।
प्रतिष्ठितानि यानीह मुक्तिहेतूनि तान्यपि ।
अदृश्यान्यपि दृश्यानि दुरवस्थान्यपि प्रिये ॥ २४ ।
भग्नान्यपि च कालेन तानि पूज्यानि सुन्दरि ।
परार्धशतसंख्यानि गणितान्येकदा मया ॥ २५ ।
गङ्गाम्भस्यपि तिष्ठन्ति षष्टिकोटिमितानि हि ।
सिद्धलिङ्गानि तानीशे तिष्येऽदृश्यत्वमाययुः ॥ २६ ।
गणनादिवसादर्वाङ् मम भक्तजनैः प्रिये ।
प्रतिष्ठितानि यानीह तेषां संख्या न विद्यते ॥ २७ ।
त्वया तु यानि पृष्टानि यैरिदं क्षेत्रमुत्तमम् ।
तानि लिङ्गानि वक्ष्यामि मुक्ति हेतूनि सुन्दरि ॥ २८ ।

दुरवस्थानीति । यवनादिभिरतिशयेन दुर्दुष्टा अवस्था येषां तानि तथा ॥ २४ ।

परार्द्धशतसंख्यानि परार्धं ब्रह्मणः पञ्चाशद्वर्षं तन्मानेन मानुषदिनसंख्या संख्याविशेषो वा तच्छतसंख्यानि परार्धशतसंख्यानि ॥ २५ ।

तिष्ये कलौ ॥ २६ ।

गणनेति । हे गौरि मम भक्तजनैरिह काश्यां यानि लिङ्गानि प्रतिष्ठितानि, तेषां गणना अन्तो नास्ति । उपसंहरति । अतस्तेषां संख्या न विद्यते इति । **गणनादिवसादर्वागिति** । यस्मिन् दिवसे मया गणना कृता, तस्माद्दिवसादर्वागूर्ध्वमित्यतिरोहित एवाऽर्थः ॥ २७ ।

यहाँ पर ये सब मुक्ति के कारण हैं । हे प्रिये ! (यहाँ के लिंग) दृश्य हों, अथवा अदृश्य हों, किंवा दुरवस्था में पड़े हों, चाहे समय के फेरफार से टूट-फूट गये हों, पर सर्वथा पूजनीय ही हैं । हे सुन्दरि ! एक बार मैंने उन सबों को सौ परार्धसंख्या तक गिना था ॥ २२-२५ ।

हे ईशे ! यहाँ पर गंगा के जल में साठ करोड़ सिद्धलिंग हैं, जो कलिकाल में अदृश्य हो जाते हैं ।

मिले बहुत यहि वर्ष में, लिंग, मढ़ी प्रत्यच्छ ।
जे गंगाजल से कढ़े, दशाश्वमेध के कच्छ ॥ २६ ।

अयि प्रिये ! मेरी गिनती के दिन से पीछे मेरे भक्तलोगों ने यहाँ पर जिन लिंगों की स्थापना की है, उनकी गिनती नहीं हुई है ॥ २७ ।

हे सुन्दरि ! अब मैं जिन लिंगों के विषय में तुमने पूछा है, उनको कहता हूँ, अर्थात् जिनके कारण यह क्षेत्र सर्वोत्तम हुआ है और जो स्वयं मोक्ष के हेतु हैं ॥ २८ ।

कलावतीवगोप्यानि भविष्यन्ति गिरीन्द्रजे ।
परं तेषां प्रभावो यः स्वं स्वं स्थानं न हास्यति ॥ २९ ।
कलिकल्मषपुष्टा ये ये दुष्टा नास्तिकाः शठाः ।
एतेषां सिद्धलिङ्गानां ज्ञास्यन्त्याख्यामपीह न ॥ ३० ।
नामश्रवणतोऽपीह यल्लिङ्गानां शुभानने ।
वृजिनानि क्षयं यान्ति वर्धन्ते पुण्यराशयः ॥ ३१ ।
ओंकारः प्रथमं लिङ्गं द्वितीयं च त्रिलोचनम् ।
तृतीयश्च महादेवः कृत्तिवासाश्चतुर्थकम् ॥ ३२ ।
रत्नेशः पञ्चमं लिङ्गं षष्ठं चन्द्रेश्वराऽभिधम् ।
केदारः सप्तमं लिङ्गं धर्मेशश्चाष्टमं प्रिये ॥ ३३ ।
वीरेश्वरं च नवमं कामेशं दशमं विदुः ।
विश्वकर्मेश्वरं लिङ्गं शुभमेकादशं परम् ॥ ३४ ।
द्वादशं मणिकर्णीशमविमुक्तं त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं महालिङ्गं मम विश्वेश्वराऽभिधम् ॥ ३५ ।
प्रिये चतुर्दशैतानि श्रियो हेतूनि सुन्दरि ।
एतेषां समवायोऽयं मुक्तिक्षेत्रमिहेरितम् ॥ ३६ ।

न हास्यति न त्यक्ष्यति ॥ २९ ।

पुष्टाः स्थूला व्याप्ता वा ॥ ३० ।

समवायः समाहारो मेलनमिति यावत् ॥ ३६ ।

हे गिरीन्द्रनन्दिनि ! यद्यपि कलियुग में वे सब लिंग बहुत ही गोप्य हो जावेंगे; परन्तु उनका जो प्रभाव है, वह अपने-अपने स्थान पर बना ही रहेगा ॥ २९ ।

जो लोग कलिकल्मषों से पुष्ट, दुष्ट, नास्तिक और शठ हैं, वे सब इन सिद्ध लिंगों का नाम भी नहीं जान सकेंगे ॥ ३० ।

हे शुभानने ! इन लिंगों के केवल नाम भी सुन पाने से पापपुंज का क्षय और पुण्यराशियों की वृद्धि होती है ॥ ३१ ।

(उनमें) प्रथम ओंकारेश्वर, द्वितीय त्रिलोचन, तृतीय महादेव, चतुर्थ कृत्तिवासेश्वर, पंचम रत्नेश्वर, षष्ठ चन्द्रेश्वर, सप्तम केदारेश्वर, अष्टम धर्मेश्वर , नवम वीरेश्वर, दशम कामेश्वर, एकादश विश्वकर्मेश्वर, द्वादश मणिकर्णिकेश्वर, त्रयोदश अविमुक्तेश्वर और चतुर्दश विश्वेश्वर महालिंग को समझना चाहिए ॥ ३२-३५ ।

हे प्रिये ! ये ही चौदहों लिंग मोक्षश्री के जड़ हैं । हे सुन्दरि ! इन्हीं के जमावड़े को मुक्तिक्षेत्र कहा गया है ॥ ३६ ।

देवताः समधिष्ठात्र्यः क्षेत्रस्याऽस्य परा इमाः ।
आराधिताः प्रयच्छन्ति नृभ्यो नैःश्रेयसीं श्रियम् ॥ ३७ ।
आनन्दकानने मुक्त्यै प्रोक्तान्येतानि सुन्दरि ।
प्रिये चतुर्दशेज्यानि महालिङ्गानि देहिनाम् ॥ ३८ ।
प्रतिमासं समारभ्य तिथिं प्रतिपदं शुभाम् ।
एतेषां लिङ्गमुख्यानां कार्या यात्रा प्रयत्नतः ॥ ३९ ।
अनाराध्य महादेवमेषु लिङ्गेषु कुम्भज ।
कः काश्यां मोक्षमाप्नोति सत्यं सत्यं पुनः पुनः ॥ ४० ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन काशीफलमभीप्सुभिः ।
पूज्यान्येतानि लिङ्गानि भक्त्या परमया मुने ॥ ४१ ।

अगस्त्य उवाच–

एतान्येव किमन्यानि महालिङ्गानि षण्मुख ।
निर्वाणकारणानीह यदि सन्ति तदा वद ॥ ४२ ।

नैःश्रेयसीं कैवल्याख्याम् ॥ ३७ ।

देहिनां मुक्त्यै इत्यन्वयः ॥ ३८ ।

प्रतिमासमिति स्कन्दोक्तिः ॥ ३९ ।

इस क्षेत्र के परम अधिष्ठाता देवता ये ही हैं और ये ही आराधना करने से मनुष्यों को कैवल्य-सम्पत् दान करते हैं ॥ ३७ ।

हे प्रिये ! आनन्दवन में ये ही चौदहों कथित महालिंग देहधारियों की मुक्ति के लिये पूजनीय हैं ॥ ३८ ।

प्रत्येक मास की प्रतिपदा तिथि से आरंभ करके (चतुर्दशी तक) इन मुख्यतम लिंगों की यात्रा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥ ३९ ।

हे कुंभज ! इन सब लिंगों में महादेव की आराधना बिना किये काशी में मोक्ष किसे मिल सकता है ! यह बात बारंबार सत्य ही सत्य है ॥ ४० ।

अतएव हे मुने ! काशी के फलों को चाहनेवालों को सब प्रयत्न उठाकर बड़ी भक्ति के साथ इन लिंगों का पूजन करना उचित है ॥ ४१ ।

अगस्त्य ने कहा–

हे षण्मुख ! काशी में ये ही लिंग मुक्ति के मूल हैं, अथवा दूसरे भी हैं । यदि हैं, तो उनका भी वर्णन कीजिये ॥ ४२ ।

स्कन्द उवाच–

अन्यान्यपि च सन्तीह महालिङ्गानि सुव्रत ।
कलिप्रभावाद् गुप्तानि भविष्यन्त्येव तानि वै ॥ ४३ ।
यस्येश्वरे सदा भक्तिः यः काशीतत्त्ववित्तमः ।
स एवैतानि लिङ्गानि वेत्स्यत्यन्यो न कश्चन ॥ ४४ ।
येषां नामग्रहणाऽपि कलिकल्मषसंक्षयः ।
अमृतेशस्तारकेशो ज्ञानेशः करुणेश्वरः ॥ ४५ ।
मोक्षद्वारेश्वरश्चैव स्वर्गद्वारेश्वरस्तथा ।
ब्रह्मेशो लाङ्गलश्चैव वृद्धकालेश्वरस्तथा ॥ ४६ ।
वृषेशश्चैव चण्डीशो नन्दिकेशो महेश्वरः ।
ज्योतीरूपेश्वरं लिङ्गं ख्यातमत्र चतुर्दशम् ॥ ४७ ।
काश्यां चतुर्दशैतानि महालिङ्गानि सुन्दरि ।
इमानि मुक्तिहेतूनि लिङ्गान्यानन्दकानने ॥ ४८ ।
कलिकल्मषबुद्धीनां नाख्येयानि कदाचन ।
एतान्याराधयेद्यस्तु लिङ्गानीह चतुर्दश ॥ ४९ ।

पार्वत्या ईश्वरोक्तान्येवाऽन्यानि चतुर्दशलिङ्गान्याहाऽमृतेश इति ॥ ४५ ।

लाङ्गलः लाङ्गलीश्वरः । ब्रह्मेशलाङ्गलीशौ चेति क्वचित् ॥ ४६ ।

स्कन्द ने उत्तर दिया–

हे सुव्रत ! वहाँ पर और भी बहुतेरे महालिंग वर्तमान हैं; परन्तु कलियुग के प्रभाव से वे सब गुप्त ही हो जायेंगे ॥ ४३ ।

जिसकी ईश्वर पर सदैव भक्ति रहती है और जो कोई काशी के तत्त्वों का बड़ा ही ज्ञाता होता है, वही इन सबका नाम लेने ही से कलिकलुषनाशक लिंगों को जान सकता है, दूसरा कोई कभी नहीं जानने पाता ॥ ४४ ॥

अमृतेश्वर, तारकेश्वर, ज्ञानेश्वर, करुणेश्वर, मोक्षद्वारेश्वर, स्वर्गद्वारेश्वर, ब्रह्मेश्वर, लांगलीश्वर, वृद्धकालेश्वर, वृषेश्वर, चंडीश्वर, नन्दिकेश्वर, महेश्वर और ज्योतीरूपेश्वर ये चौदह लिंग विख्यात हैं, जिनके नामग्रहण मात्र से कलिकल्मष का नाश होता है ॥ ४५-४७ ॥

अयि सुन्दरि ! ये भी चौदहों महालिंग काशीपुरी आनन्दकानन में मुक्ति के निदान हैं ॥ ४८ ।

कलियुंग के पापबुद्धि लोगों से इन लिंगों की बात कभी नहीं कहनी चाहिए । काशी में जो कोई इन चौदहों लिंगों की आराधना करता है, उसे फिर कभी संसारयात्रा में नहीं लौटना पड़ता । यह काशी का अतुल रत्नभण्डार है, अतएव

न तस्य पुनरावृत्तिः संसाराध्वनि कर्हिचित् ।
काशीकोशोऽयमतुलो न प्रकाश्यो यतस्ततः ॥ ५० ॥
एतल्लिङ्गाऽभिधा देवि महापद्यपि दुःखहृत् ।
रहस्यं परमं चैतत् क्षेत्रस्याऽस्य वरानने ॥ ५१ ॥
चतुर्दशाऽपि लिङ्गानि मत्सान्निध्यकराणि हि ।
अविमुक्तस्य हृदयमेतदेव गिरीन्द्रजे ॥ ५२ ॥
इमानि यानि लिङ्गानि सर्वेषां मुक्तिदानि हि ।
एकैकभुवनस्येह सारमादाय सर्वतः ।
मयैतानि कृतान्येव महाभक्तिकृपावशात् ॥ ५३ ॥
अस्मिन् क्षेत्रे ध्रुवं मुक्तिरिति या प्रथितिः प्रिये ।
कारणं तत्र लिङ्गानि ममैतानि चतुर्दश ॥ ५४ ॥
त एव व्रतिनः कान्ते त एव च तपस्विनः ।
ध्यातान्येतानि यैर्भक्तैर्लिङ्गान्यानन्दकानने ॥ ५५ ॥
त एवाभ्यस्तसद्योगा दत्तदानास्त एव हि ।
काश्यामिमानि लिङ्गानि यैर्दृष्टान्यपि दूरतः ॥ ५६ ॥

काशीकोशोऽविमुक्तशरीरम् । सार इति क्वचित् ॥ ५० ॥

महती भक्तिर्येषां ते महाभक्तयः, तेषां कृपावशात् । महाभक्तेति पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः ॥ ५३ ॥

इसे इधर-उधर नहीं प्रकट करना चाहिए ॥ ४९-५० ।

अयि वरानने ! इन लिंगों का नामोच्चारण भी बड़े संकट में दुःखों को हर लेता है और यही इस क्षेत्र का परमरहस्य विषय है ॥ ५१ ।

हे गिरीन्द्रजे ! अविमुक्तक्षेत्र के हृदयस्वरूप ये ही चौदहों लिंग मेरे सान्निध्य करने के कारण हैं ॥ ५२ ।

सब लोगों के मुक्तिदायक ये चौदहों लिंग प्रत्येक भुवनों का सार (सत्त) लेकर अपने परम भक्तों पर कृपा करके मेरे ही बनाये हैं ॥ ५३ ।

इस क्षेत्र में मुक्ति निश्चय होती है, यह जो प्रसिद्धि है, उसके कारण मेरे ये ही चौदहों लिंग हैं ॥ ५४ ।

हे कान्ते ! जो भक्तलोग आनन्दवन में इन लिंगों का ध्यान करते रहते हैं, वे ही व्रताधारी और तपस्वी हैं ॥ ५५ ।

काशी में जो लोग इन लिंगों का दर्शन कर लेते हैं, वे लोग ही योगाभ्यास और दान करने के फलभागी होते हैं ॥ ५६ ।

इष्टापूर्ताश्च ये धर्माः प्रणीता मुनिसत्तमैः ।
ते सर्वे तेन विहिता यावज्जीवं निरेनसा ॥ ५७ ।
येनाऽविमुक्तमासाद्य महालिङ्गानि पार्वति ।
सकृदभ्यर्चितानीह स मुक्तो नाऽत्र संशयः ॥ ५८ ।

स्कन्द उवाच–

अन्यान्यपि च विन्ध्यारे देव्यै प्रोक्तानि शम्भुना ।
स्वभक्तानां हितार्थाय तान्यथाऽऽकर्णयाऽग्रज ॥ ५९ ।
शैलेशः संगमेशश्च स्वर्लीनो मध्यमेश्वरः ।
हिरण्यगर्भ ईशानो गोप्रेक्षो वृषभध्वजः ॥ ६० ।
उपशान्तशिवो ज्येष्ठो निवासेश्वर एव च ।
शुक्रेशो व्याघ्रलिङ्गं च जम्बुकेशं चतुर्दशम् ॥ ६१ ।
मुने चतुर्दशैतानि महान्त्यायतनानि वै ।
एतेषामपि सेवातो नरो मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ६२ ।

निरेनसा निष्पापेन ॥ ५७ ।

अग्रज ईश्वरस्य मुखद्वारात् प्रथमतो जातः । द्विजेति वा पाठः ॥ ५९ ।

महायतनानि तृतीयचतुर्दशलिङ्गान्याह । शैलेश इति ॥ ६० ।

मुनीश्वरों ने इष्टापूर्त के धर्म बनाये हैं । उन सब का फल आजन्म से पापरहित होकर वही (दर्शक) पाता है ॥ ५७ ।

हे पार्वति ! जो कोई अविमुक्तक्षेत्र में पहुँचकर एक बार भी इन सब लिंगों का पूजन कर सका, वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ५८ ।

स्कन्द ने कहा–

हे अग्रजन्मन् ! विन्ध्यमानभंजक अगस्त्य ! भगवान् शंकर ने अपने भक्त लोगों के हितार्थ अन्यान्य भी जिन-जिन लिंगों को देवी से कहा था, उनके नाम भी श्रवण करो ॥ ५९ ।

शैलेश्वर, संगमेश्वर, स्वर्लीनेश्वर, मध्यमेश्वर, हिरण्यगर्भेश्वर, ईशानेश्वर, गोप्रेक्षेश्वर, वृषभध्वजेश्वर, उपशान्त शिव, ज्येष्ठेश्वर, निवासेश्वर, शुक्रेश्वर, व्याघ्रेश्वर और जंबुकेश्वर–ये चतुर्दश लिंग हैं ॥ ६०-६१ ।

हे मुने ! ये चौदहों महायतन हैं, इन लिंगों के सेवन से भी मनुष्य मोक्ष को पाता है ॥ ६२ ।

चैत्रकृष्णप्रतिपदं समारभ्य प्रयत्नतः ।
आचतुर्दशि पूज्यानि लिङ्गान्येतानि सत्तमैः ॥ ६३ ।
एतेषां वार्षिकी यात्रा सुमहोत्सवपूर्वकम् ।
कार्या मुमुक्षुभिः सम्यक् क्षेत्रसंसिद्धिदायिनी ॥ ६४ ।
मुने चतुर्दशैतानि महालिङ्गानि यत्नतः ।
दृष्ट्वा न जायते जन्तुः संसारे दुःखसागरे ॥ ६५ ।
क्षेत्रस्य परमं तत्त्वमेतदेव प्रिये ध्रुवम् ।
संसाररोगग्रस्तानामिदमेव महौषधम् ॥ ६६ ।
क्षेत्रस्योपनिषच्चैषा मुक्तिबीजमिदं परम् ।
कर्मकाननदावाग्निरेषा लिङ्गावलिः प्रिये ॥ ६७ ।
एकैकस्याऽस्य लिङ्गस्य महिमाऽऽद्यन्तवर्जितः ।
मयैव ज्ञायते देवि सम्यङ् नाऽन्येन केनचित् ॥ ६८ ।
इति श्रुत्वा मुने प्राह देवी हृष्टतनूरुहा ।
प्रणम्य देवमीशानं सर्वज्ञं सर्वदं शिवम् ॥ ६९ ।

उपनिषद् रहस्यम् । लिङ्गावलिर्लिङ्गपङ्क्तिः समूह इत्यर्थः ॥ ६७ ।

उत्तम लोगों को प्रयत्नपूर्वक चैत्रमास की कृष्णप्रतिपदा तिथि से आरम्भ कर चतुर्दशीपर्यन्त इन लिंगों की पूजा करनी चाहिए ॥ ६३ ।

मोक्षार्थी लोगों को उचित है कि, इन लिंगों की वार्षिक यात्रा बड़े उत्सव के साथ करें । उसके द्वारा सम्पूर्ण रीति से क्षेत्र की सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६४ ।

हे मुने ! इन चौदहों महालिंगों का यत्नपूर्वक दर्शन करने से कोई भी जन्तु दुःखसागर संसार में (फिर) नहीं उत्पन्न हो सकता ॥ ६५ ।

(स्वयं भगवान् ने पार्वती से कहा था कि) हे प्रिये ! क्षेत्र का यही परमतत्त्व है और निश्चय ही यही संसाररूप रोग से ग्रस्त लोगों का परम औषध है ॥ ६६ ।

यही क्षेत्र की उपनिषद् है और यही उत्तम मुक्ति का बीज है । अयि प्रियतमे ! यही सब लिंग कर्मरूपी कानन के दावानल हैं ॥ ६७ ।

इन प्रत्येक लिंगों की महिमा का आदि और अन्त नहीं है, उसे पूर्णरूप से मैं ही जानता हूँ, हे देवि ! और तो किसी को ज्ञात ही नहीं है ॥ ६८ ।

हे महर्षे ! यह बात सुन रोमांचित हो सर्वज्ञाता और सर्वस्वदाता भगवान् ईशान देव को प्रणाम करके देवी पूछने लगीं ॥ ६९ ।

देव्युवाच—

रहस्यं परमं काश्यां यदेतत् समुदीरितम् ।
तच्छ्रुत्वोत्सुकतां प्राप्तं मनो मेऽतीव वल्लभ ॥ ७० ॥
यदुक्तं लिङ्गमेकैकं महासारतरं परम् ।
काश्यां परमनिर्वाणकारणं कारणेश्वर ॥ ७१ ॥
प्रत्येकं महिमानं मे ब्रूह्येषां भुवनेश्वर ।
चतुर्दशानां लिङ्गानां श्रवणादघहारिणाम् ॥ ७२ ॥
ओङ्कारेशस्य लिङ्गस्य कथमत्र समागमः ।
अतिपुण्यतमात्तस्मात्क्षेत्रादमरकण्टकात् ॥ ७३ ॥
किमात्मकोऽयमोङ्कारो महिमाऽस्य च को हर ।
केनाऽऽराधि पुरा चैष ददावाराधितश्च किम् ॥ ७४ ॥
मृडानीवाक्सुधामेतां विधाय श्रुतिगोचराम् ।
कथामकथयद्देव ओङ्कारस्य महाद्भुताम् ॥ ७५ ॥

उक्तानुवादपूर्वकं प्रत्येकं सर्वलिङ्गानां महिमानं पृच्छति । **रहस्यमिति** ॥ ७० ।

आराधि आराधितः पूजितः ॥ ७४ ॥

विधाय कृत्वा ॥ ७५ ।

भगवती ने कहा—

हे (प्राण)वल्लभ ! यह जो (कि) आपने काशी का परम रहस्य कहा, इसके सुनने से मेरा चित्त बहुत ही उत्सुक हो गया है ॥ ७० ।

हे कारणों के भी ईश्वर ! आपने जो इन लिंगों में प्रत्येक को सर्वोत्कृष्ट और महासारतर एवं काशी में मोक्ष का कारण बताया है ॥ ७१ ।

हे भुवननायक ! इन सब श्रवणमात्र से पाप हरनेवाले चौदहों लिंगों में प्रत्येक का माहात्म्य मुझसे वर्णन कीजिये ॥ ७२ ।

अतिपुण्यतम प्रसिद्ध अमरकंटकक्षेत्र से यह ओंकारेश्वर का लिंग यहाँ कैसे आ गया ? ॥ ७३ ।

हे हर ! यह ओंकार किमात्मक है ? (इन ओंकार का) क्या स्वरूप है ? इनकी क्या महिमा है ? पहले इनकी आराधना किसने की थी ? और फिर आराधना करने पर इन्होंने क्या वरदान किया था ? । ७४ ।

पार्वतीदेवी के इस वचनामृत को पान करके भगवान् महादेव ओंकार(नाथ) की परम विचित्र कथा कहने लगे ॥ ७५ ।

देवदेव उवाच–

कथामाकर्णयाऽपर्णे वर्णयामि तवाऽग्रतः ।
यथोङ्कारस्य लिङ्गस्य प्रादुर्भाव इहाऽभवत् ॥ ७६ ।
पुराऽऽनन्दवने चाऽत्र ब्रह्मणा विश्वयोनिना ।
तपस्तप्तं महादेवि समाधिं दधता परम् ॥ ७७ ।
पूर्णे युगसहस्रेऽथ भित्त्वा पातालसप्तकम् ।
उदतिष्ठत्पुरोज्योतिर्विद्योतितहरिन्मुखम् ॥ ७८ ।
यदन्तराविरभवन्निर्व्याजेन समाधिना ।
तदेव परमं धाम बहिराविरभूद् विधेः ॥ ७९ ।
योऽभूच्चटचटाशब्दः स्फुटतो भूमिभागतः ।
तच्छब्दाद् व्यसृजद् वेधाः समाधिं क्रमतो वशी ॥ ८० ।

तपःकरणसमये पर्णमपि न भक्षितमित्यपर्णा । तदुक्तम्–

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः ॥ इति ।

तस्याः सम्बोधनमपर्णे इति । अनेन तवैतत्कथाश्रवणेऽधिकारोऽस्तीति सूचयति ॥ ७६ ।

परन्तप इत्यन्वयः । परं समाधिमिति वा ॥ ७७ ।

पुरोऽग्रतः । विद्योतितंहरिन्मुखं प्रकाशितदिक्समूहम् । यदाहाऽमरः–"**दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः**" इति ॥ ७८ ।

किं तज्ज्योतिरित्यत आह । **यदन्तरिति** । अन्तरन्तःकरणे । आविः प्रकटम् । निर्व्याजेन फलाभिसन्धिरहितेन सजातीयविजातीयप्रत्ययशून्येनेति वा ॥ ७९ ।

नन्वसंप्रज्ञातसमाधिस्थस्य ब्रह्मणो ज्योतिषो बहिः प्राकट्यं दुर्घटमित्याशङ्क्याह–

देवदेव बोले–

हे अपर्णे ! (पहले) मैं तुमसे जिस प्रकार से ओंकारेश्वर लिंग का यहाँ पर प्रादुर्भाव हुआ है, वही कथा कहता हूँ, श्रवण करो ॥ ७६ ।

हे महादेवि ! पूर्वकाल में विश्वकर्ता ब्रह्मा इसी आनन्दवन में उग्रसमाधि को धरकर बड़ी भारी तपस्या करने लगे ॥ ७७ ।

तदनन्तर सहस्रयुग बीत जाने पर सातों पातालों को फोड़कर समस्त दिशाओं को प्रकाशित करती हुई एक बड़ी ज्योति सन्मुख ही निकल पड़ी ॥ ७८ ।

ब्रह्मा के भीतर अन्तःकरण में निष्कपट (निष्काम) समाधि के बल से जो परमज्योति प्रकट हुई थी, वही बाहर हो गई ॥ ७९ ।

उस घड़ी भूमिभाग के फटने से जो चटचटाहट हुई, उसी शब्द से वशीभूत

स्रष्टा विसृष्टतद्ध्यानो यावदुन्मील्य लोचने ।
पुरः पश्येद्ददर्शाऽग्रे तावदक्षरमादिमम् ॥ ८१ ।
अकारं सत्त्वसम्पन्नमृक्क्षेत्रं सृष्टिपालकम् ।
नारायणात्मकं साक्षात्तमःपारे प्रतिष्ठितम् ॥ ८२ ।
उकारमथ तस्याऽग्रे रजोरूपं यजुर्जनिम् ।
विधातारं समस्तस्य स्वाकारमिव बिम्बितम् ॥ ८३ ।
नीरवध्वान्तसङ्केतसदनाभं तदग्रतः ।
मकारं स ददर्शाऽथ तमोरूपं विशेषतः ॥ ८४ ।

योऽभूदिति । स्फुटतो विहारं प्राप्नुवतो भूमिभागाद्यश्चटचटाशब्दोऽभूत्तच्छब्दाद् ब्रह्मा क्रमतः शनैः शनैः समाधिं त्यक्तवानित्यर्थः । स्फुटित इति पाठे शब्दविशेषणम् । अत्युत्कट इत्यर्थः ॥ ८० ।

स्रष्टेति । ब्रह्मा त्यक्तनिर्गुणब्रह्मध्यानो नेत्रे विकचय्य यावत् पुरः पश्येत् पश्यति, तावदादिममादौ भवं प्रणवमक्षरं ददर्शेत्यर्थः । तथा च श्रीभागवते- "ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारः" इति ॥ ८१ ।

प्रणवस्वरूपं कथयंस्तं विशिनष्टि । अकारमिति सार्धत्रयेण । अकारोकारमकारनादबिन्द्वात्मको हि प्रणवस्तत्राऽकारार्थमाह । अकारमिति । सत्त्वसम्पन्नं सत्त्वगुणोपेतम् । ऋक्क्षेत्रं ऋग्वेदाधिष्ठानं तत्कारणमित्यर्थः । तमःपारेऽज्ञानपारे स ब्रह्मा ददर्शेति तृतीयेनाऽन्वयः ॥ ८२ ।

उकारार्थमाह । उकारमिति । अथाऽनन्तरं तस्याऽग्रेऽकाराऽग्रे रजोरूपं रजोगुणव्याप्तं यजुर्जनिं यजुर्वेदोत्पत्तिहेतुं स्वाकारं ब्रह्मशरीरं बिम्बितं प्रतिबिम्बितम् । चिन्तितमिति पाठे भावितमित्यर्थः ॥ ८३ ।

नीरवं निःशब्दं यद् ध्वान्तमन्धतमसं तस्य यत् सङ्केतस्थानं तदाभं तत्तुल्यम् । नीरवदिति पाठे लवणोदधिजलवदित्यर्थः । तथा च हरिवंशे—"महतस्तमसः पार" इति ।

विधाता की समाधि धीरे-धीरे खुल गई ॥ ८० ।

फिर तो ज्यों ही ब्रह्मा ने ध्यान छोड़ आँखों को खोलकर देखा, त्यों ही वे अपने आगे आदिम अक्षर का ही अवलोकन करने लगे ॥ ८१ ।

सत्त्वगुण से पूर्ण, ऋग्वेद की उत्पत्ति का क्षेत्र, सृष्टिपालक, नारायणात्मक और तमोगुण के पार में स्थित साक्षात् अकार को देखा ॥ ८२ ।

तब उसके आगे रजोगुणमय, यजुर्वेद की जन्मभूमि, सब की सृष्टि के कर्त्ता, अपने रूप के प्रतिबिम्बस्वरूप उकार को देखा ॥ ८३ ।

तत्पश्चात् संकेत मन्दिर की तरह निःशब्द (सुनसान स्थान के) समान कृष्णवर्ण तमोरूप, सामवेद के जन्मस्थल साक्षात् रुद्रस्वरूप, प्रलय के कारण मकार

साम्नो योनिं लये हेतुं साक्षाद्रुद्रस्वरूपिणम् ।
अथ तत्पुरतो धाता व्यधात् स्वनयनातिथिम् ॥ ८५ ।
विश्वरूपमयाकारं सगुणं वाऽपि निर्गुणम् ।
अनाख्यनादसदनं परमानन्दविग्रहम् ॥ ८६ ।
शब्दब्रह्मेति यत्ख्यातं सर्ववाङ्मयकारणम् ।
अथोपरिष्टान्नादस्य बिन्दुरूपं परात्परम् ॥ ८७ ।
कारणं कारणानां च जगद्योनिं च तं परम् ।
विधिर्विलोकयाञ्चक्रे तपसा गोचरीकृतम् ॥ ८८ ।

तमसस्तमःप्रायक्षारसमुद्रस्येत्यर्थः । मकारार्थमाह तदग्रतः । उकारस्याऽग्रे तमोगुणेन रूप्यत इति तमोरूपम् ॥ ८४ ।

नादार्थमाह । अथेति । तत्पुरतो मकाराऽग्रतः । ध्याता ध्यानकर्ता । धातेति क्वचित् । व्यधात् अकरोत् । स्वनयनातिथिं स्वनेत्रगोचरम् ॥ ८५ ।

विश्वरूपमयाकारं प्रपञ्चस्वरूपाकृतिः । विश्वरूपमथोङ्कारमिति पाठेऽथेत्यर्थान्तरे । ओङ्कारमित्यवयवावयविनोरभेदाऽभिप्रायेण । **अनाख्यनादः परा तस्य सदनमाश्रयं कारणमित्यर्थः ।** तदुक्तम्—

वैखरीशब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा ।
उद्द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥ इति ।

सूक्ष्मा परा । अनपायिन्यनाख्येत्यर्थः ॥ ८६ ।

शब्दब्रह्म वेदः । बिन्द्वर्थमाह । **अथोपरिष्टादिति ।** उपरिष्टात् उपरि । परात् प्रधानादेः परममुत्कृष्टम् ॥ ८७ ।

तत्कुत इत्यत आह । **कारणमिति ।** कारणानां प्रधानादीनाम् । अत एव जगद्योनिं तं परम् । विधिः ब्रह्मा । विलोकयाञ्चक्रे ददर्श । [1]जगदासिंचकमिति पाठे जगदासिंचति पालयतीति तथा तम् ॥ ८८ ।

को देख सके । इसके अनन्तर फिर भी विधाता ने उसके आगे अपनी दृष्टि फैलाकर देखा ॥ ८४-८५ ।

विश्वरूप की तरह आकार, सगुण अथ च निर्गुण, अकथनीय नाद का मन्दिर परमानन्द की मूर्ति विराजमान है ॥ ८६ ।

जिसे समस्त वाङ्मय का कारण शब्दब्रह्म (अर्थात् वेद) कहा जाता है । फिर उस नाद के भी ऊपर सर्वप्रधान, कारणों के भी कारण परम जगद्योनि, तपोबल से नयनगोचर हुए उस बिन्दुरूप को भी ब्रह्मा ने देख लिया ॥ ८७-८८ ।

---

1. जगद्योनिं च तमित्यत्र ।

अवनादोमिति ख्यातं सर्वस्याऽस्य प्रभावतः ।
भक्तमुन्नयते यस्मात्तदोमिति य ईरितः ॥ ८९ ।
अरूपोऽपि सरूपाढ्यः स धात्रा नेत्रगीकृतः ।
तारयेद्यद्भवाम्भोधेः स्वजपासक्तमानसम् ।
ततस्तार इति ख्यातो यस्तं ब्रह्मा व्यलोकयत् ॥ ९० ।
प्रणूयते यतः सर्वैः परनिर्वाणकामुकैः ।
सर्वेभ्योऽभ्यधिकस्तस्मात्प्रणवो यः प्रकीर्तितः ॥ ९१ ॥
स्वसेवितारं पुरुषं प्रणयेद्यः परं पदम् ।
अतस्तं प्रणवं शान्तं प्रत्यक्षीकृतवान् विधिः ॥ ९२ ।
त्रयीमयस्तुरीयो यस्तुर्यातीतोऽखिलात्मकः ।
नादबिन्दुस्वरूपो यः स प्रैक्षि द्विजगामिना ॥ ९३ ।

एवमवयवार्थनिरूपणेनैवावयविनमोङ्कारं निरूप्य ओंनाम द्विधा निर्वक्ति । **अवनादिति सार्धेन** ॥ ८९ ।

नेत्रगीकृतश्चक्षुर्विषयीकृतः । तारनाम निर्वक्ति । **तारयेदिति** ॥ ९० ।

प्रणवनाम द्विधा निर्वक्ति **प्रणूयत इति द्वाभ्याम्** । **प्रणूयते प्रकर्षेण स्तूयते** । **प्रणयेत् प्रापयेत्** ॥ ९१ ।

त्रयीमयो वेदत्रयात्मको ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मको वा । असङ्गो निर्विकारः । परात्मा तुरीयः । तदुक्तम्—

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ इति ।

जो अपने प्रभाव से समस्त लोकों के अवन (पालन) करने ही से ओम् (ॐ) कहा जाता है । अथवा भक्त को उन्नीत करने के कारण से जिसे ओम् कहते हैं । उसी रूपहीन के रूपधारी होने पर ब्रह्मा उसे देख सके, जो अपने जप में आसक्त-चित्त भक्त को भवसागर से पार उतार देता है और तारने ही के कारण से जिसका तार नाम पड़ा है, विधाता ने उसे ही प्रत्यक्ष किया ॥ ८९-९० ।

परम मोक्षार्थी लोगों के द्वारा जो बड़ी स्तुति किये जाने से अथवा सर्वापेक्षया अधिक होने के कारण से जो प्रणव कहलाता है ॥ ९१ ॥

एवं अपने सेवन करनेवाले को जो परमपद पर पहुँचा देता है, अतएव शान्तमय प्रणव का विधि ने विलोकन किया ॥ ९२ ।

जो वेदत्रय का तत्त्व है, जो साक्षात् परमात्मा है, जो वस्तुतः तुरीय के भी ऊपर है और जो सर्वात्मक हैं, हंसवाहन ब्रह्मा ने उसी नादबिन्दुस्वरूप को नेत्रपथ पर चढ़ा लिया ॥ ९३ ।

प्रावर्तन्त यतो वेदाः साङ्गाः सर्वस्य योनयः ।
सवेदादिः पद्मभुवा पुरस्तादवलोकितः ॥ ९४ ।
वृषभो यस्त्रिधा बद्धो रोरवीति महोमयः ।
स नेत्रविषयीचक्रे परमः परमेष्ठिना ॥ ९५ ।
शृंगाश्चत्वारि यस्याऽऽसन् हस्तासः सप्त एव च ।
द्वे शीर्षे च त्रयः पादाः स देवो विधिनैक्षत ॥ ९६ ।
यदन्तर्लीनमखिलं भूतं भावि भवत्पुनः ।
तद्बीजं बीजरहितं द्रुहिणेन विलोकितम् ॥ ९७ ।

वस्तुतः तुरीयातीतः । अविद्योपहितविश्वाद्यपेक्षया तुरीयत्वस्य कल्पितत्वात् । माययाऽखिलात्मकः । प्रैक्षि प्रेक्षितो दृष्ट इति यावत् । द्विजोऽत्र हंसस्तद्गामिना ब्रह्मणेत्यर्थः ॥ ९३ ।

साङ्गाः षड्भिः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिर्भिरङ्गैः सहिताः ॥ ९४ ।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेशेति श्रुत्युक्तो महेशो ब्रह्मणा दृष्ट इत्याह । वृषभो य इति द्वयेन । यो वृषभो मन्त्रोक्तो यज्ञरूपो विष्णुरिति यावत् । त्रिधा बद्धो मन्त्र-ब्राह्मणकल्पैः सम्बद्ध इत्यर्थः । रोरवीति पुनः पुनरत्यर्थं वा रौतीत्यर्थः । रोरवणं नाम सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः । यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिः यजन्ति सामभिः स्तुवन्तीति । महोमयः तेजोरूपः ॥ ९५ ।

शृङ्गाः शृङ्गाणि चत्वारि ऋग्यजुःसामाथर्वरूपाणि । हस्तासो हस्ताः । सप्तहस्ताः सप्तच्छन्दांसि । द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये । त्रयः पादाः त्रीणि सवनानि । एवंभूतो देवः स ब्रह्मणा ऐक्षतेति द्वयोरन्वंयः ॥ ९६ ।

जगदभिन्नोपादानं ब्रह्म ब्रह्मणा दृष्टमित्याह । यदन्तरिति । पुनर्भूयोऽपि लयादिप्रवाहस्यानादित्वात् । तद्बीजं तस्याऽखिलस्य भूतादेः कारणम् । स्वयं तु बीजरहितम् ॥ ९७ ।

सब किसी के जन्मस्थान जिससे समस्त अंगों से पूर्ण सभी वेद प्रवर्तित (उत्पन्न) हुये हैं, पद्मयोनि ब्रह्मा ने सन्मुख ही उसी वेदादि को नयनों का अतिथि बनाया ॥ ९४ ।

जो त्रिगुण से बँधा हुआ, तेजोमय वृषभ सदैव भोंकरता रहता है, परमेष्ठी ब्रह्मा ने उसी परमपुरुष का दर्शन पाया ॥ ९५ ।

जिसे चार शृंग, सात हस्त, दो मस्तक, तीन चरण हैं, विधि ने उसी देव को देखा ॥ ९६ ।

फिर जिसके भीतर भूत, भविष्य और वर्तमान सभी लीन रहते हैं, उसी बीजों से हीन बीजस्वरूप का ब्रह्मा ने निरीक्षण किया ॥ ९७ ।

लीनं मृग्येत यत्रैतदाब्रह्मस्तम्बभाजनम् ।
अतः स भाज्यते सद्भिर्यल्लिङ्गं तद्विलोकितम् ॥ ९८ ।
पञ्चार्था यत्र भासन्ते पञ्चब्रह्ममयं हि यत् ।
आदिपञ्चस्वरूपं यन्निरैक्षि ब्रह्मणा हि तत् ॥ ९९ ।
तमालोक्य ततो वेधा लिङ्गरूपिणमीश्वरम् ।
पञ्चाक्षरं प्रपञ्चाच्च भिन्नं तुष्टाव शङ्करम् ॥ १०० ।

ब्रह्मोवाच–

नम ओंकाररूपाय नमोऽक्षरवपुर्धृते ।
नमोऽकारादिवर्णानां प्रभवाय सदाशिव ॥ १०१ ।

लिङ्गनामनिर्वचनपूर्वकं लिङ्गशब्दाभिधेयं ब्रह्म ब्रह्मणा दृष्टमित्याह । लीनमिति ॥ ९८ ।

पञ्चार्थाः–**अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्येवंरूपाः** । अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यर्थपञ्चकमित्युक्तेः । चत्वारो वेदा इतिहासपुराणानि चेति पञ्च ब्रह्माणि । इतिहासपुराणानि पञ्चमो वेद उच्यते इत्युक्तेः । रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना जानकी वेत्येवंरूपाणि वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नाऽनिरुद्धा रुक्मिणी चेत्येवंरूपाणि वा तन्मयं तत्स्वरूपम् । अः आदिर्येषां पञ्चानामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । अकारोकारमकारार्धमात्राबिन्दुनादा इति समासार्थः । तन्मयं तत्स्वरूपम् । तथा च श्रुतिः–"**अकारः प्रथमाक्षरो भवत्युकारो हि द्वितीयाक्षरो भवति मकारस्तृतीयाक्षरो भवत्यर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति बिन्दुः नादः षष्ठाक्षरो भवतीति**" । निरैक्षि नितरां दृष्टमित्यर्थः ॥ ९९ ।

पञ्चाक्षरं पञ्चाक्षरात्मकम् । तदुक्तमत्रैव –

अश्च उश्च मकारश्च नादो बिन्दुश्च पञ्चमः ।
पञ्चात्मकं परं ब्रह्म नित्यं यत्र प्रकाशते ॥ १०० ।

चत्वारिंशत् पद्यवृन्दैरोङ्कारं जगदीश्वरम् । तुष्टावात्यादृतः सम्यग् वेदगर्भो विदांवरः । समाधित्यागानन्तरं यादृगूरूपं दृष्टं प्रथमं तदेव नमति । नम

(अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम ये) पाँचों अर्थ जिसमें भासमान रहते हैं और (चारों ही वेद और इतिहास-पुराण ये) पाँचों ब्रह्म जिसमें भरे रहते हैं एवं (अकार-उकार-मकार-नाद-बिन्दु)इन पाँचों ही का जो स्वरूप है, ब्रह्मा ने उसी को देखा था ॥ ९८-९९ ।

तदनन्तर ब्रह्मदेव प्रपंच से भिन्न उसी पंचाक्षरमय लिंगरूपी ईश्वर को देखकर शंकर की स्तुति करने लगे ॥ १०० ।

(ओङ्कारेश्वरस्तवराज या ब्रह्मस्तव)

ब्रह्मा बोले–

"हे सदाशिव ! आप ही अक्षरों के रूपधारी, अकारादि अक्षरों की उत्पत्ति के कारण, ओंकारस्वरूप हैं, आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १०१ ।

अकारस्त्वमुकारस्त्वं मकारस्त्वमनाकृते ।
ऋग्यजुःसामरूपाय रूपातीताय ते नमः ॥ १०२ ॥
नमो नादात्मने तुभ्यं नमो बिन्दुकलात्मने ।
अलिङ्गलिङ्गरूपाय सर्वरूपस्वरूपिणे ॥ १०३ ॥
नमस्ते धामनिधये निधनादिविवर्जित ।
नमो भवाय रुद्राय शर्वाय च नमोऽस्तु ते ॥ १०४ ॥

ओंकाररूपायेति । प्रणवरूपत्वेनैव तत्प्रभावाकाराद्यक्षरधारकत्वमाह । **नमोऽक्षरेति ।** अकारादिस्वरूपं कारणत्वेन स्वस्मिन् धारयतीति तथा तस्मै । **ओंकारप्रभवा वेदा, ओंकारप्रभवाः स्वरा** इति स्मृतेः । **कूटस्थवपुर्धृत** इति वा । एतच्चाक्षरस्याप्युपलक्षणम् । **'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** इति स्मृतेः । अकारादिवपुर्धृत्त्वमेव स्पष्टयन्नमति । **नमोऽकारादीति** ॥ १०१ ।

ओङ्काररूपत्वं स्पष्टयन् स्तौति । अकारस्त्वमिति । वस्तुतोऽनाकृते आकाररहित । ऋग्यजुःसाम्नां रूपं स्वरूपं यस्मात् तस्मै । [1]पाठान्तरे तत्समुदायात्मकायेत्यर्थः । **निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद** इति श्रुतेः । वस्तुतो रूपातीताय ॥ १०२ ।

नादात्मने परापश्यन्तीमध्यमावैखर्याख्यायेत्यर्थः । बिन्दुकलात्मने बिन्द्वंशरूपायेत्यर्थः । अखिलात्मकत्वेन स्तौति । **अलिङ्गेत्यादिना** । अलिङ्गलिङ्गरूपायाऽदृश्यदृश्यरूपाय । अत एव सर्वरूपस्वरूपिणे । पाठान्तरे[2] लिङ्गं शिवलिङ्गम् ॥ १०३ ।

धाम तेजः सत्त्वं वा तस्य निधये आश्रयाय । निधनादीत्यत्रादिपदेन जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयत इति पञ्च विकारा गृह्यन्ते ॥ १०४ ।

हे निराकार ! आप ही अकार, उकार और मकार हैं, आप वस्तुतः रूपातीत हैं, ऋक्, यजुः और सामवेदों के रूप भी आप ही हैं । अतएव आपको प्रणाम है ॥ १०२ ।

आप ही नाद, बिन्दु और कला के स्वरूप हैं, आप तो लिंगरहित होने पर भी लिंगात्मक हैं और सर्वरूपों के स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है ॥ १०३ ।

हे आद्यन्तहीन ! आप तेजोनिधि भव, रुद्र और सर्वस्वरूप हैं, आपको अनेक प्रणतियाँ हैं ॥ १०४ ।

---

1. सामस्तोमायेति ।
2. सर्वलिङ्गस्वरूपिणे इति ।

नम उग्राय भीमाय पशूनां पतये नमः ।
नमस्तारस्वरूपाय सम्भवाय नमोऽस्तु ते ॥ १०५ ।
अमायाय नमस्तुभ्यं नमः शिवतराय ते ।
कपर्दिने नमस्तुभ्यं शितिकण्ठ नमोऽस्तु ते ॥ १०६ ।
मीढुष्टमाय गिरिश शिपिविष्टाय ते नमः ।
नमोऽह्रस्वाय खर्वाय बृहते वृद्धरूपिणे ॥ १०७ ।
कुमारगुरवे तुभ्यं कुमारवपुषे नमः ।
नमः श्वेताय कृष्णाय पीतायाऽरुणमूर्तये ॥ १०८ ।

पशूनां जीवानाम् । तारः प्रणवः । [1]उत्कट इति वा । तदा सर्वेभ्य उत्कृष्टायेत्यर्थः । सम्यक् सम्भवत्यस्मादिति सम्भवस्तस्मै सर्वकारणायेत्यर्थः । शम्भवायेति पाठे शम्भव इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः– **"नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय चेति"** ॥ १०५ ।

अमायाय शुद्धाय । शिवतराय परममङ्गलाय । **मङ्गलानाञ्च मङ्गलमिति** स्मृतेः । कपर्दिने जटाजूटधारिणे । शितिकण्ठ नीलग्रीव ॥ १०६ ।

मीढुष्टमाय फलसेक्तॄणां मध्ये श्रेष्ठाय । शिपिः पशुः, तेषु प्रविशति तिष्ठति यज्ञरूपेणेति शिपिविष्टस्तस्मै । तथा च श्रुतिः –**"यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिः यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठतीति"** । शिपयो रश्मयस्तेषु निविष्टायेति वा । **"शैत्याच्छयनयोगाच्च शीतिवारि प्रचक्षते । तत्पानाद्रक्षणाच्चैव शिपयो रश्मयो मताः ॥ तेषु प्रवेशाद्विश्वेशः शिपिविष्ट इहोच्यते** ॥ इति वचनात् । अह्रस्वाय दीर्घाय । खर्वाय ह्रस्वाय । बृहते स्थूलाय ॥ १०७ ।

कुमारगुरवे स्कन्दजनयित्रे । श्वेताय शुक्लाय । कृष्णाय नीलाय । पीताय हरिद्राय । अरुणमूर्तये ईषल्लोहितरूपायेत्यर्थः । अव्यक्तरागवर्णायेति वा ॥ १०८ ।

आप ही उग्र, भीम और पशुपति हैं, आप तो तारस्वरूप और सब किसी के कारण हैं, अतः आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ १०५ ।

हे शितिकंठ ! आप माया से शून्य हैं, परममंगलरूप हैं और जटाजूटधारी हैं, आपको बहुतेरे प्रणाम हैं ॥ १०६ ।

हे गिरीश ! आप ही फल सींचने वालों में श्रेष्ठ, पशुओं (जीवों) पर यज्ञरूप से रहने वाले बड़े-छोटे, मोटे और वृद्धस्वरूप हैं, आपको नमस्कार है ॥ १०७ ।

आप ही कुमार के गुरु और कुमार की मूर्ति हैं, आप ही श्वेत, श्याम, रक्त और पीतवर्ण हैं, आपको प्रणाम है ॥ १०८ ।

---

1. उच्च इति वेति पुस्तकान्तरे ।

धूम्रवर्णाय पिङ्गाय नमः किर्मीरवर्चसे ।
नमः पाटलवर्णाय नमो हरिततेजसे ॥ १०९ ।
नानावर्णस्वरूपाय वर्णानां पतये नमः ।
नमस्ते स्वररूपाय नमो व्यञ्जनरूपिणे ॥ ११० ।
उदात्तायाऽनुदात्ताय स्वरिताय नमो नमः ।
ह्रस्वदीर्घप्लुतेशाय सविसर्गाय ते नमः ॥ १११ ।
अनुस्वारस्वरूपाय नमस्ते सानुनासिक ।
नमो निरनुनासाय दन्त्यतालव्यरूपिणे ॥ ११२ ।

धूम्रवर्णाय कृष्णलोहितरूपाय । **पिङ्गाय** कपिलवर्णाय । **किर्मीरवर्चसे** कर्बुरवर्णाय। **पाटलवर्णाय** श्वेतरक्तवर्णाय । शुक्लपीतमिश्रितवर्णायेत्यर्थः । **हरिततेजसे** पालाश-वर्णाय ॥ १०९ ।

नानावर्णस्वरूपाय उक्तशुक्लादिवर्णरूपायेत्यर्थः । ब्राह्मणादिस्वरूपायेति वा । **वर्णानां पतये** तेषामेव नियन्त्रे । स्वरा अकारादि चतुर्दश । व्यञ्जनानि कादीनि हकारपर्यन्तानि ॥ ११० ।

ऊर्ध्वमादत्त इत्युदात्तस्तद्विपरीतमादत्त इत्यनुदात्तस्तयोः समाहारः स्वरितस्तद्रूपाय । **ह्रस्वाः** अ इ उ ऋ लृ इति पञ्च । **दीर्घाः** आ ई ऊ ॠ ॡ इति पञ्च । **प्लुता** दूराह्वाने गाने लोकप्रसिद्धास्तत्त्रितयेशाय ह्रस्वादिनियन्त्रे । विसर्गेण सह वर्तत इति सविसर्गो वर्णविशेषस्तद्रूपाय ॥ १११ ।

अनुस्वारस्वरूपाय बिन्द्वात्मकाय । **सानुनासिक** अनुनासिकैर्ञमङणनमैः सह वर्तमानहेतुरूपेत्यर्थः । **निरनुनासाय** तद्रूपायेत्यर्थः । लृवर्णतवर्गलसा दन्त्याः । इवर्ण-चवर्गयशास्तालव्यास्तद्रूपिणे ॥ ११२ ।

आप ही धूमिल, (मटमैल), चितकबरा, पाटल (गुलाबी) और हरिअर (हरित) वर्ण के तेजोधारी हैं, आपको प्रणति है ॥ १०९ ।

आप नानावर्णों के स्वरूप हैं और सभी वर्णों के पति हैं, अतएव आपको बांरम्बार नमस्कार है। आप ही स्वररूप और आप ही व्यंजन (वर्णों के) स्वरूप हैं, आपको प्रणाम है ॥ ११० ।

आप ही उदात्त, अनुदात्त और स्वरित हैं। आप ही विसर्ग-सहित ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के अधीश हैं ॥ १११ ।

आप ही अनुस्वार के रूप हैं। आप ही सानुनासिक और निरनुनासिक हैं। आप ही दन्त्य, तालव्य, ओष्ठ्य और उरस्य (कंठ्य) वर्णों के स्वरूप हैं। ऊष्म और अन्तस्थ वर्ण भी आप ही हैं, अतएव आपके इन सब प्रत्येक रूपों को नमस्कार है। हे पिनाकधनुर्धर! आप ही पंचम और निषादस्वर के स्वरूप हैं,

ओष्ठ्योरस्यस्वरूपाय नम ऊष्मस्वरूपिणे ।
अन्तस्थाय नमस्तुभ्यं पञ्चमाय पिनाकिने ॥ ११३ ।
निषादाय नमस्तुभ्यं निषादपतये नमः ।
वीणावेणुमृदङ्गादिवाद्यरूपाय ते नमः ॥ ११४ ।
नमस्ताराय मन्द्राय घोरायाऽघोरमूर्तये ।
नमस्तानस्वरूपाय मूर्च्छनापतये नमः ॥ ११५ ।
स्थायिसंचारिभेदेन नमो भावस्वरूपिणे ।
तालप्रियाय तालाय लास्यताण्डवजन्मने ॥ ११६ ।

ओष्ठे भवा ओष्ठ्या **उवर्णपवर्गोध्मानीयाः** । उरसि भवा उरस्यास्तत्तद्वर्णरूपायेत्यर्थः । **ऊष्माणः शषसहास्तत्स्वरूपिणे** । **अन्तस्था यरलवास्तस्मै तद्रूपायेत्यर्थः** । परपुरुषब्रह्मविष्णुचतुष्टयापेक्षया पञ्चमाय श्रीरुद्राय पञ्चमाख्यस्वरूपायेति वा । पिनाकिने आजगवापरपर्यायधनुर्धारिणे ॥ ११३ ।

निषादाय निषादाख्यस्वररूपाय । यदाहाऽमरः— **"निषादर्षभेति"** । यद्वा निषादाय श्वपचाय । तेषां पतये स्वामिने । शृङ्गवेरपुरनिवासिने श्रीराममित्राय गुहायेति वा । मृदङ्गादीत्यादिशब्देन डमरुप्रभृतयो गृह्यन्ते ॥ ११४ ।

तारायात्युच्चध्वनिरूपाय । यदाहाऽमरः— **"तारोऽत्युच्चः"** इति । **मन्द्राय गम्भीरशब्दरूपाय** । पापिनां घोराय भयङ्कराय । तद्विपरीतानामघोराय अघोराख्यमन्त्ररूपायेति वा । तानाय अतिलम्बस्वरूपाय । तदुक्तम्— **"ताना एकोनपञ्चाशदिति"** । मूर्च्छनापतये तदालापप्रवर्तयित्रे । तदुक्तम्— **"मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिरिति"** ॥ ११५ ।

स्थायिसंचारिभेदेन स्थावरजङ्गमभेदेन । यद्वा स्थायिसंचारिभेदौ सङ्गीतशास्त्रे प्रसिद्धौ, तयोर्भेदेन भावस्वरूपिणे । पदार्थरूपिणे तालप्रियाय कालक्रियामानप्रियाय । यदाहाऽमरः— **"तालः कालक्रियामानमिति"** । करपुटादिक्रियमाणवाद्यप्रियायेति वा । तालाय तत्स्वरूपाय । लास्यताण्डवजन्मने लास्यताण्डवयोर्नर्तनविशेषयोः कारणाय ॥ ११६ ।

आप ही निषादराज हैं, वीणा, वेणु और मृदंगादिक सब वाद्यों के स्वरूप भी आप ही हैं, अतः आपको अनेक नमस्कार है ॥ ११२-११४ ।

आप ही उच्चध्वनि, गंभीरशब्द, भयंकरवचन और कोमल शब्दों के स्वरूप हैं । आपको प्रणाम है । आप ही (उनचासों) तानों की मूर्ति और (इक्कीसों) मूर्च्छनाओं के स्वामी हैं, आपको नमस्कार है ॥ ११५ ।

स्थायी और संचारी के भेद से आप ही भावस्वरूप हैं । आप स्वयं तालों के स्वरूप हैं और बड़े ही तालप्रिय हैं । अतएव लास्य और ताण्डव—इन दोनों ही प्रकार के नर्तनों के उत्पादक हैं, आपको प्रणाम है ॥ ११६ ।

तौर्यत्रिकस्वरूपाय तौर्यत्रिकमहाप्रिय ।
तौर्यत्रिककृतां भक्त्या निर्वाणश्रीप्रदायक ॥ ११७ ।
स्थूलसूक्ष्मस्वरूपाय दृश्याऽदृश्यस्वरूपिणे ।
अर्वाचीनाय च नमः पराचीनाय ते नमः ॥ ११८ ।
वाक्प्रपञ्चस्वरूपाय वाक्प्रपञ्चपराय च ।
एकायाऽनेकभेदाय सदसत्पतये नमः ॥ ११९ ।
शब्दब्रह्म नमस्तुभ्यं परब्रह्म नमोऽस्तु ते ।
नमो वेदान्तवेद्याय वेदानां पतये नमः ॥ १२० ।
नमो वेदस्वरूपाय वेदगोचरमूर्तये ।
पार्वतीश नमस्तुभ्यं जगदीश नमोऽस्तु ते ॥ १२१ ।

तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं तत्स्वरूपाय । तदेव तौर्यत्रिकं महत्प्रियं यस्य स तथा तत्सम्बोधनं तौर्यत्रिकमहाप्रिय । यदाहाऽमर एतदेवेति । निर्वाणश्रीः कैवल्य-लक्ष्मीः ॥ ११७ ।

स्थूलसूक्ष्मे कार्यकारणे । दृश्यं पृथिव्यप्तेजः, अदृश्यं वाय्वाकाशं तत्स्वरूपिणे । भावाभावरूपिणे इति वा । अर्वाचीनाय इदानींतनाय । पराचीनाय प्राक्का-लीनाय ॥ ११८ ।

वाक्प्रपञ्चः शब्दविस्तारः । पराय कारणाय । वस्तुत एकाय । माययाऽनेकप्रकाराय । सदसत्पतये कार्यकारणनियन्त्रे ॥ ११९ ।

शब्दब्रह्म वेदः । वेदान्तवेद्याय वेदैकगोचराय । "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति" श्रुतेः । पतये नियन्त्रे ॥ १२० ।

वेदगोचरमूर्तये वेदनं वेदः स्वप्रकाशश्चिद्धातुस्तद्विषयरूपाय ॥ १२१ ।

हे तौर्यत्रिक (नृत्य, गीत, वाद्य) के महाप्रिय, आप ही तो तौर्यत्रिक के स्वरूप हैं एवं भक्तिभाव से नाचने, गाने और बजानेवालों को आप मोक्षश्री का दान करते हैं ॥ ११७ ।

स्थूल-सूक्ष्म, दृश्य-अदृश्य और नवीन-प्राचीन—सबके स्वरूप आप ही हैं, अतएव आपको नमस्कार है ॥ ११८ ।

आप ही वाक्प्रपंच के रूप हैं और आप ही वाक्प्रपंच के कारण भी हैं । यद्यपि आप एक ही हैं, पर आपके भेद बहुतेरे हैं, एवं क्या सत्, क्या असत्, सभी के स्वामी आप ही हैं, अतः आपको प्रणति-निवेदन है ॥ ११९ ।

आप ही शब्दब्रह्म और परब्रह्म हैं, आपको बारम्बार नमस्कार है । हे पार्वतीश ! आप ही वेदान्तवेद्य, वेदपति, वेदस्वरूप और वेदगोचरमूर्ति हैं, अतएव हे जगदीश ! आपको अनेकशः प्रणतियाँ हैं ॥ १२०-१२१ ।

नमस्ते देवदेवेश देव दिव्यपदप्रद ।
शङ्कराय नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं महेश्वर ॥ १२२ ।
नमस्ते जगदानन्द नमस्ते शशिशेखर ।
मृत्युञ्जय नमस्तुभ्यं नमस्ते त्र्यम्बकाय च ॥ १२३ ।
नमः पिनाकहस्ताय त्रिशूलायुधधारिणे ।
नमस्त्रिपुरहन्त्रे च नमोऽन्धकनिषूदन ॥ १२४ ।
कन्दर्पदर्पदलन नमो जालन्धराऽरये ।
कालाय कालकालाय कालकूटविषादिने ॥ १२५ ।
विषादहन्त्रे भक्तानामभक्तैकविषादद ।
ज्ञानाय ज्ञानरूपाय सर्वज्ञाय नमोऽस्तु ते ॥ १२६ ।
योगसिद्धिप्रदोऽसि त्वं योगिनां योगसत्तम ।
तपसां फलदोऽसि त्वं तपस्विभ्यस्तपोधन ॥ १२७ ।
त्वमेव मन्त्ररूपोऽसि मन्त्राणां फलदो भवान् ।
महादानफलं त्वं वै महादानप्रदो भवान् ॥ १२८ ।

कालं कालयताऽतिकालकालः । स कालकालः कालाग्निकालमूषिकभक्षकः कालोऽपि काल्यतेऽनेनेत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । कालकूटाख्यं यद्विषं तद्भक्षिणे ॥ १२५ ।

ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं तस्मै साधनायेत्यर्थः ॥ १२६ ।

हे देवदेवेश ! आप ही देवताओं के दिव्यपदप्रदायक हैं । हे महेश्वर ! शंकरस्वरूप ! आपको नमस्कार है ॥ १२२ ॥

हे जगदानन्द ! चन्द्रशेखर ! मृत्युंजय ! त्र्यम्बक ! हे पिनाकपाणे ! त्रिशूलायुधधारिन् ! त्रिपुरान्तक ! अन्धकनिषूदन ! कन्दर्पदर्पदलन ! जालन्धररिपो ! आपको अनेक बार नमस्कार है । आप ही काल और काल के भी काल एवं कालकूट विष के भोजनकर्ता हैं । आप भक्तों के विषादहारी और अभक्तों के विषाददाता हैं । आप ही ज्ञान हैं, ज्ञान के रूप हैं और सर्वज्ञ हैं (ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता हैं), आपको बहुशः प्रणाम है ॥ १२३-१२६ ।

हे योगसत्तम ! योगियों की योगसिद्धि के दाता, आप ही हैं । हे ! तपोधन ! तपस्वी लोगों की तपस्याओं के भी फलों को आप ही देते हैं ॥ १२७ ।

आप ही मंत्रों के स्वरूप हैं एवं मंत्रों के फलदाता भी । आप ही महादानों के फल हैं और आप ही महादानों के देनेवाले भी हैं ॥ १२८ ।

महायज्ञस्त्वमेवेश, महायज्ञफलप्रद ।
त्वं सर्वः सर्वगस्त्वं वै सर्वदः सर्वदृग् भवान् ॥ १२९ ।
सर्वभुक् सर्वकर्ता त्वं सर्वसंहारकारक ।
योगिनां हृदयाकाशकृतालय नमोऽस्तु ते ॥ १३० ।
त्वमेव विष्णुरूपेण शङ्खचक्रगदाधर ।
त्रिलोकीं त्रायसे त्रातः सत्त्वमूर्ते नमोऽस्तु ते ॥ १३१ ।
त्वमेव विदधास्येतद् विधिर्भूत्वा विधानवित् ।
रजोरूपं समालम्ब्य नीरजस्कपदप्रद ॥ १३२ ।
त्वमेव हि महारुद्रस्त्वं महोग्रो भुजङ्गभृत् ।
त्वमेव हि महाभीमो महापितृवनेचर ॥ १३३ ।
तामसीं तनुमाश्रित्य त्वं कृतान्तकृतान्तक ।
कालाग्निरुद्रो भूत्वाऽन्ते त्वं संवर्तप्रवर्तकः ॥ १३४ ।

नीरजस्कं पदं कैवल्यम् ॥ १३२ ।

पितृवनं श्मशानम् ॥ १३३ ।

कृतान्तकृतान्तको यमस्याऽपि यम इत्यर्थः । कालाग्निरुद्रः संकर्षणमुखाग्निः । संवर्तः प्रलयः ॥ १३४ ।

हे नाथ ! आप ही यज्ञपुरुष हैं और आप ही बड़े से बड़े यज्ञों के फलदाता हैं, आप ही सब कुछ हैं, आप ही सर्वत्र व्यापी हैं, आप ही सर्वस्वदायक हैं, आप ही समदर्शी हैं, आपको नमस्कार है ॥ १२९ ।

आप ही सर्वभोजी, सर्वकर्ता और सर्वसंहारकारक हैं । आप ही योगियों के हृदयाकाश में विराजमान रहते हैं । आपको नमस्कार है ॥ १३० ।

हे त्राणकारिन् ! सत्त्वमूर्ते ! आप ही विष्णुरूप से शंख, चक्र और गदा को धारण करके त्रैलोक्य मात्र का पालन करते हैं, अतः आप ही को प्रणाम है ॥ १३१ ।

हे नीरजस्क(मोक्ष)पददायक ! आप ही रजोगुण का अवलम्बन कर विधातारूप से यथाविधान इस विश्व का सृजन करते हैं । आपको नमस्कार है ॥ १३२ ।

हे महाश्मशानवासिन् ! आप ही महारुद्र, महोग्र, महाभीम और भुजंगम-भूषण हैं ॥ १३३ ।

हे कृतान्त के भी कृतान्तक ! आप ही तामस शरीर को धर अन्त में कालाग्निरुद्र होकर प्रलय के प्रवर्तक हो जाते हैं ॥ १३४ ।

त्वं पुंप्रकृतिरूपाभ्यां महदाद्यखिलं जगत् ।
अक्षिपक्ष्मसमुत्क्षेपात् पुनराविष्करोष्यज ॥ १३५ ।
उन्मेषविनिमेषौ ते सर्गासर्गैककारणम् ।
कपालमालाखेलोऽयं भवतः स्वैरचारिणः ॥ १३६ ।
त्वत्कण्ठे नृकरोटीयं धूर्जटे या विभासते ।
सर्वेषामन्तदग्धानां सा स्फुटं बीजमालिका ॥ १३७ ।
त्वत्तः सर्वमिदं शम्भो त्वयि सर्वं चराचरम् ।
कस्त्वां स्तोतुं विजानाति पुरावाचामगोचरम्[1] ॥ १३८ ।
स्तोता त्वं हि स्तुतिस्त्वं हि नित्यं स्तुत्यस्त्वमेव च ।
वेद्म्योंन्नमः शिवायेति नाऽन्यद्वेद्म्येव किञ्चन ॥ १३९ ।

पुंप्रकृतिरूपाभ्यां पुरुषप्रधानरूपाभ्याम् । अक्षिपक्ष्मणो नेत्रावरकस्य समुत्क्षेपा-दुन्मेषात् ॥ १३५ ।

ननु कपालस्रग्विणो मे किमियमतिस्तुतिः क्रियते तत्राह । कपालेति । खेलः क्रीडा ॥ १३६ ।

नृकरोटी नरशिरोऽस्थि। यदाहाऽमरः—"शिरोऽस्थिनृकरोटिः स्त्रीति" । अन्तः प्रलयः । बीजमज्ञानम् ॥ १३७ ।

अभिन्ननिमित्तोपादनतामाह । त्वत्तः सर्वमिति । पुरावाचां प्राचां मूर्तिमतां वेदादीनामनादीनां वाचां वेदानामिति सामानाधिकरण्यं वा ॥ १३८ ।

हिशब्दावेवकारार्थे ॥ १३९ ।

हे अज ! आप ही प्रकृति और पुरुषरूप से महत् आदि अखिल जगत् को आँख की पलक उठाने (खोलने) भर में फिर से प्रकट कर देते हैं ॥ १३५ ।

आपकी दृष्टि का उन्मीलन और निमीलन ही सृष्टि-प्रलय के कारण हैं । धूर्जटे ! आप स्वेच्छाचारी हैं, अतएव यह कपालमाला तो आपकी लीला मात्र है, और जो आपके कंठ में नरमुण्डमाला शोभित हो रही है, वह तो स्पष्ट ही अन्तर्दग्ध सब लोगों की बीजमाला है ॥ १३६-१३७ ।

हे शंभो ! आप ही से यह समस्त संसार चला है और आप ही पर निर्भर है । आप तो पुरातन वाक्पथ के भी अगोचर हैं, फिर आपकी स्तुति कौन कर सकता है ॥ १३८ ।

आप ही स्तुतिकर्ता, आप ही स्तुति और आप ही नित्य स्तुत्य हैं, तब फिर मैं केवल 'नमः शिवाय' (भर) जानता हूँ और तो कुछ नहीं समझता ॥ १३९ ॥

---

1. अगोचरेति क्वचित्पाठः ।

त्वमेव हि शरण्यं मे त्वमेव हि गतिः परा ।
त्वामेव प्रणमामीश नमस्तुभ्यं नमो नमः ॥ १४० ।
इत्युदीर्याऽसकृद्वेधाः प्रणनाम महेश्वरम् ।
प्रणवाख्यं महालिङ्गरूपिणं दण्डवत् क्षितौ ॥ १४१ ।

ईश्वर उवाच–

ततो गिरीन्द्रतनये श्रुत्वा ब्रह्मस्तुतिं पराम् ।
परमैश्वर्यसम्पत्तिहेतुं तुष्टोऽहमद्भुतम् ॥ १४२ ।
अमूर्तोऽहं ततो लिङ्गान्मूर्तिमास्थाय शाङ्करीम् ।
प्रसन्नोऽस्मि वरं ब्रूहीत्युवाच चतुराननम् ॥ १४३ ।
चतुर्वक्त्रः समुत्थाय प्रत्यक्षं वीक्ष्य मामथ ।
पुनर्जय जयेत्युक्त्वा प्रणनाम कृताञ्जलिः॥ १४४ ।
आनन्दवाष्पसलिलनेत्रो हृष्टतनूरुहः ।
गद्गदेन स्वरेणाऽथ प्रोवाच जलजासनः ॥ १४५ ।

जलजासनः पद्मासनः ॥ १४५ ।

आप ही मेरे शरणदाता और आप ही परमगति हैं, मैं तो आप ही को प्रणाम करता हूँ। हे ईश ! आपको बारम्बार नमस्कार है" ॥ १४० ।

इसी प्रकार से ब्रह्मा अनेक बार ओंकार नामक महालिंगरूपी महेश्वर की (ओङ्कारेश्वर की) स्तुति करके भूतल पर दण्डवत् प्रणाम करने लगे ॥ १४१ ।

ईश्वर ने कहा–

अयि गिरीन्द्रतनये ! तब तो मैं ब्रह्मा की परम ऐश्वर्य-सम्पत्ति की जड़ (हेतु=मूलकारण) उस अतिविचित्र स्तुति को सुनकर बहुत ही सन्तुष्ट हो गया ॥ १४२ ।

फिर तो मैं मूर्तिहीन होने पर भी उसी लिंग से शंकर की मूर्ति धरकर ब्रह्मा से कहने लगा–मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो' ॥ १४३ ।

अनन्तर ब्रह्मा (यह सुन) उठ खड़े होते ही मुझे प्रत्यक्ष देखकर, फिर जय-जयकार करते हुए हाथों को जोड़ (मुझे) प्रणाम करने लगे ॥ १४४ ।

आनन्दाश्रुजल से पूर्णनेत्र और पुलकित शरीर होकर ब्रह्मदेव गद्गद स्वर से कहने लगे ॥ १४५ ।

ब्रह्मोवाच–

यदि प्रसन्नो देवेश यदि देयो वरो मम ।
तदेतस्मिन् महालिङ्गे सान्निध्यं तेऽस्तु शङ्कर ॥ १४६ ।
अयमेव वरो देयो नान्यं वरमहं वृणे ।
ओंकारेश्वरनामैतदस्तु भक्तैकमुक्तिदम् ॥ १४७ ।

स्कन्द उवाच–

विध्युक्तमिति विप्रर्षे समाकर्ण्य तदेशिता ।
उवाच वचनं चैतत्तथाऽस्तु चतुराननम् ॥ १४८ ।
वरानन्यानपि विभुः प्रसन्नस्तत्क्षणाद्ददौ ।
विधये दीर्घतपसे तया स्तुत्याऽतितोषितः ॥ १४९ ।

ईश्वर उवाच–

सुरश्रेष्ठ तपःश्रेष्ठ सर्वाम्नायनिधिर्भव ।
सृष्टेः करणसामर्थ्यं तवाऽस्तु मदनुग्रहात् ॥ १५० ।

भक्तैकमुक्तिदं भक्तानामेकां मुख्यां सायुज्यलक्षणां मुक्तिं ददातीति तथा ॥ १४७ ।

विध्युक्तं ब्रह्मोक्तम् ॥ १४८ ।

सर्वाम्नायनिधिरखिलवेदाश्रयः ॥ १५० ।

ब्रह्मा ने कहा–

'यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और यदि मुझे वरदान अवश्य किया चाहते हैं, तो हे शंकर ! इस महालिंग में आपका सान्निध्य रहे ॥ १४६ ।

मुझको यही वरदान दें, मैं दूसरा कोई वर नहीं चाहता । इस लिंग का ओंकारेश्वर नाम पड़े और यह लिंगभक्तलोगों को एकमात्र मोक्षदायक हो' ॥ १४७ ।

स्कन्द ने कहा–

हे विप्रर्षे ! भगवान् शिव ने, विधाता का कहना सुनकर उनसे 'तथास्तु' कह दिया ॥ १४८ ।

और उस स्तोत्र से सन्तुष्ट होकर तत्क्षणात् बड़ी तपस्या करने वाले ब्रह्मा को और भी बहुतेरे वरों को दिया ॥ १४९ ।

ईश्वर कहने लगे–

हे सुरश्रेष्ठ ! परमतपस्विन् ! तुम समस्त वेदों के निधान होवो और मेरे अनुग्रह से तुमको सृष्टि रचने का सामर्थ्य हो ॥ १५० ।

पितामहस्त्वं सर्वेषां सर्वेषां मान्यभूर्भवान् ।
त्वत्तपःफलदानार्थं यदेतल्लिङ्गमुत्थितम् ॥ १५१ ।
परमोङ्काररूपं च शब्दब्रह्ममयं विधे ।
अस्याऽऽराधनतः पुंसां न दूरं ब्रह्मणः पदम् ॥ १५२ ।
अकाराख्यमिदं लिङ्गमुकाराख्यमिदं परम् ।
मकाराह्वयमेतच्च नादाख्यं बिन्दुसंज्ञकम् ॥ १५३ ।
पञ्चायतनमीशानमित्थमेतदुदीरितम् ।
मोक्षाय. सर्वजन्तूनामस्मिन्नानन्दकानने ॥ १५४ ।
स्नात्वा मत्स्योदरीतीर्थे विलोक्योङ्कारमीश्वरम् ।
न जातु जायते जन्तुर्जननीजठरे क्वचित् ॥ १५५ ।
एतन्नादेश्वरं लिङ्गमेतल्लिङ्गं सुदुर्लभम् ।
रम्ये मत्स्योदरीतीरे दृष्टं स्पृष्टं विमुक्तिदम् ॥ १५६ ।
यदेतत्कापिलं ज्योतिरेतल्लिङ्गे विलोक्यते ।
अतस्तु कपिलेशाख्यमेतल्लिङ्गं सुदुर्लभम् ॥ १५७ ।

पञ्चायतनं पञ्चानामकारादीनां तद्वाच्यानां वा ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवानामायतनमाश्रयभूतमीशानं लिङ्गमित्यर्थः ॥ १५४ ।

कपिलो विष्णुः । सिद्धानां कपिलश्चाऽस्मीति भगवदुक्तेः । तत्सम्बन्धिज्योतिः कापिलं ज्योतिः ॥ १५७ ।

तुम सब किसी के पितामह और सभी लोगों के माननीय होगें, हे विधे ! यह जो शब्दब्रह्ममय, ओंकाररूप, महालिंग, तुम्हारी ही तपस्या के फल देने को उत्थित हुआ है, इसके आराधन करने से पुरुषों को ब्रह्मपद कुछ दूर नहीं रह जावेगा ॥ १५१-१५२ ।

इस आनन्दकानन में सब लोगों के मोक्षार्थ अकार, उकार, मकार, नाद और बिन्दु–संज्ञक यह लिंग इस रीति से शिवपंचायतन कहा गया है ॥ १५३-१५४ ।

यदि कोई भी जन्तु मत्स्योदरीतीर्थ में स्नान करके इस ओंकारेश्वर का दर्शन कर सके, तो उसे फिर कभी जननी के जठर का दुःख नहीं भोगना पड़े ॥ १५५ ।

यही नादेश्वरलिंग है–यह लिंग बड़ा ही दुर्लभ है, सुरम्य मत्स्योदरी के तीर पर दर्शन और स्पर्शन करने से यह विशेष मुक्ति देता है ॥ १५६ ।

इस लिंग में यह जो कपिलदेव की ज्योति झलक रही है, अतएव कपिलेश्वर नामक लिंग परम दुर्लभ है ॥ १५७ ।

मत्स्योदरी यदा गङ्गा कपिलेश्वरसन्निधौ ।
तदा तत्र नरः स्नात्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ १५८ ।
वरणोत्सिक्तपानीये द्युनदीतोयमिश्रिते ।
स्नात्वा नादेश्वरं दृष्ट्वा नरः किमनुशोचति ॥ १५९ ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां तीर्थानि सह सागरैः ।
षष्टिकोटिसहस्राणि मत्स्योदर्यां विशन्ति हि ॥ १६० ।
प्रणवेशसमीपे तु यदा गङ्गा समेष्यति ।
तदा पुण्यतमः कालो देवर्षिपितृवल्लभः ॥ १६१ ।
तत्र स्नानं जपो दानं हवनं देवतार्चनम् ।
मत्स्योदर्यामक्षयं स्यादोङ्कारेश्वरसन्निधौ ॥ १६२ ।
ओङ्कारदर्शनादेव वाजिमेधफलं लभेत् ।
तस्मात्काश्यां प्रयत्नेन दृश्य ओङ्कार ईश्वरः ॥ १६३ ।
दुर्लभं मानवं जन्म चतुर्वर्गैकसाधनम् ।
जलबुद्बुदवत्तस्यान्नादेशो येन नेक्षितः ॥ १६४ ।

जलबुद्बुदं यथा उत्तिष्ठति तद्वत्तस्य जन्म वृथेत्यर्थः ॥ १६४ ।

जब (वर्षा में) गंगा मत्स्योदरी में आकर कपिलेश्वर के समीप पहुँच जाती है, उस समय पर वहाँ के नहाने से मनुष्य ब्रह्महत्या से छूट जाता है ॥ १५८ ।

गंगा के जल आ जाने से वरणा के उलटे बहते हुए जल में स्नान कर फिर नादेश्वर[1] का दर्शन करने से मनुष्य को कोई भी शोच नहीं रह जाने पाता ॥ १५९ ।

अष्टमी और चतुर्दशी तिथि को साठ सहस्र तीर्थ सब समुद्रों के सहित मत्स्योदरी-तीर्थ में प्रवेश करते हैं ॥ १६० ।

जिस समय गंगा ओंकारेश्वर के पास पहुँच जाती हैं; वह परम पुण्यकाल देवता, ऋषि और पितरों को बड़ा ही प्रिय है ॥ १६१ ।

उस समय वहाँ मत्स्योदरीतीर्थ पर ओंकारेश्वर के समीप स्नान, दान, जप, होम और देवपूजन इत्यादि जो कुछ किया जाय—वह सब अक्षय हो जाता है ॥ १६२ ।

ओंकारेश्वर के केवल दर्शन ही से अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है, अतएव काशीधाम में प्रयत्न उठाकर ओंकारेश्वर का दर्शन करना चाहिए ॥ १६३ ।

जो कोई नादेश्वर का दर्शन नहीं कर सका, उसका दुर्लभ मनुष्यजन्म चतुर्वर्ग का एकमात्र साधन होने पर भी जल के बुल्ले-सा व्यर्थ ही हो जाता है ॥ १६४ ।

---

1. कहा जाता है कि वर्तमान काल में नादेश्वर शिवलिंग—पूर्वकाशीनरेश डॉ. श्री विभूतिनारायण सिंह शर्मदेवजू के नदेसरी कोठी में है। (सम्पादक)

निरीक्ष्य कपिलेशानं स्नात्वा मत्स्योदरीजले ।
कृत्वा पिण्डप्रदानानि पितॄणामनृणो भवेत् ॥ १६५ ।
कृत्वाऽपि मोहात्पापानि भूरीण्येव महान्त्यपि ।
काश्यामोङ्कारमालोक्य कुतस्त्रस्यति वै यमात् ॥ १६६ ।
ओङ्कारयात्राऽभिमुखं नरं वीक्ष्य पितामहाः ।
परिनृत्यन्ति मुदिताः स्वसन्तानसमुद्भवम् ॥ १६७ ।
यस्य यस्य च वै नाम स्मृत्वा स्मृत्वा नमस्यति ।
तं तमुन्नयते प्राज्ञः पितरं ब्रह्मणः पदम् ॥ १६८ ।
रुद्राणां नियुतं जप्त्वा यत्फलं सम्यगाप्यते ।
तत्फलं लभते नूनं भक्त्योङ्कारविलोकनात् ॥ १६९ ।
केवलं भूमिभाराय जन्मिनो जन्म तस्य वै ।
येनाऽऽनन्दवने दृष्टो नोङ्कारः सर्वकामदः ॥ १७० ।
एकमोङ्कारमालोक्य समस्ते क्षोणिमण्डले ।
लिङ्गजातानि सर्वाणि दृष्टानि स्युर्न संशयः ॥ १७१ ।

सन्तानो वंशः ॥ १६७ ।
नियुतं लक्षम् ॥ १६९ ।

मत्स्योदरी में स्नान, पिंडदान और कपिलेश्वर का दर्शन करने ही से मनुष्य पितरों के ऋण से छूट जाता है ॥ १६५ ।

मोहवश बहुतेरे घोर पातकों के करने पर भी यदि काशी में ओंकारेश्वर का दर्शन हो जाय, तो फिर यमराज से क्यों डरना पड़े ! ॥ १६६ ।

पितरलोग अपने वंश में उत्पन्न किसी मनुष्य को ओंकारेश्वर की यात्रा के अभिमुख देखकर हर्ष से नाचने लगते हैं ॥ १६७ ।

कारण यह है कि वह बुद्धिमान् सन्तान जिस-जिस पितर का नाम स्मरण करके प्रणाम करता है, उसे ब्रह्मपद पर पहुँचा देता है ॥ १६८ ।

एक लाख रुद्र-जप करने से जो फल मिलता है, भक्तिपूर्वक ओंकारेश्वर का दर्शन करने से भी वही फल अवश्य प्राप्त होता है ॥ १६९ ।

जिसने आनन्दवन में सर्वाभीष्टदायक ओंकारेश्वर का दर्शन नहीं किया, उस जन्मधारी की उत्पत्ति केवल पृथिवी का बोझ ही बढ़ाने के लिये हुई है ॥ १७० ।

एक ओंकारेश्वर के दर्शन करने ही से समस्त भूमण्डल के सभी लिंगसमूहों के दर्शन करने का पुण्य निश्चय ही हो जाता है ॥ १७१ ।

प्रणवेशं प्रणम्याऽथ यद्यन्यत्र विपद्यते ।
स्वर्गलोकमवाप्याऽथ काश्यां मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ १७२ ।
अस्मिँल्लिङ्गे सदा ब्रह्मन् स्थास्यामीति विनिश्चितम् ।
दास्यामि च सदा मोक्षमेतल्लिङ्गाऽर्चकाय वै ॥ १७३ ।
ओङ्कारं सकृदप्यत्र नरो नत्वा प्रयत्नतः ।
कृतकृत्यो भवेन्नूनं परमान्मदनुग्रहात् ॥ १७४ ।
ओङ्कारपश्चिमे भागे तारतीर्थमनुत्तमम् ।
कृतोदकक्रियस्तत्र नरस्तरंति दुर्गतिम् ॥ १७५ ।
ओङ्कारेशस्य ये भक्ता ज्ञेयास्ते नैव मानवाः ।
मनुष्यचर्मणा नद्धास्ते रुद्रा मोक्षगामिनः ॥ १७६ ।
अस्य लिङ्गस्य महिमा नाऽन्यैरत्राऽवगम्यते ।
त्वत्पुण्योदयतो यस्माद् विधेऽत्राऽऽविरभूदिदम् ॥ १७७ ।

विपद्यते म्रियते ॥ १७२ ।

तारतीर्थमोङ्कारतीर्थम् ॥ १७५ ।

नाऽन्यैरत्राऽवगम्यते, किन्तु त्वयैव ज्ञायत इत्यर्थः । तत्र हेतुस्त्वत्पुण्येति । त्वत्पुण्योदयतस्तव शुभादृष्टस्योदयात् ॥ १७७ ।

मनुष्य यदि ओंकारेश्वर को प्रणाम कर किसी दूसरे स्थान पर जाकर मर जावे, तो स्वर्गलोक में पहुँचकर फिर काशी में मोक्ष को पाता है ॥ १७२ ।

हे ब्रह्मन् ! मैं इस लिंग में सर्वदैव स्थित रहूँगा, यह निश्चित है और इस लिंग के अर्चक लोगों को सदा मोक्ष दिया करूँगा ॥ १७३ ।

जो नर प्रयत्न करके एक बार भी यहाँ पर ओंकारेश्वर को प्रणाम कर लेगा, वह मेरे परम अनुग्रह से अवश्य ही कृतकृत्य हो जावेगा ॥ १७४ ।

ओंकारेश्वर के पश्चिम भाग में उत्तम **तारतीर्थ** है, वहाँ पर स्नानादि जलक्रियाओं के करने से मनुष्य दुर्गति से निस्तार पा जता है ॥ १७५ ।

जो लोग ओंकारेश्वर के उपासक हैं, उनको कदापि मनुष्य नहीं समझना चाहिए । वे तो मनुष्य के चमड़े से मढ़े हुए मोक्षगामी (जीवन्मुक्त) साक्षात् रुद्र ही हैं ॥ १७६ ।

इस लिंग की महिमा यहाँ पर दूसरे किसी की नहीं जानी हुई है; क्योंकि हे विधे ! तुम्हारे ही पुण्योदय से यहाँ पर यह लिंग प्रकट हुआ है ॥ १७७ ।

एतल्लिङ्गप्रभावाच्च सर्वं ज्ञास्यसि तत्त्वतः ।
विधे विधेहि तस्मात्त्वं सर्वमेतच्चराचरम् ॥ १७८ ।
इति दत्वा वरं तस्मै ब्रह्मणे पद्मसम्भुवे ।
तस्मिन्नेव महालिङ्गे शम्भुर्लीनो बभूव ह ॥ १७९ ।

स्कन्द उवाच–

ब्रह्माऽपि भजतेऽद्यापि तल्लिङ्गं कलशोद्भव ।
स्तुवन् ब्रह्मस्तवेनैव स्वात्मना विहितेन हि ॥ १८० ।
ब्रह्मस्तवं जपन्मर्त्यः सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ।
पूर्यते च महापुण्यैर्ज्ञानं प्राप्नोति सत्तमम् ॥ १८१ ।

विधे विधेहीति । अत्र वाराणस्यां स्थित्वा चराचरं विधेहीत्युक्तत्वात् सृष्टेः पूर्वमपि काशी स्थितैवाऽतः प्रलयेऽपि काश्या नो नाश इति पूर्वमुक्तं न विस्मर्तव्यमिति ॥ १७८ ।

सम्यग् भवत्यस्मात् प्रजेति संभूस्तस्मै सम्भुवे ॥ १७९ ।

ब्रह्मस्तवेन ब्रह्मप्रतिपादकेन स्वकृतेन वा ॥ १८० ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ।

तुम इसी लिंग के प्रभाव से सब बातें तत्त्वतः जान जाओगे और हे विधातः ! उसी ज्ञान से तुम इस चराचर जगत् की सृष्टि कर सकोगे ॥ १७८ ।

भगवान् शंभु पद्मयोनि ब्रह्मदेव को इस प्रकार से वरदान कर उसी महालिंग में लीन हो गये ॥ १७९ ।

स्कन्द ने कहा–

"हे कलशोद्भव ! आज तक ब्रह्मा उस लिंग को भजा करते हैं और अपने बनाये हुए 'ब्रह्मस्तव' के द्वारा स्तुति करते रहते हैं ॥ १८० ।

मनुष्य इस 'ब्रह्मस्तव' के पाठ करने से समस्त पापों से छूटता और महापुण्यों से पूर्ण हो जाता एवं परमोत्तम ज्ञान को पाता है ॥ १८१ ।

ब्रह्मस्तवमिमं जप्त्वा त्रिकालं परिवत्सरम् ।
अन्तकाले भवेज्ज्ञानं येन बन्धात्प्रमुच्यते ॥ १८२ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ओङ्कारमहिमवर्णनं ना
त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ।

एक वर्ष भर तीनों कालों में इस ब्रह्मस्तव के पाठ करने से अन्त समय में वह ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा (अनायास ही) बन्धन से छूट जाता है ॥ १८२ ।

मछोदरी अब दूर है, तार कुंड के तीर ।
ओंकारेश्वरनाथ रहि, हरत पाप की भीर ॥ १ ।
सब वेदन को मूल है, जस ओंकार प्रधान ।
सब लिंगन में श्रेष्ठ तस, ओंकारेश महान् ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां श्रीमदोङ्कारेश्वर-माहात्म्यवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ।

॥ अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

शृणु वातापिसंहर्तः काश्यां पातकतङ्किनी ।
पद्मकल्पे तु या वृत्ता दमनस्य द्विजन्मनः ॥ १ ।
भारद्वाजस्य तनयो दमनो नाम नामतः ।
कृतमौञ्जीविधिः सोऽथ विद्याजातं प्रगृह्य च ॥ २ ।
संसारं दुःखबहुलं जीवितं चाऽपि चञ्चलम् ।
विज्ञाय दमनो विद्वान्निर्जगाम गृहान्निजात् ॥ ३ ।
काञ्चिद्दिशं समालम्ब्य निर्वेदं परमं गतः ।
प्रत्याश्रमं प्रतिनगं प्रत्यब्धि प्रतिकाननम् ॥ ४ ।
प्रतितीर्थं प्रतिनदि स बभ्राम तपोयुतः ।
यावन्त्यायतनानीह तिष्ठन्ति परितो भुवम् ॥ ५ ।

अध्याये सप्ततितमे चतुर्भिरधिके तथा ।
पुनरोङ्कारमाहात्म्यं वर्ण्यतेऽथ सविस्तरम् ॥ १ ।

विस्तरेणोङ्कारमाहात्म्यं प्रवक्तुमितिहासं प्रस्तावयति । शृण्विति । दमनस्य या वृत्ता कथेति शेषः । तां शृण्वित्यर्थः । कीदृशी कथेत्यत्राह–महापातकस्य तङ्किनी नाशिनी ॥ १ ।

प्रत्यब्धि प्रतिसमुद्रम् ॥ ४ ।

(इतिहास के सहित पुनओङ्कारेश्वर का माहात्म्य)

स्कन्द कहने लगे–

हे वातापिभंजन ! पुरातन पाद्मकल्प में दमन नामक ब्राह्मण की जो पापहारिणी घटना काशी में हुई थी, उसे श्रवण कीजिये ॥ १ ।

भारद्वाज के पुत्र एक जन का नाम दमन था। उसने यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने पर समस्त विद्याओं को पढ़ लिया ॥ २ ।

तत्पश्चात् संसार को दुःखमय एवं जीवन को क्षणभंगुर समझकर (वैराग्य-पूर्वक) अपने घर से निकल पड़ा ॥ ३ ।

फिर तो वह विद्वान् परम निर्वेद को प्राप्त होकर किसी दिशा में चला गया। वह प्रत्येक आश्रम, प्रतिपर्वत, प्रतिसमुद्र, प्रतिवन, प्रतितीर्थ और प्रत्येक नदियों में तपोयुक्त होकर घूमने लगा। वह ब्राह्मण अपनी इन्द्रियों के सहित मन को

अध्युवास स तावन्ति संयतेन्द्रियमानसः ।
परं न मनसः स्थैर्यं क्वापि प्रापि च तेन वै ॥ ६ ॥
मनोरथोपदेष्टा च कुत्रचित्क्वापि नेक्षितः ।
कदाचिद्दैवयोगात्स दमनो नाम तापसः ॥ ७ ॥
रेवातटे निरैक्षिष्ट तीर्थं चाऽमरकण्टकम् ।
महदायतनं पुण्यमोङ्कारस्याऽपि तत्र वै ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा हृष्टमना आसीच्चेतः स्थैर्यमवाप ह ।
अथ पाशुपतांस्तत्र स निरीक्ष्य तपोधनान् ॥ ९ ॥
विभूतिभूषिततनून् कृतलिङ्गसमर्चनान् ।
विहितप्राणयात्रांश्च कृतागमविचारणान् ॥ १० ॥
स्वस्थोपविष्टान् स्वगुरोरग्रतोऽचलमानसान् ।
प्रणम्योपाविशत्तत्र तदाचार्यस्य सन्निधौ ॥ ११ ॥
प्रबद्धहस्तयुगलः प्रणमत्तरकन्धरः ।
अथ पाशुपताचार्यो गर्गो नाम महामुनिः ॥ १२ ॥
वार्धकेन समाक्रान्तस्तपसा कृशविग्रहः ।
शम्भोराराधने निष्ठः श्रेष्ठः सर्वतपस्विषु ॥ १३ ॥
पप्रच्छ दमनं चेति कस्त्वं कस्मादिहागतः ।
तरुणोऽपि विरक्तोऽसि कुतस्तद्वद सत्तम ॥ १४ ॥

रेवा नर्मदा ॥ ८ ।

विहितप्राणयात्रान् प्राणसंधारणार्थं कृतभैक्षान् भुक्तभैक्षान्नानिति यावत् । तथा च मैत्रायणीयश्रुतिः—"चतुर्षु वर्णेषु भैक्षं चरेत् पाणिपात्रेणाशनं कुर्यात् ओषधवत् प्राश्नीयात् प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते" इत्यादिः ॥ १० ।

अचलमानसान् स्थिरचित्तान् आचार्यस्य गर्गनाम्नः ॥ ११ ।

संयत करके भूमण्डल पर जहाँ-जहाँ सिद्धक्षेत्र थे, वहाँ-वहाँ पर जाकर वास करने लगा ॥ ४-६ ।

परन्तु वह अपने मनोनुकूल उपदेशक कहीं भी नहीं देख सका (पा सका) । (अन्ततो गत्वा)एक बार उस तपस्वी दमन ने दैवयोग से नर्मदा नदी के तट पर अमरकंटकतीर्थ और परम पवित्र ओंकारेश्वर का स्थान देखा ॥ ७-८ ।

उसे देखते ही उसका चित्त बहुत ही प्रसन्नता और स्थिरता को प्राप्त हुआ । अनन्तर वहाँ पर उस ब्राह्मण ने देखा कि विभूति से विभूषित शरीर कितने ही

इति प्रणयपूर्वं स निशम्य दमनोऽब्रवीत् ।
भगोः पाशुपताचार्य सर्वज्ञाराधनप्रिय ॥ १५ ।
कथयामि यथार्थं ते निजचेतोविचेष्टितम् ।
अहं ब्राह्मणदायादो वेदशास्त्रकृतश्रमः ॥ १६ ।
संसारासारतां ज्ञात्वा वानप्रस्थमशिश्रियम् ।
अनेनैव शरीरेण महासिद्धिमभीप्सता ॥ १७ ।
स्नातं बहुषु तीर्थेषु मन्त्रा जप्तास्तु कोटिशः ।
देवताः सेविता बह्व्यो हवनं च कृतं बहु ॥ १८ ।
शुश्रूषिताश्च गुरवो बहवो बह्वनेहसम् ।
महाश्मशानेषु निशा भूयस्योऽप्यतिवाहिताः ॥ १९ ।

भगोः हे पूज्य ॥ १५ ।

दायादः पुत्रः ॥ १६ ।

अशिश्रियम् आश्रितवानस्मि ॥ १७ ।

हवनं होमः ॥ १८ ।

बह्वनेहसं बहुकालम् । अतिवाहिता नीताः ॥ १९ ।

पाशुपतव्रतधारी तपोधन लोग लिंगपूजन के अनन्तर प्राणयात्रा का निर्वाह कर स्थिरचित्त हो अपने गुरु के सन्मुख स्वस्थतापूर्वक बैठकर आगम (शास्त्र) का विचार कर रहे हैं। फिर तो वह उन लोगों को प्रणाम कर हाथ जोड़ अत्यन्त नम्रतापूर्वक उनके आचार्य के पास जाकर बैठ रहा। तब उसे निकट ही में बैठते देखकर तपस्या करने से कृशशरीर, वृद्धता से समाक्रान्त, समस्त तपस्वियों में श्रेष्ठ, शिवाराधन में तत्पर महामुनि गर्गाचार्य ने पूछा, "हे सत्तम! तुम कौन हो? और यहाँ कहाँ से आते हो? एवं क्यों तुम इस तरुणावस्था ही में विरक्त हो गये हो? यह सब कहो" ॥ ९-१४ ।

इस प्रकार से स्नेहपूर्ण वचन को सुनकर दमन ने कहा—हे पूज्य शिवाराधनप्रिय! पाशुपतों के आचार्य! मैं अपने चित्त का व्यापार यथार्थतः आप से निवेदन करता हूँ। मैं ब्राह्मण का लड़का हूँ और वेदशास्त्र में मैंने बड़ा परिश्रम किया है ॥ १५-१६ ।

संसार की असारता समझकर वानप्रस्थ आश्रम का अवलम्बन मैंने कर लिया है। इसी शरीर से परमसिद्धि का लाभ करने की इच्छा से मैंने बहुतेरे तीर्थों में स्नान, कोटिशः मंत्रों का जप, अनेक देवताओं की सेवा, कितने ही हवन और बहुत दिनों तक गुरुगणों का शुश्रूषण किया। श्मशानों में (बैठकर) कितनी ही रातें काटीं ॥ १७-१९ ।

शिखराणि गिरीन्द्राणां मया चाऽध्युषितान्यहो ।
दिव्यौषधिसहस्राणि मया संसाधितान्यपि ॥ २० ।
रसायनानि बहुशः सेवितानि मया पुनः ।
महासाहसमालम्ब्य सिद्धाध्युषितकन्दराः ॥ २१ ।
मया प्रविष्टा बहुशः कृतान्तवदनोपमाः ।
ततश्चापि महत्तप्तं बहुभिर्नियमैर्यमैः ॥ २२ ।
परं किञ्चित्क्वचिन्नैक्षि सिद्ध्यङ्कुरमपि प्रभो ।
इदानीं त्वामनुप्राप्य महीं पर्यटता मया ॥ २३ ॥
मनसः स्थैर्यमापन्नमिव सम्प्राप्तसिद्धिना ।
अवश्यं त्वन्मुखाम्भोजाद्यद्वचो निःसरिष्यति ॥ २४ ।
तेनैव महती सिद्धिर्भवित्री मम नाऽन्यथा ।
तद् ब्रूहि सूपदेशं च कथं सिद्धिर्भवेन्मम ॥ २५ ।
अनेनैव शरीरेण पार्थिवेन प्रथीयसी ।
दमनस्य निशम्येति गर्गाचार्यो वचस्तदा ॥ २६ ।

अध्युषितानि आश्रितानि ॥ २० ।

रसायनानि धातुप्रयोगाः । सिद्धाध्युषितकन्दराः सिद्धसेवितदर्यः ॥ २१ ।

सिद्ध्यङ्कुरं सिद्धिकारणम् । अपिरेवार्थे नैक्षीत्यनन्तरं द्रष्टव्यः ॥ २३ ।

सम्प्राप्ता सिद्धिर्येन तेन । शुद्धिनेति क्वचित् ॥ २४ ।

यथा मनसः स्थैर्यमाप्यते, तथा महती सिद्धिः कथं मे भविष्यति तदेतत् सूपदेशं सोपपत्तिकमुपदेशं शोभनं वचनं वा ब्रूहि कथयेत्यर्थः ॥ २५ ।

प्रथीयसी महत्तरा ॥ २६ ।

पर्वतों के शिखरों पर (टिककर) वास किया, सहस्रों दिव्य औषधियों का साधन किया ॥ २० ।

फिर कितने ही रसायनों का सेवन किया । यमराज के मुखसमान सिद्धों की रही हुई बहुतेरी कन्दराओं में बड़ा साहस करके प्रवेश भी मैंने किया और बड़े से बड़े यम और नियमों को धारण कर उत्कृष्ट तपों को भी मैंने कर डाला ॥ २१-२२ ।

परन्तु हे प्रभो ! कहीं पर कुछ भी सिद्धि का अंकुर नहीं देख पाया । इस घड़ी भूमंडल में घूमता-घूमता आपके चरणों में उपस्थित होने से मानो सिद्धि को पाकर मन की बड़ी स्थिरता को मैंने प्राप्त किया है । अवश्य ही आपके मुखकमल से जो वचन निकलेगा, उसी से मेरी परमसिद्धि होगी । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है,

प्रत्यक्षदृष्टं प्रोवाच महदाश्चर्यमुत्तमम् ।
सर्वेषां शृण्वतां तत्र शिष्याणां स्थिरचेतसाम् ॥
मुमुक्षूणां धृतवतां महापाशुपतं व्रतम् ॥ २७ ॥

गर्ग उवाच–

अनेनैवेह देहेन यदि त्वं सिद्धिकामुकः ।
शृणुष्वाऽवहितो भूत्वा तदा ते कथयाम्यहम् ॥ २८ ॥
अविमुक्ते महाक्षेत्रे सर्वसिद्धिप्रदे सताम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यरत्नानां परमाकरे ॥ २९ ॥
समाश्रितानां जन्तूनां सर्वेषां सर्वकर्मणाम् ।
शलभानां प्रदीपाभे तमस्तोममहाद्विषि ॥ ३० ॥
कर्मभूरुहदावाग्नौ संसाराब्ध्यौर्वशोचिषि ।
निर्वाणलक्ष्मीक्षीराब्धौ सुखसङ्केतसद्मनि ॥ ३१ ॥

अविमुक्त इति । अविमुक्ते साक्षान्मम यद्वृत्तं तत्कथयामीत्यष्टमेनाऽन्वयः । अविमुक्तं विशिनष्टि । महाक्षेत्र इत्यक्षरचतुष्टयन्यूनैः सार्धसप्तभिः । सतां समष्टिव्यष्टिप्राणिमात्रामाकरे जन्मभूमिरूपसागरे ॥ २९ ॥

सर्वकर्माण्येव शलभाः पतङ्गास्तेषां प्रदीपाभे प्रदीप्ताग्निसदृशे । अतिप्रसङ्गं वारयन् केषामित्यपेक्षायामाह । समाश्रितानां सर्वेषां जन्तूनामिति । तमस्तोममहाद्विषि अज्ञाननिकरमहाशत्रौ । तपस्तोममहात्विषीति क्वचित् ॥ ३० ॥

कर्माण्येव भूरुहा वृक्षास्तेषां दावाग्नौ वनवह्नौ । **और्वोवडवानलस्तस्य** शोचिषि रोचीरूपे ॥ ३१ ॥

अतएव इसी पार्थिव स्थूल शरीर से जिसमें मेरी परमसिद्धि हो, उस उत्तम उपदेश को आप बतावें । तब दमन के इस वचन को सुनकर गर्गाचार्य प्रत्यक्ष देखे हुए एक बड़े उत्तम आश्चर्य (वृत्तान्त) को कहने लगे और वहाँ पर उनके पाशुपतव्रतधारी दृढ़चित्त मोक्षार्थी शिष्यलोग श्रवण करने लगे ॥ २३-२७ ।

गर्गाचार्य बोले–

यदि तुम इसी शरीर से सिद्धि को चाहते हो तो मैं (उसका उपाय) कहता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ २८ ।

अविमुक्त नामक महाक्षेत्र, सज्जन लोगों को सर्वसिद्धिदायक है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का बहुत बड़ा आकर है ॥ २९ ।

आश्रित समस्त जन्तुओं के सब कर्मरूप पंतगों के लिये दीप की शिखा के समान है । सूर्य की तरह अन्धकाररूप अज्ञानसमूह का विनाशक है ॥ ३० ।

वह कर्मरूपी वृक्षों के लिये दावानल, संसारसागर के लिये वड़वानल, मोक्ष-लक्ष्मी के लिये क्षीरसमुद्र और सुख का संकेत-मन्दिर है ॥ ३१ ।

दीर्घनिद्राप्रसुप्तानां परमोद्बोधदायिनि ।
यातायातश्रमापन्नप्राणिमार्गमहीरुहि ॥ ३२ ।
अनेकजन्मजनितमहापापाद्रिवज्रिणि ।
नामोच्चारकृतां पुंसां महाश्रेयोविधायिनि ॥ ३३ ।
विश्वेशितुः परे धाम्नि सीम्नि स्वर्गापवर्गयोः ।
स्वर्धुनीलोलकल्लोलनित्यक्षालितभूतले ॥ ३४ ।
एवंविधे महाक्षेत्रे सर्वदुःखौघहारिणि ।
प्रत्यक्षं मम यद्वृत्तं तद्ब्रवीमि महामते ॥ ३५ ।
यत्र कालभयं नास्ति यत्र नास्त्येनसो भयम् ।
तत्क्षेत्रमहिमानं कः सम्यग् वर्णयितुं क्षमः ॥ ३६ ।
तीर्थानि यानि लोकेऽस्मिन् जन्तूनामघहान्यहो ।
तानि सर्वाणि शुद्ध्यर्थं काशीमायान्ति नित्यशः ॥ ३७ ।

दीर्घनिद्रा आत्माज्ञानम् । तदुक्तमद्वैतमकरन्दे–

आत्माज्ञानं महानिद्रा जृम्भितेऽस्मिन् जगन्मये ।
दीर्घस्वप्ने स्फुरन्त्येते स्वर्गमोक्षादिविभ्रमाः ॥ इति ।

महीरुहि महीरुहे । अयमेव वा पाठः ॥ ३२ ।

एवंविधे महाक्षेत्रे इत्यनुवादः ॥ ३५ ।

एनसः पापस्य ॥ ३६ ।

वह दीर्घनिद्रा में पड़े हुए सोने वालों के लिये बहुत बड़ी जागरण की घंटी है। वह आते-जाते थके-माँदे (श्रमार्त) पथिक प्राणियों के लिये (मार्ग के वृक्ष) लखराँव के समान आश्रयदाता है ॥ ३२ ।

वह अनेक जन्म के संचित घोरपापरूप पहाड़ों के (पक्ष काटने में) वज्रधर इन्द्र के तुल्य है । वह अपना नाम भी लेनेवाले लोगों का परमकल्याणकारक है ॥ ३३ ।

जो भगवान् विश्वेश्वर का सर्वप्रधान राजस्थान है, जो स्वर्ग और अपवर्ग का सीमास्थल है एवं जिसकी भूमि स्वर्ग-नदी गंगा के तरलतरंगों से नित्य ही धोयी जाती रहती है ॥ ३४ ।

ऐसे सर्वदुःखहारी उस महाक्षेत्र में हे महामते ! मेरे सामने ही जो घटना हुई थी, उसे मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ३५ ।

भला जहाँ पर न तो काल का भय है और न पाप ही का डर है, उस (अविमुक्त) क्षेत्र की महिमा का पूर्णरीति से कौन वर्णन कर सकता है ॥ ३६ ।

भूमंडल में जितने ही जन्तुओं के पापनाशक तीर्थ हैं, वे सब अपनी शुद्धि के लिए नित्य ही काशीपुरी में आया करते हैं ॥ ३७ ।

अपि काश्यां वसेद्यस्तु सर्वाशी सर्वविक्रयी ।
स यां गतिं लभेन्मर्त्यो यज्ञैर्दानैर्न साऽन्यतः ॥ ३८ ।
रागबीजसमुद्भूतः संसारविटपो महान् ।
दीर्घस्वापकुठारेण छिन्नः काश्यां न वर्धते ॥ ३९ ।
सर्वेषामूषराणां तु काशी परम ऊषरः ।
वप्तुर्बीजमिदं तस्मिन्नुप्तं नैव प्ररोहति ॥ ४० ।
स्मरिष्यन्तीह ये काशीमवश्यं तेऽपि साधवः ।
तेऽप्यघौघविनिर्मुक्ता यास्यन्ति गतिमुत्तमाम् ॥ ४१ ।
विभूतिः सर्वलोकानां सत्यादीनां सुभङ्गुरा ।
अभङ्गुराऽविमुक्तस्य सा तु लभ्या शिवाज्ञया ॥ ४२ ।
कृमिकीटपतङ्गानामविमुक्ते तनुत्यजाम् ।
विभूतिर्दृश्यते या सा क्वाऽस्ति ब्रह्माण्डमण्डले ॥ ४३ ।

अन्यतः अन्यत्र । आप्यत इति वा पाठः ॥ ३८ ।

दीर्घस्वापो मरणम् । यद्वा बहिर्वृत्त्यभावसाम्येन दीर्घस्वापो विश्वेशानुशीलन-मसंप्रज्ञातसमाधिरिति यावत् । काश्यां देहपातनिमित्तो मोक्षो वा ॥ ३९ ।

वप्तुः कर्मरूपस्य बीजस्य वपनकर्तुः । वपुरिति क्वचित् । बीजं कर्मरूपम् । उप्तं निक्षिप्तं कृतमित्यर्थः ॥ ४० ।

विभूतिः सम्पत्तिरैश्वर्यं मुक्तिर्वा ॥ ४३ ।

काशीवासी मनुष्य सर्वभक्षी और सर्वविक्रयी होने पर भी जिस गति को पहुँचता है, वह (गति) दूसरे किसी स्थान में विविध यज्ञ और दानों के करने पर भी नहीं मिल सकती है ॥ ३८ ।

(अनु-)रागरूप बीज से उत्पन्न हुआ विशाल संसाररूप वृक्ष, काशी में महानिद्रारूपी कुल्हाड़ी से कट जाने पर फिर नहीं पनपने पाता ॥ ३९ ।

समस्त ऊषरों में काशी ही सर्वप्रधान ऊषर है । कारण यह कि उसमें बोने वालों का बोया हुआ कर्म-बीज फिर कभी अँखुआता ही नहीं है ॥ ४० ।

संसार में जो लोग काशी का स्मरण भी करते हैं, वे अवश्य साधु ही (समझे जाते) हैं और वे सब पापपुंज से छूटकर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ।

सत्यादि सब लोकों का ऐश्वर्य क्षणभंगुर है । पर स्थिर सम्पत्ति तो केवल अविमुक्तक्षेत्र की है । वह भी शिव की आज्ञा होने पर ही मिल सकती है ॥४२ ।

अविमुक्तक्षेत्र में कृमि, कीट और पतंग आदि को भी शरीर त्यागने से जैसी विभूति दिखाई पड़ती है, भला ब्रह्माण्डमण्डल भर में वैसी और कहाँ है ? ॥ ४३ ।

वाराणसी यदा प्राप्ता कदाचित्कालपर्ययात् ।
स उपायो विधातव्यो येन नो निष्क्रमो बहिः ॥ ४४ ।
पूर्वतो मणिकर्णीशो ब्रह्मेशो दक्षिणे स्थितः ।
पश्चिमे चैव गोकर्णो भारभूतस्तथोत्तरे ॥ ४५ ।
इत्येतदुक्तमं क्षेत्रमविमुक्ते महाफलम् ।
मणिकर्णीह्रदे स्नात्वा दृष्ट्वा विश्वेश्वरं विभुम् ॥ ४६ ।
क्षेत्रं प्रदक्षिणीकृत्य राजसूयफलं लभेत् ।
तत्र श्राद्धप्रदातुश्च मुच्यन्ते प्रपितामहाः ॥ ४७ ।
अविमुक्तसमं क्षेत्रमपि ब्रह्माण्डगोलके ।
न विद्यते क्वचित्सत्यं सत्यं साधकसिद्धिदम् ॥ ४८ ।
रक्षन्ति सततं क्षेत्रं यत्र पाशासिपाणयः ।
महापारिषदा उग्राः क्रूरेभ्योऽक्रूरबुद्धयः ॥ ४९ ।
प्राग्द्वारमट्टहासश्च गणकोटिपरीवृतः ।
रक्षेदहर्निशं क्षेत्रं दुर्वृत्तेभ्यो विभीषणः ॥ ५० ।

येन उपायेन निष्क्रमो निर्गमंनम् । काशीत इति शेषः ॥ ४४ ।

तत्राऽवान्तर विशेषमाह । पूर्वतो मणिकर्णीश इति सार्धेन ॥ ४५ ।

क्षेत्रमविमुक्तमन्तर्गृहं वा ॥ ४६ ।

यदि कालक्रम से मनुष्य कदाचित् वाराणसी पुरी में पहुँच जाय, तो उसे उचित है कि ऐसा उपाय करे जिससे वहाँ से बाहर नहीं निकलना पड़े ॥ ४४ ।

पूर्व में—**मणिकर्णिकेश्वर**, दक्षिण में—**ब्रह्मेश्वर**, पश्चिम में—**गोकर्णेश्वर** और उत्तर में—**भारभूतेश्वर** इतना स्थान अविमुक्तक्षेत्र में सर्वश्रेष्ठं और महाफलदायक है । जो कोई मणिकर्णिकाकुंड में स्नान और भगवान् (विश्वेश्वर का) दर्शन करके इस कथित क्षेत्र (अन्तर्गृह) की प्रदक्षिणा करता है, उसे राजसूय यज्ञ का फल मिलता है और वहाँ पर श्राद्ध करने से पितरों का उद्धार हो जाता है ॥ ४५-४७ ।

ब्रह्माण्डमण्डल में अविमुक्त के समान साधकों का सिद्धिदायक दूसरा कोई भी क्षेत्र कहीं नहीं है । यह बात सर्वथा सत्य-सत्य है ॥ ४८ ।

इस क्षेत्र की शुद्धबुद्धिवाले बड़े उग्र, महाप्रमथगण हाथ में पाश और तलवार लेकर दुष्ट लोगों से निरन्तर रक्षा करते रहते हैं ॥ ४९ ।

परम भयंकर अट्टहास नामक पारिषद एक करोड़ गणों से वेष्टित्त होकर रात्रि-दिन दुष्ट लोगों से इस क्षेत्र के पूर्व-द्वार की रक्षा करता रहता है ॥ ५० ।

तथैव भूतधात्रीशः क्षेत्रदक्षिणरक्षकः ।
गोकर्णः पश्चिमद्वारं पाति कोटिगणावृतः ॥ ५१ ॥
उदग्द्वारं तथा रक्षेद् घण्टाकर्णो महागणः ।
ऐशं कोणं छागवक्त्रो भीषणो वह्निदिग्दलम् ॥ ५२ ॥
रक्षःकाष्ठां शङ्कुकर्णो द्रुमिचण्डो मरुद्दिशम् ।
इत्थं क्षेत्रं सदा पान्ति गणा एतेऽतिभास्वराः ॥ ५३ ॥
कालाक्षो रणभद्रस्तु कौलेयः कालकम्पनः ।
एते पूर्वेण रक्षन्ति गङ्गापारे स्थिता गणाः ॥ ५४ ॥
वीरभद्रो नभश्चैव कर्दमा लिप्तविग्रहः ।
स्थूलकर्णो महाबाहुरसिपारे व्यवस्थिताः ॥ ५५ ॥
विशालाक्षो महाभीमः कुण्डोदरमहोदरौ ।
रक्षन्ति पश्चिमद्वारं देहलीदेशसंस्थिताः ॥ ५६ ॥
नन्दिसेनश्च पञ्चालः खरपादः करण्टकः ।
आनन्दो गोपको बभ्रू रक्षन्ति वरणातटे ॥ ५७ ॥

रक्षःकाष्ठां नैऋर्तिं दिशम् ॥ ५३ ।

आनन्दगोपक इति क्वचित् ॥ ५७ ।

यों ही कोटिगणों के साथ भूतधात्रीश नामक गण दक्षिण-द्वार का रक्षक है और वैसे ही गोकर्णनामा गण पश्चिम-द्वार का रक्षण करता है ॥ ५१ ।

एवं उत्तर-द्वार की रक्षा घंटाकर्ण नामक महागण करता है । ईशानकोण में छागवक्त्र, अग्निकोण में भीषण, नैर्ऋत्यकोण में शंकुकर्ण और वायव्यकोण में द्रुमिचंड नामक गण रक्षक नियुक्त हैं । इस प्रकार से ये सब बड़े तेजस्वी गणलोग क्षेत्र की रक्षा करते रहते हैं ॥ ५२-५३ ।

गंगा के पार में रहकर कालाक्ष, रणभद्र, कौलेय और कालकंपन नामक गणलोग पूर्व ओर की रक्षा करते हैं ॥ ५४ ।

असि नदी के पार में अवस्थित होकर वीरभद्र, नभ, कर्दमालिप्तविग्रह, स्थूलकर्ण और महाबाहु नामक गणलोग दक्षिणप्रान्त का रक्षण करते हैं ॥ ५५ ।

देहलीविनायक के समीप में टिककर विशालाक्ष, महाभीम, कुंडोदर और महोदर नामक गण पश्चिम-द्वार-देश की रक्षा करते हैं ॥ ५६ ।

वरणा के पार में विराजित होकर नन्दिसेन, पंचाल, खरपाद, करंटक, आनन्दगोप और बभ्रु उत्तर-भाग का रक्षण करते हैं ॥ ५७ ।

तस्मिन् क्षेत्रे महापुण्ये लिङ्गमोङ्कारसंज्ञकम् ।
तत्र सिद्धिं परां प्राप्ता देहेनाऽनेन साधकाः ॥ ५८ ।
कपिलश्चैव सावर्णिः श्रीकण्ठः पिङ्गलोंऽशुमान् ।
एते पाशुपताः सिद्धास्तल्लिङ्गाराधनेन हि ॥ ५९ ।
एकदा तस्य लिङ्गस्य कृत्वा पञ्चापि पूजनम् ।
नृत्यन्तः सडुडुत्कारं तस्मिँल्लिङ्गे लयं ययुः ॥ ६० ।
अन्यच्च ते प्रवक्ष्यामि तत्र यद्वृत्तमद्भुतम् ।
निशामय महाबुद्धे दमन द्विजसत्तम ॥ ६१ ।
एका भेकी मुने तत्र चरन्ती लिङ्गसन्निधौ ।
प्रदक्षिणं सदा कुर्यान्निर्माल्याक्षतभक्षिणी ॥ ६२ ।
सा तत्र मृत्युं न प्राप शिवनिर्माल्यभक्षणात् ।
क्षेत्रादन्यत्र मरणं जातं तस्यास्तदेनसः ॥ ६३ ।

सडुडुत्कारं हुडुत्कारसहितं यथा भवति तथा ॥ ६० ।

भेकी दर्दुरी ॥ ६२ ।

निर्माल्यभक्षणादिति । यद्यपि बाणलिङ्गे स्वयंभूते प्राणलिङ्गे हृदि स्थिते । अत्र कोटिगुणं पुण्यं शम्भोर्नैवेद्यभक्षणमित्यादिवचनात् स्वयंभूलिङ्गस्य ओङ्कारस्य नैवेद्यभक्षणादनन्तमेव पुण्यम्, तथाप्यस्या लोभाद् भक्षितत्वात् मनाक् पापमेव संवृत्तमिति ज्ञातव्यम् । तदेनसः तत्पापात् ॥ ६३ ।

इस प्रकार से सुरक्षित पुण्यतम उस महाक्षेत्र में ओंकारेश्वर नामक लिंग है, जहाँ पर अनेक साधकलोगों ने इसी शरीर से परमसिद्धि का लाभ किया है ॥ ५८ ।

उस लिंग की आराधना से कपिल, सावर्णि, श्रीकंठ, पिप्पल और अंशुमान्—ये सब शैवलोग सिद्ध हो गये हैं ॥ ५९ ।

वे सब लोग एक बार उस लिंग का पंचोपचार पूजन कर हुडुत्कार के साथ नृत्य करते हुए उसी लिंग में लीन हो गये हैं ॥ ६० ।

हे महाबुद्धे ! द्विजसत्तम ! दमन ! वहाँ का एक और भी विचित्र चरित्र जो हो चुका है, (वह) तुमसे कहता हूँ ॥ ६१ ।

हे मुने ! एक भेकी (मेढ्ढकी) वहीं पर लिंग के समीप में घूमती-फिरती प्रदक्षिणा करती हुई शिव को चढ़ाया हुआ अक्षत खाती थी ॥ ६२ ।

परन्तु शिव के निर्माल्य भोजन करने से वहाँ पर उसकी मृत्यु नहीं हुई। उसी (निर्माल्य-भोजन के) पाप से वह क्षेत्र के बाहर जाकर मर गई ॥ ६३ ।

वरं विषमपि प्राश्यं शिवस्वं नैव भक्षयेत् ।
विषमेकाकिनं हन्ति शिवस्वं पुत्रपौत्रकम् ॥ ६४ ।
शिवस्वपरिपुष्टाङ्गाः स्पर्शनीया न साधुभिः ।
तेन कर्मविपाकेन ततस्ते रौरवौकसः ॥ ६५ ।
कश्चित्काकः समालोक्य मण्डूकीं तामितस्ततः ।
पोप्लूयमानामादाय चञ्च्वा क्षेत्राद् बहिर्गतः ॥ ६६ ।
वर्षाभ्वी तेन सा क्षिप्ता काकेन क्षेत्रबाह्यतः ।
अथ सा कालतो भेकी तत्रैव क्षेत्रसत्तमे ॥ ६७ ।
प्रदक्षिणीकरणतो लिङ्गस्य स्पर्शनादपि ।
पुण्या पुण्यवती जाता कन्या पुष्पवटोर्गृहे ॥ ६८ ।
शुभावयवसंस्थाना शुभलक्षणलक्षिता ।
परं गृध्रमुखी जाता निर्माल्याक्षतभक्षणात् ॥ ६९ ।

प्रसङ्गाद् बाणलिङ्गादिव्यतिरिक्तशिवनिर्माल्यभक्षणदोषमाह । वरमिति द्वाभ्याम् ॥ ६४ ।

ततस्तदनन्तरम् । यत इति क्वचित् । विपाकेन फलेन । रौरवो नरकविशेषः, स ओको येषां ते तथा ॥ ६५ ।

चञ्च्वा तुण्डेन ॥ ६६ ।

वर्षाभ्वी भेकी ॥ ६७ ।

गृध्रो दाक्षाय्योऽपरपर्यायो मांसाशी पक्षिविशेषस्तन्मुखी ॥ ६९ ।

विष का खा लेना अच्छा है, पर शिवनिर्माल्य कभी नहीं भोजन करना चाहिए; क्योंकि विष तो अकेले एक ही जन को मार सकता है; किन्तु शिवस्व तो पुत्र-पौत्र तक का नाश ही कर डालता है।

[विष खाये तस हानि नहिं, जस शिवस्व से होय ।
विष मारत है एक ही, नातीपूतहु सोय] ॥ ६४ ।

साधुजनों को उचित है कि, शिवस्व (धन) खाकर जो लोग मोटाये हुए हैं, उनका स्पर्श भी न करें; क्योंकि वे सब शिवस्वभोजीगण उसी कर्म के फल से रौरव नामक नरक के निवासी होते हैं ॥ ६५ ।

(अस्तु) एक दिन उस भेकी को इधर-उधर फुदुकती हुई देखकर कौआ अपने चोंच में पकड़ कर उसे क्षेत्र के बाहर ले गया ॥ ६६ ।

क्षेत्र से बाहर जाकर उस कौवे ने भेकी को फेंक दिया (जिससे वह मर गई) । अनन्तर वह भेकी कालानुसार उसी उत्तम क्षेत्र में लिंग की प्रदक्षिणा और स्पर्श करने ही से पवित्र होकर वहीं पर पुष्पवटु के घर में पुण्यवती नाम्नी कन्या होकर उत्पन्न हुई ॥ ६७-६८ ।

उस कन्या के सब अंगों की गढ़न (घटन) और शुभलक्षण तो बहुत अच्छे

सम्यग्गीतरहस्यज्ञा नितरां मधुरस्वरा।
सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः ॥ ७० ।

सम्यग्गीतरहस्यज्ञत्वमेवाह । **सप्तस्वरा इति** । इति गीतोपनिषदा एवं प्रकारेण संगीतरहस्येन गान्धर्ववेदेन वा सा माधवीनाम्नी सदोंकारमर्चयेदिति चतुर्थेनाऽन्वयः । इतिशब्दोक्तमेवं प्रकारत्वमेवाह । **सप्तस्वराः– षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवत-निषादाः** । यद्यप्यमरे-"**निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः**" इत्युक्तम्, तथापि शार्ङ्गदेवविरचित सङ्गीतरत्नाकरानु-सारेणैवं विलिखित मिति । तदुक्तम्–

श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः ।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते ।
तेषां संज्ञा सरिगमपधनीत्यपरा मता ॥ इति ।

तेषां स्वरूपं निर्वचनं च तत्रैव तट्टीकायां **मल्लिनाथविरचितसङ्गीतरत्नाकर-कलानिधौ द्रष्टव्यम्** । एवमग्रेऽपि त्रयो ग्रामाः– **षड्जग्राममध्यमग्रामगान्धारग्रामाः** । तदुक्तम्–

तौ द्वौ धरातले तत्र स्यात् षड्जग्राम आदिमः ।
द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोर्लक्षणमुच्यते ॥
गान्धारग्राममाचष्ट तदायं नारदो मुनिः ॥ इति ।

मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिरिति । तत्र षड्जग्रामे उत्तरमन्द्रा रजनी उत्तरायता शुद्ध-षड्जा मत्सरिता अश्वक्रान्ता अभिरुद्गतेति सप्त । मध्यमग्रामे सौवीरीहारिणा अश्वा कालोपनता शुद्धमध्यमा वाग्मी पौरवीति सप्त । गान्धारग्रामे नन्दा विशाला सुमुखी चित्रा चित्रवती सुखा आलापेति सप्त । तदुक्तम्–

षड्जे तूत्तरमन्द्रादौ रजनी चोत्तरायता ।
शुद्धषड्जा मत्सरिता अश्वक्रान्ताभिरुद्गता ॥
मध्यमे स्याच्च सौवीरी हारिणाश्वा ततः परम् ।
स्यात् कालोपनता शुद्धमध्यमागीश्च पौरवी ॥
नन्दा विशाला सुमुखी चित्रा चित्रवती सुखा ।
आलापा चेति गान्धारग्रामे स्युः सप्तमूर्च्छनाः ॥ इति ।

दिखते थे, (दिखाई पड़ते थे), पर निर्माल्य का अक्षत खाने से उसका मुख गिद्ध (के मुख) सा हो गया था ॥ ६९ ।

वह कन्या बड़ी ही मधुरस्वरवाली और सम्यक् प्रकार से गीतरहस्य (गान के भेदों) को जानती थी । सातों स्वर, इक्कीसों मूर्छना(यें), उनचासों तान, एक सौ

ताना एकोनपञ्चाशत्ताला एकोत्तरं शतम् ।
रागाः षडेव तेषां तु पञ्च पञ्चापि चाङ्गनाः ॥ ७१ ।

नारदोक्ता वा । तदुक्तम्–

तासामन्यानि नामानि नारदो मुनिरब्रवीत ।
अश्वक्रान्ता च सौवीरी हृष्यका चोत्तरायता ॥
रजनीति समाख्याता ऋषिणा सप्तमूर्च्छनाः ।
आप्यायनी विश्वकृता चन्द्रा हैमा कपर्दिनी ॥
मैत्री चान्द्रमसी मित्र्या मध्यमे मूर्च्छना इमाः ॥

गान्धारे पूर्वोक्ता एव । शार्ङ्गदेवेन चतुर्दशैवोक्ताः ॥ ७० ।

ताना एकोनपञ्चाशदिति । "अग्निष्टोमात्यग्निष्टोमवाजपेयषोडशीपुण्डरीकाऽश्वमेधराजसूयाः (सर्वस्वदक्षिणदीक्षासोमे[1]) स्विष्टकृद्बहुसुवर्णगोसवमहाव्रतविश्वजिद्ब्रह्मयज्ञप्राजापत्याश्वक्रान्तरथक्रान्तविष्णुक्रान्तसूर्यक्रान्तगजक्रान्तबलभिन्नागपक्षचातुर्मास्यसंस्थाशस्त्र-उक्थ-सौत्रामणी-चित्रा-उद्भित्सावित्री-अर्धसावित्री-सर्वतोभद्र-आदितया-नामयन-गवामयन-सर्पाणामयन-कौण्डपायिनामयन-अग्निचिद्-द्वादशाह-उपांशुसोम-अश्वप्रतिग्रह-बर्हिरथ-अभ्युदय-इत्येकोनपञ्चाशत् "।

तदुक्तम्–

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोमो वाजपेयश्च षोडशी ।
पुण्डरीकोऽश्वमेधश्च राजसूयस्ततः परम् ॥
इति स्युः षड्जहीनानां सप्तनामान्यनुक्रमात् ।
क्रमादृषभहीनानां तानानामभिधा इमाः ॥
स्विष्टकृद् बहुसुवर्णो गोसवश्च महाव्रतः ।
विश्वजिद् ब्रह्मयज्ञश्च प्राजापत्यस्तु सप्तमः ॥
[2]क्रमादृषभहीनानां तानानामभिधाः स्मृताः ।
अश्वक्रान्तो रथक्रान्तो विष्णुक्रान्तस्ततः परम् ॥
सूर्यक्रान्तो गजक्रान्तो बलभिन्नागपक्षकः ।
इति मध्यमहीनानां संज्ञाः सप्तक्रमान्मताः ॥
चातुर्मास्योऽथ संस्थाख्यः शस्त्रश्चोक्थश्चतुर्थकः ।
सौत्रामणी तथा चित्रा सप्तमस्तूद्भिदाह्वयः ॥
संज्ञाः पञ्चमहीनानां वाडवानामिमाः क्रमात् ।

---

1 तदुक्तमित्यादिप्रमाणग्रन्थानुरोधेनेदमधिकम् ।
2. इति गान्धारहीनामिति पुस्तकान्तरे पाठः ।

एक ताल, छवों राग और उन छवों रागों की पाँच-पँच स्त्रियाँ रागिनियाँ, इस रीति से छत्तीश राग और रागिनियाँ होती हैं, जो रागी (गवैया) लोगों का आनन्द

षड्विंशद्रागरागिण्य इति रागिमुदावहाः ।
देशकालविभेदेन पञ्चषष्टिस्तथापराः ॥ ७२ ।
यावन्त एव तालाः स्यू रागास्तावन्त एव हि ।
इति गीतोपनिषदा प्रत्यहं सा शुभव्रता ॥ ७३ ।
माधवी मधुरालापा सदोङ्कारं समर्चयेत् ।
प्राप्याप्यनर्घ्यतारुण्यं सा तु पुष्पवटोः सुता ॥ ७४ ।

सावित्री चार्धसावित्री सर्वतोभद्रसंज्ञकः ॥
आदित्यानामयनं च गवामयनमेव च ।
सर्पाणामयनः षष्ठः सप्तमः कौण्डपायनः ॥
धैवतेन विहीनानां सप्त नामानि मेनिरे ।
अग्निचिद्द्वादशाहश्चोपांशुः सोमाभिधस्ततः ॥
अश्वप्रतिग्रहो बर्हिरथोऽभ्युदयसंज्ञकः ।
संज्ञा निषादहीनानां तानानामिति मन्वते ॥

तानाः स्युर्मूर्च्छनाः शुद्धा.......... ॥ **इत्युपक्रम्य एते चैकोनपञ्चाशदिति । ताला एकोत्तरं शतमिति** । ते च ध्रुवशाम्यसन्निपातादयः । तदुक्तम्–"**ध्रुवं शाम्यस्तथा तालः सन्निपात इतीरिताः**" इत्यादि । रागाः श्रीरागादयः । तदुक्तं ग्रन्थान्तरे–

श्रीरागोऽथ वसन्तश्च पञ्चमो भैरवस्तथा ।
मेघरागश्च विज्ञेयः षष्ठो जटुलरायणः ॥ इति।

तेषां तु तेषामेव षण्णां रागाणां पञ्च पञ्च चैवं त्रिंशदङ्गनाः । अपिः समुच्चये । **तेषां रागाणां प्रत्येकं पञ्च-पञ्च अङ्गनाः स्त्रियोऽपीत्यर्थः** ॥ ७१ ।

एवं मिलित्वा षड्रागास्त्रिंशद्रागिण्य इति षड्विंशद्रागरागिण्यः । इति रागिमुदावहा इति शब्देन पूर्वोक्ताः सप्तस्वरादयो गृह्यन्ते । **रागिमुदावहाः** कामिनां हर्षजनकाः । मतान्तरमाह । **देशकालविभेदेनेति** । कालेत्यत्र काकुरिति च पाठो दृश्यते । अपरा रागाः– 'ते च **मालवश्रीस्तोडी वसन्तो धन्वाशी देशी बङ्गालो भैरवो वराडी गुर्जरीत्यादिकाः**' ॥ ७२ ।

पक्षान्तरमाह । **यावन्त इति** । एकोत्तरशतमित्यर्थः ॥ ७३ ।

बढ़ाती हैं । फिर देश और काल के विशेष भेद से पैंसठ राग और रागिनियाँ और भी होती हैं ॥ ७०-७२ ।

(सुतरां) जितने ही ताल हैं, उतने ही राग (और रागिनियाँ) भी होती हैं । इस प्रकार से (गन्धर्व उपवेद के) उपनिषद् से वह शुभंव्रता मधुरालापा माधवी सदैव ओंकारेश्वर का पूजन करने लगी । वह पुष्पवटु की दुहिता अमूल्य तरुनाई

प्राग्जन्मवासनायोगादोङ्कारं बह्वमंस्त वै ।
स्वभावचञ्चलं चेतस्तस्यास्तल्लिङ्गसेवनात् ॥ ७५ ।
दमनस्थैर्यमगमद्योगेनेव महात्मनः ।
न दिवा बाधयाञ्चक्रे क्षुत्तृण्निद्राक्षपासुताम् ॥ ७६ ।
अतन्द्रितमना आसीत् सा तल्लिङ्गनिरीक्षणे ।
अक्ष्णोर्निमेषा यावन्तस्तस्या आसन् दिवानिशम् ॥ ७७ ।
तावत्कालस्तया साध्व्या महान् विघ्नोऽनुमीयते ।
निमेषान्तरितः कालो यो यो व्यर्थो गतो मम ॥
लिङ्गानवेक्षणात्तत्र प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥ ७८ ।
इति संचिन्तयन्त्येव सेवां तत्याज नोङ्कृतेः ।
जलाभिलाषिणी सा तु लिङ्गनामामृतं पिबेत् ॥ ७९ ।

अमंस्त अमन्यत ॥ ७५ ।

हे दमन । महति ब्रह्मणि आत्मा यस्य, स महात्मा, तस्य ॥ ७६ ।

अतन्द्रितमना अनालस्यचित्ता ॥ ७७ ।

विघ्नाऽनुमेय[1]प्रकारमाह । निमेषान्तरित इति ॥ ७८ ।

ततः सा प्रायश्चित्तं कृतवतीत्याह । इतीति । न तत्याज न त्यक्तवती । तत्प्राप्य चोङ्कृतेरिति तत्तदा ओङ्कारेश्वरस्य सेवां प्राप्य सा माधवी ओङ्कारेश्वरलिङ्ग-नामाऽमृतं पिबेदित्यन्वयः ॥ ७९ ।

भाँति स्थिर हो जाता है, तैसे ही उस लिंग के सेवन से उसका भी मन स्थिर हो गया था । उसे दिन में क्षुधा, पिपासा और रात्रि में निद्रा कातर नहीं बना सकती थी ॥ ७३-७६ ।

वह उस लिंग के दर्शन करने में निरालस्य-मन रहती थी । रात्रि-दिन में उसकी आँखों की जितनी ही पलकें पड़ती थीं, वह साध्वी कन्या उतने समय को विघ्न ही समझती थी । (वह सोचती थी कि) "लिंग-दर्शन के बिना जितना मेरा समय निमेष-निमेष गिरने में व्यर्थ बीत गया, उसका प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है"? ॥ ७७-७८ ॥

वह कन्या इसी प्रकार की चिन्ता करती हुई ओंकारेश्वर का सेवन करती रही, वह (कभी) जल की तृषा लगने पर लिंग ही के नामामृत को पी लेती थी ॥ ७९ ।

---

1. अनुमानेति वा पाठः ।

नान्यद्दिदृक्षिणी तस्या अक्षिणी श्रुतिगे अपि ।
विहाय लिङ्गमोङ्कारं हृद्विहाय स्थितं सताम् ॥ ८० ।
तस्याः शब्दग्रहौ नान्यशब्दग्रहणतत्परौ ।
अतीवनिपुणौ जातौ तत्सन्माल्यकरौ करौ ॥ ८१ ।
नान्यत्र चरणौ तस्याश्चरतः सुखवाञ्छया ।
त्यक्त्वोङ्कारराजिरक्षोणीं क्षुण्णां निर्वाणपद्मया ॥ ८२ ।
ओङ्कारं प्रणवं सारं परंब्रह्मप्रकाशकम् ।
शब्दब्रह्मत्रयीरूपं नादबिन्दुकलालयम् ॥ ८३ ।

द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा सा वर्तते ययोस्ते तथा । श्रुतिगे कर्णगे अतिविशाले इति यावत् । नान्यदित्यनेनाक्षिप्तं दिदृक्षाविषयमाह । विहायेति । हृद्विहायःस्थितं हृदयाकाशस्थितम् ॥ ८० ।

शब्दग्रहौ कर्णौ ॥ ८१ ।

अजिरक्षोणीं प्राङ्गणभूमिम् । क्षुण्णामधिष्ठितामित्यर्थः ॥ ८२ ।

ओङ्कारमोङ्कारेश्वरं प्रोच्चरत्तस्या माधव्या वागिन्द्रियं नामान्तरं न गृह्णाति सप्तमेनाऽन्वयः । तं विशिनष्टि । मध्येन । सर्वैः प्रणूयते स्तूयते स्वसेवितारं पदं प्रणयेत् प्रापयेदिति वा प्रणवस्तम् । तथा चोक्तमत्रैव । प्रणूयत इत्यादि स्वसेवितारमित्यादि चेति । सारं स्थिरं प्रलयेऽप्यवशिष्यमाणम् । परं सर्वाधिकम् । तदुक्तमत्रैव । सर्वेभ्योऽप्यधिक इति । ब्रह्मप्रकाशकं परमात्मप्रकाशकम् । शब्दब्रह्मरूपा या त्रयी वेदस्तस्य रूपं यस्मात्तं तद्रूपं वा । नादबिन्द्वात्मकयोः कलयोः आलयमाश्रयम् ॥ ८३ ।

उसकी कानों तक फैली हुई (बड़ी-बड़ी) आँखें, सज्जनों के हृदयाकाशवासी ओंकारेश्वर को छोड़कर दूसरी ओर कभी जाती ही नहीं थी ॥ ८० ।

उसके कानों में दूसरे शब्द पड़ते ही न थे । उसके दोनों हाथ ओंकारेश्वर की माला गूँथेने में बड़े ही पक्के हो गये थे ॥ ८१ ।

उसके चरणयुगल भी मोक्षलक्ष्मी से शोभित ओंकारेश्वर के आँगन को त्याग कर अन्यत्र कहीं भी सुख की इच्छा से नहीं विचरते थे ॥ ८२ ।

ब्रह्मप्रकाशक, प्रणववाच्य, परमसार (स्थिर) त्रिवेदस्वरूप, शब्दब्रह्म, नाद-बिन्दु और कला के आश्रय, सदक्षर, विश्वरूप, कार्यकारणात्मक, वरेण्य, वरप्रद, वर (श्रेष्ठ), शाश्वत, शान्त, ईश्वर, सर्व लोकों के एकमात्र जनक, सब किसी के पालक, सभी लोकों के संहारक एवं समस्त लोकों से वन्दित, आदि-अन्त से हीन, नित्य, शिव, शंकर, अव्यय, अद्वितीय त्रिगुणातीत, भक्तहृदयवासी, निरुपाधि, निराकार, निर्विकार, निरंजन, निर्मल, निरहंकार, निष्प्रपंच, निजोदय (स्वप्रकाश),

सदक्षरं चादिरूपं विश्वरूपं परावरम् ।
वरं वरेण्य वरदं शाश्वतं शन्तमीश्वरम् ॥ ८४ ।
सर्वलोकैकजनकं सर्वलोकैकरक्षकम् ।
सर्वलोकैकसंहर्तृ सर्वलोकैकवन्दितम् ॥ ८५ ।
आद्यन्तरहितं नित्यं शिवं शङ्करमव्ययम् ।
एकं गुणत्रयातीतं भक्तस्वान्तकृतास्पदम् ॥ ८६ ।
निरुपाधिं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
निर्मलं निरहङ्कारं निष्प्रपञ्चं निजोदयम् ॥ ८७ ।
स्वात्मारामममनन्तं च सर्वगं सर्वदर्शिनम् ।
सर्वदं सर्वभोक्तारं सर्वं सर्वसुखास्पदम् ॥ ८८ ।
वागिन्द्रियं तदीयं च प्रोच्चरत्तदहर्निशम् ।
नामान्तरं न गृह्णाति क्वचिदन्यस्य कस्यचित् ॥ ८९ ।
एतन्नामाक्षररसं रसयन्ती दिवानिशम् ।
रसना नैव जानाति तस्या अन्यद्रसान्तरम् ॥ ९० ।

सदक्षरं सर्वभूतमक्षरं कूटस्थमव्याकृतमिति यावत्तद्रूपम् । पृथक्पदं वा । तदुक्तं भगवता—"क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इति । आदिरूपमादिकारणमीश्वरमिति यावत् । अत एव विश्वं रूप्यतेऽभिव्यज्यते येन तद्विश्वरूपम् । सर्वप्रपञ्चरूपं वा । परावरं कार्यकारणात्मकम् । परे ब्रह्मादयोऽवरे यस्माद् उत्कृष्टापकृष्टरूपं वा । वरं सर्वश्रेष्ठम् । वरेण्यं वरणाय योग्यम्। वरदं वरदातारम् । ईश्वरं सर्वनियन्तारम् ॥ ८४ ।

स्वान्तम् अन्तःकरणम् ॥ ८६ ।

निरुपाधिं कार्योपाधिरहितम् । ऐकपद्यपाठे कर्मधारयः । अज्यतेऽनेनेत्यञ्जनमुपाधिः । निरञ्जनं कारणोपाधिरहितमिति यावत् । निर्मलं रागादिशून्यम् । निजोऽसाधारण उदयो यस्य तम् ॥ ८७ ।

सर्वं श्रीरुद्ररूपम् ॥ ८८ ।

स्वात्माराम, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वस्वदाता, सर्वसुखास्पद, सब कुछ ओंकारेश्वर ही हैं ॥ ८३-८८ ।

यही बात उसकी जिह्वा रात-दिन कहा करती थी और कभी दूसरे किसी का नाम भी नहीं लेती थी ॥ ८९ ।

उसकी रसना अहर्निश ओंकारेश्वर ही के नामाक्षर का रस चखा करती थी और दूसरे रसों को तो जानती भी नहीं थी ॥ ९० ।

संमार्जनं रंगमालाः प्रासादं परितः सदा ।
विदध्यान्माधवी तत्र तथाऽर्चापात्रशोधनम् ॥ ९१ ।
तत्र पाशुपता ये वै प्रणवेशार्चने रताः ।
तांश्च शुश्रूषयेन्नित्यं पितृबुद्ध्याऽतिभक्तितः ॥ ९२ ।
वैशाखस्य चतुर्दश्यामेकदा सा तु माधवी ।
रात्रौ जागरणं कृत्वा दिवोपवसनान्विता ॥ ९३ ।
यात्रा मिलितभक्तेषु प्रातर्यातिषु सर्वतः ।
संमार्जनादिकं कृत्वा लिङ्गमभ्यर्च्य हर्षतः ॥ ९४ ।
गायन्ती मधुरं गीतं नृत्यन्ती निजलीलया ।
ध्यायन्ती लिङ्गमोङ्कारं तत्र लिङ्गे लयं ययौ ॥ ९५ ।
अनेनैव शरीरेण पार्थिवेन महामतिः ।
अस्मदाचार्यमुख्यानां पश्यतां च तपस्विनाम् ॥ ९६ ।
प्रादुर्बभूव यल्लिङ्गाज्ज्योतिर्जटिलिताम्बरम् ।
तत्र ज्योतिषि सा बाला ज्योतिर्मय्यपि साप्यभूत् ॥ ९७ ।

रङ्गमालाश्चित्रसमूहान् । प्रासादं परितः प्रासादस्य सर्वत इत्यर्थः ॥ ९१ ।

चतुर्दश्यां शुक्लायामिति शेषः । अग्रे तथोक्तेः । उपवसनान्विता उपोषणयुतेत्यर्थः ॥ ९३ ।

अस्माकमाचार्या गुरवो मुख्याः श्रेष्ठा येषां ते तथा तेषाम् ॥ ९६ ।

लयप्रकारमाह । प्रादुरिति । जटिलिताम्बरं व्याप्ताकाशम् ॥ ९७ ।

माधवी वहाँ पर प्रतिदिन मन्दिर के चारों ओर झार-बुहार देती और चित्रकारी बनाती एवं पूजा के पात्रों (पुजहाई) को माँज-धो देती थी ॥ ९१ ।

उस स्थान पर ओंकारेश्वर की पूजा करने वाले (पुजारी) जो पाशुपतलोग रहते थे, वह कन्या पिता की बुद्धि से भक्तिपूर्वक उन लोगों की शुश्रूषा करती थी ॥ ९२ ।

एक बार वैशाख मास की शुक्ला चतुर्दशी के दिन उपवास और रात्रि में जागरण करके वह माधवी प्रातःकाल जब यात्रा के लिये इकट्ठे हुए भक्तलोग इधर-उधर चले गये, तब बड़े हर्ष के साथ मन्दिर को झाड़-बुहार कर लिंग की पूजा करने के उपरान्त मधुर गीत को गाती और भक्ति के आवेश में आकर नाचती एवं ओंकारेश्वर लिंग का ध्यान करती हुई उसी लिंग में लीन हो गई ॥ ९३-९५ ।

हम लोगों के प्रधान आचार्य तपस्वियों के देखते ही देखते वह महाबुद्धिमती कन्या इसी पार्थिव शरीर से आकाश में जो ज्योति उस लिंग से निकली, उसी में ज्योतीरूप हो गई ॥ ९६-९७ ।

राधशुक्लचतुर्दश्यामद्यापि क्षेत्रवासिनः ।
तत्र यात्रां प्रकुर्वन्ति महोत्सवपुरस्सराः ॥ ९८ ।
तत्र जागरणं कृत्वा चतुर्दश्यामुपोषिताः ।
प्राप्नुवन्ति परं ज्ञानं यत्र कुत्रापि वै मृताः ॥ ९९ ।
ब्रह्माण्डोदरमध्ये तु यानि तीर्थानि सर्वतः ।
तानि वैशाखभूतायामायान्त्योङ्कृतिदर्शने ॥ १०० ।
लिङ्गाऽग्रे श्रीमुखीनाम्नी गुहाऽस्ति परमोत्तमा ।
पातालस्य च तद्द्वारं तत्र सिद्धा वसन्ति हि ॥ १०१ ।
तिष्ठेयुः पञ्चरात्रं ये गुहायां तत्र सुव्रताः ।
ते नागकन्याः पश्यन्ति ब्रूयुस्ताश्च शुभाशुभम् ॥ १०२ ।
कन्दरोत्तरदिग्भागे तत्र कूपो रसोदकः ।
आषण्मासं च तत्पीत्वा पिबेद् ब्रह्मरसायनम् ॥ १०३ ।

राधो वैशाखः । यदाहाऽमरः—"वैशाखे माधवो राधः" इति ॥ ९८ ।

भूतायां चतुर्दश्यां शुक्लायामित्येव ॥ १०० ।

कन्दरा गुहा । ब्रह्मरसायनं ब्रह्माऽमृतम् ॥ १०३ ।

आज तक क्षेत्र के निवासी लोग, वैशाख मास की शुक्ला चतुर्दशी को बड़े उत्सव के साथ वहाँ (पर ओंकारेश्वर) की यात्रा करते हैं ॥ ९८ ।

वहाँ पर (उक्त) चतुर्दशी के दिन उपवास और जागरण करने से चाहे कहीं पर मरे; परन्तु (अन्त समय में) परम ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ ९९ ।

ब्रह्माण्ड के भीतर सर्वत्र जितने ही तीर्थ हैं, वे सब वैशाख की शुक्ला चतुर्दशी को ओंकारेश्वर के दर्शनार्थ (काशी में) आते हैं । [शिवपुराण में भी यह बात पायी गई है, यथा–

[ब्रह्माण्डोदरमध्ये तु यानि तीर्थानि सुव्रते ।
वाराणस्यां गमिष्यन्ति वैशाखस्य चतुर्दशीम्"] ॥ १०० ।

लिंग के सन्मुख श्रीमुखी नाम्नी परमोत्तम गुफा है । वह पाताल (जाने) का द्वार है । उसमें सिद्ध लोग रहते हैं ॥ १०१ ।

जो लोग उत्तमव्रत धारण करके पाँच रात्रि उस गुहा में वास करते हैं, उनको नागों की कन्यायें दिखाई पड़ती हैं और वे सब शुभाशुभ (कर्मों) को कह देती हैं ॥ १०२ ।

उस गुहा के उत्तर-भाग में एक रसोदकनाम कूप है, छः मास-पर्यन्त उसका जल पीने से साक्षात् ब्रह्मरसायन पान करने का स्वाद मिलने लगता है ॥ १०३ ।

तत्र नादेश्वरं लिङ्गं दृष्ट्वा नादनिदानभूः ।
सर्वनादात्मकं विश्वं तच्छ्रवो गोचरीभवेत् ॥ १०४ ।
तत्र मत्स्योदरीं स्नात्वा स्वर्धुनीं वरुणाप्लुताम् ।
कृतकृत्यो भवेज्जन्तुर्नैव शोचति कुत्रचित् ॥ १०५ ।
असंख्याता गताः सिद्धिमोङ्कारेश्वरसेवकाः ।
पार्थिवेनैव देहेन दिव्यभूतेन तत्क्षणात् ॥ १०६ ।
अविमुक्तं परं क्षेत्रं ब्रह्माण्डादपि सर्वतः ।
ततोऽपि पर ओङ्कार उक्तो मत्स्योदरीतटे ॥ १०७ ।
प्रणवेशोऽङ्ग यैः काश्यां न नतो नापि चार्चितः ।
किमर्थं ते समुत्पन्ना मातृतारुण्यहारिणः ॥ १०८ ।
यदाप्रभृति विश्वेशो मन्दरादागतोऽभवत् ।
तस्मिन्नानन्दगहने तदाप्रभृति सत्तम ॥ १०९ ।

नादनिदानभूः नादोत्पत्तिस्थानम् । [1]पाठान्तरे निनाद उद्रेकः प्रकटतेति यावत् । सर्वनादात्मकं तच्छ्रवो गोचरीभवेत् । तल्लिङ्गम् । द्रष्टुः श्रवणेन्द्रियस्य विषयः स्यादित्यर्थः । १०४ ।

पृथिवीभागस्याधिक्यात् पार्थिवेनेत्युक्तम् । वस्तुतः पाञ्चभौतिकेनेत्यर्थः । तथा च व्याससूत्रम्—"तेषु वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः" इति ॥ १०६ ।

गहने वने ॥ १०९ ।

वहीं पर नाद की उत्पत्ति का स्थान नादेश्वर नामक लिंग वर्तमान है । इसके दर्शन से समस्त नादात्मक विश्व (उसका) श्रवणगोचर (ज्ञात) होने लगता है ॥ १०४ ।

वहाँ पर गंगा और वरुणा के जल से परिपूर्ण मत्स्योदरी तीर्थ में स्नान करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है और उसे फिर कभी (कहीं पर) शोक नहीं करना पड़ता ॥ १०५ ।

ओङ्कारेश्वर के (असंख्य) सेवक लोग इसी पार्थिव शरीर से दिव्यरूप होकर तुरंत परमसिद्धि को प्राप्त हो गये हैं ॥ १०६ ।

(प्रथम तो) समस्त ब्रह्माण्डभर में अविमुक्तक्षेत्र सब से प्रधान है । उसमें भी मत्स्योदरी के तीर पर ओंकारेश्वर का स्थान तो और भी श्रेष्ठ है ॥ १०७ ।

ओहो ! जिन लोगों ने काशी में ओंकारेश्वर को न प्रणाम ही किया और न पूजन ही किया, वे सब (अपनी) माता की तरुनाई बिगाड़ने के लिये क्यों उत्पन्न हुए ? ॥ १०८ ।

हे द्विजोत्तम ! जब से भगवान् विश्वेश्वर मन्दराचल से आनन्दवन में आये हैं,

---

1. नादनिनादेति ।

सर्वाण्यायतनान्याशु साब्धीनि सगिरीण्यपि ।
सनदीनि सतीर्थानि सद्वीपानि ययुस्ततः ॥ ११० ।
इदानीं मम भाग्येन स्मारितोऽहं त्वया मुने ।
अहमप्यागमिष्यामि यामः काशीं शनैः शनैः ॥ १११ ।
एतेऽपि मम शिष्या ये महापाशुपतव्रताः ।
काशीं यियासवस्तेऽपि यतः सर्वे मुमुक्षवः ॥ ११२ ।
अपि वार्धकमासाद्य यैः काशी नैव शीलिता ।
मानुषे दुर्लभे नष्टे कुतस्तेषां महासुखम् ॥ ११३ ।
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं यावन्नैवायुषः क्षयः ।
तावत्सेव्यं प्रयत्नेन शम्भोरानन्दकाननम् ॥ ११४ ।
य आनन्दवनं शम्भोः शिश्रियुः श्रीनिकेतनम् ।
अचला श्रीर्न मुञ्चेत्तान् महासौख्यैकशेवधीन् ॥ ११५ ।

आयतनानि देवतास्थानानि । ततस्तदा ॥११० ।
शीलिता श्रिता ॥ ११३ ।
शिश्रियुः सेवितवन्तः ॥ ११५ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

तब से वहाँ पर समुद्र, पर्वत, नदी, तीर्थ और द्वीपों के सहित सभी (देवता) आयतन चले गये हैं ॥ १०९-११० ।

हे मुने ! इस घड़ी तुमने मेरे भाग्य से ही मुझे स्मरण करा दिया । मैं भी आता हूँ, धीरे-धीरे काशी को ही चलूँगा ॥ १११ ।

ये सब महापाशुपतव्रतधारी मेरे शिष्यलोग भी काशी चलने के अभिलाषी हैं; क्योंकि ये तो सभी कोई मोक्षार्थी ही ठहरे ॥ ११२ ।

जिन लोगों ने वृद्धावस्था में भी काशी का सेवन नहीं किया, वे सब इस परम-दुर्लभ मनुष्य जन्म के बीत जाने पर फिर कहाँ से महासुख पा सकते हैं ! ॥ ११३ ।

जब तक इन्द्रियाँ विकल नहीं हो जातीं, किं वा आयुष्य का क्षय नहीं हो जाता, तभी तक शंकर का आनन्दकानन प्रयत्नपूर्वक सेवनीय है[1] । ११४ ।

जो लोग श्री के मन्दिर, महादेव के आनन्दवन में आश्रय ले लेते हैं, उन सब महासुखों के प्रधान अवलम्बनरूप लोगों को लक्ष्मी अचल होकर कभी छोड़ती ही नहीं हैं ॥ ११५ ।

---

1. 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः' ॥ (वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्ड, श्लो. १) इस कारिका का तात्पर्य यह है कि नादात्मक शब्दतत्त्व नित्य अक्षर और स्फोटात्मक शब्दब्रह्म तत्त्व है । समस्त दृश्यादृश्य, स्थावर-जंगम विश्व उसी का विवर्त्त है, रूपान्तर है, प्रपंच है । (संपादक)

इत्याख्याय कथां रम्यां गर्गः पाशुपतोत्तमः ।
भारद्वाजेन सहितः प्राप वाराणसीं पुरीम् ॥ ११६ ।
दमनोऽपि हि धर्मात्मा गर्गाचार्येण संयुतः ।
आराध्य श्रीमदोङ्कारं तस्मिँल्लिङ्गे लयं गतः ॥ ११७ ।

स्कन्द उवाच–

इल्वलारे परं स्थानमोङ्कारमविमुक्तके ।
तत्र सिद्धिं परां जग्मुः साधका बहुशो मुने ॥ ११८ ।
कलौ कलुषचित्तानां पुरो नाख्येयमेव हि ।
प्रणवेश्वरमाहात्म्यं नास्तिकानां विशेषतः ॥ ११९ ।
ये निन्दन्ति महादेवं क्षेत्रं निन्दन्ति येऽधियः ।
पुराणं ये च निन्दन्ति ते संभाष्या न कुत्रचित् ॥ १२० ।
ओङ्कारसदृशं लिङ्गं न क्वचिज्जगतीतले ।
इति गौर्यै समाख्यातं देवदेवेन निश्चितम् ॥ १२१ ।

इस प्रकार से पाशुपतश्रेष्ठ गर्गाचार्य इस रमणीय कथा को कहकर भरद्वाजनन्दन दमन के साथ वाराणसीपुरी में जा पहुँचे ॥ ११६ ।

और वह धर्मात्मा दमन भी गर्गाचार्य के साथ श्रीमान् **ओंकारेश्वर** की आराधना करके उसी लिंग में लीन हो गया ॥ ११७ ।

स्कन्द ने कहा–

हे इल्वलरिपो ! अविमुक्तक्षेत्र में **ओंकारेश्वर** एक प्रधान स्थान है; क्योंकि हे मुने ! वहाँ पर बहुतेरे साधक लोग परमसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं ॥ ११८ ।

कलियुग में पापहृदय और विशेष करके नास्तिक लोगों के आगे इस ओंकारेश्वर के माहात्म्य को कभी नहीं कहना चाहिए ॥ ११९ ।

जो बुद्धिहीन लोग महादेव की निन्दा करते हैं, किं वा क्षेत्र की निन्दा करते हैं, अथवा पुराण की निन्दा करते हैं, उनके साथ कहीं पर (कभी) बातचीत नहीं करनी चाहिए ॥ १२० ।

भूतल में **ओंकारेश्वर** के समान दूसरा कोई भी लिंग नहीं है, यह बात निश्चितरूप से महादेव ने गौरीदेवी से कही है ॥ १२१ ।

इममध्यायमाकर्ण्य नरस्तद्गतमानसः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः शिवलोकमवाप्नुयात् ॥ १२२ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ओङ्कारमाहात्म्यं नाम
चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ।

मनुष्य यदि तद्गतचित्त होकर इस अध्याय का श्रवण करे, तो सब पापों से विमुक्त होकर शिवलोक को प्राप्त करता है ॥ १२२ ।

ओंकारेश्वर नाम से, रह्यो ग्राम जो ख्यात ।
हुक्कालेसन नाम धरि, वह महाल कहि जात ॥ १ ॥
यदपि जवन गन भग्न करि, विनशायो तेहि नाम ।
पर अजहूँ अतिरम्य है, ओंकारेश्वर धाम ॥ २ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायामोङ्कारमाहात्म्यं नाम
चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ।

॥ अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

श्रुत्वोङ्कारकथामेतां महापातकनाशिनीम् ।
न तृप्तोऽस्मि विशाखाऽथ ब्रूहि त्रैविष्टपीं कथाम् ॥ १ ।
कथं च कथिता देव्यै देवदेवेन षण्मुख ।
आविर्भूतिर्महाबुद्धे पुण्या त्रैलोचनी परा ॥ २ ।

स्कन्द उवाच–

आकर्णय मुने वच्मि कथां श्रमनिवारिणीम् ।
यथा देवेन कथिता त्रिविष्टपसमुद्भवाम् ॥ ३ ।
विरजाख्यं हि तत्पीठं तत्र लिङ्गं त्रिविष्टपम् ।
तत्पीठदर्शनादेव विरजा जायते नरः ॥ ४ ।

अध्याये सप्ततितमे पञ्चोर्ध्वे परमाद्भुते ।
त्रिलोचनस्य देवस्य ह्याविर्भावोऽनुवर्ण्यते ॥ १ ।

त्रिलोचनतीर्थसम्बन्धिनीं त्रैविष्टपीं त्रिलोचनसम्बधिनीं वा । तदुक्तमत्रैव–

विष्टपत्रितयाऽन्तर्ये देवर्षिमनुजोरगाः ।

ससरित्पर्वतारण्याः सन्ति ते तत्र यन्मुने ॥

तदारभ्य च तत्तीर्थं तच्च लिङ्गं त्रिलोचनम् । त्रिविष्टपमितिं ख्यातमिति ॥ १ ।
विरजाख्यमित्यत्र सन्धिरार्षः । सर्वे सान्ता अकारान्ता इति वा ॥ ४ ।

(त्रिलोचन का माहात्म्य)

अगस्त्य बोले–

हे विशाख ! महापातकनाशिनी इस ओंकारेश्वर की कथा के श्रवण करने से मेरी तो तृप्ति ही नहीं होती है, सो अब आप त्रिलोचनेश्वर लिंग की कथा का कीर्तन करें ॥ १ ।

हे महाबुद्धे ! षण्मुख ! भगवान् महादेव ने भगवती से फिर त्रिलोचन लिंग के प्रकट होने की कथा किस प्रकार से कही थी ? ॥ २ ।

स्कन्द कहने लगे–

हे मुने ! देवदेव ने त्रिलोचन की उत्पत्ति के विषय में जो श्रमनिवारिणी कथा कही थी, उसे मैं कहता हूँ, श्रवण कीजिए ॥ ३ ।

(वह स्थान काशी में) विरजापीठ नाम से प्रसिद्ध है और वहाँ पर जो लिंग है, वह त्रिविष्टप कहता है । उस पीठ के दर्शन ही से मनुष्य रजोगुण से रहित हो जाता है ॥ ४ ।

तिस्रस्तु संगतास्तत्र स्रोतस्विन्यो घटोद्भव ।
तिस्रः कल्मषहारिण्यो दक्षिणे हि त्रिलोचनात् ॥ ५ ।
स्रोतो मूर्तिधराः साक्षाल्लिङ्गस्नपनहेतवे ।
सरस्वत्यथ कालिन्दी नर्मदा चातिशर्मदा ॥ ६ ।
तिस्रोऽपि हि त्रिसन्ध्यं ताः सरितः कुम्भपाणयः ।
स्नपयन्ति महाधामलिङ्गं त्रैविष्टपं महत् ॥ ७ ।
लिङ्गानि परितस्ताभिः स्वनाम्ना स्थापितान्यपि ।
तेषां सन्दर्शनात् पुंसां तासां स्नानफलं भवेत् ॥ ८ ।
सरस्वतीश्वरं लिङ्गं दक्षिणेन त्रिविष्टपात् ।
सारस्वतं पदं दद्याद् दृष्टं स्पृष्टं च जाड्यहृत् ॥ ९ ।
यमुनेशं प्रतीच्यां च नरैर्भक्त्या समर्चितम् ।
अपि किल्बिषवद्भिश्च यमलोकनिवारणम् ॥ १० ।
दृष्टं त्रिलोचनात्प्राच्यां नर्मदेशं सुशर्मदम् ।
तल्लिङ्गार्चनतो नृणां गर्भवासो निषिध्यते ॥ ११ ।

अन्वयभेदात्तिस्र इति पदयोरपौनरुक्त्यम् ॥ ५ ।

महाधाम महातेजो महाधारं वा ॥ ७ ।

प्रतीच्यां पश्चिमायां दिशि ॥ १० ।

हे घटोद्भव ! त्रिलोचन के दक्षिण की ओर तीन नदियाँ मिली हुई हैं और वे तीनों ही पातकहारिणी हैं ॥ ५ ।

केवल उसी लिंग के स्नान कराने के लिये सरस्वती, यमुना, परमशर्मदा नर्मदा, ये तीनों ही साक्षात् स्रोत की मूर्ति धारण किये थीं ॥ ६ ।

वे तीनों ही नदियाँ हाथ में कुंभ लेकर महातेजस्वी उस **त्रिविष्टप महालिंग** को त्रिकाल स्नान कराती हैं ॥ ७ ।

और उसी लिंग के तीन ओर उन तीनों नदियों ने अपने-अपने नामानुसार तीन लिंगों को स्थापित किया है, उन लिंगों के दर्शन करने से लोगों को उन नदियों में स्नान करने का फल प्राप्त होता है ॥ ८ ।

त्रिविष्टप के दक्षिण भाग में **सरस्वतीश्वर लिंग** है, जो दर्शन-स्पर्शन से जड़ता को दूरकर सारस्वत पद को देता है ॥ ९ ।

पश्चिम ओर **यमुनेश्वर लिंग** है, वह भक्तिपूजन करने से पापी मनुष्यों के भी यमलोक के भय को हटा देता है ॥ १० ।

एवं त्रिलोचन के पूर्व परमशर्म(कल्याण)प्रद नर्मदेश्वर लिंग है, जिसका पूजन करने से मनुष्यों को फिर गर्भवास नहीं होने पाता ॥ ११ ।

स्नात्वा पिलिपिलातीर्थे त्रिविष्टपसमीपतः ।
दृष्ट्वा त्रिलोचनं लिङ्गं किं भूयः परिशोचति ॥ १२ ।
त्रिविष्टपस्य लिङ्गस्य स्मरणादपि मानवः ।
त्रिविष्टपपतिर्भूयान्नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ १३ ।
त्रिविष्टपस्य द्रष्टारः स्रष्टारः स्युर्न संशयः ।
कृतकृत्यास्त एवाऽत्र त एवाऽत्र महाधियः ॥ १४ ।
आनन्दकानने लिङ्गं प्रणतं यैस्त्रिविष्टपम् ।
त्रिलोचनस्य नामाऽपि यैः श्रुतं शुद्धबुद्धिभिः ॥ १५ ।
सप्तजन्मार्जितात्पापात्ते पूता नाऽत्र संशयः ।
पृथिव्यां यानि लिङ्गानि तेषु दृष्टेषु यत्फलम् ॥ १६ ।
तत्स्यात्त्रिविष्टपे दृष्टे काश्यां मन्ये ततोऽधिकम् ।
काश्यां त्रिविष्टपे दृष्टे दृष्टं सर्वं त्रिविष्टपम् ॥ १७ ।
क्षणान्निर्धूतपापोऽसौ न पुनर्गर्भभाग्भवेत् ।
स स्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वावभृथवान् स च ॥ १८ ।

स्रष्टारो बह्माणः ॥ १४ ।

शुद्धबुद्धिभिरिति । नेदमधिकारिविशेषणं किन्त्वन्येषामश्रद्धया तत्राप्रवृत्तेरर्थत्तिष्वेव पर्यवसानादनुवादमात्रम् ॥ १५ ।

त्रिविष्टप के समीप ही पिलपिलातीर्थ में स्नान और त्रिलोचन लिंग का दर्शन कर लेने पर फिर किस बात का शोच रह जाता है ? ॥ १२ ।

(कहाँ तक कहें)यदि मनुष्य त्रिविष्टप लिंग का स्मरण भी कर सके, तो वह त्रिविष्टप (स्वर्ग) का अधिपति हो जाता है– इसमें कुछ विचार करने का अवकाश नहीं है ॥ १३ ।

त्रिविष्टप के दर्शन करने वाले निःसन्देह ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाते हैं, एवं इस संसार में वे ही परम बुद्धिमान् और कृतकृत्य समझे जाते हैं ॥ १४ ।

आनन्दवन में जिन लोगों ने त्रिविष्टप लिंग को प्रणाम किया, अथवा जिन शुद्धबुद्धिमानों ने त्रिलोचन का नाम भी सुन लिया, वे लोग जगत् में सात जन्म के संचित पापों से निःसन्देह पवित्र हो चुके। पृथिवी पर जितने ही लिंग हैं, उनके दर्शन से जो फल होता है, काशी में त्रिविष्टप लिंग के दर्शन कर लेने से मैं समझता हूँ कि उससे भी अधिक फल प्राप्त होता है; (क्योंकि) काशी में त्रिविष्टप लिंग के दर्शन करने से समग्र त्रिविष्टप (स्वर्ग) ही दृष्ट हो जाता है ॥ १५-१७ ।

(त्रिविष्टप लिङ्ग का दर्शन कर लेने से) क्षणमात्र में वह मनुष्य निष्पाप हो जाता है और उसे फिर कभी गर्भभागी नहीं होना पड़ता। जो उत्तरवाहिनी गंगा

योवै पिलिपिलातीर्थे स्नात्वोत्तरवहाऽम्भासि ।
सरित्त्रयं महापुण्यं यत्र साक्षाद्वसेत्सदा ॥ १९ ।
तत्र श्राद्धादिकं कृत्वा गयायां किं करिष्यति ।
स्नात्वा पिलिपिलातीर्थे कृत्वा वै पिण्डपातनम् ॥ २० ।
दृष्ट्वा त्रिविष्टपं लिङ्गं कोटितीर्थफलं लभेत् ।
यदन्यत्राऽर्जितं पापं तत्काशीदर्शनाद् व्रजेत् ॥ २१ ।
काश्यां तु यत्कृतं पापं तत्पैशाचपदप्रदम् ।
प्रमादात्पातकं कृत्वा शम्भोरानन्दकानने ॥ २२ ।
दृष्ट्वा त्रिविष्टपं लिङ्गं तत्पापमपि हास्यति ।
सर्वस्मिन्नपि भूपृष्ठे श्रेष्ठमानन्दकाननम् ॥ २३ ।
तत्रापि सर्वतीर्थानि ततोऽप्योङ्कारभूमिका ।
ओङ्कारादपि सल्लिङ्गान्मोक्षवर्त्मप्रकाशकात् ॥ २४ ।
अतिश्रेष्ठतरं लिङ्गं श्रेयोरूपं त्रिलोचनम् ॥ २५ ।
तेजस्विषु यथा भानुर्दृश्येषु च यथा शशी ।
तथा लिङ्गेषु सर्वेषु परं लिङ्गं त्रिलोचनम् ॥ २६ ।

दृश्येषु दर्शनीयेषु ॥ २६ ।

के जल में पिलपिलातीर्थ पर स्नान करता है, उसे समग्र तीर्थस्नान और यज्ञस्नान का फल प्राप्त होता है। यहाँ पर परम पवित्र तीनों ही नदियाँ साक्षात् वास करती हैं। वहाँ पर श्राद्ध कर सके तो गया में श्राद्ध करने का कौन प्रयोजन है? पिलपिलातीर्थ में स्नान तथा पिंडदान एवं त्रिविष्टप लिंग का दर्शन करने से कोटितीर्थ करने का फल प्राप्त होता है। अन्य स्थान के उपार्जित पाप केवल काशी के दर्शन ही से दूर हो जाते हैं ॥ १८-२१ ।

किन्तु काशी में जो पाप किया जाता है, वह तो पिशाच ही बना देता है। (तब रहा यह कि) यदि शिव के आनन्दकानन में प्रमादवश कोई पातक हो जाय, तो वह भी त्रिविष्टप लिंग के दर्शन करने से छूट जाता है। समस्त भूमण्डल में आनन्दकानन ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ २२-२३ ।

उसमें तीर्थस्थान और भी श्रेष्ठ हैं। उन सबों में भी ओंकारेश्वर का स्थान प्रधान है, मोक्षमार्गदर्शक ओंकारेश्वर महालिंग से भी श्रेयोरूप त्रिलोचन लिंग अत्यन्त श्रेष्ठतर है ॥ २४-२५ ।

जैसे तेजस्वियों में सूर्य और दर्शनीयों में चन्द्र हैं, वैसे ही सब लिंगों में त्रिलोचन लिंग भी प्रधान हैं ॥ २६ ।

त्रिलोचनार्चकानां सा पदवी न दवीयसी ।
परं निर्वाणपद्मायाा महासौख्यैकशेवधेः ॥ २७ ।
सकृत्त्रिलोचनार्चातो यच्छ्रेयः समुपार्ज्यते ।
न तदाजन्म सम्पूज्य लिङ्गान्यन्यानि लभ्यते ॥ २८ ।
काश्यां त्रिलोचनं लिङ्गं येऽर्चयन्ति महाधियः ।
तेऽर्च्यास्त्रिभुवनौकोभिर्मम प्रीतिमभीप्सुभिः ॥ २९ ।
कृत्वाऽपि सर्वसंन्यासं कृत्वा पाशुपतव्रतम् ।
नियमेभ्यः स्खलित्वाऽपि कुतो बिभ्यति मानवाः ॥ ३० ।
विद्यमाने महालिङ्गे महापापौघहारिणि ।
त्रिविष्टपे पुण्यराशौ मोक्षनिक्षेपसद्मनि ॥ ३१ ।
समभ्यर्च्य महालिङ्गं सकृदेव त्रिलोचनम् ।
मुच्यते कलुषैः सर्वैरपि जन्मशतार्जितैः ॥ ३२ ।
ब्रह्महाऽपि सुरापो वाऽस्तेयी वा गुरुतल्पगः ।
तत्संयोग्यपि वा वर्षं महापापी प्रकीर्तितः ॥ ३३ ।

महासौख्यैकशेवधेः परमानन्दैकनिधेः । निर्वाणपद्मायाः मोक्षलक्ष्म्याः । सा पदवी त्रिलोचनार्चकानां न दवीयसी न दूरे इत्यर्थः ॥ २७ ।

असाधारण महासुख की खानि निर्वाणलक्ष्मी की परम पदवी भी त्रिलोचन के पूजकों को कुछ दूर नहीं रह जाने पाती ॥ २७ ।

त्रिलोचन की एक बार की पूजा से जो कल्याण प्राप्त होता है, अन्य लिंगों का जन्म भर पूजन करने पर भी वह फल नहीं मिल सकता ॥ २८ ।

जो महाबुद्धिमान् लोग काशी में त्रिलोचन लिंग का अर्चन करते हैं, वे सब मेरी प्रीति के चाहनेवाले सभी त्रिलोकवासियों के पूज्य हैं ॥ २९ ।

मनुष्यगण, सब प्रकार से संन्यास ले पाशुपतव्रत को धारण कर, फिर भी नियमों से च्युत होने पर क्यों डरते हैं ? ॥ ३० ।

(उन्हें डरना नहीं चाहिए) जब कि महापातकावली के संहारक, मोक्ष के कोशागार, पुण्यों की राशि, त्रिविष्टप महालिंग विद्यमान ही हैं ॥ ३१ ।

एक बार भी त्रिलोचन महालिंग के पूजन से सैकड़ों जन्म के बटोरे हुए सब (पुराने) पाप छूट जाते हैं ॥ ३२ ।

ब्रह्मघाती, मद्यप, (सुवर्ण का) चोर, गुरुपत्नीगामी एवं वर्षभर तक इन सबों का संसर्ग करने वाला, ये सब महापापी कहे जाते हैं ॥ ३३ ।

परदाररतश्चापि परहिंसारतोऽपि वा ।
परापवादशीलोऽपि तथा विस्रम्भघातकः ॥ ३४ ।
कृतघ्नोऽपि भ्रूणहाऽपि वृषलीपतिरेव वा ।
मातापितृगुरुत्यागी वह्निदो गरदोऽपि वा ॥ ३५ ।
गोघ्नः स्त्रीघ्नोऽपि शूद्रघ्नः कन्यादूषयिताऽपि च ।
क्रूरो वा पिशुनो वाऽपि निजधर्मपराङ्मुखः ॥ ३६ ।
निन्दको नास्तिको वाऽपि कूटसाक्ष्यप्रवादकः ।
अभक्ष्यभक्षको वाऽपि तथाऽविक्रेयविक्रयी ॥ ३७ ।
इत्यादिपापशीलोऽपि मुक्त्वैकं शिवनिन्दकम् ।
पापान्निष्कृतिमाप्नोति नत्वा लिङ्गं त्रिलोचनम् ॥ ३८ ।
शिवनिन्दारतो मूढः शिवशास्त्रविनिन्दकः ।
तस्य नो निष्कृतिर्दृष्टा क्वाऽपि शास्त्रेऽपि केनचित् ॥ ३९ ।
आत्मघाती स विज्ञेयः सदा त्रैलोक्यघातकः ।
शिवनिन्दां विधत्ते यः सोऽनाभाष्योऽधमाधमः ॥ ४० ।
शिवनिन्दारता ये च शिवभक्तजनेष्वपि ।
ते यान्ति नरके घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४१ ।

निष्कृतिं मुक्तिम् ॥ ३८ ।

मुक्त्वैकं शिवनिन्दकमिति यदुक्तं तत्राऽनुवादपूर्वकं हेतुमाह । शिवनिन्देति त्रिभिः ॥ ३९ ।

एवं परस्त्रीगामी, परहिंसक, परनिन्दक, विश्वासघाती, कृतघ्न, भ्रूणहा, वृषली-(शूद्रा) पति, माता, पिता और गुरु को त्याग देने वाला, आग लगाने वाला, विष खिलाने वाला, गोघाती, स्त्रीघाती, शूद्रघाती, कन्यादूषक, क्रूर, पिशुन, स्वधर्मविमुख, निन्दक, नास्तिक, कूटसाक्षी, अपवादक, अभोज्यभोजी एवं अविक्रेय-विक्रयी—इन सब पापों के करने वाले मनुष्य भी त्रिलोचन लिंग को प्रणाम करके इन सब पापों से छुटकारा पा सकते हैं, पर एक शिवनिन्दक की निष्कृति नहीं होती ॥ ३४-३८ ।

जो मूढ़जन शिव का निन्दक हो, अथवा शिवशास्त्रों की निन्दा में तत्पर रहें, उसका निस्तार शास्त्र में कहीं पर किसी ने नहीं देखा है ॥ ३९ ।

जो महाधम शिव की निन्दा करे, उसे आत्मघाती और त्रैलोक्यघाती एवं बोलने के अयोग्य समझना चाहिए ॥ ४० ।

जो लोग शिव की निन्दा, अथवा शिवभक्तों की निन्दा करते हैं, वे जब तक चन्द्र-सूर्य हैं, घोर नरक में पड़ते हैं ॥ ४१ ।

शैवाः पूज्याः प्रयत्नेन काश्यां मोक्षमभीप्सुभिः ।
तेष्वर्चितेष्वपि शिवः प्रीतो भवत्यसंशयः ॥ ४२ ।
सर्वेषामिह पापानां प्रायश्चित्तचिकीर्षया ।
निःशङ्कैरेव वक्तव्यं प्रमाणज्ञैरिदं वचः ॥ ४३ ।
पुरश्चरणकामश्चेद् भीतोऽसि यदि पापतः ।
मन्यसे यदि नः सत्यं वाक्यं शास्त्रप्रमाणतः ॥ ४४ ।
ततः सर्वं परित्यज्य कृत्वा मनसि निश्चयम् ।
आनन्दकाननं याहि यत्र विश्वेश्वरः स्वयम् ॥ ४५ ।
यत्र क्षेत्रप्रविष्टानां नराणां निश्चितात्मनाम् ।
न बाधतेऽघनिचयः प्राप्येत च परो वृषः ॥ ४६ ।
तत्राऽद्याऽपि महातीर्थे त्रिस्रोतस्यतिनिर्मले ।
पुण्ये पिलिपिलानाम्नि त्रिसरित्परिसेविते ॥ ४७ ।
त्रिलोचनाक्षिविक्षेपपरिक्षिप्तमहैनसि ।
स्नात्वा गृह्योक्तविधिना तर्पणीयान्प्रतर्प्य च ॥ ४८ ।
दत्वा देयं यथाशक्ति वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
दृष्ट्वा त्रिविष्टपं लिङ्गं समभ्यर्च्याऽतिभक्तितः ॥ ४९ ।

सर्वेषां पापानां श्रेष्ठं प्रायश्चित्तं वक्तुमाह । सर्वेषामिति ॥ ४३ ।
वृषो धर्मः ॥ ४६ ।

काशी में मोक्ष चाहने वालों को प्रयत्नपूर्वक शैवों की पूजा करनी चाहिए; क्योंकि उन लोगों के पूजन से निःसन्देह शिव प्रसन्न होते हैं ॥ ४२ ।

संसार में समस्त पापों का प्रायश्चित्त करना हो तो प्रमाणज्ञों को निःशंक होकर यही बात कहनी चाहिए कि "यदि पाप से भयभीत होकर प्रायश्चित्त करना चाहते हो और हमारे वचन को यदि शास्त्र के प्रमाण से सत्य मानते हो, तो सब को छोड़ मन में दृढ़ निश्चय करके आनन्दकानन में जहाँ पर स्वयं विश्वेश्वर विराजमान हैं, चले जाओ" ॥ ४३-४५ ।

यहाँ पर क्षेत्र में प्रवेश करते ही विश्वासी लोगों को पापपुंज कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते और वे बड़े धर्मप्राप्ति के भागी होते हैं ॥ ४६ ।

वहाँ पर तीन नदियों से सेवित, अत्यन्त निर्मल, त्रिलोचन के दृष्टिपात से महापापों के दूर कर देने वाले, परमपवित्र, त्रिस्रोत, पिलपिलानामक तीर्थ में गृह्योक्तविधि से स्नान और पितरों का तर्पण (करना चाहिए) ॥ ४७-४८ ।

तत्पश्चात् वित्तशाठ्य को छोड़कर यथाशक्ति दान और त्रिविष्टप लिंग का दर्शन तथा परमभक्तिपूर्वक विविध गन्ध, पंचामृत, माल्य, धूप, दीप, नैवेद्य, वस्त्र,

गन्धाद्यैर्विविधैर्माल्यैः पञ्चामृतपुरस्सरैः ।
धूपैर्दीपैः सनैवेद्यैर्वासोभिर्बहुभूषणैः ॥ ५० ।
पूजोपकरणैर्द्रव्यैर्घण्टादर्पणचामरैः ।
चित्रध्वजपताकाभिर्नृत्यवाद्यसुगायनैः ॥ ५१ ।
जपैः प्रदक्षिणाभिश्च नमस्कारैर्मुदायुतैः ।
परिचारकसन्तोषैः कृत्वेति परिपूजनम् ॥ ५२ ।
ब्राह्मणान्वाचयेत्पश्चान्निष्पापोऽहमिति ब्रुवन् ।
एवं कुर्वन्नरः प्राज्ञो निरेना जायते क्षणात् ॥ ५३ ।
ततः पञ्चनदे स्नात्वा मणिकर्णीह्रदे ततः ।
ततो विश्वेशमभ्यर्च्य प्राप्नोति सुकृतं महत् ॥ ५४ ।
प्रायश्चित्तमिदं प्रोक्तं महापापविशोधनम् ।
नास्तिकेन प्रवक्तव्यं काशीमाहात्म्यनिन्दके ॥ ५५ ।
ददच्च द्रव्यलोभेन प्रायश्चित्तमिदं शुभम् ।
दाता नरकमाप्नोति सत्यं सत्यं घटोद्भव ॥ ५६ ।

गन्धाद्यैरित्यादि तृतीयान्तानां पदानां समभ्यर्च्येत्यनेनाऽन्वयः । माल्यैर्मालाभिः पुष्पैर्वा ॥ ५० ।

निरेना निष्पापः ॥ ५३ ।

एवं पापक्षयमुक्त्वा पुण्यप्राप्तिमाह । तत इत्येकेन ॥ ५४ ।

बहुत से भूषण, घंटा, दर्पण, चामर, विचित्र ध्वजा-पताका इत्यादि पूजा के उपकरण द्रव्य तथा नृत्य, वाद्य, उत्तम गान, जप, प्रदक्षिणा, नमस्कार और परिचारक (पुजारी) लोगों को सहर्ष पारितोषिक दान इत्यादि के द्वारा विधिवत् पूजन करके "मै निष्पाप हो गया" ऐसा कहता हुआ पुनः ब्राह्मणों से भी कहवा लेवे, (बस) प्राज्ञजन ऐसा करने से आज भी क्षण भर में पापरहित हो जाता है ॥ ४९-५३ ।

तदनन्तर पंचगंगा में फिर मणिकर्णिका-कुंड में स्नान और विश्वेश्वर का पूजन करे, तो परमपुण्य का भागी हो जाता है ॥ ५४ ।

यह महापातकशोधक प्रायश्चित्त कहा गया है, इसे काशी के माहात्म्य की निन्दा करने वाले तथा नास्तिकों से कभी नहीं कहना चाहिए ॥ ५५ ।

हे घटयोने ! यदि धन के लोभ से (नास्तिक को) यह उत्तम प्रायश्चित्त बता देवे, तो दाता नरकगामी होता है, यह सर्वथा सत्य ही सत्य है ॥ ५६ ।

क्ष्मां प्रदक्षिणीकृत्य यत्फलं सम्यगाप्यते ।
प्रदोषे तत्फलं काश्यां सप्तकृत्वस्त्रिलोचने ॥ ५७ ।
भुजङ्गमेखलं लिङ्गं काश्यां दृष्ट्वा त्रिविष्टपम् ।
जन्मान्तरेऽपि मुक्तः स्यादन्यत्र मरणे सति ॥ ५८ ।
अन्यत्र सर्वलिङ्गेषु पुण्यकालो विशिष्यते ।
त्रिविष्टपे पुण्यकालः सदा रात्रिन्दिवं नृणाम् ॥ ५९ ।
लिङ्गान्योङ्कारमुख्यानि सर्वपापप्रकृन्त्यलम् ।
परं त्रिलोचनीशक्तिः काचिदन्यैव पार्वति ॥ ६० ।
यतः सर्वेषु लिङ्गेषु लिङ्गमेतदनुत्तमम् ।
तत्कारणं शृण्वपर्णे कर्णे कुरु वदाम्यहम् ॥ ६१ ।
पुरा मे योगयुक्तस्य लिङ्गमेतद्भुवस्तलात् ।
उद्भिद्य सप्तपातालं निरगात्पुरतो महत् ॥ ६२ ।

प्रदक्षिणातः इति शेषः ॥ ५७ ।
भुजङ्गोऽनन्तो मेखला काञ्ची यस्य तम् ॥ ५८ ।
रात्रिन्दिवं रात्रौ दिवसे च तत्रापि सर्वदेत्यर्थः ॥ ५९ ।
प्रकृन्ति प्रकर्षेण च्छेदकानि । प्रहृन्तीति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ६० ।
भुवस्तलाद् भूमेरधोभागात् । तत्रावधिमाह उद्भिद्येति ॥ ६२ ।

सम्पूर्ण पृथिवी की प्रदक्षिणा करने से जो फल मिलता है, प्रदोष की वेला काशी में त्रिलोचन की सात फेरी देने से भी वही फल प्राप्त होता है ॥ ५७ ।

काशीपुरी में सर्प की मेखला से भूषित त्रिविष्टप लिंग का दर्शन करने पर यदि कहीं अन्यत्र मृत्यु हो जाय, तो फिर वह मनुष्य दूसरे जन्म में मुक्त हो जाता है ॥ ५८ ।

अन्यत्र सब लिंगों में विशेष पुण्यकाल होता हैं; परन्तु त्रिविष्टप लिगं के विषय में लोगों का रात-दिन सदैव पुण्यकाल बना रहता है ॥ ५९ ।

यद्यपि ओंकार इत्यादि लिंग बड़े ही पापनाशक हैं; परन्तु हे पार्वति ! त्रिलोचन लिंग की शक्ति कुछ दूसरी ही है ॥ ६० ।

हे अपर्णे ! जिस कारण यह लिंग सब लिंगों की अपेक्षा परम उत्तम है, उसे मैं कहता हूँ, कान लगाकर सुनो ॥ ६१ ।

पूर्वकाल में यह महालिंग मेरी योगावस्था में ही भुवस्तल से सातों पातालों को भेदकर सब के आगे ही निकल आया था ॥ ६२ ।

अस्मिँल्लिङ्गे पुरा गौरि सुगुप्तं तिष्ठता मया ।
तुभ्यं नेत्रत्रयं दत्तं निरैक्षिष्ठास्तथोत्तमम् ॥ ६३ ।
तदाप्रभृति देवेशि लिङ्गमेतत्त्रिलोचनम् ।
विष्टपत्रितयान्तस्थैर्गीयते ज्ञानदृष्टिदम् ॥ ६४ ।
त्रिलोचनस्य ये भक्तास्तेऽपि सर्वे त्रिलोचनाः ।
मम पारिषदास्ते तु जीवन्मुक्तास्त एव हि ॥ ६५ ।
त्रिलोचनस्य लिङ्गस्य महिमानं न कश्चन ।
सम्यग्वेत्ति महेशानि मयैव परिगोपितम् ॥ ६६ ।
शुक्लराधतृतीयायां स्नात्वा पैलिपिले ह्रदे ।
उपोषणपरा भक्त्या रात्रौ जागरणान्विताः ॥ ६७ ।
त्रिलोचनं पूजयित्वा प्रातः स्नात्वाऽपि तत्र वै ।
पुनर्लिङ्गं समभ्यर्च्य दत्वा धर्मघटानपि ॥ ६८
सान्नान् सदक्षिणान् देवि पितॄनुद्दिश्य हर्षिताः ।
विधाय पारणं पश्चाच्छिवभक्तजनैः सह ॥ ६९ ।

त्रिलोचननाम निर्वक्ति । अस्मिन्निति द्वयेन ॥ ६३ ।

धर्मघटान् धर्ममुद्दिश्य दीयमानान् कुम्भान् ॥ ६८ ।

हे गौरि ! इसी लिंग में अत्यन्त गुप्तरूप से स्थित होकर मैंने तुमको त्रिनेत्र दिया था । उस कारण से तुम उत्तम दर्शन करने लगी थी ॥ ६३ ।

हे देवेशि ! तभी से त्रैलोक्यवासीगण ज्ञानदृष्टि के देने वाले इस लिंग को त्रिलोचन नाम से कहने लगे ॥ ६४ ।

जो लोग त्रिलोचन लिंग के भक्त हैं, वे सब स्वयं त्रिलोचन होकर मेरे पारिषद हो जाते हैं और जीवन्मुक्त बने रहते हैं ॥ ६५ ।

हे महेश्वरि ! त्रिलोचन लिंग की महिमा को मैंने ही छिपा रखा है, इसी से उसे कोई भी ठीक-ठीक नहीं जान सकता ॥ ६६ ।

वैशाख मास की शुक्ला तृतीया को पिलपिलाह्रद में स्नान कर भक्तिभाव से उपवासी ही रात्रि में जागरण करना चाहिए ॥ ६७ ।

तत्पश्चात् त्रिलोचन लिंग की पूजा करनी चाहिए । प्रातःकाल फिर वहीं पर स्नानकर पुनः त्रिलोचन लिंग का पूजन करना चाहिए । तदनन्तर हर्षपूर्वक पितरों के उद्देश्य से अन्न और दक्षिणा के साथ धर्मघटों को दान करना चाहिए, फिर शिवभक्तों के सहित पारण करना चाहिए ॥ ६८-६९ ।

विसृज्य पार्थिवं देहं तेन पुण्येन नोदिताः ।
भवन्ति देवि नियतं गणा मम पुरोगमाः ॥ ७० ।
तावद् भ्रमन्ति संसारे देवा मर्त्या महोरगाः ।
गौरि यावन्न पश्यन्ति काश्यां लिङ्गं त्रिलोचनम् ॥ ७१ ।
सकृत्त्रिविष्टपं दृष्ट्वा स्नात्वा पैलिपिले ह्रदे ।
न जातु मातुस्तनपो जायते जन्तुरत्र हि ॥ ७२ ।
प्रतिमासं सदाऽष्टम्यां चतुर्दश्यां च भामिनि ।
आयान्ति सर्वतीर्थानि द्रष्टुं देवं त्रिविष्टपम् ॥ ७३ ।
त्रिविष्टपाद्दक्षिणतः स्नातः पैलिपिलेऽम्भसि ।
तत्र सन्ध्यामुपास्यैकां राजसूयफलं लभेत् ॥ ७४ ।
पादोदकाख्यस्तत्रैव कूपः पापविनाशकः ।
प्राश्य तस्योदकं मर्त्यो न मर्त्यो जायते पुनः ॥ ७५ ।
तस्य लिङ्गस्य पार्श्वे तु सन्ति लिङ्गान्यनेकशः ।
कैवल्यदानि तान्यत्र दर्शनात्स्पर्शनादपि ॥ ७६ ।

सकृत्त्रिविष्टपमिति । अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचतीतिवदर्थक्रमोऽत्र द्रष्टव्यो न त्विडो यजतीत्यादिवत् पाठक्रमः । प्रातश्चतुर्थ्यां स्नात्वा यस्तीर्थे पैलिपिले शुभे त्रिलोचनं समभ्यर्च्येत्यादिबहुवचनविरोधात् ॥ ७२ ।

हे देवि! इस पुण्य के प्रभाव से लोग पार्थिव शरीर को त्यागकर अवश्य मेरे आगे चलने वाले गण हो जाते हैं ॥ ७० ।

हे गौरि! देवता, मनुष्य और नागलोग तभी तक संसारचक्र में घूमते रहते हैं, जब तक काशी में त्रिलोचन लिंग का दर्शन नहीं कर पाते ॥ ७१ ।

एक बार भी पिलपिलाह्रद में स्नान कर त्रिलोचन का दर्शन कर सकें, तो फिर कभी कोई भी प्राणी इस लोक में माता का स्तनपात नहीं करने पाता ॥ ७२।

हे भामिनि ! प्रतिमास की अष्टमी और चतुर्दशी को समस्त तीर्थ भगवान् त्रिविष्टप के दर्शन करने को (वहाँ) आते हैं ॥ ७३ ।

त्रिविष्टप से दक्षिण और पिलपिला के जल में स्नानकर यदि एक भी संध्या कर ले तो राजसूय यज्ञ का फल (प्राप्त) होता है ॥ ७४ ।

वहीं पर पादोदक नामक पापविनाशक एक कूप है, उसका जल पी लेने से मुनष्य फिर कभी मर्त्यलोक में नहीं जनमने पाता ॥ ७५ ।

त्रिलोचन के पास में और भी बहुत-से लिंग हैं । यहाँ पर उनका दर्शन और स्पर्शन करने से मुक्ति को वे दे देते हैं ॥ ७६ ।

तत्र शान्तनवं लिङ्गं गङ्गातीरे प्रतिष्ठितम् ।
तद्दृष्ट्वा शान्तिमाप्नोति नरः संसारतापितः ॥ ७७ ।
तद्दक्षिणे महालिङ्गं मुने भीष्मेशसंज्ञितम् ।
कलिः कालश्च कामश्च बाधते न तदीक्षणात् ॥ ७८ ।
तत्प्रतीच्यां महालिङ्गं द्रोणेश इति कीर्तितम् ।
यल्लिङ्गपूजनाद्द्रोणो ज्योतीरूपं पुनर्दधौ ॥ ७९ ।
अश्वत्थामेश्वरं लिङ्गं तदग्रे चाऽतिपुण्यदम् ।
यदर्चनवशाद्द्रोणिर्न बिभेत्यपि कालतः ॥ ८० ।
द्रोणेशाद्वायुदिग्भागे बालखिल्येश्वरं परम् ।
तल्लिङ्गं श्रद्धया दृष्ट्वा सर्वक्रतुफलं लभेत् ॥ ८१ ।
तद्वामे लिङ्गमालोक्य वाल्मीकेश्वरसंज्ञितम् ।
तस्य सन्दर्शनादेव विशोको जायते नरः ॥ ८२ ।

शान्तनवं शान्तनुना स्थापितम् ॥ ७७ ।

वहाँ ही गंगा के तीर पर एक **शान्तनवनामक** लिंग प्रतिष्ठित है । उसके दर्शन से संसार से तापित मनुष्य भी शान्तिलाभ करता है ॥ ७७ ।

हे मुने ! उसके दक्षिणभाग में **भीष्मेश्वर** नामक महालिंग है, उसके दर्शन से कलिकाल और काम, कोई भी बाधा नहीं पहुँचा सकता ॥ ७८ ।

उससे पश्चिम ओर **द्रोणेश्वर** नाम से कीर्तित एक महालिंग है । उस लिंग के पूजन से द्रोणाचार्य ने फिर से ज्योतीरूप को धारण किया था ॥ ७९ ।

उससे आगे (बढ़कर) परमपुण्यप्रद **अश्वत्थामेश्वर** लिंग है, जिसके पूजन करने से द्रोणनन्दन काल से भी नहीं डरते हैं ॥ ८० ।

द्रोणेश्वर से वायुकोण पर **बालखिल्येश्वर** नामक एक प्रधान लिंग है । श्रद्धापूर्वक उसका दर्शन करने से समस्त यज्ञों का फल प्राप्त होता है ॥ ८१ ।

उसकी बाईं ओर **वाल्मीकेश्वरसंज्ञक** (एक) लिंग विराजमान है । मनुष्य उसका सम्यक् प्रकार से दर्शन पाते ही सब शोकों से रहित हो जाता है ॥ ८२ ।

अन्यच्चाऽत्रैव यद्वृत्तं तद् ब्रवीमि घटोद्भव ।
त्रिविष्टपस्य माहात्म्यं देव्यै देवेन भाषितम् ॥ ८३ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे त्रिलोचनमाहात्म्यं नाम
पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ।

आख्यायिकां प्रस्तावयति । अन्यच्चेति ॥ ८३ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

हे कुंभज ! यहाँ पर जो एक घटना हो चुकी है, उसे कहता हूँ, जैसा कि देवदेव ने भगवती से त्रिविष्टप का माहात्म्य वर्णन किया था ॥ ८३ ।

रह्यो पूर्व में स्थान यह, सब अन्नन को हाट ।
काशी में विख्यात वह, श्रीत्रिलोचन घाट ॥ १ ।
जदपि भई बसती वहाँ खँड़हर भरी उजाड़ ।
पै अजहूँ सब पाप को, देति मारिकै गाड़ ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां त्रिलोचनमाहात्म्यं
नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ।